भूमिका

सम्सारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्पोर्नान्य. प्लवो भगवत' पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिपेवणमन्तरेण पुसो भवेद्विविधदु'खदवार्दितस्य॥
(श्रीमद्भागवत १२।४)

आयुर्वेद परिभापा—आयुर्वेद या वैद्यक की व्याख्या बहुत से विचारकों ने एकदैशिक लक्षणों के आधार पर भिन्न भिन्न की है। कुछ लोगों के विचार से चरक-सुश्रुत-वाग्भट प्रभृति प्राचीन संहिताओं मे लिखित और सीमित अंश ही आयुर्वेद है। दूसरे लोगों की राय मे पश्चात्कालीन-संग्रह ग्रंथों मे वर्णित रसयोगो की चिकित्सा ही वैद्यक है। कुछ पर्यवेक्षकों की दृष्टि मे चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति जहाँ पर स्थगित हो गई है, वहाँ तक आयुर्वेद है शेप या आगे का अन्य कुछ। इन व्याख्याओं मे सत्यांश जरूर है परन्तु परिभाषा एक-देशिक है, समग्र की बोध कराने वाली नही। इस प्रकार अत्यन्त प्रत्यक्ष के आधार पर की गई व्याख्या से पृथक् स्वरूप की परिभापा वैद्यक के मर्मज्ञ लोग करते है। उपर्युक्त व्याख्याकारों की उपमा गोली के शब्द मात्र से चक्कर मारते हुए बगले के समुदाय से दी गई है क्योंकि तंत्र के एक देश के शब्द मात्र से ही पूरे तंत्र की परिभापा करना तत्सदृश ही व्यापार है—

शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिका।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्देनैव वर्त्तकाः॥ (च० सू० १।३०)

आज से सहस्रो वर्ष पूर्व भी आयुर्वेद क्या है? इस समस्या का समाधान अपेक्षित रहा। फलतः परिभापा तद्विद्य आचार्यों को करनी पडी थी। सर्वप्रथम उसी आख्यान का साराश ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

वेद का स्वरूप—यदि कोई प्रष्टा होकर पूछे कि वेद तो चार है ऋक्, यजु, साम और अथर्व, तो फिर आयुर्वेद कौन-सा वेद है यह कहाँ से टपक पडा? इस प्रश्न के उत्तर में उत्तर-दाता को चाहिए कि अथर्ववेद मे अपनी भक्ति दिखलावे। क्योंकि चिकित्सक को अथर्ववेद की ही सेवा वांछित है। अथर्ववेद और आयुर्वेद मे अभेद समझना चाहिए। अथर्ववेद दान-स्वस्त्ययन-बलि-मंगल-होम-नियम-प्रायश्चित्त-उपवास तथा मन्त्रादि के परिग्रह के द्वारा चिकित्सा का ही कथन करता है। चिकित्सा का परम उद्देश्य भी आयु के हित या लाभार्थ ही प्रवर्त्तित होता है। अत. अथर्ववेद हो आयुर्वेद है।[1]

---

१ ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेद.। व्यासकृत चरणव्यूह मे ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद को माना गया है।

इन दोनों में अभेद संबंध है। यह हुआ वेद का विशेषार्थ, परन्तु सामान्यार्थ से वेद का विचार करें, तो वेद शब्द विद् धातु से बना है। विद् धातु का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है:—

सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्-लुक्-श्नम्-शेष्विदं क्रमात्॥
(सि० कौमुदी)

इस हरिकारिका के आधार पर आयुर्वेद पद से वाच्य समग्र शब्द का अर्थ होगा ऐसा तंत्र जिसमें आयु हो, या आयु का ज्ञान कराया जावे, या आयु का विचार हो, या जिससे आयु की प्राप्ति हो सके उसे आयुर्वेद कहेंगे। परन्तु शास्त्रकार ने उसे एक ही विशेषार्थ में सीमाबद्ध कर रखा है अर्थात् जिस तंत्र में आयु का ज्ञान कराया जाय।

आयु का स्वरूप—वेद शब्द की शंका के समाधान के अनन्तर दूसरी शंका आयु शब्द के सम्बन्ध में स्वतः उत्पन्न होती है। आयु क्या वस्तु है? आयु शब्द की निरुक्ति शास्त्रकारों ने पर्याय कथनों से की है:—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ (च० सू० १)

१. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग—शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व और आत्मा की संयुक्तावस्था को आयु कहते हैं। २. धारि—रस-रक्त संवहनादि क्रियाओं के द्वारा शरीर को धारण करनेवाली और शरीर को विशीर्ण न होने देने वाली शक्ति को आयु कहते हैं। ३. जीवित—श्वसन कर्म के द्वारा प्राण को धारण करते हुए शरीर को बनाए रखता है। इसीलिए जीवन या जीवित पर्याय भी आयु का कहा गया है। ४. नित्य—गति (Movement) एक आयु का प्रमुख लक्षण है। एतदर्थ आयु के पर्याय में नित्यग शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रतिक्षण उसमें गति होती है, एक क्षण के लिए भी जो नहीं रुकता अर्थात् सदैव गतिशील है। जीव में गति का होना या क्रिया का होना स्वाभाविक है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता अ० ३)

५ चेतनानुवृत्ति—चेतना का सतत बना रहना आयु है। गर्भावस्था से मरणपर्यन्त यह चेतना या संवेदन का गुण बना रहता है। चेतन एवं अचेतन, सजीव और निर्जीव, ऐन्द्रिय या निरीन्द्रिय तथा जीवित और मृत का भेदक यह एक प्रमुख लक्षण है। इसीलिए आयु के पर्याय में चेतनानुवृत्ति का पर्याय दिया गया है। ६. जन्मानुबंध—इसके दो अर्थ हैं। एक तो लौकिक दूसरा

आमुष्मिक । लौकिक अर्थ में संतानोत्पादन की क्रिया द्वारा अनुबंध या सातत्य (Continuity of species) का बना रहना समझना चाहिए। दूसरे अर्थात् अलौकिक अर्थ मे पूर्व-जन्म और पर-जन्म का परस्पर में अनुबंध बना रहना समझना चाहिए। इसी आधार पर आयु का यह पर्याय जन्मानुबंध है।

इन पर्यायों को यदि आयु का पृथक्-पृथक् लक्षण माना जाय तो इन पंच-लक्षणों से युक्त अवस्था जीव की होगी। इसके विपरीत मृत या निर्जीव की। जीव-विद्या (Biology) के सिद्धान्तों के आधार पर इस सिद्धान्त की तुलना नीचे की जा रही है।

आधुनिक शब्दों में आयु की व्याख्या करनी हो तो उसे जीवन या Life कह सकते है। उससे युक्त द्रव्य को जीवित या Living कहते हैं। जीवविद्या विशेषज्ञ जीवित पदार्थ मे निम्नलिखित भावों की उपस्थिति आवश्यक मानते है—

१ वृद्धि (Growth)—परन्तु वृद्धि का गुण निर्जीव कंकड और पत्थरों मे भी मिल सकता है अत. जीव का यह कोई विशिष्ट चिह्न नही है।

२. गति (Movement)—प्राय. सजीव पदार्थों में ही पाया जाता है। इसी गति के आधार पर जीवित चर या चल की संज्ञा दी जाती है। कुछ सीमित स्वरूप की गति अचर सृष्टि के वृक्ष आदिकों में भी मिलती है। तथापि नित्य गतिशील होना एक जीव का आत्मलिङ्ग है अतएव ऊपर लिखे आर्ष-वचनों में नित्यग का पर्याय कथन आयु के अर्थ में प्रतीत होता है।

३. चैतसतत्त्व या आयुमूल (Protoplasm)—सजीव और निर्जीव सबसे बड़ा भेद करने वाला यह तत्त्व है। यह जब तक सक्रिय है—आयु है। उसके निष्क्रिय होते ही मृत्यु हो जाती है। प्राचीनों का 'शरीर सत्त्वात्म संयोग आयु है' का कथन बहुत कुछ इसी विशिष्ट तत्त्व की ओर इंगित करता है। चेतनातत्त्व के अभाव मे मनुष्य या जीवों के शरीर और इंद्रिय प्रभृति सभी द्रव्यों के यथापूर्व रहते हुए भी वह मृत और निश्चेष्ट हो जाता है। 'पंचभूताव-शेषेषु पंचत्वं गतमुच्यते।' यही कारण है कि ऊपर लिखे आर्षवचन मे आयु के पर्याय मे 'सत्त्वात्मसंयोग' शब्द का कथन हुआ है। यह चैतसतत्त्व स्थावर तथा जंगम दोनों सृष्टि में समान भाव से पाया जाता है। शरीर असंख्य कोषाणुओं से निर्मित है। कोषाणुओं के भीतर चैतसतत्त्व भरा रहता है। अंतर इतना ही होता है कि स्थावर सृष्टि मे कोषाणुओं के चारों ओर एक भित्ति (Cellular wall) होती है, परन्तु चर-सृष्टि मे ये भित्तियाँ या आवरण नहीं रहते।

४. उत्पादन, संतानता या प्रजनन (Reproduction)—एक से दो, दो से चार, चार से आठ आदि बनने की प्रवृत्ति सूक्ष्मतम जीवाणु से लेकर बड़े से बड़े जीव में होती है। 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय।' छोटी श्रेणी के जीवों में यह क्रिया विभजन असैथुनीय परन्तु बड़े जीवों में मैथुनीय होती है। इतना ही नहीं निर्जीव पदार्थों में भी संख्या-वृद्धि भंजन या विभजन के द्वारा होती है अर्थात् निर्जीवों में भी किसी न किसी प्रकार का पुनरुत्पादन पाया जाता है।

इस चिह्न की ओर इंगित करता हुआ प्राचीन आर्षवचन अनुबंध आयु के पर्याय में व्यवहृत हुआ है। जैसा कि ऊपर कह आये हैं एक तो लौकिक अर्थ में वह जन्मानुबंध संतानोत्पादन का बोधक है और विशिष्टार्थ में वह पूर्व जन्म का बोधक है। पूर्वापर जन्म-सबन्ध का द्योतक है।

इसी प्रजनन के आधार पर जातियों का सातत्य (Continuity of Species) निर्भर करता है। यह जीवन या जीवित का एक प्रमुख लक्षण है।

५. रस संवहन (Circulaton)—जीवन का यह भी एक आवश्यक लिङ्ग है।

६. श्वसन (Respiration)—जीवित द्रव्यों में किसी न किसी प्रकार का श्वसन कर्म तथा रस या रक्त का संवहन पाया जाता है। यह क्रिया स्थावर, जीव, वृक्षादि से लेकर पशु और मनुष्यों में भी समान भाव से चलती रहती है। इस क्रिया का द्योतन आयु के पर्याय रूप में प्राचीनोक्त शब्द 'धारि' से किया मिलता है। जिसका अर्थ होता है—

श्वसन एवं रक्तसंवहनादि क्रियाओं के द्वारा प्राण का धारण करना—यह आयु का या जीवित पदार्थ का लक्षण है।

चेतनानुवृत्ति क्षोभ, या संवेदन (Irritability)

आयु (Life) के पर्याय में चेतनानुवृत्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ होता है चेतना या संवेदन की उपस्थिति। जीवित पदार्थ का यह सबसे प्रमुख लक्षण है—किसी बाह्य उत्तेजना की प्रतिक्रिया। उष्ण, शीत, रूक्ष, तीक्ष्ण द्रव्यों के सम्पर्क में आने से जीवित शरीर जब तक उसमें आयु है, उन द्रव्यों के अनुकूल या प्रतिकूल कार्य करेगा।

इस चेतना के गुण के फलस्वरूप होनेवाली प्रतिक्रिया में किसी द्रव्य के त्वचा के सम्पर्क में आने पर ही प्रतिक्रिया हो, ऐसी बात नहीं है। क्वचित् दूर से या देखने मात्र से ही प्रतिक्रिया होने लगती है—जैसे कि प्रहारक के द्वारा दण्ड के उठाये जाने मात्र से ही किसी व्यक्ति के काँप जाने, भागने या उससे

बचने की प्रतिक्रिया (Contact Irritability)। यह चेतना या संवेदन वृक्षों की अपेक्षा पशुओं मे, पशुओं की अपेक्षा क्रमशः मनुष्यों में अधिकाधिक पाया जाता है। उच्च मस्तिष्क क्रिया, मनोभाव, चिन्तन और विचार आदि भी इसी गुण के द्योतक हैं।

शाश्वत—यह आयु शाश्वत है अर्थात् मनुष्यकृत नही है अर्थात् अनादि है। जिस तन्त्र मे इसके सम्बन्ध से विचार किया जाता है वह तन्त्र भी फल-स्वरूप अनादि और शाश्वत है। आयु की परम्परा, बुद्धि की परम्परा, सुख-दुःख, द्रव्यों के गुण, गुरु-लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष तथा सामान्य और विशेष के द्वारा वृद्धि तथा ह्रास का होना प्रभृति बाते भी अनादि और शाश्वत है—अर्थात् अनादि काल से है और सदा रहनेवाली है।

आयुर्वेद मे जितने पदार्थो (भावों) की व्याख्या आती है, वे कभी नही रहे हों और उनका नये सिरे से प्रवेश कराया गया हो ऐसा नही है—क्योंकि स्वभाव से ही वे नित्य और शाश्वत है। आयुर्वेद में किये गये या बनाये गये लक्षण भी शाश्वत है। जैसे अग्नि का उष्ण होना, जल मे द्रवत्व का पाया जाना प्राकृतिक या स्वाभाविक है। वह मनुष्यकृत नही अकृतक है। भारी चीजों के सेवन से भारी चीजे बढेगी-हल्की चीजे कम होंगी यह पदार्थो के स्वभाव से नित्य है।

अतएव आयु के सम्बन्ध से ज्ञान कराने वाला यह शास्त्र चिरन्तन और शाश्वत है। इसका आदि और अन्त नही है। अनादि काल से आ रहा है और अनन्त काल तक चलेगा। इसका आदि अव्यक्त है—अन्त अव्यक्त है, केवल मध्य व्यक्त है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता अ० २)

सोयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्ध-लक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। (चर० सू० ३०)।

आयुर्वेद का सामान्य स्वरूप—वेद और आयु शब्दों की पृथक्-पृथक् व्याख्या करने के बाद समूह में अर्थ करना अभिलषित है। क्योंकि आयुर्वेद पदवाच्य पद में दो ही शब्द है और मूल अभिप्राय भी इसी पद की व्याख्या मे निहित है। अतएव आयुर्वेद-पद की शास्त्रीय निरुक्ति की जा रही है.—

आयु का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को आयुर्वेद कहते है। इसके पर्याय-कथन के रूप मे कई शब्दों का व्यवहार किया जा सकता है जैसे आयु-शाखा, आयु-विद्या, आयुसूत्र, आयु-ज्ञान, आयु-शास्त्र, आयु-लक्षण तथा आयु-तन्त्र। आयु के स्वरूप की व्याख्या ऊपर में हो चुकी है। अतएव फलितार्थ होगा जिस

विद्या के द्वारा आयु के सम्बन्ध से सर्व प्रकार के ज्ञातव्य तथ्यों का ज्ञान हो सके अथवा जिसका अनुसरण करते हुए दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति हो सके उस तन्त्र को आयुर्वेद कहते है।

आयुर्वेद में आयु के स्वरूप के अतिरिक्त आयु के सम्बन्ध में चार दृष्टि-कोणों से विचार किया जाता है। १—सुखायु (स्वस्थायु), तथा दुःखायु (अस्वस्थायु) २—हितायु तथा अहितायु। ३—आयु के हितकर (लाभप्रद) तथा अहितकर (हानिप्रद) द्रव्य-गुण एवं कर्म। ४—आयु का प्रमाण। दूसरे शब्दों में आयु के स्वस्थ्य क्रिया शरीर (Physiological Phenonicna) तथा विकृत क्रिया-शारीर (Pathological Phenomena) दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति के निमित्त जीवन के हितकर तथा हानिप्रद पथ्यापथ्य का निदेश (Usefull and harmful medication, Hygeine & Sanitation. environments, Ditetics etc), साथ ही आयु का प्रमाण (Longivity) का यथा तथ्य कथन प्रभृति उपदेशों का संग्रह आयुर्वेद तन्त्रों का लक्ष्य है। उपर्युक्त दृष्टिकोणों से द्रव्य (Substance), गुण (Properties) तथा कर्म (Actions) की विवेचना सम्पूर्णतया इस शास्त्र का विवेच्य विषय है।

इस व्यापक अर्थ में (Science of life) आयुर्वेद केवल मानवसृष्टि तक ही सीमित नहीं रहता है। उसमें चर और अचर उभय विधि जीवधारियों के सम्बन्ध में 'हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितं, मानञ्च तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेद स उच्यते।' उनके हिताहित का ज्ञान, उनके स्वस्थ रखने के उपाय. उनके विकारों की दूरीकरण के उपाय तथा उनकी आयु-मर्यादा के बतलाने के साधन प्रभृति यावतीय ज्ञातव्य बाते इस आयुर्वेद के द्वारा जानी जा सकती है। फलत. सम्पूर्ण जीव विद्या (Boilogy), पशु चिकित्सा (Veterinary Treatment), अश्व काप्य (Diseases and treatment of Horses), पाल काप्य (Diseases and treatment of Elephants) तथा वृक्षायुर्वेद (Plant Pathology and treatment) प्रभृति सभी विषयों का समावेश आयुर्वेद में हो जाता है।

> व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयङ्कराः।
> तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो॥ (च० सू० १)

विशिष्ट स्वरूप—तथापि आयुर्वेद का व्यवहार, विशेषार्थ में मानवीय आयुर्वेद के लिये ही किया गया है। क्योंकि स्वर्गीय विद्या आयुर्वेद का आनयन इहलोक के संतप्त और आर्त्तजन मानवों के कल्याणार्थ ही ऋषियों ने किया था।—

> प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।
> कस्मात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थित.॥

ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।
दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुष ॥
तस्यायुष पुण्यतम वेदो वेदविदां मत ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणा लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ (च० सू० १)

इस विशिष्ट आयुर्वेद के स्वरूप ज्ञान के लिये कुछ विशद वर्णन अपेक्षित है। अत चतुर्विध आयु तथा उससे युक्त मनुष्यों की पुनः विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

सुखायु-दुःखायु

युवावस्था, शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से मुक्त, बल-वीर्य-यश-पौरुष-पराक्रम, ज्ञान-विज्ञान इंद्रिय तथा इन्द्रियार्थो से सक्षम, विविध प्रकार के सुन्दर सुहावने उपभोगों के भोगों में समर्थ मनुष्य की आयु सुखायु है। यह व्यक्ति सुखी और स्वस्थ कहलाता है। इसके विपरीत व्यक्तियों को अस्वस्थ, दुःखयुक्त और उसकी आयु को दुःखायु कहते है। (Healthy and unheaithy life)। सुखायु वाले व्यक्ति के द्वारा किया हुआ कोई भी आरभ ठीक तरह से पूरा होता है और वह सुखपूर्वक विचरता है। इसके विपरीत दुःखयुक्त व्यक्ति की दशा रहती है।

हितायु-अहितायु

सुखायु को सतत बनाये रखने के लिये आयु के हितावह द्रव्य, गुण तथा कर्मो की जानकारी आवश्यक है। हितैषी व्यक्ति को परोपकारी, सत्यवादी, शान्ति-प्रिय, परीक्ष्यकारी एव अप्रमत्त होना चाहिये। धर्म-अर्थ-काम प्रभृति त्रिवर्गो का सम्यक्-संचय, पूज्यों का पूजन, वृद्धों का अनुसरण, राग-रोष इर्ष्या-मद-मान प्रभृति वेगों को धारण करना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों को तपस्वी, दानी, ज्ञानी, अध्यात्म-शास्त्र का अभ्यासी तथा स्मृतिमान् होना आवश्क है। ये सभी कर्म आयु के लिये लाभप्रद होते है। इनके विपरीत कर्म आयु के लिए अहित होते है। (Any thing usefull or harmful to life) इसका उपदेश भी आयुर्वेद का कर्त्तव्य है।

आयु-प्रमाण

देह के प्राकृतिक लक्षणों के आधार पर आयु का प्रमाण आयुर्वेद के ग्रथों मे बतलाया जाता है। जैसे लम्बी आयु वाले व्यक्तियों का परिचय निम्नलिखित सूत्रों के आधार पर होता है :—

'सभी सारों से युक्त पुरुष, अति बलवान्, परम-सुख युक्त, क्लेश-सह, सभी कर्मो का आरम्भ करके पूर्ण करने के विश्वास से युक्त, कल्याण की भावना

से प्रेरित, स्थिर और पूर्ण शरीर वाले समाहित गति से युक्त, स्निग्ध-गम्भीर-अनुनादित-उच्चस्वर से बोलने वाले, सुख-ऐश्वर्य-वित्त के उपभोग करने वाले तथा प्रायः अपने सदृश गुणों वाले बहुत से सन्तानों के उत्पादक मनुष्य चिरजीवी होते हैं।'

'श्लैष्मिक प्रकृति वाले, बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी तथा शान्त व्यक्ति दीर्घायु होते है।' इन लक्षणों से विपरीत व्यक्ति अल्पायु होते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ आकस्मिक परिवर्तनों के आधार पर भी आयु-मर्यादा बताने का उपदेश भी आयुर्वेद में पाया जाता है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि और चेष्टाओं में आकस्मिक परिवर्त्तनों के कारण अरिष्ट स्वरूप के लक्षण पैदा हो जाते है। इनको अनिमित्त या अरिष्ट लक्षण कहते हैं। इन अनिमित्त लक्षणों के आधार पर आयु की मर्यादा क्षण, मुहूर्त्त, दिन तीन-पाँच सात दस-बारह, पक्ष, मास, छमास और वर्षो में बतायी जा सकती है। (देखें चरक इन्द्रिय स्थान)।

इस प्रकार आयु की काल मर्यादा (Logivity) का भी उपदेश आयुर्वेद करता है। आयु तीन प्रकार की दीर्घ, मध्य और अल्प होती है। आयुर्वेद के द्वारा त्रिविध आयु का निर्णय सम्भव है।

सर्वभौम (Universal) प्रयोजन उद्देश्य

किसी तन्त्र के परिचय में उसके चार अङ्गों की जानकारी आवश्यक होती है। अधिकारी-सम्बन्ध विषय तथा प्रयोजन। यहाँ पर आयुर्वेद की इतनी लम्बी व्याख्या के अनन्तर स्वाभाविक उत्सुकता पैदा होती है कि आयुर्वेद का प्रयोजन क्या है। आयुर्वेद के दो ही प्रयोजन हैं स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी हो जाने पर उसके विकार का प्रशमन।

'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च।' (चर० सू० ३०)

आरोग्य को बनाये रखना तथा रोगों से मुक्ति करना इन दो उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश किया है। धर्म, अर्थ, काम-मोक्षों के साधन के लिये नीरोग रहना परमावश्यक है। यदि क्वचित् रोग हो जाय तो उस रोग का दूरीकरण भी एकान्ततः लक्ष्य चिकित्सा विज्ञान का है :—

> धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
> रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥ (च० सू० १)

यह प्रयोजन किसी एक वर्गवाद के भीतर सीमित चिकित्सा-शास्त्र का नहीं है, बल्कि एक सार्वभौम सिद्धान्त है। विश्व की जितनी भी ज्ञात या अज्ञात चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं सबका अन्तिम लक्ष्य या सभी का अवसान उप-

युंक्त दो सूत्रों मे ही है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नही है। आधुनिक शब्दों मे कहना हो तो स्वास्थ्यरक्षण के उद्देश्य को Profilaxis और आतुर विकार प्रशमन को Curative कह सकते है। प्रथम के लिये Public Health and Hygiene का विभाग और दूसरे के लिये Curative teatment, Hospitals and Dispensaries का विभाग आज भी सभ्य देशों को सरकारे कायम कर रही है।

आयुर्वेदावतरण में क्रम तथा अश्विनीकुमार

दिव्य विद्या आयुर्वेद का पृथ्वी पर लोक-कल्याण की भावना से अवतरण हुआ है। सर्वप्रथम ब्रह्मा विद्या के आदि ज्ञाता है, उनसे प्रजापति को विद्या मिली, पश्चात् अश्विनीकुमारों को, ततः इन्द्र को; तदनन्तर विभिन्न ऋषियों में विद्या का आविर्भाव हुआ तदनन्तर इह लोक के चरक सुश्रुत-प्रभृति ऋषियों को विद्या मिली। पुन. इहलोक में आयुर्विद्या का प्रचार हुआ।

अश्विनीकुमार युग्म (दो) माने गये है। ये चिकित्सा के मूलभूत दो लक्ष्यों के स्वस्थवृत्त (Profilaxis) तथा चिकित्सा (Cnre) के प्रतीक है। चिकित्सा-विज्ञान ही दो लक्ष्यों को सामने रख कर बढता है। अतएव स्वयं यमल स्वरूप (Twin) का है। जैसे यदि आयुर्वेद का पर्याय Medicine करे तो उसके दो बडे वर्ग प्रेफिलेक्सिस एवं क्योरेटिव हो जाते है। पुनः प्रेफिलेक्सिस के दो विभाजन हों तो दो वर्ग स्वस्थ रखना मात्र (Hygiene) तथा स्वस्थ को उर्जस्कर बनाना—बल्य, वाजीकरण एवं रसायनों (Tonics and Geriatrics) के प्रयोग से होते है। इसी प्रकार विशुद्ध तथा केवल 'क्योरेटिव ग्रूप' का ही विभाजन करें तो उसमें पुन दो खण्ड शल्य-चिकित्सा (Surgery) तथा कायचिकित्सा (Inner Ceneral Medicine) करके पुन दो वर्ग हो जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि चिकित्सा-विज्ञान सदैव यमलस्वरूप का होता है, सम्भवतः अश्विनीकुमारों का प्रतीक इसी आधार पर ग्रहण किया गया हो।

आयुर्वेद का वैशिष्ट्य

'स्वस्थातुरपरायणम्'—आयुर्वेद का संबन्ध स्वस्थ एवं रोगी दोनों ही प्रकार के मनुष्यों से है। पूरे आयुर्वेद को त्रिसूत्र कहते है क्योंकि इसमें हेतु (Etiology), लिङ्ग (Signs and Symptoms) तथा औषध (Proper Medicaments) का वर्णन किया जाता है। यह त्रिसूत्र स्वस्थ के स्वास्थ्य के बनाये रखने में उतना ही उपयोगी है जितना रोगी के रोग-प्रशमन में। उदाहरण के लिए स्वस्थ के पक्ष मे उनकी स्वस्थता मे हेतु, स्वस्थ के लक्षण तथा स्वस्थ रखने की औषधियाँ बतलाई जायेगी। रोग की अवस्था में रोग का

उत्पादक कारण, उसके लक्षण समुदाय और चिकित्सा में व्यवहृत होनेवाली औषधियों का उल्लेख आता है।

हेतुलिङ्गौषधज्ञान स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्र शाश्वत पुण्य बुबुधे य पितामह.। (च० सू० १)

आधुनिक चिकित्साविज्ञान से इतनी समता होते हुए भी प्राचीन आयुर्वेद की कुछ अपनी विशेषतायें है। १. यह विशुद्ध जडवाद (Materialism) का समर्थन नहीं है। इसमें आध्यात्मिक तत्वों जैसे मन एवं आत्मा का जो स्वय दृष्ट नहीं है, दृष्ट या प्रत्यक्ष शरीर से अधिक महत्व दिया जाता है। स्थूल शरीर और इन्द्रियों को जो प्रत्यक्ष है, अपेक्षा सूक्ष्म अर्थात् सत्त्व एवं चेतनात्मक शरीर की विवेचना को बडा स्थान दिया जाता है 'प्रत्यक्ष हि अल्पं अनल्प अप्रत्यक्षम्' प्रत्यक्ष जिनका साक्षात हो सके ऐसी बातें कम है और अप्रत्यक्ष ज्ञान जिनका साक्षात् न हो सके बहुत अधिक और विस्तृत हैं। अत बहुत अशों मे अनुमान की सहायता लेनी पडती है। अनुमान की भी सीमा होती है अत. प्रत्यक्ष के ऊपर किया गया अनुमान कचित गलत भी हो सकता है अत' आप्तोपदेश या शास्त्रप्रमाण्य की सर्वोपरि विशेषता दी गयी है। आप्तोपदेश या शास्त्र निहित ज्ञान की उपज केवल प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर आश्रित न होकर ऋषियों की दिव्य-दृष्टि या अंतर्दृष्टि की विवेचना मानी जाती है। आज के वैज्ञानिकों मे इस अन्तर्दृष्टि का सर्वथा अभाव है। वे केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधार अथवा अपनी प्रत्यक्ष शक्ति को विविध यत्रों की सहायता से कई गुना बढाकर मनन करते हुए अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते है। जिससे ये मुनि कोटि के विचारकों में 'मननान्मुनयः' कहे जा सकते है। इनके भी विचार या सिद्धातपक्ष किसी कदर कम नहीं है और न इनकी महत्ता ही कम है। इनकी विचारणाएँ अर्हणीय, सर्वमान्य और ग्राह्य हैं। यदि क्वचित् इन मुनि और ऋषि वचनों में परस्पर विरोध हो, तो ऋषि वचनों का अधिक महत्व देना चाहिये। क्योंकि 'साक्षात् कृत धर्माणः ऋषय' भवन्ति।' ये वचन आप्त शिष्ट, विबुद्ध ऐसे व्यक्तियों के हैं जो रज और तमोगुण से निर्मुक्त है जिनका तपस्या के द्वारा ज्ञान का बल बढा हुआ है-जिससे भूत, भविष्य, वर्त्तमान त्रिकाल के ज्ञान मे जिनकी बुद्धि की शक्ति अव्याहत (कही न रुक सकनेवाली) है। इनके वाक्य संशय से हीन और सत्य होते हैं —

रजस्तमोभ्या निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषा त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहत सदा ॥
आप्ता शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्य वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्य नीरजस्तमाः॥ (च० सू०)

यदि कदाचित् मुनिकोटि के विचारकों तथा ऋषि-कोटि के सिद्धांतों मे विरोध दिखलाई पडे तो ऋषियों से उनके पूर्व वाले आचार्यो का मत अधिकाधिक प्रामाण्य (Oldest Version) होता है। परन्तु मुनियों मे परवर्त्ती आनेवाले मुनियो का वचन अधिकाधिक प्रामाण्य (Latest Version) होता है। अर्थात् ऋषिवाक्य जितने ही अधिक प्राचीन हों उतने ही अधिक प्रामाणिक माने जाते है, परन्तु मुनियों या आधुनिक विचारकों के सम्बन्ध मे वे जितने ही नवीन हों उतना ही उनका अधिक मूल्य है'—

श्रुतिस्मृतिपुराणाना विरोधो यत्र दृश्यते।
पूर्वं पूर्वं बलीयस्त्व तत्र ज्ञेय मनीषिभि ॥ (स्मृतिसमुच्चय)

× × ×

यथोत्तरं मुनीना प्रामाण्यम्।

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त की विशेषता

आधुनिक स्वास्थ्य या चिकित्साविज्ञान का स्वरूप उन्नीसवी शताब्दी के औद्योगिक क्रान्ति के नव जागरण का परिणामी है। जिससे यह एक कुटी व्यवसाय के स्वरूप का न होकर औद्योगिक रूप का है। इससे जो कुछ भी गुण हो एक दोष तो अवश्य है कि वह एक ईकाई (यूनिट) का ध्यान न रखते हुए समग्र की चिन्ता करता है। इसमें व्यक्ति का विशेष मूल्य न देकर पूरे समाज के ही कल्याण की भावना निहित है। व्यक्तियों के समुदाय का ही नाम समाज है। यदि पूरे समाज की सेवा की जाय तो सभी व्यक्तियों की सेवा स्वयमेव हो जायेगी। इसके विपरीत व्यक्ति-विशेष की सेवा की जाय तो उसी के वृहत्तर आयोजन से समग्र समाज का भी कल्याण स्वयमेव हो सकता है। दोनों मतों मे आपातत' कोई विरोध नही होते हुए भी दोनों का लक्ष्य समान होते हुए भी साधन की सामग्री से विभेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

उदाहरण के लिये एक कपडे का व्यवसाय ले। कपडे दो प्रकार के मिलते है, एक छोटे-छोटे चरखे करघे के बुने खादी के कपड़े, दूसरे बडे-बडे औद्योगिक पुतली घरों से निर्मित, दोनों का अंतिम उद्देश्य एक ही है—पूरे जन-समुदाय को वस्त्रों से पूर्ण करना। बडे उद्योगों की दृष्टि, समूह की ओर होती है वह एक बडे समुदाय के लिये वस्त्र बनाता है किसी व्यक्ति विशेष का ध्यान उसके निर्माण में नही रहता, तथापि एक इकाई की आवश्यकताये पूरी हो जाती है। कुटी व्यवसाय का बना वस्त्र एक-एक इकाई का ध्यान रखता हुआ सम्पूर्ण इकाई की आवश्यकताओं का पूरण करते हुए अपने महत्तर लक्ष्य समग्र समाज की सेवा की ओर अग्रसर होता है। इनमें कौन-सा अच्छा है और कौन-सा

बुरा ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन है तथापि औद्योगीकरण [illegible] मनोरम प्रतीत होता है यद्यपि इसमें भारी [illegible] विषोपम भी होते हैं। यही कारण है कि देश के [illegible] कर्णधार बुद्धि-व्यवसायी को आज भी [illegible] केन्द्रों से बने वस्त्रों के आपाततः मनोरम [illegible] राजवेश का प्रतीक बन रहा है।

जब हम चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में उतरते हैं तो [illegible] और जटिल हो जाता है। मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं [illegible] औद्योगीकरण कुछ आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयों के [illegible] अतिरिक्त कोई विशेष मूल्य नहीं रखता, परन्तु [illegible] शक्तियों का केन्द्र है उसके सम्बन्ध में विचार करते हुए [illegible] रखना पड़ता है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। आयुर्वेद के [illegible] विज्ञान के दृष्टिकोण से विचारें अथवा विशुद्ध चिकित्सा के दृष्टिकोण से देखें तो वह समाज की प्रत्येक इकाई के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् व्यक्ति के प्रकृति, सत्त्व, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहार-शक्ति, व्यायामशक्ति, वय, [illegible] आदि का ध्यान रखते हुए अपना विचार देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक नियम या एक ही औषधि समाज के सभी व्यक्तियों के अनुकूल नहीं हो सकता, उदाहरण के लिए विसूचिका के प्रतिकार में व्यवहृत होने वाला 'कालरा-भेक्सीन' अधिकांशतः लाभप्रद हो सकता है परन्तु सबके लिए सुरक्षित और अनुकूल नहीं हो सकता, इसी प्रकार चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले बहुत से योग विभिन्न रोगों में लाभप्रद होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों में प्रतिकूल लक्षणों को पैदा कर सकते हैं जैसा कि आधुनिक शब्द असात्म्यता, [illegible] (Allergy and Idiocyncracy) शब्दों के प्रचलन से ज्ञात होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जिसका दृष्टिकोण एकैक न होकर सार्वजनिक या सामूहिक रहता है, इन इकाइयों की चिन्ता न करते हुए क्रमशः गतिशील है।

भारतीय ज्ञान और विज्ञान की परम्परा एकैक साधना में निहित है कृषि, वाणिज्य, रक्षा शासन, शिक्षा, धर्म एवं उपासना आदि कर्मों में वह एक-एक इकाई के विचार से उपदेश देता है, जिससे वृहत्तर रूप में सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता चलता है।

आयुर्वेद के स्वास्थ्य विज्ञान का भी दृष्टिकोण एकैक साधना में ही केन्द्रित है। वह वैयक्तिक स्वास्थ्य या व्यक्तिगत स्वस्थ वृत्त (Personal Hygiene) में ही विश्वास रखता है। आयुर्वेद के दृष्टिकोण से यदि समाज की एक-एक इकाई को स्वस्थ बना दिया जाय तो सम्पूर्ण समाज स्वस्थ हो सकता है। इसीलिये वह एक मनुष्य को प्रतिदिन समय-विभाग के अनुसार आचरणों का

उपदेश देता है। दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या के रूप मे उठना, बैठना, खाना, पीना, स्नान, भोजन, शयन, ब्रह्मचर्य, विवाह, गृहस्थजीवन आदि के सम्बन्ध से विशद रूप से संग्रह किया हुआ आयुर्वेद के ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है, जिसके अनुष्ठान और पालन का नियम बडा ही सरल सुबोध और सर्वजनगम्य है। स्वस्थवृत सम्बन्धी इन नियमों का प्रचार इस देश के समाज में ऐसा घर कर लिया है कि कुछ वृद्धों के उपदेश और उनके अनुभवों का आश्रय मात्र लेने से ही विषय का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है।

आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान वैयक्तिक स्वस्थवृत की दृष्टि से उतना चढा-बढा नहीं है प्रत्युत वह इस अङ्ग से अपूर्ण है। वह सामूहिक दृष्टि से एक जनपद या समाज के स्वास्थ का विचार करता है। आयुर्वेद का स्वस्थवृत आज भी एक स्वतन्त्र या विशिष्ट स्थान रखता है। राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक यदि व्यक्तिगत चर्याओं या आचार का पालन करे तो समग्र राष्ट्र सुखी और समृद्धवान् हो सकता है।

इन दोनों प्राचीन और आर्वाचीन स्वास्थ के उपदेशों की तुलना की जाय तो आधुनिक वर्णन अधिक विज्ञान-सम्मत प्रतीत होते है परन्तु इसमे भी दोपों का अभाव नही है, ऐसा नही कह सकते। केवल सामूहिक दृष्टि से स्वस्थ वृतों का विचार एकाङ्गी है और तब तक पूर्ण नही हो सकता जब तक कि व्यक्तिवादी आयुर्वेदीय स्वास्थ-सद्वृत्त से उसको पूर्ण न बनाया जाय। यद्यपि वाह्यदृष्टि से इस प्रकार का कथन सुहावना प्रतीत नहीं होता है तथापि परिणाम की दृष्टि से विचार करते हुये यह मत अमृत सदृश है। जिस प्रकार औद्योगिक धन्धों के साथ ही कुटी-व्यवसायों का भी समर्थन किया जाता है उसी प्रकार Hygiene, anp Public Health के आधुनिक विषय के साथ आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्तों का (Personal Hygiene) का उपदेश भी जनता के कल्याणार्थ हितावह है।

> यत्तदग्रे विपमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
> तत्सुख सात्त्विकं विद्धि आत्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ (गीता)

आयुर्वेद का स्वस्थवृत केवल वैयक्तिक स्वास्थरक्षण के उपायों तक ही सीमित नही है बल्कि वह देश, जनपद, मेला और महामारी प्रभृति बडे-बडे जन-समाजों की रक्षा मे भी समर्थ है। कई-वार अत्यावश्यक अवस्थाओं मे जहॉ पूरा जनपद किसी बडे विकार से ग्रस्त हो जाय तो उसको सम्भालने का भी उपदेश वैद्यक ग्रन्थों मे मिलता है। 'विभिन्न प्रकृति, आहार, देह, बल, सात्म्य तथा आयु वाले मनुष्यों के रहने पर भी एक ही समय मे जनपद का नाश हो सकता है।' इसे जनपदोध्वंस (Epidemics) कहते है। इसके

कारण रूप मे अधर्म, और तज्जन्य वायु, जल, देश और काल का विकृत होना बतलाया गया है। विभिन्न प्रकृति सत्व आदि मनुष्यों के पृथक्-पृथक् होते हुये भी चार चीजे सबके लिये समान होती हैं। इसलिये इनकी विकृति से सम्पूर्ण देश का देश और जनसमुदाय विकारग्रस्त हो सकता है। अत' इनके प्रतिकार का उपदेश भी आचार्यो ने किया है। फिर भी आयुर्वेद की सर्वाधिक विशेषता उसके व्यक्तिगत स्वास्थ्य, संरक्षक उपायों (Personal Hygiene) मे है। वह आज भी अभिनव सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान के लिये अक्षय ज्ञान के भांडार के रूप में है।

वैद्य को सर्वदा यत्नपूर्वक स्वस्थ पुरुष की रक्षा करनी चाहिये। इसीलिये आयुर्वेद में वर्णित स्वास्थ्य के आचरणों का उपदेश किया गया है। चूंकि स्वास्थ्य सर्वदा इच्छित है, इसलिये जिस उपाय से मनुष्य सदा स्वस्थ रहे वैद्य को वही उपाय करना चाहिये।

आयुर्वेदोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का आचरण करता हुआ ही मनुष्य सर्वदा स्वस्थ रह सकता है। इसके विपरीत उपायों से नहीं।

स्वस्थस्य रक्षणं कार्यं भिषजा यत्नत. सदा।
आयुर्वेदोदित तस्मात्स्वस्थवृत्तं प्रचक्ष्यते ॥
मानवो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा।
तमेव कारयेद्वैद्यो यत' स्वास्थ्य सदेप्सितम् ॥
दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुष. स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥ (भा. प्र.)

केवल रोगरहित शरीर होने से एक व्यक्ति को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। स्वस्थ पुरुष एक पारिभाषिक अर्थ मे व्यवहृत होता है। उसका माप दण्ड (Strandard) आयुर्वेद के शब्दों मे ही देखे —

'जिसके वात, पित्त और कफ समान रूप से कार्य कर रहे हों; पाचन-शक्ति ठीक हो, रस रक्तादि धातु और मलों की क्रिया (Metabolism) समान हो अर्थात् रस-रक्तादि स्वाभाविक रूप से बन रहे हों और मल निर्बाध निकल जाता हो, साथ ही उसके आत्मा, इन्द्रियाँ तथा मन प्रसन्न हों; उसी को स्वस्थ कहते हैं :—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत)

रसायन

(Ceriatrics)

संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। ये क्रमशः जीर्ण होते हुए नष्ट हो जाती हैं। यह एक प्रकार का स्वभाव है अर्थात् स्वभाव से ही नई चीजे पुरानी

होती हुई काल से वे लय को भी प्राप्त होती हैं। इसी विधि-विधान के अनुसार मनुष्य तथा जीवधारियों में भी विकार (रोग) उत्पन्न होता है, उनमे क्रमशः जरावस्था की प्राप्ति होती और मृत्यु के द्वारा उनका निधन होता है। देव-योनि में ये परिवर्तन जो समय से उत्पन्न होते रहते है नही पाये जाते। मनुष्य और देवता तथा मर्त्यलोक और स्वर्गलोक मे यही महान् अन्तर है। देव लोग इन तीन अवस्थाओं से परे अर्थात् जरा, मृत्यु और रोग पर विजय प्राप्त किये हैं। मनुष्य अनेक युगों से देवत्व की प्राप्ति के लिये प्रयास करता आ रहा है। फलतः मानवों का जरा, मृत्यु और रोग को जीत लेना या इनके ऊपर विजय प्राप्त करने का प्रयास भी चिरन्तन है।

आधुनिक युग के वैज्ञानिक भी रोगों पर विजय प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील हैं, इसी प्रयास के फलस्वरूप उन्होंने 'प्रोफिलैक्सिस' के बडे-बडे साधनों का ईजाद किया है और क्रमश. आगे करते जा रहे है। जरावस्था पर भी विजय प्राप्त करने का दुंदुभि-घोष कर दिया है—युवक को वृद्धावस्था मे परिणत करनेवाले कारणभूत विभिन्न हार्मोन्स, विटामिन्स की कमियों की खोज पुन' उनकी पूर्ति के द्वारा जरावस्था को रोकने का प्रयास Geriatrics ग्रूप की चिकित्साओं की व्यवस्था के द्वारा चल रहा है। यद्यपि इनमे सफलता अभी तक पूरी नही मिल पाई है, सम्भव है भविष्य उज्वल हो। मृत्यु पर आधिपत्य कायम करने के लिये भी आज के वैज्ञानिक मनीषी अग्रसर हैं, परन्तु सफलता अभी भविष्य के अन्तराल मे निहित है।

दिव्य-आयुर्वेद मे एक स्वतन्त्र अंग ही रसायन नाम का पाया जाता है। उसके अन्य अंग क्वचित् अपूर्ण भी हों, परन्तु यह आज भी स्वत. पूर्ण है और अनुपम है। आयुर्वेद का द्विविध प्रयोजन ऊपर बताया जा चुका है—स्वस्थ को उर्ज्वस्कर रखना उसका एक अन्यतम प्रयोजन है। इस निमित्त ही रसायन और वाजीकर अधिकारों का वर्णन पाया जाता है। सुन्दर स्वास्थ्य के साथ ही साथ दीर्घायुष्य की प्राप्ति भी आयुर्वेद का प्रयोजन है। इसकी प्राप्ति भी रसायन के द्वारा ही सम्भव है। 'रसायन के द्वारा जरा और रोग की अवस्था को जीता जा सकता है। 'रसायनं तु तज्ज्ञेयं यजरा व्याधिनाशनम् ।' मनुष्य रसायन के सेवन से दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, कान्ति, वर्ण और स्वर की वृद्धि, देव एवं इन्द्रियों का उत्तम बल, वाक्सिद्धि, नम्रता और तेज को प्राप्त करता है। शरीर के लिये लाभप्रद रस-रक्त, मांस-मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र प्रभृति धातुओं की प्राप्ति रसायनों के सेवन से होती है इसीलिये इन्हे रसायन कहा जाता है। जो व्यक्ति विधिपूर्वक रसायनों का सेवन करता है वह केवल दीर्घायु ही नही प्राप्त करता अपितु देवर्षियों द्वारा प्राप्त गति एवं अक्षर ब्रह्म को भी प्राप्त करता है।

दीर्घमायुः स्मृति मेधामारोग्यं तरुण वयः ।
प्रभावर्ण स्वरौदार्य देहेन्द्रियबलं परम ॥
वाक्सिद्धि प्रणति कान्ति लभते ना रसायनात ।
लाभोपायोहि शस्तानां रसादीना रसायनम् ॥
न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते
रसायन यो विधिवन्निषेवते ।
गतिं स देवर्षिनिषेविता शुभा
प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षरम् ॥ (च० चि० १)

रसायन के दो स्वरूप होते है—आध्यात्मिक या आचार-सम्बन्धी तथा आधिभौतिक या विभिन्न औषधियों के योग । इनमे प्रथम को Metaphysical और दूसरे को Meterialistic कह सकते हैं । इन दोनो मे से कौन-सा कम उपयोगी और कौन-सा अधिक है, यह निर्णय देना कठिन है । फिर भी चरक का आचार-रसायन सर्वोपरि है । उसी का पर्याय सदाचार या सद्वृत्त नाम से स्वतन्त्रतया दिया जा रहा है । यह भी आयुर्वेद का एक विशेष अंग है जो अर्वाचीन जन-स्वास्थ्य-विज्ञान के लिये एक सर्वथा नया अध्याय हो सकता है।

विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से बहुत से रसायनों का उल्लेख शास्त्रों मे पाया जाता है। ऋतु के अनुसार तथा सम्पूर्ण वर्ष के अनुसार, आयु के अनुसार तथा विविध प्रकार के प्रयोजनो के अनुसार अनेक प्रकार के रसायन बताये गए है । उदाहरण के लिए यहाँ पर एक हरीतकी रसायन का उल्लेख किया जा रहा है ।

हरीतकी मनुष्यों के लिए माता के समान हितकरी है—माता तो कभी कुपित हो जाती है पर उदरस्थ हरीतकी कभी कुपित नहीं होती। ऋतु के अनुसार इसका सेवन ग्रीष्म मे बराबर गुड, वर्षा में सेंधा नमक, शरद् में स्वच्छ शक्कर, हेमन्त मे सोंठ, शिशिर में पिप्पली एवं वसन्त ऋतु मे मधु के साथ सेवन की गई हरीतकी को प्राप्त कर रोग नष्ट होते है ।

हरीतकी मनुष्याणां मातेव हितकारिणी ।
कदाचित् कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी ॥ (भा० प्र०)
ऋतावृतौ य एतेन विधिना वर्तते नरः ।
घोरानृतुकृतान् रोगान्नाप्नोति स कदाचन ॥ (सु० ३.६४)
ग्रीष्मे तुल्यगुडा सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धाम्बरे
सार्धं शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे ।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण सयोजितां
राजन् प्राप्य हरीतकीमिव रुजो नश्यन्ति ते शत्रव. ॥

सद्वृत्त

आयुर्वेद में सदाचार या सद्वृत्तों का बहुत अधिक महत्त्व जनस्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से दिया गया है। इनके अनुष्ठान या यथावत् पालन करने से न केवल आरोग्य की प्राप्ति होती है अपरञ्च इन्द्रियों पर आधिपत्य भी प्राप्त होता है जिससे व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य तथा स्त्रियों के ऋतुकालीन सदाचार प्रभृति आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक सद्वृत्त मनुष्य को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं।

आयुर्वेद में कथित सद्वृत्त उसकी एक बहुत बडी आधारशिला या नींव है। इसमें विश्वजनीन, सभी जाति, सम्प्रदाय और धर्मों में गृहीत सदाचारों का उल्लेख है। संभव है उनमें कुछ ऐसे भी कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का प्रसंग आया हो जिनकी औद्योगिक युग के परिवर्त्तनों के साथ मेल न खाये तथापि उनमें अधिकांश ग्रहण के योग्य ही हैं—'जैसे सभी जीवों में दयार्द्र मनोवृत्ति, त्याग की भावना, शरीर-वाणी एवं मन की चंचलता का दमन तथा परोपकार में स्वार्थ की कल्पना (परोपकार को स्वार्थ समझना इतना ही पर्याप्त सदाचार है)'

आर्द्रसतानता त्याग कायवाक् चेतसा दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥ (अ० हृ०)

अन्यान्य सदाचार

धर्मनिरपेक्ष, भौगोलिक सीमाओं से परे तथा सार्वभौम यह सिद्धान्त है। ऐसे ही ये सद्वृत्त समस्त प्राणियों के लिये सुखदाई, व्यक्ति को अनेक गुणों से प्रसिद्ध बनाने वाले, मनुष्यों को सदैव आरोग्य प्रदान करने वाले, उसे दीर्घायु अर्थात् शतजीवी (सौ वर्ष जीनेवाला बनाने वाले) तथा मरने के अनंतर उसे सन्तोष और सद्गति देनेवाले बतलाए गये है'—

इति चरितमुपेतः सर्वजीवोपजीव्यम्,
प्रथितगुणगणौघो रक्षितो देवताभिः।
समधिकशतजीवी निर्वृतः पुण्यकर्मा,
व्रजति सुगतिनिम्नो देहभेदेऽपि तुष्टिम्॥ (वृद्धवाग्भट)

अतएव आत्मकल्याण चाहनेवाले सभी लोगों को सर्वदा स्मृतिपूर्वक सभी सद्वृत्त का पालन करना चाहिये। सद्वृत्त के साधनों से मन-शरीर और इन्द्रियों को प्रकृत (विकार रहित) अर्थात् व्यक्ति को स्वस्थ रखा जा सकता है। यही इन उपदेशोंका अन्तिम लक्ष्य भी है—मनुष्य या समाज को स्वस्थ रखना। संक्षेप में इन सद्व्रतों का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया जा सकता है—

१ सात्म्येन्द्रियार्थ संयोग—विभिन्न कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों (motor and

Sense organs) का नत्तत कार्यो में उचित और अनुकूल मात्रा में लगाना ।

२ बुद्धि की सहायता से ठीक-ठीक विचार करते हुए कार्यों का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करना ।

३ देश-काल और आत्मगुणों से विपरीत आहार-विहारादिकों का विधि-पूर्वक सेवन करना ।

आधुनिक प्रचलित सामाजिक स्वास्थ्य-विज्ञान में आयुर्वेदोक्त इन सद्वृत्तों का भी एक अभूत-पूर्व स्थान है । क्योंकि इस विज्ञान का भी चरम लक्ष्य आरोग्य, दीर्घायुष्य तथा स्वास्थ-संरक्षण ही स्थिर किया गया है । सद्वृत्त का ही दूसरा नाम सामान्य धर्म है । इस सामान्य धर्म के अनुष्ठान से सुख और स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है ।

सभी प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ सुख के लिए होती हैं और सुख बिना धर्म के नहीं होता । इसलिए मनुष्य को धर्मपरायण होना चाहिये । हिंसा, चोरी, व्यर्थ कार्य, चुगलखोरी, कठोर भाषण, झूठ का झगड़ा करना, गुण में दोष का आरोप और यथार्थ का न देखना ये दस प्रकार के पाप कर्म हैं । इनको शरीर, मन और वाणी से निकाल देना चाहिये :—

सुखार्थाः सर्वभूताना मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुख च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत ॥
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्य परुषानृते ।
संभिन्नालापव्यापादमभिध्यादृग् विपर्ययम् ॥
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥ (वा० सू० २)

पंचकर्म

(Five Operations)

आयुर्वेद की एक अन्यतम विशेषता उसके पचकर्मों की है । इन पंचकर्मों का व्यक्ति या जनता के स्वास्थ्य की रक्षादृष्टि से उतना ही महत्व है जितना कि रोगी व्यक्ति का चिकित्सा में। पचकर्मों की संख्या जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—पाँच हैं । वमन (कै कराना), विरेचन (दस्त कराना), आस्थापन वस्ति (इनेमा के द्वारा आन्त्रों को स्वच्छ करना), अनुवासन (इनेमा के द्वारा गुदामार्ग से स्निग्ध पोषणों का पहुँचाना) तथा शिरोविरेचन (नस्य के द्वारा शिर और श्वसनमार्ग की शुद्धि करना) । इन पाँचों कर्मों के द्वारा रोग के उत्पादक दोषों या विषों का दूरीकरण सम्भव है—यदि दोष या विष शरीर से दूर हो जाय तो विकार स्वयमेव लुप्त हो जाता है और व्यक्ति और समाज स्वस्थ बनाया जा सकता है । पंचकर्म के पूर्व स्नेहन और स्वेदन का विधान है इन स्नेहन

और स्वेदन क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति को कर्म के लिए तैयार करना है इसीलिए इन दो क्रियाओं का समावेश पूर्व-कर्म (Preparation) मे हो जाता है। इन क्रियाओं से स्रोतस मे लीन (चिपके हुए) दोष ढीले पड जाते हैं और बहिर्मुख हो जाते है फिर पंचकर्मों के द्वारा उनका निर्हरण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। यदि दोष श्लेष्म-प्रधान है अर्थात् पचन-संस्थान के ऊपरी भाग मे (आमाशयादि) अथवा श्वसनसंस्थान (फुफ्फुसादि) मे है तो उसका निर्हरण वमन के द्वारा सम्भव है—इस प्रकार का विकार प्रायः शीत ऋतुओं के अनन्तर वसंत ऋतु में पाया जाता है। अतएव वसंत ऋतु मे यदि व्यक्ति और समाज को स्वस्थ रखना है तो उसमे वमननामक-पंचकर्म के द्वारा क्रिया करके उन्हें रोगरहित किया जा सकता है।

विरेचन—पचन-सस्थान के अधोभाग का शोधन जिसमे प्राय. ज्वर प्रभृति पित्ताधिक्य के लक्षण उत्पन्न होते हैं। विरेचन क्रिया के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार के रोगः प्रायः वर्षा ऋतु के अनन्तर शरद ऋतु मे उत्पन्न होते है (मलेरिया आदि)। इसलिए व्यक्ति या समाज की रक्षा की दृष्टि से उनमें भविष्य मे ज्वर प्रभृति रोग शरद ऋतु मे न हो शरद ऋतु के प्रारम्भ में ही विरेचन करा देना चाहिए। वस्तियों का प्रयोग वायु के शमन मे सर्वोत्तम माना गया है। प्राय वायु के रोग ग्रीष्म ऋतु के बाद (गठिया, आमवात, वातरक्त आदि) वर्षा ऋतु मे होते है। इस ऋतु मे वस्तियों का बहुल प्रयोग से व्यक्ति या समाज को भविष्य मे होने वाले वायु के रोगों से रक्षा की जा सकती है। पंचकर्मों के सम्बन्ध मे सदा एक ही विशेष कर्म करना होगा ऐसा नियम नही है दोषों के निर्हरण के लिए कभी एक कर्म, कभी दो, क्वचित् तीन या पाँचों की भी आवश्यकता पड सकती है और वैद्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की अवस्था विशेष का विचार करते हुए जितने कर्मों की आवश्यकता प्रतीत हो उनसे शुद्धि करे।

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा।
विकार. साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभि ॥ (सु०)

वर्ष मे तीन बडी ऋतुएँ बीतती है। इनमे हेमन्त ऋतु के दोष-सचय को वसंत मे, ग्रीष्म ऋतु के दोष-संचय को वर्षा काल मे एव वर्षा के दोष-सचय को शरद् ऋतु मे भलीभाँति निकाल देने से व्यक्ति मे ऋतुजनित विकार (Seasonal disease) नही होने पाते।

हैमन्तिकं दोपचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ (च०)

इस प्रकार यह पंचकर्म का अध्याय भी आधुनिक जनस्वस्थवृत्त के लिए

एक अभिनव विषय है, और उसका भी समावेश आधुनिक विषयों में करना वैज्ञानिकों का कर्तव्य है।

आयुर्वेद की विशेषताओं के सम्बन्ध में अन्यान्य कई बातें उपस्थित की जा सकती है। भूमिका का कलेवर बहुत बृहद् न हो अतएव संक्षेप में कुछ एक विशेषताओं का उल्लेख विशेषतः स्वस्थवृत्त से सम्बद्ध वैशिष्ट्यों का कथन किया गया है। साथ ही यह भी ध्यान में रखा गया है कि कथन अधिक व्यावहारिक हो और उसका क्रियात्मक (Practical) रूप दिया जा सके।

आयुर्वेद के दूसरे प्रयोजन चिकित्सा के सम्बन्ध में भी विविध विशेषताओं का वर्णन स्वतन्त्र या विस्तृत रूप में किया जा सकता है। परन्तु इस स्थान पर उसकी कुछ एक विशेषता का प्रतिपादन करते हुए लेख की इति की जा रही है।

सिद्धान्तचतुष्टय

(Four Fold theory)

आयुर्वेद में की जाने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं का सार या चिकित्सा का सारांश चार मौलिक सूत्रों में और पारिभाषिक शब्दों में आचार्य सुश्रुत ने दिया है—१. क्षीण हुए दोषों का बढ़ाना—यदि दोष या धातु क्षीण हो तो उनको बढावे। मनुष्य के शरीर में रस-रक्तादि प्रभृति धातुओं की कमी, खनिज द्रव्यों की कमी, पोषण के अभाव में पोषक द्रव्यों या जीवतिक्तियों की कमी (Deficiency diseases due to lack of nutrition [Vitamins, protien, carbohydrates, fats & minerals or hormonal imbalance) हो तो उसे पूर्ति करना।

२. कुपित दोषों का प्रशमन करना—दोषों के कुपित होने से अथवा विषमयता के कारण लक्षणों का शमन विभिन्न लाक्षणिक तथा विशिष्ट औषधियों के प्रयोग से Sedation or Palliative treatment either symptomatic or by chemo therapy का प्रयत्न करना। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक चिकित्सा के संभार प्राचीनों की अपेक्षा उस वर्ण में अधिक उन्नत है।

३—बढ़े हुए दोषों का निर्हरण करना—बढ़े हुए विषों का रेचन (Purging) या प्रक्षालन (Flushing of the system) करना चाहिये। संशोधन का उपक्रम आयुर्वेद में सर्वोपरि है—जिसका प्रसंग पंचकर्मों में आ चुका है।

४—यदि दोष और धातु समान या स्वस्थ मात्रा में हों तो उनका पालन करे—इसी सिद्धांत की रक्षा स्वस्थवृत्त नामक चिकित्सा विज्ञान के अंग से की जाती है। स्वास्थ्य-संरक्षण या स्वस्थ के स्वास्थ्य के पालन-हेतु बनाये रखने

के दो उपाय है–वैयक्तिक (Peasonal) तथा सामूहिक या सामाजिक (Public) इनमें वैयक्तिक आचारों का सर्वोत्तम उपदेश आयुर्वेद से प्राप्त होता है।

दोषा. क्षीणाः वृंहयितव्या , कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्या', समाः परिपाल्या इति सिद्धान्त । (सु० चि० ३३)

इन सिद्धान्त के अतिरिक्त तो चिकित्सा-जगत् में कुछ शेप रह नही जाता। इन सार्वभौम सिद्धान्तों में सभी तत्त्व सूत्र रूप मे निहित है।

तद्रूपता (Crudopathy)—आयुर्वेद मे सौम्य तथा उग्र दोनों प्रकार के योग उपलब्ध होते है। सौम्य काष्ठौपधियों से प्रारम्भ करके, खनिज धातूप-धातु, वानस्पतिक विपोपविप तथा विभिन्न जान्तव विप जिनमें साधारण गोरो-चन और मत्स्यपित्त से लेकर उग्र से उग्र सर्पविप का भी प्रयोग होता है। फिर भी औपधि की सौम्यता, उसकी सुरुचिपूर्णता और सुस्वादुता के ऊपर वैद्यों का विशेप ध्यान रहता है।

आयुर्वेद की औपधियों की सर्वाधिक विशेपता उनका तद्रूप (Crude form) प्रयोग है। चीनी, मिश्री प्रभृति संस्कृत (Refined) मिठाइयों के रहते भी गुड की मिठास की भी आवश्यकता पडती है। आज के वैज्ञानिक 'क्रूड फार्म' मे प्रयुक्त की जाने वाली औपधियों का उपहास करते हैं। उदा-हरणार्थ एक सर्पगंधा का प्रयोग ले। सर्पगंधामूल सम्पूर्ण चूर्ण का प्रयोग कई शताब्दियों से वैद्य उन्माद और रक्तवात (Hypertension) आदि मे करते चले आ रहे है जब से विश्व के आधुनिक वैज्ञानिकों को इस औपधि का पता चला नित्य नये अनुसंधान चलने लगे। उन्होंने वैज्ञानिक शोधों के आधार पर कई क्षार-तत्त्वों (Alkaloids) का पता लगा लिया। पुनः उसमे उस विशिष्ट तत्त्व का भी पता लगाया जिसका सीधे उच्चरक्त-निपीड पर प्रभाव पडता है। इस तत्त्व की अल्पतम मात्रा कम से कम समय से निपीड को नीचे कर देती है। इस तत्त्व का नाम है Reserpine 'रिसर्पाइन'। '२५ मि० ग्राम की एक गोली वह कार्य कर सकती है जो क्रूड सर्पगधा का २ माशा चूर्ण भी नहीं कर पाता।

गुण का वर्णन तो हो चुका अब जरा दूसरी दृष्टि से विचार करे तो उसमे गुणों की अपेक्षा दुर्गुण कई गुने बढ़े मिलते है। इसकी विपाक्तता बडी तीव्र है। प्रयोग काल मे मात्रा निर्धारण (Dosage) अवधि (Duration) रक्त-निपीडलेखन (Blood Pressure Recording) की आवश्यकता पदे-पदे पडती है। रोगी मे लम्बे समय तक निरन्तर प्रयोग करने से जीवन से भी रोगी को हाथ धोना पडता है। परन्तु क्रूडफार्म मे प्रयोग करने से न प्रयोग काल और न पश्चात् काल मे ही किसी प्रकार की हानि की सम्भावना रहती

है। यही कारण है कि वैद्य क्या वैद्येतर वर्ग के लोग भी एक घरेलू औषधि के रूप मे इसका प्रयोग सफलतापूर्वक करते हुये आरोग्य लाभ करते देखे जाते हैं।

काष्ठऔषधि के तद्रूप के व्यवहार से कई लाभ होते है—औषधि सौम्य-स्वरूप की हो जाती है, उसकी विषाक्तता कम हो जाती है, प्रयोग काल में तथा अनन्तर काल मे उपद्रवों की आशंका भी कम रहती है साथ ही औषधियों की आदत डालने वाला दोष (Habit forming) भी जाता रहता है। औषधि के प्राकृतिक रूप मे प्रयोग से सबसे बड़ा लाभ उसकी विषाक्तता की कमी प्रतीत होती है। यदि अफीम के सम्पूर्ण पौधे का सेवन किया जाय तो वह उतना विषाक्त नहीं होता जितना कि उसका घनीकृत रूप से प्राप्त दूध। सम्पूर्ण रूप मे लेने से उस विष का प्रतिरोधी द्रव्य, जो प्रकृति मे ही उसमें पूर्व से ही विद्यमान रहता है, मिल जाता है इसलिये विष-प्रभाव तीव्रस्वरूप का नहीं होता। इसी प्रकार अन्य विषाक्त वनस्पति-द्रव्यों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

प्राकृतिक रूप में औषधि के लेने का दूसरा अन्तर स्वाभाविक तथा कृत्रिम (Natural or synthetic) शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक कृत्रिम चीजों की अपेक्षा प्राकृतिक चीजों के व्यवहार के पक्ष में अधिक है—विशेषतः जान्तव और वानस्पतिक द्रव्यों के सम्बन्ध में। प्राकृतिक विटामिन्स, हार्मोन्स, प्रोटीन्स आदि की महत्ता आज भी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि को स्वीकार किया जाय तो आयुर्वेद की प्राकृतिक वानस्पतिक और जान्तव द्रव्यों से निर्मित योग निश्चित रूप से अधिक लाभप्रद और उपयोगी है। आँवले का सेवन करना हो तो प्राकृतिक आँवला या उसका कल्क, स्वरस, फाण्ट, क्वाथ, अवलेह आदि सिन्थेटिक विटामिन 'सी' के बने योगों से कई गुने लाभप्रद होंगे। क्रूडफार्म में पाया जाने वाला विटामीन्स से भरपूर रहते हुए भोजन का भी प्रतिनिधि (Substitute) हो सकता है। सिन्थेटिक विटामिन्स केवल विटामिन्स की कमी को किसी प्रकार पूरा कर सकता है उसका भोजन में कोई मूल्य (Food Value) नही अंकित किया जा सकता।

जहाँ तक खनिज पदार्थो का आयुर्वेदीय औषधियो के रूप मे प्रयोग होता है—वे क्रूड है ऐसा नही कहा जा सकता। क्योंकि उनमें तो विभिन्न प्रकार के संस्कारों द्वारा संस्कृत, शोधन, मारण, जारण, निरुत्थीकरण प्रभृति क्रियाओं से शरीर ग्राह्य (Absorbable) तथा सेन्द्रिय (Organic) स्वरूप में ले आने का भगीरथ प्रयत्न किया जाता है। आयुर्वेद में व्यवहृत होनेवाली रसौ-षधियाँ संस्कृत और परिष्कृत होती हैं इसके विपरीत आधुनिक चिकित्सा मे

व्यवहृत होने वाले लौह और उपलौह योग ही असंस्कृत या क्रूड रूप के होते है। यही कारण है कि आधुनिक युग का लौह विबंधकारक होता है, परन्तु आयुर्वेदिक पद्धति से सिद्ध लौह के योग रेचक।

गृह-चिकित्सा, गृह शल्यकर्म

(Home Medicine and House Hold Surgery)

ऊपर मे बतलाया जा चुका है कि-व्यक्तिगत स्वस्थवृत्त के नियम प्रत्येक गृहस्थ के घर मे अपना आवास बना लिये है। उसी प्रकार आयुर्वेद की काय-चिकित्सा मे भी सब समय किसी विशेषज्ञ की आवश्यकता नही रहती। अपने नित्य की भोजन-सामग्री और मसालों के रूप मे, पथ्यापथ्यों के विवेक के रूप में तथा सुने हुए उपदेशों के रूप मे वह घरेलू चिकित्सा का रूप धारण कर चुकी है। न केवल काय-चिकित्सा के क्षेत्र में, शल्य-चिकित्सा के क्षेत्र मे भी लघु-शस्त्र कर्मों (House hold surgery) के रूप मे, वह आज भी व्यवहार में आ रही है। इस प्रकार अति प्रचलित और लोक-ज्ञान का तिरस्कार नही किया जा सकता। आयुर्वेद-शास्त्र की अपेक्षा लोक को भी अपना गुरु मानते हुए संकोच नही करता। लोक ही सब कार्मो मे बुद्धिमानों का आचार्य है। इसलिए सांसारिक विषयों मे पुरुष लोक-प्रणाली का ही अनुसरण करे।

आचार्य. सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेर्थे परीक्षकः॥ (वा० सू० ३)

पथ्यापथ्य

(Dietetics)

आयुर्वेद का यह अंग भी बडा ही अद्भुत है। रोगानुसार पथ्य या अपथ्य की विवेचना तो आधुनिक चिकित्सा का भी एक प्रमुख अग बन रहा है। आहार-विहार सम्बन्धी नये विचारों की शोध जारी है। फिर भी एकान्तत. पथ्य, हिताहार, अहिताहार, विरोधी भोजन और विषमाशन आदि का आयुर्वेदीय वर्णन आज भी अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। सहस्रों वर्ष की परम्पराओं के अनुभव के अनन्तर प्रकाशित यह अनुभव सत्य है। मनुष्य शरीर के स्वस्थ रखने के लिए इनका भी ज्ञान परमावश्यक प्रतीत होता है। विरुद्धाशन से विविध प्रकार के रोग पैदा होते है। क्वचित् विरुद्धाशन का साक्षात् कुपरिणाम नहीं दिखायी पडे तो उसमे हेतु व्यक्ति की दीप्ताग्नि, तरुणावस्था, सात्म्य और उसका शारीरिक बल एव परिश्रम होता है जिससे विरोधी अन्न उसके लिए व्यर्थ हो जाते है और अहित नही करते। विरोधी अशन के सैकडों प्रसग ग्रंथों में सगृहीत है। यहाँ पर एक प्रचलित उदाहरण मछली और दूध का एक ही साथ सेवन

का दिया जा रहा है। यह विरुद्धाशन है इससे रोग पैदा होने की सम्भावना रहती है, परन्तु पाश्चात्य देशों में मछली और दूध के योग से बना स्वादु-भोज्य पदार्थ पाये जाते हैं। उन व्यक्तियों को उससे कोई हानि भी नहीं होती। इसका कारण क्या है। उत्तर ऊपर में बताया जा चुका है—पुन यहाँ शास्त्रों में उसका उद्धरण दिया जा रहा है :—

सात्म्यतोऽल्पतया वापि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च।
स्नेहव्यायामबलिनो विरुद्ध वितथ भवेत् ॥

आयुर्वेद प्रगति का समर्थक
(Progressive)

आयुर्वेद रूढिवादी नहीं है। उसकी आधार-शिला सत्य, सनातन, विश्वजनीन या सार्वभौम सिद्धान्तों के ऊपर रखी गई है। वह सदा से प्रगति का समर्थक रहा है। उसकी चिकित्सा की कुछ पद्धतियाँ काल-क्रम अब्सोलीट (Obsolete) हो गई हैं, फिर भी वह सम्पूर्णतया अब्सोलीट नहीं है। क्योंकि वह अतिप्राचीन काल से अर्थात सभ्यता के आदिम काल से आज के युग तक किसी न किसी रूप से समाज—सेवा करता आ रहा है। इतना ही नहीं उससे युगानुरूप परिवर्तन भी होते आये हैं। यही कारण है कि अथर्ववेद के काल में जो चिकित्सा की पद्धति रही वह संहिता-काल (चरक-सुश्रुतादि) में नहीं रह पाई उसमें बहुत विकास हुआ, नये-नये रोगों का प्रवेश नई-नई औषधियों का, और निदान-चिकित्सा के नये-नये साधनों का अंतर्भाव किया गया। संहिता-काल में जो चिकित्सा की पद्धति रही परवर्त्ती युग में संग्रह-काल में वह नहीं रह पाई। उसमें निदान और चिकित्सा संबन्धी आमूल परिवर्तन हुए। चिकित्सा के क्षेत्र में नये-नये योगों की कल्पना हुई। रस-विद्या ने पूरे शास्त्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चिकित्सा केवल आध्यात्मिक योग, वानस्पतिक और जान्तव पदार्थों तक ही सीमित नहीं रह गया बल्कि खनिज पदार्थो का रसोपरस, लौहोपलौह, विषोपविषों का बहुलता से प्रयोग होने लगा। रसौषधियों के प्रवेश ने चिकित्सा जगत् में एक नया क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। उसने त्रिदोषों के अंशांश कल्पना दुरुहता को भी धक्का दिया, अरुचिकर बडी मात्रा की काष्ठौषधियों का या उनसे निर्मित घृत, तैल, आसवारिष्ट, गुटिका आदि का उपहास करते हुए, अल्पतम मात्रा में प्रयुक्त होने वाली और शीघ्र लाभ पहुँचाने वाली रस योगों की व्यवस्था होने लगी :—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः।
क्षिप्रं च फलदायित्वादौपधिभ्योऽधिको रसः।

परवर्त्ती वैद्यों को यूनानी चिकित्सा का सामना करना पड़ा। यूनानी चिकित्सा से कई नये-नये तत्त्वों का सार ग्रहण आयुर्वेदज्ञों ने किया, कई नई-नई औषधियों से जैसे चोपचीनी, पारसीक यवानी आदि के योगों से शास्त्र को अलंकृत किया। पुन. बाद के युग मे यूरोपियन संस्कृति के साथ वैद्यों का मुकाबिला पड़ा और उन्होंने कई एक नये रोगों, जिनका वर्णन उसके पूर्व के आयुर्वेदीय ग्रंथों मे नहीं पाया जाता है, उनका प्रवेश अपने शास्त्रों में किया। जैसे फिरंग रोग (देखें भाव प्रकाश)।

फिरंग (Portugese) देशविशेषार्थ में पुर्तगाल के लिये आया है क्योंकि सर्वप्रथम यही व्यापारी हिन्दुस्तान मे व्यापार करने के निमित्त आये थे। बाद में फिरंग देश समग्र योरोप का बोधक हो गया। उसके देश मे बहुलता से मिलने वाला या आधुनिक सभ्यता का रोग फिरंग नामक है जो फिरंगियों के सम्पर्क से अन्य लोगों में भी हो सकता है। फिरंगी स्त्रियों के अंग संस्पर्श होने वाले इस रोग का नाम ही फिरंग रोग रख दिया गया जो आज 'सिफलिस्' रोग का पर्यायवाची हो गया है:—

> फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्।
> तस्मात् फिरंग इत्युक्तो: व्याधिर्व्याधिविशारदै ॥
> गंधरोगः फिरंगोऽय जायते देहिना ध्रुवम्।
> फिरंगिनोऽङ्गसंस्पर्शात् फिरंगिण्याः प्रसंगतः॥

फिरंग रोग की व्याख्या, हेतु, निदान, सम्प्राप्ति के अनन्तर उसके प्रभेद और उपद्रवों का विचार करते हुए चिकित्सा की भी सम्यक् व्यवस्था तत्कालीन शास्त्रकार को करनी पड़ी थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद का शास्त्र एक अत्यन्त व्यावहारिक (Practical) विद्या है इसको युगानुरूप शास्त्रकारों के करने की आवश्यकता सदैव पड़ती रही है। जैसा कि पूर्व की प्रतिज्ञाओं में प्रसंग आ चुका है यह अनादि, अनन्त और सनातन, सदा बने रहने वाले स्वरूप का है—इसलिये यह स्थिरात्मक (*Static*) न होकर गति-शील (*Dynamic*) है अर्थात् प्रगति का समर्थक है। आयु के हिताहित की दृष्टि से आयु के ज्ञान एवं प्राणी के नैरोग्य के लिए व्याधि के विचार से, निदान और शमन की दृष्टि से, प्राणिमात्र के दीर्घायुष्य की प्राप्ति की दृष्टि से जो कुछ भी ज्ञान है वह आयुर्वेद ही है :—

> आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।
> विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते॥
> अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च।
> तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः॥

आयुर्वेदं पठिष्यामि नैरुज्याय शरीरिणाम्।
इति निश्चित्य मतिमानात्रेयस्त्रिदशालयम्॥ (भे० २०)

आचार्य चरक ने आयुर्वेद के विशाल और व्यापक क्षेत्र के प्रति अपनी उदारता प्रतिदर्शित करते हुए लिखा है कि आयुर्वेदज्ञ को प्रत्येक औषधि (Drug) का मर्मज्ञ होना चाहिये। केवल नाम और रूप-ज्ञान से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। अपितु, उसके सम्बन्ध में यावतीय ज्ञातव्य बातों का गुण, रस, वीर्य, विपाक, देश के अनुसार एवं काल के अनुसार उनके प्रयोग की विधि, प्रति व्यक्ति की अनुकूलता के उपयोग की सभी दृष्टियों से विचार करते हुए प्रयोगज्ञ होना चाहिये। औषधि का ज्ञान यदि जंगली और असभ्य कहे जाने वाले भेड और बकरी चराने वाले आदमियों से भी हो जाय तो उसको ग्रहण करना चाहिये। बशर्ते कि वह उत्तम और उपादेय हो। ज्ञान अनन्त है उसकी सीमा नहीं। अन्ततोगत्वा आयुर्वेद का दो ही लक्ष्य रह जाता है। बढ़िया औषधि (Drug) तथा प्राणियों को नीरोग करना (Cure)। इनमें भेषज (Drug) वही उत्तम है जो नैरुज्य का सम्पादन कर सके। चिकित्सक (वैद्य) वही उत्तम है जो रोगी जो रोग से मुक्त कर सके—

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स एव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥ (च० सू०)

इस उदार सिद्धांत में संकीर्णता का लेश भी नहीं। जब भेड और बकरी चराने वाले जंगली आदमी औषध के नाम और रूप ज्ञान कराने के लिए आयुर्वेद के गुरु बन सकते है तो क्या तथाकथित वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति या सभ्य कहे जाने वाले देशों से प्रचारित और प्रसारित विज्ञान का आलोक अर्थात् आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के आचार्य आयुर्वेद के गुरुपद या आचार्यपद को अलंकृत नहीं कर सकते हैं? जरूर कर सकते हैं। यदि उनमें आचार्यत्व की क्षमता विद्यमान हो।

जैसा कि ऊपर में निर्देश किया जा चुका है। आज का विज्ञान औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) का परिणाम है। वह एकैक भावना में विश्वास नहीं करता उसके सम्मुख सदैव समूह, समाज, जनपद और देश का विचार है। वह एक विराट् प्रकाश के रूप में विद्यमान है। उसकी तुलना में आयुर्वेद का प्रोज्ज्वल दीप कुछ फीका लगता है। आज आयुर्वेद में उसके आचार्यों में यह क्षमता नहीं कि उसको साहसा आत्मसात् कर सके। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि आयुर्वेद वह दीप है जो अपने में आत्मसात् करके ही छोडेगा। उसके लिए काल अपेक्षित है। काल बडा बलवान् होता है, परन्तु प्रतीक्षा तो करनी ही पडती है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है कि

वह काल से विभिन्न विपरीत सभ्यता, संस्कृति और परम्पराओं का अपने में आत्मसात् करने में समर्थ रही है। इतिहास इस काल की साक्षी है, भारत की संस्कृति इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

आयुर्वेद का प्रथम पाठ

इस महान् आयुर्वेद का प्रथम पाठ ही आयुर्वेद के विकास की योजनाओं के साथ 'आयुर्वेदोत्पत्तिं व्याख्यास्याम' (सुश्रुत) से शुरू होता है। अथवा यों कहें कि दीर्घ जीवन प्राप्त करने के विचार से प्रारम्भ 'अथातो दीर्घंजीवतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः' (चरक) कहते हैं। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऋषियों को देवलोक तक की यात्रा करनी पडी थी—कितना दुष्कर कार्य था—

किं करोमि क्व गच्छामि कथं लोका निरामयाः।
भवन्ति सामयानेतान्न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥
दयालुरहमत्यर्थं स्वभावो दुरतिक्रमः।
एतेषां दुःखतो दुःखं ममापि हृदयेऽधिकम्।
इति निश्चित्य भगवानात्रेयस्त्रिदशालयम् ॥ (भै० र०)

आज के युग में दीर्घ जीवन के विकास की योजनाओं को लेकर देवलोक तक जाने की आवश्यकता नहीं है। इस लोक में आयुर्वेद का आनयन ऋषियों के द्वारा पूरा कर दिया गया है। इसके विकास के लिए भारत में ही क्वचित् भारतेतर देशों से बहुत सी सामग्रियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। उससे इस आयुर्वेद को विकसित या अधिक समृद्ध कर सकते हैं। वह सामग्री क्या है? इसका उत्तर एक वाक्य में यही है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साधनों को आत्मसात् करना, जो सम्प्रति बडा ही दुःसाध्य और कठिन प्रतीत होता है। दीर्घायुष्य का पाठ-ग्रहण आयुर्वेद का सर्वोपरि लक्ष्य है उसको छोडा नहीं जा सकता—समस्या जटिल, उसका समाधान और अधिक जटिल।

इस जटिल समस्या का सरल समाधान सामञ्जस्य में है। जिस प्रकार कुटी व्यवस्था और औद्योगीकरण दो विपरीत उपक्रमों का समाधान आधुनिक युग में देश के कर्णधार मनीषियों के द्वारा अपनाया जा रहा है। उसी प्रकार आयुर्वेदज्ञों को भी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह अपेक्षित है। दोनों का प्रश्रय समान रूप से देना—औद्योगीकरण भी चलता रहे और हठपूर्वक कुटी-व्यवसायों की भी रक्षा की जाय, आयुर्वेद में नए-नए निदान और चिकित्सा के साधनों को अपनाते हुए हठपूर्वक दिव्य आयुर्वेद की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए। आयुर्वेद, कुटी-व्यवसाय और सनातन धर्म की रक्षा आज तक इसी बल पर हुई है। 'जे हठि राखे धर्म को तेहि राखे करतार' महामना परम पूज्य स्वर्गीय पंडित मदनमोहन मालवीयजी का आदर्श ही इस विभीषिका से रक्षा कर

सकता है। 'प्रतीच्य-प्राचीच्य का मेल सुन्दर' यह रहा उनका आदर्श। इसी आदर्श को सामने रखकर आयुर्वेद का उत्थान या विकास संभव है। आज का आयुर्वेद एवं उनके ज्ञाता भी इसी आदर्श के पुजारी हैं। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं।

इसी उदार भावना से प्रेरित हो आधुनिक आयुर्वेद में जहाँ भी अपूर्णता प्रतीत हुई उसको आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से पूर्ण करके अभिनव आयुर्वेद का जन्म होता है। इन अभिनव आयुर्वेदज्ञों को शास्त्रों के प्राचीन ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान के नवीनतम ज्ञान के सम्मिश्रण से उभयज्ञ बनाया जाता है।

आयुर्वेदज्ञ का प्राचीन स्वरूप

प्राचीन युग में चिकित्सा का कर्म एक पुण्य कर्म की दृष्टि से किया जाता था 'चिकित्सतात् पुण्यतमं न किंचित्।' कुछ सीमित क्षेत्रों में ही वह व्यवसाय के रूप में स्वीकृत किया गया है। यद्यपि वैद्यक विद्या की प्रशंसा अर्थकरी विद्या के रूप में पायी जाती है तथापि चिकित्सा का उद्देश्य कथमपि अर्थोपार्जन व्यवसाय के रूप में नहीं रहा जैसा कि निम्नलिखित वैद्य के गुणों से स्पष्ट है।

आदर्श भिषक्

गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु।
गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्।

वैद्य—कुलीन, धार्मिक, कोमल स्वभाव वाला, सुरक्षित, सर्वदा सावधान, निर्लोभ, सज्जन, भक्त, कृतज्ञ, देखने में सुन्दर (प्रियदर्शन), क्रोध-रूक्ष-मद-ईर्ष्या-आलस्य आदि दोषों से रहित, जितेन्द्रिय, क्षमावान, पवित्र, शील और दया से युक्त, मेधावी, न थकने वाला, अनुरक्त, हितैषी, चतुर, समझदार, वैज्ञानिक, छलरहित और होशियार होना चाहिए।

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं सततोत्थितम्।
अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम्॥
क्रोधपारुष्यमात्सर्यमदालस्यविवर्जितम्।
जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिशीलदयान्वितम्।
मेधाविनमसंभ्रांतमनुरक्तं हितैषिणम्॥

ये ऊँचे आदर्श हैं, इन आदर्शों का पालन करने वाला वैद्य व्यवसाय-बुद्धि से प्रेरित होकर अपने व्यवसाय में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि उसके आदर्श

विशुद्ध सेवा की भावना से ओत-प्रोत है। इस प्रकार का वैद्य आर्तजनों की सेवा करता हुआ कृतार्थ हो सकता है।

वैद्यों के अन्यान्य आदर्शों का संग्रह विभिन्न आयुर्वेद ग्रंथों में वर्णित वैद्य की परिभाषाओं से किया जा सकता है। यहाँ पर एक और उदाहरण देकर वैद्य की समाजसेवा के उच्च आदर्शों का उदाहरण दिया जा रहा है।

आयुर्वेद में अभ्यासप्राप्त, प्रियदर्शन, युक्ति और कारणों का जानकार वैद्य कहलाता है। व्याधि का पूर्ण रूप से ज्ञाता, वेदना का निग्रह करने वाला, वैद्य ही वैद्य है, वैद्य जीवन का मालिक नहीं है।

आयुर्वेदकृताभ्यासः सर्वतः प्रियदर्शनः।
युक्तिहेतुसमायुक्त एप वैद्योऽभिधीयते ॥ (क्षे० कु०)
व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञान वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्व न वैद्यः प्रभुरायुप ॥ (यो० र०)

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चिकित्सा का कर्म निर्लोभ होकर करने हुए भी निष्फल नहीं होता। कहीं पर मित्रता पैदा हो जाती है, कहीं पर पैसा भी मिल जाता है, कहीं पर यश और सम्मान मिलता है, कहीं पर धर्म या पुण्य का कर्म सम्पन्न हो जाता है और कुछ भी न मिले तो कम से कम क्रियाभ्यास (Practical experience) तो निश्चित ही मिलता है, चिकित्सा क्वचिदपि निष्फल नहीं होती—

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मो क्वचिद्यशः।
क्रियाभ्यासः क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

आज का भिषक्

उपर्युक्त उन आदर्शों को ध्यान में रखते हुए आज का वैद्य अपने कार्यक्षेत्र में उतरता है। उसको आधुनिक युग के चिकित्सा-व्यवसाय के साथ प्रारम्भ से ही मुकाबला करना पड़ता है। प्राचीन युग के वैद्यादर्श (Medical ethics) जो मैत्री, करुण और आर्तजनों की सेवाभावना से दयार्द्र सिद्धांतों पर व्यवस्थित थे, उनको तिलाञ्जलि देनी पड़ती है और उसे भी आधुनिक चिकित्सा आदर्शों (Modern medical Ethics) को बाध्य होकर अपनाना पड़ता है। अन्तः के परिवर्तनों के साथ ही उसे बाह्य परिवर्तनों की भी आवश्यता प्रतीत होती है, फलत वह बाह्याडंबरों को भी अपनाना अपना कर्त्तव्य समझता है। यद्यपि उसका आन्तरिक उद्देश्य सदैव पुनीत रहता है फिर भी बाहर से वह एकाकारता को स्वीकार करते हुए वचन, कर्म, संज्ञा और परिधान वही ग्रहण करता है जो आधुनिक चिकित्सा जगत् के नियामक लोग।

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः ॥ (वा० सू० २)

सांसारिक कार्यों में लोक ही सबसे बडा आचार्य होता है । लोक का अनुस्मरण करते हुए जो भी उत्तम आदर्श प्रतीत हो उसी का ग्रहण करना कल्याणकर होता है । यदि लोक की माँग और आग्रह आधुनिकता की ओर हो तो वैद्य का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह आधुनिक ही बने, आज का वैद्य उभयज्ञ होता है । उसको सम्पूर्ण प्राचीन शास्त्रों के ज्ञान के साथ ही साथ नवीनतम ज्ञान की शिक्षा भी मिलती रहती है, फलतः वह कुटी-व्यवसाय और उद्योगजनित उभयविध ज्ञानों का सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ रहता है । वह यथावश्यक प्राचीन विधियों से या अर्वाचीन विधियों से स्वास्थ की रक्षा या रुग्ण मनुष्यों की चिकित्सा करने में समर्थ रहता है । उदाहरण के लिए ओषधि को शरीर के भीतर पहुँचाने के बहुत से नए-नए मार्ग आविष्कृत है । इनमें सूचीवेध के द्वारा ओषधियों का अन्त.प्रवेश लोक ने बहुत प्रचलित है । जनता की माँग भी इस सम्बन्ध में बहुत है । यदि वैद्य इस सूचीवेध क्रियाओं से अनभिज्ञ रहे तो वह लोकानुरंजन नहीं कर सकता और चिकित्सा के व्यवसाय में भी सफल नहीं हो सकता । अतः बाध्य होकर उसे उस कार्य में प्रवृत्त होना पडता है । आचार्य वाग्भट ने लिखा है कि अर्थ, धर्म और काम से रहित कोई काम न आरम्भ करे उनका सेवन बिना किसी का विरोध किया करे । सभी धर्मो में प्रत्येक पद पर मध्यम (बीचवाले) मार्ग का अनुसरण करे ।

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं, भजेत्तञ्चाविरोधयन् ।
अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥

जैसा कि ऊपर में इंगित किया जा चुका है आधुनिक चिकित्सा एक व्यवसाय के रूप मे प्रचलित है यदि चिकित्सा का अर्थोपार्जन ही एकमात्र लक्ष्य हो तो स्वाभाविक है वैद्य भी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए व्यावसायिक ओषधियों को ही अपनावे । इन ओषधियों की प्रशंसा और काष्ठ ओषधियों की निन्दापरक बहुत सी परिहासोक्तियाँ पायी जाती हैं, जिनका ऊपर में उल्लेख भी हो चुका है । अब रस ओषधियों की निन्दा करते हुए और इञ्जेक्शन से प्रयुक्त ओषधियों की प्रशंसा में अपने एक मित्र की परिहासोक्ति यथार्थ प्रतीत होती है ।

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः ।
क्षिप्रं च फलदायित्वात् सूचीवेधोऽधिको मतः ॥

भारतवर्ष एक विशाल देश है, इस देश में वेषभूषा की एक आकारता नहीं मिलती । आसाम प्रदेश के लिए जो एक सौम्यवेष है, पंजाब के लिए

वह उद्धत। इस प्रकार हिमालय का जो ग्राम्य वेश है वह मद्रास के लिए विदेशी। इसी तरह के अन्य भी उदाहरण दिए जा सकते है। ऐसी स्थिति मे कौन-सा वेश वैद्यों का गणवेश (uniform) हो, यह भी एक समस्या है। आचार्य सुश्रुत ने इसका बडा सुन्दर समाधान किया है। उन्होंने वैद्य के सौम्य और अनुद्धत वेश की प्रशंसा की है। जो भी वेश जिस देश में अनुद्धत स्वरूप का हो उसे वैद्य को धारण करना चाहिए।

'छत्रेण, दण्डेन, सोपानत्केन, अनुद्धतवेशेन त्वया विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या।'

वैद्य को सम्पूर्ण साधन और सामग्री से सुसज्ज होना गुण माना गया है। आज का वैद्य निदान के कुछ सीमित साधनों तक ही अवरुद्ध नही है और उसे होना भी नहीं चाहिए। वल्कि रोग के निदान के साथ ही चिकित्सा के विभिन्न साधन और सामग्री का सम्भार उसके समक्ष रहना चाहिए। जिस प्रकार बाह्य साधनों में हमें आराम के भिन्न-भिन्न आविष्कृतनये उपायों की आवश्यकता पडती है और स्वीकार करते हुए हिचक नही होती उसी प्रकार निदान और चिकित्सा के विभिन्न आविष्कृत साधन-सामग्री से सुसज्ज चिकित्सक का होना भी नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि आज का वैद्य इन नवीन साधनों से सम्पन्न पाया जाता है।

पूर्ण चिकित्सक

यदि निष्पक्ष-दृष्टि से विचार किया जाय तो आधुनिक युग के निकले हुए आयुर्वेद विद्यालयों के स्नातक चिकित्सक की पूर्ण इकाई है, (Complete unit) क्योंकि आधुनिक विज्ञान का ज्ञाता कितना ही क्यों न हो जब तक उसको प्राचीन सस्कृत साहित्य मे निहित ज्ञानराशि का सन्देश प्राप्त नही हो जाता वह अपूर्ण रहता है। प्राचीन और नवीन ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही पूर्ण चिकित्सक (Complete physician) का गौरव प्राप्त कर सकता है और राष्ट्र के लिए ऐसे ही पूर्ण चिकित्सकों की आवश्यकता है। इन उभयज्ञ चिकित्सकों से जनता की पूरी सेवा सम्भव है।

'भिषक् चिकित्साङ्गानाम्'—चिकित्सा कर्म में प्रयुक्त होने वाले जितने भी साधनोपसाधन हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्व चिकित्सक का है। शल्य चिकित्सा में सब प्रकार के यन्त्रोपयंत्र, शस्त्रानुशस्त्र से सुसज्ज चिकित्सालय या आगार के रहने पर भी यदि चिकित्सक की कुशलता नही प्राप्त हो शल्य कर्म मे सफलता नहीं मिलती है। कायचिकित्सा के क्षेत्र मे भी यही स्थिति है। चिकित्सक या भिषक् का सबसे बडा गुण योजक होना माना गया है। 'योगो वैद्यगुणानाम्' सबसे उत्तम भिषक् वह है जो रोग और रोगी की

प्रकृति, देश, काल, सात्म्य, ऋतु, बलाबल और मात्रा आदि की सम्यक्तया विचार कर चिकित्सा की योजना सम्यक् रीति से करता है।

'तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञः' 'युक्तिश्च योजना या तु युज्यते।'

यह युक्ति या हिकमत की दक्षता आप्तोपदेश तथा प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से प्राप्त होती है।

भिषक् कर्म—कर्म का स्वरूप क्रिया है। द्रव्यों की शरीर पर जो वमनादिक क्रिया होती है उसे कर्म कहते है। आयुर्वेद मे अदृष्ट के लिये भी कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। इस लिये उसकी व्यावृत्ति के लिये यह लिखा गया है कि चिकित्सा मे प्रयुज्यमान क्रिया को ही कर्म कहा जाता है। चेतन प्रयत्न से उत्पन्न चेष्टा व्यापार को भी कर्म कहते हैं। इसी का नाम प्रवृत्ति, क्रिया, कर्म, यत्न तथा कार्य-समारंभ है।

वैशेषिक दर्शन मे उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि व्यापारों को कर्म कहा गया है। वहाँ पर संयोग, विभाग और वेग कर्मजन्य बताया गया है। द्रव्यगुण शास्त्र मे कर्म शब्द से द्रव्यों के वमनादि कर्म अभिप्रेत है। सुश्रुत ने भी वमन, विरेचन, दीपन, संग्रह आदि को औषध कर्म कहा है।

आचार्य चरक ने बडी सुन्दर व्याख्या कर्म शब्द की की है। 'जो सयोग और वियोग मे स्वतंत्र (अनपेक्ष) कारण हो और द्रव्य मे समवाय सबन्ध से रहता हो (द्रव्याश्रित) और फलावाप्ति के द्वारा लक्षित होता हो उसे कर्म कहते है।'

'सयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्त्तव्यस्य क्रियाकर्म कर्म नान्यदपेक्षते।' जिस प्रकार लोक मे कोई सयोग-विभाग विना कर्म के नहीं होता उसी प्रकार शरीर संयोग-विभाग (परिवर्त्तन) विना कर्म के नहीं होता है। शरीर में इस प्रकार परिवर्त्तन या परिणाम उत्पन्न करते द्रव्यगत पदार्थ को कर्म कहते हैं। यह कर्म आपाततः अदृष्ट है, यह दिखलाई नहीं पडता केवल फल या परिणाम के द्वारा ही जाना जा सकता है। चरक के इस मत का समर्थन करते हुये पातंजल महाभाष्य की भी उक्ति मिलती है .—

'क्रिया नामेयमत्या परिदृष्टा न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्।'

कर्म के इन शास्त्रीय लक्षणों के पश्चात् अव चिकित्सा कर्म या भिषक् कर्म के लक्षणों का आख्यान किया जा रहा है।

शरीर मे धातुओं की स्थिति समान रहे उनमें विषमता न आने पावे, क्वचित् विषमता हो जावे तो पुन उसको समावस्था में लाने की क्रिया ही भिषक् कर्म है। दूसरे शब्दों में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को ठीक बनाये

रखना तथा विकृत हो जाने पर उसको पुन. स्वस्थ कर देना यही चिकित्सक का प्रधान व्यापार है। इस कार्य के सम्पादन मे चिकित्सक को संशोधन, संशमन, आहार, आचारादि उपक्रमों को करना पडता है। तदनन्तर वह मानव को शारीरिक सुख और आयु को देने वाला होता है।

यद्यपि दोप-दूष्य-संयोग एव दोप के विविध (संसर्ग) प्रकार के मिश्रणों से चिकित्सा कर्म भी अनेकविध होते है, तथापि मूल कर्म छ. ही है—लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तभन। इन छः उपक्रमों मे ही सभी कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार दोषों की असख्य कल्पनादि के होते हुए भी उनकी तीन की संख्या नष्ट नहीं होती उसी प्रकार कर्मो का षट्त्व भी नही नष्ट होता है। यदि अधिक संक्षेप किया जाय तो वस्तुत' कर्म दो ही प्रकार के होते है—लंघन तथा बृंहण। इन दोनों से ही सर्व कर्म समाविष्ट हो जाते है। सक्षेप में चिकित्सा करते हुए भिषक् को इन्ही कर्मो का आश्रय लेकर चलना होता है। इसी से वह रोगों के ऊपर विजय और अपने कार्य मे सिद्धि प्राप्त करता है और भिषक् की सज्ञा से सुशोभित होता है।

इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः।
साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः॥ (च० सू० २२)

अभिनव आयुर्वेद साहित्य एव प्रस्तुत रचना—कारण से कार्य का अनुमान लगाया जाता है। उभयज्ञ भिषकों की लिखी हुई रचना तथा उनसे निर्मित आयुर्वेद साहित्य भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अभिनव आयुर्वेदज्ञ एकाङ्गी नही होते। वे प्राचीन ज्ञान को आधुनिक विज्ञान के आलोक मे देखने का प्रयत्न करते है। आधुनिक विषयों को जो प्रायः यूरोपीय या अंग्रेजी भाषा मे है, प्राचीनोक्त शब्दों मे उसकी व्याख्या करने तथा नवीन एवं प्राचीन में सामञ्जस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न करते है। इस प्रकार पश्चिमी देशों से प्राप्तज्ञान का स्वदेश मे प्रचलित भाषा एव लिपियों मे आत्मसात् करने का सतत प्रयत्न अभिनव आयुर्वेद की रचनाओं मे पाया जाता है। बहुत से ऐसे साहित्य का निर्माण हिन्दी भाषा मे हो चुका है और भविष्य मे भी होता रहेगा—ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत रचना विशुद्ध रूप से आयुर्वेदीय चिकित्सा विषय से सम्बद्ध है। इसमे पूरे विषय को पाँच खण्डों मे विभाजित करके लिखने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम खण्ड सामान्य रोग निदान के सूत्रों से सम्बद्ध है, दूसरा खण्ड चिकित्सा के बीजभूत सिद्धान्तों पर व्यवस्थित है, तीसरा खण्ड विविध पंचकर्मो के सामान्य ज्ञान तक सीमित है, चतुर्थ खण्ड रोगानुसार उनके सामान्य लक्षण, साध्यासाध्य-विवेक एवं चिकित्सा पर व्यवस्थित है और रचना

का पाँचवाँ खण्ड परिशिष्टाधिकार का है, जिसमें अवशिष्ट रोगों की चिकित्सा का आख्यान पाया जाता है।

रोगों के प्रतिषेध लिखने में इस बात का प्रयास भरसक किया गया है—कि तद् तद् रोगों की चिकित्सा के उपक्रम (Line of Treatment or Therapy), फिर उन-उन रोगों में चलने वाले एकौषधियों तथा योगों का पृथक् पृथक् (Single Drugs and Compounds) सुविचारित ढंग से प्रस्तुत किये जावें। इन त्रिविध औषधियों या योगों में से किसी को तुच्छ, हीन या अल्पवीर्य और कुछ को अधिक वीर्यवान् नहीं समझना चाहिये। ये सभी समान भाव से उपयोगी एवं कार्यक्षम हैं। रोगी तथा रोग के बल, काल, सात्म्य, ऋतुः मात्रादि का विचार करते हुए किसी एक छोटे से छोटे योग का प्रयोग अल्प, मध्य या अधिक मात्रा में करते हुए पूर्ण यश का भागी चिकित्सक बन सकता है। इस ग्रन्थ के सभी प्रयोग शास्त्रसम्मत हैं एवं अधिकतर या तो लेखक के अभ्यास से बहुश लाभप्रद अथवा विभिन्न परम्परा के चिकित्सकों के कर्म में अनुभूत एवं सुफल हैं। रचना में बहुत सी ओषधियों (एक-एक ओषधि), औषधि (काष्ठौषधि या रस के योग) तथा भेषजों (आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उपक्रम) आख्यान हुआ है। ये सभी स्वतंत्रतया तथा समस्त रूप से तत्-तद् रोगों में समान भाव से उपयोगी हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ एक संग्रह (Collection) मात्र न होकर संचयन (Selection) के उपर व्यवस्थित है। इसमें चुने हुए ओषधि योगों का ही चयन किया है। चयन के उपर व्यवस्थित होने के कारण पुस्तक के सिद्ध योगों की चिकित्सा कर्म में उपादेयता स्वतः सिद्ध है। इसी उपादेयता के विचार से ही पुस्तक का नामकरण 'भिषक्कर्मसिद्धि' किया गया है। फलितार्थ यह है कि इस एक पुस्तक का अनुसरण करके चिकित्सा करते हुए भिषक् या चिकित्सक को अपने चिकित्सा-कार्य में पूर्ण सिद्धि या सफलता प्राप्त हो सकती है।

इसकी रचना में इस बात पर सतत ध्यान रखा गया है कि पुस्तक आयुर्वेद विद्यालयों के छात्रों तक क्रियाभ्यास करने वाले चिकित्सक के लिए समान भाव से उपयोगी हो सके।

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस ग्रंथ के लेखन का विचार बहुत दिनों से कल्पना में था। फलत इसके विविध अध्याय विविध अवसरों पर लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ प्रथम खण्ड का 'निदान पंचक' वाला अध्याय गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज पटना के संयोजित

व्याख्यान-माला के अवसर पर भूमिका का प्रारंभिक भाग 'नेशनल मेडिकल कान्फरेन्स' अलीगढ़ के अधिवेशन में विभागीय अध्यक्षीय भाषण के रूप में तथा पंचकर्म वाला भाग लेखमाला के रूप में प्रस्तुत हुआ था। शेषांश का पूरण भी आज से दो वर्ष पूर्व ही हो चुका था। पाण्डुलिपि का प्रकाशन होकर आज ग्रंथ सज्जन पाठकों के अनुरञ्जन के लिये उनकी सेवा में अर्पित किया जा रहा है। गुरुकृपा तथा भगवान् भूतभावन विश्वनाथ तथा गौरी-केदार की कृपा से भावमय कल्पना का मूर्त्त स्वरूप इस प्रकाशित रचना के रूप में देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। एतदर्थ अपने इष्टदेवों के प्रति शतशः प्रणाम करते हुए उनसे पुनः याच्ञा है कि इस रचना का 'भिषक्कर्मसिद्धि' नाम यथार्थ में सिद्ध करें।

ग्रंथ के प्रणयन में ऋषि एवं मुनि-वचनों का आश्रय लेकर चलना पड़ा है साथ ही विभिन्न आचार्यों, ग्रंथकारों, विविध तद्विद्य विद्वानों, देव और देवियों से प्रत्यक्ष रूप में बहुत प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है। इन सबों के प्रति प्रणित तथा आभार प्रदर्शन करना अपना एक पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। अन्य उन नवीन प्राचीन ग्रंथकारों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए हर्ष हो रहा है जिनकी कृतियों का उद्धरण इस रचना में प्राप्त हो रहा है।

अंत में ग्रन्थ के मुद्रक एवं प्रकाशक के प्रति विशेषत. पं० ब्रह्मशंकर जी मिश्र तथा पं० रामचन्द्र जी झा के प्रति भी अपना हार्दिक उद्गार प्रकट करना उचित समझता हूँ जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से ग्रन्थ को शृंखलाबद्ध करके सुन्दर रूप देने में स्तुत्य प्रयत्न किया है।

औषधश्चौषधिर्भेषज टंकितम्,
क्वापि हीनं न वा वीर्यतश्चाधिकम्,
तत्स्वतन्त्रं समस्तं हितं साधने,
कालसात्म्यर्त्तुवीर्यैः कृतं योजितम्,
आगमैराप्तमभ्यस्य वारान् बहून्,
यद् भिषक्कर्मसिद्धौ मया गुम्फितम्।

गुरुपूर्णिमा
सं० २०२० वै०

विनयावनत
श्रीरमानाथ द्विवेदी

प्राचीन मानों की मेट्रिक सिस्टम में परिवर्त्तन-तालिका

			रु आ पै		Kg gr M gr.
६ अणुओं की	= १ त्रुटि	=		=	$\frac{१}{४३२}$
६ त्रुटि	= १ लिक्षा	=		=	$\frac{१}{७२}$
६ लिक्षा	= १ यूका	=		=	$\frac{१}{१२}$
६ यूका	= १ रज	=	$\frac{१}{१२८}$ पै०	=	$\frac{१}{२}$
६ रज	= १ सर्षप	=	$\frac{१}{६४}$ पै०	=	३
६ सर्षप	= १ यव	=	$\frac{१}{६}$ पै०	=	२०
६ यव	= १ गुञ्जा	=	$\frac{२}{३}$ पै०	=	१२१
२ गुञ्जा	= १ निष्पावक	=	$\frac{४}{३}$ पै०	=	२४२
३ गुञ्जा	= १ मल्ल	=	)॥ पै०	=	३६४
६ गुञ्जा	= १ माषा	=	⁄)	=	७२९
२ माषा	= १ धरण	=	≠)	=	१–४५८
२ धरण	= १ शाण	=	।)	=	२–९१६
२ शाण	= १ वटक	=	॥)	=	५–८३२
२ वटक	= १ तोला	=	१)	=	११–६६४
२ तोला	= १ शुक्ति	=	२))	=	२३–३२८
२ शुक्ति	= १ पल	=	४))	=	४६-६५६
२ पल	= १ प्रसृत	=	८))	=	९३–३१२
२ प्रसृत	= १ कुडव	=	ऽ≡१))	=	१८६–६२४
२ कुडव	= १ मानिका	=	ऽ।≠२))	=	३७३–२४८
२ मानिका	= १ प्रस्थ	=	ऽ॥।४))	=	७४६–४९६
२ प्रस्थ	= १ शुभ	=	ऽ१॥⁄३))	=	१, ४९२–९९२
२ शुभ	= १ आढक	=	ऽ३≡१))	=	२, ९८५–९८४
४ आढक	= १ द्रोण	=	।ऽ२॥।४))	=	११, ९४३–९३६
२ द्रोण	= १ सूर्प	=	॥ऽ५॥⁄३))	=	२३, ८८७–८७२
२ सूर्प	= १ द्रोणी	=	१।ऽ१≡१))	=	४७, ७७५–७४४
४ द्रोणी	= १ खारी	=	५ऽ४॥।४))	=	१९१,१०२-९७६
१०० पल	= १ तुला	=	ऽ५	=	४, ६६५–५३१
२००० पल	= १ भार	=	२॥ऽ	=	९३३ १०७–८३२

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : निदानपंचक

द्वितीय खण्ड : पञ्चकर्म

तृतीय खण्ड : चिकित्सा बीज

॥ श्रीः ॥

भिषक्कर्म-सिद्धि

प्रथम खण्ड : निदानपंचक

प्रथम अध्याय

निदानपंचक प्रयोजन

'निदानपचक' का विपय वडा ही गहन है। इसके भीतर जिज्ञासु जितना प्रविष्ट होता है, उतना ही उलझता जाता है। कई नामो से इस विपय की वैद्य-परम्परा मे प्रसिद्धि है, जैसे—'निदानपचक', 'पचनिदान', 'पचलक्षण' 'पचलक्षणी' आदि। माधवनिदान के पाठ मे यह वैद्यपरम्पराओ मे एक कठिन स्थल माना जाता है। इसकी कठिनता का अनुमान निम्नलिखित कहानी से लगाया जा सकता है।

पुराने जमाने मे वैद्यक के विद्यालय नही होते थे। अधिकाश छात्र गुरुओ के घर पर ही रहकर विद्याभ्यास किया करते थे। ढाका के कविराज का एक प्रसिद्ध गुरुपीठ था। वहुत से छात्र वहाँ विद्याभ्यास करते और विद्या-समाप्ति के अनन्तर देश के विभिन्न स्थानो मे जाकर अपनी वृत्ति या चिकित्सा-व्यवसाय किया करते थे। एक वार गुरु जी अपनी वृद्धावस्था मे तीर्थ-यात्रा को निकले। कलकत्ते मे काली-दर्शन करते जाते समय उनकी दृष्टि एक वडे 'साइन वोर्ड' पर पडी जिसमे उनका नाम अकित था। उन्होने अनुमान लगाया कि यहाँ अपना कोई शिष्य कविराज होगा। दर्शन करके जव लौटे तो उस कविराज के स्थान पर गये। गुरुजी ने शिष्य को नही पहचाना, परन्तु शिष्य ने उन्हे तत्काल पहचान लिया। उनका वडा आदर किया, सत्कारपूर्वक अपने आसन पर वैठाया और उस दिन की सम्पूर्ण आय गुरु की सेवा मे अर्पित की। गुरुजी के अनेक शिष्य थे उन्होने इस शिष्य से पूछा 'भाई मैंने तुमको पहचाना नही, तुम कव और कितनी अवधि तक मेरी पाठशाला मे रहे।' शिष्य ने उत्तर दिया कि गुरुजी मने कुल पाँच ही दिनो तक आप के

पास रह कर विद्या पाई है। निदान-पचक के कुल पांच दिनो के पाठ से ही मैं तृप्त हो गया और विषय की दुरूहता के भय से मैं छोड़कर चला आया था 'देखि सरासन गवहि सिधारे।' गुरु ने इस कथन से शिष्य के पाण्डित्य की थाह ले ली, समझा यह पूर्ण कार्य-कुशल है, क्रियाभ्यास मे, चतुर होने से इसका चिकित्सानैपुण्य और यश इतना व्यापक है, परन्तु शास्त्र-ज्ञान अधूरा है। इसके अधूरे ज्ञान को आज पूरा कर दूँ। अन्त मे गुरु ने अपनी प्रसन्न मुद्रा व्यक्त करते हुए कहा कि 'शिष्य मैं आज तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ यदि तुम्हे कही शास्त्र मे शका हो तो पूछो आज मैं तुम्हारी सभी शकाओ को निवृत्त कर दूँगा।' शिष्य ने कहा—'गुरुजी मुझे केवल आपका प्रसाद एव आशीर्वाद चाहिये मुझे केवल आपके पांच दिनो के पढाये पाठ मे ही शका है—उसके अतिरिक्त या शेष मे मुझे कही भी शका नही है—और नि सशय हू।'

इस कहानी से 'पचनिदान' विषय की दुरूहता स्पष्ट हो जाती है। विषय की दुरवगम्यता के अतिरिक्त इस कथन का एक दूसरा कारण यह भी है, कि यह विषय अधिक शास्त्रीय एव कम व्यावहारिक है। 'प्रैक्टिस' के 'फील्ड' मे पच निदान का स्थूल ज्ञान जैसे, निदान के माने कारण (Etiology), पूर्वरूप का अर्थ अव्यक्त लक्षण, जो भावी रोग का सूचक हो (Premonitory signs or Prodiomata), रूप का अर्थ रोग का व्यक्त लक्षण (Symptomatology), सम्प्राप्ति का मतलब रोगोत्पत्ति की विधि (Pathogenesis) और उपशय का भाव उपशयात्मक निदान (Theraputic test) जान लेना ही पर्याप्त है। चिकित्सिक को व्यावहारिक क्षेत्र मे इससे अधिक जानने की आवश्यकता नही रहती, वह अपना कार्य सुचारु रूप से कर लेता है। ठीक भी है—'आम खाने से काम गुलठी गिनने से क्या फायदा।'

फिर भी इस विषय का विमर्श आयुर्वेद शास्त्र मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। जैसे सम्पूर्ण उपनिषदो का नवनीत 'श्रीमद्भगवद्गीता' मानी जाती है उसी प्रकार 'निदानपचक' को आयुर्वेद शास्त्र का नवनीत कहे तो अत्युक्ति नही होगी। इसमे 'गागर मे सागर' भरी उक्ति चरितार्थ होती है। कुछ सीमित पृष्ठो मे आचार्य तथा टीकाकारो ने मिलकर गूढ तत्त्वो का सन्निवेश एक स्थान पर पचनिदान नामक व्याख्या के रूप मे कर रखा है। आयुर्वेद के रोग, निदान तथा चिकित्सा सम्बन्धी बहुविध सिद्धान्तो का प्रतिपादन एव विवेचना इस पचनिदान में पाई जाती है। एतदर्थ ही श्री माधवकर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है 'सद्वैद्यो को अपनी चिकित्सा मे उत्तम सिद्धि प्राप्त करने के लिये यत्नपूर्वक इस पचनिदान विषय को जानना चाहिये—

तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुत्तमाम् ।
ज्ञातव्य वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥ (मा नि. १)

वह तो रही पचनिदान विषय की सरल या सामान्य ढग से की गई व्याख्या की दुरवगम्यता । यह दुरूहता आज के युग मे और भी जटिल हो जाती है । आज युग बदल गया है, प्रत्येक विषय को तर्क एव वितर्क के आधार पर प्रमाणित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है । प्राचीन पाठशालाक्रम के अनुसार शिक्षण या पाठनविधि के द्वारा जिज्ञासु विद्यार्थियो का सतोष नही कराया जा सकता । जिज्ञासुओ मे श्रद्धा या एकनिष्ठता का भाव प्राचीनो की अपेक्षा कम होता जा रहा है । शिक्षण की आधार-शिला प्राचीन युग मे आचार-शिला थी । आज आचार-शिला की दृढता न गुरु मे रह गई है और न शिष्य मे ही । आप्त प्रामाण्य का भी इस युग मे कोई महत्त्व नही रह गया है । अव तो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण एव तर्क के आधार पर (Reasoning) ही सारी व्यवस्था निर्भर है—कब, क्यो और कैसे ? का युग है । अव ग्रथप्रधान पाठन-शैली को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना न अध्यापक के ही पक्ष मे श्रेयस्कर है और न छात्र को ही सतोषप्रद रहता है । ऐसी परिस्थिति मे 'निदानपचक' विषय की व्याख्या अधिक विषम हो जाती है । उदाहरण के लिये निम्नलिखित श्लोक को ले—

हितं हयानां लवणं प्रशस्तं जलं गजानां ज्वलनं गवाञ्च ।
हरीतकी श्रेष्ठतमा नराणा चिकित्सिते पंकजयोनिराह ॥
(हारीत सहिता)

यह एक आर्ष वाक्य है । इसको स्वीकार करके आगे वढा जावे, इसका भाषान्तर या शाब्दिक व्याख्या कर दी जावे और छात्र का परितोष हो जावे ऐसी अवस्था आज नही है । अव तो चाहिये इस सूत्र की तात्त्विक व्याख्या अथवा आधुनिक विज्ञान के आलोक मे इसका पर्यवेक्षण, जिसके आधार पर छात्रो या जिज्ञासुओ को सतोष कराया जा सके । वैज्ञानिक युग के नव जागरण का स्वाभाविक लक्ष्य भी यही होना चाहिये ।

प्राचीन मनीषी भी इस वात को स्वीकार करते थे कि दूसरे शास्त्र जिनमे अमूर्त्ततत्त्वो की विवेचना शास्त्रीय तर्को के आधार पर की जाती है वे वुद्धि के विलास मात्र है, परन्तु ज्योतिष, आयुर्वेद तथा तत्रशास्त्र ये अत्यन्त व्यावहारिक ज्ञान है, इनमे पद-पद पर ज्ञाता की वुद्धि की परीक्षा होती हे और पद-पद पर शास्त्र के प्रत्यय या विश्वास का भरोसा रखना पडता है—

अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं प्रत्यक्षमात्रेऽभिनिवेशभाजाम् ।
चिकित्सितज्योतिमतन्त्रवादा पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति ॥

तथापि वैद्यक ग्रंथो मे गूढ तत्त्वो की व्याख्या मे जब बुद्धिवाद या विशुद्ध तर्क का बल नही चलता है तब तत्रकार स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति अथवा परिणाम की दुहाई देता हुआ अग्रसर होता है। स्थूलबुद्धि छात्रो की जिज्ञासा तो इससे तृप्त हो जाती है, परन्तु सूक्ष्मग्राही को वितृष्णा का शमन नही होता। वह क्या और कैसे ? वाले प्रश्नो की झडी लगा देता है। व्याख्याता को भी प्राय झुझलाहट हो जाती है।

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छा नियतिं तथा।
परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृति पृथुदर्शिनः॥

उदाहरणार्थ कुछ एक सूत्रो का उद्धरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। सुश्रुताचार्य ने शारीरस्थान को प्रथम अध्याय मे प्रकृति से सृष्टि और उसी में लय का वर्णन करते हुए स्वभाव को हेतु बतलाते हुए कई रहस्यो का उद्घाटन किया है—

सन्निवेशः शरीराणां दन्ताना पतनं तथा।
तलेष्वसभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः॥
धातुषु क्षीयमाणेषु वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः॥
निद्राहेतुः तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान परिकीर्त्यते॥
स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः।
स्वभावाद् गुरवो माषा वाराहमहिषादयः॥

बुद्धचरित मे कवि अश्वघोष ने भी स्वभाव से प्रवृत्ति का वर्णन किया है—

कः कंटकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभाव मृगपक्षिणा वा।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्य कुतः प्रयत्नः॥

स्वभाव के स्थान पर ईश्वर का भी व्यवहार पाया जाता है। जिस रहस्य की व्याख्या सभव नही रहती, ईश्वर के सिर मढ कर तत्रकार को सतोष करना पडता है। श्रुति का भी वचन है कि सम्पूर्ण जगत की जनयित्री प्रकृति का अधिष्ठान कर ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत की सृष्टि करता है—

अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्।
मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥
अस्यावयवभूतेषु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।
कुतः केशान् कुतः स्नावः कुतः अस्थीन्यारभत्॥
अङ्गपर्वाणि मज्जानं को मासं कुत आरभत्।
जाठरो भगवानग्निः ईश्वरोऽन्नस्य पाचकः॥

वहुत से रहस्यो का उद्घाटन न होने पर ईश्वर के स्थान पर काल का ग्रहण शास्त्रकारो ने किया है 'कालो हि भगवान् स्वयभू' 'कालो हि सर्व-भूताना विपरिणामहेतु' 'कालयतीति सर्वेपा परिणाम नयतीति काल ।' 'ससूक्ष्मामपि कला न लीयत इति काल ।' 'कलनात् सर्वभूतानामिति काल ।' इत्यादि काल शब्द की व्याख्याये पाई जाती हैं। काल की महत्ता वतलाते हुए आचार्यों ने लिखा है कि यह काल सम्पूर्ण जगत का जन्य एव जनक कारण है—

काल: सृजति भूतानि काल: सहरते प्रजा: ।
काल: सुप्तेपु जागर्त्ति तस्मात् कालस्तु कारणम् ।।
न सोरित प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते ।
कलन: सर्वभूताना स काल: परिकीर्त्तित: ।।
जन्याना जनक काल । (श्रुति)

कालकारित परिमाणो को लक्ष्य करके महाभारत मे कहा गया है —

न कर्मणा लभ्यते चेज्यया च नाप्यस्ति दाता पुरुपस्य कश्चित् ।
पर्यायियोगाद् विहितं विधात्रा कालेन सर्व लभते मनुष्य: ।।
न वुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्य प्राप्तं विशेपं मनुजैरकालम् ।
मूर्खोपि चाप्नोति कदाचिदर्थान् कालो हि कार्य प्रति निर्विशेप: ।।
नाभूतिकालेपु फलं ददन्ति शिल्पानि मंत्राश्च तथौपधानि ।
तान्येव काले तु समाहितानि सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले ।।
कालेन शीता: प्रवहन्ति वाता: कालेन वृष्टिर्जलदानुमेति ।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलञ्च कालेन पुष्पन्ति वनेपु वृक्षा: ।।
कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्य: कालेन चन्द्र: परिपूर्णविम्व: ।
नाकालत: पुष्पफलं द्रुमाणां नाकालवेगा सरितो वहन्ति ।।
नाकालमत्ता: खगपन्नगाश्च मृगद्विपा: शैलमृगाश्च लोके ।
नाकालत: स्त्रीपु भवन्ति गर्भा नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षा: ।।
नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालता व्याहरते च वाल: ।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति वीजगुप्तम् ।।
नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति ।
नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्र: समुद्रोऽपि महोर्मिशाली ।।

अशनं शयन यानमुत्थान पानभोजनम् ।
नियत सर्वभूताना कालेन हि भवन्त्युत ।।
वैद्याश्चाप्यातुरा: सन्ति वलवन्तश्च दुर्वला ।
श्रीमन्तश्चापरे पण्डा विचित्रा कालपर्यया ।।

(महाभारत राजधर्म २५)

यदृच्छा—(Occasional or Accidental) अकल्पित या आकस्मिक ढग से किसी वस्तु का आविर्भाव या तिरोभाव होना यदृच्छा कहलाती है। इसमे ईश्वर न कर्त्ता है, न अकर्त्ता, किन्तु अपनी सत्ता मात्र से महाह्रद के तरगो की भाँति अवतिष्ठित है। यद्यपि इस जगत का व्यापार विना किसी प्रयत्न के ही निष्पन्न होता रहता है तथापि असत् के साथ या असम्बद्ध के साथ यदृच्छा का कोई सम्बन्ध नही रहता, सत् की ही उत्पत्ति यदृच्छा से होती है—

असत्त्वे नास्ति सम्वन्ध कारणै सत्त्वसङ्गिभि ।
असम्वद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ॥

नियति—अव रही नियति, वह कौन सी वस्तु है। डल्हण के निबन्धसंग्रह नामक सुश्रुत की टीका मे लिखा है–'नियतिस्तु धर्माधर्मौ' इति। तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१) मे लिखा है—'प्रलय के अनन्तर प्राणियो के कल्याण चाहने वाले परमेश्वर ने सर्वलोक पितामह को प्रजा की सृष्टि के लिये नियुक्त किया। उनकी सृष्टि करने के हेतु सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, फिर अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पश्चात् ओषधियाँ और अन्त मे पुरुष की सृष्टि हुई।' ब्रह्मा ने इन पुरुषो के कर्म-विपाक का ज्ञा.कर अपने-अपने वासना रूप धर्माधर्म के साथ उन्हे सयुक्त किया। यही विधि निवध या नियति कही जाती है। अस्तु, नियतिका अर्थ होता है अविषम पाप-पुण्य के फल की प्राप्ति—नियतिविषम-पापपुण्यफलमिति।'

परिणाम—रूपान्तरप्राप्ति। यह कालवश प्रकृति का अन्यथा होना ही है। चरक ने लिखा है—'काल पुन परिणाम इति, स च परिणामस्त्रिविध धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणामश्चेति।' धर्मपरिणाम में पूर्व धर्म की पूर्ण निवृत्ति होकर दूसरे धर्म की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे—मिट्टी रूप धर्म का घट रूप मे परिवर्त्तन। लक्षण परिणाम का अर्थ होता है—कार्य रूप धर्म की विभिन्न अवस्थायें (Stages)। घट का अनागत रहना प्रथमावस्था, वर्त्तमान रहना द्वितीयावस्था तथा अतीत होना तृतीयावस्था लक्षणपरिणाम की होती है। फिर इसी घट का क्षण-क्षण मे नयेपन का पुरानेपन मे वदलना अवस्था-परिणाम कहलाता है। वैद्यक ग्रथो ने स्थूल दृष्टि से प्रकृति मे ही परिणाम वतलाया है, परन्तु वस्तुत साख्याचार्यो के अनुसार परिणाम प्रकृति में नही, प्रत्युक्त प्रकृति के गुणो मे होता है।

इस प्रकार गूढ तत्त्वो की व्याख्या प्राचीनो ने 'स्वभावमीश्वर काल यदृच्छा नियतिम्' आदि शब्दो में की है। आधुनिक युग के विज्ञानवेत्ता इस रहस्यो के

उद्घाटन मे सतत प्रयत्नशील है। बहुत स्थलो का रहस्योद्घाटन एक सीमा तक हो भी गया है—अब भी बहुत से रहस्य शेष है। तथापि विज्ञान के आलोक मे प्रत्येक वस्तु का दिग्दर्शन कराना, अध्यात्म एव आधिदैविक तत्त्वो का आधिभौतिक रूप देना आज के युग मे अध्यापको का कर्त्तव्य है। जिज्ञासु छात्रो का परितोष करना भी तभी सभव हो सकता है। 'आपरितोष विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।'

आज के युग मे बहुत से रहस्यो की गुत्थियो का सुलझाना, उनका आधिभौतिक रूप देना तथा उनको भौतिक विज्ञान, रसायन और गणित सिद्धान्तो में खरा उतारना हमलोगो का लक्ष्य हो गया है। यह वैद्यक सिद्धान्त के अनुकूल भी है। क्योकि चिकित्सा-विद्या की नितान्त व्यावहारिक कला है—चिकित्सा शास्त्र के सम्पूर्ण ज्ञातव्य का उपयोग एकमात्र चिकित्सा कर्म के लिये ही है—फलत आधिभौतिक तत्त्वो से आगे की चिकित्सा शास्त्र मे अपेक्षा नही है, जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है—

तस्योपयोगोऽभिहित चिकित्सा प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि पर यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते॥

गीता मे लिखा है कि किसी भी विषय के सम्यक्तया ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा उत्पन्न होनी चाहिये। श्रद्धा के अनन्तर दूसरी आवश्यकता इन्द्रिय-सयम की पडती है। इस क्रिया के द्वारा जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण मन को अन्य विषयो से हटाकर एकाग्र चित्त होकर विशिष्ट विषय के ज्ञान साधन मे एकनिष्ठ हो जाता है, तभी वस्तुत ज्ञान की प्राप्ति सभव रहती है। इस प्राकार के ज्ञान हो जाने के अनन्तर व्यक्ति को परम शान्ति या सतोष का अनुभव होता है—

श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्पर संयतेन्द्रिय।
ज्ञानं लब्ध्वा पर शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

'निदानपचक' नामक विषय के सम्यक् ज्ञान के लिए भी उन आधारशिलाओ की अपेक्षा रहती है। इस विषय का इस अध्याय मे एक समास मे दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जा रहा है।

निदानपंचक कथन प्रयोजन—रोगो के वातादिदोष-भेद से एव साध्यासाध्य-भेद से सम्यक् रीति से रोग का विनिश्चय करने मे निदानपचक की उपयोगिता है। व्याधि का यथावत् ज्ञान करने के लिये निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति इन पाँचो साधनो की सहायता अपेक्षित है। ये निदानादि पाँचो तत्त्व निदानपचक कहलाते है। इनके द्वारा पृथक् पृथक् तथा

मिलाकर रोग का ज्ञान किया जाता है। जिस रोग मे केवल निदान की उपलब्धि होती है अन्यो की नही, वहाँ पर केवल निदान ही व्याधि का बोधक होता है। इसी प्रकार उपलब्धि के कही पूर्वरूप, कही रूप, कही उपशय और कही सम्प्राप्ति से एकैकश व्याधि का बोधक होता है। कई बार दो, कही तीन, चार या पाँचो की सहायता से भी व्याधि का ज्ञान किया जाता है।

कतिपय विद्वानो का कथन है कि यदि एक उपाय से ही व्याधि का ज्ञान सभव हो तो दूसरे उपायो मे भी उसी का ज्ञान करने मे पिष्टपेषण मात्र होगा फलत कृतकरणत्व दोष (किये हुए का पुन करना) की सभावना रहती है। परन्तु बात ऐसी नही है—क्योकि एक प्रमाण से किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान भ्रमात्मक हो सकता है, निश्चयात्मक नही। अस्तु, निश्चयात्मक ज्ञान के लिये एक प्रमाणसिद्ध पदार्थ का दूसरे प्रमाणो की सहायता से (प्रमाण-समूह से) निश्चयात्मक ज्ञान होता है। और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान कभी मिथ्या नही हो सकता—अत आचार्यो ने व्याधि के निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कराने के लिये ही 'पचनिदान' के साधनो (पच प्रमाण समूहो) का उपदेश किया है।

न्याय या तर्कशास्त्र मे किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये 'पचावयव वाक्य' की महत्ता बतलाई गई है। चरक मे भी इस विषय का प्रतिपादन पाया जाता है। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन इन पाँच साधनो से किसी सिद्धान्त या निश्चित मत का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे स्थापना करनी है कि 'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा हुई, इसमे हेतु दिया गया 'अकृतकत्वात्' (कारण वह स्वय अकृत है), अब दृष्टान्त देना होगा 'यथा आकाशम्', उपनय मे यह कहना होगा 'यथा अकृत आकाश है वह नित्य है उसी प्रकार पुरुष भी।' अत मे निगमन या फल निकला कि 'अत पुरुष नित्य है।' इसी के विपरीत मत की स्थापना की जा सकती है, उसे प्रतिष्ठापना कहते है। लोक मे भी देखा जाता है कि धुआँ मे अनुमानित अग्नि का निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश की सहायता से ही सभव होता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुमान से प्रतीत अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा आप्तवाक्य से किया जाता है, उसी प्रकार निदानादि पाँचो साधनो में से किसी एक के द्वारा व्याधि का सामान्य ज्ञान होने के अनन्तर भी रोग का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिये निदानादि पाँचो साधनो की अपेक्षा रहती है। वस्तुत तर्कसम्मत रोगविनिश्चय की यही शास्त्रीय विधि (Classical method) है।

निदानपञ्चक की उपादेयता या प्रयोजनसूचक. अन्य भी चर्चा शास्त्र मे पाई जाती है जैसा कि निम्नलिखित कोष्ठक से स्पष्ट है—

निदान-कथन-प्रयोजन—'निदान त्वादिकारणम्' (चरक)। 'सक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' (सुश्रुत)। 'हेतोरसेवा विविधा' (चरक)। इन सूत्रो के अनुसार हेतु या निदान का परित्याग ही रोग की सामान्य चिकित्सा है। अस्तु, यदि रोगो मे निदान या कारण का कथन किया जावे तो इस ज्ञान के अभाव मे चिकित्सा करना ही सभव नही रहेगा। अत, प्रत्येक रोग मे उत्पादक कारणो की विवेचना करना आवश्यक है।

पूर्वरूपाभिधान-प्रयोजन—केवल निदान मात्र के कथन से रोग विनिश्चय सभव नही रहता क्योकि कई वार एक ही या समान हेतु के अनेक रोग हो सकते है, और कई वार एक हेतु से एक ही रोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक व्याधि के अनेक हेतु और बहुत सी व्याधियो मे वहुत से हेतु भी हो सकते है—

'एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि।
व्याधेरेकस्य वहवो वहूना वहवस्तथा॥' (चरक)

उदाहरणार्थ समान हतु से ज्वर एव गुल्म की उत्पत्ति हो सकती है। जैसे—

मिथ्याहारविहाराभ्या दोपा ह्यामाशयाश्रयाः।
वहिर्निरस्य कोष्ठाग्नि ज्वरदा स्यू रसानुगा.॥
दुष्टा वातादयोऽत्यर्थ मिथ्याहारविहारतः।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्म कोष्टान्तर्ग्रन्थिरूपिणम्॥

१ एक हेतु से एक रोग की उत्पत्ति जसे—'मृद्भक्षणात् पाण्डुरोग' 'मक्षिका-भक्षणाच्छर्दि'। फलत केवल निदान या हेतु के कथन मात्र से रोग का विनिश्चय सभव नही रहता है। इसलिए पूर्वरूप आदि का भी कथन करना अपेक्षित ह।

२ निदान दो प्रकार का हो सकता है। १ सन्निकृष्ट (समीप का) तथा २ विप्रकृष्ट (दूर का)। इसमे इनके बलावल के अनुसार व्याधि मे भेद पाया जाता है। कई बार सन्निकृष्ट का निदान विप्रकृष्ट निदान से भिन्न स्वरूप का रोग पैदा करता है। इसमे सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट कारणो के बल का भेद होता है। यदि सन्निकृष्ट निदान विप्रकृष्ट से वलवान् हुआ तो व्याधि सन्निकृष्ट निदान के अनुसार होगी, परतु कही विप्रकृष्ट निदान सन्निकृष्ट से प्रवल हुआ तो रोग विप्रकृष्ट कारण के अनुसार होगा। जैसे निकटवर्ती निदान ज्वर का है और दूरवर्ती निदान ऊरुस्तभ का। ऐसी अवस्था मे यदि विप्रकृष्ट निदान सन्निकृष्ट से प्रवल हुआ तो रोगो मे ज्वर न पैदा होकर ऊरुस्तंभ होगा। उदाहरण—

'हेमन्ते निचित. श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्'

इस सूत्र मे हेमन्त ऋतु मे कफ का सचय होना विप्रकृष्ट हेतु (दूर का कारण) और वसन्त ऋतु तथा प्रात काल या शीत का लगना सन्निकृष्ट हेतु कहलाता है—इनमे दोनो के वलावल के अनुसार विविध रोगो का होना सभव है। कई एक दूसरे सूत्र का उदाहरण ले—'हेमन्ते निचित श्लेष्मा वसन्तेऽर्कतापित कफरोगकृत्'। इस सूत्र मे कफ का रोग पैदा करनेवाले दो कारण दिये गये है। १ हेमन्त ऋतु का सचित कफ यह विप्रकृष्ट हेतु है और २ अर्कताप या सूर्यताप यह दूसरा सन्निकृष्ट हेतु है। यद्यपि सन्निकृष्ट हेतु सूर्यसताप से पित्त का कोप होना चाहिये परन्तु विप्रकृष्ट हेतु की प्रवलता समीपस्थ हेतु को दवाकर कफ की उत्पत्ति करती है जिससे वसन्त ऋतु मे कफज रोग होते है। यहाँ पर चिकित्सा भी कफ की करनी होती है, पित्त की नही। यहाँ वास्तविक निदान प्रत्यक्ष न होने से पूर्वरूप, रूपादि के अभाव मे व्याधि का मिथ्या ज्ञान होने की सम्भावना रहती है। अत, व्याधि के यथावत् ज्ञान के लिये केवल निदान मात्र का ज्ञान होना ही पर्याप्त नही है। उसके लिये पूर्वरूप-रूपादि का भी जानना आवश्यक होता है। इसीलिये वाप्यचद्र का कथन है कि 'तस्मात्केवलान्निदानादपि न व्याधिज्ञान भवतीति-पूर्वरूपादीनामुपादानम्।'

पूर्वरूप ज्ञान का चिकित्सा मे प्रयोजन—'सचयेऽपहृता दोपा लभन्ते नोत्तरा गती। ते तूत्तरासु गतिपु भवन्ति वलवत्तरा।' (सुश्रुत)। यदि पूर्वरूप का कथन रोगो के सम्बन्ध मे न किया जावे तो पूर्वरूप की अवस्था मे वर्णित किये गये उपचार भी सभव न हो सकेगे। आचार्य सुश्रुत ने वतलाया है कि सचय-काल में ही दोपो के निकाल देने से विकार आगे को नही वढता और न रोग

ही बलवान् हो सकता है। अत पूर्वरूप की अवस्था मे ही रोग का ज्ञान हो जाने र उपचार प्रारम्भ कर देना चाहिये। जैसे—

'ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा।' (चरक)
'वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानम्।' (सुश्रुत)

साध्यासाध्यविवेक का अभाव—पूर्वरूप के कथन के अभाव मे कई रोग मे साध्यासाध्य का विचार भी सभव नही रहता। अत पूर्वरूप के वर्णनो की अपेक्षा दोनो मे अवश्य रहती है। उदाहरणार्थ—

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।
यं विशन्ति विशन्त्येन मृत्युर्ज्वरपुरःसरम्॥
अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्।
विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥ (चरक)

सापेक्ष्य निश्चिति मे पूर्वरूप की उपादेयता—जो मनुष्य प्रमेहोक्त पूर्वरूप के विना ही हारिद्रवर्ण या रक्त वर्णका मूत्र त्याग करता है, उसे प्रमेह न समझ कर रक्तपित्त का ही विकार समझना चाहिये। इस प्रकार पूर्वरूप ज्ञान के अभाव मे रक्तपित्त एव प्रमेह रोग का विनिश्चय करना सभव नही हो सकेगा। जहाँ दो व्याधियो के लक्षण समान हो वहाँ पर विभेद करने से पूर्वरूप सहायक होता है। इस प्रकार पूर्वरूप कथन की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है।

रूपाभिधान प्रयोजन—निदान एव पूर्वरूप के रहते हुए भी यदि रूप का वर्णन न किया जावे तो रोग के स्वरूप का ज्ञान हो सभव नही होता, क्योकि व्याधि का वास्तविक स्वरूप रूप ही है। रूप कथन से व्याधि का यथार्थ ज्ञान होता है—रोग मे पाये जाने वाले स्पष्टतया प्रतीत होने वाले लक्षणो को ही रूप कहा जाता है। फलत, रूप का कथन न होने से न तो रोग का रूप ही स्पष्ट हो सकता है और न चिकित्सा-विशेष का उपयोग करना ही सभव रहता है। रूपज्ञान का वर्णन रोग मे करना नितान्त आवश्यक है।

साध्यासाध्य विवेक—रोगो मे स्वरूप या रूप का कथन न हो तो रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान करना भी कठिन होता है। जेसे—सुखसाध्य रोगो के प्रसग मे वचन मिलता है—१ हेतव पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य-वै।' २ 'नच तुल्यगुणो दूष्यो न दोष प्रकृतिर्भवेत्।' रोग की कष्टसाध्यता-सूचक उक्तियाँ १ 'निमित्त पूर्वरूपाणा रूपाणा मध्यमे बलम्। कालप्रकृतिदूष्याणा सामान्येऽन्यतमस्य च।' रोग के असाध्यता-सूचक कथनो मे भी रूप का अभिधान पाया जाता ह २ 'सर्वसम्पूर्णलक्षण सन्निपातज्वरोऽसाध्य.।'

उपशय कथन का प्रयोजन—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्या परीक्षेत ।' गूढ लक्षण वाली व्याधियो का ज्ञान कराने अथवा सदृश लक्षणो से युक्त दो या अनेक व्याधियो मे एक के निर्णय के लिये अथवा अस्पष्ट लक्षणो से युक्त किसी एक ही व्याधि के यथावत् ज्ञान के लिये उपशय का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है । उपशय कथन से तद्विपरीत अनुपशय का भी ग्रहण स्वत हो जाता है । वातव्याधि एव ऊरुस्तभ मे, सधिवात एव आमवात मे तैलाभ्यग के द्वारा, अन्य ज्वरो तथा विषम ज्वरो मे क्विनीन के उपयोग से, विषम ज्वर एव काल ज्वर मे अजन के योगो के उपयोग से कई वार उपशयानुपशय विधि (Therapeutic methods) से रोग की परीक्षा रोग के यथावत् ज्ञान के लिये आवश्यक हो जाती है । अत रोगो के उपशयानुपशय का कथन करना भी व्याधि विनिश्चय के लिये वाछित है ।

सम्प्राप्तिकथन प्रयोजन—निदानादि चारो साधनो के कथन के अनन्तर भी चिकित्सा मे सफलता प्राप्त करने के लिये सम्प्राप्ति का कथन अनिवार्य है । क्योकि सम्प्राप्ति कथन के विना १ दोषो की अशाश कल्पना २ व्याधिवल ३ काल का व्याधि के साथ सम्वन्ध का ज्ञान सम्यक् रीति से न होने से विशिष्ट चिकित्सा कर्म का अनुष्ठान सभव न हो सकेगा ।

१. अशाश-कल्पना—वातादि दोषगत रूक्षता आदि प्रत्येक गुण अश कहे जाते है । दोष के प्रकोपक अशो के निर्धारण को अशाश कल्पना-कहते है । 'तरेकद्वित्र्यादिभि समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणा विकल्पना ।'

२. व्याधि-वल—रोग की तीव्रता, मध्यवलता या मृदुता का ज्ञान सम्प्राप्ति के द्वारा ही किया जाता है । सकल हेतु, पूर्वरूप, रूपादि की विद्यमानता से व्याधि वलवान्, इनकी मध्य या अल्पवलता से व्याधि का मध्यम या अल्पवल होना पाया जाता है ।

३. काल—आवस्थिक काल (जरा-मध्यमायु-वाल्यावस्था) षड्ऋतु के अनुसार, दिन, रात, प्रभात, सध्या आदि के अनुसार व्याधि का वढना-घटना प्रभृति कार्य ।

उपर्युक्त उपपत्तियो के आधार पर रोगविज्ञानोपाय मे वर्णित हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति नामक पाँचो साधनो का कथन व्याधि के सम्यक् रीति से ज्ञान कराने के लिये नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है । अत रोगविनिश्चय मे 'निदानपचक' का महत्त्व और उनकी उपादेयता स्पष्ट हो जाती है ।

निदानपचक प्रसग—निदानपचक विषय का मूल वर्णन चरकसहिता मे ज्वरनिदान नामक अध्याय मे मिलता है । फिर उसकी व्याख्या कई टीका-

कारो ने बृहद् एव विशद स्वरूप मे की है। जैसे श्री चक्रपाणि ने आयुर्वेद दीपिका मे, श्री गगाधर ने जल्पकल्पतरु टीका मे, वाग्भट कृत अष्टाङ्गहृदय मे चरकोक्त गद्य रूप मे वर्णित पचनिदानसूत्रो का पद्य रूप मे वर्णन पाया जाता है। माधवनिदानकार ने अपने 'माधवनिदान' नामक सग्रह मे वाग्भट के सूत्रो का ही सग्रह पचनिदान की व्याख्या रूप मे किया है। इसके ऊपर अष्टाङ्गहृदय के टीकाकार अरुणदत्त की भी व्याख्या पाई जाती है। इसके अतिरिक्त अष्टाङ्गसग्रह नामक वाग्भट कृत ग्रथ के ऊपर टीका करते हुए शशिलेखा टीका मे 'इन्दु' नामक टीकाकार ने भी इस विषय की व्याख्या की है। इसके अलावे शेषाद्रि ने आयुर्वेदरसायन मे तथा विजयरक्षित ने 'मधुकोष' नामक माधवनिदान की टीका मे पचनिदान विषय की सागोपाङ्ग विवेचना की है। प्रस्तुत लेख का आधार मूलत श्री विजयरक्षित की व्याख्या ही है। श्री विजयरक्षित ने अन्यान्य कई व्याख्याकारो का उद्धरण अपनी टीका मे दिया है। जैसे, वाप्यचद्र, भट्टारहरिचद्र, तीसटाचार्य, सुदान्त सेन, जेज्जट, कार्त्तिककुण्ड, ईश्वरसेन, गदाधर, आषाढ तथा वर्मदास प्रभृति के नाम विशेषत उल्लेखनीय है।

निदानपंचक में विवेच्य विषय एवं उनका प्रयोजन—निदानपचक मे निदान के साधनभूत हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति और इसमे सम्बद्ध अवान्तर विषयो, निर्दुष्ट लक्षणो का वर्णन पाया जाता है। निर्दुष्ट लक्षण बनाने का तात्पर्य यह होता है कि किसी भी पदार्थ का ऐसा लक्षण बनाना जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असभव इन तीनो दोषो से रहित हो। जैसे कहा जाय कि 'सीग वाले जीव गाये है' (शृङ्गित्व गोत्वम्) तो यह कथन ठीक नही है क्योकि सीग वाले बहुत से जानवर हो सकते है। अत यह लक्षण अतिव्यापक होकर अतिव्याप्ति दोष से युक्त हुआ। यदि ऐसे लक्षण करें कि 'काले रग की गाये होती है' (कृष्णत्व गोत्वम्), तो यह अपनी जाति मे भी पूरा नही हो पाता क्योकि गाये भूरी, सफेद प्रभृति कई रगो की होती है। अत यह अति सकुचित होने से अव्याप्ति दोष से युक्त होगा। फिर गाय का लक्षण बनाते हुए यह कहा जाय कि ''एकशफत्व गोत्वम्' (एक खुर का जानवर गाय है) सो यह लक्षण पूर्णतया मिथ्या है क्योकि गायो के खुर फटे हुए होते और वे दो खुरो वाली होती है। फलत यह लक्षण असभव दोष से युक्त होगा। अब इन तीनो दोषो से रहित निर्दुष्ट लक्षण बनाना हो तो कहेगे 'सास्नादिमत्त्व गोत्वम्' (गले की लोरकी वाले जानवर गायें होती है)। गायो की ग्रीवा से लटकने वाला भाग केवल गायो मे ही पाया जाता और किसी जानवर मे नही, अत यह लक्षण निर्दुष्ट होगा।

वस्तुत लक्षण दो प्रकार के होते है । एक व्यवहार के लिये या काम चलाऊ जैसे कोई पूछे कि 'देवदत्त का घर कौन सा है ?' तो कोई बतावे कि वह सामने वाला जिस पर कौवा बैठा है । वही देवदत्त का घर है (काकवत् देवदत्तस्य गृहम्) । यह लक्षण काम चलाऊ है—उस समय के लिये तो ठीक है, परन्तु कौवा वहाँ से उड जावे और दूसरे मकान के ऊपर बैठ जावे तो लक्षण गलत हो जावेगा । इस प्रकार के लक्षणो को व्यावहारिक लक्षण कहते है । शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार के नही होते । उन्हे व्यावृत्ति के लिये प्रयोग करना होता और वे स्थायी एव निर्दुष्ट (दोषरहित) बनाये जाते है । जैसे कि ऊपर वर्णित गाय के लक्षणो से स्पष्ट हो रहा है । अनुमिति नामक न्याय शास्त्र के ग्रथ मे लिखा है कि लक्षण के दो प्रयोजन है—१ व्यावृत्ति और २ व्यवहार । 'व्यावृत्तिर्व्यवहारश्च लक्षणस्य प्रयोजनम् ।'

इस प्रकार लक्षणवाद के आधार पर 'पचनिदानो' मे प्रोक्त सज्ञाओ का लक्षण या परिभाषा 'निदानपचक' नामक विषय मे वैद्यक शास्त्र मे पाया जाता है । फलत प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध उनके निर्दुष्ट लक्षणो से ही है । इस प्रकार लक्षणो का प्रयोजन बतलाते हुए शावर-भाष्य मे एक उक्ति पाई जाती है कि 'पृथक् पृथक् पदार्थो का कथन करते हुए ऋषि लोग भी पदार्थो का अत नही प्राप्त कर सकते, अत पदार्थो का लक्षण बनाया गया और उसके द्वारा पदार्थसमुदाय को पार करने का प्रयत्न किया गया है ।'

ऋषयोऽपि पदार्थानामन्तं यान्ति न पृथक्शः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥

द्वितीय अध्याय

रोग का उत्पत्तिक्रम तथा क्रिया-काल

रोग या व्याधि—'सुखसंज्ञकमारोग्य विकारो दु खमेव च' 'तद्दु ख-सयोगा व्याधय । 'विविध दु खमादधातीति व्याधयः। किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक सुख या दु ख देने वाले हेतु को व्याधि कहते है। इसके पर्याय रूप मे आमय, गद, आतक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार अथवा रोग शब्द का व्यवहार पाया जाता है—जिसकी विस्तृत व्याख्या आगे की जावेगी। सक्षेप मे स्वास्थ्य जीवन की एक अस्त्यात्मक या सत्तात्मकदशा (Positive phase) है, इसके विपरीत अवस्था या नास्त्यात्मक दशा को (Negative phase) विकार या रोग कहते है। स्वास्थ्य की व्याख्या करते हुए प्राचीन शास्त्रकारो ने लिखा है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत)

स्वास्थ्य की परिभाषा आधुनिक युग मे विविध प्रकार की पाई जाती है। आयुर्वेद शास्त्र की उपर्युक्त स्वास्थ्य की परिभाषा बडी व्यापक एव उत्तम कोटि की है। इसमे शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक सुख की प्राप्ति कराने वाली अवस्था को सुख माना गया है, केवल नैरुज्य या रोगाभाव को ही स्वास्थ्य नही कहा जा सकता। इसी भाव का द्योतक एक आधुनिकतम व्यापक परिभाषा या लक्षण स्वास्थ्य का पाया जाता है। इस परिभाषा को विश्व स्वास्थ्य सघ (W H O) ने स्वीकार किया है—

(Health is state of Complete Physical, mental and Social wellbeing and not merely absence of disease or infirmity)

व्याध्युत्पत्तिक्रम एव क्रियाकाल—व्याधि कोई स्थिर दशा नही है, वल्कि विकारगत विविध परिवर्त्तनो की एक श्रृङ्खला है जो कई अवस्थाओ (Steps and stages) से आगत एक परिणाम है। रोग मे उसके विकास की विभिन्न अवस्थाये पाई जाती है। रोग की चिकित्सा मे चिकित्सक का यह कर्त्तव्य होता है कि उसके उत्पत्तिक्रम या विकास की विभिन्न अवस्थाओ का ज्ञान करके उसकी रोक-थाम, निरोध, विलम्बन या प्रतिकार का प्रयत्न

करता रहे। प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थो मे यह सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिपादित है। आचार्य सुश्रुत ने बडे विस्तार के साथ व्याधि के उत्पत्ति-क्रम तथा तत् तद् अवस्थाओ मे किये जाने वाले प्रतिकारो का साङ्गोपाङ्ग विवेचन सूत्रस्थान के इक्कीसवे अध्याय मे क्रियाकाल शब्द से किया है। आधुनिक युग के वैज्ञानिको का विचार भी बहुत कुछ प्राचीन सिद्धान्त से मिलता हुआ है, जैसा कि 'ब्वायड' नामक ग्रथकार की भूमिका मे निम्नलिखित वचनो से स्पष्ट होता है —

Disease is not a state, it is rather a process of ever changing its manifestations, a process which may end in recovery or in death, which may be acute or fulminating in its manifestations or which may appear such a slow ageing of the tissues, brought about by sharp tooth of time

सुश्रुत ने छ क्रिया-कालो मे रोगोत्पत्तिक्रम का वर्णन किया है। १. सञ्चय, २ प्रकोप, ३ प्रसर ४. स्थान सश्रय, व्यक्ति तथा ६. भेद। 'सञ्चय च प्रकोप च प्रसर स्थानसश्रयम्। व्यक्तिभेद च यो वेत्ति दोषाणा स भवेद् भिषक्।' चरक एव वाग्भटने व्याधि की उत्पत्ति मे तीन ही क्रमिक अवस्थाओ का वर्णन किया है—चय, प्रकोप तथा प्रशम। यह भेद सप्रदायभेद के कारण ही है। चरक और वाग्भट आत्रेयसप्रदाय या कायचिकित्सा-सम्प्रदाय (Atreya school or physician school) के रहे, परन्तु सुश्रुत धान्वन्तर या शल्यचिकित्सक सम्प्रदाय (Dhanawantari school or surgeon's school) के थे। कायचिकित्सको का कार्य चय-प्रकोप-प्रशम नामक तीन अवस्थाओ के वर्णन से पूरा हो जाता था, परन्तु सुश्रुताचार्य को व्रण तथा रक्तदोष से उत्पन्न व्याधियो का वर्णन करना अपेक्षित था। अत उन्होने छ अवस्थाओ मे रोगोत्पत्ति-क्रम का वर्णन किया है।

सुश्रुत ने इन छ अवस्थाओ का छ क्रिया-काल नाम से जो विशद वर्णन दिया है वह अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है, अत उसका विशेष वर्णन 'निदानपञ्चक' विषय को समझाने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। इन क्रिया-कालो का सम्यक् ज्ञान रोग के प्रारम्भ मे ही विनिश्चयार्थ (Early Diagnosis), साध्यासाध्य विवेक (Prognosis), अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilactic treatment) तथा आगत बाधा प्रतिषेध (Curative treatment) के लिये भी महत्त्व का है। इस क्रिया-कालो के ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए आचार्य ने लिखा है कि यदि रोग की प्रारंभिक अवस्था

मे ही वोध हो जाय तो दोपो का निर्हरण हो जाने से रोग अग्रसर नही होता और यदि विनिश्चय मे विलम्ब हो जावे तो दोप क्रमश आगे की गतियो को प्राप्त करके रोग को अधिक बलवान् बना देते है—

सञ्चयेऽपहृता दोपा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिपु भवन्ति बलवत्तरा' ॥

क्रिया-काल शब्द का प्रयोग ही चिकित्सा के उपलक्षण से हुआ है। क्रिया का अर्थ प्रतीकार या चिकित्सा है और काल का अर्थ समय या अवधि है। अत क्रिया-काल का समूह मे अर्थ होगा 'समयानुकूल चिकित्सा' (Timely Action)। क्रिया से औपध, अन्न तथा विहार तीनो का ग्रहण करना चाहिये।

संचयावस्था या संचयकाल (1st stage of the Disease or 1st stage of treatment)—इसमे दोपो की चयवास्था या सचय होना पाया जाता है। अग्रेजी मे इसे Inceptive stage or stage of Cumulation or Incubation period कह सकते है। विभिन्न हेतु या निदान से विभिन्न दोपस्थानो मे दोषो का सचय होने लगता है। हेतु–विभिन्न काल या ऋतुओ का परिणाम। लक्षण–दोपो की स्तब्धता, कोष्ठो का पूर्ण होना (वात के सचय में), वर्ण एव त्वचा का पीलापन, उष्णता की मदता (पित्त के सचय मे), गुरुता (भारीपन) तथा आलस्य का अनुभव (कफ के सचय मे) होता है। यह प्रथम क्रियाकाल है। सभव रहे और रोग का वोध हो जाय तो यही प्रतीकार कर देने से रोग आगे नही बढ पाता है। इस प्रकार निदानज्ञान की उपादेयता सिद्ध है। 'तत्र प्रथम क्रियाकाल'।

प्रकोपावस्था (II stage of Disease or treatment)—यदि दोपो का निर्हरण सचय की दशा मे नही हुआ तो रोग अग्रसर होगा और प्रकोपावस्था प्राप्त हो जायेगी। उसमे दोपो का विविध प्रकार के आहार, विहार, आचार तथा काल के प्रभाव से प्रकोप होता है। इसको Provocative stage of the Disease कहा जा सकता है। यह चिकित्सा करने के लिये द्वितीय काल या अवसर है 'तत्र द्वितीय क्रियाकाल।'

प्रसरावस्था (III stage of the Disease or Treatment) यदि कुपित दोषो का गमन नही हुआ तो रोग अग्रसर होता है। दोषो का विमार्ग-गमन होना प्रारंभ हो जाता है (Overflowing or Spread of the Doshas)। इसी को (stage of Extension) कहा जा सकता है। दोषो के प्रसार मे रजोभूयिष्ठ वायु ही प्रवर्त्तक होता है—इसी की सहायता से प्रकुपित दोष शरीर के विभिन्न अवयवो मे जाते है। इनकी उपमा महान् उदक सचय से दी गई है। जैसे कि जल का सचय बट पर बाँध को तोडकर बाहर निकलकर दूसरे बाहरी जल मे मिलकर चारो ओर दौडता है उसी प्रकार दोषो का प्रसार भी सम्पूर्ण शरीर मे होता है। दोष एकैकश, दो-दो, तीन-तीन या रक्त के साथ मिलकर बहुत प्रकार मे फैलते है जिनमे निम्निलिखित पद्रह प्रकार महत्त्व के होते है—

वात, पित्त, कफ, रक्त, वातपित्त, वातश्लेष्म, वात रक्त, पित्त रक्त, श्लेष्मरक्त, वातपित्त रक्त, वातश्लेष्म रक्त, पित्तश्लेष्म रक्त, वातपित्तकफ तथा वात पित्त कफ शोणित से उत्पन्न व्याधियाँ पाई जाती है। दोषो के प्रसर की उपमा मेघ एव तज्जन्य वर्षा से दी गई है —

कृत्स्नेऽवयवे वापि यत्राङ्गे कुपितो भृशम् ।
दोषो विकार नभसि मेघवत्तत्र वर्षति ॥

प्रकोप एवं प्रसर मे भेद—भेद बतलाते हुए डल्हण ने लिखा है। जसे घृत को अग्नि पर चढावे, उसके पिघलने की अवस्था प्रकोप की होगी। फिर आँच लगते रहने पर खौलेगा और खौलकर वर्त्तन से बाहर निकलने लगेगा, यह प्रसर कहलायेगा। इसी प्रकार की अवस्था दोषो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिये।

प्रसर की अवस्था मे लक्षण—

पित्त मे—ओष (एकदैशिक दाह), चोष (सर्वाङ्ग में चूषण के समान दाह) तथा धूमायन।

वात मे—आटोप (रुजापूर्वक उदर का क्षोभ)।

श्लेष्मा मे—अरोचक, अविपाक, अग्निमाद्य, वमन।

यदि प्रसर की अवस्था मे ही रोग का ज्ञान सम्भव हो सके तो प्रतिकार प्रारम्भ करना चाहिये। यह तृतीय क्रिया काल है। 'तत्र तृतीयः क्रियाकाल।'

स्थानसश्रयावस्था (IV Stage of Disease or Treatment)—यदि विकार का प्रशम नही हो सका तो अब चतुर्थावस्था रोग की प्राप्त हो जाती है। प्रसृत हुए दोप फैलते हुए स्रोतो की विगुणता पैदा करके जिस स्थान पर रुक जाते है वहाँ पर स्थानसश्रय होता है। अब विकार एक स्थान पर सीमित हो जाता है—(Stage of limitation)। इसी को स्थानसश्रय कहते हैं। चक्रपाणि ने लिखा है—'पूर्वरूपमेव स्थानसश्रयम्' अर्थात् स्थानसश्रय की अवस्था ही पूर्वरूप कहलाती है। अग्रेजी मे इसे Prodromal Phase of the Disease कहते है। दोप प्रसरित होकर जिन-जिन स्थानो मे सश्रय करता है उन उन स्थानो पर निम्नलिखित रोगो को पैदा करता है।

१ उदर मे सन्निवेश होने पर			गुल्म-विद्रधि-उदर-अग्निमाद्य-आनाह,-विपूचिकातिसार प्रभृति रोग।
२ वृपण	,,	,,	वृद्धि प्रभृति रोग।
३ मेढ्र	,,	,,	निरुद्धप्रकश, उपदश, शूकदोप आदि रोग।
४. वस्ति	,,	,,	प्रमेह, मूत्राघात, अश्मरी, मूत्रदोष आदि रोग।
५ गुदा	,,	,,	भगदरार्श प्रभृति रोग।
६ ऊर्ध्वजत्रु	,,	,,	ऊर्ध्वजत्रुगत रोग।
७ त्वक्-मास	,,	,,	क्षुद्ररोग, कुष्ठ, विसर्प प्रभृति व्याधियाँ।
८. मेद	,,	,,	ग्रन्थि, अपची, गलगण्ड, गण्डमाला आदि रोग।
९ अस्थि	,,	,,	विद्रधि, उपशयी प्रभृति रोग।
१० पाद	,,	,,	श्लीपद, वातशोणित, पादकटक
११. सर्वाङ्ग	,,	,,	ज्वर, सर्वाङ्गरोग।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

अब यहाँ पूर्वरूप का प्रादुर्भाव होता है, जो रोगभेद से प्रत्येक रोग में भिन्न-भिन्न हो सकता है। अब इस पूर्वरूपावस्था में व्याधि का ज्ञान हो जाने पर चतुर्थ क्रियाकाल का समय रहता है और उपचार या प्रतीकार प्रारम्भ किया जा सकता है। एतदर्थ ही सुश्रुत ने लिखा है—'तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः।'

व्यक्तावस्था (V Stage of Disease or Treatment)—व्याधि का स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाना रोग की अभिव्यक्ति है। इस अवस्था मे रोग के सभी लक्षण पूर्णतया व्यक्त हो जाते हैं। इसी को व्याधिदर्शन या रूप भी कहते हैं। जैसे—शोफ, अर्बुद, ग्रथि, विसर्प, ज्वर, अतीसार प्रभृति रोगो के लक्षण पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं। (Stage of manifestation or Fully developed disease) अब यहाँ पर व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह उपचार का पंचम क्रियाकाल है। 'तत्र पंचम क्रिया काल ।'

भेदावस्था (VI Stage of Disease or Treatment or stage of Variation)—दोष दूष्यो की सम्मूर्छनावस्थाजन्य ही व्याधियाँ होती हैं। अब इस अवस्था मे सम्प्राप्ति के भेदो के अनुसार—'संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविभेदत ' रोग का विभेद किया जा सकता है। इसके अलावे रोग की साध्यता याप्यता या, असाध्यता का ज्ञान करना भी संभव रहता है। (The disease either may subside wholly or may take shape of chronic, sub-acute or acute or it may produce other disease or may become complicated or may result in to death of the patient) इस प्रकार का ज्ञान भेदावस्था मे होता है। इसको Stage of variation कहते हैं। (Introduction to 'Kayachikitsa' by C Dwarkanath) यह उपचार का अन्तिम या छठवा काल है। 'तत्र षष्ठ क्रियाकाल. ।'

कई ग्रन्थो के आधार पर क्रियाकाल तथा रोगभेदो का दो स्वतन्त्र कोष्ठको मे नीचे वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सुश्रुतानुसार छै क्रियाकाल (Evolution Stage of the Diseases)

Exciting Factors	Potential Factors	Formative or Preprodromal Phases					
		Charactarised by vague Symptomatology			clinical Phase		
आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिक	वा० पि० क०	चय or the Cumulation of the दोप	प्रकोप or Excitation of the दोप	प्रसर Over flowing or Spread of दोप अपने तथा अन्य स्थानो मे	The stage or Prod-roma or पूर्व रूप या स्थान सश्रेय	The stage of Characteristic feature रूप or Symptom Complex	The stage or variation if may either subside wholly or may become Chronic or serve as निदान of Other Disease or result in death of the patient

रोग-भेद (Classification of Diseases)

अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार उत्पत्तिभेद से	सहज Congenital or Heriditary माता पिता के शुक्र शोणित दोष से कुष्ट-अर्श-फिरंगादि	गर्भज Post Natal congenital defects कुब्जता-पंगुता किलासादि।	जातज Acquired स्वीय अपचार जन्य संतर्पण या अपतर्पण जन्य रोग।	प्रभावज Mystic origin देवता गुरु के अभिशाप अथवा भूत-प्रेत पिशाचादि से।	पीडाज Accidental or Traumatic क्षत-भग-प्रहार से शारीरिक या शोक-क्रोधादि से मानस रोग।	कालज Climatic or seasonal शीत-उष्ण-वर्षा अतियोगायोग से उत्पन्न रोग	स्वभावज Natural भूख-प्यास-निद्रा बुढापा एवं मृत्यु। इसके भी कालज या अकालज भेद से दो प्रकार हो जाते हैं।
सुश्रुत के अनुसार	आदिबल प्रवृत्त	जन्मबल प्रवृत्त	संघात बल प्रवृत्त	—	—	काल बल प्रवृत्त	स्वभाव-बल-प्रवृत्त
आक्रमण प्रकार से According to mode of on set	मृदु (अल्पलक्षण) Chronic form	मध्य (मध्यम लक्षण) (Subacute or moderate)		तीव्र (सम्पूर्ण लक्षण) (Acute or Fulminating)			
साध्यासाध्यता की दृष्टि से Prognostic	सुखसाध्य Mild	कृच्छ्रसाध्य या कष्टसाध्य (Serious)		याप्य		असाध्य Incurable or Dangerous or Grave	
अधिष्ठान भेद से Seat of Disease	शारीरिक (निज)	मानसिक (निज)		आगन्तुक			

दुःख भेद से	आध्यात्मिक या मानस (Psychic) — राजस, तामस	आधिभौतिक (Somatic)		आधिदैविक Mystic	मिश्रित (Psyco-Somatic)		
दोषभेद से	वातज (वायव्य)	पित्तज (आग्नेय)		कफज (सौम्य)	सन्निपातज (मिश्रित)		
दूष्य भेद से Systemic	रसज	रक्तज	मांसज	मेदोज	अस्थिज	मज्जाज	शुक्रज
सामान्य हेतु भेद से	असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगज		प्रज्ञापराधज		परिणामज		
मार्ग भेद से	बाह्यमार्गाश्रित त्वचा-रक्तादि-शाखा आदि मे आश्रित । चर्मकील अर्बुदादि		मध्यमार्गाश्रित मर्म-हृदय-वस्ति-अस्थि-सधि-कण्डरा सिरा मे आश्रित रोग जैसे—अपतानक, अर्दित गुदभ्रंशादि		आभ्यतर मार्गाश्रित कोष्ठाश्रित विकार जन्य रोग ज्वरातिसार प्रभृति ।		
[illegible] प्रधान भेद से	स्वतंत्र या अनुबन्ध्य या प्रधान (Main)			परतंत्र या अनुबध या अप्रधान (Secondary)			

रोग-विज्ञानोपाय (Methods of Investigation of a Disease)

रोग की शास्त्रीय विवेचना के अनन्तर अव रोग के सम्यक् रीति से पहचानने का प्रश्न सम्मुख आता है। रोग के विज्ञानोपाय, विनिश्चय या निर्णय करने की कई पद्धतियो का उल्लेख तत्र मे पाया जाता है। उदाहरणार्थ —

षड्विध परीक्षा—

(सुश्रुत)

१. संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्ति भेदं च योवेत्ति रोगाणां स भवेद् भिषक्॥
(सु० सू० २१)

२ षड्विधा हि रोगाणां विज्ञानोपायाः—पंचभि श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति। (सु० सू० १०)

द्विविध या त्रिविध परीक्षा—

१. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्।
२ त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति।
३ द्विविधा खलु परीक्षा प्रत्यक्षमनुमानञ्च।
त्रिविधा वा सहोपदेशेन। (च० वि० ८)
प्रत्यक्ष खलु तद् यद् इन्द्रियैः मनसा चोपलभ्यते। (वा०)

अष्टविध परीक्षा—

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडी मूत्रं मलं जिह्वां शब्द स्पर्श दृगाकृतिः॥ (यो० र०)

पचविध परीक्षा—

१ तस्योपलब्धिः निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तिभिः।
(च० नि० १)

२ निदान पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञान रोगाणां पचधा स्मृतम्॥ (वा० सू०)

वाग्भट का समाधान—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्।
रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः॥

इसी विषय को पुन कोष्ठक रूप मे दर्शाया जा रहा है —

सामान्य तथा विशेष परीक्षा-विधियाँ

रोगी तथा रोग परीक्षा-विधियाँ

[चरक एव वाग्भट]

१ आप्तोपदेश	१ दर्शन	१ निदान	४ उपशय
२ प्रत्यक्ष	२ स्पर्शन	२ पूर्वरूप	५ सम्प्राप्ति
३ अनुमान	३ प्रश्न	३ रूप	

[सुश्रुत]

१ सचय	१ प्रश्न
२ प्रकोप	२ श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेय
३ प्रसर	३ नेत्रेन्द्रियविज्ञेय
४ स्थानसश्रय	४ घ्राणेन्द्रियविज्ञेय
५ व्यक्ति	५ स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेय
६ भेद	६ रसनेन्द्रियविज्ञेय

	[योगरत्नाकर]	[आधुनिक]
आत्मसदृश या स्वप्रत्ययज्ञेय or Subjective	१ नाडी	१ प्रश्न Interogation
	२ मूत्र	२ दर्शन Inspection
	३ मल	३ स्पर्शन Palpation
	४ जिह्वा	४ अगुलिताडन Purcussion
	५ शब्द	५ श्रवण Auscultation
	६ स्पर्श	६ नैदानिक विधियाँ—भौतिक, रासायनिक Physical or chemical Pathological tests
परसदृश या पर प्रत्ययज्ञेय or objective	७ दृक्	७ अणुवीक्षणात्मक परीक्षा—Microscopical
	८ आकृति	८ रोगदर्शन Scopes and Speculum
		९ क्षकिरण X, Ray

रोग-विनिश्चय करने की वस्तुत दो विधियाँ हैं १ सामान्य २ विशिष्ट। सामान्य विधियो मे रोगी से पूछकर (प्रश्न), रोगी को देखकर (दर्शन), छूकर

(स्पर्शन या अंगुलिताडन), कान से सुनकर सीधे या यन्त्र के साहाय्य से (श्रवण Auscultation), नाक से सूँघकर (Smell), अर्थात् Inspection, Palpation, Purcussion & Auscultation सक्षेपत· इन प्रकारो से रोगी की परीक्षा करके रोग पहचानने की कोशिश की जाती है। विशिष्ट विधियो का सम्बन्ध, सामान्य विधियो से प्राप्त फलो के ऊपर अर्थात् जो कुछ भी हेतु, लक्षण, चिह्न, उपशय, दोप-दूष्य-सम्मूर्छन आदि प्राप्त हो उनके साथ ग्रन्थोक्त लक्षणो का साधर्म्य देखकर (निदानपचक विधि से) रोग के विनिश्च से है। इसी भाव का द्योतन वाग्भट की समाधान-सूचक उक्ति से हो रहा है। उनका कथन है कि 'दर्शन, स्पर्शन एव प्रश्न के द्वारा रोगी की परीक्षा की जाती है तथा निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय एव सम्प्राप्ति के द्वारा रोग का विनिश्चय करना होता है।' सक्षेप मे रोगी की परीक्षा (Examination of the Patient or case-taking) के लिये षड्विध, त्रिविध या अष्टविध साधन वतलाये गये है जिनमे रोगी को देखकर, छूकर, या प्रश्नो के द्वारा उसकी व्यथाओ का ज्ञान कर परीक्षा की जाती है। इसमे स्वसदृश अपने देख कर या परसदृश दूसरे के द्वारा दिखलाकर (जैसे स्त्रीगुह्याङ्गो की परीक्षा किसी अन्य स्त्री के द्वारा करा कर) दोनो प्रकार से ज्ञातव्य विषयो की जानकारी करनी होती है। 'निदानपचक' नामक पाँच साधनो से केवल रोग का निर्णय (Diagnosis) किया जाता है। इस प्रकार रोग-विज्ञानोपाय मे रोगी तथा रोग दोनो के जानने का विमर्श पाया जाता है। रोगी की परीक्षा करने की जो ऊपर विविध प्रकार की अष्ट विध या त्रिविध विधियाँ वतलाई गई उन सवो का समावेश सुश्रुतोक्त षड्विध साधनो मे ही हो जाता है—'षड्विधो हि रोगाणा विज्ञानोपाय , पञ्चभि श्रोत्रादिभि प्रश्नेन चेति।'

आधुनिक ग्रन्थो मे दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न के अतिरिक्त ताडन एव श्रवण परीक्षा विशेष महत्त्व की है। श्रवण-परीक्षा द्वारा कान को परीक्ष्य स्थान पर लगाकर सुनना अथवा श्रवणयन्त्र (Stethescope) के द्वारा सुनना व्यवहृत होता है। इस यन्त्र का उपयोग फुफ्फुस एव हृद्रोगो के निदान मे विशेष महत्त्व का साधन है। बद्धगुदोदर मे उदर की परीक्षा मे भी इसका महत्त्व है। गन्ध के द्वारा परीक्षा कई रोगो मे विशेष महत्त्व की होती है जैसे—मल-मूत्र की परीक्षा, अहिफेनविष, मदात्यय, मधुमेह की मूर्छा। रस की परीक्षा मधुमेह एव रक्तपित्त के विनिर्णय मे की जाती है। यह मक्षिकोपसर्पण, पिपीलिकोपसर्पण, वायस या श्वान को खिलाकर प्राचीन काल मे परप्रत्ययनेय थी। आजकल मूत्र के माधुर्य की परीक्षा के लिये रासायनिक द्रव्यो से परीक्षा करके

निश्चय किया जा सकता है । इन विधियो के अतिरिक्त कई अन्य यंत्र, क्ष किरण आदि भी (scopes and Speculum, Microscopes and X, ray) रोग-सदर्शन मे व्यवहृत होते है । आज के युग मे नैदानिक प्रयोग-शालाये (Clinical pathology) काफी उन्नत दशा मे है । प्राचीन काल मे इन्द्रियो की शक्ति पर ही चिकित्सक को अधिक निर्भर रहना पडता था । आज भी रोग-विनिश्चय मे ये सर्वाधिक विश्वसनीय साधन है ।

रोगि-रोग-परीक्षा का उद्देश्य—जिस रोगी की सामान्य तथा विशेष विधियो के आश्रित रह कर यथाशास्त्र परीक्षा नही की गई अथवा जिसके सम्बन्ध मे ठीक से नही बतलाया गया है अथवा जिसके ऊपर चिकित्सक ने ठीक से विचार नही किया है, चिकित्सा मे ऐसे रोग वैद्य को मोह में डाल देते है और गलती की सभावना रहती है । परन्तु उपर्युक्त निदानपद्धति के द्वारा विचार कर चिकित्सा की जाय तो गलती की कोई सम्भावना नही रहती है—

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च ।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुः चिकित्सकम् ॥

(सु० सू० १०)

महर्षि चरक ने भी कहा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥

(च० सू० २०)

निदान-लक्षणम्

[Defination of Etiology]

अब हम अपने प्रकृत-विषय निदानपचक पर पुन दृष्टिपात करते है । निदानपचक-कथन का प्रयोजन बतलाते हुए सक्षेप मे इन सज्ञाओ की व्याख्या ऊपर हो चुकी है । अब विस्तार के साथ निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय एव सम्प्राप्ति की एकैकश व्याख्या करना प्रासगिक है । सर्वप्रथम निदान को लेते है ।

निदान-निरुक्ति–१ नि + दिश । पृषोदरादित्वात् साधु । नि निश्चय निषेधयो । प्रकृत मे नि शब्द निश्चयार्थक ही व्यवहृत हुआ है । दिश धातु मे, करण मे ल्युट् प्रत्यय होकर दान शब्द की निष्पत्ति होती है । समूह मे शब्द बना निदान, जिसका अर्थ होता है — जिसके द्वारा व्याधि का निर्देश अथवा व्याधि का निश्चित रूप से प्रतिपादन हो सके अथवा जिसके द्वारा व्याधि के हेतु (कारण)

तथा लिङ्ग का निर्देश हो सके अथवा निदान का अर्थ बन्धन हो सकता है—अर्थात् जिसके द्वारा हेत्वादि सम्बन्ध रोग मे बाँधा जा सके।

सभी अर्थो की मान्यता मधुकोषकार ने दी है—परन्तु बन्धनार्थ मे निदान शब्द के प्रयोग का, जो भट्टार हरिचन्द्र नामक विद्वान् वैद्य का मत है, मधुकोषकार श्री विजयरक्षित ने खण्डन किया है। भट्टार हरिचन्द्र का तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा हेतु, पूर्वरूप, उपशय, सम्प्राप्ति से युक्त व्याधियो का निबन्धन हो उसको निदान कहते है। बन्धनार्थक निदान शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी पाया जाता है जैसे 'या गौ सुदोहा भवति न ता निदनीत' अर्थात् जो गाय आसानी से दुही जा सके उसको बाँधना नही चाहिये। विजय रक्षित का कथन है कि यद्यपि निदान शब्द का व्यवहार बन्धनार्थ होता है, परन्तु वह निदान के लक्षण रूप मे नही घट सकता, क्योकि हेत्वादि पाँचो का समुदाय रूप निदान व्याधि का ज्ञापक होते हुए भी, फिर वही हेत्वादि का प्रतिपादक नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु अपने लिये ज्ञापक नही हो सकती, उसके लिये दूसरे ज्ञापक की आवश्यकता रहती है। जैसे, दीपक अपने प्रकाश से सम्पूर्ण वस्तुओ का ज्ञापक होता है, परन्तु दीपक का ही जानना आवश्यक हो तो उसके लिये दूसरे ज्ञापक चक्षु आदि इन्द्रियो को आवश्यकता रहती है। इस मे अपने मे क्रिया विरोध होने से 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोष, निदान शब्द के बन्धनार्थ प्रयोग होने मे आता है अत यह ठीक नही है। बन्धनार्थ ही यदि निदान शब्द का व्यवहार अपेक्षित हो तो वह 'निदानस्थान' नामक अध्याय का बोधक हो सकता है—क्योकि वहाँ पर हेत्वादि पाँचो का बन्धन पाया जाता है। परन्तु स्वय निदान निदान का बोधक नही हो सकता।

२ हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि। (सु०)

३ निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्। (सु०)

४ निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्।

(जेज्जट)

५ निदीयते निबध्यते हेत्वादिसम्बन्धो व्याधिरनेनेति निदानम्।

(भट्टार हरिचद्र)

६ व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्।

(मधुकोष)

७ तत्र निदान त्वादिकारणम्। (चरक, निदान १)

८. सेतिकर्त्तव्यताकः रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्। (मधुकोष)

व्यवहार मे निदान शब्द का प्रयोग व्याधि-विनिश्चय (Diagnosis) के अर्थ मे ही होता है। जैसे यदि कोई प्रश्न करे कि क्या आपके रोग का निदान हो गया तो उसका एक ही अर्थ होता है कि क्या आपके रोग का ठीक-ठीक निर्धारण हो गया। ऐसी दशा मे निदान शब्द से यहाँ पर सम्पूर्ण निदानपचक का ग्रहण हो जाता है जिनके आधार पर रोग का ज्ञान करना सभव रहता है। इस प्रकार निदान शब्द का सामान्यार्थ मे प्रयोग Diagnosis के अर्थ मे होता है। विशिष्टार्थ मे निदान शब्द का प्रयोग रोगोत्पादक हेतु या कारण (Etiology) के रूप मे होता है जैसा कि चरक की उक्ति 'निदान त्वादिकारणम्' से स्पष्ट हो रहा है। ऊपर की दी गई निरुक्तियो पर ध्यान दे तो निदान शब्द उभयार्थ १ व्याधि विनिश्चय तथा २ कारण के रूप मे प्रयुक्त मिलता है।

दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कह सकते है कि निदान शब्द उभयार्थी है। इससे व्यक्ति एव जाति दोनो का बोध होता है। व्यक्ति अर्थ मे यह उत्पादक निदान या हेतु का बोधक और जाति के अर्थ मे यह पूरे निदानपचक का बोधक होकर रोग के Diagosis का बोधक होता है, क्योकि निदान-पूर्वरूप-रूप उपशय-सम्प्राप्ति इन पाँचो का अतिम उद्देश्य रोग का निदान ही करना है। रोग का निदान कही कारण से, कही पूर्वरूप से, कही रूप से कही उपशय और सम्प्राप्ति से पृथक्-पृथक् , दो, तीन, चार या पाँचो के द्वारा मिलाकर किया जाता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचारे तो दोनो अर्थो मे कोई विशेप अन्तर नही है ओर दोनो हेतु के ही प्रतिपादक होते है। हेतु या कारण के दो प्रकार हो सकते है उत्पादक तथा व्यजक। निदानपचक के पाँचो पदार्थो मे से निदान कारण रूप मे उत्पादक हेतु का बोधक और शेप चार पूर्वरूप-रूपादि ज्ञापक या व्यजक हेतु का बोध कराते है। इस प्रकार दोनो अर्थ हेतु के ही बोधक होते है।

पर्याय—शास्त्र मे निदान शब्द का प्रयोग अधिकतर विशिष्टार्थ मे अर्थात् रोगोत्पादक कारण या हेतु के रूप मे ही हुआ है, रोग विनिश्चय के अर्थ मे नही। इसकी पुष्टि करते हुए एकार्थवाची पर्याय शब्दो का व्यवहार शास्त्र मे पाया जाता है जिसके आधार पर निदान को कारण मानना ही न्यायोचित है। यथा–'निमित्तहेत्वायतन प्रत्ययोत्थान कारणै' 'निदातमाहु पर्यायै।' ये शब्द पृथक्-पृथक् निदान के अर्थ मे व्यवहृत होते है। इनसे निदान का विशिष्टार्थ मे हेतु या कारण का ही बोध होता है। अग्रेजी मे इसका पर्याय Casuative Factors or Etiology होगा।

निदान का निर्दुष्ट लक्षण—'हेतुः निदानम्' यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो यह ठीक नही क्योकि हेतु कई प्रकार के होते है जैसा कि ऊपर उत्पादक और व्यजक अथवा कुछ ऐसे भी कारण हो सकते है जिन्हे अन्यथासिद्ध कारण कहते है—जैसे कि घट के निर्माण मे गदहा और उसके ऊपर लादी जानेवाली मिट्टी, वस्ता आदि। फलत लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी और ऐसे भी कारणो का इस लक्षण मे समावेश हो जावेगा जिनका रोगोत्पादन मे कोई भी भाग नही है। अस्तु, ऐसा लक्षण करना दोषयुक्त होगा।

अब दूसरा लक्षण बनावे 'व्याधयुत्पत्तिहेतुर्निदानम्' या 'रोगोत्पादकहेतु-र्निदानम्' अर्थात् रोगोत्पादक हेतु को निदान कहते है। तो विजयरक्षित जी कहते है कि यह भी ठीक नही है क्योकि इस लक्षण की सम्प्राप्ति के लक्षणो मे अतिव्याप्ति हो जावेगी, क्योकि कुछ विद्वान प्रकुपित दोषो के व्यापार को सम्प्राप्ति मानते है— 'प्रकुपितदोषाणा व्यापारत्वं रोगोत्पत्तित्वं सम्प्राप्तित्वं वा।' ऐसी अवस्था मे रोगोत्पादक हेतुत्व और प्रकुपित दोषो के व्यापार मे कोई अन्तर नही रह जावेगा। अस्तु, सम्प्राप्ति के लक्षणो से बचाने के लिये कुछ और विशेषण जोडने की आवश्यकता है। सम्प्राप्ति मे अति-व्याप्ति बचाने के लिये लक्षण किया गया— 'सेतिकर्त्तव्यता को रोगोत्पादकहेतु र्निदानम्।' अर्थात् 'दोषप्रकोपणपूर्वक रोगोत्पादकत्व निदानत्वम्'। इसका सरल अर्थ होता है दोष एव दुष्ट दोषजन्य विकृति के सहित रोगोत्पादक हेतु का नाम ही निदान है।

सेतिकर्त्तव्यताकः—कर्त्तव्यस्य इति प्रकारः इतिकर्त्तव्यं, तस्य भाव इति-कर्त्तव्यता, तया सहित सेतिकर्त्तव्यताक, व्यापारवैविध्य युक्तो हेतुर्निदानम्। एव सति रूक्षादीना भावाना वातादिप्रकोपण दूष्याणाञ्चामाशयादीना दूषणादि-रूपा च इतिकर्त्तव्यता। वातादीनाञ्च चय-प्रकोप-प्रसर-स्थानसंश्रयदूष्यादि-दूषणरूपा. तस्माद् रूक्षादीना वातादीनाञ्च निदानत्वम्।

तात्पर्य यह है कि निदान अकुपित दोषो को कुपित करता है, फिर दोष, दूष्य आमाशयादि को दूषित कर रोग को उत्पन्न करता है यही इति कर्त्तव्यता या व्यापार है—इस व्यापार के साथ जो रोगोत्पादक हेतु है उसको निदान

कहते है। जव कि मम्प्राप्ति मे केवल कुपित दोषो का व्यापार ही रहता है। अस्तु, निदान का निर्दुष्ट (दोपरहित) लक्षण 'सेतिकर्त्तव्यताको रोगोत्पादक-हेतुर्निदानम्' यही होगा।

कुछ विद्वानो ने व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति माना है 'व्याधिजन्मेव सम्प्राप्ति'। यही यदि सम्मत हो तो 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्' इतना ही लक्षण हेतु का वनाया जावे, यह पर्याप्त एव निर्दुष्ट होगा। इस लक्षण को सम्प्राप्ति मे अतिव्याप्ति नही होगी, साथ ही उत्पादक शब्द देने से ज्ञापक कारणो जैसे, पूर्वरूप-रूप-उपशय से भी लक्षण की निवृत्ति हो जावेगी क्योकि ये तीनो रोग के उत्पादक न होकर ज्ञापक या व्यजक मात्र होते है।

उपर्युक्त लक्षण के आधार सकल कारण-समूह अर्थात् वाह्य—मिथ्याहार-विहार, अभिघात एव अणु जीवो के उपसर्ग तथा आभ्यन्तर कारण—दोपवैपम्य एव दूष्य-दोप-सयोग का भी निदान शब्द से रोग जनक निमित्त-समवायि तथा असमवायि तीनो कारणो का ग्रहण हो जाता है। परन्तु स्व० गणनाथ सेन सरस्वती जी ने केवल वाह्य कारण को ही निदान माना है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो रहा है—

वाह्यं निमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्त्तितम्।
विधाय दोपवैषम्यं साक्षाद् वा रोगकारि तत्॥

निमित्तं पद समवायिकारणाना दोपदूष्याणाम्, असमवायिकारणस्य दोपदूष्यसंयोगस्य वारणार्थम्।

(सिद्धान्तनिदानम्)

स्व० गणनाथ सेन जी का सिद्धान्त जिसमे वाह्य निमित्तो को ही रोगोत्पादक हेतु माना गया है, समुचित प्रतीत होता है, क्योकि रोगोत्पादक अन्य कारणो का समवायी एव असमवायी कारणो का तो सम्प्राप्ति मे भी अन्तर्भाव हो जाता है। वस्तुत. प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये समवायी, असमवायी एव निमित्त त्रिविध कारणो की आवश्यकता पडती है। रोग भी एक कार्य है, उसकी उत्पत्ति मे दोप-वैपम्य समवायिकारण, दोप-दूष्य-सयोग असमवायिकारण तथा वाह्य आहार, आचार, अभिघात, जीवाणु आदि निमित्तकारण रूप मे पाये

जाते है। इस प्रकार रोग मे इन तीनो की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। तीनो की स्वतन्त्र सत्ता है, तीनो अन्योन्य प्रेरित भी है। ये परस्पर अनुस्यूत है, विरोधी नही है अत तीनो की रोगोत्पत्ति मे कारणता मानी जाती है। रोगविशेष के अनुसार इन कारणो मे प्रधानता या अप्रधानता पाई जाती है। इनकी प्रधानता या अप्रधानता के आधार पर चिकित्सा मे भी वैशिष्ट्य करना होता है।

उपर्युक्त कथन पूर्ण शास्त्रसम्मत है। तथापि मूल के मूल कारण का विचार किया जावे तो इन त्रिविध कारणो मे बाह्य निमित्त को महत्त्व देना होगा क्योकि सर्वप्रथम बाह्य निमित्त ही रोगोत्पादन मे हेतु बनते है। वे दोष-वैषम्य तथा दोष-दूष्य-सयोग नामक समवायी तथा असमवायिकारण के मूल मे पाये जाते है। अस्तु, बाह्य निमित्तो को ही कारण मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योकि वे दोष-वैषम्य पैदा करके अथवा आगन्तुक कारण बिना दोष-वैषम्य पहले पैदा किये ही रोग पैदा कर देते है पश्चात् दोष-दुष्टि होती है, फलतः श्रीगणनाथ सेन जी का मत अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है। रोगोत्पादक हेतुओ का वर्णन करते हुए श्री तीसटाचार्य ने चिकित्सा-कलिका मे जो हेतु गिनाये है वे प्रायः बाह्य निमित्तो के ही सूचक है। फलत बाह्य निमित्तो को रोगोत्पादक हेतु रूप मे मान्यता दी है। जैसे—

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद् भंगात् क्षयाज्जागरात्
वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुभिरेभिः प्रकोपं व्रजेत्
वायुर्वारिधरागमे परिणते चाह्नेऽपराह्णेऽपि च॥
कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपः-
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिना
मध्याह्ने च तथार्धरात्रिसमये पित्त प्रकोपं व्रजेत्॥
गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्य-
द्रवदधिनिद्रापूपसर्पिःप्रपूरैः।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः सम्प्रकोपः
प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते॥

विषय के समझने मे सरलता लाने के लिये हेतु लक्षण सूचक तथा हेतु प्रभेद सूचक दो कोष्ठक यहाँ पर प्रस्तुत किये जा रहे है।
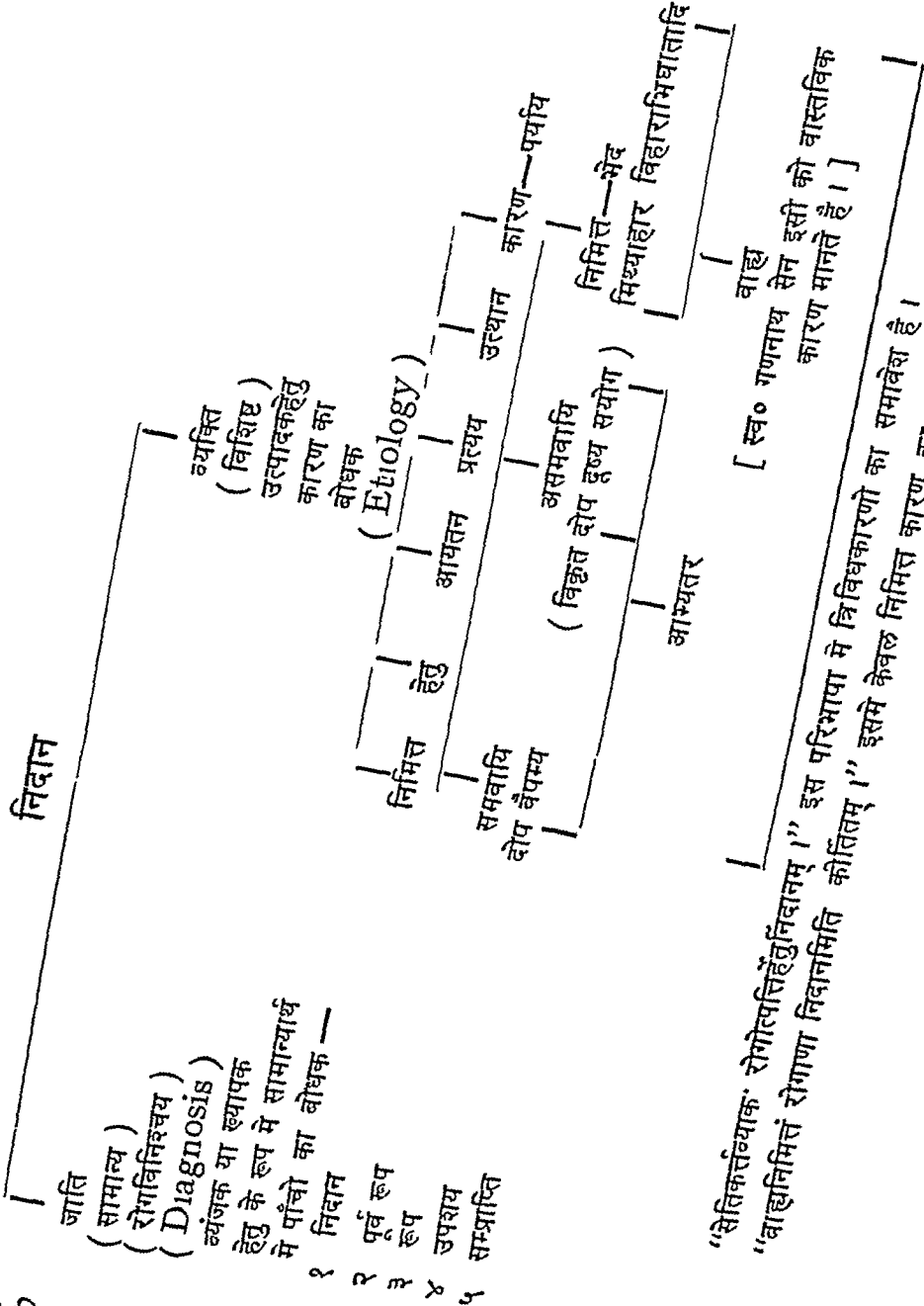
"सेतिकर्त्तव्याकं रोगोत्पत्तिहेतुर्निदानम् ।" इस परिभाषा मे त्रिविधकारणो का समावेश है।

"बाह्यनिमित्तं रोगाणा निदानमिति कीर्तितम् ।" इसमे केवल निमित्त कारण का ग्रहण किया गया है।

हेतु-प्रभेद (८)

(Types of Causes)

य

- सन्निकृष्ट (Direct causes)
- विप्रकृष्ट (Remotecauses)
- व्यभिचारी(रोगोत्पादन मे असमर्थ दुर्बल कारण (Weakcauses)
- प्राधानिक (Poisoning)

र

- असात्म्येन्द्रियार्थसयोग (Misuse, Disuse or overtaxing the system) अयोग, मिथ्या योग या अति-योग कर्मों का
- प्रज्ञापराध
  - वाचिक
  - शारीरिक
  - मानसिक

  (Injudicious use of Senses)
- परिणाम
  - [Seasonal, Periodic, Endemic or Climatic Causes]

ल

- दोष हेतु-दोष के चय प्रकोप प्रशमन मे हेतुभूत मधुरादि रस (Pre-dis posing factors)
- व्याधि हेतु (Causative factors) जैसे मृद् भक्षण से पाण्डुरोग
- दोषव्याध्युभय हेतु (Metabolic Disorder producing factors) जैसे वात रक्त मे ।

व

- उत्पादक Predisposing factors
- व्यजक Exciting factors

श
वाह्य (Extrinsic) उदाहरण मे तीसटाचार्य के श्लोक
आभ्यतर (Intrinsic)
प्राकृत (Common) वसन्त मे कफ शरद मे पित्त वर्षा मे कफ
वैकृत (Rare) एतद् विपरीत
प
अनुवन्ध्य (प्रवान) (स्वतन्त्र) (Main or Principal)
अनुवन्ध (अप्रधान) (परतन्त्र) (Secondary)
स
दोषो की गति भेद से
वृद्ध (Excess)
क्षय (Deficiency)
आशयापकर्ष
ऊर्ध्व अधो तिर्यक्
शाखा (Superficial or Cutaneous manifestation i e. Newgrowths lupus e t c.
कोष्ठ Visceral like Ileocaecal T B
मर्मास्थिसंधि Brain, Bones joints like T B of the Bones and Joints, T B Meningitis T B Peri carditis e.t.c.
ह
आम Toxaemic
निराम Non toxaemic

हेतु भेद—सर्व प्रथम हेतु के चार भेद होते हैं सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी तथा प्राधानिक। सन्निकृष्ट-रात, दिन एव भोजन के तीन विभाग किये गये हैं, उन विभागो मे कुछ दोपो का स्वभाव से कोप होकर रोगोत्पत्ति होती है, उनमें सचय की अपेक्षा नही रहती है—जैसे दिन के प्रात काल (प्रभात मे) मे कफ का, दिन के मध्य (दोपहर मे) पित्त का और सायाह्न (शाम को) मे वायु का कोप होता है। इसे Exposure कह सकते हैं जो रोगोत्पादन मे सन्निकृष्ट हेतु बनता है।

विप्रकृष्ट—हेमन्त ऋतु मे सचित हुआ कफ वसन्त ऋतु मे कफज रोग पैदा करता है। यह दूरस्थ या विप्रकृष्ट हेतु है। ज्वर मे सन्निकृष्ट हेतु मिथ्याहार विहार है, परन्तु विप्रकृष्ट हेतु रुद्र कोप है। इसे अग्रेजी मे Remote cause कह सकते हैं। जैसे उपसर्गजन्य ज्वरो मे एव कालाजार में सरमक्खिका दंश यह Remote cause और Leishmen Don bodies का उपसर्ग सन्निकृष्ट हेतु है इनमे जो प्रबल होता है सर्व प्रथम उनका उपचार अपेक्षित रहता है परन्तु यदि विप्रकृष्ट हेतु ही प्रबल हो जाय तो प्रथम उसी का उपचार करना न्यायोचित रहता है। बलाबल का विचार करते हुए सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट हेतुओ का परिवर्जन पूर्वापर भेद से करना आवश्यक होता है।

विप्रकृष्ट कारणो के शरीर मे प्रवेश से लेकर रोगोत्पत्ति होने तक का काल संचय काल (Incubation period) कहलाता है।

व्यभिचारी—जो हेतु दुर्बल होने से व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है उसे व्यभिचारी कहते है। "अबलीयासोऽननुबन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्ति,।" चरक। प्रतिदिन बहुत प्रकार असात्म्य द्रव्यो का सम्पर्क, रोगोत्पादक जीवाणुओ का सन्निवेश या मिथ्या आहार, विहार, आचार, खाद्य, पेयादि का संबंध शरीर के साथ होता रहता है यदि रोगोत्पादक हेतु कमजोर हुए अथवा शरीर की रोग निरोधी क्षमता (Immunity) प्रबल हुई तो रोग नही पैदा होते हैं। इस प्रकार के रोगोत्पादक हेतु व्यभिचारी स्वरूप के होते हैं। रोगोत्पादन मे इनका महत्त्व न होने से इनका व्याधि के निदान मे कोई प्रमुख स्थान नही दिया जा सकता। (Natural Immunity, Body resistance)

प्राधानिक—प्रबल-प्रधान या उग्र स्वरूप के हेतु जो शरीर गत दोपो को कुपित करके (Metabolic Disturbances पैदा करके) सद्य रोगोत्पादक होता है उसे प्राधानिक हेतु कहते हैं। विविध प्रकार के मारक विषो का सेवन इस वर्ग मे आता है।" रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्ण सूक्ष्म माशुव्यवायि चाविकाशि विशदञ्चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम् ॥" (सु०)

संहिताओ मे हेतुओ के सम्बन्ध मे एक दूसरा वर्गीकरण भी पाया जाता है। इसमें रोगोत्पादन मे तीन कारणो की महत्ता दी जाती है। यह भी एक सामान्य वर्णन है। रोगविशेष के साथ इनका विशिष्ट रूप भो मिलता है। सभी रोगो की उत्पत्ति मे इनकी उपस्थिति अवश्यभावी है। कही एक, क्वचित् दो और कही तीनो मिल कर रोगोत्पादन करते हे। इनके नाम १ असात्म्येन्द्रियार्थसयोग २ प्रज्ञापराध तथा ३ परिणाम हैं। इनकी एकैकश. व्याख्या नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग—पचकर्मेन्द्रिय तथा उभयात्मक मन का उनके ग्रहण करने योग्य विषयो मे अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग का होना रोगोत्पादक होता है। उदाहरण के लिये चक्षुरीन्द्रिय को ले—अति भास्वर वस्तु का अधिक देखना अतियोग, विल्कुल आंखो को बन्द किये रहना और न देखना अयोग और अति सूक्ष्म, भयकर, वीभत्स, अतिदूरस्थ वस्तुओ का देखना मिथ्या योग है। इससे नेत्र के रोग उत्पन्न होते है। वैसे ही कर्मेन्द्रिय पैर को ले—अतिमात्रा मे चलना अति योग, विल्कुल पैरो से न चलना अयोग या विषम, मृदु या कर्कश भूमि पर चलना मिथ्या योग है—इससे पैरो के रोग पैदा हो सकते है। इसी तरह अन्यान्य इन्द्रियो के सम्बन्ध मे भी समझ सकते है। फलतः इन्द्रियोका इन्द्रियार्थ के साथ अति योग, अयोग एव मिथ्या योग रोगोत्पत्ति का एक प्रमुख हेतु हुआ।

प्रज्ञापराध—बुद्धि, स्मृति तथा धैर्य के नष्ट हो जाने पर मनुष्य जो भी कार्य करता है वह अयथार्थ ज्ञान या मिथ्या ज्ञान से प्रेरित होकर करता है—यह बुद्धि या प्रज्ञा का अपराध कहलाता है। यह प्रज्ञापराध सर्वदा रोग का उत्पादक होता है। मिथ्याहार-विहार के सेवन से रोगोत्पत्ति प्रज्ञापरावजन्य ही होती है, ससार के समस्त सक्रामक रोगो का हेतु भी प्रज्ञापराध ही है। विविध यौन रोगो (Vinereal Diseases) मे भी कामुकताजन्य प्रज्ञापराध ही हेतु वनता है। विविध प्रकार के आघातज रोगो (Accidental Injuries) मे भी प्रज्ञापराध ही हेतु रहता है। यह प्रज्ञापराध चरक के मत से तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, वाचिक,तथा मानसिक।

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम्॥
त्रिविधं वाङ्मनःशारीरम् कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्।
(च० सू० ११)

परिणाम—यह पारिभापिक अर्थ मे व्यवहृत होता है । इसका अर्थ काल है । काल का अर्थ होता है—दिन, रात, आयु, विविध ऋतु आदि । उदाहरणार्थ शिशिर ऋतु को 'ले' इस ऋतु मे शीत का अत्यधिक होना अतियोग, शीत का न होना अयोग और क्वचित् उष्ण हो जाना मिथ्या योग कहलाता है । इसी तरह अन्य ऋतुओ के सबन्ध मे भी समझना चाहिए । ऐसे जलवायु में प्राय जो रोग होते है, वे परिणामज या कालज कहलाते है । इस प्रकार काल या परिणाम रोगोत्पादक हेतु बनता है—सक्षेप में

> कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः ।
> सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥

हेतु का एक दूसरा वर्गीकरण भी किया जा सकता है । जैसे १ दोप हेतु २ व्याधि हेतु तथा ३ उभय हेतु ।

दोप हेतु—दोपप्रकोपक या दोपोत्पादक हेतु दोपहेतु कहलाते है । ये उत्पादक और व्यजक भेद से दो प्रकार के होते है । हेमन्त मे मधुर रस कफ का उत्पादक होता है–(Exciting factor) । हेमन्त ऋतु मे सूर्य के सताप से द्रुत होकर कफज रोगो को पैदा करता है—यहाँ पर सूर्यसताप व्यजक हेतु हुआ । इसी प्रकार अन्य ऋतुओ के सचय, प्रकोप एव प्रशम के सम्बन्ध में भी जाना जा सकता है ।

> हेमन्ते निचित. श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः ।
> कायाग्निं वाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते वहून् ॥

इस प्रकार दोप हेतु मे Metabolic Disturbances पहले होता है पश्चात् रोग पैदा होना है ।

व्याधि हेतु—इसमे हेतु सीधे व्याधि पैदा करता है । पश्चात् दोपो के वैपम्य होते है । इसमे अधिकतर आगन्तुक व्यधियो का समावेश हो जाता है । उपसर्गज व्यधियाँ, अभिघातज व्याधियाँ तथा अन्य वहु विध रोग जो आधुनिक युग के ग्रंथो मे पाये जाते है इसी वर्ग मे समाविष्ट है । पुराने उदाहरणो मे 'मृद्भक्षणात् पाण्डुरोग ।' 'मक्षिकाभक्षणात् छर्दि ।' आदि उदाहरण पाये जाते है ।

दोष व्याध्युभय हेतु—विशिष्ट प्रकार के दोष प्रकोपण पूर्वक विशिष्ट व्याधि का होना इस वर्ग मे समझना चाहिए । इस की पुष्टि मे वातरक्त रोग का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है । जिसमे हाथी, ऊँट और घोडा जैसे यान पर चलने से वात की, विदाही अन्न के सेवन से रक्त की तथा पैर लटके रहने वाली सवारियो की व्याधिकारिता दोष-हेतु और व्याधि-हेतु उभय हेतु प्रतिपादक होते है ।

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहाशनस्य।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु॥
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्।

इसमे दो प्रकोपक विदाही अन्नादि तथा रोगात्पादक हस्त्यश्वोष्ट्र यान दोनो हेतु दर्शाये गये है। यहाँ पर उपचार मे वात एव रक्त दोषो का शमन तथा ऐसे यान या ऐसे व्यवसाय जिसमे पैर का लटकाना आवश्यक हो, निषिद्ध है। फलतः यहाँ पर दोष व्याधि उभय प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये।

यहाँ पर शका होती है कि "कारणनाशात्कार्यनाश" (कारण के नाश से कार्य का नाश होना) प्रसिद्ध है तो दोष वैषम्य जो रोग का कारण है उसको दूर कर देने से रोग दूर हो जावेगा। अर्थात् दोषो के उपशम होने से अन्य उपचार के विना ही व्याधि का स्वयमेव शमन हो जावेगा। ठीक है, परन्तु जहाँ पर दोष और व्याधि दोनो के उत्पादक कारण मौजूद है और प्रत्येक औषध द्रव्य की शक्ति सीमित है, एक ही औषधि व्याधि एव दोप दोनो का उन्मूलन नही कर सकती। उदाहरण के लिये श्लैष्मिक तिमिर रोग को ले यहाँ पर श्लेष्महर वमन करा देने से रोग का शमन हो जाना चाहिये, परन्तु होता नही प्रत्युत वमन का निषेध पाया जाता है। "न वामयेत् तैमिरिक न गुल्मिन न चापि पाण्डूदररोग-पीडितम्" (चरक)। इस से स्पष्ट है कि औपध द्रव्यो की शक्ति नियत या सीमित है। अस्तु, दोष और रोग उभय प्रत्यनीकचिकित्सा की आवश्यकता पडती है। इसी प्रयोजन से वातज शोथ रोग मे वातनाशक एव शोथनाशक दशमूल कषाय का प्रयोग पाया जाता है।

उभय प्रत्यनीक चिकित्सा विधियो मे 'सर्जिकल रोगो' का उदाहरण देना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। जैसे श्लीपद, गलगण्ड, आदि व्यधियो मे दोप प्रत्यनीक आभ्यतर प्रयोगो के साथ साथ स्थानिक उपचार लेप, रक्त विस्रा-वण, दाह कर्म प्रभृति स्थानिक व्याधि प्रत्यनीक उपचार भी आवश्यक हो जाते है। इसी प्रकार वातरक्त मे रक्तविस्रावण कर्म व्याधि प्रत्यनीक होता है।

वाह्य तथा आभ्यतर भेद से भी हेतुओ के दो प्रकार पाये जाते है। रोगो-त्पत्ति मे वाह्य हेतुओ का बडा वर्ग तीसटाचार्य के चिकित्साकलिका मे पाया जाता है। इस वर्ग मे आहार, विहार, ऋतु, काल, जीवाणु, आघात, दश, विद्युत्, रासायिनिक क्षोभक द्रव्य तथा विपो का ग्रहण किया जा सकता है। ये सद्यो घातक या दोषप्रकोपण पूर्वक रोगोत्पादन करके कालान्तर मे घातक हो सकते है।

आभ्यतर हेतुओ मे दोप दूष्य सयोग माना जाता है। यह प्राकृत एवं वैकृत

भेद से दो प्रकार का हो सकता है। प्राकृत दोपो मे वसन्त मे कफ, शरद मे पित्त और वर्षा मे वात का कोप होता है। वैकृत मे इसके विपरीत अर्थात् वसन्त में पित्त या वायु का, शरद् मे वात एवं कफ का तथा वर्षा मे पित्त और कफ का होना वैकृत दोष कहलाता है। इनके ज्ञान से रोग की सुखसाध्यता या कृच्छ्र साध्यता का अनुमान रोगो के वारे मे होता है। जैसे वसन्त एवं शरद ऋतु मे प्राकृत दोपजन्य रोग सुखसाध्य होता है, इन ऋतुओ मे वैकृत दोपजन्य रोग कृच्छ्रसाध्य होता है। वर्षा ऋतु मे होने वाला प्राकृत वातिक ज्वर भी कृच्छ्रसाध्य होता है—

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः॥ (चरक)

ससर्गज, ससृष्ट या उपद्रवयुक्त व्याधियो मे अनुवध्य और अनुवध के भेद से हेतुओ का दो भेद करना होता है, अनुवध्य का अर्थ प्रधान या स्वतन्त्र हेतु और अनुवध का गौण या परतन्त्र हेतु है। रोग तथा दोप दोनो का सम्वन्ध विचारणीय होता है। रोग के सम्वन्ध मे विचारें तो प्रधान व्याधि अनुवंध्य कहलायेगी और उसमे होने वाले उपद्रव अनुवध। चिकित्सा मे अनुवध्य या प्रधान हेतु के निवारण से अप्रधान का भी निवारण हो जाता है।

इसकी पुष्टि मे चरक का वचन है "तत्रोपद्रवस्य प्राय प्रधानप्रशमात् प्रशम।" कामला रोग दो प्रकार से होता है—१ पाण्डु रोग में अतिपित्तवर्धक द्रव्यो के सेवन से अनुवंध या परतन्त्र रूप मे अथवा २ स्वतन्त्र या अनुवध्य रूप मे। उपचार मे भेद करना होता है—जहाँ पाण्डु अनुवध रूप में हुआ है, पाण्डु रोग की चिकित्सा से ही ठीक हो जाता है, परन्तु जहाँ वह स्वतन्त्र अनुवध्य रूप मे हुआ उसकी अपनी विशिष्ट चिकित्सा करनी होती है। वातकफज व्याधियो मे यदि कफ अनुवंध्य या प्रधान के रूप मे है वहाँ स्निग्ध उष्णोपचार लाभप्रद न रह कर रूक्षोष्ण उपचार लाभप्रद होता है। अस्तु, अनुवध्यानुवध भेद से भी हेतुओ का विचार करना समीचीन रहता है।

रोगी की प्रकृति, दूष्य एव दोष की प्रकृति का विचार भी हेतुओ मे विशेषतः साध्यासाध्य विवेक के लिये करना अपेक्षित रहता है। यदि रोगी की प्रकृति, दूष्य की प्रकृति और दोष की प्रकृति तीनो समान हो जाय तो रोग असाध्य हो जाता है।

"न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।"

वाग्भट ने विप चिकित्सा मे भी विष प्रकृति (पित्त), विपकाल (वर्षा), विष वर्धक अन्न (तिल, कुल्थी), दोप (पित्त), दूष्य (रक्त) देश, सात्म्यादि, इनके एक साथ मिलने पर विष सकट वतलाया है। इस दशा में सैकडो मे कोई एक जीवित रहता है।

विषप्रकृतिकालान्नदोषदूष्यादिसंगमे ।
विषसंकटमुद्दिष्टं शतस्यैकोत्र जीवति ॥ (अ हृ उ० ३५)

दोषो की गति भेद से हेतु तीन प्रकार के पुन हो जाते हैं। 'क्षय. स्थान च वृद्धिश्च दोषाना त्रिविधा गति । ऊर्ध्वश्चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधा परा। त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थि सधिपु। दोषा प्रवृद्धा. स्व लिङ्ग दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति स्व लिङ्ग समा स्व कर्म कुर्वते। च सू १५।

चिकित्सा मे इन हेतुओ का ज्ञान अपेक्षित है—जिससे सुश्रुत के अनुसार-'क्षीणा वर्धयितव्या, समा पालयितव्या वृद्धा ह्रासयितव्या" अर्थात् क्षीण दोपो को वढावे, वढे दोपो को कम करे और समान दोषो का पालन करे। गति मे ऊर्ध्वग या अधोग आदि का विचार उपचार मे अपेक्षित रहता है। उदाहरणार्थ रक्त पित्त मे प्रतिमार्ग से दोप हरण का विधान है—अर्थात् विपरीत मार्गो से दोषो को निकालना चाहिये। यदि रक्त पित्त ऊर्ध्वग है तो उसका रेचन के द्वारा और यदि अधोग है तो वमन करा के दोपो को निकालने का विधान है "प्रतिमार्गं च हरण रक्तपित्ते विधीयते।" "विरेक पित्तहराणा" इतने सूत्र से कार्य नही चलता जव तक कि रक्तपित्त रोग मे ऊर्ध्वाध गति का ज्ञान न हो।

निर्यग् गतियुक्त दोपो से उत्पन्न ज्वर सदृश रोगो मे शास्त्र गतानुकूल चिकित्सा करनी चाहिये। चरक ने दोपो के विविध प्रकार की गतियो को दुर्विज्ञेय कहा है। दोषो की शरीर मे इतनी प्रकार की गतियाँ हो सकती है कि उनका ठीक ठीक ज्ञान करना कठिन है तथापि कुछ प्रधान गतियो के अनुसार हेतु तथा व्याधि का भेद किया जा सकता है—अन्यथा जैसे "ससार मे वायु, अग्नि तथा चन्द्र की गतियाँ दुर्विज्ञेय है उसी प्रकार वात, पित्त और कफ दोषो की भी शरीर मे होने वाली गतियो की ठीक ठीक जानकारी कठिन होती है।"

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः ।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥
(च० चि० २९)

दोषों की गति का ही एक और भेद—आशयापकर्प भेद से भी गति भेद होता है "क्षय स्थान च वृद्धिश्च दोपाणा त्रिविधा गति ।" यहा स्थान से स्थानापकर्प या आशयापकर्ष समझना चाहिए। सर्व शरीर व्यापक होते हुए भी प्रत्येक दोप का स्थान या आशय नियत रहता है। "ते व्यापिनोपि हृन्नाभ्योरधो-मध्योर्ध्वसश्रया." (वाग्भट)। आशय आठ होते हैं—वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय और स्त्रियो में गर्भाशय, (सु०) आम तौर से दोष प्रकुपित 'होकर ही विमार्ग गमन या स्थानान्तरण करते हैं,

परन्तु कई वार दोप अपने नियत आशय स्थान मे स्वय प्रकुपित न होते हुए भी अन्यत्र जा सकते है—इसे आशयापकर्प कहा जाता है। रोगोत्पादन मे दोप यहाँ पर भी कारण होता है—इस दोप को आशयापकृष्ट दोप कहते है। मधुकोप मे विजयरक्षित ने कहा है "जब वायु उचित मान एव स्थान में स्थित किसी दोप को लेकर अन्यत्र जाता है तो शरीर मे उचित मान में होते हुए भी वह दोप उस स्थान पर विकारोत्पत्ति करता है।" इस कथन की पुष्टि मे उन्होने चरक का निम्न वचन उद्धृत किया है।

'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये। स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र प्रसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः। गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च। (च० सू० १७)

इस अवस्था में चिकित्सा मे विगुण वात का शमन तथा स्थानान्तरित दोप का स्वस्थान मे लाना ही युक्तियुक्त एव शास्त्रसम्मत चिकित्सा है। जिस चिकित्सा को दोपो के स्थानापकर्प नामक सिद्धान्त का ज्ञान नही है वह ऐसी अवस्था मे दाहादि लक्षणो को देखकर रोग मे पित्त की वृद्धि समझ कर पित्त का ह्रासन करते हुए रोग मे अन्य रोग पैदा कर रोगी का अनिष्ट कर सकती है। ऐसा भट्टार हरिचन्द्र का मत है।

इस विषय में विपरीत पक्ष के कुछ आचार्यो का कथन है कि सर्व शरीर-व्यापी पित्त जब वायु के द्वारा खिचें जाकर अन्य अवयवो के पित्त के साथ मिलता है तो उन अवयवो मे पूर्व से विद्यमान पित्त इस स्थानाकृष्ट पित्त के साथ मिलकर अधिक हो जाता है। फलत स्थानापकर्पजन्य दुष्टि भी पित्तवृद्धिजन्य ही होती है वातजन्य नही। क्योकि पित्तज दुष्टि के न होने पर पित्तजन्य होने वाले लक्षण दाह, पाक, मूर्च्छा, भ्रम आदि की उपलब्धि असभव है, क्योकि कारण के अभाव मे कार्य का अभाव होता है। यह भी सत्य है कि उचित मात्रा मे स्थित दोप विकारकारी नही हो सकता। अत दाहादि मे पित्तवृद्धि की कल्पना करना स्वाभाविक है।

भट्टार हरिचन्द्र ने इस पक्ष का खण्डन और पूर्वपक्ष का मण्डन करते हुए लिखा है कि, यद्यपि यह कथन ठीक है, परन्तु यह कथन भी ठीक है कि रोगोत्पत्ति दोपो की स्थानच्युति से भी होती है। परन्तु अज्ञानवश ही ऐसा कथन किया गया है—ऐसी अवस्था मे 'विरेकः पित्तहराणा' इस सिद्धान्त के आधार पर इस अवस्था में रेचन कराना हानिप्रद होने से सर्वथा अनुपयुक्त एव निपिद्ध है। ऐसे रोगो मे स्थानान्तरित पित्त का स्वस्थानानयन ही उपयुक्त चिकित्सा है। स्थानान्तरित पित्त और वृद्धपित्त की चिकित्सा मे परस्पर यही भेद भी है। इसी

भेद के प्रतिपादन के लिये आशयापकर्ष का अतिरिक्त वर्णन करना अनिवार्य है। आशयापकर्षजन्य दाह के रोगी आज कल बहुत मिलते हैं। इन्हे Peripheral Neuritis से पीडित कहा जा सकता है। हस्तपाद दाह Burning Feet Syndrome बहुत से धातुक्षय जन्य रोगो मे यह लक्षण पाया जाता है। यहा पर चिकित्सा मे धातुओ के पूरण के निमित्त बृहण या वायु शामक उपचार ही प्रशस्त रहते है। शीतल या पित्त शामक उपचार उपयोगी नही रहते है। आज के चिकित्सक भी जीवतिक्ति युक्त आहारविहार या औषधि की व्यवस्था करते है। अस्तु, स्थानापकर्षज दाह मे वातघ्न चिकित्सा ही करनी चाहिये।

वस्तुत वात दोष को परम योगवाही माना गया है। वह पित्त या कफ से संयुक्त होकर उभय विध लक्षणो को पैदा कर सकता है। जब पित्त से सयुक्त होता है तो दाहादि लक्षणो को और श्लेष्म से सयुक्त होता है तो शैत्यादि लक्षणो को भी रोग मे पैदा कर सकता है—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥
दाहसंतापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते।
शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते॥

दोषों की मार्गानुसार गति—बढे हुए दोष कभी कोष्ठ मे कभी शाखाओ मे और कभी मर्मस्थित सधियो मे अर्थात् कभी बाह्य, कभी मध्य और कभी अत मार्गानुसारी होकर पीडा पहुँचाते है। रोग की साध्यासाध्यता एव चिकित्सा ज्ञान की दृष्टि से रोगोत्पादन प्रक्रिया त्रिविध मार्गो के अनुसार कैसी होती है यह भी जानना आवश्यक है। भिन्न भिन्न कोष्ठ या धातुओ मे दोष की उपस्थिति मे चिकित्सा भिन्न भिन्न होती है। यथा आमाशय कफ का स्थान है। यहाँ पर यदि पित्त या वात दोष विगुण होकर पहुँच जावे और विकार पैदा करे तो उनमे कफ का अनुबध अनिवार्य है। एक वायु दोष का उदाहरण ले यदि आमाशय मे वात दोष पहुँचा है तो चिकित्सा मे स्थानस्थ दोष कफ का ध्यान रखते हुए भी स्नेहन कफ का वर्धक होने से अनुचित रहेगा। अस्तु, यहाँ पर कफ के नाशन के लिए रूक्षता एव वात के नाश के लिए स्वेदन करना उत्तम रहेगा। फलितार्थ यह है कि रूक्ष स्वेद करना चाहिए। इसी प्रकार पक्वाशय वात का स्थान है। तद्गत कफ के दोष की शान्ति के लिए वात शामक स्नेहन करके कफ शामक स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् स्निग्ध स्वेद करना चाहिए। आमाशय गते वाते कफे पक्वाशयास्थिते रूक्षपूर्वो हित स्वेद स्नेहपूर्वस्तथैव च। क्योकि स्थान जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधत।"

इसी प्रकार दोष के साथ साथ धातु का भी ज्ञान करने की आवश्यकता चिकित्सा मे सुकरता लाने के लिए पडती है। जैसे सभी विषम ज्वर त्रिदोष होते हैं। उनके आश्रय गत धातु का भी ज्ञान हो जाये तो दोनो पर क्रिया करने वाली औषधि का उपयोग किया जा सकता है। जैसे 'सन्ततोरस रक्तस्थ सोन्येद्युः पिशिताश्रित.' इत्यादि। इसी प्रकार स्नायुमर्मास्थि सन्धियो मे भी दोष की गति के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। इसमे भी चिकित्सा में सौकर्य आता है। जैसे कि सुश्रुत ने लिखा है। स्नायु एवं मर्म स्थानो के व्रणो में अग्नि कर्म न करे।

नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च।

आम एवं निराम भेद से भी हेतु के दो प्रकार किये गये हैं। आम–जाठराग्नि या पाचकाग्नि की दुर्बलता से, आदि धातु रस का परिपाक उत्तम नही होता। यह अपक्व रस आमाशय मे रहता है और 'आम' कहलाता है। इस आम से वात-पित्त एव कफ त्रिदोष तथा रक्तादिदूष्य दूषित हो कर 'साम' कहलाते हैं। परिणामस्वरूप दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जन्य' होने वाली व्याधियाँ भी इससे संयुक्त होकर आम कहलाती हैं। साम रोगो मे निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं—स्रोतसावरोध (मलमूत्र संग स्वेदावरोध), बल हानि, गौरव, वायु की मूढता (रुकावट या अप्रवृत्ति), आलस्य, भोजन का परिपाक न होना, लालास्राव, मल की अति प्रवृत्ति, अरुचि, क्लम (थकावट)। इसके विपरीत लक्षण निराम व्याधियो मे पाये जाते हैं।

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥
आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥
स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः।
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसंगारुचिक्लमाः॥
लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः। (वा० सू० १३)

यह आम जिस स्थान पर रहता है, शरीर मे स्वकारण कुपित जिस दोष से दूषित रहता है उस दोष के तोद, दाह, गौरव आदि लक्षणो के साथ आम जनित स्रोतोवरोधादि लक्षणो से कष्ट उत्पन्न करता है—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥

सामवायु लक्षण—

वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः ।
वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत् ॥
विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् ।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि ॥

निराम वायु लक्षण—

निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोल्पवेदनः ।
विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः ॥

सामपित्त लक्षण—

दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु ।
अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत् ॥

निरामपित्त लक्षण—

आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ।
पक्वं विगन्ध विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम् ॥

साम कफ लक्षण—

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशे तु तिष्ठति ।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत् ॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारो गन्ध एव च ।

निराम कफ लक्षण—

पक्वः स एव विज्ञेयश्च्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत् ।

साम निराम इस परिज्ञान का उद्देश्य चिकित्सा मे सामावस्था मे पाचन तथा निरामावस्था मे शमन उपचार करना है ।

परस्पर सम्बद्ध होकर तरतमादि भेद से दोप भेद बासठ प्रकार के होते है । इसका विशद वर्णन सुश्रुत के दोप विकल्पाध्याय तथा चरक सूत्र १७ वे अध्याय मे मिलता है ।

पूर्वरूप लक्षण

(Definition of prodromata)

पूर्वरूपनिरुक्ति—रोग के जानने का दूसरा साधन पूर्वरूप है । रोग की उत्पत्ति के पूर्व जो भावी व्याधि का लक्षण मिलता है उसे पूर्वरूप कहते है । इसकी निम्नलिखित निरुक्तियाँ शास्त्र मे पाई जाती है ।

१. पूर्व + रूप या प्राक् + रूप अर्थात् यथार्थ रूप के पैदा होने के पूर्व के चिह्न या वह चिह्न जिससे भावी व्याधि का अनुमान हो सके ।

२ अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् । (च० चि० ११)
३ पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः । (च०चि० १)
४ तेन अव्यक्तान्येव लिङ्गानि पूर्वरूपम् । (चक्रपाणि)
५ प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ।
६ स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भावि-व्याधिप्रबोधकम् ।
लिङ्गं कुर्वन्ति यद्दोषाः पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ (सुश्रुत)
७ उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।
लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीना तद्यथायथम् ॥ (वाग्भट)
८ यतो मेघादपि भाविनी वृष्टिरनुमीयते, यथा वा रोहिणीं दृष्ट्वा कृत्तिकोदयोऽनुमीयते तथा पूर्वरूपमिति । (चक्रपाणि)
९ "भविष्यद्व्याधिबोधकं लिङ्गं पूवरूपम्" या "भाविव्याधि-बोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्" । (मधुकोष)
१० तच्च द्विविधम् १. सामान्यम् २ विशिष्टञ्च ।
प्रथमं तावत्-अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥
(च० चि० १०)
लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीना तद्यथायथम् । (वाग्भट)
द्वितीयं तावत्-दोषदूष्य सम्मूर्च्छनावस्था जन्यमव्यक्तलिङ्गादन्यदेव ।
यथा ज्वरे बालप्रद्वेषरोमहर्षादि ।
११ व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते ।
भावः किमात्मकत्वञ्च लक्ष्यते लक्षणेन हि ॥
१२ पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः ।
(पराशर)
१३ तच्च त्रिविधं शरीरं, मानसं, शारीरमानसञ्च । (अरुणदत्त)

मेरे विचार से एक आगन्तुक भी मान लिया जावे तो चतुर्विध कहना अधिक उत्तम होगा ।

पूर्वरूप का निर्दुष्ट लक्षण—उपर्युक्त निरुक्तियो में दो तरह के प्रधान विचार पूर्वरूप की व्याख्या में पाये जाते है १. कुपित होकर स्थानसंश्रय को प्राप्त हुए दोष भावि व्याधि के ज्ञापन कराने वाले जिन लक्षणो को पैदा करते है उन लक्षणो को पूर्वरूप कहते है (सु०) । इस प्रकार दोषकृत लक्षणो को ही पूर्वरूप कहा गया है । रोगोत्पत्ति एवं क्रियाकाल के सम्बन्ध में सुश्रुतोक्त वचनो का ऊपर में विस्तृत वर्णन हो चुका है—किस प्रकार दोषो के संचय प्रकोप, प्रसर एवं स्थान संश्रय से रोग या व्याधि उत्पन्न होती है । इसमें दोषो के

इसमे एव या ही शब्द के कथन से निदान सम्प्राप्ति तथा उपशय तीनो से लक्षण की अतिव्याप्ति दूर हो जाती है। क्यो कि निदानादि तीनो भावी तथा वर्तमान दोनो प्रकार के व्याधियो के बोधक होते है, परन्तु पूर्वरूप केवल भावी व्याधिका ही बोधक होता है। यहाँ पर कुछ उदाहरण देना अपेक्षित है कि किस प्रकार से निदान उपशय एवं वर्त्तमान दोनो प्रकार की व्याधिका का बोध कराते है।—

निदान
- मृद् भक्षण— भाविपाण्डुरोग का बोधक।
- मृद्भक्षण से रोगवृद्धि— वर्त्तमान् पाण्डु रोग का बोधक।
- जृम्भायुक्त ज्वर मे घृतपान– भावि वातिक ज्वर का बोधक।

उपशय
- सधिवात एव आमवात मे तैलाभ्यग— वर्त्तमान् आमवात का बोधक।
- विषम ज्वर मे क्विनीन— ,, विषम ज्वर का बोधक।

सम्प्राप्ति
- वसन्तऋतु तथा प्रात काल-कफजरोगकी उत्पत्ति अथवा प्रकोप या वृद्धि
- शरद्ऋतु तथा मध्याह्न–पित्तज रोग की उत्पत्ति अथवा प्रकोप या वृद्धि
- वर्षाऋतु तथा सायाह्न– वातिक रोग की उत्पत्ति अथवा प्रकोप या वृद्धि

भावी एवं वर्त्तमान व्याधि का ज्ञान संभव रहता है। इन सम्प्राप्तियो से रोग का भविष्य मे होने का अनुमान तथा वर्त्तमान मे होने पर ज्ञान सभव रहता है। अत सम्प्राप्ति भी भावी एव वर्त्तमान दोनो प्रकार के व्याधि का बोधक होता है।

रूप — केवल वर्त्तमान व्याधि का बोधक होता है। इस प्रकार रूप से भी पार्थक्य पूर्वरूप के लक्षणो मे एव शब्द जोड़ने से हो जावेगा। क्योकि केवल भावि व्याधि बोधक लिङ्ग को ही पूर्वरूप कहेगे।

अब पुनः शका होती है कि कई बार पूर्वरूप का स्मरण वर्त्तमान् व्याधि का निश्चय कराने मे सहायक होता है तो फिर पूर्वरूप भी इस प्रकार वर्तमान व्याधि का बोधक हो जावेगा ? तब तो उपर्युक्त पूर्वरूप का लक्षण निर्दुष्ट नही हो सकेगा ? रक्तपित्त तथा प्रमेह का सापेक्ष्य निश्चय (Differential Diagnosis) बतलाते हुए चरक की उक्ति है—

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपम्।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥

अर्थात् प्रमेह के पूर्वरूपो के अभाव मे यथा "दन्तादीना मलाढ्यत्व प्राग्रूपं पाणिपादयो, दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्य च जायते।' हल्दी के रंग के पीले या सरक्त मूत्र को देखकर रक्त पित्त रोग का प्रकोप समझना चाहिए। इस सूत्र

सचय से लेकर स्थानसश्रय तक की अवस्था को पूर्वरूपो के भीतर ही समाविष्ट माना जाता है।

२ चरक ने पूर्वरूप मे विशेषत. राजयक्ष्मा के पूर्वरूप मे कुछ ऐसे अदृष्ट-जन्य अशुभ लक्षणो का भी समावेश पूर्वरूप मे किया है जिनमे दोष का कोई भी कर्तृत्व नही है। यथा रोगी के अन्नपान मे तृण, केश, घुन तथा मक्षिका आदि का गिरना।

यक्ष्मिणां घुणकेशाना तृणाना पतनानि च।
प्रायोऽन्नपाने केशाना नखाना चातिवर्धनम्॥

अब ये लक्षण अदृष्टजन्य भले ही हो, परन्तु दोपकृत नही है। अस्तु, दोपकृत लक्षणो को ही केवल पूर्वरूप मे नही लिया जा सकता क्योकि लक्षण अव्याप्ति दोप से युक्त हो जावेगा। फलत पूर्वरूप का ऐसा लक्षण बनाना चाहिए जो व्याप्ति एव अतिव्याप्ति दोप से रहित हो तथा जिसमे अदृष्टज तथा दोपज सब प्रकार के लक्षणो का समावेश हो जावे। एतदर्थ परम निष्णात वाग्भटाचार्यकृत लक्षण अधिक उत्तम प्रतीत होता है, जिसमे उन्होने बतलाया है—

"दोपविशेप के ज्ञान के बिना ही केवल उत्पद्यमान रोग जिन लक्षणो से जाना जा सके उन लक्षणो को सामान्यतया पूर्वरूप कहते है।" इसी भाव का द्योतन करते हुए अन्य परिभाषायें भी पूर्वरूप की पाई जाती हैं। चरक ने लक्षण किया है व्याधि के उत्पत्ति के पूर्व के लक्षण पूर्वरूप कहलाते है। यह पूर्वरूप की दूसरी व्याख्या है जिसमे अदृष्ट तथा दोपकर्तृक सभी लक्षणो का समावेश इस परिभाषा मे हो जाता है।

अब यहाँ पुन एक शका उत्पन्न होती है कि यदि दोषो की ही कारणता दी जाय और अदृष्ट लक्षणो को भी दोपजन्य मान लें तब तो प्रथम परिभाषा से ही काम चल जावेगा और दूसरी परिभाषा करने की आवश्यकता नही पडेगी? इसका उत्तर यह है कि तृण-केश-घुण-मक्षिका का भोजन मे गिरना प्रभृति क्रियाओ को दोषजन्य मानना ठीक नही है क्योकि उनका दोषो के साथ कोई भी सम्बन्ध नही है। अगर ऐसा माना जावे तो कारण कार्य सिद्धान्त मे अनवस्था आ जावेगी। सभी वस्तु सबका कारण बन जावेगी, कार्यकारणभाव की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट हो जावेगी। अस्तु, चरकोक्त पूर्वरूपो का अदृष्ट कारणजन्य (आगन्तुक) और दोपो से अनधिष्ठित मानना ही उचित है।

अस्तु, निर्दुष्ट लक्षण "भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्ग पूर्वरूपम्" अर्थात् "भावी व्याधि के लिङ्ग को ही पूर्वरूप कहते है" ऐसा बनाना श्रेयस्कर है।

मे वर्त्तमान व्याधि का निर्णय करने के लिए पूर्वरूपो का स्मरण व्याधि के बोध मे कारण हो रहा है। अत पूर्वरूप केवल भावि व्याधि का ही नही अपितु वर्त्तमान व्याधि का भी ज्ञापक हुआ ?

इस शका के निवारणार्थ इतना ही जानना पर्याप्त है–कि वर्त्तमान व्याधि के जन्म से पूर्व पूर्वरूप की उत्पत्ति हुई या नही ? यदि हुई तो व्याधि के जन्म के पूर्व काल में ही ज्ञान होने की वजह से पूर्वरूप भविष्यत्-कालीन व्याधि का ही बोधक होगा। यदि व्याधि की उत्पत्ति से पूर्व, पूर्वरूप की उत्पत्ति नही हुई है तो अनुभव के अभाव मे उसका स्मरण ही नही हो सकता। योग दर्शन मे भी लिखा है कि 'अनुभूतविषयानम्प्रमोषः स्मृति' अर्थात् अनुभूत विषय का मस्तिष्क मे यथास्थिति रहना ही स्मरण मे हेतु है। जिस वस्तु की उत्पत्ति नही या जिनका अनुभव ही नही उसका स्मरण या स्मृति भी सभव नही है। सभव है प्रारभ में दांतो का मैलापन आदि उत्पन्न हुए हो और उस समय प्रमाद-वश उनको प्रमेह का पूर्वरूप न समझा गया अब व्याधि उत्पन्न हो जाने पर उनका स्मरण करते है और वह प्रमेह विशेष का ज्ञान करा सकता है। अत. पूर्वरूप भावी व्याधि का बोधक होता है। वस्तुत यहाँ पर पूर्वरूप का स्मरण व्याधि के ज्ञान मे कारण है पूर्वरूप नहीं, उसकी तो रूपावस्था मे सत्ता ही नहीं रहती। चूंकि स्मरण मिथ्या भी हो सकता है इसलिए स्मरण को प्रमाण मानना ठीक नही। शका तो ठीक है परन्तु व्याधि जन्म के पूर्व उत्पन्न पूर्वरूप जिसका अब स्मरण किया जाता है, वही भावी व्याधि का बोधक होता है न कि केवल स्मरण। क्योकि अनुभव से सस्कार, सस्कार से स्मृति और स्मृति की सहायता मे पूर्वरूप ही वर्त्तमान व्याधि का बोधक होता है। केवल स्मरण नही, स्मरण तो सहायक मात्र होता है। आप्तोपदेश को भी स्मरण के सदृश ही समझना चाहिए। अर्थात् आप्तोपदेश से भी रोग के पूर्वरूप एव रूप का ज्ञान होता है। इस प्रकार आप्तोपदेश को भी पूर्वरूपत्व प्रसग होगा क्योकि वह भी स्मरण की भाँति ही रूप या पूर्वरूप के ज्ञान मे सहायक होता है। अस्तु उसमे पूर्वरूप के लक्षणो की अतिव्याप्ति न हो इसीलिये लिङ्ग पद से पूर्वरूप का वर्णन किया गया है 'लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीना तद्यथायथम्'। विशिष्ट व्याधि के विशिष्ट लक्षणो को ही लिङ्ग कहते है, आप्तोपदेश व्याधि का सामान्य ज्ञापक होता है अत उसे लिङ्ग नही कह सकते। इस प्रकार पूर्वरूप अविद्यमान व्याधि का असाधारण लक्षण (लिङ्ग) होता है।

इसकी उपमा विशिष्ट मेघ से दी गई है। जिससे विशिष्ट वर्षा की उत्पत्ति

होती है। अथवा विशिष्ट लक्षण रोहिणी के उदय हो जाने के अनन्तर विशिष्ट नक्षत्र कृत्तिका का उदय होना। यहाँ पर मेघ एव रोहिणी का उदय वर्षा एव कृत्तिकोदय के पूर्वरूप मे आते है।

सामान्य पूर्वरूप—यह पूर्वरूप दो प्रकार का होता है १ सामान्य २ विशिष्ट। दोपदूष्य-सयोग से जब विकारोत्पत्ति होती है तो उस समय जिन साधारण लक्षणो के द्वारा ज्वर आदि व्याधि-मात्र के भविष्य मे होने का जो सामान्य ज्ञान होता है उसको सामान्य पूर्वरूप कहते है। इन लक्षणो के द्वारा भावी व्याधि का ही ज्ञान हो सकता है उसके वातादि दोपजन्य भेदो का नही, इसीलिए कथन है 'पूर्वरूप नाम येन भाविव्याधिविशेपो लक्ष्यते न तु दोपविशेप.।'

श्रमोऽरतिविवर्णत्वं वैरस्यं नयनस्रवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवाततपादिषु॥
जृम्भाङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतञ्च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे॥

इन लक्षणो से ज्वर मात्र के होने का ही ज्ञान सभव रहता हैं, किन्तु यह ज्ञान नही हो सकता कि ज्वर वात-प्रधान होगा या पित्त-प्रधान। इसकी पुष्टि मे तत्रान्तरो के वचन भी प्रमाण है—

व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते।
भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि॥

अथवा व्याधि की जाति या उसका भविष्य मे होना सामान्य पूर्वरूप के द्वारा जाना जाता है, परन्तु उसकी दोपोल्वणता का विस्तार से ज्ञान तो लक्षणो के द्वारा ही होता है। वाग्भट ने स्पष्ट लिखा है 'दोपविशेप से अनधिष्ठित' अर्थात् दोष विशेप के ज्ञान से रहित भावि व्याधि जिस लक्षण समूह से प्रतीत हो उसे सामान्य पूर्वरूप कहते है।

विशिष्ट पूर्वरूप—पूर्वरूपो मे कुछ रोगो मे वातादि दोपो से उत्पन्न होने वाले अव्यक्त लक्षण भी पैदा होते है—इन्हे विशिष्ट पूर्वरूप की सज्ञा है, इन रोगो मे सामान्य पूर्वरूप नही होते। इन अव्यक्त लक्षणो से वडे रोगो मे विशेपत उरक्षत की वातजन्यता या पित्तजन्यता का स्पष्ट वोध हो जाता है। अत इन्हे विशिष्ट पूर्वरूप कहते है।

विशिष्ट पूर्वरूप को स्वीकार करते हुए उसका प्रतिपादन सुश्रुत ने लिखा है—भावी वातज ज्वर मे अधिक जँभाई का आना, पित्त ज्वर मे नेत्रो मे जलन का होना तथा कफज ज्वरो मे अन्न के प्रति विशेष द्वेष होना पाया जाता है।

'विशेषात्तु जृम्भात्यर्थ समीरणात् । पिताान्नयनयोर्दाह कफादन्नारुचिर्भवेत्'
हारीत सहिता मे भी आठ प्रकार के ज्वरो के कहने के पश्चात् वातिक ज्वर के लक्षणो का वर्णन करते हुए जृम्भा, अगमर्द एव हृदयोद्वेग प्रभृति लक्षणो का पूर्वरूप नाम से प्रतिपादन मिलता है —

इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः।
विशेषतस्तु जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्॥

नवीन ग्रथो मे भी पूर्वरूप प्रसग बहुविध रोगो के सम्बन्ध मे पाया जाता है अग्रेजी मे उन्हे (Prodromata or Prominatory Signs कहा जाता है ।

जैसे—अपस्मार मे पूर्वग्रह (Auar)—दृष्टि का धुधलापन, (Dimness of Vision), श्रवणविभ्रम विशिष्ट गन्ध या स्वाद, अनैमित्तिक मिथ्या ज्ञान, सर्वाङ्ग शरीर मे वेधनवत् पीडा (तोद), उदर एव हृत्प्रदेश मे विचित्र अनुभूति । अन्य भी रोगी मे दौरे की सूचना देने वाले विशिष्ट पूर्वरूप पाये जाते है ।

अपस्मार के कुछ दिन या कुछ घटे पूर्व शिरो-वेदना, दुर्बलता, तन्द्रा, क्षुन्नाश, व्याकुलता आदि पूर्वकालिक चिह्न भी रोगी मे मिलते है ।

कुष्ट के पूर्व रूप मे—ज्वर, स्वेदाधिक्य, दौर्बल्य, अतिसार, नासा का सूखना, नासागत रक्त-स्राव, ग्रथिक कुष्ठ के पूर्वरूप मे मिलते है ।

इसी तरह मस्तिष्कावसाद (Mental Deperssion), शीतानुभूति, अरुचि, वातनाडी पीडा (Neuralgic Pain), स्पर्श-वैपरीत्य (Parasthesia), आदि पूर्वरूपो का वर्णन वातिक कुष्ठ (Nerveleprosy) मे मिलता है ।

उपसंहार—दूसरे शब्दो मे कहना हो तो ऐसा कहे कि व्याधिबोधक लक्षण रोगो मे दो प्रकार के पाये जाते है—१ सर्वाङ्ग-बोधक २ एकाङ्ग-बोधक । सर्वाङ्ग-बोधक वे लक्षण हैं जिनसे व्याधि की जाति, विशिष्टता, निदान आदि का सम्यक् ज्ञान हो सके इसी को रूप नाम से आगे कहा जायेगा । एकाङ्ग-बोधक लक्षणो के दो भेद हो जाते है सामान्य एव विशिष्ट । यही वर्णन अब तक होता आया है । जिसे केवल व्याधि के श्रेणी का ज्ञान हो उसे सामान्य और जिससे व्याधि-जनक दोष का भी ज्ञान हो, साथ ही व्याध्युत्पादक निदान का

परिज्ञान हो, उसे विशिष्ट कहते है। जैसा कि सामान्य एव विशिष्ट पूर्वरूपो के प्रसग मे देख चुके है।

विशिष्ट पूर्वरूप एवं रूप में भेद—वास्तव मे विशिष्ट पूर्व रूप के अर्थ में सज्ञा की रूढि हो गई है अन्यथा वहुत से इसमे लक्षण व्यक्त स्वरूप के होते है। फिर भी व्यक्तस्वरूप से उसका अतर शास्त्र मे किया गया है। फलतः यह भेद (रूप एव विशिष्ट पूर्वरूप) का व्यवहार प्राचुर्य (Majority) पर आधारित है। जैसे मापराशि कहने से उडद की ढेर का अर्थ होता है उनमे कुछ मूंग के भी दाने हो तो भी मापराशि मे ही प्राचुर्य से उनका ग्रहण हो जाता है। उसी प्रकार 'छत्रिणो गच्छन्ति' छाते वाले जा रहे है, उनमें एकाध विना छाते के भी हो तो उनका एक ही सज्ञा से व्यवहार किया जाता है। यद्यपि ज्वर के विशिष्ट पूर्वरूप मे जृम्भादि को रूप कह सकते है तथापि जृम्भा की व्यक्तता होने पर भी अनेक लक्षणो की अव्यक्तता के कारण केवल जृम्भा को रूप नही कह सकते अपितु जृम्भा अन्य लक्षणो के साहचर्य से पूर्वरूप ही कहना उचित है। 'व्यपदेशस्त, भूयसा' व्यवहार प्राचुर्य पर आधारित है।

दूसरा भी एक अतर पूर्वरूप का रूप से है। पूर्वरूप भावी व्याधि का वोधक होता है और अनुमानगम्य रहता है, परन्तु रूप वर्त्तमान व्याधि का वोधक होता है और प्रत्यक्ष गम्य होता है। विशिष्ट पूर्वरूप तो रूपावस्था मे प्रकट होता ही है और उसी का व्यक्त होना रूप कहा गया है परन्तु पूर्वरूप के सभी लक्षण व्यक्तावस्था रूप मे व्यक्त नही होते, अन्यथा सभी ज्वर असाध्य हो जावेगे—चरक मे लिखा है पूर्वरूप मे कहे गये सभी लक्षण अति मात्रा मे जिस रोगी को आक्रमण करते है उस रोगी की मृत्यु निश्चित है—

"पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरम्॥
अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्।
विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥

रूपलक्षणम्

(Definition of Syndrome or Symptomatology)

यद्यपि पूर्वरूप के कथन के अनन्तर रोग की सम्प्राप्ति का प्रसंग आता है, तथापि व्याधि के स्वरूप ज्ञान के लिए और रूप के विषय को स्पष्ट करने के लिये पूर्वरूप से सम्बद्ध रूप की ही व्याख्या प्रथम की जा रही है।

रूप निरुक्ति—

> १ तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।
> संस्थानं व्यञ्जनं चिह्नं लक्षणं चिह्नमाकृतिः॥
>
> (वा नि १)

अर्थात् व्यक्त हुआ पूर्वरूप ही रूप कहलाता है। पूर्वरूपावस्था मे प्रतीयमान अव्यक्त लक्षण ही जब व्यक्त होकर व्याधि का निश्चित रूप से निदर्शक हो जाता है तो उसे रूप कहा जाता है। सस्थान, व्यजन, चिह्न और आकृति ये शब्द रूप के पर्याय रूप मे व्यवहृत होते है।

> २ प्रादुर्भूतलक्षण पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं सस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम्॥
>
> (च नि १)

> ३ व्याधेः स्वरूपम् अव्यक्तं पूर्वरूपम् यद्व्यक्तं तद् रूपमिति।
>
> (ईश्वरसेन)।

> ४. उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गं रूपम्। (मधुकोष)।

व्यक्त होने का अर्थ—उपर्युक्त दोनो परिभाषाओ मे लक्षणो का स्पष्ट होना और उत्पन्न होना रोग की रूपावस्था मानी गयी है। अब विचारणीय है कि क्या पूर्वरूप के सभी लक्षण रोग को रूपावस्था मे व्यक्त होते है या थोडे। यदि पूर्वरूप के सभी लक्षणो की व्यक्ति मान ली जावे तो सभी रोग असाध्य हो जायेगे। जैसा कि चरक मे कहा गया है कि 'ज्वर के या अन्य रोग की पूर्वरूपावस्था के सभी लक्षण रोगी मे उत्पन्न हो जायँ तो रोगी को मुमूर्षु समझना चाहिये।' यदि पूर्वरूपावस्था के कुछ ही लक्षणो की ही अभिव्यक्ति को रूप माना जाय तो 'जृम्भा, नयन-दाह, अन्नविद्वेष, हृदयोद्वेग' सदृश विशिष्ट पूर्वरूपो को जो पहले से ही व्यक्त रहते हैं, भी रूप के वर्ग मे ही रखना होगा। इस प्रकार उभय पक्ष मे दोष की सम्भावना है। शास्त्रकारो ने इस सम्बन्ध मे बतलाया है कि इस प्रकार की विवेचना की कोई आवश्यकता नही है–इसका कोई नियम नही है–एक लक्षण (एकदेशीय) या अनेक लक्षण (सम्पूर्ण) की अपेक्षा न करते हुए पूर्वरूप मात्र की अभिव्यक्ति को ही रूप कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि रोग तथा रोगी के अनुसार किसी मे कुछ और किसी मे सम्पूर्ण लक्षण भी रूपावस्था मे व्यक्त हो सकते है और ये व्यक्त हुए कतिपय या सम्पूर्ण उभयविधलक्षण ही रूप कहलायेगे। इसकी उपमा धूम (धुएँ) से दी गई है–– धूम को देखकर अग्नि का बोध किया जा सकता है, परन्तु वह तृण की अग्नि

है या पत्र की यह जानना आवश्यक नही है। जिस प्रकार धूम सामान्य अग्नि का बोधक है उसी प्रकार पूर्वरूप मात्र की अभिव्यक्ति रूप कहलाता है जिससे रोग का ठीक ज्ञान होता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण लक्षणो की अभिव्यक्ति से रोग असाध्य एव अल्प लक्षणो की व्यक्ति से साध्य होता है।

स्वरूप शब्द का विग्रह—ईश्वरसेन ने व्याधि का अपना व्यक्तरूप (स्वरूप व्यक्तम्) को रूप बतलाया है। स्वरूप शब्द से क्या अर्थ ग्रहण किया जावे? विजयरक्षित ने इसकी तर्क-हीनता इस प्रकार सिद्ध की है। आपका कथन है कि स्वरूप शब्द के दो विग्रह हो सकते है—स्व रूप स्वरूपम् अर्थात् व्याधि का अपना रूप या स्वभाव ही व्याधि का रूप है—तो यह ठीक नही है क्योकि इसमे 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोप आता है। अर्थात् अपने मे ही क्रिया का विरोध यानी ज्ञेय या प्रमेय वस्तु का अपने लिये ज्ञापक या प्रमाण होना ही स्वात्मनि क्रियाविरोध है। कोई सासारिक वस्तु अपने लिये स्वत प्रमाण नही है उसके ज्ञापन के लिये ज्ञापकान्तर की आवश्यकता होती है। दीपक सम्पूर्ण वस्तुओ का दर्शन या ज्ञापन कराने वाला होते हुए भी अपने ज्ञापन के लिये चक्षु रूप ज्ञापकान्तर की अपेक्षा रखता है। यहाँ पर व्याधि का स्वभाव ही ज्ञेय विपय है उसी को व्याधि स्वभ.व का ज्ञापक मानना असगत है। इसी को शास्त्र मे स्वात्मनि क्रियाविरोध कहा जाता है। अस्तु स्वरूप शब्द का उक्त विग्रह करना उचित नही है।

'स्वीय रूप स्वरूपम्' यदि ऐसी व्याख्या की जावे अर्थात् रोग का रूप ही व्याधि का रूप है तो यह विग्रह भी ठीक नही प्रतीत होता। स्वीय रूप के दो अर्थ होते है—स्वीय धर्म (व्याधि का अपना धर्म) या स्वीय कार्य (व्याधि का अपना कर्म)। स्वीय धर्म माने तो शास्त्र मे कहे गये त्वचा, नख, मल, मूत्र तथा दाँत का कालापन आदि अर्श के लक्षणो का रूप नही कह सकते 'श्यावारुणपरुपनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीपस्य वातोल्वणान्यर्शासीति विद्यात्' 'कृष्ण त्वङ्नखनयनवदनदशनमूत्रपुरीपश्च पुरुपो भवति वातार्शसि क्योकि धर्म धर्मो मे रहता है अन्य मे नही। अर्श एक शरीर मे दृश्यमान मस्से के रूप की व्याधि है यही इस व्याधि का धर्म है—अस्तु नखादि का कालापन अर्श का धर्म नही है, प्रत्युत वह वात दोप का ही धर्म है। धर्म न होने पर नखादि का कालापन अर्श का रूप भी नही माना जा सकता। अस्तु यह विग्रह क्लिष्ट कल्पना है फलत अनुचित है।

'स्वीयकर्म ' स्वकीय कार्य यह विग्रह भी उचित नही प्रतीत होता क्योकि ऐसा करने से उपद्रव एवं अरिष्टो को भी व्याधि के रूप मे स्वीकार करना होगा। उपद्रव एव अरिष्ट व्याधि के उत्तर काल मे होने के कारण व्याधि के कार्य कहे जा सकते है। यदि उपद्रव एवं अरिष्ट को भी व्याधि की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता का निदर्शक मानकर तत्कालीन व्याधि का रूप स्वीकार किया जावे तो वह भी ठीक नही क्योकि उपद्रवारिष्ट व्याधि के कृच्छ्रसाध्यता एव असाध्यता के ही ज्ञापक होते है व्याधि के नहो। व्याधि का ज्ञान तो उपद्रव उत्पन्न होने से पहले ही हो जाता है इसके लिये माधवादि ने उपद्रव, अरिष्ट आदि का कथन रूप से पृथक् ही किया है।

'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोयम् ।'

इस प्रकार स्वरूप शब्द का विग्रह स्वकीय कार्य भी नही किया जा सकता। इन तर्को के आधार पर ईश्वरसेन जी द्वारा प्रतिपादित लक्षण दूषित एव अमान्य है ।

कुछ विद्वानो के मत से ईश्वरसेन की व्याख्या उपयुक्त है। कही पर 'स्वरूप स्वरूपम्' और कही पर 'स्वीय रूपम् स्वरूपम्' का विग्रह भी व्याधि के स्वरूप ज्ञान कराने मे समर्थ होता है। अव प्रश्न उठता है कि उपद्रव व्याधि का कार्य है कि व्याधिजनक दोष का। इसके सम्वन्ध मे सुश्रुत का वचन है कि उपद्रव व्याधि का कार्य नही है वल्कि रोगोत्पादक दोष का ही कार्य है 'स तन्मूलमूल एव उपद्रवसञ्ज्ञक । 'किन्तु यह ठीक नही है। क्योकि व्याधिजनक दोष की वृद्धि के कारण वढी हुई व्याधि ही उपद्रव को उत्पन्न करती है। इसी का प्रतिपादन 'तन्मूलमूल' शब्द के द्वारा हुआ है। इस प्रकार उपद्रव के प्रति दोष की परम्परया कारणता है। साक्षात् कारणता तो वढी हुई व्याधि को ही है। उसी आशय से चरक का भी वचन है—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ॥

इस प्रकार रोग रोगान्तर का या उपद्रव का जनक होता है। तात्पर्य यह है—ईश्वरसेनजी का स्वरूप लक्षण पूर्णाश मे रूप को व्यक्त नही करता। इसके अतिरिक्त निश्चित लक्षण के अभाव मे उपद्रव मे भी व्याधिस्वरूप प्रतिभासित होता है अस्तु, लक्षण यहाँ पर अतिव्याप्त और ऊपर मे अव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है।

रूप का निर्दुष्ट लक्षण—अस्तु 'उत्पन्नव्याधिवोधकमेव लिङ्ग रूपमिति' अर्थात् उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाला लिङ्ग ही रूप

है। इस प्रकार का निर्दोष लक्षण बनाना ही युक्तियुक्त है। इस प्रकार का लक्षण करने से पूर्वरूप के लक्षणों से निवृत्ति 'उत्पन्न' शब्द जोड़ देने से हो जाती है, क्योंकि पूर्वरूप व्याधि का बोधक होता है। निदान सम्प्राप्ति एवं उपशय के लक्षणों में पार्थक्य दर्शनार्थ 'एव' शब्द का परिभाषा में प्रयोग हुआ है। क्योंकि ये तीनों भावी एव वर्त्तमान दोनों प्रकार की व्याधि के निदर्शक होते है। व्याधि के ज्ञापन में व्यवहृत होने वाले चक्षु आदि इन्द्रिय तथा रोग के विनिश्चिय के अन्य साधन उर श्रवण, अणुवीक्षण, परीक्षण आदि अन्य साधन सामान्य ज्ञापक होते है—इनका निरसन करने के लिये 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन साधनों से प्राप्त ज्ञान को 'लिङ्ग' नहीं कह सकते क्योंकि वस्तु विशेष के ज्ञापन कराने वाले असाधारण लक्षण या वस्तु को ही लिङ्ग कहते हैं। साधारण ज्ञान को नहीं। कुछ विद्वानों के मत में व्याधि जन्म को ही सम्प्राप्ति मानते है—इस सम्प्राप्ति लक्षण की भी निवृत्ति इस 'लिङ्ग' पद से ही हो जाती है। क्योंकि सम्प्राप्ति व्याधि के ज्ञान में कारण मात्र ही होती है लिङ्ग नही। फलत रूप का निर्दुष्ट लक्षण 'उत्पन्नव्याधि-बोधकमेव लिङ्ग रूपम्' यही होगा।

रूप तथा व्याधि में भेद एवं पर्याय कथन—शास्त्र में व्यवहार तथा लक्षण के लिये पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी अभिप्राय से रूप के पर्याय रूप मे लिङ्ग, आकृति, लक्षण, चिह्न, सस्थान और व्यजन का व्यवहार हुआ हैं। यद्यपि पद अनेकार्थवाची होते हैं परन्तु यहाँ पर एकार्थ में व्यवहृत हुए हैं।

कई विद्वानो का मत है कि चूँकि व्याधि का ज्ञान रूप एव लक्षणो के द्वारा ही होता है, रूप से भिन्न व्याधि की सत्ता भी नही है—क्योंकि अरुचि, स्वेदावरोध एवं संताप आदि लक्षणो के समुदाय को ही शास्त्र मे ज्वर कहा गया है। इसी प्रकार ज्वर, कास एव रक्तष्ठीवन आदि ग्यारह लक्षणो के समुदाय को ही राजयक्ष्मा कहा गया है। अस्तु रूप और व्याधि मे कोई अन्तर नही है।

यह एक विवादास्पद विषय है। चरक मे लिखा है 'सुखसंज्ञकमारोग्य विकारो दु खमेव च।' फिर इसके कई पर्याय दिये गये है जैसे—'तत्र व्याधि-रामयो गद आतङ्को यक्ष्मा, ज्वरो, विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्' प्रत्येक की व्युत्पत्ति बतलाते हुए श्री चक्रपाणि ने लिखा है—आतङ्क से भय, विकार शब्द से षोडश विकारो का भी ग्रहण हो सकता है परन्तु प्रकृत मे व्याधि के ही बोधक है। व्याधि—'विविध दु खमादधातीति व्याधि.' विविध प्रकार दुःख

देने वाली व्याधि है। आतङ्क का अर्थ कष्ट का जीवन, यक्ष्मा शब्द से रोग युक्त विकार, ज्वर शब्द से मन-शरीरसतापकरत्व, विकार से शरीर एव मन का अन्यथाकरण, रोग शब्द से रुजाकर्त्तृत्व तथा गद से सामान्य असुख का बोध होता है।

अग्रेजी भाषा मे रोग को (Disease) कहते है—यह भी सक्षेप मे एक असुख का ही बोधक है। शरीर मे या मन मे यह असुख का भाव जिस शारीरिक या मानसिक विकृति के कारण होता है उसको रोग कहते है। इस प्रकार रोग और उसमे पैदा होने वाले असुख मे भेद हो जाता है। असुख का अनुभव रोग का परिणाम है रोग नही। फलत रोग उससे भिन्न वस्तु है। लक्षण या रूप स्वयं रोग न होकर विकार या रोग के निदर्शक है।

इसीलिये विजयरक्षित ने विशिष्ट प्रकार से दूषित दोष एव दूष्य के विशिष्ट सयोग को ही व्याधि माना है, लक्षण-समूह को नही। अरुचि आदि लक्षण व्याधि के कार्य है, व्याधि का स्वरूप नही 'तथापि दोषदूष्यसम्मूर्च्छना-विशेषो ज्वरादिरूपो व्याधि तस्य कार्याण्यरुच्यादय।'

वस्तुत रोग एव लक्षण मे इतना ही अन्तर है—कि लक्षण एक होता है और रोग लक्षणो का समुदाय। यदि लक्षण-समूह को ही व्याधि मान लिया जावे तो भी कोई दोष नही आता। लक्षण-समूह और व्याधि की उपमा समुदाय एव समुदायी, जाति एव व्यक्ति, अवयव एव अवयवी के अन्तर से दी जा सकती है, जैसे कहा जाय 'खदिर वृक्षो का वन' राहु का शिर या शिला-पुत्र का शरीर। यद्यपि इनमे कोई बडा अन्तर नही है फिर भी व्यवहार मे इनमे षष्ठी कारक के चिह्न 'का' द्वारा भेद माना जाता है। अत समुदाय से समुदायी को पृथक् मानकर लक्षणो से व्याधि को पृथक् मानना भी उचित है। न्याय दर्शनकार ने अवयवो से पृथक् अवयवी को सिद्ध किया है। और समुदाय तथा समुदायी मे वास्तविक भेद बतलाया है केवल भेद की विवक्षा मात्र नही।

सर्वाग्रहणमवयवसिद्धे
धारणा कर्षणोपपत्तेश्च। } न्याय दर्शन २।१।३४, ३५

चरक मे भी उक्ति मिलती है—

जिन लक्षणो का उल्लेख किसी विशिष्ट रोग के ज्ञापनार्थ होता है उन्हे उस अवस्था मे लक्षण ही मानना चाहिये जैसे ज्वर रोग भी है, परन्तु कास एव रक्तपित्त आदि के साथ संयुक्त होकर राजयक्ष्मा का एक लक्षण है।

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः॥

वस्तुत रोग और लक्षण मे बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रत्येक रोग मे अनेक लक्षण हुआ करते है अर्थात् प्रत्येक रोग अनेक लक्षणो का समूह होता है। इस समूह मे एक-एक लक्षण अनेक रोगो मे मिल सकता है, परन्तु सम्पूर्ण लक्षणो का समूह अन्य रोगो मे नही मिल सकता है। आयुर्वेद की परिभाषा मे बहुत-सी व्याधियाँ है जिनमे एक ही लक्षण होता है, फिर भी स्वतन्त्र व्याधियाँ मानी जाती है।

लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते।
बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनाञ्च बहूनि च॥
विषमारम्भ मूलाना लिङ्गमेक ज्वरो मतः॥

(चर)

भेद—रूप के दो भेद होते है—लक्षण (Symptoms) तथा चिह्न (Signs), लक्षणो को रोगी से पूछकर जाना जाता है इसलिये पर प्रत्ययज्ञेय (Subjective) कर्तृत्व-बोधक कहा जाता है। चिह्नो को रोगी के देखने, स्पर्श करने आदि क्रियाओ से प्रत्यक्ष देखा जाता है। अस्तु इन्हे स्वप्रत्ययज्ञेय (Objective) कर्मत्व-बोधक कहा जाता है।

रोगी से पूछकर ज्ञातव्य लक्षण—भूख, प्यास, वात-मूत्र-मल, प्रवृत्ति, श्वास की तथा निन्द्रा की स्थिति आदि।

रोगी को देखकर जानने योग्य चिह्न—वक्ष की गति, शोथ, वर्णवैपरीत्य, अप्राकृत गति, मल-मूत्रादि का वर्ण, गठन, मृदुत्व, कर्कशता, ताप नाडी, गति, हृदय एव फुफ्फुस ध्वनि प्रभृति।

उपशय-लक्षण

(Definition of Therapeutic Test or Therapy)

निरुक्ति —

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्।
१ औषधान्नविहाराणामुपयोग सुखावहम्॥
विद्यादुपशयं व्याधेः।

(वा नि १)

२ उपशयः पुनः हेतुव्याधिविपरीताना विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोग सुखानुबन्धः इति।

(चक्र)

३ सात्म्यार्थो ह्युपशयः।

(चरक नि १)

४. सुखानुबन्धो यो हेतुर्व्याधि विपरीतकः।
देशादिकश्चोपशयो ज्ञेयोनुपशयोध्यादिन्यथा ॥

(सुदान्त सेन)

५ तस्मात् 'सम्यक् व्याधिजदुःखोपशमहेतुरुपशयः' 'सात्म्य-मुपशयः' 'औषधजनितः सुखानुबन्ध उपशय.' वा इति।

(विजयरक्षित)

६ विपर्यस्तोर्थः विपर्यस्तार्थः विपर्यस्तार्थ-कर्त्तुं शीलं येषां ते विपर्यस्तार्थकारिणः विपर्यस्ताश्च विपर्यस्तार्थकारिणश्च विपर्यस्त विपर्यस्तार्थकारिणः। हेतुश्च व्याधिश्चहेतुव्याधी। हेतुव्याधिभ्यां विपर्यस्त विपर्यस्तार्थकारिण तेषामुपयोगः सुखावहः।

उपशय का निर्दुष्ट लक्षण—

'औषधजनितः सुखानुबन्धः उपशयः'—

सक्षेप मे औषध, अन्न, विहार, देश तथा काल आदि से उत्पन्न सुख-परम्परा को उपशय कहते है। परिणाम मे सुखकारक वस्तुओ को ही सुखावह कहा जाता है। तृष्णा एव दाहयुक्त नव-ज्वर के रोगी मे शीतल जल का प्रयोग तत्काल सुखावह प्रतीत होते हुए भी परिणाम मे सुखावह नही होता क्योकि उसमे ज्वर का वेग तेज हो जाता है और अन्य उपद्रवो के होने की आशंका रहती है—अस्तु परिणाम मे सुखकारक न होने से उसको उपशय नही कहेगे। 'तद्यदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' अस्तु, तत्काल मे अप्रिय होने पर भी परिणाम मे अर्थात् आगे चलकर जो अमृतवत् सुखकर हो वास्तविक सुखावह उसी को कहते है, उपशय भी यही है। कभी-कभी अपथ्य सेवन से क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है। जैसे—दधि का सेवन अम्ल-पित्त मे, परन्तु सुखकर अनुबन्ध या परम्परा स्थायी नही रहती। परिभाषा मे अनुबन्ध पद देने का तात्पर्य यह होता है कि जो परिणाम मे सुखदायी हो अपथ्य-सेवन परिणाम मे सुखदायी नही होता है। अस्तु वह उपशय की श्रेणी मे नही आ सकते।

वास्तव मे 'विकारो दु खमेव च' दु ख या कष्ट ही रोग है उसकी निवृत्ति ही सुख है। लोक मे भी कहा जाता है 'भारापगमे सुखिन सवृत्ता स्म'

अर्थात् सिर का भार उतर जाने पर मनुष्य अपने को सुखी मानता है। अस्तु दुःख निवृत्ति ही सुख का मूल है और इस प्रकार व्याधि-जनित दुःख को उचित प्रकार से शान्त करने वाले पदार्थो को ही उपशय कहते है 'सम्यक् व्याधिज-दु.खोपशमहेतु उपशय' यह लक्षण भी ठीक है।

अथवा चरकोक्त संक्षिप्त लक्षण 'सात्म्यमुपशय' अर्थात् अनुकूल पदार्थ उपशय है। यह भी कथन ठीक है। अथवा पूर्वोक्त लक्षण 'औषधजनित सुखानुबन्ध ही उपशय है।' यह कथन भी ठीक है। क्योंकि चरक ने आहार, विहार, आचार, देश, काल, लंघन आदि द्रव्य या अद्रव्यभूत समस्त पदार्थो को जो रोग के शमन मे प्रयुक्त होते है सभी को औषध माना है और इन विविध पदार्थो के उपयोग सुखावह होते है अस्तु, यथा-स्थान ये सभी उपशय की परिभाषा मे आ जाते है।

महर्षि चरक के उपशय का वृहद् लक्षण इस प्रकार का है 'उपशयः पुन. हेतुर्व्याधिविपरीताना विपरीतार्थकारिणाम् औषधाहारविहाराणामुपयोग. सुखानुबन्ध ।' इसी सूत्र को वाग्भट जी ने श्लोकबद्ध किया है, जिसका माधव निदान में सग्रह पाया जाता है और उपशय की निरुक्ति में व्यवहृत होता है।

उपशय का व्यवहार दो अर्थो मे पाया जाता है—१ व्याध्युपशम (Rsoultion of the Disease) विविध औषधि अन्न-आचार से रोग का उपशम करना, २ तथा उपशयानुपशय परीक्षा (Theraputic Test) से विशिष्ट रोग का निदान करना। निदानार्थ उपशय का क्षेत्र सीमित है—जैसे आमवात एवं सन्धिवात का विवेक, वातरोग एवं ऊरुस्तम्भ का विभेद, साम एव निरामावस्था का पार्थक्य आदि। परन्तु चिकित्सा के अर्थ मे व्यवहृत होने वाले उपशय का क्षेत्र बहुत वृहत् है। उसके आवान्तर भेदो के सहित १८ प्रकार बतलाये गये हैं। बहुत-से विद्वानो का अभिप्राय यह है कि ये १८ प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ बतलाई गई है। आयुर्वेद मे इन सभी चिकित्सा पद्धतियो का समावेश है और उनके आधार पर की गई चिकित्सा सूत्र के सैकड़ो उदाहरण विद्यमान है। आधुनिक एव प्राचीन सभी चिकित्सा-पद्धतियो का समावेश इन अठारह भेदो मे सहज ही हो जाता है। इनके विविध भेदो का वर्णन नीचे क्रमश सोदाहरण किया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपशय का प्रयोग कार्य एव काल भेद से निदानार्थ एव चिकित्सार्थ उभय-विध होता है। अज्ञात व्याधि में उपशय व्याधि-ज्ञापक तथा व्याधि ज्ञान होने के पश्चात् चिकित्सार्थ प्रयुक्त होता है।

विधि १	औषध १	अन्न २	विहार ३
हेतु विपरीत (१) Chemo- Therapy	शीतज कफज ज्वर मे शुंठी ४	श्रम तथा वातज ज्वर मे मासरस भात ५	दिवास्वाप से उत्पन्न कफाधिक्य मे रात्रिजागरण ६
व्याधि विपरीत (२) Symptoma- tic Treatment विरुद्ध लक्षण	अतिसार के स्तभन के लिये पाठ कुटज, कुष्ठ मे खादिर, प्रमेह मे हरिद्रा ७	अतिसार मे स्तंभनार्थ मसूर ८	उदावर्त्त मे प्रवाहण ९
उभय विपरीत (३) Radical Treatment	वातिक शोथ मे वात एव शोथहर दशमूल १०	वात कफज ग्रहणी मे तक्र तथा पित्तज मे दूध। शीतजन्य वात से उत्पन्न ज्वर मे पेया ११	स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिवा स्वाप से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्षरात्रि जागरण १२
हेतु विपरीतार्थकारी (४)	पित्तप्रधान फोडे पर उष्ण उपनाह १३	पैत्तिक फोडे मे विदाही अन्न १४	वातज उन्माद मे भय दिखलाना १५
व्याधिविपरीतार्थ कारी (५)	छर्दि रोग म वमन कारक मदन फल का प्रयोग १६	अतिसार मे विरेचनार्थं क्षीर १७	छर्दि मे वमन कराने के लिये प्रवाहण १८
उभयविपरीतार्थकारी (६) Homeopathic Treatment or Vaccine & serum therapy	अग्नि से जल जाने पर अगुरुसदृश उष्ण पदार्थों का लेप विषजन्य रोग मे जगम विष में मौल एव मौल विष में जगम विष	मदात्यय मे मद कारक मद्य का सेवन, परिणाम शूल मे मटर के सत्तू का सेवन। अवरोध जन्य उदरशूल मे वात कर भुने चने का सेवन	व्यायाम से उत्पन्न ऊरु स्तभ मे जल मे सतरण रूप व्यायाम

यहाँ पर हेतु-व्याधि-विपरीत अन्न एवं विहार जिसे स्वभावोपरम भी कहते हैं—इस प्रकार की चिकित्सा-पद्धति का सिद्धान्त है। आज प्राकृतिक चिकित्सा (Nature Cure or Naturopathy) में पाया जाता है। वैद्यक ग्रन्थो मे पथ्य का अर्थात् आहार-विहार का बहुत बडा महत्त्व है। लोलिम्बराज वैद्य ने वैद्यजीवन नामक पुस्तक में पथ्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—यदि रोगी केवल पथ्य से रहे तो औपधि की आवश्यकता नही उसी से अच्छा हो जावेगा। इसके विपरीत यदि अपथ्य से रहे तो भी औपधि की आवश्यकता नही क्योकि उसका रोग अच्छा नही होगा। इस प्रकार आहार-विहार का ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है औपधि को अकिंचित् कर माना गया है। यही सिद्धान्त आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा का है—

'पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौपधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौपधनिषेवणैः॥'

विपरीतार्थकारी चिकित्सा का सिद्धान्त होमियोपैथी चिकित्सा-पद्धति के सिद्धान्तो से समता रखते हैं—जैसे, 'समान समान का शामक होता है।' 'विष ही विष का औषध है' (Semelia Semilliasan curentum) यह सिद्धान्त होमियोपैथी चिकित्सा विद्या का है जो अधिकाश मे विपरीतार्थकारी चिकित्सा का प्रतिपादक है। इस प्रकार आयुर्वेद एक ज्ञान है जिसमें बहुविध चिकित्सा-पद्धतियाँ सूत्र रूप मे वर्णित है।

त्रिविध उपशय की कल्पना का प्रयोजन तथा हेतु-विपरीत एवं व्याधि-विपरीत उपक्रमो के भेद—

हेतु-विपरीत उपक्रमो को दोष-विपरीत या दोषप्रत्यनीक भी कहा जाता है। जैसा कि ऊपर मे कहा जा चुका है कि व्याधि एक कार्य है जिसमे हेतु या कारण रूप में, समवायिकारण दोप-प्रकोप, असमवायिकारण दोप-दूष्य सयोग एवं निमित्त कारण के रूप मे मिथ्याहार-विहार हेतु रूप मे आते हैं। अस्तु, हेतुविपरीत चिकित्सा का दोष विपरीत चिकित्सा शब्द से प्रयोग होता है।

वाप्यचन्द्र का कथन है—ज्वर आदि व्याधियो के दूर करने वाले सम्पूर्ण द्रव्य दोपप्रत्यनीक होते है किन्तु दोपप्रत्यनीक औपधान्नविहार नियमितः व्याधिप्रत्यनीक नही होते दोपप्रत्यनीक और व्याधिप्रत्यनीक उपशयो में मुख्य यही भेद हैं। उदाहरणार्थ—वमन एव लंघन कफ दोप का शामक होते हुए भी कफजगुल्म को नष्ट नही करते, प्रत्युत इनका निषेध भी पाया जाता है :—

कफे लंघनसाध्ये तु कर्त्तरि ज्वरगुल्मयोः।
तुल्येऽपि देशकालादौ लंघनं न च सम्मतम्॥

न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं नचापि पाण्डुदररोगपीडितम् ।

(चरक)

अस्तु, दोपप्रत्यनीक कर्म नियमत व्याधिप्रत्यनीक नही होते ।

परन्तु व्याधिप्रत्यनीक या व्याधिहर औपधान्नविहार नियमतः दोष-प्रत्यनीक या दोपहर होते है । ऐसे द्रव्य व्याधि-हर होते हुए व्याधि-जनक दोप का भी शमन करते है । अन्यथा दोप रूप कारण के नाश न होने पर व्याधि रूप कार्य का नाश नही सभव है । यह श्री वाप्यचन्द्र का मत है ।

अन्य आचार्यो ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—कि रोगोत्पादक हेतु या कारण तीन प्रकार के होते है—१ समवायि, २ असमवायि ३ तथा निमित्त। इनमे केवल समवायि या निमित्त कारण के नाश से ही कार्य के नाश का निर्देश करना ठीक नही है, क्योकि असमवायि कारण के नाश से भी कार्य का नाश होता है । उदाहरण के लिये—घट को ले । इसके असमवायिकारण कपालद्वय सयोग है इसके नाश से घट का नाश हो जाता है । दूसरा उदाहरण पट या वस्त्र का लें इसमे असमवायि कारण तन्तुसयोग होता है—इस सयोग के नाश से पट का नाश सभव रहता है । उसी प्रकार रोगोत्पत्ति मे दोप-दूष्यसयोग असमवायि कारण है—इस असमवायि कारण के नाश से रोग का नाश भी सभव है । दोप-दूष्य विशेप सयोग को सम्प्राप्ति (Pathogenesis) कहते है इसके नष्ट होने से रोग दूर हो जाता है । रहे दोप तो वे स्वत या निदानादि के परिवर्जन से दूर हो जाते है ।

'दोपास्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्त्तते' (मधु)

तात्पर्य यह है कि सम्प्राप्ति की निवृत्ति से रोग की निवृत्ति हो जाती है । अब यहाँ पुन शका होती है कि इस प्रकार के सयोग के विनाश होने पर भी दोप-दुष्टि बनी रहने पर व्याधि की शान्ति कैसे स्थिर रह सकती है ? एतदर्थ चरक की उक्ति प्रमाण रूप मे दी जाती है कि 'किसी वस्तु की उत्पत्ति मे कारण की अपेक्षा रहती है विनाश मे नही । फिर भी कुछ विद्वानो के मत से उत्पादक कारणो की निवृत्ति को ही कार्य के नाश का हेतु माना जा सकता है ।'

प्रवृत्तिहेतुर्भूताना न निरोधेऽस्ति कारणम् ।
केचित्त्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्त्तनम् ॥

इसी आधार पर विजयरक्षित जी ने स्पष्ट कहा है 'दोपस्तु स्वत क्रियान्तरेण निवर्त्तते' अर्थात् दोपदुष्टि स्वयमेव या अन्य उपचारो से दूर हो जाती है । इस कथन के अनुसार व्याधि-प्रत्यनीक उपचार दोष-प्रत्यनीक नही होते । और यदि व्याधि-प्रत्यनीक को ही दोप-निवर्त्तक स्वीकार किया जावे तो

हेतु-व्याधि-उभयप्रत्यनीक का पृथक् प्रतिपादन करना दुष्कर हो जायगा। अस्तु, हेतुप्रत्यनीक, व्याधिप्रत्यनीक तथा उभयप्रत्यनीक त्रिविध उपशयो को कल्पना करना आवश्यक हो जाता है।

अस्तु समवायि कारण की प्रधानता मे हेतुप्रत्यनीक, असमवायि कारण की प्रधानता मे व्याधिप्रत्यनीक तथा निमित्त कारण की प्रधानता में उभय-प्रत्यनीक उपशय की आवश्यकता होती है।

यहाँ पर क्षेत्र और बीज (खेत और बीज) का उदाहरण देना विषय को अधिक स्पष्ट कर देता है। उदाहरण के लिये क्षय रोग को लें। क्षय (Tuberculosis) मे हेतु रूप मे (T B bascilus) आता है—इसके सक्रमण से क्षय रोग की उत्पत्ति प्राणी मे होती है। कुछ औषधियाँ ऐसी मानी जाती है जिसका असर सीधे क्षय दण्डाणुवो (T B bascil) पर होती है जैसे, 'स्ट्रेप्टोमाइसिन, (I N H एव Pas) इन की बहुलता से प्रयोग हेतुभूत क्षयदण्डाणुवो को नष्ट करता है। कुछ ऐसी भी औषधियाँ क्षयरोग मे व्यवहृत होती है जो शरीर (क्षेत्र) को सशक्त बनाती है जैसे, पौष्टिक आहार, विश्राम तथा खदिर, स्वर्ण काड लिवर आयल प्रभृति, जीवतिक्ति ए डी युक्त आहार इनके द्वारा शरीर रोगप्रतिरोधक क्षमता (Bodi resistence) इतनी बढ जाती है कि बीज या हेतुभूत क्षयदण्डाणु वृद्धि नही करते और स्वयमेव नष्ट हो जाते है। इस प्रकार प्रथम वर्ग की चिकित्सा हेतुविपरीत, द्वितीयवर्ग की चिकित्सा व्याधिविपरीत होती है। कई बार इन औषधियो का साथ-साथ उपयोग अधिक लाभप्रद होता है एतदर्थ शरीर की क्षमता बढाने के लिये 'सेनेटोरियम ट्रीटमेण्ट' पौष्टिक, आहार तथा बहुविध विटामिन युक्त औषधियो के साथ-ही-साथ क्षयदण्डाणुनाशक औषधियो की भी व्यवस्था करने का विधान है। इस वर्ग की चिकित्सा-पद्धति को हेतु-व्याधि उभयप्रत्यनीक चिकित्सा-विधि कहेगे। इस तरह कही हेतु भी विपरीत, कभी व्याधिविपरीत और कभी उभयविपरीत चिकित्सा की आवश्यकता पडती है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन उपर्युक्त सूत्रो मे आचार्यो ने किया है।

विपरीतार्थकारी उपशय-कथन-प्रयोजन—अब प्रश्न उठता है कि हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा के भीतर विपरीतार्थकारी उपक्रमो का जब समावेश हो जाता है तो उसके पृथक् पाठ करने की क्या आवश्यकता ?

जैसे १ श्लेष्मबहुल छर्दि मे वमन का उपयोग। छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते। वस्तुत हेतुप्रत्यनीक ही चिकित्सा हुई। तो हेतु विपरीतार्थकारी कहना निष्प्रयोजन हुआ।

२. 'प्लुष्टेऽग्निप्रतपनम्, उष्णो गुर्वादिलेपश्च (सु)

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति ।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते ॥

अर्थात् अग्निदग्ध व्रण मे रक्तसचार के वढ जाने से पित्तकोप या पाक नही होता अस्तु, अग्निदग्ध मे शीत क्रिया का निपेध और उष्णोपचार को लाभप्रद वतलाया गया है—

प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्याशु शोणितम् ।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथञ्चन ॥ (सु)

अस्तु, यहाँ पर भी हेतु—व्याधि-विपरीत ही चिकित्सा हुई । फिर विपरीतार्थकारी कहने का क्या प्रयोजन ।

३ इसी प्रकार ऊर्ध्वगामी जगम विप मे अधोगामी स्थावरविप का प्रयोग भी हेतुप्रत्यनीक ही होता है ।

विपं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् ।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम् ॥

४ इसी प्रकार मदात्यय की चिकित्सा मद्यप्रयोग । प्रयुक्त होने वाला मद्य शुद्ध मद्य से नितान्त भिन्न होकर हेतुविपरीत ही होता है । इस मद्य मे नीवू का रस एव चुक्र आदि मिलाकर देने का विधान है—जैसे मद्य १ तोला, नीवू का रस १ तोला और जल १ छटाँक । यदि क्वचित् शुद्ध मद्य का भी मदात्यय मे प्रयोग किया जाता है तो वह भी पूर्व पीतमद्य से पूर्णतया विपरीत गुण वाला होता है । जैसे रूक्ष गुण युक्त माध्वीकादि से उत्पन्न मदात्यय मे पिष्ट आदि स्निग्ध द्रव्यो से निर्मित मद्य । यह भी यथार्थ मे हेतु—विपरीत ही होता है । मदात्यय मे मद्य के द्वारा चिकित्सा करने का विधान करते हुए सुश्रुत ने कहा भी है 'जैसे राजाज्ञा से दण्डित व्यक्ति की पुन राजाज्ञा से ही मुक्ति हो सकती है अन्य से नही उसी प्रकार मद्यपान जनित मदात्यय से भी छुटकारा मद्यपान से हो हो सकता है' ?—

यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद् भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः ।
ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः ॥

५ इसी प्रकार ऊरुस्तंभ चिकित्सा मे जल-प्रतरण भी हेतुप्रत्यनीक ही उपशय है । इसमे 'लिप्त कुम्भकार न्याय' क्रिया होकर जल की शीतता के कारण शरीराग्नि किंचिन्मात्र भी वाहर नही निकलने पाती और अत स्थित देहाग्नि से तप्त होकर पिण्डित कफ और मेद पिघल जाता है—और तैरने का व्यायाम उसको सुखा देता है तथा वायु आवरणरहित हो स्वमार्गगामी हो

अनुपशय कहलाते हैं अथवा जिन औषधादि के उपयोग से रोग की वृद्धि हो उनको अनुपशय कहते हैं। अनुपशय दोष एव रोग दोनो का वर्धक होता है।

अनुपशय व्याधि का बोधक होता है या नही? यदि वह व्याधि विशेष का बोध नही कराता तो निदानपंचक मे उसका नामग्रहण निरर्थक है और यदि बोधक हो तो निदान–पचक के पाँच की सख्या से अतिरेक हो जाता है अर्थात् निदान के साधन पाँच न होकर छ. हो जावेगा। इसका समाधान यह है कि यह रोगनिश्चय का छठाँ हेतु नही है बल्कि निदान का ही एक भेद है जैसा कि निदान मे कहा गया है 'निदानोक्तानुपशय' अर्थात् निदान रूप से कहे गये आहाराचार तथा कालादि द्वारा ही अनुपशय या दु ख होता है।

निदानोक्तेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्तानुपशयः।

निदान से साम्य होने के कारण उपशय का अन्तर्भाव निदान मे ही हो जाता है। अत अनुपशय को षष्ठ रोगविज्ञानोपाय नही कह सकते। चरक मे भी लिखा है 'गूढलिङ्गव्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' गूढलिङ्ग वाले व्याधि की उपशयानुपशय से परीक्षा करे। निदान का भी यही कार्य है। अस्तु अनुपशय का निदान मे ही अन्तर्भाव समझना चाहिये।

वस्तुत अनुपशय का स्वतन्त्र अस्तित्व नही, उपशय कहने से ही तद् विपरीत अनुपशय शब्द का भी ग्रहण हो जाता है। ये दोनो साथ प्रयोग मे आने वाले शब्द हैं। जैसे, आमवात रोग के विनिश्चय मे यदि 'सैलिसिलेट' के उपयोग से शमन हुआ तो वह उपशय कहलायेगा, परन्तु यदि विपरीत क्रिया हुई तो वह अनुपशय कहा जावेगा।

सम्प्राप्ति-लक्षण
(Defırati on of Pathogeuesis)

निरुक्ति—

१ यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागति.।

(वा नि १)

२ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरम्।

(चर नि १)

३ जन्मापि ज्ञानकारणम् अजातस्य ज्ञानाभावात्।
नहि निदानादिबोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वं किं बोधविषयत्वेन।

(भट्टारहरिचन्द्र)

४ जात्यादिभिः शब्दैर्या अभिधीयते सा सम्प्राप्तिः ।

५. न चास्ति नियमो जातमात्रमेव विज्ञायते अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात् । अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते । वृष्ट्यादिकं तु भविष्यजन्मावच्छिन्नमेव । यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव तथापि न व्याधिजन्मसम्प्राप्तिः । जन्मवदालोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः, तैरपि विना ज्ञानाभावात् ।

६ तस्माद्दोषेतिकर्त्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः न तु केवलं जन्मेति ।

७ दुष्टेन दोषेण आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिः ।

(मधुकोष)

८ सं+प्राप्तिः=सम्यक् प्राप्तिः ।

(उत्पत्तिक्रम)

९ रोगोत्पादक कुपित दोष की दुष्टि से लेकर रोगोत्पत्ति होने तक शरीर में जितने परिवर्त्तन होते हैं वे सब सम्प्राप्ति है ।

१० शृङ्खलासदृश शरीरान्तर्गत वैकारिक परिवर्त्तन, जिसमे संचय से लेकर भेद पर्यन्त रोगजन्म का वर्णन हो, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं । अंग्रेजी में इसे (Pathogenesis) कहते हैं । उदाहरण जैसे—ज्वर का चरकोक्त निदान ।

सम्प्राप्ति का निर्दुष्ट लक्षण—रोग की सम्यक् प्राप्ति ही सम्प्राप्ति है । निदान-सेवन के अनन्तर रोगोत्पत्ति होने तक शरीरान्तर्गत जितने परिवर्तन होते हैं वे सम्प्राप्ति नाम से शास्त्र मे अभिहित हैं । इसी निमित्त वाग्भट ने इसकी परिभाषा या लक्षण इस प्रकार दिया है ।

'दोष जिस प्रकार के निदानो से दूषित होकर विसर्पण करता हुआ शरीरगत धातुओं को दूषित कर रोग को उत्पन्न करता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं । जाति, आगति इसके पर्याय हैं ।' इस प्रकार सुश्रुतोक्त 'संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयं व्यक्तिभेदञ्च' मे सम्पूर्ण विकार-परम्परा का समावेश सम्प्राप्ति में हो जाता है । अर्थात् निदान-सेवन के अनन्तर जिन शृंखला सदृश परिवर्त्तनो के फलस्वरूप रोग की उत्पत्ति होती है उस सम्पूर्ण परम्परा का वर्णन सम्प्राप्ति में पाया जाता है । इस विषय का ज्ञान रोगविनिश्चय तथा चिकित्सा में सहायक होता है ।

आधुनिक युग की वैज्ञानिक भाषा मे शरीरान्तर्गत वैकारिक परिवर्त्तन (Pathogenesis) को सम्प्राप्ति कहते है। सम्प्राप्ति-विमर्श का ज्ञान आज के युग मे बहुत विकसित रूप मे प्राप्त होता है। चिकित्सा मे यह एक स्वतत्र विषय के रूप मे प्राप्त होता है। इस विषय पर (Bookson Pathology) अर्थात् वैकारिकी या विकृति विज्ञान के ऊपर बडी बडी पुस्तको की रचना हो गई है। इसके सामान्य, विशिष्ट नैदानिक, तृणाणवीय, पाराश्रयिक प्रभृति कई भेदो के ऊपर स्वतंत्र पुस्तके पाई जाती है। फलतः यह विकृतिविज्ञान का विषय बहुत वृहत् हो गया है।

रोग के प्रधान या सहायभूत प्रधान या सहायक पूर्वरोग, लिङ्ग, आयु, देश काल, जीवाणु या आहारविहार एव तज्जन्य शरीरान्तर्गत परिवर्त्तनो की सम्पूर्ण परम्परा का सम्प्राप्ति नाम से उल्लेख इस विषय के अतर्गत होता है।

आयुर्वेद के ग्रन्थो मे सूत्ररूप मे इस विषय का वर्णन पाया जाता है। इस का लक्षण करते हुए विजयरक्षित जी ने मधुकोष टीका मे लिखा है.—

दोषो की दुष्टि प्राकृत, वैकृत, अनुबन्ध्य (प्रधान) रूप या अनुबधरूप (गौण), एकदोषदुष्टि, द्विदोषदुष्टि या समस्तदोषदुष्टि भेद से नाना प्रकार की होती है। यह दोषदुष्टि दोषप्रकोपक समस्त या अल्प कारणो से हो सकती है। इस प्रकार प्रबल या स्वल्पबल दूषित दोष के द्वारा रोग की उत्पत्ति होने को सम्प्राप्ति कहते है।

ऊर्ध्व-अध -तिर्यक् भेद से दोषो की गति अनेक प्रकार की हो सकती है—दोष शरीर के विभिन्न धातुओ को दूषित करके किसी विशिष्ट धातु या अवयव मे सश्रित होकर रूक्षता, क्षोभ, विलन्नता, मृदुता, सकोच, शोथ आदि एक या अनेक विकारो को पैदा कर सकता है। इन विकारो के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले लक्षण (Symp Toms) या लक्षण–समूह (Syndroone) को रोग कहते है और दोष की दुष्टि से लेकर रोगोत्पत्ति पर्यन्त होने वाले सम्पूर्ण परिवर्त्तनो को सम्प्राप्ति कहते है।

'दुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिः।'

पर्यायकथन—शास्त्र मे लक्षण तथा व्यवहार के लिये सम्प्राप्ति के जाति तथा आगति पर्याय पाया जाता है। जाति का अर्थ जन्म और आगति का अर्थ आगमन होता है। 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से जाति शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है व्याधिजन्म। किसी वस्तु का जन्म उसके ज्ञान मे कारण होता है उसी प्रकार व्याधि का जन्म भी व्याधि के ज्ञान मे कारण होता है। अर्थात्

व्याधि उसके जन्म के द्वारा जानी जाती है। निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय भी व्याधि का बोध कराते है परन्तु सम्प्राप्ति मे भी उनसे भेद है। निदानादि व्याधि के ज्ञापक होते है, परन्तु सम्प्राप्ति ज्ञाप्य अर्थात् ज्ञान का विषय है। जिस प्रकार किसी वस्तु की सत्ता उसके ज्ञान मे कारण है उसी प्रकार व्याधिजन्म अर्थात् रोग की सत्ता उसके ज्ञान में कारण है सत्ता सम्प्राप्ति ही है। अस्तु यह कहें कि व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है तो कथन ठीक मालूम होता है।

कुछ आचार्यो का मत इसके विरुद्ध है। उनके कथनानुसार 'व्याधिजन्म को ही सम्प्राप्ति नही कह सकते' क्योकि ऐसा कहने से सम्प्राप्ति, फिर प्रकाश एव चक्षुरिन्द्रिय के समान ही रोग ज्ञान में सामान्य ज्ञान के रूप मे हो जावेगी। अर्थात् रोग के जानने मे प्रकाश, चक्षु आदि इन्द्रियो का होना परमावश्यक है इसके अतिरिक्त रोगदर्शन के निमित्त व्यवहृत होने वाले विविध साधनो की भी आवश्यकता पडती है इन साधनो के समान ही उपाय एक सम्प्राप्ति का भी होगा जिस के द्वारा रोग को जाना जावे। परन्तु चिकित्सा मे प्रकाश, चक्षु तथा रोग-दर्शन के साधनो का कोई भी महत्त्व नही है, उसी प्रकार सम्प्राप्ति का रोग भी चिकित्सा की दृष्टि से कोई महत्त्व नही रह जावेगा। परिणामस्वरूप सम्प्राप्ति का वर्णन भी अनावश्यक हो जावेगा। क्योकि पच निदान मे तो उन्ही उपायो का कथन अपेक्षित है जिनकी चिकित्सा में उपादेयता हो, निदान-पूर्वरूप-रूपादि अन्य रोग विज्ञानोपायो का रोगज्ञापक होने के साथ-साथ अंतिम एव परम प्रयोजन चिकित्सा विशेष ही स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी कोई नियम नही कि उत्पन्न वस्तु का ही ज्ञान हो क्योकि मेघदर्शन से भावी वर्षा का ज्ञान के समान अनुत्पन्न व्याधि का निदान, पूर्वरूप आदि के द्वारा, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, व्याधि का ज्ञान सभव रहता है।

जात का अर्थ जन्मयुक्त मानते है, वर्षा भावी होते हुए भी जन्मावच्छिन्न ही है अर्थात् भावी जन्मयुक्त है। इसी निमित्त उसका पूर्वरूपो से ज्ञान करना सभव भी रहता है। जिस वस्तु का त्रिकाल में (भूत-भविष्य या वर्त्तमान मे) जन्म नही होता उसका जानना भी संभव नही रहता। इसलिये जन्म भी ज्ञान मे कारण होता है। तब भी व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति मानना ठीक नही है अन्यथा जन्म के समान चक्षु आदि को भी कारण स्वीकार करना पड़ेगा क्योकि उनके बिना भी व्याधि का पूर्ण ज्ञान नही होता है।

अस्तु सम्प्राप्ति का लक्षण केवल 'व्याधिजन्म एवं सम्प्राप्ति' इतना ही करना पर्याप्त नही होगा प्रत्युत सम्प्राप्ति का निर्दुष्ट लक्षण इस प्रकार करना होगा—'तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तव्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिरिति

चक्रपाणि —ऐसा मानना न्यायोचित है। अर्थात् व्याधि उत्पादक दोष के विविध-व्यापारयुक्त (परिणाम युक्त) व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है—ऐसा कहना चाहिये। केवल व्याधिजन्म नही। इसी लिये वाग्भट ने दोषदुष्टि एव उनके परिणामो से युक्त व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति बतलाई है जैसा कि निरुक्त के प्रथम श्लोक से स्पष्ट है। फलत विशिष्ट प्रकार के व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति कहते है—सामान्य व्याधिजन्म को (नही)

इस प्रकार की सम्प्राप्ति व्याधि की यथार्थ ज्ञापिका होती है उसका व्याधि के शमनार्थ चिकित्सा मे भी वैशिष्ट्य आता है जैसा कि ज्वर की सम्प्राप्ति से आमाशयदुष्टि एव अग्निनाश का ज्ञान होने पर लघन, पाचन, स्वेदन प्रभृति उपचारो की उपयोगिता स्वयम् प्रकट हो जाती है।

अब शका होती है कि इस प्रकार की सम्प्राप्ति तो दोषो का अवान्तर व्यापार ही हुई अत दोषो के दुष्टिकथन से ही काम चल सकता है तो फिर अलग से इसके वर्णन का क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर यह है कि चिकित्सा विशेष के लिये इसका पृथक् वर्णन अपेक्षित है। जिस प्रकार पूर्वरूप और रूप दोनो मे व्याधिज्ञापन में समानता होते हुए भी चिकित्साविशेष के लिये पृथक्-पृथक् पाठ किया गया है। पूर्वरूपावस्था या रूपावस्था की चिकित्सा मे परस्पर भेद होता है। एक ही रोग की पूर्वावस्था मे दी गई चिकित्सा रूपावस्था मे अनुपयुक्त हो सकती है उसी प्रकार रूपावस्था की चिकित्सा पूर्वरूपावस्था मे अनुपयोज्य है, इसी प्रकार सम्प्राप्ति का भी चिकित्सा मे अपना वैशिष्ट्य है।

प्रतिश्याय के पूर्वरूप मे अनूर्जताहर औषधियाँ (Anti bristamin drugs) उत्तम कार्य करती है—जैसे हरिद्रा और गुड। परन्तु प्रतिश्याय हो जाने पर अर्थात् रूपावस्था मे इनका कोई विशेष महत्त्व नही रहता। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

ज्वरसम्प्राप्ति उदाहरण—

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणः स्थानमूष्मणा सह मिश्रीभूतमाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमवेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवल-शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति।

(च नि १)

यह वातिकज्वर की सम्प्राप्ति का कथन है, इसी प्रकार पैत्तिकादि ज्वरो की सम्प्राप्ति का भी वर्णन पाया जाता है। आमाशय कफ का स्थान है ज्वरितावस्था मे दोष भी इसमे आश्रित रहते है। परिणामस्वरूप पाचक रसो की हानि तथा

रस और स्वेदवह स्रोतो में अवरोध उत्पन्न होता है। अतएव चिकित्सा में सर्वप्रथम 'स्थानं जयेद्धि पूर्वन्तु स्थानस्थस्याविरोधत ' इस वचन के अनुसार लंघन कराकर पाचन, एव स्रोतोविरोध दूर करने के लिये स्वेदन आदि का प्रयोग कराया जाता है ।

सम्प्राप्तिभेद

(Variaties of pathogenesis)

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषत ।
सा भिद्यते यथात्रैव वक्ष्यतेऽष्टौ ज्वरा इति ।
दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत ।
हेत्वादिकार्त्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम ।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम ।

(वा नि १)

संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल तथा काल भेद से सम्प्राप्ति के पाँच वर्ग होते है। उनके क्रमश लक्षण तथा उपभेद नीचे दिये जा रहे है।

संख्या-सम्प्राप्ति—रोगो का भेद करके गणना करने के साधन को संख्या कहते है—जैसे 'अष्टौ ज्वरा षट् अतिसारा पञ्च कासा. पञ्च श्वासा पञ्च हिक्का विंशतिर्मेहा. विंशति क्रिमिजातय.' इत्यादि। इन संख्याओ का तान्त्रिक माहात्म्य है। और संख्याये भी निश्चित रहती है। स्वेच्छानुसार उनके उपभेदो की कल्पना नही की जा सकती है। परन्तु आदि संख्या या शास्त्रीय संख्या एक ही रहती है। यह सीमित, निश्चित एव शास्त्र के द्वारा निर्धारित होती है।

विकल्प सम्प्राप्ति—व्याधि मे मिले हुए दोषो की अंशांशकल्पना।

'समवेताना पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थे ।'

(च नि १)।

यदि व्याधि एकदोषज हो तब तो इस भेदकल्पना की आवश्यकता नही रहती, परन्तु व्याधि के संसृष्ट (द्विदोषज या त्रिदोषज) होने पर दोष के अंशांशकल्पना की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

प्राधान्य— प्रधान या अप्रधान या स्वतन्त्र या परतन्त्र भेद से सम्प्राप्ति भी दो प्रकार की होती है। रोग मे रोगोत्पादक दोष की प्रधानता के ऊपर अथवा स्वतन्त्रता या परतन्त्रता के आधार तर-तम भेद से प्राधान्य या अप्राधान्य सम्प्राप्ति का निर्णय करना होता है। इसी आशय का भाव निम्नलिखित उक्तियो से प्राप्त होता है।

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तम इति । (च नि १)

स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद् विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः । (चरक)

अनुबन्ध्यःप्रधानम् अनुबन्धोऽप्रधानम् ।

(विजयरक्षित)

इस तरह ज्वर, अतिसार, पाण्डु आदि द्वन्द्वज या त्रिदोषज रोगो मे जिस दोप की प्रधानता होगी, प्राधान्य सम्प्राप्ति भी उसी के नाम से व्यवहृत होगी। चिकित्सा मे उपक्रम का निर्धारण भी उसी के आधार पर किया जावेगा। प्राधान्य के विपरीत अप्राधान्य सम्प्राप्ति होती है।

वलसम्प्राप्ति—निदान, पूर्वरूप और रूपो की सम्पूर्णता या अल्पता के आधार पर वलावल का ज्ञान जिससे होता है उसे वलरूप सम्प्राप्ति कहते है। अर्थात् हेतु, पूर्वरूप और रूप की अधिकता वाली व्याधि को सवल तथा हेत्वादि की अल्पता रहने से व्याधि को निर्वल समझना चाहिये।

कालसम्प्राप्ति—जिस सम्प्राप्ति के द्वारा दोपानुसार रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन के पाक के साथ व्याधि की वृद्धि या ह्रास निर्धारण होता है उसे काल सम्प्राप्ति कहते हैं।

वलकालविशेपःपुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्रकालविधिविनियतो भवति ।
(च नि १)

अव सम्प्राप्ति के पाँच प्रकारो का विशद वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

संख्यासम्प्राप्ति—विविध दोप एव आगन्तुक कारणो से ज्वर आठ प्रकार का होता है। वात-पित्त-कफ से स्वतन्त्र तीन, वातपित्त, पित्तकफ एव कफवात से द्वन्द्वज तीन, तीनो से मिश्रित सन्निपातज एक तथा आगन्तुक एक कुल मिलाकर आठ होते है। सन्निपातज ज्वर एक होते हुए वृद्ध दोपो के विचार से सन्निपात के १३ भेद हो जाते है—

द्वयुल्वणैकोल्वणैः पट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च पट् ।
समश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥ (च सू १७)

द्वयुल्वण—
- वात वृद्ध पित्त-कफ वृद्धतर ।
- पित्त वृद्ध कफ-वात वृद्धतर ।
- कफ वृद्ध वात-पित्त वृद्धतर ।

एकोल्वण—
- वात-पित्त वृद्ध कफ वृद्धतर ।
- पित्त-कफ वृद्ध वात वृद्धतर ।
- कफ-वात वृद्ध पित्त वृद्धतर ।

हीन	मध्य	अधिक
वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम
वात	पित्त	कफ
वात	कफ	पित्त
पित्त	कफ	वात
पित्त	वात	कफ
कफ	वात	पित्त
कफ	पित्त	वात

वात पित्त कफ समवृद्ध १३ कुल

इसी प्रकार काम, शोक, भय, आघात आदि विविध कारणो से उत्पन्न होने पर भी आगन्तुकता की सामान्यता के कारण सबो का एक ही आगन्तुक के भीतर समावेश हो जाता है। इस प्रकार भेदोपभेद होते हुए भी ज्वर की सख्या एक ही स्थिर अर्थात् आठ ही रही। संख्या—सम्प्राप्ति कथन का यही प्रयोजन है।

विकल्प-संप्राप्ति—समवेत दोषो की अशाश कल्पना को विकल्प कहते है। इस अंशाश कल्पना को समझने के लिये दोष-गुणो का समझना आवश्यक है क्योकि गुणो के ऊपर अशाशकल्पना की जाती है।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
(वातगुणा)

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
(पित्तगुणा.)

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
(श्लेष्मगुणाः)

इन गुणसमूहो के एक, दो, तीन या समस्त अशो से वातादि के प्रकोप का निश्चय करना ही अशाश-कल्पना है। कितने प्रकोपक गुणो से दोष के कितने अश का कोप हुआ है—इस प्रकार का विकल्प, अशाशकल्पना है। द्रव्य एवं उनके रसो में दोषो के ही समान गुण रहते है। अत प्रकोपक द्रव्य में जितने प्रकोपक अंश रहते है उनसे ही दोष का प्रकोप होता है।

कषायरस एवं कलाय—रौक्ष्य, शैत्य, वैशद्य एवं लाघवादि गुणो से वात को सब अंशो में बढाता है। अति या वृद्धतम।

तण्डुलीयक—रूक्ष, शीत एवं लघु होने से वात का वर्धक है। इक्षु रूक्षता एव शीत गुणो से वात को वढाता है (मध्य)। सीधु केवल रूक्षता गुण से वात को वटाना है (हीन)।

कटुरस एवं मद्य मे पित्तवर्धक सभी अश विद्यमान है अत वह पित्त का सर्वांश मे वर्धक है (अति)। हिंगु-कटु तीक्ष्ण एव उष्ण इन तीन गुणो से पित्त का वर्धक होता है (मध्य)। अर्जवायन—उष्णता एवं तीक्ष्णता के गुण से तिल केवल उष्णता के कारण पित्त का वर्धक है (हीन)।

मधुररस एवं माहिपक्षीर सर्वांश मे कफवर्धक होते है (अति)। स्नेह, गुरु एव मृदु होने से खिरनी कफप्रकोपक है (मध्य)। कसेरु शीत एव गुरु के कारण एव केवल शीत गुण के कारण क्षीरीवृक्षो के फल कफवर्धक होते है (हीन)।

काल-वय या आयु—अन्तिम भाग वृद्धावस्था मे वात, मध्यायु मे पित्त एवं आदि वाल्यावस्था मे कफ, दिन के अन्त मे वायु, मध्य मे पित्त एवं प्रारम्भ या प्रात काल मे कफ, रात्रि के अन्त मे वात, मध्य मे पित्त एव प्रारम्भ भाग मे वात, भोजन की परिपक्वावस्था मे वात, पच्यमानावस्था मे पित्त एव खाने के साथ कफ की वृद्धि, वसन्त, शरद् और वर्षा ऋतुवो मे क्रमश कफ, पित्त एव वायु का कोप तथा ऋतुसन्धियो मे दोपप्रकोप शास्त्र प्रसिद्ध है—

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्ताना तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्॥
ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः।

(वाग्भट)

संख्याभेद या विधि—'विधिर्नाम द्विविधा व्याधय निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोपभेदेन चतुर्विधा साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन।' वाग्भट ने इस विधि का उल्लेख पृथक् नही किया है। उन्होने सख्या मे ही विधि का ग्रहण कर लिया है। अस्तु विधि और सख्या मे कोई पार्थक्य नही है। शास्त्र मे व्यवहार भी पर्याय नाम से इन दोनो का हुआ है। परन्तु वाप्यचन्द्र जी का कथन है कि नही इनमे भेद है 'विधिसख्ययोश्चाय भेद।' विधि का अर्थ प्रकारभेद या उपभेद है और सख्या का वडे वर्गो या भेदो मे व्यवहार पाया जाता है—जैसे दोषभेद से रक्तपित्त का वातिक; पैत्तिक, श्लैष्मिक, ससर्गज एव त्रिदोप भेद–भेद के वर्गो मे आता है और' विविध रक्तपित्तम् तिर्यगूर्ध्वाधोभेदात्, 'यह अवान्तर भेद विधि के वर्ग मे। सख्याभेद सीमित, निश्चित एव शास्त्र से निर्धारित रहती है।

विधिभेद प्रकारभेद हैं और भेदविवक्षा के ऊपर आवृत है। रोग में चिकित्सा की दृष्टि से दोनों का कथन अपेक्षित रहता है।

चक्रपाणि का भी वचन है 'संख्यायगृहीते व्याधिप्रकारोऽयं विधिशब्दो वर्तनीयः।' अर्थात् संख्या आदि में अन्तर्भाव न होने योग्य व्याधि के विशिष्ट भेदों का निरूपण करने के लिये विधि शब्द का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार वाग्भट तथा उनके अनुयायी माधवकरने जो संख्या में ही विधि का अन्तर्भाव कर लिया है वह भ्रमपूर्ण है। ऐसा विजयरक्षित को भी अभिमत है क्योंकि नैयायिकों का भी सिद्धान्त है कि 'सामान्येन धर्मेण परिग्रहो भेदाना यत्र क्रियते स विधि संख्या तु भेदमात्रम् 'अर्थात् जहाँ विभिन्न भेदों का निर्णय समान धर्म से किया जाता है वहाँ विधि शब्द का प्रयोग करना चाहिये। केवल भेद प्रदर्शित करने के लिये संख्या शब्द का प्रयोग करना चाहिये। वैयाकरण लोग भी संख्या और विधि में भेद मानते हैं।

'अन्वयवान् प्रकारो निरन्वयो भेद।' अर्थात् समान जाति में ही अवान्तर धर्म के सम्बन्ध से भेद का विधि (प्रकार) एवं समान और असमान जाति में भेदमात्रसूचक संख्या का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ चार पशु कहने से गाय भैंस, बकरी, आदि सब का बोध हो सकता है। अत यहाँ विजातीय होने के कारण, भेदमात्र का ही बोध होता है जिससे केवल संख्या का प्रयोग होता है। परन्तु जहाँ काली एवं श्वेत दो प्रकार की गायें हैं वहाँ पर श्वेतत्व और कृष्णत्व भेद समान जाति में ही किया गया है अत प्रकार या विधि शब्द का प्रयोग होगा।

विधि एवं संख्या का भेद निरूपण करते हुए आचार्य श्री गंगाधर जी कविराज ने भी लिखा है 'अत्र विधिस्तु प्रकार संख्या तु भेदमात्रम् सजातीयेषु पञ्च ब्राह्मणक्षत्रिया। प्रकारस्तु सजातीयेषु भिन्नेषु धर्मान्तरेण उपपत्ति। तात्पर्य यह है कि विशेषण या धर्मविशिष्ट के आधार पर भेद करने के लिये विधि शब्द का प्रयोग किया जाता है—यथा 'निजागन्तुविभागेन रोगास्तु द्विविधा स्मृता।' यहाँ पर रोग विशेष्य और निजागन्तु विशेषण। यहाँ पर इन दो विशेषणों को ही आधार मानकर रोग का पार्थक्य किया गया है। यहाँ पर विधि शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार यह विधि का ही उदाहरण है।

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात् तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥

परन्तु जहाँ भेदमात्र अभीष्ट है वहाँ केवल संख्या का ही प्रयोग करते हैं—जैसे 'पञ्च गुल्मा., सप्त कुष्ठानि' आदि। जहाँ ज्वर आदि को विशेष्य

मानकर विशेषणो के द्वारा पृथक्करण किया जाता है वहाँ विधि या प्रकार शब्द का प्रयोग होता है। अत: सख्या तथा प्रकार दोनो का उल्लेख करना न्यायोचित हैं, विधि एव सख्या दोनो को भिन्न मानना ठीक है। यदि दोनो को एक ही मान ले तो व्यवहार मे भी ज्वर के द्विविध, त्रिविध एव अष्टविध का साथ ही उल्लेख करना होगा जो असगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त विधिरूप सम्प्राप्ति के परिणाम तथा संख्यारूप सम्प्राप्ति के परिणाम मे भी भेद होता है। जैसे ऊर्ध्वगरक्तपित्त मे अधोमार्ग से दोप के हरण करने से शान्ति मिलती है ऊर्ध्व हरण से नही, उसी प्रकार अधोग रक्तपित्त मे ऊर्ध्व मार्ग से दोपहरण प्रशस्त अधोमार्ग से नही। यह ज्ञान सख्या एव विकल्प सम्प्राप्ति के पृथक्-पृथक् निर्देश करने से ही सम्भव रहता है।

विकल्प या अशाश कल्पना से ही यदि व्याधिभेद करना सम्भव रहता तो फिर सख्यासम्प्राप्ति से पृथक् करण की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है—कि संख्यासम्प्राप्ति से स्थूल विभेद दोपों का हो जाता है, परन्तु उनके सूक्ष्म अंशाशो का भेद विकल्प से ही करना सम्भव है। अत. सख्या तथा विकल्प दोनो चिकित्सा के उपक्रमो मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अस्तु दोनो का वर्णन अपेक्षित है।

आधुनिक परिभापाओ की दृष्टि से विचार किया जावे तो सख्या से Main classification of the Diseases प्रकार से tppes or subclassification of the Diseases, प्राधान्य से Main changs, अप्राधान्य से Secondry changes (Main or secondary defects), वल एवं विकल्प से Mode of on sef of the disease or Intesity of Disease or pathogenesis, काल age Timefactor in diseases आदि का बोध होता है। इस तरह से विचार करने का उद्देश्य (Exlent of damage in a particular disease) रोग मे किस सीमा तक किसी विकार मे क्षति हुई है, इस वात की जानकारी हासिल करना होता है। फिर तदनुकूल उपचार की व्यवस्था करना चिकित्सक का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार सम्प्राप्ति भेदो का कथन निदान एव चिकित्सा की दृष्टि से वडा उपयोगी होता है।

उपसंहार

रोगोत्पत्ति मे दोष की कारणता

१ सर्वेपामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥

२. नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद् विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्॥
३. विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः॥
४. आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति।

सभी रोगों का मूल कारण प्रकुपित दोष है। इस दोषप्रकोपक का भी कारण अनेक प्रकार के अहित पदार्थों का सेवन (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम) ही है। अभिघातज अणुजीवों के उपसर्ग से होने वाले रोग आगन्तुक है—उनमें उत्पत्ति काल में दोषप्रकार यद्यपि कारण नहीं होता तथापि आगन्तुक कारणों का उपस्थिति के पश्चात् दोषप्रकोप होकर व्याधि की उत्पत्ति होती है लिखा है 'उत्पन्नद्रव्य गुणयोगवत्' अर्थात् सद्य उत्पन्न द्रव्य एक क्षण के लिये निर्गुण एवं क्रियारहित रहता है तथापि भावी गुण एव क्रिया की कल्पना से उत्पन्न द्रव्य को भी क्रिया और गुण से युक्त मान लिया जाता है। फलत आगन्तुक रोगों मे उत्पत्ति के पश्चात् दोषसम्बन्ध होता है और वे भी दोषजात ही रोग हो जाते हैं। इस ससार के यावत् शारीरिक रोगों के मूल दोष ही है। अत सर्वप्रथम उनकी परिभाषा एवं संख्या का ज्ञान कर लेना परमावश्यक है।

वातः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते तर्पयन्ति च॥ (वा०)।

दोष—१ मलिनीकरणान्मलाः।
शरीर को मलिन करने के कारण दोषों को मल कहते है।
२ दूषणाद्दोषाः।
३ देहधारणात् धातवः।
} क्रिया की दृष्टि से शरीर का दूषण करने से दोष और देह का धारण करने से ये धातु कहलाते हैं।

लक्षण—'दूषकत्व दोषत्वम्'—शरीर के धातुवों को दूषित करने वाले तत्त्वों को दोष कहा जाता है। यदि ऐसी परिभाषा की जावे तो फिर रस-रक्तादि धातु भी स्वयं दूषित होकर एक दूसरे को दूषित करते हैं, वे भी दोषो की श्रेणी में ही आ जायेंगे—अतः इनकी निवृत्ति के लिये पूर्व परिभाषा में कुछ विशेषण जोड़ना आवश्यक है—एतदर्थ 'स्वातन्त्र्येण दूषकत्व दोषत्वम्' इस प्रकार का कथन अधिक समीचीन है अर्थात् जो तत्त्व स्वतंत्रतया शरीरधातुओं के दूषक होवे वे दोष है।

कुछ आचार्यो ने पुन इस लक्षण की विप्रतिपत्ति की है। उन्होने कहा कि 'स्वातन्त्र्य' शब्द का क्या तात्पर्य है दोषान्तरनिरपेक्ष (अन्य दोपो की अपेक्षा न करना) या हेत्वन्तरनिरपेक्ष (अन्य कारणो की अपेक्षा न रखते हुए दुष्टि) यदि प्रथम अर्थ लिया जावे तो दोप की कोटि मे केवल वायु ही आवेगा पित्त तथा कफ नही क्योकि शास्त्र मे उल्लेख मिलता है कि पित्त और कफ पगु हे केवल वायु ही गतिशील है वही खीचकर कफ एव पित्त को ले जाता और उन से रोगोत्पत्ति कराता हे —'पित्त पगु कफ पगु पगवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥' इस प्रकार पित्त एव कफ दोप का वातसापेक्ष्य सिद्ध है। यदि द्वितीय अर्थ लिया जावे अर्थात् हेत्वन्तरनिरपेक्ष दूषकत्व माना जावे तो फिर स्वय वात भी दोपकोटि मे नही आ सकता क्योकि वह भी वात-प्रकोपक निदान की अपेक्षा रखता है। अत हेत्वन्तरनिरपेक्ष भी दोष का दूपकत्व नही हो सकता है। अस्तु, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एव असम्भव दोषो से विरहित दोप का लक्षण इस प्रकार से करना होगा—

'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोपत्वम्।'

अर्थात् 'जो तत्त्व प्रकृति के आरभक होते हुए दूष्यो की दुष्टि करते है वे दोप कहलाते है।' प्रकृत्यारभक दोप ही होते हैं—चरक का वचन है– दोषो के अनुकूल ही शरीर की प्रकृति का निर्माण होता है। वाग्भट ने भी कहा हे कि जन्म के आदि या गर्भ मे शुक्र-शोणित मे प्रकृति का भी समावेश होता है—जैसा कि विपक्रमियो का जन्म से विष मे उद्भव होता है।

> दोषानुशायिता ह्येपादेहप्रकृतिरुच्यते। (चर)
> शुक्रार्त्तवस्थैर्जन्मादौ विषणेव विपक्रिमेः ॥ (वा)
> ततः सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या केचिद् भवन्ति। (चरक वि ८)

इस प्रकार दोपो से पृथक्-पृथक्, द्वन्द्वज तथा सन्निपातज भेद से सप्त प्रकृतियो का उल्लेख शास्त्र मे पाया जाता है।

दोप एवं प्रकृति में भेद—प्रकृति एव रोग दोनो ही दोपज है। किन्तु दोनो मे अन्तर है। अपथ्य सेवन पर अधिक कष्ट नही पहुँचाती, परन्तु रोग मे अपथ्य सेवन अत्यधिक हानिप्रद होता है। प्रकृति स्वभाव है उससे कोई शरीर को बाधा नही परन्तु रोग विकृति या विकार है उनसे शरीर को कष्ट पहुँचता है। प्रकृति मनुष्य के Temperament बोध होता है—

अपेक्षा इसमे विशेषता यह है कि यह कई वार दोप स्वरूप का भी हो सकता है। अस्तु, इसका अपना विशिष्ट स्थान है। यूनानी वैद्यक मे भी रक्त को दोष माना गया है। फिर भी वैद्यक शास्त्र मे दोप तीन है—रक्त दोष नही दूष्य ही है। व्रणो मे प्राय शोणितदुष्टि होती है। अस्तु, सुश्रुत ने व्यवहार मात्र के लिये दोपसदृश माना है—सिद्धान्तत दोष नही माना है जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है—'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतव ।' ये दोष कारणापेक्षी है, अहित-सेवन से कुपित होकर रोगोत्पत्ति करते है।

रोगोत्पत्ति में रोग की कारणता—चरक ने सम्पूर्ण रोगोत्पादक निदान को असात्म्येन्द्रियार्थसयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम इन तीन विभागो मे बाँटा है। परन्तु रोग भी रोगोत्पादक होते है —यथा—

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते।
तद्यथा ज्वरसंतापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ॥

तो क्या रोग को भी निदान मानकर चार वर्ग निदान का करना उचित है ? इसका नकारात्मक उत्तर शास्त्रकारो ने दिया है। शास्त्रकारो का कथन है कि चरकोक्त त्रिविध निदान का विषय सम्पूर्ण रोगसमूह के साथ सम्बद्ध है, परन्तु रोग रूप निदान का विपय विशिष्ट रोग है। सभी रोग से रोग उत्पन्न नही होते। अत चतुर्थ निदान नही मानना चाहिये। इसे अपवाद रूप मे स्वीकार करना चाहिये अथवा रोग से रोगोत्पत्ति का होना भी त्रिविध से अतिरिक्त वस्तु है, ऐसा नही समझना चाहिये—क्योकि जब ज्वर आदि व्याधि मे त्रिविध कारणो की अत्यधिकता नही होती तब तक वे रक्तपित्त-सदृश रोगो को उत्पन्न नही कर सकते। अत साक्षात् या परम्परया त्रिविध हेतु ही व्याधि की उत्पत्ति मे कारण होता है।

ये रोगोत्पादक रोग दो प्रकार के होते है। कुछ दूसरे रोग को पैदा करके स्वय शान्त हो जाते है उन्हे एकार्थकारी किन्तु कुछ रोगान्तर उत्पन्न करके भी बने रहते है उन्हे उभयार्थकारी कहते है। उदाहरणार्थ यदि प्रतिश्याय कास उत्पन्न करके स्वय शान्त हो जाता है तो वह एकार्थकारी हुआ, परन्तु यदि कास उत्पन्न कर के बना रहता है तो उभयार्थकारी कहेगे। उभयार्थकारी रोग अत्यन्त कष्टप्रद एव विरुद्धोपक्रम होने से कष्टसाध्य होते है। इनको Sympathetic Diseases के वर्ग मे समझना चाहिये। जैसे श्वास और विचर्चिका।

☆

द्वितीय खण्ड

प्रथम अध्याय

पंच कर्म

आयुर्वेद की चिकित्सा मे पचकर्म का सम्यक् ज्ञान परमावश्यक है। चिकित्सा कर्म मे व्यवहृत होने वाली प्राय सभी उपकर्मों का अतर्भाव इन मौलिक पाँच कर्मों मे ही हो जाता है। चिकित्सा मे मिलने वाला ऐसा कोई रोग नही है जिसमे किसी न किसी प्रकार चिकित्सा-सूत्रो मे इनकी महत्ता न वतलाई गई हो। कायचिकित्सा मे अधिकतर पाँच कर्मो का शल्यतत्रीय चिकित्सा मे अष्टविध शस्त्रकर्मो का निश्चित रूप से प्रयोग किया मिलता है। आधुनिक शब्दो मे अग्रेजी शब्द Main Operation के पर्यायवाची रूप मे ही कर्मो की गणना समझनी चाहिए। इनमे पचकर्म [Five fold main operations in the field of medicin] का नाम कायचिकित्सा मे तथा अष्टविध शस्त्रकर्म (Eight fold main operations in the field of surgery) का भूरिश वर्णन आयुर्वेद की प्राचीन सहिताओ मे पाया जाता है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक व्याधि मे सभी कर्मो की चिकित्सा करते समय उपयोग करना ही पडे। क्योकि वहुत सी ऐसी व्याधियाँ है जो एक ही कर्म (विद्रधि मे भेदनमात्र से और आमाजीर्ण में वमनमात्र) से, कुछ दो कर्मो (उभयगत रक्तपित्त मे वमन एव विरेचन, तथा अगच्छेदन मे छेदन और सीवन) से और कई विकारो मे तीन कर्मो [मूत्रवृद्धि के शस्त्र कर्म मे भेदन, विस्रावण और सीवन से तथा शिरोरोगो मे वमन-विरेचन एवं नस्य कर्म) से, क्वचित् इनसे अधिक कर्मो से साध्य है। अर्थात् चिकित्सा मे कही एक या क्वचित् अनेक कर्मो की अपेक्षा रहती है।

'कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा।
विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः॥ (सु सू)

पचकर्मो मे (१) वमन (Emesis or emetics) (२) विरेचन [Purgation or purgatives] (३) आस्थापन (Enemata or clyster) (४) अनुवासन (Nutrient enemata) तथा (५) शिरोविरेचन (Insufflation through nose) प्रभृति पाच कर्मो का समावेश हो जाता है। अष्टविध शस्त्रकर्मो में (१) छेदन (Excision) (२) भेदन (Incision) (३) लेखन (Currattage) (४) एषण (Exploration) (५) आहरण (Extretion) (६)

वेधन (Puncturing) (७) विस्रावण (Blood letting) तथा (८) सीवन (Suturing) इन आठ कर्मों का समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त शल्यचिकित्सा में और भी चौबीस प्रकार के यन्त्रो के कर्मो का उल्लेख हुआ है जिसका विस्तारभय से उल्लेख नही किया जा रहा है। कभी-कभी कायचिकित्सा के क्षेत्र में भी रक्तविस्रावण या शिरावेध कर्म की आवश्यकता पडती है। जैसे श्लीपद मे, सर्पविप मे, तथा उच्च रक्त-निपीड मे।

इन कर्मो का ज्ञात या अज्ञात रूप में सभी चिकित्सक प्रयोग करते है। परन्तु ज्ञात के स्थान पर अज्ञात रूप से ही अधिक रूप मे प्रयोग चलता है। कारण यह है कि रोगी की चिकित्सा करने मे दो ही मूलभूत सिद्धान्तो का आश्रय लेना पडता है। (१) संशोधन तथा (२) संशमन। संशोधन कार्यों मे पचकर्मों के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है। परन्तु संशमन के विविध साधन है। यदि संशमन क्रिया से ही लाभ हो जाय तो संशोधन के प्रपचो से रक्षा हो जाती है। रोगो से उत्पन्न विपमयता मे सिद्धान्तत विपो के निकालने का उपाय संशोधन द्वारा तथा अनिर्गत शेप विपो की चिकित्सा संशमन क्रियाओ द्वारा करनी चाहिए। सर्वोत्तम चिकित्सा वही है जो दोनो का आश्रय करके चले। आज के युग में संशोधन का कार्य नाममात्र ही अवशिष्ट है जैसे—प्रकृति से ही स्वत रोगी को वमन या रेचन होने लगे अथवा कुछ साधारण एनीमा दे दी जावे या कुछ रेचक औपधियो का प्रयोग रोगी में कर दिया जावे। वस्तुत. यह इस तरह के कर्म संशोधन न होकर एक प्रकार के संशमन ही होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज की वैद्यपरम्परा में एकमात्र संशमन चिकित्सा ही प्रधान अस्त्र शेप रह गया है। आज की चिकित्सकपरम्परा में अधिकतर संशमन के द्वारा ही चिकित्सा कर्म प्रचलित है। उदाहरणार्थ मधुमेह के रोगी मे चन्द्रप्रभावटी का प्रारंभ से ही प्रयोग। इसका परिणाम यह हो रहा है कि चिकित्सा पूर्ण नही हो पाती है और रोग का मूलोच्छेद भी नही हो पाता। प्राचीन युग मे आचार्य संशोधन एव संशमन उभयविध कर्मो के द्वारा चिकित्सा का समर्थन करते थे। जैसा कि निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है :—

लघन और पाचन के द्वारा कुपित दोपो का शमन करने से यह संभव है कि वे समय पाकर पुन कुपित हो जावे, परन्तु संशोधन के द्वारा दोपो को निकाल कर जिस रोग का शमन किया जाता है, उनसे दोपो के पुन उभडने की संभावना नही रह जाती है।

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः॥

जहाँ पर रसायन और वाजीकरण औषधियो के द्वारा शरीर का नवी-करण सभव रहता है वहाँ पर भी शोधन की आवश्यकता रहती है। जैसे मैले कपडे के रँगने से रग नही चढता किन्तु साफ कपडा शीघ्रता से रग ग्रहण कर लेता है। इसी तरह अविशुद्ध शरीर मे औषधियो का गुण भी प्रकट नही होता, उसके लिए शुद्ध शरीर की अपेक्षा होती है।

अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः।
वाजीकरो वा मलिने वस्त्रे रङ्ग इवाफल.॥

इन पचकर्मो का उपयोग केवल चिकित्सा के क्षेत्र तक ही सीमित नही है। रोगो के निवारण (Profilaxis) मे भी इसका मूल्य कम नही है। विभिन्न ऋतुओ मे होने वाली व्याधियो के प्रतिकार मे भी इस शोधन कर्म का मूल्य अक्षुण्ण है। हेमन्त ऋतु के दोषसचय को वसन्त के प्रारम्भ से शोधन के द्वारा निकाल देने से वसन्त ऋतु मे होने वाली श्लेष्मपैत्तिक व्याधियाँ जैसी (Small-Pox Pneumonia, Bronchitis etc) भविष्य मे नही होती। ग्रीष्म ऋतु के सचित हुए दोषो को वर्षा के आरम्भ मे पचकर्मो के शोधन द्वारा निकाल देने पर वातिक रोग जैसे (Gout Goity Arthritis Rheumatism etc.) जो प्राय वर्षा ऋतु मे देखे जाते है, भविष्य मे प्राय नही होते। इसी प्रकार वर्षा ऋतु के सचित दोषो को जो भविष्य मे शरद् ऋतु मे पैत्तिक रोगो को जैसे (Malaria Hyper pyreyio etc) पैदा करते है। वर्षा के बाद शरद् ऋतु प्रारभ मे शोधन के द्वारा निकाल दिए जाने पर समाज को उस रोग से मुक्त किया जा सकता है। 'हैमन्तिक दोषचय वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु।' चरक शास्त्र इतना ही नही कई बार धातुओ के दूषित होने पर सशमन औषधियो के विधिवत् उपयोग के भी बावजूद रोग नही पिण्ड छोडता। वहाँ पर एकमात्र शोधन कर्म ही उपचार रूप मे शेष रहता है।

उपर्युक्त विचार को समक्ष रखते हुए शोधन कर्म की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। चिकित्सा की दृष्टि से (Curative) अथवा अनागतबाधा-प्रतिषेध (Profilaxis) की दृष्टि से दोनो तरह से इसकी उपादेयता स्वत सिद्ध है। सशोधन से पचकर्म के ही ५ विविध अगो का ग्रहण काय-

जाएगी। इस स्थान पर नामोल्लेख मात्र ही पर्याप्त है। स्नेहन और स्वेदन प्रत्येक पचकर्म के पूर्व मे आवश्यक होता है[1] जैसे —

स्नेहन	स्वेदन	तत	वमन	प्रथम कर्म	पुन
,,	,,	,,	विरेचन	द्वितीय कर्म	,,
,,	,,	,,	अनुवासन	तृतीय कर्म	,,
,,	,,	,,	आस्थापन	चतुर्थ कर्म	,,
,,	,,	,,	शिरोविरेचन	पचम कर्म	,,

वमन-विरेचन--विधिपूर्वक स्निग्ध और स्विन्न रोगी के वमन या विरेचन के द्वारा शोधन करे। वमन और विरेचन कर्म के द्वारा की गई शुद्धि तीन प्रकार की हो सकती है। हीन शोधन, मध्यम शोधन तथा श्रेष्ठ या उत्तम शोधन। इन शोधनो का मापन चार प्रकार से किया जाता है--आन्तिकी (अन्त का विचार करते हुए), वेगिकी (कै और दस्त की सख्या के आधार पर), मानिकी (परिमाण-तौल के अनुसार) तथा लैङ्गिकी (लक्षणो के आधार पर)। जैसा कि नीचे के कोष्ठक मे स्पष्ट किया जा रहा है। परिमाण के मापने मे यह ध्यान मे रखे कि वमन मे मिलाई गई औषधि की मात्रा को छोडकर तथा विरेचन मे दो तीन वेगो की मात्रा को छोडकर शेष निकले द्रव्य का मापन करे।

	जघन्य (हीन)	मध्य	प्रवर या उत्तम	
वेगो की सख्या से	४	६	८	वमन
	१०	२०	३	विरेचन
परिणाम से	१ प्रस्थ	१½ प्रस्थ	२ प्रस्थ	वमन
	२ प्रस्थ	३ प्रस्थ	४ प्रस्थ	विरेचन
अन्त के विचार से	पित्तान्तमिष्ट वमनम्	कफान्तञ्च विरेकमाहु		वमन
	पित्त मे निर्गम की मात्रा के ऊपर	कफ के निर्गम की मात्रा के ऊपर		विरेचन
लक्षणो के आधार पर	अतियोग, हीनयोग के लक्षणो को आगे देखे।			

१ तान्युपस्थितदोषाणा स्नेहस्वेदोपपादनै । पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥' (च सू २)

संसर्जन क्रम

वमन या विरेचन कराने के अनन्तर रोगी का पचन-संस्थान को एक बड़ा धक्का लगता है जिससे उसकी अग्नि मन्द हो जाती है, उसमें पचाने की शक्ति पूर्ववत् नहीं रह जाती है। अतएव कर्मों के अनन्तर सहसा रोगी को उसके प्रकृत आहार (Narmal diet) पर नहीं देना चाहिए। बल्कि धीरे-धीरे पेया, विलेपी आदि हल्के सुपाच्य और सद्रव आहारों के द्वारा क्रमशः रोगी के अग्नि को जागृत करते हुए भोज्य पदार्थ को क्रमशः अधिक-अधिक द्रव के स्थान पर ठोस करते हुए कुछ दिनों में रोगी को उसके प्राकृतिक आहार एवं मात्रा पर ले आना चाहिए। इस क्रमिक आहार-वर्द्धन और अन्तराग्नि के परिपालन को ध्यान में रखते क्रमिक वृद्धियुक्त अन्न के क्रम या पथ्यसेवन की विधि को संसर्जन क्रम कहते हैं। वमन या विरेचन कर्म के अनन्तर इस क्रम का निश्चित रूप से अनुष्ठान करना चाहिए।

पेया-विलेपी-अकृतयूप-कृतयूप-अकृतमांसरस तथा कृतमांसरस, इस तरह छ प्रकार के क्रमशः दिए जाने वाले पथ्यों का निर्देश है। इनमें व्यक्ति की शोधन की कोटि के ऊपर तीन, दो या एक अन्नकाल (Diet) तब एक एक पथ्य की व्यवस्था करते हुए क्रमशः पेया (मण्डयुक्त चावल का गीला भात) ततः विलेपी (मण्डरहित चावल का भात) पश्चात् अकृत-यूप (बिना घी-नमक-कटुपदार्थ के बनाए किसी तरकारी के यूष या दाल) तदनन्तर कृत-यूप (घी-नमक और कटुपदार्थो से युक्त तरकारी के या दाल के यूष) अथवा मांस-रसो का यूप (अकृत) पुनः कृत (घी नमक एवं कटु रस द्रव्ययुक्त मांसरस) रूप का तीन, दो या एक काल तक देते हुए रोगी को प्रकृत आहार या पथ्य पर ले आना चाहिए। यदि शोधन उत्तम हुआ है तो तीन-तीन अन्नकाल तक, यदि मध्यम हुआ हे तो दो-दो अन्न काल तक और यदि मामूली या हीन हुआ हो तो एक-एक अन्नकाल तक इन पथ्यो पर एकैकशः रखते हुए रोगी को प्रकृत आहार (Normal diet) पर ले आने का विधान है। इसी को संसर्जन क्रम कहा जाता है। इस प्रकार लगभग एक सप्ताह या बारह अन्नकाल के बाद रोगी अपने स्वाभाविक आहार पर आता है।

> पेया विलेपीमकृतं कृतञ्च यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च ।
> क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥
>
> (च सि)

> सिक्थकै रहिता मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।
> यवागूर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा ॥ (परिभाषा)

अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृत कृतम्॥

(सूद शास्त्र चक्रपाणि की टीका मे)

पञ्चकर्मो का अवान्तर काल—पचकर्मो का कितने कितने दिनो के अन्तर से प्रयोग किया जाय यह एक ज्ञातव्य विषय है। शोधन की कोटि के अनुसार इसमें विभिन्नता होती ह। फिर भी एक उत्तम कोटि के शोधन का दृष्टान्त देते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ स्नेहन—तीन—पाँच-सात दिनो तक करे।

२ स्वेदन—दिनो मे उसकी सख्या नही दी जा सकती। केवल लक्षणो के आधार पर जब शीत और शूल शान्त हो जावे, स्तम्भ और गुरुता जाती रहे और मृदुता उत्पन्न हो जाय तो स्वेदन से विश्राम करे।

३ वमन के लगभग आठ दिनो के अनन्तर नवे दिन—विरेचन के लगभग ८ दिनो के बाद अर्थात् अनुवासन को नवे दिन दे। पश्चात् अनुवासन के तीसरे दिन आस्थापन के अनन्तर पुन उसी दिन शाम को रात मे या दूसरे दिन पुनः अनुवासन। तदनन्तर विशुद्ध देह का शिरोविरेचन करे।

४ वमन या विरेचन के अनन्तर सात दिनो तक ससर्जन क्रम का आहार चलता रहे, आँठवे दिन उसे प्रकृत आहार दे। फिर नवें दिन एक नए कर्म आस्थापन का प्रारम्भ करे। इस प्रकार वमन कराने के नवे दिन स्नेहन करने के पश्चात् विरेचन करावे। पुन विरेचन कर्म के द्वारा शोधित होने पर सात दिनो तक ससर्जन, आँठवे दिन प्रकृत आहार और नवे दिन अनुवासन कराना चाहिये।

'शोधनानन्तरं नवमेऽह्नि स्नेहपानम् अनुवासनं वा।'
'विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यग् देयोऽनुवासनः।'

(सु चि ३७)

विरेचन के अनन्तर कम से कम एक सप्ताह तक रोगी को आस्थापन नही कराना चाहिए। क्योकि इससे रोग बल की हानि होती है अत अनुवासन दे।

अनुवासन के अनन्तर अब ससर्जनादि क्रमो की आवश्यकता नही रहती है। अत नातिबुभुक्षित (जो अत्यधिक क्षुधित न हो) रोगी को तैल का अभ्यग करा के उसे तीसरे दिन आस्थापन देना चाहिए। पुन आस्थापन द्रव्य के निकल आने पर रोगी को जागल मासरस के साथ भोजन देना चाहिए।

रोगी के दोष और बल आदि का विचार करते हुए इस भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। आस्थापन के अनन्तर पुनः अनुवासन देने की विधि है। जिस दिन अनुवासन दिया गया है उसी दिन शाम को या रात में या अग्निबल का ज्ञान करते हुए दूसरे दिन अनुवासन दें।

पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को एक सप्ताह के अनन्तर शिरो-विरेचन कराना चाहिए। इसमें भी रोगी के सिर पर प्रचुर तैल का अभ्यग करा के हाथ के तलवे सेंक कर (तल स्वेद) पश्चात् मल की तीन प्रकार की अवस्थाओं का विचार करते हुए तीन, दो या एक दिन तक शिरोविरेचन देना चाहिए। पश्चात् पथ्य का प्रबन्ध वस्ति में बतलाई विधि के अनुसार द्विगुण काल तक रखना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने एक अपना स्वतन्त्र ही मत अवान्तर काल (gap) के सम्बन्ध में दिया है। उनके मतानुसार भली प्रकार से वमन देने के पन्द्रह दिन पीछे विरेचन देना चाहिए। विरेचन के सात दिनों के बाद निरूहण देना चाहिए और निरूहण के तुरन्त पीछे अनुवासन देना चाहिए।

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरूढोऽनुवास्य सप्तरात्राद्विरेचितः॥

(सु चि ३६)

पंचकर्म का निषेध—प्रचण्ड, साहसिक, कृतघ्न, भीरु, व्यग्र, सद्वैद्यद्वेषी, राजद्वेषी, सद्वैद्यद्विष्ट, राजद्विष्ट, शोकपीडित, नास्तिक, मुमूर्षु (मरने की इच्छा वाला), साधनहीन, व्यथित, शत्रुवैद्यविदग्ध, श्रद्धाहीन, शंकावान् व्यक्ति, वैद्य के वश में न रहने वाले, इन व्यक्तियों मे पचकर्म का अनुष्ठान नही करना चाहिए। शेष अन्य व्यक्तियों मे उनकी अवस्था आदि का विचार करके पचकर्म करना चाहिए।

उष्ण जल—उष्ण जल—स्नेह और अजीर्ण का पाचन करता है, कफ का भेदन करता है और वायु का अनुलोमन करता है। इसीलिए वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन मे वात और कफ की शान्ति के लिए सदैव उष्ण जल ही पिलाना चाहिए।

स्नेह (oils & fats)—पुरुष के लिये स्नेह एक नितान्त उपयोगी द्रव्य है। इसीलिये पुरुष को स्नेह-सार कहा गया है। पुरुषों की प्राण-रक्षा का मुख्य आधार (in order to maintain the vitality) है। उनकी बहुत सी व्याधियाँ केवल स्नेह के उपयोग से साध्य है। स्नेह साधारणतया गुरु, शीत, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु, एवं द्रव गुण वाले होते है। स्नेह एक

सामान्य सज्ञा है जिसके भीतर सभी प्रकार की वतुस्ओ का अन्तर्भाव (oils, fate, lubricants) हो जाता है।

स्नेह मे कई महत्त्व के गुण हैं—१ भोजन सामग्री (rich & concentrated food value), २ जीवतिक्ति ए-डी की प्राप्ति (administration of vit A D) ३ शरीर का बृहण (strenSth, vigourtonic) ४ औपसर्गिक व्याधियो से शारीरिक चमता बढाकर शरीर की रचा (to & promote boflily resistance) ५ प्राण रक्षा का आधार (vitafity)[1] इन्ही गुणो के कारण पुरुप को स्नेह-सार कहा गया है।

प्रकार—स्नेह उद्भवभेद से दो प्रकार के होते है। (क) जगम (चर), (ख) स्थावर (अचर)। जंगम (animal source) श्रेणी के स्नेहो मे घृत (clarified butter), वसा (fat), मज्जा (अस्थियो के अन्तस्थ भेद—dhne marrow) प्रभृति का समावेश है। इसी वर्ग मे आधुनिक अतिप्रचलित स्नेह जैसे (Ccd, Halibut and Shark livei oils) जो मत्स्यो के यकृत् की वसा से प्राप्त होते है इनका भी—अन्तर्भाव हो सकता है। आचार्य सुश्रुत ने भी लिखा है 'जगम प्राणियो जैसे मत्स्य-पशु-पचियो से उत्पन्न दधि, क्षीर, घृत, मास, वसा और मज्जा भी' स्नेहो मे आते हैं। ये स्नेह आज कल बहुत प्रचलित हैं। उन्हे प्राचीन पारिभाषिक शब्दो मे अच्छ-स्नेह की सज्ञा दी जा सकती है।

घृत (Ghee)–प्राचीनो के अनुसार जगम सृष्टि से उत्पन्न स्नेहो मे सर्वोपरि घृत माना जाता है, घृतो मे भी गोघृत। घृत को सर्वोत्तम स्नेह मानने मे कई उपपत्तियाँ दी जाती है —

१ यह गुण मे अन्य स्नेहो की अपेक्षा अधिक मधुर और अविदाही होता है।
२ पित्त का शामक होता है।
३ संस्कार का प्रभाव जैसा घृत के ऊपर पडता है वैसा अन्य स्नेहो के ऊपर नही पडता। यह सस्कारानुवर्त्तन अर्थात् सस्कारो के अङ्गीकार करने का गुण सबसे अधिक घृत मे पाया जाता है। अत घृत सर्वोत्तम स्नेह है।*

---

१ 'स्नेहसारोऽय पुरुप, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठा स्नेहसाध्याश्च भवन्ति।' 'दीप्तान्तराग्नि परिशुद्धकोष्ठ प्रत्यग्रधातु वलवर्णयुक्त। दृढेन्द्रियो मन्दजर शतायु स्नेहोपसेवी पुरुपो भवेत्तु॥' (सु चि ३१)

* घृत का यह गुण उसमे अधिक मात्राओ मे असतृप्त (unsaturated fatty acid) के कारण होता है जिससे वह अधिक से अधिक मात्रा मे औषधि के तत्त्वो का शोपण करने मे समर्थ रहता है।

४ यह अन्य स्नेहो की अपेक्षा हल्का या लघु होना है। घृत से गुरु (भारी) तैल, तैल से गुरु वसा, वसा से गुरु मज्जा होती है। इस वर्ग के स्नेहो का वाह्य तथा आभ्यतर दोनो प्रकार के उपयोग होते है।

घृत के साथ ही साथ नवनीत (दूध या दही के विलोने मे उत्पन्न मक्खन) का विचार कर लेना आवश्यक है। वास्तव मे इन्ही का रूपान्तर घृत है। इसी घृत का औषधि-प्रयोग अधिक होता है। घृत का संरक्षण अधिक काल तक हो सकता है मक्खन का उतने काल तक नही। अस्तु घृत ही प्रधान है।

तैल—स्थावर सृष्टि से उत्पन्न स्नेहो (vegetable source) मे तैल आते है। तैल शब्द की व्युत्पत्ति है 'तिलोद्भव तैलम्' तिल से उत्पन्न वस्तु। यही कारण है कि तिल-तैल को ही सर्वोत्तम तैल माना गया है। इतना ही नही, प्राचीन ग्रन्थो में प्राय जितने सस्कारित तैलो (medicated oils) के पाठ मिलते हैं (कुछ इने गिने तैलो को छोड कर) उनके निर्माण मे तिल तैल का ही प्रयोग हुआ है। जैसे नारायण तैल, मापतैल, वला तैल आदि। इसी प्रकार किसी तैल के पाठ मे यदि किसी विशेष तैल का कथन न हुआ हो तो तिल-तैल का ही व्यवहार अपेक्षित रहता है। वलवर्द्धन और स्नेहन की दृष्टि से सर्वदा तिल तैल का व्यवहार करें। इस वलवर्धन का हेतु आधुनिक विज्ञान के शब्दो में विटामिन ए और डी की विशेषता के कारण है। अन्य तैलो की अपेक्षा ये विटामिन्स इसमे अधिक मात्रा मे रहते है।

तैल द्रव्यभेद से अनेक प्रकार के हो सकते है। जैसे एरण्ड तैल, सर्षप तैल, वरें का तैल और महुए का तैल आदि। इस प्रकार वानस्पतिक द्रव्यो के भेद से सत्तर प्रकार के विभिन्न तैलो का उदाहरण सुश्रुत सहिता मे पाया जाता है। और भी अनेक प्रकार के हो सकते है। इनमे अधिकतर तैल फल या बीजो की मज्जा से तैयार होते है। कुछ सीधे पौधे की छाल या लकडी से भी निकाले जाते है जैसे चीर, देवदारु, अगुरु, चदन, शीशम आदि। इन्हे essential oils कहते है। इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग मोम (wax) का है ये monohydric alcohol के easters होते है।

स्थावर सृष्टि से निकले तैलो मे कुछ का वाह्य उपयोग, कुछ का वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो प्रकार से उपयोग होता है। फिर भी तैलो का मुख से न प्रयोग करके वाहरी अभ्यङ्ग के रूप मे ही उपयोग अधिक लाभप्रद माना गया है। उक्ति भी मिलती है 'घृत से तैल दसगुने लाभप्रद है खाने से नही, मालिश से।'

विशुद्ध रासायनिक दृष्टि से विचार—जितने भी स्नेह हैं चाहे वे वानस्पतिक हो या जान्तव, वे सभी उच्च कोटि के वसाम्ल के माधुरी हैं (glycerides of high fatty acids) इनमे प्राङ्गार के अणु (carbon atoms) पाये जाते हैं। वानस्पतिक स्नेहो मे निम्न प्रकार के माधुरी (glycerides) पाये जाते हैं परन्तु जान्तव स्नेहो मे घृत, वसा, मज्जा मे सामान्य माधुरी (simple glycerides) प्रधानतया या प्रधान रूप से मिलते हैं। वसा तथा तैल मे कोई विशेष अन्तर नही है वसा अपेक्षाकृत कडी होती है और २०°C पर आमतौर से पिघलती है। तैलो मे २०°C से नीचे तापक्रम मे हो पिघलने का गुण होता है। इस आधार पर भारतीय नारिकेल तैल ग्रीष्म ऋतु मे तो तैल रहता है परन्तु शीतऋतु मे वसा का रूप धारण कर लेता है।

महास्नेह—स्थावर और जगम सृष्टि (animal, vegetabel kingdom) से उत्पन्न तैल और घृत, वसा और मज्जा के मिश्रणो के मुख से प्रयोगकी भी परिपाटी है। इन मिश्रणो की कई सज्ञाये प्रचलित है। जैसे दो स्नेहो के मिलने से यमक, तीन स्नेहो के मिलने से त्रिवृत तथा चार स्नेहो के मिश्रण से महास्नेह कहा जाता है।

वनस्पति घृत—स्थावर सृष्टि के तैलो से आज के वैज्ञानिक युग मे एक प्रकार का कृत्रिम घृत वहुत प्रचलित हो रहा है, जिसे वनस्पति घृत कहते है। इनके कई नामो (जैसे दालदा, वनसदा, कोटोजम आदि) से विज्ञापन और प्रचार वटता जा रहा है। ये देखने मे तो घृतसदृश परन्तु सेवन के अनन्तर तैलसदृश गुण के होते है। प्राचीन परिभाषा के अनुसार इनको तैल के वर्ग मे रखा जाय या घृत के, यह एक समस्या है। लोकव्यवहार मे तो यह घृत का स्थानापन्न पदार्थ ही माना जाता है। वास्तव मे इन कृत्रिम घृतो का आरभक द्रव्य वानस्पतिक तैल है अस्तु ये एक प्रकार से विशोधित और जमाये हुए तैल ही है। घृत की समानता गुणो के विचार से ये नही प्राप्त कर सकते हैं। कारण यह है कि १ प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर घृत को सर्वोत्तम स्नेह माना गया है, परन्तु यह हीन है क्योकि कृत्रिम घृतो से श्रेष्ठ भी घृत मिल सकते हे, २ अन्य स्नेहो की अपेक्षा अधिक मधुर और अविदाही होना घृत का विशेष गुण है, परन्तु वनस्पति घृत विदाही होते है, ३ सस्कारनुवर्त्तन मे अर्थात् औषधियो को डालकर पकाने से उन औषधियो के गुणो का ग्रहण करना भी इन कृत्रिम घृतो मे शुद्ध घृत के सदृश नही होता, ४ शुद्ध घृत पित्त का शमन करता है, परन्तु कृत्रिम घृतो से इसके विपरीत पित्त की वृद्धि होती है,

५ शुद्ध घृत अन्य स्नेहो को अपेक्षा हल्का होता है; परन्तु यह भारी। अतएव घृतपाकक्रिया के लिए घृत के अभाव मे इन घृतो (वनस्पति) का ग्रहण सर्वथा हेय है।

वनस्पति घृत, तैल और घृत के मध्य का द्रव्य है। रासायनिक क्रियाओं के द्वारा इनके मेद (fat) तत्त्व को इस रूप में परिवर्तित कर देते हैं कि वह घृत का स्वरूप धारण कर सके। प्राकृतिक घृत मे मेद असतृप्त (unsatuoated) दशा मे रहता है। शुद्ध घृत मे कुछ जीवतिक्ति (vft A) पाया जाता है जिनका कृत्रिम घृतो में अभाव रहता है, उसकी पूर्ति भी कृत्रिम घृतो मे उसका सयोजन करके जैसा कि दालदा के विज्ञापनो से ज्ञात है, पूरा कर दिया जाता है। तथापि वह औषधिसिद्ध घृत के कामो मे व्यवहृत नही हो सकता है।

वनस्पति घृत या कृत्रिम घृत मूगफली के तैल से बनाये जाते हैं। इन तैलो की रासायनिक विधियो से 'हाइड्रोजेनेशन' क्रिया के द्वारा जमा दिया जाता है जिससे तैल की वसा पूर्णतया सतृप्त (saturatcd) हो जाती है। जिस स्नेह मे जितनी ही असतृप्त वसा (unsaturatedfat) होगी वह उतना ही औषधि को छोडकर पकाते समय औषधियो के स्नेह में घुलनशीलतत्त्वो के शोषण (absorption) मे समर्थ होगा। यही कारण है कि शुद्ध घृत जिसमे तैलो की अपेक्षा अधिक मात्रा में असंतृप्त वसा (unsaturated fat) तथा हीन कोटि के वसाम्ल (lower fattyacie) होते हैं औषधियो के साथ पकाये जाने पर अधिक मात्रा मे औषधिगुणो के शोषण मे समर्थ होते हैं। इसी गुण को सस्कारानुवर्त्तन शब्द से प्राचीनो ने व्याख्या की है। अर्थात् औषधि के संस्कार का सबसे अधिक प्रभाव घृत पर पडता है। इसके बाद दूसरा नम्बर तैलो का आता है। तैलो में असंतृप्त और संतृप्त दोनो प्रकार की वसायें रहती है। घृत की अपेक्षा इसमें सतृप्तवसा (saturated) अधिक रहती है अस्तु सस्कार-ग्रहण में इसका दूसरा नम्बर आता है। तैलो मे तिल के तैल की अपनी विशेषता जीवतिक्ति ए डी की अधिकता के कारण है। परन्तु वनस्पति घृत एक निष्क्रिय (neutral most) पदार्थ है जिसके ऊपर औषधियो के सस्कार का प्रभाव नही पडता क्योकि वह गुणो के शोषण में असमर्थ है। भक्ष्य की दृष्टि से विचार करे या भोजन की दृष्टि से, वनस्पति घृतो का मूल्याङ्कन करें तो घृत और तैलो का भोजन-मूल्य (foodvalue) उनमें पाये जाने वाले unsaturated fatty acids के कारण होता है। क्योकि ये भाग टूट कर शरीर में उष्णता या शक्ति मे रूपान्तरित

होते हैं। वनस्पति घृत पूर्णतया शत-प्रतिशत संतृप्त saturated होता है उनमें असंतृप्त वसा का भाग होता ही नही इस लिये भी बृंहण के कार्यों मे व्यवहृत नही हो सकता है, जो प्राकृतिक स्नेहो का एक प्रधान कार्य है।

अतएव वैद्यकीय विधि से सिद्ध स्नेहो मे अर्थात् किसी तैल या घृत के निर्माण मे वनस्पति घृतो की अनुपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

खनिजतैल—स्थावर स्नेहो मे कुछ ऐसे भी तेल है जिनकी उत्पत्ति पेड-पौधो से न होकर खदानो से होती है जैसे-किरोसिन, पेट्रोल आदि। पुन इन तैलो मे रासायनिक विधियो के द्वारा विभिन्न प्रकार के स्नेह बनते हैं जैसे वेसेलीन, लेनोलिन, तारपीन का तेल, लिक्विडपैराफीन आदि। इन तेलो को खनिज तैल नाम से एक स्वतन्त्रसंज्ञा देना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इनके प्रयोग वाह्य (external) और सीमित स्थानो (limited spaces) पर ही होता है। लिक्विडपैराफीन कान और नाक मे लगाने और मुख से सेवन मे भी व्यवहृत होता है।

लिकिडपैराफीन--यह ऐसा विचित्र स्नेह है जिसका सेवन करने से मुख से लेकर गुदा पर्यन्त सम्पूर्ण अन्नवह स्रोत का स्नेहन हो जाता है। इस स्नेहन की उपमा मशीन की आयलिङ्ग से दी जा सकती है। साथ ही इस स्नेह का शोषण अल्प मात्रा मे भी आन्त्रो से नही होता, न किसी पाचक रस का ही प्रभाव इसके ऊपर पडता है और न स्वयं ही किसी पाचन रस को विकृत करता है, फलत अविकृत भाव से गुदा से बाहर निकल जाता है। अन्य तैल या घृतो मे यह विशेषता नही पाई जाती।

इन सभी द्रव्यो का ग्रहण तैल के वर्ग मे करने का उद्देश्य प्राचीन आचार्यों के शब्दो मे तद्‌गुणता अर्थात् निष्पत्ति और साम्य ही है। स्नेहन क्रिया के वास्तविक उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए खनिज तैलो का अतर्भाव स्नेहन वर्ग मे संभव नही है, जैसा कि आगे के वर्णनो से स्पष्ट होगा।

अच्छ स्नेह—सस्कार के विना भी घृत या तैल का पान कराया जा सकता है। विशुद्ध तथा विना किसी औषधि के योग से पाक किये ही जो स्नेह पिलाया जाता है उसे अच्छ स्नेह कहते हैं। जैसे घृत को दूध मे डालकर या काड लिवर आयल को दूध मे डालकर पिलाना। इसका प्रयोग व्यक्ति की सहन-शक्ति और सात्म्य और असात्म्य का विचार करते हुए कराना चाहिये। स्नेह जिन्हे सात्म्य हो ऐसे व्यक्तियो मे तथा जो क्लेश-सह (कष्ट को वर्दाश्त कर सकने वाले) व्यक्ति हो, इसका प्रयोग करना चाहिये। अग्नि, शीत, अति उष्ण

ऋतुओ मे भी अच्छ स्नेह का प्रयोग नही करना चाहिये। नाति-शीतोष्ण ऋतु या काल मे इस विधि से स्नेहपान कराना उत्तम है।

'केवल शुद्ध रूप मे किसी स्नेह-द्रव्य का पान अच्छपेय कहलाता है इसमे किसी प्रकार की विचारणा (परहेज) की आवश्यकता नहीं रहती है। इस स्नेह की कल्पना बडी ही श्रेष्ठ है—क्योकि उसके द्वारा स्नेहन भली भांति हो जाता है। अच्छ स्नेह अद्भुत शक्तिवाला और प्रभूतवीर्यशाली होता है। फलत इस असस्कृत स्नेह का प्रयोग शास्त्र सम्मत है। यदि शुद्ध घृत ही पिलाना लक्ष्य हो तो दोषानुसार पित्तज विकारो में केवल, वातिक विकारो मे सैंधानमक के साथ और श्लैष्मिक विकारो में व्योष और क्षार मिलाकर पिलाना चाहिये।'

शोष की चिकित्सा मे अधुना प्रचलित मत्स्ययकृत-वसाओ का प्रयोग बृंहण के लिये किया जाता है वह अच्छ स्नेहपान का ही एक उदाहरण है। स्नेहो के द्वारा विटामिन ए, डी तथा डी[२], की पूर्ति होती है और शरीर की सरक्षण शक्ति बढती है।

संस्कारित स्नेह (medicated)—स्नेहन की विधियो मे बरते जाने वाले घी एव तैलो का यथाविधि विभिन्न औषधियो और द्रवों के सयोग से अग्नि पर पका कर (देखे वैद्यक-परिभाषा प्रदीप) सस्कृत-स्नेह बनाये जाते है। इनका व्यक्ति और उसके रोग की अवस्था के अनुसार प्रयोग किया जाता है। पाक-विधि से तैयार तैल तीन प्रकार के होते है—मृदु, मध्य तथा खर-पाक। इनमे मृदुपाक स्नेहो का प्रयोग पीने और खाने मे, मध्य-पाक स्नेहो का उपयोग नस्य तथा अभ्यग में तथा खर-पाक स्नेहो का उपयोग वस्ति एव कर्णपूरण के लिये होता है।

स्नेहन—स्नेहन की विधियाँ (modes of administration of lubrications) भक्ष्यादि अन्न के साथ, वस्ति से, नस्य से, अभ्यग (मालिश) से, अजन से, गण्डूप (कुल्ली भरना) के रूप मे, अथवा सिर-कान और आँखो के तर्पण के द्वारा विविध भाँति से (चौबीस प्रकार के विभिन्न मार्गो से) शरीर का एकदेशिक या सार्वत्रिक (local or general) स्नेहन किया जाता है।

सक्षेप मे स्नेहन का अर्थ oral administration, अनुवासन से rectal administration, उत्तर वस्ति यानी urethral or vaginal administration, शिरोवस्ति एव अभ्यग से cutaneous administration, नस्य से nasal administration तथा कर्णपूरण से aural administrations प्रभृति मार्ग स्नेहो के अदर मे पहुँचाने के विधान से है।

उद्देश्य या प्रयोजन—स्नेहो के उपर्युक्त मार्गों से उपयोग की क्रिया को स्नेहन कहा जाता है। इसका अन्तिम उद्देश्य (ultimate aim) विशुद्ध रीति से अतृप्त धातुओ को तृप्त करना अर्थात् सतर्पण करना होता है। इसकी उपमा सूखते हुए वृक्ष की जड मे सिचाई करने की क्रिया से दी गई है। इससे तीन कार्य होते है—१ वायु का नाश, २ मृदुता का आना, ३ मलो की रुकावट दूर होना। स्नेहो के उपयोग से अतराग्नि दीप्त होती है, कोष्ठ शुद्ध होता है, धातु, वल एवं वर्ण की वृद्धि होती है। शरीर की इन्द्रियाँ दृढ होती है जरावस्था देर से आती है और मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

स्नेह कल्पना (preparations)—स्नेहो की वहुत सी कल्पनाये (कुल चौसठ प्रकार की) है। परन्तु सभी समय उनके चक्कर मे पडने की आवश्यकता नही रहती है। रोगी के अभ्यास, ऋतु, व्याधि एव उसके व्यक्तित्व के ऊपर विचार करते हुए यथा समय इनका उपयोग करना होता है।

स्नेह प्रयोग के सामान्य नियम—पचकर्मो के पूर्व कर्म के रूप मे स्नेहन कराना हो तो इन नियमो का अनुसरण करे। सूर्य के पूर्ण रूप से प्रकाशित होने पर दिन मे घृत या तैल यथोचित मात्रा मे पिलाना। पीने के पश्चात् व्यक्ति को गर्म जल से कुल्ला करना और जूता पहन कर सुख-पूर्वक टहलना चाहिये। स्नेह के पीने के पश्चात् घृत पिये रोगी को गर्म जल, तेल पिये रोगी को यूप तथा वसा और मज्जा पिये रोगी को मण्ड पिलाना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो सभी प्रकार के स्नेह-पान के अनन्तर केवल उष्ण जल (गर्म पानी) ही देना चाहिये। स्नेह पिये रोगी को प्यास लगने पर उस दिन उष्ण जल ही पीने को देना चाहिये।

विविध स्नेह के योग्य रोगी (Indications)—घृत—पित्त और वायु का शामक, रस-शुक्र-ओज और नेत्र के लिये लाभप्रद, दाह शामक, मृदुता उत्पन्न करने वाला, सुकुमारता एव सन्तान देने वाला और स्वर तथा वर्ण को चमकाने वाला, होता है अत इसका प्रयोग रूक्ष, क्षत, अग्नि-शस्त्र-विप पीडित रोगियो मे, वायु एव पित्त दोप के विकारो में तथा हीन मेधा और स्मृति शक्तिवाले व्यक्तियो मे प्रशस्त है।

तैल—वायुशामक, कफनाशक, वलवर्द्धक, त्वचा को चमकदार करनेवाला, उष्ण वीर्य, शरीर को दृढ करने वाला तथा योनि का विशोधन करने वाला होता है। अतएव इसका उपयोग कृमिकोष्ठ, क्रूरकोष्ठ, नाडी से पीडित, वाताविष्ट, वढे हुए कफ और मेदस्वी रोगियो मे विशेपत. जिन्हे तैल अनुकूल पडता हो, करना चाहिये।

वसा—अधिक स्निग्ध होती है । अत. इसका उपयोग विद्ध, भग्न और हत व्यक्तियो मे, गर्भाशयभ्रंश से पीडित स्त्रियो मे, कान एव सिर की पीडाओं मे शुक्र-क्षय मे, अधिक परिश्रम से कृश हुए व्यक्तियो मे, दीर्घकालीन वातव्याधि से पीडित हुए रोगियो मे, दीप्त अग्नि वाले व्यक्तियो मे तथा जो मारुत-प्राण हो गये हो अर्थात् वायु के कारण ही बचते आ रहे हो ऐसे व्यक्तियो में करना चाहिये ।

मज्जा—बहुत ही बलवर्द्धक होती है-शुक्र, रक्त, श्लेष्म, मेद और मज्जा को बढाने वाली होती है । अत इसका प्रयोग जहाँ पर अस्थियो की वृद्धि अपेक्षित हो जैसे अस्थिक्षय (bone T B) मे पीडित रोगियो में कराना चाहिये । साथ ही जिन व्यक्तियो का कोष्ठ क्रूर हो, जो क्लेश-सह हो, जो वातपीडित हो, जिनकी अग्नि दीप्त हो उनमें मज्जा का स्नेह लाभप्रद होता है ।

ऋतु के अनुसार स्नेहन मे विचार—शरद् ऋतु मे स्नेहन प्राय घृत से, वसन्त मे वसा एव मज्जा से, प्रावृट् (वर्षा के पूर्व) मे तैल से करना चाहिये । साथ ही यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्नेहन का उपयोग नातिशीतोष्ण काल में करना होता है । अत अति शीत या अति उष्ण काल में न करे । जैसे उष्ण काल अर्थात् ग्रीष्म काल मे, शीतकाल अर्थात् हेमन्त या शिशिर मे तथा वर्षा की वजह से उत्पन्न शीत में नही करना चाहिये । परन्तु यदि करना आत्ययिक या अत्यन्त आवश्यक (emergent) हो तो इन निषिद्ध कालो में भी किया जा सकता है । सामान्य विधान साधारण ऋतुओ मे ही करने का है ।

स्नेहन में दिन एवं रात्रि की विचारणा—दिन मे जब गर्मी अधिक हो तो स्नेहपान से मूर्च्छा, पिपासा, उन्माद, कामला आदि की संभावना रहती है । इसी तरह रात्रि मे शीत की अधिकता में स्नेह-पान से आनाह, अरुचि, शूल, पाण्डुता आदि होने लगते है । अतएव बहुत शीत या बहुत उष्ण काल मे स्नेहपान का निषेध किया मिलता है ।

शीत ऋतुओ में स्नेह-पान कराना हो तो दिन मे पिलावे और उष्ण कालो मे रात्रि में पिलावे । इसी प्रकार वायु और पित्त की अधिकता मे रात्रि मे तथा वात और कफ की अधिकता में दिन मे पिलाने का विधान है ।

मात्रा के अनुसार विचार—ह्रस्व, मध्य और उत्तम भेद से स्नेहो की मात्रा तीन प्रकार की होती है । मात्रा का निर्धारण व्यक्ति के दोष-भेषज-काल-बल-शरीर-आहार-सत्त्व-सात्म्य-प्रकृति तथा स्नेह के पचन के ऊपर निर्भर करती है । स्नेह की जो मात्रा दो याम अर्थात् ६ घण्टे में पच जाय वह ह्रस्व, जो मात्रा चार याम यानी १२ घण्टे में पच जाय वह मध्यम, जो आठ याम २४ घण्टे में

पचे वह उत्तम होती है। स्नेह के पाचन काल के ऊपर आधृत यह मात्राओ का निर्देश है।

इन मात्राओ का उपयोग रोग या दोपो की (toxæmia) की अल्पता, मध्यता एव तीव्रता के अनुसार यथाक्रम ह्रस्व, मध्य एव उत्तम क्रम से किया जाता है। साथ ही व्यक्ति के अनुसार भी मात्रा का विचार अपेक्षित है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति नित्य प्रचुर स्नेह लेता है, भूख और प्यास को वर्दाश्त कर सकता है तथा जिसकी अग्नि दीप्त है, उसके स्नेहन के लिये उत्तम मात्रा में स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। रोग की दृष्टि से विचारें तो गुल्मी, सर्पदष्ट, विसर्प पीडित, अपस्मारी, उन्मत्त, मूत्रकृच्छ्र और पाखाने की गाँठ बने व्यक्तियो मे उत्तम मात्रा में स्नेह का उपयोग करना चाहिये। जो व्यक्ति अधिक खाने वाला न हो, जिसका कोष्ठ मृदु हो, जिसका वल मध्यम कोटि का हो उसे मध्यम मात्रा मे स्नेहपान कराना चाहिये। मध्यम मात्रा का स्नेह-पान अधिकतर शोधन कार्यो के लिये कराया जाता है। इस मात्रा मे व्यक्ति का सुखपूर्वक स्नेहन हो जाता है। रोगो की दृष्टि से विचारें तो अरुंपिका, स्फोट, पिडिका, कण्डु, पामा, कुष्ठ, प्रमेह और वातरक्त प्रभृति रोगियो मे इस मात्रा (मध्यम) का स्नेह-पान कराना चाहिये। वालक, वृद्ध, सुकुमार और आराम का जीवन विताने वाले व्यक्ति, जो खाली पेट न रह सकते हो अथवा अल्पवल व्यक्ति हो, उनमे हीन या अवर या ह्रस्व मात्रा मे स्नेह-पान कराना चाहिये। रोग की दृष्टि से विचारे तो हीन मात्रा मे स्नेहपान निम्नलिखित रोगियो मे कराना चाहिये—ज्वर, अतिसार, कास, चिरकालीन दुर्वल रोगी, मदाग्नि से पीडित रोगियो मे। अज्ञात कोष्ठ वाले व्यक्तियो में भी स्नेह की छोटी से छोटी मात्रा मे (ह्रसीयसी) स्नेहन करना चाहिये।

प्रयोजन की दृष्टि से विचार—व्यावहारिक दृष्टि से स्नेहन का प्रयोग तीन प्रधान उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए किया जाता है—१ सशोधन (purging) २ सशमन (sedation) तथा ३ वृहण (tonic actions)। जहाँ पर पचकर्मो के पूर्व कर्म (preparation) के रूप मे शुद्ध सशोधन ही लक्ष्य है, उपर्युक्त नियमो के सम्बन्ध मे प्रचुर विचारणा की आवश्यकता पडती है, परन्तु जहाँ पर बढे हुए दोपो का सशमन अथवा वृहण करना ही लक्ष्य हो जैसे (avitaminosis or deficiency diseases) इनमे अधिक विचार की आवश्यकता नही रहती। सशमन के लिये आम तौर से भूख लगने पर या विना भोजन किये खाली पेट पर मध्यम मात्रा मे स्नेह पिलाना चाहिये। वृहण के लिये अर्थात कृश, दुर्वल, (T B) प्रभृति मे व्यक्तियो की

धातुओ के बढाने के लिये स्नेह पिलाना हो तो भोजन के साथ, मद्य से या मांस-रस के साथ पिलाना चाहिये।

यदि रोग के चिकित्सा-काल मे बढे हुए दोष (वात या पित्त) के शमन के लिये (संशमन क्रिया मे) यदि स्नेह पिलाना हो तो शरीर के अधोभाग के रोगो जैसे hip joint disease मे भोजन के पूर्व, मध्य भाग के शरीर के रोगो मे जैसे T B. of cæcum and colon भोजन के साथ और उर्ध्व भाग के रोगो जैसे T. B of lung मे भोजन के उपरान्त पिलाना चाहिये।

रोग के संशमन और बृंहण कार्यो मे आजकल अच्छ स्नेह का विधान बहुत प्रचलित हो गया है। प्रयोजन समान होते हुए भी आधुनिक शब्दो मे उसकी व्याख्या दूसरे ढग से की जाती है। उदाहरणार्थ—शरीर के वल और भार-क्षय पैदा करनेवाले रोग (wasting diseases), क्षय (tuberculosis), जीवतिक्ति हीनता विशेषत. ए, डी एवं डी २ (avitaminosis) असह्यता या अनूर्जता (allergic state), दुर्बलता (ill-health & debility), उपसर्गज व्याधियो से रक्षण की शक्ति बढाने के लिये (to combat the infectious diseases), अभोजन या हीनभोजन (dietetic deficiency) तथा बालको के अङ्गवर्धन, गर्भिणीके पोषण आदि बातो का ध्यान रखते हुए स्नेह-पान अर्थात् (fat or water soluble vitamins A D) का प्रयोग करने का निर्देश किया जाता है।

जीवतिक्ति ए० और डी० प्रचुर मात्रा मे जान्तववसा, घी, दूध, मक्खन, मलाई तथा मत्स्य यकृत में प्राकृतिक रूप में पाया जाता है। इन प्राकृतिक द्रव्यो के उपयोग से उनकी पूर्ति भी संभव है। आजकल कई बने बनाये योग केपलर फुड, स्काट्स एमल्शन, शार्कोफेराल, पल्मोकाड आदि सुलभ है। इन स्नेहो का उपयोग उपर्युक्त आयुर्वेदीय दृष्टि से स्नेह-पान के अतिरिक्त कुछ नही। प्रयोजन रोग का संशमन और शरीर का बृंहण दो ही है।

स्नेहन का पाश्चात्कर्म—

आहार एवं पान—यदि स्नेहपान के पश्चात् स्नेह का पाक न हो पाया हो या उसके पाक मे शका हो तो उस व्यक्ति को उष्ण जल पिलाना चाहिए। स्नेह के जीर्ण होने के बाद उस मनुष्य को गर्म जल से स्नान करावे। थोडे मे चावल के कणो को खूब गलाकर बनाई हुई यवागू को यथेच्छ पिलावे। सुगन्ध और स्नेह से रहित यूष और मांसरस पिलावे। विलेपी भी किंचित् घी डालकर पिलाई जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्नेहपायित व्यक्ति को स्नेहकाल मे

द्रव, उष्ण, अभिष्यंदी, नातिस्निग्ध एव विना मिलावट (कई अन्नो के मिश्रण) का भोजन देना चाहिए। यह भोजनक्रम जितने दिनो तक स्नेह पिया हो या पीना हो उतने दिनो तक रखना चाहिये।

आचार—आचार सम्बन्धी भी कई नियमो का पालन स्नेहकाल मे अपेक्षित है। जैसे स्नान और पान मे उष्ण जल का उपयोग, ब्रह्मचर्य, केवल रात्रि मे शयन, उपस्थित वेगो का न रोकना, व्यायाम-क्रोध-शोक-शीत और धूप, हवा के झोके से बचना, सवारी या अधिक पैदल चलना, बहुत बोलना, बहुत देर तक बैठना या खडा होना, सिर को तकिये के बहुत ऊपर या नीचे रखना तथा धुआँ-धूलि आदि मे बचकर रहना उत्तम है। जितने दिनो तक स्नेहपान किया हो उतने दिन और अधिक काल तक इन परहेजो से रहना चाहिये। आचार सबधी इन नियमो का पालन न केवल स्नेहनकर्म मे अपितु सभी पचकर्मो मे करना होता है।

काल-मर्यादा—पचकर्म या शोधन कर्मो मे व्यवहृत होने वाले स्नेहनकाल की मर्यादा तीन से सात दिनो की मानी गई है। मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति को तीन दिनो तक, मध्यम कोष्ठवालो मे चार से पाँच दिनो तक और क्रूर कोष्ठ के व्यक्तियो में छ से सात दिनो तक स्नेह-पान कराना चाहिये।

यह काल-मर्यादा चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाले स्नेहो की नही है क्योकि वहाँ पर तो रोग का सशमन या व्यक्ति का बृहण करना लक्ष्य रहता है अतएव वहाँ पर कालमर्यादा लम्बी हो सकती है। जैसे "मासमेरण्डजं तैल पिबेन्मूत्रेण सयुतम्।" गृध्रसी-चिकित्सा मे अथवा शोष की चिकित्सा मे बृहद् छागलाद्य घृत या मत्स्य यकृतवसा का प्रयोग। ये प्रयोग लम्बी अवधि तक या दीर्घकालीन हो सकते है। शोधन के कार्यो मे जहाँ पर स्नेहो का लक्ष्य स्रोतस मे लीन हुए दोषो को ढीला करना पश्चात् वमनादि कर्मो से उसका निर्हरण करना होता है कुल एक सप्ताह से अधिक स्नेहपान नही करना चाहिए क्योकि वह सात्म्य हो जाता है। फलत लाभ-प्रद भी उस दशा मे नही हो पाता।

सद्यः स्नेहन—वलहीन, कृश तथा श्रान्त व्यक्तियो मे cachexia, marasmuss symdrome etc कई बार तुरन्त स्नेहन करने वाली वस्तुओ की आवश्यकता पडती है। इस क्रिया को सद्य. स्नेहन कहा जाता है। निम्नलिखित द्रव्य इस कार्य मे व्यवहृत होते है—

१ पिप्पली चूर्ण, सैन्धवलवण, घी, तैल, वसा, मज्जा और दधि-मस्तु को एक मे मिलाकर पिलाना। २ कम चावल और अधिक दूध से बनी खीर मे घी मिलाकर गर्म गर्म पीना। ३ पिप्पली, घी, सेंधा नमक, तिल की पिट्टी और

सूअर की वसा को एक मे मिलाकर पिलाना । ४ दूध दुहने वाले वर्त्तन मे पहले से ही घी और चीनी छोडकर ऊपर दूध दुहे और धारोष्ण पिये । ५. जौ, वेर, कुल्थी इनके क्वाथ मे पिप्पली, दूध, दही, सुरा और आठवां भाग घी मिलाकर पीना । ६. दही को मलाई को गुड के साथ खाना । ७ स्नेहो में लवण मिलाकर सेवन । ८ तैल और सुरा मण्ड का सेवन । ९ सूअर के मांस-रस मे घृत और लवण मिलाकर सेवन ।

स्नेह व्यापद्—(Complications)

अतियोग—(Overdosage) अतिमात्रा मे स्नेह के प्रयुक्त होने से निम्नलिखित बाधायें उत्पन्न होती है। जैसे भोजन मे द्वेष, मुख मे स्राव, अरुचि, तन्द्रा, प्रवाहिका, गुदा मे दाह, गुरुता, मल की अप्रवृत्ति और पाण्डुता प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

अयोग—(Underdosage) हीन या अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने से निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं । जैसे पुरीष का गाठदार होना, अन्न का कठिनाई से पाक, छाती मे जलन, दुर्वलता, दुर्वर्णता, रूक्षता और डकारो का आना प्रभृति लक्षण अस्निग्ध व्यक्ति मे पैदा होते हैं ।

सम्यक् योग—(Required dosage) ठीक मात्रा मे प्रयुक्त होने से व्यक्ति में सुस्निग्धता आ जाती है, त्वचा और मेद शिथिल हो जाता है, अग्नि दीप्त हो जाती है, गात्र मृदु हो जाते हैं, अग हल्के हो जाते है, तथा गुदा से चिकनी चीज का निकलना प्रभृति लक्षण सम्यक् मात्रा में प्रयुक्त हुए स्नेह से होते है ।

प्रतिकार (Treatment)—योग और अयोग का विचार करते हुए, अतिस्निग्ध व्यक्ति का रूक्षण, साँवा, कोदो, तक्र, पिण्याक, सत्तू, तक्रारिष्ट, त्रिफला और गोमूत्र के द्वारा करना चाहिए । यदि व्यक्ति अस्निग्ध हो तो उसमे पुन स्नेह का प्रयोग करके उसका स्नेहन करना चाहिये ।

स्नेह-विभ्रम—(Allergy due to protien content in crude fat) कई वार स्नेह के विभ्रम से अति-तृषा अधिक प्यास लगना शुरू हो जाता है । स्नेह के पीने के पश्चात् यदि उसे अधिक प्यास लगे तो गर्म जल पिलाना चाहिये । फिर भी शान्ति न मिले तो गर्म जल पिलाकर वमन करा दे । शीत द्रव्यो का सिर के ऊपर लेप करे । जल मे अवगाहन करावे ।

अस्नेह्य व्यक्ति–(contra indication of fats) वहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें मेद का पाचन (digestion of fat) हो ही नही पाता । वहुत से ऐसे स्थूल व्यक्ति मिलते है जिनमे वसा या स्नेह उनकी स्थूलता (obesity) को वढाता है जिससे उन्हे लाभ के स्थान पर हानि होती है ।

वहुत ऐ सेसे श्लेष्मवहुल रोग है जिनमे मेद के प्रयोग से उसकी वृद्धि होने लगती है। इन व्यक्तियो मे स्नेह का निषेध है। क्योकि इन व्यक्तियो के रोगो मे चिकित्सा का लक्ष्य वृंहण न होकर कर्षण रहता है। इन कफ और मेदोवहुल व्यक्तियो मे रूक्षण करना ही अधिक प्रशस्त है।

जिन व्यक्तियो का मुख और गुदा अभिष्यन्न है, मदाग्नि से नित्य पीडित व्यक्ति, मद-तृष्णा और मूर्च्छा मे पडा व्यक्ति, तालु शोष से पीडित व्यक्ति, अजीर्णी (dyspeptic), तरुण ज्वरी (acute fever) जिनको वस्ति एव विरेचन दिया हो ऐसा व्यक्ति, वमनयुक्त व्यक्ति, अकाल मे प्रसूता स्त्री, अकाल मे, दुर्दिन मे, उदर और गर रोग से पीडितो मे महादोष युक्त व्याधियो मे, मर्म के रोगो में तथा ऊरुस्तभ प्रभृति रोगो मे भी स्नेहन नही करे। स्नेहन से व्याधि वढ जाती है।

वहुत से एसे रोग है जैसे कुष्ठ, शोथ, प्रमेह आदि जिनमे स्नेहन की आवश्यकता नही रहती। यदि स्नेहन करना भी हो तो विशिष्ट औषधियो से सस्कार किये गये स्नेहो के द्वारा ही करना चाहिए।

आयुर्वेद के ग्रन्थो मे रोगानुसार वहुत से स्नेहो के अनेक योग मिलते है।

संस्कृत या सिद्ध स्नेह—औषधियो के योग से पके हुए ये स्नेह दो प्रकार के है—१ आमिष जिनमे औषधियो के साथ-साथ मास भी पडा हो जैसे छागलाद्य घृत या मयूराद्य घृत या कुरङ्ग घृत आदि, २ निरामिष जिसमे केवल विशुद्ध काष्ठौषियाँ ही पडी हो, जान्तव मेद का भाग न हो जैसे कल्याण घृत, चैतस घृत आदि। रोगानुसार कथित स्नेह पुन. दो प्रकार के है—घृत के योग विभिन्न घृतो के नाम से तथा तैल के योग विभिन्न सिद्ध तैलो के नाम से। इनमे घृत का प्रयोग प्राय मुख से सेवन करने के रूप मे और तैलो का प्रयोग वाह्य अभ्यग के रूप मे अधिकतर होता है। जैसा कि पूर्व मे ही कथन हो चुका है, जीवतिक्ति ए और डी की पूर्ति इन विभिन्न घृत और तैलो से होती है जिससे शरीर की सरक्षण शक्ति (promotion of resistance) वढती है। वैज्ञानिको के अन्वेषणो से यह सिद्ध है कि कई अवस्थाओ मे (जैसे वाल-शोष मे) मुख द्वारा सेवन किया विटामिन ए और डी लाभप्रद नही होता। उस अवस्था मे त्वचा के द्वारा अभ्यग करते हुए सूर्य प्रकाश की सहायता से वह कार्यकर होता है। प्राचीन आचार्यो ने भी त्वचा से अभ्यग के रूप मे इन जीवतिक्तियो के शोषण के विचार से विभिन्न तैलो का निर्माण और उपयोग वतलाया है। ये तैल वडे वृष्य, वाजीकर और वल्य है। उनके अभ्यग और पान से विविध प्रकार की व्याधियाँ दूर होती है।

तैलो पर विचार किया जाय तो तैल भी दो प्रकार के है—

वेदनाहर या कण्डूहर (analgesic, antipruritic liniments) के रूप में जिनका प्रयोग केवल बाह्य उपयोग के रूप मे होता है और बहुत प्रकार के विषो के योग से बने रहते है, शोफ एवं पीडायुक्त स्थलो पर मालिश के रूप मे व्यवहृत होकर पीडा का शमन करते है जैसे विष तैल, विषगर्भ तैल, सैन्धवादि तैल और पंचगुण तैल आदि। कुछ खुजली आदि की शान्ति के लिए (antipruritic) व्यवहृत होते है जैसे, मरिचादि तैल, अर्क तैल आदि। बल्य एव बृंहण (tonics) के रूप मे पाये जाने वाले तैल इनमे शतावरी, असगंध, बला चतुष्टय, दूब, घृत आदि बल्य और रसायन औषधियो के योग से पक्व होकर बने है। ये त्वचा से शोषित होकर शरीर का बल बढाते है। वास्तविक स्नेह के लक्ष्य को पूरा करने वाले यही तैल है। इनका मुख से और बाह्य त्वचा से भी उपयोग होता है। जैसे नारायण तैल, विष्णु तैल एवं बला तैल आदि।

तैल और घृतो पर ध्यान दिया जाय, तो उनके भेद क्रमशः तैल (Vegetable source), घृत (animal source) है। औषधियो के योग और अग्निपाक से वे कई गुना अधिक गुण के हो जाते है। औषधियो के पाक से उन-उन विभिन्न औषधियो की वसा में घुलनशीलता (fat soluble properties) आ जाती है। इसीलिये रोगानुसार विभिन्न समुदाय की औषधियो के समुदाय से पाक भी बतलाया गया है। थोडा और विचार करे तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तैलो का निर्माण सर्वोत्तम तैल—तिल के तैल से और घृतो का निर्माण सर्वोत्तम घृत—गोघृत से होता है। इस विशेषता की वजह से भी साधारण घना के योगो मे शास्त्रोक्त ये घृत अधिक लाभप्रद ठहरते है।

कालक्रम से इन घृतो का प्रचलन अब कम होता जा रहा है। चरक की चिकित्सा देखें तो कोई रोग का अधिकार नही जिसमे दो चार घृतो का उल्लेख न आया हो, परन्तु आजके कृत्रिम युग मे शुद्ध घृत ही दुर्लभ होता जा रहा है तो सिद्ध घृतो का पूछना ही क्या है, परन्तु इस चिकित्सा को पुन जागृत करना आवश्यक है।

नवघृत और पुराणघृत—घृत दो प्रकार के पाये जाते है। नवघृत जो घी ताजा या अधिक से अधिक एक वर्ष के भीतर का हो। दूसरा पुराण अर्थात् एक वर्ष से अधिक पुराना। वास्तव मे दस वर्ष का पुराना घी ही पुराणघृत है। उससे कम पुराने घी में पुराण घृत का गुण नही पाया जाता। सौ

वर्ष तक के पुराने या उससे अधिक पुराने घृत को कुम्भसर्पि या कुम्भघृत कहा जाता है।

घृत जितना ही नया होता है उतना ही वह अधिक बल्य, पौष्टिक धातुओ का पोषण करने वाला होता है। स्नेहन के कार्यो मे इसीलिये नवघृतो का ही प्रयोग होता है, चाहे उसका अच्छ प्रयोग हो अथवा सस्कारित। घृत जितना पुराण होता है उतना ही वह शरीर को कृश करने वाला या कर्षक हो जाता है। साथ ही वह कई अन्य गुण वाला जैसे नेत्र के लिये हितकर, बुद्धिवर्द्धक तथा मेध्य होता है।

अतएव बृहण या स्नेहन के लिये सदैव नवघृतो का ही प्रयोग करना चाहिए। नवघृतो का मुख से सेवन का प्राय. विधान है, परन्तु पुराणघृतो का अधिकतर बाह्य प्रयोग, लेप और अभ्यग के रूप मे कफ का सक्षय करने के लिये।

पुराघृत का रासायनिक दृष्टि से विवेचना करने पर उसमे कई परिवर्तन होते है। घृत या तैलो को प्रकाश मे रखने से या आर्द्रता को उपस्थिति से इनमे मन्द स्वरूप की विकृति (slow decomposition) होकर वह (ransid) का रूप धारण कर लेता है। इसमे (hydrolysis) की प्रक्रिया से तृणाणु (bacteria), मधुरी (glycerine) तथा वास्तविक वसाम्ल (true fatty acids) पृथक् हो जाते है और घृत सतृप्त वसा (saturated) के रूप मे परिणत हो जाता है।

कुपिताः प्रशमयितव्याः

स्वेद-स्वेदन

स्वेद का शाब्दिक अर्थ है पसीना। किसी अग विशेष का या सर्वाङ्ग का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से अग्नि-सम्पर्क कराके पसीना लाने की क्रिया को स्वेदन कहते हैं। 'सूक्ष्म मार्गो मे पडे हुए (लीन दोष) स्वेदन-क्रिया से पिघल कर द्रव रूप मे बाहर निकल जाते है।' रोगी के स्नेहन के बाद दूसरा (अन्यतम) कर्म स्वेदन का होता है। नाना प्रकार के कृत्रिम उपायो से जबर्दस्ती पसीना लाना ही इस कर्म का प्रयोजन है। उक्ति भी मिलती है। 'विभिन्न धातुओ, सस्थानो तथा मार्गो (कोष्ठ-शाखा-सधि-अस्थि प्रभृति स्रोतसो) मे लीन हुए दोष स्वेदन से विलन्न होकर पश्चात् स्वेदन से द्रवीभूत होकर कोष्ठ मे आकर शोधन के उपक्रमो से पूर्णतया शरीर के बाहर निकल जाते है।' इनमे बहिर्मार्गगत दोषो का निष्क्रमण तो स्वेदन के द्वारा और आभ्यतर या कोष्ठगत दोषो का शोधन वमन, विरेचन, वस्ति तथा नस्य क्रियाओ से हो जाता है।

प्रकारः—

स्वेदन-क्रिया के द्वारा जहाँ पर किसी देश स्थान विशेष का स्वेदन अपेक्षित हो जैसे शोथयुक्त सन्धि या व्रण-शोफ युक्त स्थान वहाँ पर स्वेदन का उस स्थान का रक्त-सचार बढाना मात्र लक्ष्य होता है, जिससे उस स्थान के दोष सार्व-दैहिक रक्त सवहन मे आ जाय और उनका निर्हरण हो जाय और उस स्थान का शोथ शान्त हो जाय। इस प्रकार एकदैशिक शाफ को (Fomentation) कहा जाता है। यह एक प्रकार का मामूली सेक है।

स्वेदन क्रिया के द्वारा जहाँ पर सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन अभिप्रेत है वहाँ पर सम्पूर्ण शरीर का त्वचागत रक्त सवहन (Cutaneus Circulation) का बढाना रक्त वाहिनियो के सवृत मुखो को विवृत करना तथा त्वचा से जलाश का स्वेद के रूप मे दूरी-करण लक्ष्य रहता है। इस प्रकार के सार्वत्रिक स्वेदन की प्रक्रिया को (Induction of sweating) कहते है। यह एक प्रकार की विशेष प्रक्रिया है जो सम्प्राप्ति नए विज्ञान के लिए एक आयुर्वेद की नई देन हो सकती है।

इस प्रकार स्वेदन एकाङ्ग एव सर्वाङ्ग भेद से दो प्रकार का होता है। सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन सर्वाङ्ग स्वेदन तथा किसी एक अवयव का स्वेदन एकाङ्ग स्वेदन कहलाता है। उदाहरणार्थ एकाङ्ग स्वेदनो में आमाशय मे वायु के होने पर उस स्थान का रूक्ष स्वेदन, पक्वाशय में कफ होने पर भी प्रारम्भ मे स्निग्ध स्वेदन हितकर होता है। कई अङ्ग ऐसे है जिनका स्वेदन नही करना चाहिए, वंक्षण, नेत्र, हृदय और अण्डकोश। यदि अङ्गो का स्वेदन आवश्यक हो तो इन सुकुमार अङ्गो पर मृदु स्वेदन ही करना चाहिए। अन्य अङ्गो का यथेच्छ स्वेदन किया जा सकता है।

स्वेदन का कर्म मूलतः दो प्रकार का है—(१) जिसमे अग्नि के सीधे सम्पर्क (Direct) से स्वेद हो। (२) जिसमें साक्षात् अग्नि का सम्पर्क न हो, अथच व्यक्ति का स्वेदन हो जाय। प्रथम वर्ग को अग्नि स्वेद और दूसरे को अनग्नि स्वेद (Indirect) कहते है।

अनग्नि स्वेद के उदाहरणो मे व्यायाम (कसरत), उष्णगृह, मोटा और भारी आवरण (ओढना), क्षुधा, बहुत मात्रा मे मद्यपान, भय, क्रोध, उपनाह (पुल्टीस), उष्ण वायु प्रभृति दस विधियो मे बिना साक्षात् अग्नि सम्पर्क के ही स्वेदन हो जाता है।

अनग्नि-स्वेद के ही उदाहरणो मे अधुना प्रचलित विद्युत्-स्वेदन का भी ग्रहण

हो सकता है जैसे–विद्युत प्रकाश मे स्वेदन अल्ट्रा वायलेट, इन्फ्रारेड का सेवन आदि। शेष अन्य विविध प्रकार के स्वेदन अग्निस्वेद के उदाहरण हैं।

इसी प्रकार रूक्ष और स्निग्ध भेद से भी स्वेदन के दो प्रकार हो जाते हैं। जैसे वालुका, हथेली, वस्त्र, सेंधा नमक, और पत्थर आदि को गर्म करके सेकना रूक्ष (Dry fomentation) स्वेदन तथा खोवे (किलाट), मासादिको की पोटली बनाकर उससे सेंकना स्निग्ध स्वेद (Wet-fomentation) कहा जाता है। इसी वर्ग मे तैल या घृत की मालिश करके सेकना तथा उष्ण जल आदि से सेकना भी आ जाता है।

विधि भेद से पुन स्वेदन के चार वर्ग हो जाते हैं—ताप स्वेद—(Dry fomentation), ऊष्म स्वेद (Vapour fomentation), उपनाह स्वेद (Poultice) तथा द्रव स्वेद (Wet fomentation)। आज कल की चिकित्सा मे कई प्रकार के उष्ण-स्नान (Hot-warm bath) तथा वाष्प स्नान (Vapour bath) प्रचलित हैं। उनका उद्देश्य प्राचीनोक्त स्वेदन के अतिरिक्त और कुछ नही है। ये स्नान स्थानिक या सार्वदैहिक तथा सौषध अथवा निरौषध हो सकते हैं। इन स्नानो के द्वारा निम्नलिखित लाभ होते हैं। —

(१) त्वचा को मृदु करते हुए मेद के स्रावो को द्रवीभूत कर देते हैं फलत कई प्रकार के त्वचा के रोगो मे व्यवहृत होते हैं। (२) स्थानिक रक्ताभिसरण को बढा कर कोष्ठगत् रक्ताभिसरण को कम कर देते है जिससे आन्त्रगत, पित्ताशयगत तथा वृक्कगत शूल प्रभृति शूल कम हो जाते है। (३) धातुओ को शिथिल कर देते है जिससे पेशीगत आकुचन दूर हो जाते है, फलत तीव्र उदर शूल, प्रसेक सकोच, आन्त्र वृद्धि, शैशवीय आक्षेप तथा स्वर यन्त्र का आकुचन प्रभृति आकुचन जन्य पीडाओ के उपचार मे व्यवहृत होतेहै। (४) स्वेद ग्रथियो (Suderiferrous glands) से स्रावो को वढा देते है जिससे वृक्क रोगो मे लाभ होता है और मूत्र-विषमयता मे भी आराम मिलता है।

इन स्नानो के पूर्व और पश्चात् रोगी की तत्परता से रक्षा करनी चाहिए। स्नान के पश्चात् उसके शरीर को सुखा कर गर्म विस्तर पर लेटा देना चाहिए। उष्ण पेय-चाय-दूध आदि देना चाहिए। आधुनिक युग मे कई प्रकार के स्नान प्रचलित है। जैसे—

(१) कदुष्ण स्नान (Tepid bath)—किंचित् उष्ण जल से ८५° से

९५° के तापक्रम के जल से स्नान कराना। यह स्नान ज्वर, जीर्णज्वर तथा बेचैनी मे लाभप्रद होता है।

(२) उष्ण स्नान (Warm bath) ९५°-१००° के तापक्रम के जल मे स्नान कराना श्वसनिका शोथ और फुफ्फुस पाक मे लाभप्रद है।

(३) अत्युष्ण स्नान (Hot bath)—जल का ताप क्रम १००°-१०६° तक। कार्य उपर्युक्त की भाँति। अधिक शक्तिशाली।

(४) अत्युष्ण पाद स्नान (Hot foot bath) प्रतिश्याय, नासागत रक्तस्राव, शीत के कारण रुके रज स्राव के चालू करने के लिए अत्युष्ण जल से पैरो का धोना।

(५) अति उष्ण कटि-स्नान (Hot sitze bath) आर्तवादर्शन, कृच्छ्रार्तव, शीतजन्य आर्तवरोध और मूत्राशय शोथ में निर्दिष्ट है। थोडा सर्षप डालकर खौलाया जल अधिक लाभप्रद होता है।

(६) अत्युष्ण जल प्रोक्षण—(Hot water sponging) सिर, शंख प्रदेश और गर्दन को जल से सेक करना प्रतिश्याय में होने वाले शिर शूल का शमन करता है।

(ख) वाष्प स्नान (Vapour bath)—बेंत की बिनी कुर्सी पर रोगी को बैठाकर ऊपर से कम्बल ओढाकर रोगी को पूर्णतया ढक दे। सिर का भाग खुला रखें। कुर्सी के नीचे एक स्प्रिट लैम्प जला कर उस पर पानी से भरा वर्त्तन रख कर खौलावे। उसके वाष्प मे रोगी का स्वेदन होने लगेगा। यह वाष्प—औषधियो को खौला कर सौषध (Medicated) या निरौषध (Non medicated) भी हो सकता है। इस स्वेद का उद्देश्य और परिणाम उष्ण जल स्नान सदृश ही है। इसके पुनः दो प्रकार होते है। रूसी स्नान (Russian bath) जिनमें विभिन्न तापक्रम के वाष्प मे स्वेदन और तुर्क स्नान (Turkish bath) जिसमें शुष्क वायु से स्वेदन किया जाता है। आमवात, वातरक्त, सन्धिवात, त्वचा एवं वृक्क रोगो में लाभप्रद। प्राचीन नाडी स्वेद (Medicated Vapour bath) का ही प्रतीक है।

(ग) उष्ण वायु स्नान :—रोगी को कम्बल से आवृत करके उसके भीतर गर्म हवा को प्रवेश कराया जाय या एक लकडी के बने फ्रेम में कई विद्युत के बल्व लगा कर उसके बिस्तर पर रख दिया जाय तो स्थानिक वायु उष्ण होकर स्वेदन में समर्थ होगी। इस प्रकार की स्वेदन-विधि के विभिन्न प्रकारो के साधनो का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रन्थो मे पाया जाता है जिनका एकैकश वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन चार वडे वर्गो के भीतर ही चरकोक्त तेरह प्रकार के सामान्य तथा विशिष्ट स्वेदनो के उल्लेख आ जाते हैं ।

(१) संकर या पिण्ड स्वेद :—(१) तिल, उडद, कुल्थी-अम्ल-घृत, तैल, मास, चावल का भात, कृशरा, या खीर का पिण्ड वनाकर सेकना ।

(२) गाय, गदहा, सूअर या घोडे की लीद, जौ की भूसो आदि का पिण्ड गोला जैसा वना कर उसे आग पर गर्म करके सेंकना पिण्ड स्वेद कहलाता है । रूप के अनुसार ही स्वेद का नामकरण किया गया है । यदि वालू, धूल, पत्थर, राख आदि को कपडे मे वाँध कर पोटली वना कर उसे गर्म करके स्वेदन किया जाय तो यह पोटली स्वेद या पुटक स्वेद कहलाता है ।

इमे भी पिण्ड स्वेद के वर्ग मे ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार कपडे के भीतर लपेट कर पोटली जैसे वनाकर या वैसे ही लोष्ठ वनाकर जो स्वेदन की क्रिया की जाती है उसे सकर स्वेद कहते हैं । सकर स्वेद का पर्याय पिण्ड स्वेद है ।

नाडी स्वेद—ग्राम्य (पालतू सूअर आदि), अनूपदेशज (जगली सूअर, गैण्डा आदि) तथा औदक मास (जल मे पाए जाने वाली मछली आदि के मास) दूध के खोवे, वकरे के मस्तिष्क, सूअर के मध्य भाग और रक्त, स्निग्ध तिल, तण्डुल को किसी वर्तन मे रख कर आग पर चढाकर उससे एक नाडी (Tube) लगाकर उनके भाप मे स्वेदन क्रिया को नाडी स्वेद कहा जाता है । इससे देश, काल और युक्ति का विचार करते हुए प्रयोग करना चाहिए । इन द्रव्यो का नाडी स्वेदन विशेषत वायु के दोषो (Nuralgia) मे भी लाभ-प्रद होता है । ये सभी द्रव्य प्रोटीन तत्त्वयुक्त होते हैं ।

वरुण गुडूची, एरण्ड, सहिजन, मूली, सरसो, अडूसा, वाँस, करज, अर्क पत्र, अश्मातक, शोभाञ्जन, झिण्टी, मालती, तुलसी, सर्ज प्रभृति वनस्पति उपर्युक्त विधि से खौला कर उसके वाष्प से नाडी द्वारा स्वेदन करना भी सभव है । इनका प्रयोग कफपित्ताधिक्य मे जैसे Respiratory diseases, filariasis आदि मे किया जाता है । इसी तरह मूली, पचमूल, सुरा, दधिमस्तु, मूत्र, अम्ल द्रव्य, और स्नेहो के द्वारा भी नाडी स्वेद का प्रयोग वातश्लेष्मिक विकारो मे किया जा सकता है ।

३ **कोष्ठ स्वेद**—ऊपर कही गई औषधियो का जल मे क्वाथ बनाकर या केवल खौला कर या दूध मे पकाकर, तेल मे पकाकर या घृत मे पकाकर एक वडे वर्तन मे उसमे तेल या घी को भर दिया जाय और उसमे रोगी को खूब तेल लगा कर नहाने या वैठने की व्यवस्था की जाय तो इस क्रिया को अवगाहन या

कोष्ठ स्वेद कहते हैं। इसके लिए एक हौज, टंकी या बड़ा टब होना चाहिए। कोष्ठ चार प्रकार के हो सकते हैं—जल कोष्ठ, क्षीर कोष्ठ, तैल कोष्ठ और घृत कोष्ठ। व्यक्ति की व्याधि और आर्थिक दशा के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिए, इसी का दूसरा नाम अवगाहन स्वेद भी है। यह एक प्रकार का Tub bath है। कोष्ठ में उष्ण क्वाथ, क्षीर, तैल या घृत भरकर उसमें रोगी को बैठाना या स्नान कराया जाता है।

४ उपनाह-स्वेद :—यह एक प्रकार का आग्नेय स्वेद होता है। इसमें जौ या गेहूँ की दलिया या आटा लेकर अम्ल द्रव्यों के साथ मिलाकर या कूटा बीज, सेन्धानमक और कोई स्नेह मिलाकर या जीवन्ती, सुगन्धित सौंफ, [illegible], कुष्ठ, गन्ध द्रव्यों के तेल से मिलाकर खूब अच्छी तरह से पीस कर किसी बर्तन में गर्म करके विकार-युक्त स्थल पर लेप करके ऊपर बिना बाल किए लोमवाला चर्म से ऊपर से बाँध देना चाहिए। यदि ऐसा न मिले अथवा कोई भी चर्म आदि सुलभ न हो तो कौशेय वस्त्र या कम्बल के टुकड़े से बाँधना चाहिए। कौशेयवस्त्र अण्डी या सिल्क के वस्त्र को कहते हैं।

उपनाह स्वेद के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि रात्रि का बाँधा हुआ उपनाह दिन में खोल दे और दिन के बाँधे उपनाह को रात्रि में खोल दे। क्यो कि इसमे अधिक काल तक बंधन के पड़े रहने से विदाह या स्फोट का भय रहता है जिससे रोगी के अनिष्ट की सभावना बनी रहती है।

५ प्रस्तर-स्वेद :—'प्रस्तीर्यते इति प्रस्तर.' स्वेदन की वस्तुओं का आदमी के सोने लायक प्रमाण में फैला कर (विस्तीर्ण कर) पुन उन पर व्यक्ति का स्वेदन करना प्रस्तरस्वेद कहलाता है। इस कार्य मे शूक और शिम्बी धान्य के पत्तो के फैलाए हुए स्थान पर अण्डी और भेड़ के कम्बल विस्तीर्ण प्रच्छद पर अथवा एरण्ड और अर्क पत्र के प्रच्छद पर खूब अच्छी तरह से व्यक्ति के शरीर पर तेल की मालीश कराके उसी पर सुला कर स्वेदन करना प्रस्तरस्वेद कहलाता है। इसके लिये आदमी के कद की एक शिला बनाकर उसको तप्त करके फिर उसके ऊपर पत्तियो को बिछा कर युक्ति पूर्वक लेटा कर स्वेदन करना होता है।

६ परिषेक-स्वेद :—वातोत्तर श्लैष्मिक रोगो में या वायु के रोगो मे मूलकादि जो वातघ्न द्रव्य ऊपर में बतलाए जा चुके हैं उनको पानी में उबाल ले। पुन इस उबाले जल जो किंचित् उष्ण हो अर्थात् बर्दाश्त के योग्य उस तापक्रम में लेकर किसी सहस्रधार वाले घटे मे या अनेक छिद्र नाडी युक्त बर्तन मे (हजारा में) भर कर रोगी को वस्त्र से अच्छादित कर उस जल की

धारा या फव्वारे से स्नान करावे। इस क्रिया को परिषेक स्वेद कहते है। इस विधि मे क्वथित जल के लिए चरक ने तीन प्रकार के वर्त्तनो का नामोल्लेख किया है। कुम्भी (घडा), वर्षणिका (छोटा घडा या सहस्र धारा–सहस्र छोटे छिद्रो से युक्त घट) तथा प्रनाडिका (ऐसी नलिका जिसमे अनेक मुख से जल का परिषेक हो सके)। यह भी आधुनिक दृष्टि मे एक प्रकार की Warm spunging है।

९ जेन्ताक-स्वेद :—यह एक स्वेदन के लिये विशेष प्रकार का वृहद् आयोजन युक्त स्वेदन विधि है। इसमे वस्ती के पूर्व या उत्तर भाग मे प्रशस्त एव समान भूमि-भाग मे जहाँ कि मिट्टी काली, मधुर या सोने के रङ्ग की हो, जहाँ पर कोई दीर्घिका-पुष्करिणी (छोटा पोखरा या जलाशय) हो उसके पश्चिम या दक्षिण के किनारे पर एक गोल आकार का कमरा (कूटागार) बनाया जाता है। इसके विपरीत दिशा मे अर्थात् पूर्व या उत्तर दिशा मे सुन्दर उपतीर्थ अर्थात् घाट वने हो। यह कमरा पानी की सतह से सात या आठ हाथ की ऊँचाई पर होना चाहिए। कमरे की लम्बाई और चौडाई को उसका व्यास समझना चाहिए। कमरा मिट्टी का और वहुत सी खिडकियो से युक्त होना चाहिए। कमरे की लम्बाई और चौडाई सोलह-सोलह हाथ की होनी चाहिये यह चूँकि गोलाकार वनेगा, अस्तु इस लम्बाई-चौडाई को उसका व्यास समझना चाहिए। इस कमरे के अन्दर की ओर चारो ओर की गोलाई मे एक हाथ ऊँची एक पिण्डिका (कमरे की दीवाल से लगा चवूतरा) वनाना चाहिए। जो दरवाजे तक आवे। यह व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि कोई व्यक्ति दरवाजे से प्रवेश करके उस पिण्डिका के ऊपर चढ कर घूमता हुआ पूरे कमरे की गोलाई मे परिक्रमा करता हुआ पुन उसी दरवाजे से निकल कर आ सके।

इस कमरे के मध्य मे चार हाथ लम्वी अर्थात् आदमी के माप की एक मिट्टी की वनी भट्टी (कन्दुक के आकार की) होनी चाहिए। इस भट्टी में वहुत-से छोटे-छोटे छिद्र होने चाहिए, उसके मध्य मे अंगार-कोष्ठ (लकडी जलाने का स्थान) होना चाहिए। साथ ही एक पिधान (ढक्कन) की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे आवश्यकता के अनुसार उसका द्वार वद किया जा सके। इस अगार-कोष्ठ मे या खण्ड मे खदिर और अश्वकर्ण की लकडी जला देनी चाहिए। जव लकडी अच्छी तरह से जल जाय वह धूवें से रहित और अगार के रूप मे हो जाय और पूरा कमरा उस अग्नि के ताप से तप्त हो जाय तो रोगी व्यक्ति के स्वेदन की व्यवस्था करे।

जिस व्यक्ति का स्वेदन करना हो उसका वातघ्न तैलो से अभ्यंग करा के कपड़े मे पूरे शरीर को आच्छादित करके प्रवेश करावे। उसे इस बात से पूरी तरह से आगाह कर दे कि वह इस स्वेदन-गृह मे अपने कल्याण और आरोग्य लाभ के लिए जा रहा है। पिण्डिका पर चढ कर सुखपूर्वक स्वेदन करे। सुखपूर्वक पिण्डिका पर विचरे और लेटे। लेट कर सुखपूर्वक एक करवट या दूसरी करवट से अपने को सेंके। परन्तु पिण्डिका का परित्याग न करे। स्वेद और मूर्च्छा से बेचैन होने पर भी जब तक प्राण हो पिण्डिका के नीचे नही उतरे पिण्डिका के ऊपर ही रहे। पिण्डिका के छोड़ देने पर या नीचे आ जाने पर दरवाजे तक नही आ सकेगा और मूर्च्छित हो जावेगा और जीवन से भी हाथ धोना पडेगा। इस लिए पिण्डिका को नही छोड़े।

जब उसे यह प्रतीत होने लगे कि उसका अभिष्यन्द या भारीपन (Congestion) दूर हो गया, सभी स्रोत खुल गए, सम्यक् प्रकार से स्वेद-बिन्दुओ का स्राव हो गया, उसका शरीर हल्का हो गया, उसके शरीर का विबन्ध, स्तम्भ (जकडाहट), सुप्तता, वेदना और भारीपन दूर हो गया तो वह पिण्डिका का ही अनुसरण करते हुए दरवाजे से बाहर निकले। वहाँ से बाहर आकर नेत्रो की रक्षा के लिए सहसा शीतल जल का स्पर्श न करे। थोडी देर तक या जब तक उसका ताप, थकावट और पसीना शान्त न हो जाय विश्राम करे। पश्चात् सुखोष्ण (गुनगुने) पानी से स्नान करे तदनन्तर भोजन करे।

८ **अश्मघन स्वेद**:—पुरुष के प्रमाण की एक लम्बी, मोटी और चौडी शिला, (पत्थर की शिला) को वातघ्न लकडियो को जला कर उसके भीतर छोड कर, अंगारो से तप्त करके, पुन अगारो को पृथक् करके शिला को निकाले। फिर इस शिला का गर्म जल से प्रोक्षण करके अर्थात् शिला पर गर्म जल डाल कर उसके ऊपर अण्डी की चादर या कम्बल बिछा कर उसके ऊपर अच्छी प्रकार से अभ्यंग किये व्यक्ति को लेटा कर स्वेदन करावे। इस स्वेदन वाले व्यक्ति का भी शरीर सूती, ऊनी या रेशमी वस्त्र से ढका होना चाहिए। इस स्वेदन विधि को अश्मघन स्वेदन कहते है। इसको शिलास्वेद भी कह सकते है।

९ **कर्षू स्वेद**:—सोने के लिए बनी चारपाई के नीचे एक गड्ढा खोदे, जिसका मुख छोटा किन्तु अन्दर का पेट बड़ा हो, उसमें निर्धूम अङ्गारो को डाल कर उसे भर दे, पुनः व्यक्ति को चारपाई के ऊपर सुला कर उसका सुख पूर्वक स्वेदन करावे।

१० **कुटी-स्वेद**:—अल्प प्रमाण की ऊँचाई, बहुत मोटी दीवाल की जिसमें खिडकियाँ न हो, तथा जिसका विस्तार, लम्बाई, चौड़ाई भी अधिक न

हो, ऐसी एक गोलाकार कुटी बनावे। इसके दीवाल की अगर प्रभृति सुगन्धित और उष्ण द्रव्यो से पुताई करा दे। कुटी के बीच मे एक स्वास्तीर्ण विस्तर जिसमे सुखपूर्वक सोया जा सके ऐसा विस्तर लगावे। इस शय्या के विस्तर के ऊपर मृगचर्म, कम्वल, कुशा की चटाई, अण्डी के वस्त्र प्रभृति उष्ण कपडे होने चाहिए। कुटी के चारो ओर दीवाल के सम्पर्क मे निर्धूम जलते अगारो की कई अगीठियाँ रख दी जाती हैं। अभ्यक्त शरीर हो, स्वेदन के योग्य व्यक्ति का प्रवेश करा के उस शय्या पर लेटा कर सुखपूर्वक स्वेदन कराना चाहिए। इस स्वेद-कुटी का प्रवन्ध प्रशस्त, निवात और सममूमि मे करना चाहिए।

११ कुम्भी स्वेद —वातघ्न क्वाथो से भरे हुए घट को जमीन मे गड्ढा करके स्थिर कर दे। उसके ऊपर चारपाई लगा दे। चारपाई इस प्रकार लगावे कि घडे के टूटने का भय न हो। उसके ऊपर चारपाई का आधा या तिहाई भाग रहे। चारपाई के ऊपर एक हलका या पतला विस्तर होना चाहिए। इसके ऊपर स्वेदन वाला व्यक्ति सकुचित अंग होकर तेल का अभ्यग करके लेट जाये। अव इस घडे मे तप्त किए लोहे के टुकडे या पत्थर के टुकडे छोडे। इसके वाष्प से व्यक्ति का भले प्रकार से स्वेदन हो जाता है।

१२ कूप स्वेद :—कूप या कुवे के आकार का कुछ गहराई का एक गड्ढा वनावे जिसका विस्तार सामान्य कुओ से द्विगुण हो या जिसकी लम्वाई, चौडाई इतनी हो कि उसके ऊपर सोने का आसन लगाया जा सके। इस कुएँ का निर्माण प्रशस्त भूमि मे और निर्वात स्थान पर कराना चाहिए। इसके अन्दर का भाग साफ और चिकना होना चाहिए। इसके भीतर हाथी, घोडे, गाय, गधे, और ऊँट की लीद भर कर जला दे। इसके ऊपर अभ्यक्तशरीर व्यक्ति अपने शरीर को कपडे से ढक कर लेट जावे और सुखपूर्वक स्वेदन करावे।

१३ होलाक-स्वेद—गोहरे या उपले के चूर्ण को जला दे। जव यह निर्धूम और लाल हो तो उसके उपर शय्या विछावे। स्वेदन वाला व्यक्ति अपने शरीर मे तेल का अभ्यग कराके वस्त्र से आच्छादित होकर इस विस्तर पर लेट कर सुखपूर्वक स्वेदन करावे।

इस प्रकार अग्नि स्वेद के तेरह विधानो का वर्णन चरकसंहिता सूत्रस्थान के चौदहवे अध्याय मे पाया जाता है। इसके अलावे अनग्नि स्वेद के भी दस प्रकार हैं, जिनका उल्लेख ऊपर मे हो चुका है। इनके नाम ये है—१ व्यायाम, २ उष्ण गृह, ३ गुरु प्रावरण, ४ क्षुधा, ५ बहुत मद्यपान, ६ भय, ७ क्रोध, ८ उपनाह। अनग्नि उपनाह-उष्ण द्रव्यो का मोटा लेप करने से ही स्वेदन हो

जाना, ९ आतप (धूप), १०. उष्णवात। * कुल मिलाकर तेईस प्रकार की स्वेदकी विधियाँ हैं।

स्वेद का विधान—इन विभिन्न प्रकार के स्वेदन विधियों का प्रयोग देश, दोष, द्रव्य, बल, प्रकृति, सात्म्य, विकार आदि का विचार करते हुए करना चाहिए। संक्षेप में कुछ तो मृदु स्वरूप के सेंक (fomentation) के लिए और कुछ विधियाँ मध्यम और महा स्वरूप के स्वेदन (Inudction of sweating) के लिए बताई गई है।

इनमें ऋतु शीत हो, व्याधि महाबलवान हो, रोगी भी बलवान हो तो महास्वेद का विधान मध्यम बल हो तो मध्यम स्वरूप का स्वेद और दुर्बल हो तो मृदु स्वरूप का स्वेदन करे। आमतौर मे वायु और कफ के विकारो मे स्वेदन लाभप्रद होता है।

स्वेदन का प्रयोग कदापि शरीर का अभ्यंग या शरीर का स्नेहन किए विना नही कराना चाहिए क्योंकि व्यवहार मे देखा जाता है कि विना तेल लगाए लकडी का स्वेदन करने से वह टूट जाती है। इसके विपरीत तेल लगा कर स्वेदन करने से सूखी हुई लकड़ी भी झुकाई या मोडी जा सकती है। इसीलिए स्वेदन के पूर्व स्नेहन का विधान ग्रंथो में बतलाया जाता है।

जीवित शरीर का सदैव स्नेहन के अनन्तर स्वेदन करना चाहिए—स्नेह के प्रयोग से सूक्ष्म रोमकोषो मे पडे दोष शिथिल हो जाते है, पुन. स्वेदन से पिघल कर बाहर निकल आते है, इन सूक्ष्म स्रोतसो के मुख खुल जाते हैं। शरीर के अन्दर पडे विषो का त्याग स्वेदन के जरिए हो जाता है। रोगी रोग से मुक्त हो जाता है।

स्वेदन के पूर्व स्नेहन का एक दूसरा भी लक्ष्य है—तेल या घृतो की सहायता से उष्णता अपेक्षाकृत अधिक गहराई तक पहुँचाई जा सकती है। जिससे गहराई में स्थित दोषो का शमन रक्ताभिसरण की वृद्धि के द्वारा शीघ्रता से होता है।

स्वेद-साध्य रोगी (Indication of sweating)

श्वास (Asthma), कास Cough due to inflamation of the Respiratory and Extra respiratory passages

---

* व्यायामं उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा
बहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपा.
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते। (चरक सू १४)

producing symptions of Cough, प्रतिश्याय (Rhinitis+Coryza), हिक्का (Hiccough), विबंध (Constipated bowels), स्वरभेद (Soar throat), वात व्याधि जैसे, अर्दित, पक्षाघात, कर्णमन्याशिर-शूल (Diseases of Nervoussystem like Facial paralysis Paraplagia, Earache Headache etc), आमवात (Rheumatism) (Spasm) भारीपन (Heavyness), कटिग्रह (Lumbago), पृष्ठग्रह (Bachache) पार्श्वग्रह (Stiffness of the chest) कुक्षिग्रह (stiffness of the abdomen) हनुग्रह (Lock jaw) वृषण वृद्धि (Orchitis) खल्ली (Tetany) अपतानक (Tetanus) वातकटक (Glossitis) मूत्रकृच्छ्र (Painful Micturations) अर्बुद (New growth) ग्रन्थी (Cyst) शुक्राघात (Inflamation of the Serminal vessicle) प्रभृति रोगो मे चतुर्विध स्वेदो मे या तेईस प्रकार के स्वेदनो मे जहाँ जो उचित जान पडे उसका प्रयोग करना चाहिए।

अस्वेद्य रोगी--Contra idcication of sweating

अतिस्थूल (obesity), अतिकृश (Very weak), अतिरूक्ष (Starvad) मूर्च्छित (Syncopric and fainted), स्तभन के योग्य (Where astringets are required), क्षत-क्षीण (T B Hemoptysis), मद्य के विकार वाले (chronic Alcoholism), तिमिर (Progressive catract or gradual Loss of vision), उदर रोग (Ascitis) शोप (Consumption), आढ्यवात, दूध, दही और मधु दिए रोगी, विरेचित रोगी (जिनका Purging हुआ हो), गुदभ्र श (Anal Prolapse) ग्लानि-शोक-क्रोध-भय से पीडित (Worried), कामला (Jaundice), पाण्डु-रोग (Anaemia), क्षुधित-तृषित-रक्तपित्त (Haemorrhagic Diseases), विषयुक्त रोगी (Poisoning), गर्भिणी (Preganancy), पुष्पिता स्त्री (During Menstruation), सद्य प्रसूता (Peurapereum) तथा अतिसार पीडित (Diarrhea) मे स्वेदन न करे।

इन अवस्थाओ मे स्वेदन करने से विकार का शमन नही होता, प्रत्युत-रोग के बढने और व्यक्ति के शरीर-नाश का भय रहता है।

स्वेद का योगायोग--

सम्यक्-स्वेद-भले प्रकार से स्वेदन हो जाने पर अग्नि की दीप्ति, मृदुता, त्वचा की प्रसन्नता, भोजन मे रुचि, स्रोतसो का निर्मल होना, निद्रा एव तद्रा का नाश, स्तब्ध सन्धियो का चेष्टायुक्त होना, स्वेद का स्राव, रोगहीनता, लघुता,

शीतल वस्तुओ के प्रति इच्छा प्रभृति लक्षण होते है। जब ये लक्षण उत्पन्न हो जाय तो स्वेदन बन्द कर देना चाहिए।

अयोग—मिथ्या या असम्यक् स्वेद मे इनके विपरीत लक्षण पाये जाते है।

अतियोग—(Heat Exhaustion or Heat stroke) अत्यधिक मात्रा मे स्वेदन होने से सधि शूल-विदाह (Nuiitis) स्फोटोत्पत्ति (Rashes), पित्तरक्तकोप (Haemorrhage), मूर्च्छा (sycope), भ्रान्ति (Giddiness), दाह (Burning), पिपासा (Thirst), थकावट (Exhaustion), प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

पश्चात् कर्म—After Treatment

स्वेदन के अनन्तर अगो का मर्दन करके उष्ण जल से स्नान करे। स्नेहन विधि में कथित नियमो का पालन करे। स्वेदन काल मे पद्म उत्पल और पलाश पत्र के द्वारा या शीतल जल के द्वारा पात्र से अथवा कमल या मुक्ता की माला से हृदय और नेत्रो की हिफाजत करनी चाहिए।

वमन विरेचन (Emesis and Purgation)

प्रयोजन :—कोष्ठगत (Thorax and Abdoman) दोषो को निकालने मे मुख्यत. वमन और विरेचनो का प्रयोग होता है। इसलिए ऊर्ध्व भाग के दोष हरण को वमन और अधोभाग के दोष हरण को विरेचन कहते है। अथवा दोनो उपक्रम को ही शरीर के मलो के विरेचन करने के कारण विरेचन कह सकते है। सस्थान का प्रक्षालन (Flushing of system) इसका प्रधान उद्देश्य है। वमन आमाशय प्रभृति पचन सस्थान के ऊपरी भाग (Upper digestive tract) तथा श्वसन मार्ग तथा हृदयादि अगो (Respiratory and cordial) की शुद्धि (Thoracis organs) करता है तथा विरेचन, पाचन-संस्थान, यकृत् प्लीहा (Reticulo Endothelial System) तथा स्त्रियो मे गर्भाशयादि की भी शुद्धि करता है।

द्रव्य-गुण (Properties)

वमन करने वाले द्रव्य प्राय वायु एवं अग्नि गुण भूयिष्ट अर्थात् तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकासी गुण होने वाले एवं सम्पूर्ण शरीर के दोषो के संघात को विलीन (उष्ण होने से पिघला कर) करके, छिन्न करके (तीक्ष्ण होने की वजह से) कही पर विना रुके इधर-उधर वहता हुआ (स्नेह के पूर्व प्रयोग से चिकने कोष्ठ मे) संकीर्ण मार्गों से गुजरते हुए (अणु या सूक्ष्मता के कारण) आमाशय में दोषो को लाकर उदान वायु से प्रेरित होकर, प्रभाव से दोषो को निकाल देते है।

मत इसको वमन कहते है। इसके विपरीत जल और पृथ्वीतत्व की अधिकता से तथा अधोभाग पर प्रभाव करने के कारण जो द्रव्य अधोभाग से पखाने के रास्ते मलो को निकालते है, इसको विरेचन कहते हैं। कई बार दोनो गुणो से सम्पन्न औषधियाँ वमन और विरेचन भी कराने मे समर्थ होती है।

द्रव्य (Drugs Emetics and Purgativies)

वमन के लिए प्रयुक्त होने वाली बहुत-सी काष्ठौषधियाँ हैं, उनमे प्रमुखतया मदनफल, जीमूतक (पीली तरोई), इक्ष्वाकु (कडवीलौकी), धामार्गव (कडुवी तरोई), कुटज, कृतवेधन प्रभृति ओषधियो का उपयोग पाया जाता है। मदन-फल को सर्वश्रेष्ठ वामक माना जाता है क्योकि इससे हानि (Side effects) की सभावना अल्पतम रहती है।

विरेचन के द्रव्य मे श्यामा, त्रिवृत् (निशोथ), आरग्वध, तिल्वक (लोध्र), सुधा (सेंहुड), सप्तला, शखिनी, दन्ती और द्रवन्ती प्रभृति औषधियो प्रमुख-तया व्यवहृत होती हैं। त्रिवृन्मूल को श्रेष्ठ विरेचन बतलाया गया है क्योकि यह त्रिदोषघ्न और सभी रोगो का शामक होता है। सुधा (सेंहुड) को तीक्ष्णतम विरेचन बतलाया गया है।

वमन-क्रिया—वमन एक ऐसा जटिल कर्म (Complex Phena-mena) हैं कि जिसके उत्पादन मे शरीर के विभिन्न अगो को एक साथ कार्य करना पडता है। सर्वप्रधान भाग मस्तिष्क-सेतु मे स्थित केन्द्र-वमन केन्द्र (vomiting centre) करता है, जो विविध कारणो से उत्पन्न सवेदनाओ को सावेदनिक नाडी सूत्रो से ग्रहण करके एव उत्तेजित होकर कार्य करने लगता है। मस्तिष्क सेतु स्थित यह वमन केन्द्र कई प्रकार से उत्तेजित हो सकता है, जैसे (१) साक्षात् (Direct) (क) मस्तिष्कगत, रक्त सचार मे रक्ताल्पता प्रभृति कारणो से बाधा उत्पन्न होने से (ख) यान्त्रिक या रासायनिक पदार्थों की उत्तेजनाओ से जैसे—मस्तिष्कगत की अर्बुद-वृद्धि या उभार का (Pressure), मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ, मूत्र-विषमयता आदि विकारो मे।

२ अप्रत्यक्ष—(Indirect) शरीर की बाह्य उत्तेजनाओ से केन्द्र का उत्तेजित होना जैसे—विकृत स्वाद का द्रव्य, घृणा उत्पादक, द्रव्य या दृश्य, दुर्गन्ध, तीव्र पीडा (जैसे वृक्क शूल), कर्णान्त भाग की बाधाएँ, समुद्र या आकाशमार्ग की यात्रायें कुछ विष तथा औषधियाँ।

वमन को उत्तेजित करने वाले द्रव्यो को वामक (Emetics) कहते है। वमन के साथ मिचली, लाला स्राव, पसीना, श्वसन मार्ग से स्रावो का निकलना, अन्न-नलिका से पानी का स्राव, तेजनाडी तथा अनियमित श्वसन प्रभृति

आयुर्वेद मे कथित औषधियाँ जो विरेचन के नाम से व्यवहृत होती हैं उनमे कुछ तो अपने अशोषण के गुण के कारण, कुछ जल के शोषण को रोक कर, और कुछ आन्त्रो मे क्षोभ पैदा करके तथा आन्त्र गति को बढा कर रेचन के कार्य मे सफल होती है।

उपयोग-विधि या कल्प :—(Administration)

इन द्रव्यो को देह, दोष, दूष्य, प्रकृति, वय, बल, अग्नि, भक्ति, सात्म्य और रोग की अवस्था प्रभृति बातो को ध्यान मे रखते हुए इनके गन्ध, वर्ण, रस-आस्वाद को सेवन को अनुकूल बनाते हुए अथवा विविध तद्गुण औषधियो के सयोग करते हुए–विविध कल्पो कल्पना या बनावटो (Preparations) मे स्वरस, कल्क, कषाय, फाण्ट, चूर्ण जैसे वदर, षाडव, राग, लेह (चटनी), लड्डू उत्कारिका, तर्पण, पानक, पेय, शर्बत, मासरस (शोरवा), यूष आदि के रूप मे प्रयोग करना चाहिए। दोषानुसार कई अनुपानो के साथ या स्वतन्त्रतया भी इनका उपयोग सम्भव है जैसे वात विकारो मे तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्ल (काजी), फलाम्ल (फलरस), दधि के अम्लो के साथ, पैत्तिक विकारो मे मुनक्का, आँवला, मधु, मुलेठी, परूषक (फरहद), फाणित (राव) और दूध आदि के साथ श्लैष्मिक विकारो मे मधु, गोमूत्र, कषाय प्रभृति द्रव्यो से प्रधान औषधि के ये सहायक मात्र होते है। इन उपायो से औषधि द्रव्य हृद्य और मनोज्ञ हो जाते है साथ ही अधिक गुणवान बन जाते है।*

(१) सयोग (समान वीर्य द्रव्यो के मिलने से अथवा विपरीत-गुणधर्म की

---

* यद्धि येन प्रधानेन द्रव्य समुपसृज्यते, ।
तत्सज्ञक स योगो वै भवतीति विनिश्चय ।
फलादीना प्रधानाना गुणभूता सुरादय ।
ते हितान्यनुवर्त्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ।
विरुद्धवीर्यमप्येषा प्रधानानामबाधकम् ।
अधिक तुल्यवीर्यं हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ।
भूयश्चैषा बलाधान कार्यं स्वरसभावनै ।
सुभावित ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् ।
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।
अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मतम् ।
कुर्यात् सयोगविश्लेषकालसस्कारयुक्तिभिः ।

(च. क १२)

लक्षण भी होते है। वमन की क्रिया में आमाशय का हृय द्वार खुल जाता है और ग्रहणी द्वार उदर की पेशियो तथा महा प्राचीरा के दवाव से संकुचित हो जाता है। इस प्रकार की गति का सामजस्य मस्तिष्क सेतुगत वामक केन्द्र के नियन्त्रण द्वारा होता है। वामक योग तीन वडे वेगो में वाँटे जा सकते है।

(१) आमाशय के क्षोभक तथा स्थानिक अथवा परावर्तित क्रिया से उत्पन्न वमन-आमाशय मे स्थित प्राणदा नाड़ी (vagus nerve ending) के अन्त पर क्षोभ पैदा करने वाले द्रव्यो से इस प्रकार का वमन होता है। ये द्रव्य आमाशय के ग्रहणी द्वार पर पहुँचने के अनन्तर वमन का कार्य प्रारम्भ करते है अत इनकी क्रिया उत्तम तभी होती है जव इनके साथ वहुत वडी मात्रा मे जल दिया जाय साथ ही आमाशय का पीडन भी इन औषधियो के साथ आवश्यक होता है। इस प्रकार की क्रिया से युक्त वमन द्रव्यो को आमाशयिक वामक (Gastric Emetics) कहते है। इस प्रकार के क्षोभक द्रव्यों में यशद के लवण (Zinc sulphate), फिटकिरी, इपिकेकुवाना, नौसादर, तूतिया, इमली का अम्ल (Tartaric acid), सरसो, गरम जल, सेंधा नमक, नीम की पत्ती तथा विविध प्रकार के आमाशय क्षोभक विषो का समावेश है।

(२) **केन्द्रीय वामक :—**कुछ ऐसी भी औषधियाँ है जिनका शोषण होने के अनन्तर वमन का प्रभाव देखा जाता है जैसे हृत्पत्री (Digitalis), अहि-फेन, लोवेलिया ये द्रव्य केन्द्र को उत्तेजित करके वमन के लक्षण उत्पन्न करते है। आयुर्वेद ग्रंथो मे व्यवहृत होने वाले वामक द्रव्य अधिकतर आमाशय मे क्षोभ पैदा करके अथवा परावर्तित क्रिया के द्वारा वमन पैदा करने वाले है।

रेचन-क्रिया—आधुनिक दृष्टि से रेचन का कार्य औषधियो के द्वारा चार प्रकार से होता है। अग्रेजी के रेचन शब्द के लिए कई पर्यायी शब्द व्यवहृत होते है। जैसे (Purgatives, Cathartics, Evacuants or Apirients) इनके कार्य निम्नलिखित प्रकार से होते है (१) न शोषण होने योग्य द्रव्यो का परिमाण वढा कर (२) जल का शोषण रोक कर (३) क्षुद्र और वृहद् अन्त्रो को क्षुभित करके आन्त्र गति को वढा कर (४) तथा सीधे नाडी सस्थान पर क्रिया करके। आन्त्र की गति वढ जाने से पानी जैसे पतले दस्त वेग से होने लगते है और पानी के शोषण कराने का मौका नही मिलता। वहुत-से चूर्ण केवल आन्त्र में अपने परिमाण के कारण आध्मान करके दस्त ले आते है। विरेचन के पूर्व आन्त्रो का स्नेहन (Lubrication) करने से रेचन वढिया होता है इसीलिए प्राचीनो ने रेचन के पूर्व स्वेदन का विधान किया है।

आयुर्वेद मे कथित औषधियाँ जो विरेचन के नाम से व्यवहृत होती है उनमे कुछ तो अपने अशोषण के गुण के कारण, कुछ जल के शोषण को रोक कर, और कुछ आन्त्रो मे क्षोभ पैदा करके तथा आन्त्र गति को बढा कर रेचन के कार्य मे सफल होती है ।

उपयोग-विधि या कल्प :—(Administration)

इन द्रव्यो को देह, दोष, दूष्य, प्रकृति, वय, वल, अग्नि, भक्ति, सात्म्य और रोग की अवस्था प्रभृति वातो को ध्यान मे रखते हुए इनके गन्ध, वर्ण, रस-आस्वाद को सेवन को अनुकूल बनाते हुए अथवा विविध तद्गुण औषधियो के सयोग करते हुए–विविध कल्पो कल्पना या बनावटो (Preparations) मे स्वरस, कल्क, कषाय, फाण्ट, चूर्ण जैसे वदर, षाडव, राग, लेह (चटनी), लड्डू उत्कारिका, तर्पण, पानक, पेय, शर्वत, मासरस (शोरवा), यूप आदि के रूप मे प्रयोग करना चाहिए । दोषानुसार कई अनुपानो के साथ या स्वतन्त्रतया भी इनका उपयोग सम्भव है जैसे वात विकारो मे तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्ल (काजी), फलाम्ल (फलरस), दधि के अम्लो के साथ, पैत्तिक विकारो मे मुनक्का, आँवला, मधु, मुलेठी, परूपक (फरहद), फाणित (राव) और दूध आदि के साथ श्लैष्मिक विकारो मे मधु, गोमूत्र, कषाय प्रभृति द्रव्यो से प्रधान औषधि के ये सहायक मात्र होते है । इन उपायो से औषधि द्रव्य हृद्य और मनोज्ञ हो जाते है साथ ही अधिक गुणवान वन जाते है ।*

(१) सयोग (समान वीर्य द्रव्यो के मिलने से अथवा विपरीत-गुणधर्म की

---

* यद्धि येन प्रधानेन द्रव्य समुपसृज्यते, ।
तत्सज्ञक स योगो वै भवतीति विनिश्चय ।
फलादीना प्रधानाना गुणभूता सुरादय ।
ते हितान्यनुवर्त्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ।
विरुद्धवीर्यमप्येषा प्रधानानामवाधकम् ।
अधिक तुल्यवीर्य हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ।
भूयश्चैपा वलाधान कार्यं स्वरसभावनै ।
सुभावित ह्यल्पमपि द्रव्य स्याद्वहुकर्मकृत् ।
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।
अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मतम् ।
कुर्यात् सयोगविश्लेपकालसस्कारयुक्तिभि ।

(च क १२)

औपवियो के सयोग मे), विश्लेप (विरुद्ध वीर्य द्रव्यो को निकाल देने से अथवा समान वीर्य द्रव्यो के निकाल देने से), काल (समान या असमान होने से), सस्कार (समान या असमान गुण धर्म वाले सस्कारो से) तथा युक्ति (प्रयोग की चातुरी के ऊपर अल्प गुण की औपवियो से वडा काम और वडी गुण वाली औपधियो से भी छोटा काम लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए सम्यक् प्रकार से स्निग्ध रोगी मे अल्प वीर्य वाली औपधि से भी किया गया शोधन वहुत मात्रा मे दोपो को निकाल सकता है। इसके विपरीत अस्निग्ध व्यक्तियो मे तीव्र वीर्य की औपधि के उपयोग से भी अल्प कार्य का या सर्वथा कार्य-हीनता देखी जाती है। सक्षेप मे (१) सयोग (Addition) (२) विश्लेप (Substraction) (३) काल (Time) (४) संस्कार (Reactions) तथा (५) युक्ति (gudicial use) के ऊपर शोधन के लिए प्रयुक्त औपवियो के कार्य (Action) भिन्न-भिन्न स्वरूप के हो सकते हैं।

(२) जिस प्रवान द्रव्य (Main Ingradients) के साथ दूसरे द्रव्य मिलते है, वे प्रवान के अनुसार ही कार्य करते हैं। उस योग का नाम भी उस प्रधान औपवि द्रव्य के अनुरूप ही होना चाहिए। जैसे लशुनादि वटी, कृष्णवीजादि चूर्ण आदि। प्रवान द्रव्य की उपमा राजा से दी सकती हैं जैसे, किसी राज्य मे राजा प्रवान होता है और राजा का अनुसरण उसकी प्रजा करती है। उसी प्रकार प्रधान द्रव्य योग मे राजा का स्थान प्राप्त किए रहता है। उसके साथ कुछ विरुद्ध वीर्य की भी औपधियाँ मिल जायँ तो वे भी प्रवान की क्रिया मे वाधा नही पहुँचाती तथापि समान या तुल्य वीर्य औपधियो से वना योग श्रेष्ठ होता है और उसमें कार्य करने की क्षमता भी अत्यधिक होती है।

(३) तुल्य वीर्य (Equal Properties) के द्रव्यो के योग तथा तुल्य वीर्य स्वरसो की भावना से योग अधिक वलवान हो जाता है। किसी विशेप औपवि का गुण वढाना हो तो उसी औपवि के स्वरस से भावना दे दी जाय तो वह अधिक शक्तिशाली और कार्यकर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आँवले या लोध्र के चूर्ण में यदि आँवले या लोध्र के स्वरस की भावना दे दी जाय तो वह अधिक वीर्यवान (Increased properties and Potency) का हो जाता हैं। थोडी मात्रा मे इसका प्रयोग अधिक कार्यकर हो जाता है। इसलिए सदैव तुल्यवीर्य स्वरसों की ही भावना देनी चाहिए। जैसे लोध्र जो स्वयं रेचक है, उसमे स्नुही क्षीर की भावना।

(४) ऊपर लिखे वमन एवं विरेचन के कल्प तीन प्रकार के हो सकते

है। तीक्ष्ण, मध्य और मृदु। रोगी तथा रोग के तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, हीनादि का विचार करते हुए यथाक्रम इन योगो का इस्तेमाल करना चाहिए।*

तीक्ष्ण (Drastic)–स्निग्ध और स्विन्न (स्वेदन किए) व्यक्तियो मे सुखपूर्वक वेग के साथ शीघ्रता से जो वेगो को निकाले, साथ ही गुदा और हृदय मे वेदना न पैदा करे तथा अन्त्रो मे किसी प्रकार की हानि न पैदा करे तो उसे तीक्ष्ण वीर्य का विरेचन कहते है। इनसे कुछ हीन गुण का विरेचन मध्यम (Mild) कहलाता है। इसके द्वारा विशोधन न बहुत तेज और न बहुत हल्का, मध्यम दर्जे का होता है। यदि औषधि का वीर्य मन्द हो (Low Potency) असमान वीर्य औषधियो के सयोग से बनी हो, कम मात्रा मे दी गई हो अथवा रोगी का स्नेहन-स्वेदन भी न हो सका हो तो वह मृदु प्रकार (Laxative) का शोधन होता है। इनके द्वारा मद वेग का शोधन होता है।

वमन विधि (Method of induction of Emesis)

तीक्ष्ण अग्नि वाले, बलवान, बहुत दोष युक्त, महान रोग से पीडित तथा वमन जिसे सात्म्य हो, इस प्रकार के रोगी को लेना चाहिए। उसका स्नेहन तथा स्वेदन करावे। इन क्रियाओ से दोषो के शिथिल हो जाने पर उसे कफवर्धक अभिष्यदी भोजन दे। जैसे ग्राम्य, औदक तथा आनूप मासरस या दूध। इससे रोगी का कफ बढ जाता है। उसे उत्क्लेश होने लगता है। जिससे वामक औषधियो के पीने से वमन सुखपूर्वक होने लगता है।

दूसरे दिन प्रात काल (पूर्वाह्ण) मे साधारण काल मे जब न अधिक ठण्डा हो न गर्म हो, रोगी के कोष्ठ विचार करते हुए, जो ठीक हो उस मात्रा मे वामक द्रव्य का प्रयोग कषाय, कल्क, चूर्ण अथवा स्नेह के किसी एक रूप मे

---

* बलत्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च।
पुन प्रदद्याद् भैषज्य सर्वशो वा विवर्जयेत्।
तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधि सर्वमध्याल्पलक्षण।
तीक्ष्णादीनि बलावेक्षी भेषजान्येषु योजयेत्॥
सुख क्षिप्र महावेगमसक्त यत् प्रवर्त्तते।
नातिग्लानिकर पायौ हृदये न च रुक्करम्।
अन्तराशयमक्षिण्वन् कृत्स्न दोष निरस्यति।
विरेचन निरूहो वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत्॥
किंचिदेभिर्गुणैर्हीन पूर्वोक्तैर्मध्यमा तथा।
स्निग्धस्विन्नस्य वा सम्यड् मध्य भवति भेषजम्।
मन्दवीर्यं विरूक्षस्य हीनमात्र तु भेषजम्।
अतुल्यवीर्यै सयुक्त मृदु स्यान्मन्दवेगवत्॥ (च क १२)

पिलावे। वमन के लिए व्यवहृत होने वाले रोगो मे यह ध्यान रखना चाहिए वह अप्रिय, घृणोत्पादक, वीभत्स और दुर्गन्ध वाले हो। विरेचन द्रव्य ठीक उनके विपरीत प्रिय, सुन्दर और सुगन्ध वाले होने चाहिए।

वमन से ठीक होने वाले व्यक्तियो मे औषधि को अतिमात्रा मे पिलाना चाहिए। अर्थात् कठ पर्यन्त पिलाना चाहिए। यदि रोगी व्यक्ति सुकुमार, कृश, वालक, वृद्ध या डरपोक हो तो उसके लिए दूध, दही, तक्र, यवागू पहले पेट भर कठ पर्यन्त पिला देना चाहिए। रोगानुसार भी वामक द्रव्य वदले जाते हैं जैसे कई वार गर्म जल मे नमक छोडकर आकठ पिलाना, कई वार सरसो और नीम की पत्ती खौला कर आकठ पिलाना भी वमन को उत्तेजित करता है। इस प्रकार के वामक द्रव्यो को कोमल अथवा सुकुमार रोगियो को पहले दूध, दही, तक्र आदि को आकठ पिला कर वमन कराना चाहिए।

औपधियो के पी चुकने के वाद आग के सामने वैठाकर अग्नि को तापते हुए कुछ देर तक दो घडी या एक मुहूर्त्त तक प्रतीक्षा करे। अग्नि संताप से क्षोम वढता है, पसीना उत्पन्न होता है। दोप ढीले हो जाते हैं और अपने स्थान से चलायमान हो कर आमाशय की ओर आ जाते हैं। जी मचलाना प्रारम्भ हो जाता है। मिचली के कारण रोगी को घुटने के वल वैठा कर रखे। विश्वस्त परिचारको से उसका माथा, पीठ, पार्श्व और गले को स्थिर कराले। पश्चात् अगु लि से, कमल नाल से या एरण्ड की नली मे गले के भीतर ले जाकर स्पर्श करते हुए वमन करावे। वमन तव तक करावे जव तक पूर्ण वमन के लक्षण न उत्पन्न हो जावें।

वमन मे सर्वप्रथम प्रसेक, पश्चात् औपधि, तदनन्तर कफ पुन पित्त और अन्त मे वायु क्रमशः एक के वाद एक निकलता है।

यह वमन की प्रक्रिया आज के युग मे विप की चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाले आमाशय-प्रक्षालन (Stomach-Wash) से वहुत सादृश्य रखता है। इसमे एक रवर की नलिका को मुखमार्ग से गले के द्वारा आमाशय मे प्रवेश कराके उसी मे लगे चोगें से यथावश्यक जल या औपधि द्रव्यका द्रवभर दिया जाता है और चोगे को पुन उलट कर उसके द्वारा आमाशय का प्रक्षालन किया जाता है। आवश्यकतानुसार जितनी मात्रा मे या जितनी वार चाहे आमाशय का प्रक्षालन किया जा सकता है। वमन के कार्यो मे इसका प्रयोग भी विचार्य है।

पश्चात् कर्म —

जव सम्यक् वमन हो जाय तो रोगी को धूम पान कराना चाहिए। ये धूम तीन प्रकार के होते हैं (१) शमन (२) विरेचन (३) स्नेहन। इनमे से किसी

एक को सामर्थ्य के अनुसार पिलाना चाहिए। पश्चात् रोगी को आचार सम्बन्धी नियमो के आदेश कराके विश्राम देना चाहिए।

विरेचन विधि (Method of Induction of Purgations)-शोधन कार्यो (Flushing of the system) में स्नेहन, स्वेदन और वमन के अनन्तर ही विरेचन देना चाहिए। बिना वमन कराए पुरुष मे सम्यक् विरेचन होने पर भी नीचे को प्रेरित हुआ कफ ग्रहणी को ढक लेता है। जिससे उदर के अधो भाग मे गुरुता या क्वचित् प्रवाहिका उत्पन्न हो जाती है।

यदि कल विरेचन कराना हो तो पूर्वाह्ण मे लघु भोजन करा दे, फल रस और उष्ण जल पीने को दे, भोजन में जागल, मासरस, स्निग्ध यूप, जिससे कफ अधिक न होने पाये। दूसरे दिन कफ धातु के नष्ट हो जाने पर रोगी की परीक्षा करके कोष्ठ के अनुसार उसे विरेचन की औषधियाँ मात्रा से पीने को दे।

कोष्ठ तीन प्रकार के मृदु, मध्य एव तीव्र होते है। अधिक पित्त वाला कोष्ठ मृदु होता है उनमे दूध से विरेचन होता है। वात और कफ की अधिकता से कोष्ठ क्रूर होता है, इस प्रकार के कोष्ठो मे विरेचन कठिनाई से होता है। दोनो के मध्य की अवस्था मध्यम कोष्ठ की होती है। इसी को साधारण प्रकार का कोष्ठ कहते है। मृदु कोष्ठ मे मृदु, मध्य मे मध्य और क्रूर मे तीक्ष्ण विरेचन दे। विरेचन कर्म से क्रमश मूत्र, पुरीप, पित्त, औपधि, एव कफ एकैकश निर्गत होता है। विरेचन औपधियो के चयन मे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि स्निग्ध शरीर मे रूक्ष विरेचन और रूक्ष मे स्निग्ध विरेचन देना उचित रहता है।

पश्चात् कर्म—

विरेचन औपधि के पीने के बाद औपधि मे मन लगा कर विस्तर के समीप ही बैठे। वेग को न रोके। वायु रहित स्थान मे रहे। ठण्डे पानी का स्पर्श न करे। जबर्दस्ती प्रवाहण भी न करे।

शोधन की मात्रा—

वमन, विरेचन प्रभृति कार्यो से तीन प्रकार का शोधन होता है। हीन, मध्य, एव प्रवर। इसका विचार चार दृष्टिकोण से किया जाता है—

(१) आन्तिकी—(अन्तकी दृष्टि से)।

(२) वैगिकी—(वेग की संख्या की दृष्टि से)।

(३) मानिकी—(परिमाण की दृष्टि से)।

(४) लैङ्गिकी—(लक्षणो की दृष्टि से)।

जैसा कि नीचे के कोष्टक में स्पष्ट किया गया है :—

कर्म	आन्तिकी	वैगिकी	मानिकी	लैङ्गिकी
वमन	पित्तान्त	जघन्य ४ मध्य ६ प्रवर ८	जघन्य १ प्रस्थ मध्य १॥ प्रस्थ प्रवर २ प्रस्थ	हृदय, पार्श्व, मूर्धा, इन्द्रिय और स्रोतो की शुद्धि और शरीर की लघुता।
विरेचन	कफान्त	जघन्य १० मध्य २० प्रवर ३०	जघन्य २ प्रस्थ मध्य ३ प्रस्थ प्रवर ४ प्रस्थ	स्रोतसो की विशुद्धि इन्द्रियो की प्रसन्नता, हल्कापन इन्द्रियो की प्रसन्नता, स्वास्थ्य अनुभव करना।

नोट—वमन, विरेचन तथा शोणित मोक्षण कर्म मे प्रस्थका १३॥ पल का होता है। उक्ति भी मिलती है

वमने च विरेके च तथा शोणित मोक्षणे।
सार्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः।

योगायोग के लक्षण :—

सम्यक् योग—ऊपर के कोष्टक मे लैङ्गिकी शुद्धि के कोष्ट में कथित लक्षण वमन अथवा विरेचन के ठीक प्रयोग होने पर मिलते हैं।

दुश्छर्दित के लक्षण (Low dosage of Emetics):—

हृदय और स्रोतसो की विशुद्धि नही हो पाती, शरीर मे गुरुता आ जाती है स्फोट, कोष्ठ, शीत-पित्त आदि शरीर पर निकलने लगते है। शरीर मे खुजली होने लगती है।

दुर्विरिक्त के लक्षण (Low dosage of Purgation):—

त्रिदोषो का कुपित होना, अग्निमान्द्य, गौरव (भारीपन), प्रतिश्याय, तन्द्रा, वमन, अरुचि तथा वायु का अनुलोमन न होना प्रभृति चिह्न मिलते है।

अतिवमित के लक्षण (Over dosage of Vomiting):—

तृषा, मोह, मूर्च्छा, वायुकोप, निद्रा, वल की हानि। इस अवस्था मे स्तम्भन को देकर वमन वंद कराना चाहिए। पित्तघ्न स्वादु एव शीत वीर्यऔषधियो का प्रयोग करना चाहिए।

अतिविरिक्त के लक्षण (Over dosage of Purgatives):—

कफ, रक्त, पित्त, क्षय, वायु के रोग, अंगमर्द, अगो की सुप्ति (सुन्नता), थकावट, वेदना, कम्प, निद्रा की अधिकता, वेहोशी, उन्माद, गुदभ्रंश और हिक्का आदि लक्षण मिलते है।

व्यापद् चिकित्सा (Complications and Treatment):—

अयोग:—यदि ठीक प्रकार का शोधन (.वमन, विरेचन) न हो पाया हो, तो रोग और रोगी के तीन प्रकार के बलो का विचार करते हुए पुनः औषधि की मात्रा पिलावे। यदि विशोधन के लिए दी गई दवा निकल आई हो, न पच पाई हो या पच गई हो और दोषो का निर्हरण करना आवश्यक हो तो पुन. वही या दूसरी दवा को पिलाना चाहिए। यदि वमन, विरेचन के द्वारा शोधन सतोषजनक नहीं हुआ हो तो शेष दोषो का शमन विविध भोजन और पेय द्रव्यो के द्वारा करना चाहिए। यदि रोगी दुर्बल हो या उसके दोष दुर्बल हो या पूर्व मे शोधन हो चुका हो और जिसका कोष्ठ ज्ञात न हो ऐसे व्यक्ति को मृदु औषधि ही पिलानी चाहिए। यदि रोगी दुबल परन्तु उसके दोष अति बलवान हो तो उसमे भी मृदु ओषधियो का बार-बार प्रयोग करके शोधन कराना चाहिए। क्योकि तीक्ष्ण शोधन से प्राण जाने का भय रहता है। यदि औषधि दोषो से रुद्ध हो जाय न ऊपर से निकले न नीचे से, साथ ही रोगी मे अगमर्द और डकारे आने लगे तो गर्म जल पीने को दे और स्वेदन करे। कई बार प्रात:काल मे पिलाई दवा श्लेष्मा से रुद्ध होकर उर स्थल पर पडी रहती है और उस समय शोधन नही हो पाता पुन कफ के क्षीण होने पर सायकाल मे रात्रि मे शोधन होता है।

अत इस बात का ध्यान रखते हुए प्रतीक्षा करनी चाहिए। विरेचन के लिए दी हुई औषधि का ऊर्ध्वगमन हो या जीर्ण हो गयी हो तो लवणयुक्त स्नेह देकर वातानुलोमन करे। यदि किसी शोधन के प्रयोग से लालास्राव, हृल्लास, विष्टम्भ, लोमहर्ष होने लगे तो औषधि कफ से आवृत हो गई है ऐसा समझ कर उसके लिए तीक्ष्ण, उष्ण, कटु प्रभृति, कफघ्न उपचार करना चाहिए। यदि क्रूर कोष्ठ रोगी हो और उसका स्नेदन भलीभाँति हो गया हो तो विना विरेचन औषधि के प्रयोग के ही उसे लघन करा देना चाहिए। इससे उसके स्नेहसमुत्थ श्लेष्मा का नाश हो जाता है।

जो व्यक्ति रूक्ष शरीर वाले बहुत वायु युक्त, क्रूर कोष्ठ (Contispated Bowels) दीप्ताग्नि वाले होते है। उनमे रेचक औषधियाँ बिना किसी प्रकार की क्रिया के ही पच जाया करती है। इसमे यदि विरेचन कराना हो तो प्रथम वस्ति देकर पश्चात् विरेचन देना चाहिए। वस्ति से प्रवर्तित दोषो को विरेचन के द्वारा शीघ्र हरण करना सभव रहता है।

रूक्ष भोजन करने वाले, नित्य परिश्रम करने वाले एव दीप्त अग्नि वाले व्यक्तियो के दोष अपने आप ही प्राकृतिक-कर्म, वात, आतप, अग्नि से नष्ट हो

जाया करते हैं। ऐसे व्यक्तियों में विरोधी भोजन, अध्यशन एवं अजीर्णजन्य उत्पन्न दोषों के सहन की शक्ति आ जाती है। फलतः इनमें तज्जन्य रोग नहीं होते। इनको स्वस्थ अवस्था में विशोधन की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती। उनका सदैव स्नेहन करना चाहिए एवं वायु से रक्षा करनी चाहिए। बिना व्याधि के इनका विशोधन न करे। अर्थात् रोग की अवस्था में यदि उनके विशोधन का विधान हो तभी करना चाहिए अन्यथा नहीं।

देश, काल का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त विधियों का अनुसरण करते हुए यत्नपूर्वक विरेचनों का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं होता। परन्तु विपरीत क्रमों पर चलने से रोगी के ऊपर विषवत् प्रभाव होता है।

अवाम्य रोगी (Contraindicatious of Emesis)—

क्षतक्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, बाल, वृद्ध, दुर्बल, श्रान्त, पिपासित, क्षुधित कर्मभाराध्ववहन-कर्षित, उपवास, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम, चिन्ता प्रसक्त, क्षाम युक्त गर्भ, सुकुमार, संवृतकोष्ठदुश्छर्द्य, ऊर्ध्वरक्त पित्त, प्रसक्त छर्दि, ऊर्ध्ववात स्थापित, अनुवासित, हृद्रोग, उदावर्त, मूत्र-घात, प्लीह, गुल्म, उदर रोग, अष्ठीला, स्वरोपघात, तिमिर, शिर, कर्ण, नेत्र एवं पाण्डु रोग से पीडित व्यक्ति में वमन न करावे।

वमन के योग्य रोगी (Indication of Emesis):—शेष रोगियों में वमन करावे। जैसे विशेषतः पीनस, कुष्ठ, नवज्वर, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गल-ग्रह, गलगण्ड, श्लीपद, मेह, मन्दाग्नि, निरुद्धान्त्र, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक, विषपीत, गरपीत, विषदष्ट, विषविद्ध, विषदिग्ध, अधोग रक्तपित्त, प्रसेक, अर्श, हृल्लास, अरोचक, अविपाक, अपची, अपस्मार, उन्माद, अतिसार, शोफ, पाण्डु रोग, मुखपाक, दुष्ट स्तन्य, कफजरोग। इन रोगों में वमन एक प्रधान और उत्तम कार्य है। जैसे कि क्यारी के बाँध के टूट जाने पर धान्य में अत्यधिक पड़ा हुआ जल निकल कर अन्न को सुखा देता है। इसी प्रकार इन रोगियों में वमन शरीर के दोषों को निकाल कर रोग को सुखा देता है।

विरेच्य रोगी— (Indication of Purgations)

कुष्ठ, मेह, ज्वर, ऊर्ध्वग-रक्त-पित्त, भगंदर, उदर रोग, अर्श, ब्रध्न, प्लीह, गुल्म, अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, कृमि कोष्ठ, विसर्प, पाण्डुरोग, शिर शूल, पार्श्वशूल, उदावर्त्त, नेत्रदाह, आस्यदाह, हृद्रोग, व्यंग, नीलिका, नेत्र रोग, नासारोग, मुखरोग, कर्णरोग, हलीमक, श्वास, कास, कामला अपची, अपस्मार, उन्माद, वातरक्त, योनिदोष, रेतोदोष, तिमिर, अरोचक, अविपाक, छर्दि, शोथोदर, विस्फोट, आदि पित्त दोष समुत्थ रोग। अग्नि के

बुझाने से जैसे अग्निगृह शीतल हो जाता है। उसी प्रकार पित्त के विरेचन से पुरुष-शरीर को शान्ति का अनुभव होता है।

अविरेच्य (Contra-indication of Purgation) —

सुकुमार, गुदक्षत, मुक्तनाल, अधोग रक्तपित्त, दुर्बलेन्द्रिय, अल्पाग्नि, निरूढ (जिनका आस्थापन हो चुका है), श्रमादि से व्यग्र, अजीर्ण, नवज्वर, मदात्यय, अति आध्मान, शल्य से पीडित, अभिहत, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, क्रूरकोष्ठ, क्षतादि तथा गर्भिणी मे विरेचन नही करना चाहिए।

वमन कर्म मे प्रयुक्त होने वाले प्रधान भेषज-मदनफल, मधुयष्टि, नीम की पत्ती, जीमूत, पटोल, कृतवेधन (कडवी तरोई की जातिया), पिप्पली, कुटज, इक्ष्वाकु, एला, धामार्गव।[1]

विरेचन कर्म मे प्रयुक्त होने वाले प्रधान भेषज-त्रिवृत--(काली निशोथ), त्रिफला, दन्ती, नीलिनी, सप्तला (सेहुड की जाति का क्षीर), वचा, काम्पिल्लक (कबीला), गवाक्षी, क्षीरिणी (दूधिया), निचुल (हिज्जल), उदकीर्या पीलु आरग्वध (अमलताश), द्राक्षा, द्रवन्ति (दन्तीभेद)[2]

(इन वामक एव विरेचक औषधियो के विस्तार के लिये चरक विमानस्थान का आठवाँ अध्याय द्रष्टव्य है।)

द्वितीय अध्याय

वस्ति तथा वस्ति कर्म (Clysters or Enema & its Application) निरुक्ति :—

पंच कर्मो मे एक अन्यतम महत्त्व का कर्म वस्ति कर्म है। वस्ति के द्वारा अनेक कार्यो का सम्पादन होता है। आयुर्वेद ग्रथो मे वस्ति कर्म की बहुत प्रशसा पाई जाती है। "वस्ति कर्म मे प्रयुक्त होने वाले द्रव का निर्माण नाना प्रकार के औषधि-द्रव्यो के सयोग से किया जाता है फलत. उन उन औषधियो के प्रभाव से वस्ति के द्वारा सशोधन, संशमन तथा सग्रहण यथोचित मात्रा में करना सम्भव रहता है।

वस्ति क्षीणशुक्र को शुक्रवान बनाती है। दुर्बल को बलवान करती है, स्थूल को कृश करती है। आँखो को तेजस्वी करती है, झुर्रियो का पडना, पलित (केशो

---

१ उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये। वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूषयन्॥

२ पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्। (चरक सूत्र २)

का पकना) को दूर करती है। वायु को स्थिर करती है। भली प्रकार से उपयोग मे लाई गई वस्ति शरीर की पुष्टि, बल, वर्ण और आयु को बढाती है।[1]

वस्ति का उपयोग वात मे, पित्त मे, कफ मे, रक्त मे, दोषो के संसर्ग मे तथा दोषो के सन्निपात मे सदैव हितावह होता है। महर्षि चरक ने लिखा है "शाखा-कोष्ठगत, मर्मगत, ऊर्ध्वजत्रुगत, एकाङ्ग गत, अर्धाङ्गगत, अथवा सम्पूर्णाङ्गगत जो भी कोई रोग उत्पन्न होता है उसकी उत्पत्ति मे वायु के सिवा और कोई दूसरा मुख्य कारण नही है। यह वायु ही कफ–पित्त–पुरीष–मूत्र–स्वेद आदि मलो का संचय नाश एवं बाहर फेकने वाली है। इस वायु की वस्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी दवा नही है। अत चिकित्सा का आधा भाग वस्ति ही है। और कई व्यक्तियो के विचार मे तो वस्ति ही सम्पूर्ण चिकित्सा है।"

रोगोत्पादन तथा शरीर के धारण दोनो ही कार्यों मे वायु की मुख्यता है। रोगोत्पत्ति मे वायु दोष की प्रधानता प्रसिद्ध है ही।

"पित्त पगु कफ. पगु पगवो मलधातव, वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥"

अर्थात् पित्त और कफ दोष तो पगु है अर्थात् स्वयं गमनशील नही है इनमें चलने की शक्ति तो वायु की सहायता से ही आती है। पित्त और कफ की उपमा बादलो से दी गई है और वायु की हवा से। हवा जहाँ चाहे ले जाकर पानी बरसा दे। वायु, कफ और पित्त की वृद्धि और स्थानसंश्रय कराके जहाँ चाहे रोग पैदा करदे।

स्वस्थ शरीर मे भी वायु को "यन्त्रतंत्रधर" सम्पूर्ण शरीर और मन का अधिपति और संचालक के रूप में स्वीकार किया गया है। वह शरीर का धारक है। इसके विकृत होने पर शरीर का धारण संभव नही रहता है। इस वायु का

---

१ वस्तिर्वय स्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूना निरत्यय सर्वगदापहश्च ॥
शाखागता कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषा नहि कश्चिदन्यो वायो परं जन्मनि हेतुरस्ति।
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयाना विक्षेपसंघातकरश्च यस्मात् ॥
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्ति विना भेषजमस्ति किंचित्।
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥
मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिता। (च सि १)
सर्वं शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिता ॥ पराशरे-चक्रपाणि टीका।

प्रकृतिस्थ रखना भी वस्ति मे सभव है । अत स्वस्थ वृत्त की दृष्टि से भी वस्ति का महत्त्व कम नही है ।

शल्य तन्त्र मे रक्तविस्रावण या शिरावेध का जो महत्त्व है काय-चिकित्सा मे उसी तरह का स्थान इन वस्तियो का है । शल्य तन्त्र मे भी सिरा वेध आदि का विधान है "रक्त के निकल जाने से सम्पूर्ण विष का निर्हरण हो जाता है" विष की निवृत्ति मे जितने भी कर्म वतलाए गए है, वे सभी एक तरफ एव रक्त-मोक्षण अकेले ही दूसरी तरफ खडा हो सकता है ।

"शिराव्यधश्चिकित्सार्द्धशल्यतन्त्रे प्रकीर्तितम् । यथा प्रणिहित सम्यक् वस्ति-कायचिकित्सिते । (सु)

प्रयोजन :—

वस्ति का उपयोग तीन प्रकार के कार्यो मे होता है :—

(१) पच कर्म मे (शोधन मे) ।

(२) अनागत रोगो के प्रतिषेध (स्वास्थ्य रक्षण या रोग निवारण Profilaxis) मे

(३) रोगो की चिकित्सा मे (Curative) ।

वय (Age) —

सभी उम्र के रोगियो मे वस्ति का उपयोग पथ्य है । इसका प्रयोग शिशु, वृद्ध, युवक मे किया जा सकता है । वमन तथा विरेचन का वालक तथा वृद्ध मे निषेध है वहाँ पर भी वस्ति का प्रयोग लाभप्रद होता है । वस्ति को सर्वरोग-हर कहा है । वस्ति को सर्वरोगहर कहने का तात्पर्य यह है कि वस्ति के द्वारा दोषो का सशोधन हो जाता है और वह सशोधन के द्वारा सभी रोगो मे लाभ पहुचाती है । ठीक ढग से प्रयोग मे लाई गई वस्ति के द्वारा कोई भी हानि नही होती । वस्ति आयु को स्वस्थ करती है तथा सुख, आयु, वल, अग्नि, मेधा, स्वर और वर्ण को वढाती है । वस्ति के दो प्रधान भेद होते है । यथा १ रूक्ष वस्ति तथा २ स्निग्ध वस्ति ।

रूक्ष वस्तियो के द्वारा दोषो का सशोधन तथा सशमन और स्निग्ध या तैल वस्तियो के द्वारा स्नेहन, वीर्य तथा वल की पुष्टि होती है । वायु का कोप दो ही प्रकार से हो सकता है ।

"वायोर्धातो क्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेनवा" इनमे मार्गावरण का दूरीकरण रूक्ष वस्तियो से और धातु क्षय का पूरण स्निग्ध वस्तियो के द्वारा होता है । इसलिए वस्ति को परम वायुशामक माना गया है स्निग्ध वस्तियो का वर्णन करते हुए आचार्यो ने लिखा है जैसे कि पेड की जडमे जल डालने से जिस प्रकार वह पुष्पित

और पल्लवित हो जाता है उसी प्रकार से ठीक समय से गुदा के द्वारा दी गई अनुवासन वस्ति के द्वारा भी शरीर बलवान् बनता है इतना ही नही, वायु के कारण स्तब्ध (सकुचित) हुये अगो मे, भग्न मे पीडित रोगियो मे, शाखागत् वात रोगो मे, आध्मान प्रभृति उदर रोगो मे, बार-बार होने वाले गर्भ स्रावो मे क्षीण इन्द्रिय के पुरुषो मे कृश तथा दुर्बलो मे भी वस्ति कर्म प्रशस्त रहता है।

वस्ति का प्रयोग आवश्यकतानुसार रोगी की दशा, देश और काल का विचार करते हुए करना चाहिए। यदि रोगी उष्णता से पीडित हो तो उनमे शीतल वस्तियो का प्रयोग उचित होता है। यदि रोगी मे शोधन अपक्षित हो ता रूक्ष या निरूह वस्तियो का उपयोग करे तथा बृहण की आवश्यकता होने पर स्निग्ध वस्तियो का उपयोग उचित है। इस नियम के विपरीत शोधन के योग्य रोगी में बृंहण या बृहण के योग्य रोगी मे शोधन कदापि नही करना चाहिए। यदि रोगी क्षत-क्षीण से युक्त अर्थात् क्षयी या शोपी (T B) हो उनमे विशोधन न करे। ठीक इसके विपरीत कुष्ट प्रमेह, प्रभृति अन्य शोधनीय रोगो से पीडित मनुष्यो मे बृंहण न करे क्योकि ये रोगी सदा ही संशोधन के लिए माने जाते है।[1]

वस्ति का महत्त्व (Importance of Enemata) —

काय-चिकित्सा मे वस्ति का बडा महत्त्व दिया गया है। शल्य-चिकित्सा मे भी इसकी महत्ता कम नही समझनी चाहिए। शल्य-चिकित्सा मे रक्तावसेचन क्रिया को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान काय-चिकित्सा में वस्ति को दिया गया है। वस्तिका प्रयोग दोप, औपधि, देश, काल, सात्म्य, सत्त्व, वय, बलादि का विचार करते हुए करना होता है।

वस्ति की बनावट तथा उसका प्रतिनिधि

(Structure of the old Clyster, its modern substitute) प्राचीन ग्रथो मे एक सामान्य वस्ति की रचना इस प्रकार की बतलाई गई है। वस्ति के चार भाग बतलाए गए है। (१) वस्ति (Bladder) (२) नेत्र (नलिका Tube) (३) छिद्र (opening) (४) कर्णिका (Ampula)

(१) **वस्तिः**—यह वस्ति पुराने शरीर के गाय, भैस, हरिण, सूअर, और बकरो के मूत्राशय से बनाई जाती है। इन जानवरो मे से किसी एक के मूत्राशय

---

१ उष्णा भिभूतेपुवदन्ति शीताञ्छीताभिभूतेपु तथा सुखोष्णान्
तत्प्रत्यनीकौपन्ध संप्रयुक्तान् सर्वत्र वस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात्।
न बृंहणीयान् विदधीत वस्तीन् विशोधनीयेपु गदेपु विद्वान्
कुष्ट प्रमेहादिपुमेदुरेपु नरेपु ये चापि विशोधनीयाः। (च सि १)

को निकाल कर, उसमे भी शिरा जाल को पृथक कर, गधहीन करके और लाल रग से रग करके शुद्ध, करके, रख लेना चाहिए। यदि जानवरो के मूत्राशय उपलब्ध न हो तो चमडे के टुकडे प्लव नाम के पक्षि के गले या कपडे का इस्तेमाल वस्ति वनाने के लिए करे। इसी वस्ति के द्वारा बने थैले के कारण ही, पूरे यन्त्र का नाम वस्ति यन्त्र पड गया।

(२) नेत्र (नलिका) :-वस्ति की नलिका सुवर्ण, रजत, वग, ताम्र,पित्तल, कास्य, लकडी, लोह, अस्थि या हाथी के दात अथवा छिद्र-युक्त सीग के वनाए जाते है।

(३) छिद्र :—नेत्र के द्वार को छिद्र कहते है। इस छिद्र का परिमाण आयु के अनुसार रखने की विधि वतलाई गई है। काम करते समय वर्ति को निकाल ले पुन कार्य के समाप्त हो जाने पर उसके छिद्रो को रुई की वर्त्ति से वन्द करके रखे।

(४) कर्णिका :—हुक्के की नली मे जैसे वीच मे उभार मिलते है, उसी प्रकार के उभार नलिका मे भी वीच-वीच मे वनाये जाते हैं। इन उभारो को कर्णिका कहते है। इनमे दो कर्णिकाएँ, जिनमे एक तो वस्ति वाले भाग के पास मे वस्ति को उसमे लगा कर मूत्रो मे स्थिरीकरण के लिए वनाई जाती है और दूसरी कर्णिका वस्ति के अग्रके समीप चतुर्थाश पर पहले की अपेक्षा छोटे परिमाण की वनाई जाती है जिससे वस्ति का प्रवेश गुदा आदि मे करके वहाँ तक पहुँचा कर उसका स्थिरीकरण किया जा सके। इन उभारो के स्थान पर नलिका छिद्र भी अपेक्षाकृत अधिक चौडा हो जाता है जिससे औषधि-द्रव के प्रवेश मे उसका वेग शिथिल हो सके।

नेत्र की लम्बाई :—नेत्र की लम्बाई आयु के अनुसार अर्थात् ६-८० और १२ वर्ष की आयु मे क्रमश ६-१२-१८ अगुलो की होनी चाहिए। नली की मोटाई मूल की ओर अधिक, परन्तु अग्र की ओर क्रमश कम होनी चाहिए। मूल की तरफ नलिका अगुष्ठ परिणाह की ओर क्रमश, अग्र की ओर कनिष्ठिका (छोटी अगुली) के परिमाण की होनी चाहिए। नलिका सीधी होनी चाहिए। उसकी समता गो-पुच्छ मे दी जाती है जैसे गाय का पुच्छ ऊपर मे मोटा क्रमश' नीचे की ओर पतला होता है उसी के सदृश वस्ति का नेत्र भी होना चाहिए। नलिका खुरदरी न हो चिकनी हो और उसका—मुख-गुटिका मुख वडी गोली जैसे गोल होना चाहिए।

नेत्र के दोप —छोटापन, पतला पन, मोटापन, जीर्णता, नली का वस्ति भाग के साथ ठीक वन्धन का न होना, छिद्र का वीच मे न हो कर किनारे पर होना, टेढा होना, ये सात दोप नेत्र के माने गए है।

इन दोषो के कारण प्रयोग मे कठिनाई होती है और गर्भ में कई रोग मिलते है। जैसे (१) अप्राप्त (औषध-द्रव्य का ठीक तरह से प्रवेश न होना।) (२) औषधि का मात्रा मे न पहुँचना (३) क्षोभ (रगड़) (४) कर्षण (खिंचाव) (५) क्षणन (कट जाना या क्षत होना) (६) स्राव (चूना) (७) गुदा में पीड़ा का होना तथा (८) गति का वक्र होना।

वस्ति के दोष :—समान न होना, मांसल होना, छिद्रयुक्त होना, मोटा होना, जालीदार होना, वातदुष्ट हुए होना स्निग्ध तथा क्लिन्न होना ये आठ दोष वस्ति मे हो सकते है। इन प्रकार की वस्तियों का कर्म मे व्यवहार नहीं करना चाहिए। इन दोषो के कारण निम्नलिखित परिणाम होते है जैसे गति की विषमता, खट्टी दुर्गन्ध का निकलना, स्निग्धता होना, वस्ति का ठीक तरह से पकड मे न आना, फेनयुक्त होना, स्रावयुक्त होना, हाथ से गिर जाना, इत्यादि आठ दोष इनके अन्दर आते है।

वस्ति यन्त्र की प्रयोगविधि :—वस्ति को नेत्र के साथ भली प्रकार बाध कर उसे दबा कर, हवा को निकाल कर, उसको सिकुडनो को ठीक करके रखे, उसके मुख को अगुठे से दबा कर और नेत्र के अग्रभाग मे पडी हुई रुई की वर्ति को पृथक् कर ले। तदनन्तर जिस रोगी में वस्ति का प्रयोग करना हो उसका तैल का अभ्यग कराके और गुदा को स्निग्ध करके उसके मूत्र और मल का त्याग कराके, ऐसे समय में जब कि उसको तेज भूख न लगी हो तब वस्ति यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। रोगी को उसके वाम पार्श्व पर सुखपूर्वक लिटा कर, बाएँ पैर को पूरी तरह से फैला कर और दाहिने पैर को मोड कर, बाएँ पैर के ऊपर रखकर, इस आसन में वस्ति का प्रयोग करे। रोगी को समान आसन पर या सिर को किंचित् झुका कर, या अपने हाथो को तकिया बनाकर (सिर को बाएँ हाथ पर रख कर) सीधे शरीर लेटना चाहिए।

रोगी की गुदा का स्नेहन करके नेत्र के चतुर्थांश भाग को पृष्ठ वश की रेखा मे प्रविष्ट करे, प्रविष्ट करते समय नेत्र का कम्पन नही होना चाहिए, साथ ही कार्य मे शीघ्रता भी करनी चाहिए। वस्ति के एक ही पीडन (दबाव) से पूरे औपध द्रव्य को भीतर में पहुँचा देना चाहिए, क्योकि उससे वायु प्रवेश (Air Bubbles) का भय लगा रहता है।

वस्ति यन्त्र के अन्यथा प्रयोग के दोष —यदि नेत्र का तिरछा प्रयोग किया जाय तो औपधि धार से नही जा पाती, यदि नेत्र के प्रवेश काल में कम्पन हो तो उससे गुदा में व्रण होने की सम्भावना रहती है। यदि धीरे-धीरे प्रयोग किया जाय तो औपधि आशय तक पहुँच ही नही पाती, यदि बहुत जोर से

दबाकर औषधि द्रव का प्रवेश कराया जाय तो द्रव के कण्ठ तक पहुँचने का भय रहता है। यदि औषधि द्रव बहुत ठण्डा हुआ तो उससे जकडाहट और विदाह की आशंका रहती है। यदि बहुत उष्ण हुआ तो उससे रोगी मूर्च्छित हो जाता है। यदि औषधि द्रव बहुत स्निग्ध हुआ तो उससे शरीर मे जकडाहट आ जाती है। यदि बहुत रूक्ष हुआ तो उससे वायु की वृद्धि होती है। यदि द्रव बहुत पतला हुआ या उसमे लवण (नमक) की मात्रा कम हुई तो उससे औषधि हीन मात्रा (under dose) हो जाती है। यदि बहुत सान्द्र (Concentrated) हुआ तो उसमे औषधि के अतियोग (Over dose) होने का भय रहता है, साथ ही इससे रोगी क्षाम (Depressed) हो जाता है और गुदा मे अन्तःप्रविष्ट द्रव्य भी देर मे निकलता है। यदि द्रव मे अधिक मात्रा मे नमक छोडकर उसे सान्द्र कर दिया गया हो तो रोगी में जलन और पतले दस्त प्रभृति उपद्रव हो जाते है। अत एव इन बातो का विचार करते हुए युक्तियुक्त मात्रा मे वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

सम्यक् प्रकार का वस्ति प्रयोग :—

उपर्युक्त प्रसङ्गो का ध्यान रखते हुए यथाविधि वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। वस्ति का प्रयोग अधोवस्ति (गुदा मार्ग से), उत्तरवस्ति (मूत्र या योनि मार्ग) से कई बार इन मार्गों के प्रक्षालन की दृष्टि से (Douche) अथवा पोषण के विचार से (Nutrient Enemata) के रूप में किया जाता है। वस्ति के देने के पूर्व या पश्चात् वायु से बुलबुलो का प्रवेश (Air Bubbles) न हो सके इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। क्योकि वायु के आशय मे प्रविष्ट होने से तीव्र उदरशूल होने लगता है। वस्ति देते समय पूरा द्रव का प्रवेश न करा के किंचित् शेष रख लेना चाहिए—'सावशेष च कुर्वीत अन्ते वायुर्हि तिष्ठति।'

वस्ति द्रव बनाने की एक सामान्य विधि

पहले यथावत् मात्रा मे मधु, सेंधा नमक और स्नेह को छोड कर मथे। पश्चात् औषधि का कल्क डाले और मथे। पश्चात् जल छोडकर मथे। इस प्रकार से मथ के द्वारा मथित घोल (Emulsion) को वस्ति की विधि मे उपयोग मे लावे। एक सामान्य वस्तियोग में सैंधव नमक ३ माशे और मधु ६ माशे लेकर खरल करे पुनः उसमे नारायण या माष तैल ४ तोले मिलाकर घोटे फिर दशमूल क्वाथ १ पात्र मिलाकर घोल बनाकर गुदा मार्ग से वस्ति देनी चाहिये।

प्राचीनकालीन वस्ति यन्त्र का आधुनिक प्रतिनिधि :—

आज के युग मे वस्ति कर्म के लिए कई प्रकार के यन्त्र व्यवहृत होते है। जिनमे अधिक प्रचलित निम्नलिखित तीन है।

है तो औषधि की मात्रा अल्प २ से ४ औंस की रखी जाती है। (In retention enema) यदि बहुत अधिक मात्रा मे द्रव पहुँचाना आवश्यक हो और उसके शोषण कराने की आवश्यकता हो जैसे, ६ पिण्ट द्रव को डालना हुआ तो रोगी को बायें करवट पर लेटा कर उसको प्रविष्ट करके पुन उसे दाहिनी करवट पर लेटाते हैं, उसके श्रोणि या नितम्ब भाग को ऊँचा उठा देते है—आवश्यकता हुई तो रोगी को घुटने और केहुनी के बल करके औषधि द्रव को भर दिया जाता है। द्रव के निकलने के आक्षेप आने पर बार-बार रोगी की गुदा के भाग पर एक तौलिए के जरिये दबा दिया जाता है। यह कार्य एक चोगे (funnel) और रबर की नलिका तथा गोद जैसे नमनशील मूत्र नाडी (Gum Elastic-catheter) की सहायता से और आसानी से किया जा सकता है। इसमे ध्यान रखना चाहिए कि भरना धीरे-धीरे और बीच-बीच मे रुक कर होना चाहिए। साथ ही द्रव किंचित् उष्ण ९८° फ० ताप का होना चाहिए अन्यथा रोगी उसको बाहर कर देगा और औषधि द्रव अन्दर मे रुक नही सकेगा, इस विशेष प्रकार के (Rectal Injection) को अंग्रेजी मे (Entro clysis) कहा जाता है। प्राचीन वस्ति कार्यो में विशोधन के अनन्तर अनुवासन वस्ति का साम्य इसी क्रिया से है।

आधुनिक युग मे निम्नलिखित प्रकार के एनीमा व्यवहृत होते है—

(१) कृमिघ्न वस्ति (Anthelmentic Enema) सूत्र-कृमि (Thread worms) को दूर करने के लिए।

(२) आकुचनहर वस्ति (Anti spasmodic Enema) हीग आदि का द्रव। आन्त्र के आमजन्य शूल मे।

(३) ग्राही वस्ति (Astringent Enema)—गुदामार्ग के स्राव तथा अतिसार मे।

(४) सूदन वस्ति (Emollient Enema) मलाशय और स्थूलान्त्र की श्लेष्मल कला क्षुब्धता मे व्यवहृत होनेवाली—अतसी, जौ, और स्टार्च का काढा।

(५) सशामक वस्ति (Sedative Enemata)—स्टार्च, मुसिलेज और अहिफेन आदि का वस्ति।

(६) रेचक वस्ति (Purgative Enema)—ग्लिसरीन, एरण्डतैल, ओलिव आयल या केवल लवणजल, साबुन का पानी सीरिंज के द्वारा देना चाहिए या एनिमा के द्वारा देना चाहिए।

(७) पोषक वस्ति (Nutrient Enema)—जब मुख से अन्न का शोषण सम्भव नही रहता तो ग्लुकोज, डेक्स्ट्रोज १०% तथा सामान्य लवण विलयन एक बार मे ४ औंस दिया जाता है। इसको अन्दर पहुँचाने के पूर्व एक शोधन एनीमा देकर कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी होती है।

वस्ति
अधो वस्ति
उत्तर वस्ति
मूत्रमार्ग
योनिमार्ग
नैरूहिक – शोधन – लेखन
आस्थापन
निरूह–माधुतैलिक
यापन
युक्तरथ
सिद्धवस्ति–पिच्छवस्ति
प्रभृति
आवस्थिक वस्तियाँ
स्नैहिक – स्नेहन – बृंहण
अनुवासन स्निग्ध वस्ति—
स्नेहवस्ति
मात्रावस्ति
अनुवासन
(१/० स्नेह)
(१/८ तेल)
मात्रायें
उत्तम — हीन — मध्यम
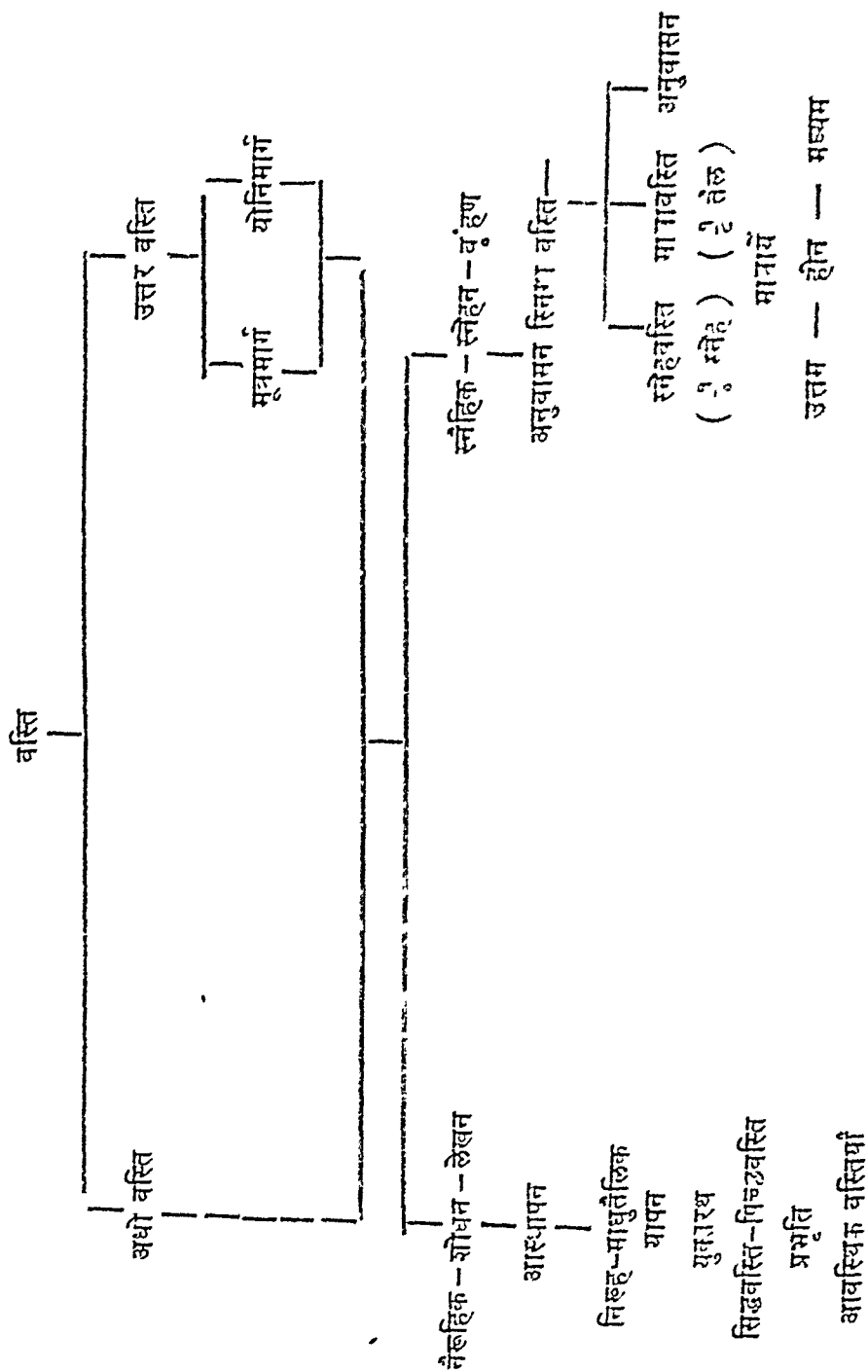
वस्ति के भेद या प्रकार :—

वस्ति के प्रधानतया दो भेद मार्ग भेद से किये जा सकते है। अधोवस्ति—जिसमे गुदा के मार्ग से औपधि प्रविष्ट की जाय तथा उत्तरवस्ति—जिसमे मूत्र या योनि मार्ग से औपधि द्रव्य प्रविष्ट किया जावे। पुन औषधि की कल्पना तथा उद्देश्य या प्रभाव या गुण भेद से वस्ति के दो प्रकार हो जाते है। नैरूहिक और स्नैहिक। नैरूहिक को निरूह और आस्थापन भी कहते है। आस्थापन एव निरूह ये दोनो पर्यावाची शब्द है। दोपो के निकलने से अथवा शरीर का रोहण करने से निरूह कहलाती है। आयु का स्थापन—स्थिरीकरण इसके द्वारा होता है, इसलिए आस्थापन कहलाती है। आस्थापन का ही एक भेद माधुतैलिक है, माधुतैलिक वस्तियो के पर्याय रूप मे यापना, युक्तरथ तथा सिद्ध वस्ति के नाम आते है। इनमे मधु एव तैलका योग रहता है अत माधुतैलिक कही जाती है।

इनमे यापन का अर्थ होता है आयु का दीर्घ काल तक रहना, युक्तरथ—जिनमें रथ में घोडे जुतने पर जब चाहे उसको दौडा सकते है ठीक इसी प्रकार इस वस्ति का भी उपयोग विना किसी प्रकार की पूर्व की तैयारी किये विना किसी परहेज के जब चाहे कर सकते है इसलिए यह युक्तरथ कहलाती है।

सिद्ध वस्ति :—

यह एक प्रकार की वहुत मृदु वस्ति है और इसका अधिकतर चिकित्सा कर्म में प्रयोग होता है। इसमे वमन आदि सम्पूर्ण विधियो के उपयोग की आवश्यकता नही रहती, एक ही वस्ति दी जाती है तथा किसी प्रकार के परहेज की आवश्यकता नही रहती और इनमे कोई कष्ट नही होता और चिकित्सा मे विभिन्न रोगो के अनुसार जैसे कृमि रोग मे पलाश के वीजादिक्वाथ से, अतिसार पिच्छा वस्ति के रूप मे अवस्थानुसार दी जाती है।

निरूह के अनन्तर रोगी के शोधन हो जाने के वाद स्निग्ध या वृहण वस्तियो का प्रयोग किया जाता है। इन्ही स्निग्ध वस्तियो को ही अनुवासन कहते है। स्नेह की मात्रा के भेद से यह तीन प्रकार की होती है, यदि स्नेह की मात्रा पूरी दी जाय तो ६ पल (षट्पली मात्रा) श्रेष्ठ है। उसको स्नेह वस्ति कहते है। यदि उसमे चौथाई स्नेह कम कर दिया जाय तो उसे अनुवासन (पादावकृष्ट) कहते है। इसको अनुवासन इसलिए कहते है कि शरीर के भीतर रहने पर भी दूपित नही होती तथा दूसरे दिन भी दी जाती है इसलिए अनुवासन कहते हैं। इसी का एक भेद मात्रा वस्ति नाम से होता है, जिसमे स्नेह की मात्रा चतुर्थांश रह जाती है। दूसरे शब्दो मे इसको इस प्रकार कह सकते है कि यदि स्नेह की मात्रा ३ पल हुई तो वह मध्य या अनुवासन वस्ति होगी। यदि स्नेह की मात्रा १॥ पल हुई तो निकृष्ट या हीन होगी।

वस्ति मुख्यतया दो प्रकार की होती है। अनुवासन और निरूहण। इनमे विरेचन वर्ग के अनन्तर यदि वस्ति कर्म करना हो तो सर्वप्रथम अनुवासन का ही उपयोग करना चाहिए। रोगी के विरेचन के बाद उसका ससर्जन करते हुए उसको प्रकृत आहार पर आठवें दिन आ जाने के बाद नौवें दिन तैल से अभ्यंग करा के अनुवासन देना चाहिए। तदनन्तर आस्थापन वस्ति या निरूहण करे।

आस्थापन और अनुवासन संबन्धी कतिपय नियम

क—अनुवासन :—

(१) नाति बुभुक्षित (जब रोगी को भूख तेज न लगी हो तब) वस्तियों मे निरूह का प्रयोग करे।

(२) नात्यशित (अल्प भोजन किए) रोगी में अनुवासन करना चाहिए।

(३) वस्तियो के अनन्तर ससर्जन क्रमसे पथ्य व्यवस्था की आवश्यकता नही रहती। वस्ति द्रव्य निकल जाने बाद उस रोगी को मासरस (जागल) के साथ भोजन देना चाहिए।

(४) स्नेहपान के सम्बन्ध में जिन पथ्य एव परिहारो की आवश्यकता होती है उसी प्रकार का पथ्य एव परिहार अनुवासन कर्मो मे भी रखना चाहिए। शीत तथा वसन्त ऋतुओ में दिन में अनुवासन करे। शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओ में रात्रि में यदि रोगी वायु से अतिपीडित हो तो और यह वायु का कोप धातुक्षयजन्य हो तो पूर्वाह्न मे दिन में या रात मे सब समय वस्ति दी जा सकती है।

(५) अनुवासन द्रव्य के बाहर निकल आने पर भोजन देना चाहिए। रात मे अनुवासित व्यक्ति को प्रात काल और दिन में अनुवासित को साय काल मे भोजन देना चाहिए।

(६) यदि व्यक्ति बहुत रूक्ष और उसकी वायु बहुत बढी हुई हो तो प्रतिदिन अनुवासन किया जा सकता है, अन्यथा तीसरे दिन, पाँचवें दिन अनुवासन देना चाहिए। क्यो कि अधिक अनुवासन से अग्नि के मन्द होने का भय रहता है।

(७) अनुवासन वस्तियो की सख्या विषम (अयुग्म या ताक) होनी चाहिए। कफज विकारो मे एक या तीन, पैत्तिक विकारो मे पाच या सात और वायु के रोगो मे नौ या ग्यारह की सख्या में वस्तियो को दे। इस प्रकार यथावश्यक ३,४,६ या ७,८, ९ या ११ वस्तियाँ भी दी जा सकती है।

(८) उष्णाभिभूत व्यक्तियो मे शीतल वस्ति (Icewater) और शीताभिभूत रोगियो में सुखोष्ण वस्ति दे। इसी तरह वस्ति मे प्रयुक्त औषधियाँ भी व्याधि के गुणो से विपरीत गुणधर्म की ही होनी चाहिए। अर्थात् स्निग्ध , गुरु,

लघु आदि गुणो की अनुवासन वस्ति मे व्यवहृत होने वाली औषधियाँ भी होनी चाहिए।

(९) विशोधन के योग्य रोगियो मे बृंहण वस्तियो को न दे। जैसे कुष्ठ, प्रमेह और मेदस्वी रोगियो मे सदैव संशोधन ही दे। इसके विपरीत क्षीण-क्षत, शोष और दुर्बल रोगियो मे सदैव वस्ति द्वारा बृंहण ही कर्त्तव्य है, विशोधन नही।

(१०) अनुवासन वस्ति के लिए आवश्यक है कि वह मलाशय या स्थूलान्त्र के अधोभाग मे तीन प्रहर तक (९ घण्टे तक) पडी रहे उसके बाद निकले। इस लिए मलाशय आदि के भले प्रकार मे संशोधन के अनन्तर ही देना चाहिए ताकि उसका शोषण हो सके। यदि बिना वहाँ देर तक रुके ही वस्ति द्रव्य निकल आवे तो पुन नई वस्ति देनी चाहिए।

(११) अनुवासन के कार्यों मे व्यवहृत होने वाली वस्ति सिद्ध तैलो की होती है और विविध औषधियो के पाक से सिद्ध तैल वस्ति की विधि से दिए जाते है।

(१२) अनुवासन का प्रयोग रोगी का हाथ धुला कर भोजन करा के, करना चाहिए। अन्न की विदग्धावस्था मे दिया गया स्नेह ज्वर पैदा कर देता है। अति स्निग्ध भोजन कराके या स्नेह पिला कर अनुवासन न देवे। दोनो मार्ग से दिया हुआ स्नेह मद और मूर्च्छा उत्पन्न करता है। रूक्ष अन्न खाने पर दिया गया अनुवासन वल और वर्ण को घटाता है। इसलिए थोडे परिमाण (मात्रा) मे स्नेह को भोजन मे देकर पश्चात् अनुवासन करे। मूँग आदि का यूष, दूध या मासरस, जो रोगी को अनुकूल और सात्म्य हो उसकी रोज की खुराक की चौथाई कम करके खिलावे। पश्चात् अनुवासन करे।

(१३) रोगी को भली प्रकार स्नेह से अभ्यंग और उष्ण जल से स्वेदित करके कुछ खिला कर, टहला कर, मल-मूत्र के त्याग के वाद उसे स्नेह वस्ति दे।

(१४) स्नेह-वस्ति के ले चुकने के बाद पीठ के बल लेट कर एक सौ मात्रा तक प्रतीक्षा करे। हाथ, पैर आदि पूरे अंग को फैलाये। इससे स्नेह का बल सारे शरीर मे फैल जाता है। हाथ-पैर के तलवो पर तीन तीन वार थपथपाए। नितम्बो को भी थपथपाये। शय्या के पैताने को भी तीन वार ऊँचा उठाए। इस प्रकार वस्ति के देने के पश्चात् रोगी अल्प परिश्रम करे, वोलना कम करे या मंद आवाज से वोले तथा पूर्ण विश्राम करे, साथ ही अन्य आचार सम्बन्धी नियमो का पालन करे।

(१५) प्रात काल धनियाँ और सोठ से सिद्ध गर्म जल देना चाहिए। इससे अग्नि पर्याप्त होती है और भोजन मे रुचि होती है।

(१६) एकान्ततः केवल स्नेह वस्ति का अथवा केवल निरूहण का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐकान्तिक स्नेहन से अग्नि के नाश और उत्क्लेश होने का तथा ऐकान्तिक निरूहण से वायु के उपद्रवों का भय रहता है। इस लिए निरूह के पश्चात् अनुवासन और अनुवासन के पश्चात् निरूहण करते रहना चाहिए। यदि लगातार अनुवासन देना हो तब बीच बीच में निरूहण करते रहना चाहिए।

(१७) आम स्नेह (कच्चे तैल) का अनुवासन नहीं देना चाहिए। इससे गुदा अभिष्यंद युक्त (Congested) हो जाती है।

(१८) मात्रा-वय के अनुपात से निरूहों की जो मात्रा आगे बतलाई जायगी उसकी चौथाई मात्रा मनुष्यों के लिए स्नेह वस्ति के अनुवासन में बरतनी चाहिए अर्थात् श्रेष्ठ मात्रा ६ पल (२४ तोले), मध्यम मात्रा (१२ तोले) तथा हीन मात्रा १½ पल (६ तो०) की होती है।

षट्पली तु भवेज्ज्येष्ठा मध्यमा त्रिपला भवेत्।
कनीयसी सार्द्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने॥

ख—आस्थापन या निरूह :—

(१) कोमल प्रकृति के पुरुषों में निरूह वस्ति कम मात्रा में दे। यह ध्यान रखे कि मात्रा भले ही ऐसे व्यक्तियों मे कम हो जावे, परन्तु अधिक मात्रा कभी न पहुचे।

(२) जिसमें वस्ति की मात्रा कम हो, वेग अल्प हो, मल और वायु कम हो, अरुचि, मूत्र-त्याग में कठिनाई और जडता उत्पन्न हो गई हो, उसे हीन निरूढ दुर्निरूढ, समझना चाहिए। यदि अति विरेचित (Dehydration) के लक्षण पैदा होने लगें तो उसे निरूढ समझे। जिन रोगी में आस्थापन देने पर क्रमशः मल, पित्त, कफ और अन्त में वायु निकले, अन्न मे रुचि बढ़े, कोष्ठ हलके प्रतीत हों, शरीर का भारीपन दूर हो जाय तथा अग्नि बढ़े, उसको सम्यक् निरूढ अर्थात् भली प्रकार से निरूढ हुआ समझे।

(३) भली प्रकार से निरूहण के पश्चात् रोगी को स्नान करा के भोजन दे। पित्त वालों को दूध से, कफ वालों को यूष से, और वायु वालों को मांसरस के साथ भोजन देना चाहिए। अथवा सभी को विकार न करने वाले जांगल मांस-रस के साथ भोजन दे। भोजन की मात्रा प्रतिदिन के भोजन से ½ या ⅓ भाग कम या इससे भी कम व्यक्ति की अग्नि एवं दोष के अनुसार होनी चाहिए। तदनन्तर स्नेह वस्ति देनी चाहिए।

(८) निरूह देने के बाद वायु के कोप का भय रहता है। अत मासरस के सा । भात दे और उसी दिन रोगी को अनुवासन दे। अनुवासन देने के अनन्तर रोगी की तुष्टि-निर्मल, मन का सन्तोष, स्निग्धता और रोगी की शान्ति बढती है।

(५) निरूह वस्ति का उद्देश्य शोधन होता है अत उसके प्रयोग के बाद मल, कफ आदि पदार्थ स्वभावतया निकल आने चाहिए। यदि एक मुहूर्त तक प्रतीक्षा करने पर वह वापस न आवे, अर्थात् वाहर न निकले तो त्रिवृतादि शोधन अथवा तीक्ष्ण निरूहो मे यवक्षार, गो-मूत्र और काजी मिलाकर पुन वस्ति दे जिसमे प्रथम दिया गया स्थापन द्रव्य वाहर निकल जाए।

(६) वायु के अवरोध से रुका हुआ, विपरीत गति-युक्त निरूह अगो मे देर तक रुक कर शूल, आनाह, वेचैनी, ज्वर आदि लक्षणो को पैदा कर मृत्यु का भी कारण हो सकता है।

(७) भोजन करने पर आस्थापन नही देना चाहिए, यह सिद्धान्त है। ऐसा न करने से या तो विमूचिका होती है या भयकर वमन होता है। अथवा सभी दोष दूषित हो जाते हैं अत भोजन न किए हुए व्यक्ति को ही निरूह दे। अर्थात् निरूह का प्रयोग निराहारावस्था मे ही करना चाहिए।

(८) रोगी और रोग की अवस्था का विचार करते हुए निरूह देना चाहिए। क्योकि मल के निकल जाने पर दोषो का वल भी जाता रहता है।

(९) निरूहण में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य-दूध, अम्ल, मूत्र, स्नेह, क्वाथ, मासरस, लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसो, वच, इलायची, सोठ, पिप्पली, रास्ना चीट, देवदार हल्दी, मुलहठी, हीग, कूठ और त्रिवृत, आदि सशोधन, कुटकी, शर्करा मुस्ता, खस, अजवाइन, प्रियगु, इन्द्र जौ, काकोली, क्षीर काकोली, ऋषभक, जीवक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका इनमे से जो मिल सके उनका निरूहो मे उपयोग करे।

(१०) निरूह मे स्नेह की मात्रा के अनुसार कल्पना स्वस्थ अवस्थ मे यदि निरूहण देना हो तो सामान्यतया क्वाथ का $\frac{1}{5}$ भाग स्नेह मिला कर दिया जाता है। दोषानुसार वायु के कोप मे स्नेह $\frac{1}{4}$ भाग, पित्त मे $\frac{1}{6}$ भाग और कफ विकारो मे $\frac{1}{8}$ भाग क्वाथ मे स्नेह का होना चाहिए। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि सभी प्रकार के निरूहो मे कल्क का $\frac{1}{8}$ भाग स्नेह अवश्य हो।

आस्थापन वस्ति कल्पना —

प्रथम सैन्धव एक कर्ष (१ तोला) मात्रा मे डाले, मधु दो प्रसृति मिला कर पात्र मे इसको हाथ से खूब मथे, मथने पर तैल धीरे धीरे मिलता जाय। भली प्रकार मथे जाने पर मैनफल का कल्क इसमे मिलाए, फिर पीछे कहे हुए दूसरे

कल्कों को बारीक पीस कर मिलाए। इन सबको एक बड़े गहरे पात्र मे डाल कर मन्थन दण्ड से मथे अथवा जैसे ठीक समझे, वैसे मथे। यह न तो गाढा होना चाहिए और न पतला अपितु समान रहना चाहिए, दोषो की अवस्था देख कर मासरस, दूध, कांजी, मूत्र मिलाए। इसमे भली प्रकार छाना हुआ कषाय पच प्रसृति मिलाए।

मात्रा :—बारह प्रसृति को श्रेष्ठ मात्रा आस्थापन की होती है। इसमे आयु के अनुसार एक-एक प्रसृति घटाते हुए यथा योग्य मात्रा की कल्पना करनी चाहिए। उदाहरणार्थ एक श्रेष्ठ मात्रा बतलाई जा रही है, इसमे सैन्धव से लेकर कषाय पर्यन्त सभी द्रव्यो में अनुपात से कमी करते हुए छोटी मात्रा का विधान करना चाहिए। प्रथम सैन्धव एक कर्ष, मधु दो प्रसृति इनको मिला कर स्नेह तीन प्रसृति मिलावे, जब स्नेह मिल कर एक हो जाय तो उसमें कल्क एक प्रसृति मिलावे, जब वे मिलकर एक हो जावें तो कषाय ४ प्रसृति मिलावे फिर प्रक्षेप २ प्रसृति मिलावे—इस प्रकार के मिलाने मे मात्रा बारह प्रसृति की बनती है। यही आस्थापन की श्रेष्ठ या उत्तम मात्रा है।

आयु के अनुसार चरक ने इस मात्रा का निर्धारण निम्नलिखित भांति से किया है। एक वर्ष की आयु तक निरूह की मात्रा आधी प्रसृति होनी चाहिए। पश्चात् आधी प्रसृति आयु के अनुसार बढनी चाहिए जब तक कि आयु बारह वर्ष की न हो जाय। फिर बारह से अठारह की आयु तक प्रतिवर्ष के हिसाब मे एक-एक प्रसृति बढाना चाहिए। इस प्रकार पूर्ण मात्रा १२ प्रसृति की—आस्थापन में मानी जाती है। अठारह मे लेकर ७० वर्ष की आयु तक इसी मात्रा में आस्थापन देना होता है। सत्तर वर्ष के बाद की आयु मे सोलह वर्ष की आयु की मात्रा मे ही आस्थापन देना चाहिए। सामान्यतया बालक और वृद्ध में मृदु निरूहण करना चाहिए।

प्रचलित मान के अनुसार ८ तोले की एक प्रसृति होती है। प्रथम वर्ष की आयु मे आधा प्रसृति ४ तोले की निरूह की मात्रा हुई, प्रति वर्ष आधी प्रसृति बढाते हुए बारह की आयु तक पूरी मात्रा ६ प्रसृति ४८ तोले अर्थात् ९॥ छटाँक की मात्रा निरूह की हो जाती है। १२ वर्ष की आयु से एक-एक प्रसृति क्रमश बढाते हुए १८ वर्ष की आयु मे निरूह की पूर्ण मात्रा १२ प्रसृति या ९६ तोले अर्थात् १ सेर की हो जाती है। यह कुल मात्रा है। इसी मे सैंधव, स्नेह, कल्क, कषाय आदि सभी का ग्रहण समझना चाहिए।

वस्ति की संख्या :—

कर्म, काल और योग के विचार से तीन प्रकार की वस्तिया होती है। कर्म, काल और योग इन शब्दो की कोई स्पष्ट व्याख्या नही पाई जाती है। सभवत-

कर्म से पच कर्म मे, काल से ऋतु काल के शोधन मे तथा योग अर्थात् रोग के चिकित्सा काल मे इन तीन प्रयोजनो को लेकर विभिन्न सख्या की वस्तियो का निर्देश किया गया है। कर्म मे कुल तीस वस्तियाँ अपेक्षित है—इनमे प्रारम्भ मे एक स्नेह वस्ति देकर वारह निरूह और वारह अनुवासन एकान्तर से तथा अन्त मे पाच स्नेह वस्तियाँ सब मिला कर तीस हो जाती है। काल में १६ वस्तियाँ अपेक्षित है—जिनमे प्रारम्भ मे एक स्नेह देकर ६ निरूह और ६ अनुवासन मध्य मे एकान्तर-क्रम से तथा अन्त मे तीन स्नेह वस्ति देकर पूरी सख्या १६ की पहुँचाई जाती है। योग मे कुल आठ वस्तिया अपेक्षित है। इनमे प्रारम्भ मे एक स्नेह वस्ति दे। इस प्रकार कुल तीन निरूह और पाच अनुवासन कुल मिला कर आठ हो जाते है।

योगायोग के लक्षण—सामान्यतया वस्ति प्रदेश, कटि, पार्श्व और कुक्षि मे जाकर पाखाने आदि दोषो को मथ कर शरीर का स्नेहन करती हुई पाखाने और दोषो के साथ शरीर के वाहर निकल आती है। इसीको वस्ति कहते है।

सम्यक् निरूढ के लक्षण—मल, मूत्र और वायु का खुलना, अन्न मे रुचि, अग्नि को वृद्धि, आशयो की लघुता, रोग की शान्ति और रोगी का अपने को पूर्ववत् स्वस्थ अनुभव करना ये सुनिरूढ व्यक्ति के लक्षण है।

असम्यक् निरूढ के लक्षण—यदि व्यक्ति, का आस्थापन ठीक न हो पाया हो तो सिर, हृदय, गुदा और वस्ति मे पीडा, शोफ, प्रतिश्याय, तीव्र गुदा मे काटे जाने सी वेदना, हृल्लास, मूत्र और वायु का अवरोध तथा ठीक प्रकार से श्वासो का न आना प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते है।

अतिनिरूढ का लक्षण—अति विरेचित मे जो लक्षण वतलाया गया है वही अति निरूढ मे पाया जाता है।

सम्यक् अनुवासित के चिह्न—विना किसी प्रकार की रुकावट के तैल और पुरीष का आना, रक्तादि धातु-वृद्धि, वुद्धि और इन्द्रियो की प्रसन्नता, सोने की इच्छा, लघुता और वल का अनुभव तथा वेगो की सुखपूर्वक प्रवृत्ति का होना ये लक्षण सम्यक् अनुवासित के होते है।

असम्यक् अनुवासित के चिह्न—ऊर्ध्व शरीर, उदर, वाहु, पृष्ठ, पार्श्व आदि मे पीडा, गात्र का रूक्ष और खर होना, मल, मूत्र और वायु की रुकावट प्रभृति चिह्न असम्यक निरूढ के मिलते है।

अति अनुवासित के चिह्न—हृल्लास, मोह, थकावट, साद, मूर्च्छा, प्रभृति चिह्न अत्यनुवासन मे पाए जाते है।

अनास्थाप्य :—अजीर्ण, अति स्निग्ध, स्नेहपीत, उत्क्लिष्ट दोष, अल्पाग्नि, यानक्लान्त, अति दुर्बल, मूक, तृष्णा श्रमार्त, अतिकृश, भुक्तभक्त, पीतोदक (पानी पिये) वमित विरिक्त, जिनका नस्य कर्म किया गया हो, क्रुद्ध, भीत, मत्त, मूर्च्छित, प्रसक्तच्छर्दि, निष्ठीविका, श्वास, कास, हिक्का, बद्धोदर, उदकोदर, आध्मान, अलसक, विसूचिका, अप्रजाता, अतिसारी, मधुमेह और कुष्ठ रोग में आस्थापन नहीं करना चाहिये।

आस्थाप्य :—शेष आस्थाप्य है। विशेषत सर्वाङ्ग या एकाङ्गवात, कुक्षि रोग, वायु-पुरीष-मूत्र-शुक्र आदि की रुकावट, बल, वर्ण, मास और शुक्र-क्षय, आध्मान, अगसुप्ति क्रिमिकोष्ठ, उदावर्त, शुद्ध, अतिसार, पर्वभेद, अभिताप, प्लीह गुल्म, शूल, हृद्रोग, पार्श्व-पृष्ठ-कटिग्रह, वेपन, आक्षेप, गुरुता, अति लाघव, रज क्षय, विषमाग्नि, स्फिक् जनु-जघा-ऊरु गुल्फ-पार्ष्णि-प्रपद-योनि-बाहु-अगुली, स्त-नान्त-दन्त-नख-पर्व-अस्थि-प्रभृति अगो के शूल, शोप या स्तम्भ, आन्त्र कूजन, परिकर्तिका, उग्र गन्ध प्रभृति कारणो से उत्पन्न वात व्याधियो मे जिनका महारोगाध्याय (चरक) में वर्णन हुआ है, स्थापन प्रधान रूप से करना चाहिये।

अननुवास्य —जिन रोगियो में स्थापन निषिद्ध है, उनमें अनुवासन भी नही करे। विशेषत अभुक्त (बिना खाए), नव ज्वर, पाण्डुरोग, कामला, प्रमेह, अर्श, प्रतिश्याय, अरोचक, मदाग्नि, दुर्बल, प्लीह, कफोदर, ऊरुस्तम्भ, वर्चोभेद (अतिसार) विषपीत, पीतगर, पित्त और कफाभिष्यंद, गुरु कोष्ठ, श्लीपद, गलगण्ड, अपची, कृमिकोष्ठ।

अनुवास्य :—जो स्थाप्य है वही अनुवास्य। विशेषत रूक्ष और तीक्ष्ण अग्नि वाले केवल वात रोग से पीडित, उनमें अनुवासन प्रधान कर्म है।

विभिन्न प्रकार की अन्य वस्तियाँ

मात्रा वस्ति :—अनुवासन वस्ति का ही एक भेद विशेष है। ह्रस्व मात्रा के अनुवासन ही का नाम मात्रा वस्ति है। इसमें स्नेह की मात्रा ॥ पल (६ तोले) होती है, उसे मात्रा वस्ति कहते है। इसका प्रयोग कर्म व्यायाम-भार-अध्वयान-स्त्री आदि के अति सेवन से कृश व्यक्तियो में तथा दुर्बल और वात पीडित रोगियो में सदैव करना चाहिए। रोगी के लिये किसी प्रकार के पथ्य से रहने की आवश्यकता नही रहती। वह इच्छानुरूप भोजन, चेष्टा आदि कर सकता है और सब समय में इस वस्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है। यह वस्ति बल्य, सुखवर्धक, मल आदि का शोधक, वृंहण, वातरोग नाशक आदि गुणो से युक्त होती है।

सिद्ध-वस्ति :—ऐसी वस्तियो का प्रयोग सदा किया जाता है। ये वस्तियाँ व्यापद्-रहित, बहुत फल देने वाली, बल एव पुष्टि करने वाली और सुखदाई होती है। इन वस्तियो का उपयोग विभिन्न रोगो की चिकित्सा मे तथा बल-वर्ण की वृद्धि के लिए होता है। इनसे नाना प्रकार के रोगो मे चिकित्सा करते हुए सफलता मिलती है, अतएव इन वस्तियो को सिद्ध वस्ति कहते है। अरुण दत्त ने एक वृद्ध सुश्रुत के श्लोक का उद्धरण देते हुए बतलाया है कि "सिद्ध वस्ति उन वस्तियो को कहते है जिनका बिना किसी प्रकार के पथ्य के प्रयोग करने से भी सफलता निश्चित मिलती है।" जैसे, पचमूल क्वाथ, तिल तैल, पिप्पली, मधु, सैन्धव और मधुयष्टि को एक मे मिला कर वस्ति देना।

माधुतैलिक वस्ति —यह एक प्रकार की निरूह वस्ति ही है। इसमे मधु एव तेल की विशेषता रहती है। अत माधुतैलिक वस्ति कहलाती है। मधु-तैल समान, सैंधव एक कर्ष, सौफ २ कर्ष, इनको एरण्डमूल क्वाथ के साथ दिया जाय तो यह निरूह रसायन, प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म और आन्त्रवृद्धि का नाशक होता है। "यस्मान्मधु च तैल च प्राधान्येनात्र वर्तते। माधुतैलिक इत्येष विज्ञेयो वस्तिचिन्तकै"।

युक्तरथ वस्ति—एरण्डमूल के क्वाथ मे मधुतैल-सैन्धव-वच-पिप्पली और मैनफल को मिलाकर दी गई वस्ति युक्तरथ कहलाती है। जिस प्रकार वृषभ, ऊँट एव घोडे से जुते हुए रथ को जब चाहे चालू करदे, उसी प्रकार इन वस्तियो का भी प्रयोग सब समय किया जा सकता है, इनमे किसी प्रकार निषेध नही है। इसी लिए इन्हे युक्तरथ कहते हैं।

दोषनाशक वस्ति :—दोषो के अनुसार वातघ्न, पित्तघ्न और श्लेष्मघ्न कई प्रकार की वस्तियाँ भी बनाई जाती है जिनका दोषानुसार प्रयोग अपेक्षित रहता है। जैसे एरण्डमूल के क्वाथ मे मधु, वच, सौफ, हिंगु, सेंधानमक, देवदारु और रास्ना मिला कर दी गई वस्ति मूत्राशयगत दोषो को दूर करती है।

यापना वस्ति :—मधु, घृत, वसा, तैल एक-एक प्रसृत—सैन्धव १ कर्ष, हाऊबेर आधा पल इनके मिश्रण से यापना वस्ति बनती है। इन वस्तियो के द्वारा आयु का दीर्घ काल तक अनुवर्तन होता रहता है। अतः ये यापना वस्तियाँ कहलाती है।

शुक्रकरण वस्ति, शुक्रवर्धक वस्ति, वाजीकरण वस्ति। तित्तिरादि मास रस की वस्ति, गोधादि मासरसो की वस्ति प्रभृति कई विशिष्ट वस्तियो का उल्लेख भी शास्त्रो मे पाया जाता है।

स्नेहवस्ति–अनुवासन वस्ति तथा मात्रावस्ति :—

स्निग्ध वस्ति के तीन भेद है। वास्तव में मात्रा भेद से ही ये तीन भेद होते है। श्री गयी नामक आचार्य ने स्पष्टतया कहा है कि जिस वस्ति मे ६ पल (२४ तोले) स्नेह का गुदा मार्गसे प्रवेश कराया जाय वह स्नेह वस्ति कहलाती है। यदि उसकी मात्रा ३ पल (१२ तोले) की कर दी जाय तो उसे तो अनुवासन वस्ति कहते है और यदि प्रवेश्य द्रव्य की मात्रा कुछ कम अर्थात् १॥ पल (६ तोले) भी कर दी जाय तो उसको मात्रावस्ति कहते है।

पिच्छा वस्ति :—कई प्रकार की आवस्यिक वस्तियो का उल्लेख भी ग्रथो मे पाया जाता है। रोग की विभिन्न अवस्थाओ मे चिकित्सा मे उनका प्रयोग होता है। अतिसार की कई अवस्थाओ मे पिच्छा वस्ति का प्रयोग पाया जाता है। अतिसार या प्रवाहिका मे जब वायु का विबन्ध हो और थोडी-थोडी मात्रा में रक्तमिश्रित शूल के साथ बहुत बार शौच इत्यादि हो उस अवस्था मे पिच्छा वस्ति का उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार चिरकालिक अतिसार मे भी अनुवासन वस्ति का प्रयोग बतलाया गया है।

सुश्रुत ने पिच्छा वस्ति का प्रयोग अनेक अवस्थाओ मे किया है, उदाहरणार्थ वस्ति के उपद्रव रूप में होने वाले परिकर्तिका नामक रोग मे जिसमे नाभि, वस्ति, गुदा, रोगी को कटते हुए प्रतीत होते है। दुर्बलता, अगो का टूटना, पित्त का गुदा से स्राव तथा गुदा के दाह मे भी पिच्छा वस्ति दी जाती है। यह दूध और घी के योग से बनाई जाती है। मलाशय मे या स्थूलान्त्र मे दाह और शूल हो और कठिनाई से कफ मिश्रित रक्त का आम युक्त मल त्याग हो तो उस अवस्था में भी पिच्छा वस्ति का निर्देश है। अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अतिशय मात्रा हो, अतिशय स्वेद दिए हुए पुरुष को अतियोग के लक्षण उत्पन्न होते है। इसमे भी पिच्छा वस्ति का प्रयोग सुखदायक होता है।

उत्तर वस्ति (Urethral or Vaginal douche) —

पुरुषो के मूत्र मार्ग और स्त्रियो के गर्भाशय तथा योनिसम्बन्धी रोगो मे जो वस्ति (पिचकारी) दी जाती है उसे उत्तर वस्ति कहते है।

यन्त्र :—चरक ने उत्तर वस्ति देने में प्रयुक्त होने वाले यन्त्र का नाम पुष्प नेत्र कहा है। इसका अग्र भाग चमेली के फूल के वृन्तसदृश या गोपुच्छाकार और सिरे मे गोल-पतली होती है। पहले जो यन्त्र बनता था उसमे चमडे के पास और बीच में एक चकती बैठाई रहती थी और अग्र भाग नरम सुवर्ण, चाँदी आदि धातु का रहता था। अग्रभाग कुंद, कनेर, चमेली आदि के फूल के डण्ठल के समान किन्तु दृढ होता था और सिरे पर जो नली का मुख-छिद्र होता

था वह सरसो का दाना जाने योग्य रहता था। इसके मूल भाग मे चमडे की थैली लगी रहती थी, जिसमे चार तोले द्रव आ सकता था। स्त्रियो मे उत्तर वस्ति की नली १० अगुल लम्वी होती थी और उस नली का मुख ऐसा होता था जिसमे मूँग की दाल जा सकती थी।

आज कल ऐसी पिचकारी कॉच, प्लास्टिक या धातु की वनी आती है जिसको (Urethral syringe) कहते है। यह वीच मे पोली होती है, अग्र भाग मे एक फूल के वृन्त के आकार का एक नौजल लगा रहता है, जिसका प्रवेश मूत्र या योनि मार्ग मे कराया जाता है। मूल भाग मे एक पिस्टन लगा रहता है जिमको दवा कर पिचकारी के अन्दर के द्रव का प्रवेश कराया जाता है। प्राचीन वस्ति यन्त्र का प्रतिनिधि आज कल का 'हुस्टन वाल्भ सिरिंज' है, जिससे यथावश्यक मूत्रमार्ग या योनिमार्ग से औषधि का प्रवेश कराया जा सकता है। स्त्रियो के योनि-प्रक्षालन का कार्य तो साधारण वस्ति यन्त्र द्वारा भी हो सकता है परन्तु पुरुपो मे मूत्र मार्ग के प्रक्षालन के लिए धातु की बनी पिचकारी ही है।

पुरुषो मे उत्तर वस्ति देने की विधि

रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन देकर वायु-मूत्र-मल का त्याग करके आशय के ढीला होने पर घृत और दूध मिलित यवागू को यथाशक्ति पिला कर, घुटनो के वरावर ऊँची चौकी पर सहारा (तकिया) लगाकर विठाए। गरम तैल से वस्ति शिर को भली प्रकार मल कर इसकी मूत्रनाली को प्रहर्षित (उत्तेजित) करके समान रूप मे रखकर-प्रथम शलाका से मार्ग की परीक्षा करके, पीछे से घी से स्निग्ध किए नेत्र को धीरे-धीरे ६ अंगुल प्रविष्ट करे। कई आचार्य मेहन के वरावर प्रविष्ट करने के लिए कहते है। फिर वस्ति को दवाए और धीरे से नेत्र को निकाल ले। फिर स्नेह के वापिस आने पर सायकाल मे बुद्धिमान वैद्य दूध, यूप या मासरस से मात्रा मे रोगीको भोजन करावे। इस विधि से तीन या चार वस्ति देवे।

स्त्रियो मे उत्तर वस्ति देने की विधि

अशुद्ध रक्तस्राव के पश्चात् अर्थात् चौथे दिन से प्रारम्भ कर सोलहवे दिन तक शुद्ध ऋतु काल कहलाता है। इस काल मे योनि और गर्भाशय का मुख खुला रहता है जिससे वस्ति द्वारा औपधियो के प्रयोग किए जाने पर उनके गुणो का ग्रहण सम्भव रहता है अतएव सदैव ऋतु काल मे ही वस्ति देने का विधान स्त्रियो मे है। आत्ययिक अवस्था मे जैसे योनिभ्रंश, शूल या योनिरोगो मे या रक्त प्रदर मे विना ऋतु काल के भी उत्तर वस्तियाँ दी जा सकती है।

योगायोग :—उत्तर वस्ति के सम्यक् योग के लक्षण, हानियाँ और उपद्रवो की चिकित्सा स्नेह वस्ति या अनुवासन के समान ही है।

वस्ति कर्म में प्रयुक्त होने वाले प्रधान भेपज दशमूल की औपधियाँ, एरण्ड-मूल, पुनर्नवा, यव, कोल, कुलत्थ, गुडूची, मदन फल, पलाश, कत्तृण, स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा), पच लवण।[1]

(विस्तार से ज्ञान के लिए इन औपधियो का संग्रह चरक-विमान स्थान आठवें अध्याय मे द्रष्टव्य है।

नस्य कर्म

(Insufflation or Inhalation through Nose)

निरुक्ति तथा भेद :—औपधि से सिद्ध स्नेह नासिकाओ से दिया जाने के कारण नस्य कहलाता है। यह नस्य दो प्रकार का है,

(१) शिरोविरेचन (२) स्नेहन। यह दो प्रकार का नस्य भी पाँच प्रकार का है यथा, नस्य, शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीड और प्रधमन। इनमे नस्य और शिरोविरेचन मुख्य हैं। नस्य का ही भेद प्रतिमर्श है।

शिरोविरेचन के भेद :—अवपीडन और प्रधमन है। नस्य शब्द इन पाचो के लिए होता है।

नस्य :—इसमें जो स्नेह शून्य शिर वालो (खाली सिर की प्रतीति) मे स्नेहन के लिए, ग्रीवा और स्कन्ध मे वल लाने के लिए अथवा दृष्टि की निर्मलता के लिए दिया जाता है, उस स्नेह में खासकर नस्य शब्द बरता जाता है। यह नस्य (स्नेह) वात से पीडित सिर में, दात, केश, श्मश्रु के गिरने मे, भयानक कर्णशूल में, कर्ण क्ष्वेड मे, तिमिर, स्वरभेद, नासा रोग, मुख शोष, अववाहुक, असमय में झुर्रियो मे, या बाल श्वेत हो जाने पर, वात-पित्तजन्य कष्टदायक मुखरोगो मे या दूसरे रोगो मे वात-पित्त नाशक द्रव्यो से सिद्ध घी, तैल, वसा या मज्जा स्नेह से नस्य देना चाहिए।

शिरोविरेचन :—[2]कफ से भरे तालु, कठ और सिर मे, अरोचक और सिर के भारीपन मे, शूल मे, पीनस मे, अर्धावभेदक मे, कृमि, प्रतिश्याय और

---

१ उदावर्त्तविवन्धेपु युज्यादास्थापनेषुञ्च। अतएवौषधगणात् सकल्प्यमनुवासनम्। मारुतघ्नमिति प्रोक्त संग्रह पाचकार्मिक ॥ (च सू २)

२ गौरवे शिरस. शूले पीर्धावसेऽद्धविभेदके। क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोह के। (च सू २)

अपस्मार मे, गंध ज्ञान के नाश मे, अन्य ऊर्ध्व जत्रुगत कफ जन्य रोगो मे। शिरोविरेचन के द्रव्यो से या उनसे सिद्ध किसी स्नेह से नस्य देना चाहिए।

नस्य तथा शिरोविरेचन की विधि :—इन दोनो प्रकार के नस्यो को विना भोजन कराए, भोजन के समय (अन्न काल) मे नही देना चाहिए। कफ रोगियो को पूर्वाह्न मे पित्तरोगियो को मध्याह्न मे तथा वातरोगियो को अपराह्न मे भोजन काल मे देना चाहिए।

शिरोविरेचन के योग्य व्यक्ति का, मल-मूत्र का त्याग कराके, अल्प भोजन कराके, आकाश मे वादल न होने पर, दातुन और धूमपान से मुख के स्रोतो का शोधन कराके, हाथो को अग्नि पर गर्म करके उससे गला, कपोल, माथा इनकी मालिश और सेक करके वायु-धूप और धूल से रहित स्थान मे रोगी को पीठ पर चित लेटा कर हाथ और पैर को सीधा फैला कर सिर को कुछ नीचे की ओर लटका कर आँखो को कपडे से ढाप कर वाएँ हाथ की प्रदेशिनी अगुली (Index Finger) से नासा को उठाकर स्रोत के सीधा हो जाने पर गर्म पानी से गर्म किए स्नेह को दाहिने हाथ से सुवर्ण, चाँदी, ताम्र मिट्टी के पात्र या शुक्ति के पात्र मे रखे स्नेह को शुक्ति (सीप-सितुही) के द्वारा या रूई के फोये से सुहाता हुआ गरम स्नेह को नासिका रन्ध्र मे इस प्रकार छोडे कि उसकी एक समान धारा जाय। साथ ही जल्दीवाजी न करे। यह भी ध्यान रखे कि स्नेह नेत्रो मे न जाये।

नेह को डालते समय रोगी सिर को न हिलाए, क्रोध न करे और न छीके और न हँसे। ऐसा करने से स्नेह ठीक प्रकार से नही पहुँचता और वाद मे उपद्रव रूप मे उसे कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग और नेत्र रोग उत्पन्न हो जाते है। वुद्धिमान् मनुष्य स्नेह नस्य को किसी प्रकार भी न पिये। यह स्नेह नस्य शृङ्गाटक मर्म तक फैल कर मुख से निकल कर आता है। कफ के उत्क्लेशित होने के भय से इसको वाम-दक्षिण पार्श्व मे विना रोके थूक देवे।

काल :—जव किसी विशेप रोग मे नस्य देकर स्वस्थ व्यक्ति में नस्य कर्म करना हो तो शरद् और वसन्त ऋतु मे पूर्वाह्न मे, शरद् ऋतु मे मध्याह्न मे, ग्रीष्म ऋतु में, अपराह्न मे और वर्षा ऋतु में सूर्य के दिखलाई पडने पर प्राय सभी पचकर्मो को विशेपत नस्य कर्म को करना चाहिए। आचार्य चरक ने कहा है कि नस्य कर्म सूर्य के निकलने पर प्रात काल मे या मध्याह्न मे करे। आचार्य वाग्भट ने कफरोगो में प्रात , पित्त रोगो मे मध्याह्न मे और वायु के रोगो मे सायकाल या रात्रि मे नस्य देने का विधान किया है। वात से आक्रान्त शिरोरोग मे, हिक्का, अपतानक, मन्यास्तम्भ तथा स्वरभेद मे प्रतिदिन प्रात और सायं

दो बार नस्य देना चाहिए। अन्य अवस्थाओ मे एक दिन छोड कर नस्य देना चाहिए। नस्य का कर्म सात दिनो तक चलाना चाहिए।

पश्चात् कर्म :—नस्य देने के उपरान्त फिर गले, कपोल आदि का स्वेद करके रोगी को धूमपान कराना चाहिए। पश्चात् नियमो का पालन करना चाहिए। धूल, धूप, धूम (धूवाँ) स्नेह, मद्य, द्रवपान, शिर से स्नान, वहुत सवारी करना, और क्रोध आदि का त्याग करना चाहिए।

मात्रा :—विरेचन मे स्नेह की मात्रा चार, छ या आठ बूँद (प्रति नासापुट के लिए) की है। इनको बल के अनुसार वरतना चाहिए। प्रदेशिनी अङ्गुलि (Index finger) को दो पोरवे (पर्व) तक स्नेह मे डुवो कर उनसे निकली एक बूँद प्रथम मात्रा हैं। इसी प्रकार की ४–६ या ८ बूँदो (drops) को रोगी के वलावल का विचार करते हुए वरतना चाहिए।

स्नेह की मात्रा के भेद से इसकी तीन मात्राएँ उत्तम, मध्यम, और हीन की जाती है। प्रथम मात्रा या हीन मात्रा १६ बूँदो की, मध्यम मात्रा ३२ बूंदो और उत्तम मात्रा ६४ बूँदो की होती है।

अवपीड़न :—अवपीडनस्य शिरोविरेचन की भाँति अभिपण्ण (मेद-कफ से भरे शिर वाले), सर्पदष्ट, मूर्च्छित पुरुषो को देना चाहिए। इसके लिए पिप्पली, विडग आदि शिरोविरेचन द्रव्यो मे से किसी एक को पीस कर शर्करा, इक्षुरस, दूध, घी, मासरस मे से किसी एक के साथ मिलाकर क्षीण हुए एव रक्तपित्त के रोगियो मे देना चाहिए।

कृश, दुर्वल, भीरु तथा कोमल प्रकृति वाले पुरुष एव स्त्रियो मे शिर के शोधन के लिए सिद्ध किए स्नेह तथा अन्य द्रव्यो का कल्क हितकारी है।

अवपीडन जैसे नाम से ही ज्ञात हो रहा है कि इसमे मरिच, शुठी आदि तीक्ष्ण द्रव्यो का कल्क वना कर निचोड कर उसका नस्य दिया जाता है इसीलिए अवपीडन कहलाता है।

प्रधमन (Insufflation of Powder through Nose) —

मानसिक विकार, कृमि और विप से पीडित व्यक्तियो मे नासामार्ग से फूँक मार कर चूर्ण को अन्दर मे प्रविष्ट करते है। इसके लिए ६ अङ्गुल लम्वी दोनो ओर मुख वाली नाडो वना कर उसमे औपधि भर कर फूँक से नासा मे देते है। यह वडा तीव्र प्रकार का नस्य है और दोपो को अधिक मात्रा मे खीचता है, इसमे चूर्ण की मात्रा मुच्चटी (चूटकी भर) रखते है।

प्रतिमर्श :—इसके दो प्रकार होते है। मर्श तथा प्रतिमर्श।

प्रतिमर्श—नस्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उत्तम है, क्योंकि यह प्रतिमर्श नित्य सेवन करने से मर्श नस्य की भाँति गुणकारी है, इसमें न तो किसी प्रकार के पथ्य की आवश्यकता है और न मर्श के समान अक्षिस्तम्भता आदि किसी प्रकार के उपद्रव का भय है। प्रतिमर्श की विधि यह है कि प्रदेशिनी अङ्गुली के दो पर्वों को तैल से डुबो कर निकाल लेने से जो बूँद गिरती है उसका नाम बिन्दु है। मर्श नस्य की दस बिन्दु उत्कृष्ट मात्रा, आठ बिन्दु, उत्तम मात्रा ६ बिन्दु मध्यम मात्रा, और चार बिन्दु ह्रस्व मात्रा है। आचार्य सुश्रुत ने प्रतिमर्श की मात्रा इस प्रकार की बतलाई है—नाक से नस्य रूप से डाला स्नेह छोकने पर मुख पर आ जाय वही प्रतिमर्श का प्रमाण है। इसी को प्रतिमर्श की मात्रा समझे।

नित्य प्रति बरतने के लिए नस्य मे तैल ही उत्तम है। स्वस्थ पुरुष का सिर ही कफ का स्थान होता है। दूसरे स्नेह इतने गुणकारी नही है जितने गुणकारी तैल है। यदि मर्श और प्रतिमर्श मे कोई भेद न हो तो कोई मनुष्य पथ्य वाले एवं आपत्तियुक्त मर्श नस्य का सेवन न करे। क्योकि मर्श नस्य शीघ्र-कारी एवं गुणो में उत्कृष्ट है। प्रतिमर्श देर में काम करने वाला और गुणो में हीन है। जिस प्रकार कि अच्छ स्नेह के सम्बन्ध में कुटी-प्रवेश-स्थिति और वातातपरिस्थिति अथवा अनुवासन वस्ति में शीघ्रकारित्व और चिरकारित्व, गुणों की श्रेष्ठता और हीनता रहती है। इसी प्रकार मर्श एव प्रतिमर्श में भी भेद रहता है।

प्रतिमर्श का काल :—प्रतिमर्श नस्य का उपयोग चौदह समय में करना चाहिए यथा—प्रातः विस्तर से उठने पर, दातो को साफ करके, घर से बाहर निकलते समय, व्यायाम, मैथुन, मुसाफिरी से थका होने पर, मूत्र-मल-कवल और अजन के पीछे, भोजन करके, वमन करके, दिन में सोकर उठने पर और सायं काल प्रतिमर्श नस्य लेना चाहिए।

इसमें प्रातःकाल विस्तर से उठकर सेवन किया प्रतिमर्श नस्य रात्रि में एकत्रित हुए, नासास्रोत में आए हुए मल को नष्ट करता है और मन को प्रसन्नता देता है। दाँतो को साफ करके लिया प्रतिमर्श नस्य दाँतो को दृढ एवं मुख में सुगन्ध उत्पन्न करता है। घर से बाहर जाते समय सेवन किया प्रतिमर्श नासा स्रोतो को क्लिन्न रखने से धूल या धुएँ का प्रभाव नही होने देता। व्यायाम, मैथुन या मुसाफिरी से थके हुए होने पर सेवन किया नस्य थकान को मिटाता है। मल-मूत्र त्याग के पीछे सेवन किया दृष्टि के भारीपन को दूर करता है। कवल के पीछे लिया दृष्टि को निर्मल करता है। भोजन करके सेवन किया स्रोतो

की निर्मलता और हल्कापन उत्पन्न करता है। वमन के पीछे सेवन किया प्रतिमर्श नस्य स्रोतो मे लगे कफ को हटा कर भोजन मे रूचि उत्पन्न करता है। दिन मे सोकर उठने पर लिया नस्य निद्राशेपजन्य भारीपन और मल को दूर कर चित्त की एकाग्रता उत्पन्न करता है। साय काल लिया नस्य सुख-पूर्वक नीद लाता है।

दोपानुसार स्नेह की भिन्नता :—वायुयुक्त कफ मे तैल का प्रयोग शुद्ध वायु मे वसा का प्रयोग, पित्त मे घी का और वायुमिश्रित पित्त मे मज्जा का नस्य देना चाहिए। इन चारो मे तैल का ही उपयोग विशेपत कफविरोधी होने से होता है।

नस्य कर्म के भेद :—ऊपर मे विधिभेद से पाँच प्रकार के नस्य वतलाए जा चुके है। गुणो की दृष्टि से विवेचना की जाय तो वे मूलत तीन प्रकार के ही होते है।

(१) विरेचन (२) बृंहण (३) शमन। इनमे विरेचन नस्यो का प्रयोग शिर शूल, सिर की जडता, नेत्र के अभिष्यन्द रोग, गले के रोग, शोथ, गण्ड-माला, कृमि, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार और पीनस मे करना चाहिए।

बृंहण नस्य का प्रयोग वातजन्य शिर शूल मे, सूर्यावर्त्त मे, स्वरक्षय मे, नासाशोप-आस्य शोष मे, वाणी की जडता होने पर कठिनाई से बोलने मे तथा अववाहुक रोग में होता है।

शमन नस्य :—नीलिका, व्यग, केश रोग, अक्षि रोगो में अथवा आखो में रेखा होने पर वरतना चाहिए।

सक्षेप मे तीव्र सोठ, मिर्च, पिप्पली आदि से संस्कृत या बना हुआ, मधु या सैन्धव का यौगिक विरेचन नस्यो की कोटि में आते हैं और जागल मासरस से बनाए या रक्त या गोद मिश्रित नस्य बृंहण होते है और अत्युष्ण घी और तैल, दूध या पानी से युक्त नस्य समान गुण के होते है।

नस्य कर्म के गुण —नस्यो से मनुष्य के जत्रु से ऊपर के रोग शान्त हो जाते है, इन्द्रियो मे निर्मलता तथा मुख मे सुगन्ध पैदा होती है। हनु, दात, शिर ग्रीवा, त्रिक, बाहु और छाती मे वल आता है, वलि, झुर्रियो का पडना, पलित (केशो का पडना), खालित्य (सिर गजा होना), व्यग (झाई) भी उत्पन्न नही होते।

वास्तव मे जत्रु से ऊपर के रोगो मे नस्य वरता जाता है। शिरोरोग मे इसका विशेप उपयोग होता है क्योकि शिर का द्वार नाक है और इस नाक के मार्ग मे नस्य सिर मे फैलकर उन रोगो को नष्ट करता है।

जो मनुष्य यथासमय एव शास्त्रोक्त विधान के अनुसार नस्य कर्म का सेवन करता है उसकी आँख, नाक और कान नही मारे जाते। उसके बाल और दाढी के बाल सफेद और कपिल (कुछ पीले) नही होते, इनके बाल झरते नहीं, बल्कि विशेष बढते है। मन्यास्तम्भ, शिर की पीडा, अर्दित, जबडो का जकड जाना, पीनस अवभेदक और शिर का कापना शान्त हो जाता है। नस्य द्वारा तृप्त शिर की सिराएँ, सन्धियाँ, स्नायु और कण्डराएँ अधिक बल प्राप्त करती है। मुख प्रसन्न तथा पुष्ट, स्वर स्निग्ध महान और स्थिर, सभी इन्द्रियो मे स्वच्छता एव अधिक बल होता है। उसकी हँसलियो (अक्षक) के ऊपर के भाग मे उत्पन्न होने वाले रोग एकाएक नही होते। वृद्ध होने पर भी उत्तमाग (ग्रीवा के ऊपर) में बुढापा बल नही प्राप्त करता है।

शिरोविरेचन के अयोग्य रोगी (Contra Indications) :— (१) अजीर्ण-पीडित, भोजन किए, स्नेह-मद्य, अधिक जल पिए, या तृषायुक्त (पीने की इच्छा वाले व्यक्ति), सिर से स्नान किए व्यक्ति, स्नान के लिए इच्छुक आर्त्त व्यक्ति, भूख-प्यास और थकावट से दुखी, मद से मत्त, मूर्च्छित, शस्त्र या डडे से चोट खाए व्यक्ति, मैथुन-व्यायाम और मद्यपान से क्लान्त व्यक्ति शोक से सतप्त, विरिक्त, अनुवासित, गर्भिणी, नव प्रतिश्याय से पीडित व्यक्ति मे, विपरीत ऋतु तथा दुर्दिनो में शिरोविरेचन नही करना चाहिए। यदि अत्यावश्यक अवस्था (Emergency) हो तो इनमे शिरोविरेचन करावे अन्यथा नही।

शिरोविरेचन के योग्य (Indications) —उपर्युक्त अवस्थाओ के अतिरिक्त व्यक्तियो मे शिरोविरेचन करे। विशेषतः शिरोरोग, दन्तरोग, मन्यास्तम्भ, गलग्रह, हनुग्रह, पीनस, गलशुण्डिका, कण्ठशालूक, शुक्र (Corneal opacity.), तिमिर (Progressive cataract), वर्त्मरोग (Diseases of Eyelids), व्यंग (झाई) (Black Pigmintations), हिक्का, अर्धावभेदक (Migrain), ग्रीवा, स्कन्ध-अस आस्य, नासिका, कर्ण, अक्षि—ऊर्ध्व कपाल तथा सिर के रोगो में, अर्दित (Facial Paralysis), अपतन्त्रक (Hysteria), अपतानक (Tetanus) गलगण्ड (Goiter), दन्तशूल-दन्तहर्ष (Odontitis), चलदन्त (दाँतो का हिल जाना (Pyorrhoea), अक्षिराग, अर्बुद, स्वरभेद, वाग्ग्रह (Aphasia) गद्गदकथन (Stammering) तथा ऊर्ध्वजत्रु के परिपक्व वातिक विकार। इन अवस्थाओ में शिरोविरेचन एक प्रधान कार्य है। शिरोविरेचन के द्वारा इस दशा मे जिस प्रकार मूज से सीकें निकाल ली जाती है और

भूज की कोई भी हानि नही होती है। उसी प्रकार केवल शिरोगत दोषो को नस्य निकाल लेता है। वहाँ की धातुओ को कोई भी हानि नही होती है।

योगायोग तथा सम्यक् योग के लक्षण.—नस्य के सम्यक् योग से सिर मे लघुता, सुखपूर्वक निद्रा का आना, रोगो की शान्ति, इन्द्रियो की निर्मलता और मन की प्रसन्नता प्रभृति लक्षण दिखलाई पडते है।

अतियोग से कफ का गिरना, सिर मे भारीपन इन्द्रियो का विभ्रम आदि पाया जाता है। यदि अतिस्निग्ध नस्य के कारण ये लक्षण उत्पन्न हो तो उनमे रूक्षण करना चाहिए।

अयोग मे वायु की विपरीत गति, इन्द्रियो की रूक्षता, और रोग का शान्त होना पाया जाता है। इसमे पुन नस्य देना चाहिये।

शिरोविरेचन की औषधियाँ-अपामार्ग के बीज, छोटी पीपल, मरिच, वाय-विडङ्ग, शिग्रुवीज, सर्षप, तुम्बुरु (नेपाली धनिया), जीरा, अजवायन, अजमोदा पीलु, इलायची, रेणुका बीज, बडी इलायची, तुलसी, वन तुलसी, श्वेता, कुठेरक फणिज्झक, शिरीषवीज, हरिद्रा, सेंधा नमक, काला नमक, ज्योतिष्मती, शुंठी। (चर-सूत्र २)। इनके अलावे कटुतुम्बी, कडवी तोरई, प्याज, वन्दाक, कायफर का चूर्ण भी तीव्र शिरोरेचक है।

तृतीय खण्ड

चिकित्सा बीज

प्रथम अध्याय

शाब्दिक व्युत्पत्ति—'कित् रोगापनयने' व्याकरण के ग्रथो मे 'कित्' धातु का प्रयोग रोग के दूर करने के अर्थ मे होता है। इसी 'कित्' धातु से चिकित्सा शब्द की निष्पत्ति होती है। कित् + कित् + सन् + अ केतितुमिच्छा चिकित्सा। इस शब्द का समष्टि मे अर्थ होता है रोग का दूरीकरण। वार्तिककार ने लिखा है कि 'कित्' धातु का प्रयोग व्याधि के प्रतिकार, निग्रह, अपनयन तथा नाशन मे होता है। फलत इस धातु से बने शब्द चिकित्सा का भी इन्ही अर्थो मे व्यवहार होता है। "या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते।"

(वैद्यकशब्दसिन्धु)

पर्याय—चिकित्सा के पर्याय रूप मे कई शब्दो का व्यवहार प्राचीन ग्रथो मे पाया जाता है। उदाहरणाथ क्रिया, कर्म, प्रतिकर्म, वैद्यकर्म, भिषक्कर्म, भिपग्जित, प्रतिपेध, प्रतीकार, प्रशमन, शमन, रोगापनयन, व्याधिहर, प्रायश्चित्त, चिकित्सित, पथ्य, साधन, औपध, प्रकृतिस्थापन, रोगोन्मूलन, निग्रह, उपक्रम, उपचार तथा उल्लाघन।

चिकित्सितं व्याधिहर पथ्यं साधनमौपधम्।
प्रायश्चित्तं प्रशमनम् प्रकृतिस्थापनं हितम्॥ (चर)
चिकित्सितं हितं पथ्यं प्रायश्चित्त भिपग्जितम्।
भेपजं शमनं शस्तं पर्यायैरुक्तमौपधम्॥

तद्विद्यव्याख्या—१. वैद्य, औपध, परिचारक और रोगी प्रभृति चारो आवश्यक अगो के प्रशस्त रहने पर, धातुवो के विकृत हो जाने पर, धातुसाम्य के लिये जो प्रवृत्ति होती है उस को चिकित्सा कहते हैं—

चतुर्णां भिपगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥

२ जिस क्रिया के द्वारा शरीर के विपम हुए दोप एवं धातु समता को प्राप्त करते है उसे चिकित्सा कहते है और वही वैद्य का कर्म कहलाता है।

'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणा कर्म तद् भिपजां स्मृतम्॥

क्योकि दोपो या धातुवो का वैपम्य ही रोग कहलाता है—और उसका समान रहना ही आरोग्य है। रोग की अवस्था मे विषमता को प्राप्त हुए दोप

एवं धातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिये की जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती है।

'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।'

३. व्याधि या रोग का सम्यक्तया ज्ञान करके, वेदना या तकलीफ को दूर करना ही वैद्य का वैद्यत्व, वैद्य कर्म या चिकित्सा है। वैद्य आयु का मालिक नही है। अर्थात् रोगी का जीवन या मरण ईश्वराधीन रहता है, वैद्य के अधीन नहीं रहता है। केवल रोगजन्य वेदना को ठीक करना ही उसके अधीन है।

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः॥
(ब्रह्मवैवर्त्त पुराण)

यथानिदानं निर्दिष्टमतिसम्यक् चिकित्सितम्।
आयुर्वेदफलं स्थानमेतत्सद्योऽर्तिनाशनम्॥
(अ. हृ चि. २२)

इस संसार में कोई भी प्राणी अमर नही है, इसलिये मृत्यु का कोई भी निवारण नही कर सकता; किन्तु आयु के शेष रहने पर उत्पन्न हुए रोग चिकित्सा द्वारा अवश्य हटाये जा सकते है। इसलिये जब तक रोगी के कंठ में प्राण रहे रोग की चिकित्सा करते रहना चाहिए।

न जन्तुः कश्चिदमरः पृथिव्यामेव जायते।
अतो मृत्युरवार्यः स्यात् किन्तु रोगो निवार्यते।
यावत् कण्ठगताः प्राणास्तावत् कार्यं चिकित्सितम्॥

रोग तथा सर्पादि के दंश मे पीड़ित मनुष्य यदि कालप्राप्त (आयु पूरी) हो तो उसको स्वयं धन्वन्तरि भगवान् भी स्वस्थ नहीं कर सकते है। कालप्राप्त मनुष्य को औषधि, मंत्र, होम तथा जप इनमें से कोई भी नही बचा सकते है।

आयुष्ये कर्मणि क्षीणे लोकोऽयं दूयते यदा।
नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम्।

कायचिकित्सा—स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण तथा उसके रोगी हो जाने पर उसके रोग का प्रशमन, यही दो मुख्य प्रयोजन आयुर्वेद या चिकित्सा शास्त्र के है, तथा यही चिकित्सक का परम लक्ष्य है। इन दो उद्देश्यो को सम्मुख रखकर आयुर्वेद की सम्पूर्ण चिकित्सा कई विभागो में विभाजित हो जाती है। जिन्हें आयुर्वेद के अंग की संज्ञा दी जाती है। ये अंग आठ है, फलत चिकित्सा भी आठ अगो मे विभाजित हो जाती है। जैसे १. चीर-फाड या दाह के जरिये

(यन्त्रोपयंत्र तथा शस्त्रानुशस्त्रो के द्वारा), जत्रु के नीचे के शरीरावयवो में होने वाले रोगो का उपचार करना (शल्यतत्र), २ जत्रु के ऊपर के शरीर के अवयवो की शलाका आदि के द्वारा चिकित्सा करना (शालाक्यतत्र), ३ देव, असुर, गधर्व, राक्षस, पितृ, पिशाच एवं नागग्रह आदि से उपसृष्ट व्यक्तियो मे अर्थात् आधि या मानसिक रोगो से पोडित होने पर शान्तिकर्म-वलि-मंगल-होम-जप प्रभृति आधिदैविक उपचारो से रोगापनयन की क्रिया (भूत विद्या), ४ गर्भिणी परिचर्या, स्त्री रोग तथा वाल रोगो के उपचार (कौमार भृत्य) ५ सर्प-कीट-लूता एव मूषक प्रभृति जगम तथा विविध प्रकार के वानस्पतिक एव पार्थिव विषोपविष प्रभृति स्थावर प्रभावो से पीडित व्यक्तियो का उपचार (अगदतत्र), ६ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को स्थिर रखना या वय स्थापन, मेधा एव वल का वढाना, रोग, वार्द्धक्य और मृत्यु पर विजय पाने का उपक्रम (रसायन तत्र), ७ अल्प शुक्र वाले पुरुषो मे वीर्य का वढाना, दूषित शुक्र वाले व्यक्तियो के शुक्र का सशोधन करना, क्षीण शुक्र वाले शरीरो को स्त्रीसग के लिये सक्षम करने का कर्म (वाजीकरण) तथा ८ सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करने वाले रोगो की अर्थात् ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह तथा अतिसार आदि रोगो के उपचारार्थ (कायचिकित्सा) है।

प्रस्तुत विषय का सम्वन्ध प्रधानतः इसी अतिम अग कायचिकित्सा से ही है। भिषक् कर्म-सिद्धि नामक इस पुस्तक की रचना भी एतदर्थ ही है। परन्तु व्यवहार मे व्यपदेश से अन्य अंगो का जैसे कायचिकित्सा के अतर्गत रसायन एव वाजी-करण तथा भूतविद्या नामक अतिरिक्त अगो या तन्त्रो का भी समावेश इसमें हो जाता है।

अथास्य प्रत्यङ्गलक्षणानि समासतः—

१. रसायनतन्त्रं नाम वय स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणशमार्थं च।
२ वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तम्।
३ कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्।
४ भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्ष पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्। (सु सू १)

कायचिकित्सा की शाब्दिक व्युत्पत्ति—काय का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर-इसकी चिकित्सा करना कायचिकित्सा है। काय की अन्य व्युत्पत्ति 'कायतीति काय' भी है। कायति का अर्थ धुक् धुक् शब्द करना है। कान को अगुलि से वद करने

पर एक नाद या शब्द सुनाई देता है। वह जीवित शरीर का बोधक है। इस जीवित शरीर की चिकित्सा करना ही वैद्य का प्रयोजन है। इस अर्थ मे भी कायचिकित्सा, इस शब्द का प्रयोग हुआ है। काय का एक और अर्थ है जाठराग्नि। जब तक जाठराग्नि है तभी तक शरीर जीवित है—धुक् धुक् शब्द की उत्पत्ति भी इस जाठराग्नि (पेट की अग्नि) के प्रज्वलित रहने पर ही संभव रहती है। अस्तु काय शब्द से जाठराग्नि का बोध होता है।

"कायो जाठराग्निः अङ्गुलिपिहिते कर्णयुगले धुक् इति शब्द-श्रवणात् तात्स्थ्याद् वा कायशब्देन अग्निरुच्यते। उक्तं च भोजेन—

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत्सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥ (भोज)
कायस्यान्तराग्नेश्चिकित्सा कायाचकित्सा'

अर्थात् जीवित प्राणियो की जाठराग्नि को काय कहते है। इस अग्नि के विकृत हो जाने पर जो उपचार उसके सुधारने के लिये किया जाता है उसको कायचिकित्सा कहते है और उपचार करने वाले व्यक्ति को कायचिकित्सक कहते है। चिकित्सा शब्द की एक सामान्य व्याख्या प्रस्तुत करते हुए चरक ने लिखा है—'धातुओ की विषमता होने पर, वैद्य-रोगी-औषध-परिचारक प्रभृति चारो अङ्गो से सुसज्ज होकर, धातुओ की साम्यावस्था मे लाने वाली प्रवृत्ति को चिकित्सा शब्द से अभिहित किया जाता है।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥

(च सू ९)

वैद्यक ग्रंथो मे जाठराग्नि का बहुत महत्त्व दिया गया है। गीता मे भी इसे वैश्वानर कहा गया है—भगवान् ने अपने को इसी का रूप बतलाया है। यह अग्नि जब तक दीप्त रहती है कोई भी रोग नही होता और इसके विकृत होने पर ज्वर, अतिसार प्रभृति रोग हो जाया करते है। अस्तु कायचिकित्सक को उपचारकाल में सर्वोपरि ध्यान इस जाठराग्नि के ऊपर ही केन्द्रित करना होता है। चरक में लिखा है "अग्नि के शान्त हो जाने पर प्राणी मर जाता है, ठीक रहने पर नीरोग हो कर जीता है, विकृत होने पर रोगी हो जाता है अतः सब के मूल मे अग्नि है।" इस अग्नि के पर्याय रूप मे 'काय' शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये अग्नि के विचार की प्रधानता होने से इस अग का नाम ही कायचिकित्सा तत्र पड गया।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित ।
प्राणपानसमायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ (गीता)
आयुर्वर्णो वलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ।
ओजस्तेजोऽग्नय प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका ॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ (च चि १५)
'शमप्रकोपौ सर्वेषां दोषाणामग्निसंश्रितौ ।
रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ ॥'

व्याधि या रोग—'विविध दु खमादधतीति व्याधय' पुरुष को जिसके सयोग से दु ख होता है उसे व्याधि कहते हैं। तीनो दोषो (वात-पित्त-कफ) की साम्यावस्था आरोग्य और विषमावस्था रोग है।

तत्प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । (पा योग दर्शन)
तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते । (सु सू १)
रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता । (वा)
विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दु.खमेव च । (च)
दोषाणा साम्यमारोग्यं वैषम्यं व्याधिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दु खमेव च ॥ (भै र.)

व्याधियाँ चार प्रकार की होती है। १ आगन्तुक, २ शारीरिक, ३ मानसिक ४ स्वाभाविक। इनमे आगन्तुक रोग अभिघातज (आकस्मिक कारणो से), तथा शारीरिक आहार-विहार के असयम से अथवा वात-पित्त-कफ-रक्तादि की विषमता से होते हैं। मानसिक रोग क्रोध, शोक, भय, ईर्ष्या, असूया, दीनता, मात्सर्य, काम, क्रोध और लोभादि के मनोवेगो के सयम न होने अथवा इच्छा एव द्वेष के विविध भेदो से होते है। इनके अलावे स्वाभाविक रोग क्षुधा, तृषा, निद्रा, वार्द्धक्य और मृत्यु आदि है।

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥

चरक ऋषि ने रोगो के तीन प्रकार वतलाये है 'निजागन्तुमानसा ।' इनमे निज—शरीरदोषसमुत्थ, आगन्तुक—विष-वायु-अग्नि-सम्प्रहारजन्य तथा मानस रोग—इष्ट की सम्प्राप्ति न होने और अनिष्ट की प्राप्ति होने से उत्पन्न होते हैं। ये सभी प्रकार के रोग मन एवं शरीर दोनो का आश्रय कर उत्पन्न होते है। "विविधमाधिं दु खमादधाति शरीरे मनसि चेति व्याधि ।"

आगन्तुक रोग दो प्रकार के होते हैं—एक मन के दूसरे शरीर के। इन दोनो की चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है। शारीरिक रोगो में शरीर का उपचार तथा मानस रोगो मे मन सम्बन्धी उपचार जैसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध का सुखप्रद उपयोग हितकर होता है।

'आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषान्तु द्विविधा क्रिया॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः॥

(सु सू १)

उत्पत्ति के भेद से व्याधि के दो भेद होते है। पापज और कर्मज। पापज व्याधि वह है जो इस जन्म में किये गये मिथ्या आहार-विहारादि रूप पाप से उत्पन्न होती है। इसी को अन्य स्थानो पर दोषजन्य (वात-पित्त एवं कफजन्य) भी कहा गया है।' पापज व्याधियाँ औषध-सेवन तथा उचित पथ्याचरण से निवृत्त हो जाती है। कर्मज व्याधि वह है जो निदान-पूर्वरूप-रूप आदि से निर्णय करके उचित चिकित्सा करने पर भी विनष्ट नही होती।

तत्रैकः पापजो व्याधिरपरः कर्मजो मतः।
पापजाः प्रशमं यान्ति भेषज्यसेवनादिना॥
यथाशास्त्रविनिर्णीतो यथाव्याधिचिकित्सितः।
न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयः कर्मजो बुधैः॥ (भै र)

रोग प्राणियो के शरीर को कृश करने वाले, बल का क्षय करने वाले, क्रियाशक्ति को कम करने वाले, इन्द्रियो की शक्ति को क्षीण करने वाले, सर्वाङ्ग में पीड़ा पैदा करने वाले, सभी पुरुषार्थों-धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, के बाधक तथा प्राण को नष्ट करने वाले होते हैं। इनकी उपस्थिति में प्राणियो को सुख नहीं मिलता है। आयुर्वेद इन अपकारी रोगो से प्राणियो को मुक्ति दिलाता है।

रोगाः कार्श्यकरा बलक्षयकरा देहस्य चेष्टाहरा
दृष्टा इन्द्रियशक्तिसंक्षयकराः सर्वाङ्गपीडाकराः॥
धर्मार्थाखिलकाममुक्तिषु महाविघ्नस्वरूपा बलात्
प्राणानाशु हरन्ति सन्ति यदि ते क्षेमं कुतः प्राणिनाम्॥

(भै. र)

व्याधि का सामान्य हेतु—काल (ऋतु, अवस्था आदि परिणाम), अर्थ (पंच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध प्रभृति व्यापार) तथा कर्म (कर्मेन्द्रियो के कर्म उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुंचन-प्रसारण-गमनादि

व्यापार) का अतियोग, हीन योग या मिथ्या योग रोग पैदा करने का मूल कारण है तथा इनका सम्यक् योग आरोग्य का प्रधान कारण है।

"कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥"

अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है काल (शीत, उष्ण एव वर्षा प्रभृति ऋतु), बुद्धि (प्रज्ञा का अपराध या दोष अधर्म आदि) तथा इन्द्रियार्थो (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियो के कर्म) का अति योग, अयोग एव मिथ्या योग ये तीन प्रकार के कारण विविध प्रकार के मानस एव शरीर गत रोगो के उत्पादक होते है।

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रह ॥
(च सू १)

दूसरे शब्दो मे धी-धृति एव स्मृति का भ्रश (बुद्धि या प्रज्ञा का अपराध या दोष), काल तथा कर्म की सम्प्राप्ति (ऋतु, अवस्था तथा अधर्म या पूर्व जन्म कृत कर्म का समय से प्रकट या व्यक्त होना) तथा असात्म्यार्थागम (असात्म्य अर्थो-इन्द्रिय-व्यापारो का अनुष्ठान) ये दु.ख या रोग के सामान्य कारण है।

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्ति· कालकर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमाश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः॥
(च शा. १)

दूसरे शब्दो मे इन त्रिविध कारणो को इस प्रकार भी कहा जा सकता है १. असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग (इन्द्रियो का अपने विपयो के साथ अनुचित उपयोग), प्रज्ञापराध (बुद्धि, धैर्य एव स्मृति के अनुसार कार्य न करना) तथा परिणाम (काल अधर्म तथा दैव का विपरीत होना)।

वायु-पित्त तथा कफ ये तीन शरीरगत व्याधियो के पैदा करनेवाले दोष है एव मानसिक व्याधियो के पैदा करने मे दो ही दोष रज और तम भाग लेते है।

वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसग्रह.।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥
(च सू १)

व्याधि का पर्याय—व्याधि, आमय, गद, आतक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार, रोग, पाप्मा, आबाध, तम तथा दु ख। ये रोग के नामान्तर है। इन शब्दो मे आमय सज्ञा सुप्रसिद्ध है। चक्रपाणि ने आमय शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाते हुए कहा है कि प्राय रोग आम दोष से ही उत्पन्न होते है अत आमय कहलाते हैं—

"प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते ।" (चक्र)

"तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम् ।" (च नि १)

रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामय ।
यक्ष्मातङ्कगदाबाधा. शब्दा पर्यायवाचिनः ॥ २ ॥ (अ हृ नि)

चिकित्सा का सामान्य उपक्रम—जिन कारणो से रोग उत्पन्न हुआ है उन कारणो का परित्याग करना ही सामान्य चिकित्सा है। उष्णता के कारण उत्पन्न हुए रोगो मे शीतोपचार एव शैत्य के कारण उत्पन्न व्याधियो मे उष्णोपचार करना युक्तिसंगत है।

सामान्यतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । (सु)
हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा । (च)
शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ् शमयन्ति भिषग्विदः ।
ये च शीतकृता रोगास्तेषां चोष्णं भिषग्जितम् ॥ (च)

क्षीण हुए दोषो का बढाना, बढे हुए दोषो को घटाना, और सम दोषो को समान बनाये रखना चिकित्सा का उपक्रम है।

"क्षीणा वर्द्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः परिपाल्याश्च ।"

रोगहर औषधियो से रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे थके हुए का थकावट दूर करने वाली औषधियो से उपचार करे। कृश एव दुर्बल व्यक्ति का आप्यायन—संतर्पण करे, स्थूल और मेदस्वी व्यक्तियो का अपतर्पण करे, उष्णाभिभूत व्यक्ति का शीत से उपचार करे, शीताभिभूत का उष्ण क्रिया से उपचार करे, न्यून धातु वाले व्यक्तियो में पूरण (भरण) क्रिया से उपचार करे, बढे हुए दोषो मे ह्रासन (कम करना) क्रिया उपयुक्त होती है, रोग के मूल कारण के विपरीत प्रयोग से उपचार करे, ठीक ढग से स्वाभाविक या प्राकृत अवस्था मे शरीर को लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार यथा उपयुक्त कर्म करते हुए औषधि के योग से चिकित्सा सुन्दरतम बन जाती है।

इदं च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनातुरं चिकित्स्याम, क्षामसक्षामेण, कृशञ्च दुर्वलमाप्याययाम, स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयाम, शीतेनोष्णाभिभूतमुपचराम, शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून्पूरयाम, व्यतिरिक्तान् ह्रासयाम, व्याधीन् मूलविपर्ययेण उपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयाम, तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदाय कान्ततमो भवति। (चर सू १०)

दोष अथवा तज्जन्य व्याधियो के शमन के लिये शारीरिक रोगो मे दैवव्यपाश्रय तथा युक्तिव्ययाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये और मानसिक रोगो में

ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एव समाधि प्रभृति क्रियाओ द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए । दैवव्यपाश्रयकर्म—वलि-मगल-होम प्रभृति है, युक्तिव्यपाश्रय कर्मो मे शरीर एवं औपधि का विचार करते हुए यथायोग्य भेपज का प्रयोग आ जाता है। ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-स्मृति और समाधि से क्रमश अध्यात्मज्ञान, शास्त्रज्ञान, धैर्य धारण, अनुभूत विपयो का स्मरण तथा विपयो से मन को रोककर आत्म मे नियमन करना आता है ।

प्रशाम्यत्यौपधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥

(च सू १)

उपक्रम भेद से चिकित्सा के दो प्रकार हो जाते है । १ सतर्पण २ अपतर्पण । दूसरे शब्दो में संतर्पण को वृहण और अपतर्पण को लघन कहा जाता है। शरीर मे रस-रक्तादि धातुओ की क्रिया को जो वढावे वह सतर्पण और जो कम करे या धातुओ को हल्का करे वह अपतर्पण या लघन कहलाता है।

लघन कर्म के पुन दो भेद हो जाते है १ शोधन या सशोधन २ शमन या संशमन । जिस क्रिया के द्वारा दोप या मल वाहर निकल जाते है वह कर्म शोधन कहलाता है। यह कर्म पुन. पाँच प्रकार का होता है (क) निरूह वस्ति (ख) वमन (ग) विरेचन (घ) शिरोविरेचन (ङ) रक्तावसेचन (रक्त का वहाना)।

शमन उस कर्म को कहते है—जो मल को वाहर नही निकालता, समदोपो को प्रकुपित नही करता, अपितु विपम धातु एव दोपो को समान करता है। इसके भीतर सात उपक्रमो का समावेश हो जाता है। (क) पाचन, (ख) दीपन (जाठराग्नि को दीप्त करना), (ग) क्षुधानिग्रह, (भूख का रोकना), (घ) तृपानिग्रह (प्यास को रोकना), (ङ) व्यायाम (परिश्रम करना), (च) आतप (धूप का सेवन कराना), (छ) वायु के सेवन, ये शमन के सात प्रकार है। वृहण कर्म भी शमन का कार्य करता है। प्राय गुरु, शीत, मृदु, स्थूल, घन, पिच्छिल, मद, स्थिर एव श्लक्ष्ण द्रव्य वृहण होते है। वृहण क्रिया के द्वारा वल, पुष्टि एव स्थिरता वढती है, कृशता दूर होती है। अधिक वृहण होने से स्थूलता आ जाती है।

उपक्रमस्य द्वित्वाद्धि द्विधैवोपक्रमो मत ।
एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥
वृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ।
वृंहणं यत् बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत् ॥

शोधनं शमनञ्चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ।
यदीरयेद् बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं हि तत् ॥
निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः ।
न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ॥
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा ।
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः ॥
बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ।

(अ हृ सू १४)

गुरुशीतमृदुस्निग्धं बहलं सूक्ष्मपिच्छिलम् ॥
प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ।
चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ ॥
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ।

(च. सू २२)

चरक ऋषि ने सर्व रोगो की सामान्य चिकित्सा में छ उपक्रमो का उल्लेख किया है। इनका सम्यक् रूप से प्रयोग होने पर सभी साध्य रोग अच्छे हो जाते हैं। ये सिद्ध उपक्रम माने गये है और इनका मात्रा और काल के अनुसार प्रयोग करने का उपदेश है। इन छ. उपक्रमो का सम्यक् ज्ञान वैद्य के लिये आवश्यक माना गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि दोषो के विविध प्रकार के संसर्ग से भाँति-भाँति के रोग होते हैं, परन्तु उनके उत्पादन में तीन दोषो के अतिरिक्त कोई दोष नही भाग लेता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगो की चिकित्सा में इन छ उपक्रमो के अतिरिक्त किसी अन्य उपक्रम की आवश्यकता नही रहती, इन छ. उपक्रमो में ही सभी चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाले उपक्रमों का समावेश हो जाता है।

इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः ।
साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥
दोषाणां बहु संसर्गात् संकीर्यन्ते उपक्रमाः ।
षट्त्वं तु नातिवर्त्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥

(च. सू २२)

ये छ उपक्रम कौन-कौन से है जिनके केवल एक या दो तीन या अधिक के मिश्रण से सम्पूर्ण चिकित्सा सम्भव रहती है। ये उपक्रम निम्नलिखित हैं--

१. लंघन २ बृंहण ३. रूक्षण ४ स्नेहन ५. स्वेदन तथा ६ स्तंभन। इन कर्मों का सम्यक् रीति से जानने वाला ही वैद्य है।

शरीर को जो कुछ भी लघु करे लघन कहलाता है, जिसमे रूक्षता, खरता, विशदता हो और शरीर को रूखा करता हो रूक्षण कहलाता है, स्निग्ध, विलयनशील, मृदु एव क्लेद कारक द्रव्य शरीर के स्नेहन मे आते है, स्तभ (जकडाहट), गुरुता और शीत को दूर करने वाला एव स्वेद लानेवाला कर्म स्वेदन कहा जाता है, शरीर की गतिमान् एवं चल वस्तुओ को रोकनेवाली क्रिया जो निश्चित रूप से रोकने मे समर्थ होती है स्तंभन कहलाती है।

लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनञ्चैव जानीते य स वै भिषक्॥
यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्।
बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्॥
रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात्तद्धि रूक्षणम्।
स्नेहनं स्नेहविष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम्॥
स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्।

(च सू २२)

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है--सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किये गये सशोधन, सशमन, आहार एव विहार रोगो का निग्रह करते है।

"तेषां संशोधन-संशमनाहाराचारा सम्यक् प्रयुक्ता निग्रहहेतव भवन्ति।" (सु सू १)

चरकाचार्य ने लिखा है कि सशोधन, सशमन और निदान का परिवर्जन (*कारण का दूर करना*) *यही तीन कर्म प्राय रोग को चिकित्सा मे बरते जाते* है। रोगानुसार प्रत्येक मे इन उपक्रमो का यथाविधि उपयोग करना चिकित्सक का कर्त्तव्य है।

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम्।
एतावद् भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥

(च वि ८)

सशोधन की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। सशमन के बारे मे इस आचार्य के मत से दो भेद होते है। १ बाह्य तथा २ आभ्यतर। बाह्य सशमन मे आलेप, परिषेक, कवल और गण्डूष आदि का ग्रहण हो जाता है। आभ्यतर सशमन म पाचन, लेखन, बृंहण एव विषप्रशमन आदि कर्मों का समावेश है।

आहार चार प्रकार के होते है १ पेय २ भक्ष्य ३ लेह्य और ४ चोष्य। क्रिया या गुण की दृष्टि से विचार किया जावे तो आहार तीन प्रकार के होते है—१ दोषप्रशमन २ व्याधिप्रशमन ३ स्वास्थ्यकर।

आचार तीन प्रकार के होते हैं--(क) शारीरिक (ख) वाचिक (ग) मानसिक। इनमें उत्क्षेपण, अवक्षेपण प्रभृति कर्म शारीरिक आचार, स्वाध्याय वाचिक एवं संकल्प, चिन्तन आदि व्यापार मानसिक आचार है।

आहार :—पथ्य की बडी महिमा शास्त्र मे बतलाई गई है। लोलिम्बराज कृत वैद्यजीवन में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि रोगी पथ्य का विधिवत् सेवन करे तो उसको औषध के सेवन की कोई आवश्यकता नही है। अर्थात् वह पथ्य से ही अच्छा हो जायेगा। इसके विपरीत यदि वह पथ्य से न रहे, तब भी उसको औषधि सेवन की कोई आवश्यकता नही है, क्योंकि अपथ्य से वह अपना रोग बढा लेगा। फलत. औषधि सेवन का कोई भी फल नही होगा।

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणै ॥

आहार प्राणियो के बल, वर्ण और ओज का मूल है। आहार के सेवन से ही प्राणी जीवित रहता है, उसका बल बढता है, शरीर का वर्ण और तेज अक्षुण्ण बना रहता है। हिताहार और विहार पर ही उसकी कार्यक्षमता निर्भर रहती है। आहार के अभाव में इन सभी सद्गुणो का ह्रास पाया जाता है।

अस्तु बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि चाहे रोग मानसिक हो या शारीरिक सत् बुद्धि से विचार कर हित और अहित (पथ्य और अपथ्य) का ध्यान रखते हुए, धर्म-अर्थ और काम दृष्टि से जो लाभप्रद हो उस प्रकार के आहार-विहार का सेवन करे तथा जो अहित करने वाले हानि-प्रद हो उनका परित्याग करने का प्रयत्न करे। तद्विद्य मानस एव शारीर व्याधि के ज्ञाता अर्थात् वैद्यक शास्त्र अथवा उसके ज्ञाता की सलाह लेकर उसके अनुसार आहार-विहार के अनुष्ठान का प्रयत्न करे। इस तरह आत्मा, देश, कुल, काल, बल तथा शक्ति का सम्यक् ज्ञान करके तदनुकूल आहार-विहार रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्। न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किंचिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा तस्मादेतच्च अनुष्ठेयम्। तद्विद्यानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्मदेशकुलकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति। (च सू ११)

हित आहार विहार करने वाला, सोच विचार कर काम करने वाला, विषय वासनाओ मे आसक्त न रहने वाला, दाता, सत्यवादी, क्षमावान्, वृद्ध और शास्त्रो का वचन मानने वाला तथा सबको समान भाव से देखने वाला मनुष्य नीरोग रहता है।

नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

आहार-स्वप्न-ब्रह्मचर्य—आहार, निद्रा तथा सयम युक्त आचरणो का बहुत महत्त्व शास्त्रो में बतलाया गया है। इन तीनो का उपस्तभ के रूप मे वर्णन किया गया है। इनकी उपमा मकान के उपस्तभो से दी गई है जिनके आधार पर मकान खडा रहता है। इन तीनो का युक्तियुक्त प्रयोग स्वस्थ शरीर को अपेक्षित रहता है। रोगी मनुष्य को तो बहुत ही आवश्यक हो जाता है।

"त्रय उपस्तभा आहार, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभिर्युक्त-युक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः सस्कारात् संस्कारमहितमुपसेवमानस्य य इहैवोपदेक्ष्यते।"

(च सू ११)

आहार तथा औषधि :—आहार षड्रसो के अधीन है। यह रस द्रव्यो मे आश्रित रहता है एव द्रव्य ही औषधि है। आहार प्राय रसप्रधान होते है और औषधियाँ वीर्यप्रधान। पुन ये गुणो की दृष्टि से मृदु, मध्य और तीक्ष्ण तथा कार्य भेद से सशोधक एव सशामक हो जाती है। औषधियाँ दो प्रकार की होती है स्थावर तथा जगम। स्थावर के पुन दो भेद हो जाते है औद्भिद तथा पार्थिव।

जगम औषधियो मे चार प्रकार के जीव आते है। जैसे १ जरायुज २ अण्डज ३ स्वेदज तथा ४ उद्भिद्। इनमे मनुष्य-पशु आदि जरायुज, पक्षि, सर्प अजगर प्रभृति अण्डज, कृमि, कीट आदि जीव स्वेदज तथा बीरबहूटी, मेढक आदि जीव उद्भिद् जाति के होते है।

स्थावर द्रव्य चार प्रकार के होते है :—१ वनस्पति, जिनमे बिना फूल आये ही फल आता है। २ वृक्ष, जिनमे फूल और फल दोनो लगते है। ३ वीरुध्, जो फैलने वाली लता-प्रतान या गुल्म का रूप लेते है तथा ४ ओषधि, जो फल के पकने तक ही अपना अस्तित्व रखते है। इस वर्ग मे दूर्वा प्रभृति द्रव्यो का भी ग्रहण कर लेना चाहिये जिनमे बिना फल लगे पकने या सूखने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

इन स्थावर औषधियो के त्वक् पत्र, पुष्प, फल, मूल, कद, गोद, स्वरस, दूध, तैल, क्षार, काँटे प्रभृति अग चिकित्सा मे व्यवहृत होते है। स्थावरो का एक दूसरा भेद पार्थिव या खनिज द्रव्यो का है जिनमे सुवर्ण, रजत, लौह, मणि, मन शिला, मृत्तिका आदि द्रव्य चिकित्सा के व्यवहार मे आते है।

जंगम औषधियों के चर्म, नख, बाल, रक्त, मास, मूत्र, पुरीष आदि का उपयोग रोग की चिकित्सा मे होता है।

औद्भिदं तु चतुर्विधम्।
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।
ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥
मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः।
क्षारा क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः॥
पत्राणि शुङ्गा कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः। (च. सू १)

इन द्रव्यो के अतिरिक्त कालकृत भी औषधियाँ बतलाई गई है। जैसे अति वायु, अवायु, धूप, छाया, ज्योत्स्ना, अन्धकार, प्रकाश, शीत, उष्ण, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सर इसको कालकृत औषधि की संज्ञा सुश्रुत मे दी गई है। ये स्वभाव से ही दोषो के सचय, प्रकोप, प्रशमन एवं प्रतीकार मे कारण और चिकित्सा में उपयोगी है।

आहार एव औषधि में कोई विशेष भेद नही है। जो सामान्य आहार है, वही अवस्था भेद से औषधि के रूप मे प्रयुक्त हो सकता है। आहार या औषधि के चार वर्ग सुश्रुत में बताये गये है। १. स्थावर २. जंगम ३. पार्थिव ४ कालकृत। तंत्र में इस चार प्रकार के वर्ग को शारीरिक रोगो के प्रकोप तथा शमन में कारण बताया गया है।

शरीराणा विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः।
प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः॥ (सु सू. १)

पुरुष—कर्म पुरुष या मानव शरीर पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश तथा आत्मा के संयोग से बना है। यह चिकित्सा का अधिष्ठान है। सम्पूर्ण चिकित्सा का कर्म इसी के लिये होता है। यह प्रधान है, शेष अन्य वस्तुएँ इसके उपकरण रूप में है।

पशु-चिकित्सा में जहाँ हाथी, घोड़े, कुत्ते, गाय, भैंस प्रभृति बड़े और उपयोगी पशुओ की चिकित्सा की जाती है उस स्थान पर पशु प्रधान हो जाता है और शेष अन्य द्रव्य उसके उपकरण रूप में आते है।

लोक—सृष्टि दो प्रकार की है स्थावर एवं जंगम। गुणो या क्रिया की दृष्टि से विचार करें तो सम्पूर्ण स्थावर तथा जंगम सृष्टि सौम्य तथा आग्नेय भेद से दो प्रकार की होती है। दोनो प्रकार की सृष्टि पंचभूतात्मक है। प्राणधारी चार प्रकार के जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज होते है। इनमें प्रधानता पुरुष की दी गई है शेष अन्य द्रव्य पुरुष के उपकरण रूप मे माने जाते है।

इस प्रकार पुरुष व्याधि, औपध एवं क्रियाकाल की सक्षिप्त व्याख्या समाप्त हुई। आचार्य सुश्रुत ने इस पाठ की चिकित्सा वीज नाम से व्याख्या की है।

वीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्त्तितम्।
सविशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति॥ (सु सू १)

द्वितीय अध्याय

चिकित्सा के भेद—चिकित्सा तीन प्रकार की होती है १ आसुरी २ मानुषी ३. दैवी। शल्यकर्म के द्वारा यत्र-शस्त्र-क्षार-अग्नि के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे आसुरी चिकित्सा कहते हैं। काढा-चूर्ण-गुटिका प्रभृति काष्ठौपधियो के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे मानुपी चिकित्सा कहते हैं तथा धातूपधातु की भस्म, खनिज द्रव्य, रसोपरसो से जो चिकित्सा की जाती है वह दैवी चिकित्सा कहलाती है। उनको क्रमश एक दूसरे से श्रेष्ठ माना गया है। तात्पर्य यह है कि आसुरी से मानुपी और मानुपी से दैवी चिकित्सा श्रेष्ठ मानी जाती है।

आसुरी मानुपी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता।
शस्त्रैः कपायैर्लोहाद्यैः क्रमेणान्त्या सुपूजिता॥
अधम शस्त्रदाहाभ्या मध्यमो मूलकादिभिः।
उत्तमो रसवैद्यस्तु सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिकः॥

महर्पि आत्रेय ने चिकित्सा के तीन भेद वतलाये हैं। १ दैवव्यापाश्रय, २ युक्तिव्यपाश्रय, ३ सत्त्वावजय। इनमे दैवव्यपाश्रय उपक्रमो मे मंत्र, औषधि, मणिधारण, मगलकर्म, वलि कर्म, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात तथा गमनादिक कर्मों का ग्रहण हो जाता है। युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा मे आहार-विहार-औषधि द्रव्यो की विविध योजनायें जैसे क्वाथ-चूर्ण-गुटिका-अवलेह, रस-भस्म, संशोधन तथा सशमन प्रभृति विविध आधिभौतिक उपायो का समावेश हो जाता है।

सत्त्वावजय—इस चिकित्सा मे विशुद्ध आध्यात्मिक तत्त्वो का उपयोग आ जाता है जिस मे अहित विषयो से मन का रोकना प्रधान उपक्रम होता है। इन तीनो उपक्रमो मे अधिक व्यावहारिक प्रथम तथा द्वितीय उपक्रम नाम से दैव तथा युक्ति व्यपाश्रय ही होते हैं। जिसमे प्रथम आधिदैविक (Metaphysical & Psycological) तथा द्वितीय आधिभौतिक (Materialistic) कहे जा सकते है। इसी अर्थ से लिखा मिलता है —

चरके तु द्विधा प्रोक्ता दैवयुक्तिव्यपाश्रयात् ।

शरीर के दोषो के प्रकोप से होने वाली शरीर गत व्याधियो में शरीर के आश्रय के आधिभौतिक उपचारो के प्रायः तीन प्रकार हो जाते हैं १ अन्त परिमार्जन, २ वहि परिमार्जन तथा ३ शस्त्रप्रणिधान। अन्त. परिमार्जन का अर्थ होता है, औषधि का शरीर के भीतर प्रवेश कराके मिथ्याहार विहार से उत्पन्न दोषो का प्रमार्जन करना। वहिः परिमार्जन का अर्थ होता है औषधि के वाह्य प्रयोग के द्वारा त्वचादि पर अभ्यंग, स्वेद, लेप, परिषेक आदि के द्वारा दोषो का प्रमार्जन या रोग का दूर करना। शस्त्रप्रणिधान का अर्थ होता है शल्यकर्मीय चिकित्सा जिसमे छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छान, सीवन, एषण, क्षार, अग्नि तथा जलौका प्रभृति यन्त्रोपयंत्र तथा शस्त्रानुस्त्रो के द्वारा दोषो का प्रमार्जन या रोग की चिकित्सा करना।

"शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति अन्त परिमार्जन वहि परिमार्जनं शस्त्रप्रणिधानञ्चेति। तदन्त परिमार्जन यदन्तःशरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन् प्रमार्ष्टि, यत्पुनर्वहि स्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यै रामयान् प्रमार्ष्टि तद्वहिःपरिमार्जन, शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षारजलौकसश्चेति।"

(च. सू ११)

चिकित्सा के चतुष्पादः—चिकित्सा के चार पैर वतलाये गये हैं, वैद्य, परिचारक, ओषधि तथा रोगी इनमे प्रत्येक पैर के चार गुण गिनाये है।

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम्॥

वैद्य या भिषक्—गुरु के मुख से सुनकर वैद्यक शास्त्र पढा हुआ, चतुर, प्रत्यक्षक्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया हुआ तथा स्वच्छता-पूर्वक रहने वाला होना चाहिये।

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्। (च)

वैद्य के गुणो का वर्णन करते हुए कई ग्रथकारो ने निम्न लिखित की भाँति वर्णन किया है।

गुरु के सन्निधान मे रहकर कुशल हुआ पीयूषपाणि (जिस के हाथ मे अमृत का वास हो), पवित्र, दक्ष, रोग मे काल-वय-वलके अनुसार ओषध-योजना में कुशल, शास्त्र का ज्ञाता, अन्त.करण मे धैर्य वाला, क्रियाकुशल, करुणापूर्ण स्पहावाला यंत्र, तत्र और मंत्र में कुशल, चतुर, वाग्मी, प्रगल्भ और नीरोग वैद्य को होना चाहिये।

वैद्यः स्याद् गुरुसन्निधानकुशलः पीयूषपाणिः शुचिः
प्रज्ञः कालवयोवलौषधमदज्ञानोदितः शास्त्रवित् ।
धीरान्तःकरणः क्रियासु कुशलः कारुण्यपूर्णः स्पृहा-
युक्तो ··· ·· यन्त्रमन्त्रचतुरो वाग्मी प्रगल्भः शुचिः ।
गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणि कुशल क्रियासु ।
गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात् ।

(वै जी.)

चरक सहिता मे तीन प्रकार के वैद्यो का प्रसग आता है। १ छद्मचर २ सिद्धसाधित ३ वैद्य के गुणो से युक्त प्राणाभिसर या जीविताभिसर। इन मे प्रथम वर्ग तो उन वैद्यो का है, जो वैद्य के भाण्ड (वर्त्तन), औषध, पुस्तक या पल्लव आदि का अवलोकन (देखने) मात्र से अपने को वैद्य मान लिये है। ये वैद्य नही वैद्यो की छायामात्र (प्रतिरूपक) है। दूसरावर्ग उन वैद्यो का है जो किसी श्रीमान् , यशोमान् एव ज्ञानवान् वैद्य की सेवा मे रह कर उनकी कृपा से वैद्य नामधारी वन गये है—अस्तु इन को सिद्धसाधित की सज्ञा दी गई है। तीसरा वर्ग उन वैद्यो का है जो प्रयोग, ज्ञान, विज्ञान और सिद्धि से सम्पन्न है और दूसरे को सुख देने वाले है—और रोगी के प्राण की रक्षा करते हुए रोग को दूर करने मे समर्थ होते है। वास्तव मे यही श्रेष्ठ वैद्य है तथा पूर्वोक्त दोनो वर्ग तो केवल वैद्यनामधारी मात्र है।

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।
सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥
वैद्यभाण्डौषधै पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः ।
लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥
श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः ।
वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥
प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः ।
जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥ इति ॥

(च सू ११)

महर्षि चरक ने लिखा है—न अपने लिये, न अपनी इच्छावो की पूर्त्ति के लिये, अपितु प्राणियो पर दया की दृष्टि से जो वैद्य चिकित्सा करता है वह सर्वोत्तम है। होनहार वैद्य को चाहिये कि वह गुणो को प्राप्त करने के लिये सतत उद्योग-शील रहे ताकि प्राणियो के दु खो को दूर कर उन्हे स्वस्थ वना सके। वैद्य को चाहिये कि पहले वह रोग की ठीक-ठीक परीक्षा करे पश्चात् विचारपूर्वक

औषधि की योजना करे। विद्या-तर्क-बुद्धि-विज्ञान-स्मरणशक्ति-तत्परता-क्रियाशीलता ये छ गुण जिस वैद्य में होते हैं उनके लिये जगत् मे कुछ भी असाध्य नही है। विद्या, बुद्धि, कर्म-दृष्टि, अभ्यास, सिद्धि और आश्रय देना प्रभृति गुणो में से एक भी हो तो वैद्य के लिये पर्याप्त होता है। यदि सभी हो तो फिर उनका क्या पूछना। वह सर्वश्रेष्ठ वैद्य है और सर्व जीवो को सुख पहुँचाने वाला होता है। वैद्य की वृत्ति चार प्रकार को मानी जाती है लोक में भी, जीवदया (रोगी के ऊपर दया का भाव), शक्य या अपनी चिकित्सा द्वारा साध्य रोगो में प्रीति (Interest) तथा मरे हुए व्यक्तियो मे उपेक्षा का भाव ये चार वैद्य की वृत्तियाँ है।

नात्मार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते॥
भिषग्बुभूषुर्मतिमानतः स्वगुणसम्पदि।
परं प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद्यथा नृणाम्॥
रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज् ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥
विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड् गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्त्तते॥
विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः॥
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः॥
मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥ (च.)

सुश्रुत में वैद्य के लिये लिखा है कि उसे "कटे हुए, छोटे-छोटे नख-केश वाला और साफ सुथरा होना चाहिये, सफेद कपड़े के परिधान धारण करना चाहिये, वेश अनुद्धत होना चाहिये, प्रसन्न मन से दूसरे का कल्याण चाहने वाला, किसी की निन्दा न करते हुए सभी के प्रति मैत्री भाव से रहना चाहिये।" (सु)

द्रव्य या औषधि—के बारे में ऊपर से पर्याप्त कहा जा चुका है। यहाँ पर संक्षेपतः उसके चार गुणो का उल्लेख मात्र करना ही लक्ष्य है। श्रेष्ठ औषधि वह है जिसकी बहुत प्रकार की कल्पनायें (बनावट) बनाई जा सकें, जो अच्छे परिणामो से युक्त हो तथा जिसका रोग के अनुसार प्रयोग उचित हो।

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ।
प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।
युक्तमात्रं महावीर्यं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥
कीटाद्यभक्षितं शुद्धं मृतं लौहादिकन्तथा ।
समीक्ष्य काले दत्तञ्च भेषजं परमं स्मृतम् ॥ (सु)
बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।
सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥
प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।
युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये ।
समीक्ष्य दत्तं कालञ्च भेषजं पाद उच्यते ॥

उपस्थाता परिचारक—इन मे चार गुण अवश्य रहे। जैसे रोगी मे अनुराग रखने वाला, स्वच्छता से रहने वाला, काम मे भी होशियार एवं बुद्धिमान् परिचारक को होना चाहिये ।

अनुरक्त शुचिर्दक्ष बुद्धिमान् परिचारक ।
उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्त्तरि ।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुण परिचरे जने ॥ (च सू ६)
स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्त पाद परिचर स्मृत । (सु)

रोगी—धनी (पैसे वाला), चिकित्सक की आज्ञा मान कर उसके अनुसार चलने वाला, अपने कष्ट को स्पष्टतया बतलाने वाला तथा हिम्मती या धैर्यवान् होना रोगी का श्रेष्ठ गुण है ।

आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि ।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधित पाद उच्यते ॥ (सु)
स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च ।
ज्ञापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ (च)
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि ॥

त्याज्य रोगी—निम्न लिखित लोगो की चिकित्सा नही करनी चाहिये। जिस पर राजा या शासन को रोष हो अथवा राजद्रोही या शासनतंत्र के विपरीत आवाज उठाने वाले या कार्य करने वाले व्यक्ति की, अपने शरीर से ही जिसको द्वेष हो ऐसे आदमी की, सहायक सामग्री से हीन रोगी की, बबडाने वाले स्वभाव के मनुष्यो की, आज्ञा न मानने वाले व्यक्ति की, कृतघ्न, मुमूर्षु, क्रोधी, शोकाकुल,

डरपोक, कृतघ्न तथा स्वय योग्य न होते हुए अपने को उत्तम वैद्य मानने वाले रोगी की चिकित्सा नही करनी चाहिये। ऐसे लोगो की चिकित्सा करने से अपयश ही मिलता है।

त्यजेदार्त्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषम् द्विषम्।
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम्।
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ॥

साध्यासाध्य विवेक—चिकित्सा कर्म मे चिकित्सक के लिये यशस्वी होना तथा रोगी को स्वस्थ करने का उद्देश्य प्रमुख रहता है। चिकित्सा मे प्रवृत्त होने के पूर्व वैद्य को यह देखना पडता है कि यह रोग साध्य है या असाध्य। क्योकि असाध्य रोग की चिकित्सा करने से अर्थ, विद्या एवं यशकी हानि होती है, निन्दा तथा कुछ संचय भी नही हो पाता है। अस्तु असाध्य रोगो को हाथ मे न लेना ही श्रेयस्कर होता है।

अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम् ।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥

वैद्य को साध्यासाध्य का जानने वाला एव विवेकपूर्वक चिकित्सा करने वाला होना चाहिये। इस तरह समय से चिकित्सा करता हुआ चिकित्सक अपने कर्म मे निश्चित रूप से सफलता प्राप्त करता है।

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सक ।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम् ॥ (च सू १०)

साध्यासाध्य का विचार करते हुए रोगो के चार भेद हो जाते है—१ सुखसाध्य, २ कृच्छ्रसाध्य, ३ याप्य तथा ४ अनुपक्रम्य। साध्यो मे पुन अल्प, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार हो जाते है। असाध्य व्याधियो मे इस प्रकार के विकल्प नही होते हैं क्योकि विकल्प तो केवल नियत वस्तुओ मे ही होता है फिर कृच्छ्रसाध्य (याप्य) तथा अनुपक्रम्य (जिसको चिकित्सा की आवश्यकता ही नही है) विकल्प किये जाते है।

सुखसाध्य—सुखपूर्वक, सरलता से थोडे समय मे जो अच्छा हो सके ऐसा रोग सुखसाध्य कहलाता है। रोगी का शरीर सब प्रकार की ओषधियो का सहन कर सके, रोगी युवा हो, पुल्लिङ्ग हो, संयमी हो, रोग मर्म स्थान मे न गया हो, थोडे कारणो से पैदा हुआ हो, रोग के पूर्वरूप एवं लक्षण कम हो, रोग मे किसी प्रकार का उपद्रव न हो, दूष्य-देश-ऋतु एव प्रकृति ये चारो पृथक्-पृथक् रूप के हो अर्थात् असमान हो, चिकित्सा के चारो पाद गुणवान् हो, सूर्य आदि ग्रह अनुकूल हो, रोग एक दोष की विकृति से उत्पन्न हो, एक मार्ग वाला हो और रोग नया उत्पन्न हुआ हो तो सुखसाध्य होता है।

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ।
सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च ॥
द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्य यच्चानुपक्रमम् ।
साध्याना त्रिविधाश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति ।
विकल्पो न त्वसाध्यानां नियताना विकल्पना ॥

(च. सू १०)

साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा ।
सुसाध्य कृच्छ्रसाध्यश्च याप्यो यश्चानुपक्रम ॥
सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मन ।
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः ॥
अतुल्यदूष्यदेशर्त्तु प्रकृतिः पादसम्पदि ।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोपमार्गो नव सुखः ॥

(अ हृ सू)

हेतव पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च ।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥
न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः ।
गतिरेका नवत्वञ्च रोगस्योपद्रवो न च ॥
दोपश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः ।
चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥

(चर. सू १०)

कृच्छ्रसाध्य—जो रोग कठिनाई से बहुत उपायो से और देर मे अच्छा होता है, वह कृच्छ्रसाध्य या कष्टसाध्य कहा जाता है। जिसमे निमित्त-पूर्वरूप और रूप मध्यम वल के हो, काल-प्रकृति-दूष्य मे से किसी एक की समानता दोप के साथ हो, गर्भिणी-वृद्ध या वालक रोगी हो, अधिक उपद्रवो से युक्त रोग न हो, शस्त्र, क्षार या अग्नि कर्म के द्वारा साध्य रोग हो, पुराना रोग हो, देश की कृच्छ्रता हो (अर्थात् देश एव रोग की अनुकूलता न हो), रोग दो मार्गानुसारी हो, सभी चतुष्पादो की सम्पन्नता न हो, रोग बहुत पुराना न हो तथा रोग दो दोपो से उत्पन्न हुआ हो ऐसे रोग कृच्छ्रसाध्य होते है।

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणा मध्यमे वले ।
कालप्रकृतिदूष्याणा सामान्येऽन्यतमस्य च ॥
गर्भिणीवृद्धबालाना नात्युपद्रवपीडितम् ।
शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥

विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णंचतुष्पथम् ।
द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ।
कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च ॥

(च सू १०)

शस्त्रादि साधने कृच्छ्र सङ्करे च ततो गदः । (वा सू १)

याप्यरोग—सुखसाध्य लक्षणो के विपरीत होने पर, पथ्य आहार-विहार के अभ्यास से, आयु के शेप रहने पर जो रोग साध्य होता है वह याप्य है। यापनीय उस व्याधि को कहते है जिस मे रोगी उपचार के आश्रित होकर जीवित रहे और उपचार के वंद होने के साथ ही रोगी मर जावे। जिस प्रकार कोई मकान की छत गिर रही हो तो उसमे ठीक प्रकार से विष्कंभ (स्तंभ) लगाकर स्थिर कर लिया जाता है, परन्तु खम्भे के हटाते ही छत गिर जाती है, मकान नष्ट हो जाता है। यही स्थिति यापन कर्म तथा याप्य व्याधियो की रहती है।

शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद् विपर्यये ।

(वा सू १)

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम् ।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥
प्राप्तक्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम् ।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधुयोजित ॥

(सु सू. २२)

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया ।
लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाशु प्रवर्त्तकम् ॥

(च सू. १०)

प्राय इस प्रकार के रोग गहराई मे, वहुत से धातुवो मे, मर्माङ्गो में स्थित दीर्घकालीन एव नित्य वढने वाले होते हैं।

गंभीरं वहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम् ।
नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥

अनुपक्रम्य, अचिकित्स्य या असाध्य—जो रोग सुखसाध्य व्याधि के लक्षणो से पूर्ण तथा विपरीत लक्षणो का हो, जिसमे विपयोत्कठा, चित्तनाश, वेचैनी, मृत्युसूचक चिह्न स्पष्ट हो, चक्षु आदि इन्द्रिया जिसमें नष्ट हो जायें वह रोग असाध्य होता है।

अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये ।
औत्सुक्यमोहारतिकृद् दृष्टारिष्टोऽक्षिनाशनः ॥

असाध्य के लिये चरक मे लिखा है" त्रिदोपज व्याधियो के बारे मे प्रत्याख्यान करके (रोगी के संरक्षक से उसकी असाध्यता के बारे मे स्पष्टतया कहकर) चिकित्सा करनी चाहिये। जो रोग चिकित्सा के परे हो जायें, सभी मार्गों पर जिनका प्रभाव हो जाय, जिनमे विषयोत्कंठा, बेचैनी, चित्तनाश और इन्द्रियो का नाश हो रहा हो, अरिष्ट लक्षणो से सयुक्त हो, रोगी दुर्वल और उसका रोग बहुत वढा हुआ हो, ऐसे रोग असाध्य हो जाते हैं।

......तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम् ।
क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥
औत्सुक्यारतिसम्मोहकरमिन्द्रियनाशम् ।
दुर्वलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥

(च सू ११)

अस्तु वैद्य को इस प्रकार व्याधि के सम्वन्ध मे सर्वप्रथम साध्यासाध्य की विवेचना करके चिकित्सा का आरभ करना चाहिये अन्यथा स्वार्थ, विद्या एवं यश की हानि होती है।

व्याधिं पुरा परीक्ष्यैवारभेत हि ततः क्रियाम् ।
स्वार्थविद्यायशोहानिमन्यथा ध्रुवमाप्नुयात् ॥

चिकित्सा की कालमर्यादा—आचार्य सुश्रुत ने वताया है कि साध्य रोगो की चिकित्सा करे, याप्य रोगो का यापन करे तथा असाध्य अथवा एक वर्ष से अधिक पुराने रोगो को प्राय यश के इच्छुक चिकित्सको को छोड देना चाहिये।

साध्यान् साधयेद् याप्यान् यापयेद् असाध्यान्नोपक्रमेत् ।
परिसंवत्सरोत्थिताश्च विकारान् प्रायशः परिवर्जयेत् ॥

व्यवहार मे "जव तक सास तव तक आश" का ही सिद्धान्त चलता है। जव तक कठ मे प्राण हैं, जव तक इन्द्रियाँ निष्क्रिय नही हुई हैं तव तक निराश न होते हुए चिकित्सा करते रहना चाहिये। कालकी गति वडी विचित्र है कुछ कहा नही जा सकता, क्या पता रोगी वच ही जावे। कई वार दैवकृपा से अरिष्ट (सद्योमारक) लक्षणो से युक्त रोगी भी वच जाते हैं। अस्तु जव तक रोगी का प्राण रहे, सांस चलता रहे तव तक चिकित्सा को चालू रखना श्रेयस्कर है।

अरिष्ट लक्षणो के प्रकट होने पर मृत्यु ध्रुव सी हो जाती है, तथापि रसायन, तप, योग और सिद्धि के वल पर काल मृत्यु का भी क्वचित् निवारण

किया जा सकता है। इस विचार को रखकर अन्तिम साँस तक रोगी की सेवा शुश्रूषा तथा चिकित्सा से विरत न होना ही उत्तम है।

यावत्कण्ठगताः प्राणा यावन्नास्ति निरिन्द्रियः।
तावच्चिकित्सा कर्त्तव्या कालस्य कुटिला गतिः॥
तावच्चिकित्सा कर्त्तव्या यावच्छ्वसिति मानवः।
कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति[1]॥ (भै र)
ध्रुवं त्वरिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते॥
रसायनतपोजप्ययोगसिद्धैर्महात्मभिः।
कालमृत्युरपि प्राज्ञैर्जीयेत नालसैर्नरैः॥ (अगस्त्य)

वास्तव में रोग के उत्पन्न होते ही उस की चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। रोग को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये। अग्नि, विष और शत्रु छोटे होते हुए भी कालान्तर मे वृहद् रूप धारण करके मृत्यु का कारण बन सकता है। अस्तु आरम्भ से ही रोग का उपचार करना चाहिये। अन्यथा उपेक्षा या लापरवाही से साध्य व्याधियाँ याप्य एवं याप्य व्याधियाँ असाध्य तथा असाध्य व्याधियाँ रोगी के लिये प्राण का नाशक हो जाती है।

जातमात्रश्चिकित्स्यस्तु नोपेक्ष्योऽल्पतया गदः।
अग्निशत्रुविषैस्तुल्यः स्वल्पोऽपि विकरोत्यसौ॥
साध्यो याप्यत्वमायान्ति याप्या· साध्या भवन्ति हि।

चिकित्सा का प्रयोजन (चिकित्सा फल)—चिकित्सा का कर्म कभी निष्फल नही जाता है। कही इससे धर्म-कार्य हो जाता है, कही पैसा मिल जाता है, कही पर मैत्री पैदा हो जाती है और कही पर यश की प्राप्ति हो जाती है। इनमें से कुछ भी नही मिला तो कम से कम क्रियाभ्यास (Practical experience) तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। अर्थात् किस औषधि विशेष से, किस-व्याधि में, किस अवस्था मे, लाभ या हानि हो सकती है इसका ज्ञान अवश्य ही हो जाता है।

सर्वोपरि जीवन-दान से बढकर कोई भी दान नही है। चिकित्सा करते हुए रोगी को लाभ होने पर, इस दान का फल सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

आयुर्वेद शास्त्र के पठन, पाठन, श्रवण तथा क्रियाभ्यास का फल-समुच्चय बतलाते हुए सुश्रुत में लिखा है—"कि वह मनुष्य पुण्यकर्मी है जो इस शास्त्र

---

[1] 'जातारिष्टोऽपि जीवति' इति पाठान्तरम्।

को पढता, पढाता या प्रयोग मे लाता है, उसके जीवन काल में ससार मे उसका यश फैलता है और मरने के बाद वह स्वर्ग को प्राप्त करता है।"

नन्दि पुराण में यहाँ तक लिखा है कि वैद्य यदि अपनी औषधि-योजना से एक रोगी को भी नीरोग कर दे तो वह देहावसान के अनन्तर सात पीढियो के सहित ब्रह्म लोक में निवास करता है।

जो मूर्ख रोगी चिकित्सा करा के उसके बदले मे चिकित्सक को कुछ देता नही है वह जो भी पुण्य करता है उसका सम्पूर्ण फल उस चिकित्सक को प्राप्त होता है।

सक्षेप में रोग का विधिपूर्वक निदान करके चिकित्सा करते हुए चिकित्सक को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति होती है।

> कचिद्धर्म कचिन्मैत्री कचिदर्थः कचिद्यशः।
> कर्माभ्यास. कचिच्चापि चिकित्सा नास्ति निष्फला।
> नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते॥

चिकित्सा की महिमा—कुछ लोग ऐसा कहते है कि कई जितेन्द्रिय भी रोगी देखे जाते है। द्रव्य एवं परिचारक से सम्पन्न तथा वृद्ध वैद्यो के अनुसार चलने वाले रोगमुक्त होते हुये और बहुत बार मरते हुए दिखलाई पडते हैं। इसके विपरीत यथेच्छ आचरण करने वाले व्यक्ति भी रोगमुक्त होते और मरते दीख पडते हैं इसलिये हिताहित-सेवन तथा अचिकित्सा दोनो ही ठीक है। इस शका को दूर करते हुए आत्रेय का वचन है कि इस प्रकार की नास्तिक्यबुद्धि का परित्याग करना चाहिये, चिकित्सा तथा अचिकित्सा दोनो बराबर कदापि नही हो सकती हैं। जहाँ पर बिना भिषक्, द्रव्य, एव उपस्थाता के रोगी अच्छा हुआ अर्थात् अचिकित्सा से स्वयमेव काल से ठीक हुआ है, वहाँ पर चिकित्सा हुई होती तो रोग मे शीघ्र ही लाभ हुआ होता। चिकित्सा-साध्य रोहिणी आदि रोगो मे बिना चिकित्सा के शान्ति नही मिलती। अस्तु चिकित्सा के समान अचिकित्सा नही हो सकती। रोगरूपी पक मे फँसे हुए मानव के लिये चिकित्सा या आयुर्वेद शास्त्र एक अवलम्बन (सहारा) होता है। मरने वाले सभी असाध्य रोगियो को ओषधि से जीवन नही दिया जा सकता है। तथापि रोग को दूर करने के लिये चिकित्सा की उपादेयता सिद्ध है। चिकित्सा शास्त्र के द्वारा अकाल मृत्यु हटाई जा सकती है। अस्तु रोगो मे चिकित्सा की रोग नाशकता के बारे मे सशय नही करना चाहिये।

अकाल मृत्युकारक ज्वर आदि जो मृत्युपाश है, उनको नष्ट करने के लिये यह चिकित्सा शास्त्र दृढ है। उत्पन्न हुए रोगो से भयभीत मनुष्यो के लिये सूत्ररहित यह चिकित्सा शास्त्र रक्षा-सूत्र है।

न चिकित्साऽचिकित्सा च तुल्या भवितुमर्हति ।
विनापि क्रियया स्वास्थ्यं गच्छतां षोडशांशया ॥
आतङ्कपङ्कमग्नानां हस्तालम्बो भिषग्जितम् ।
जीवितं म्रियमाणानां सर्वेषामेव नौषधात् ॥
एतद्धि मृत्युपाशानामकाण्डे छेदनं दृढम् ।
रोगात् त्रासितभीतानां रक्षासूत्रमसूत्रकम् ॥
(वा ३ ४०)

तृतीय अध्याय

सामान्योपक्रम—जैसा कि ऊपर मे बतलाया जा चुका है कि दोषो की विषमता से रोग होते है। दोषो की विषमता तीन प्रकार की होती है क्षयः स्थानञ्च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः दोषो के क्षीण होने, बढने या स्थानान्तर-गमन से भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न होते है। एतदर्थही आचार्य ने उपदेश किया है कि क्षीण हुए दोषो को बढावे, बढ़े हुए दोषो का ह्रास न करे, स्थानान्तर मे गये दोषो को अपने स्थान पर ले आवे और समान दोषो का पालन करते हुए चिकित्सा करनी चाहिये। दोषानुसार एकैकश इनके उपचार विधियो का वर्णन समासत किया जा रहा है।

वातस्कन्ध—

वायु के गुण—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर इन गुणो से वायु युक्त रहता है। इनके विपरीत अर्थात् स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल और श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यो के उपयोग से शान्त होता है।

रूक्षः शीतो लघु. सूक्ष्मश्चलोऽथ विशद. खर ।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥

वायु के प्रकोप के कारण—व्यायाम, अपतर्पण, गिरना, टूटना, धातुक्षय, अधिक जागरण, मूत्र-पुरीषादि वेगो का रोकना, अतिशोक, ठड, बहुत डरना, रूक्ष और क्षोभकारक द्रव्य, कषाय, कटु एवं तिक्त द्रव्य प्रभृति कारणो से तथा वर्षाऋतु, भोजन के पचने के बाद तथा अपराह्णकाल मे वायु कुपित होती है।

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद् भङ्गात् क्षयाज्जागराद्
वेगानाञ्च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः ।

रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च ॥

वायुवृद्धि में होने वाले लक्षण—पेट का फूलना, जकडाहट, रूक्षता, फूटना, मथने के समान प्रतीत होना, हलचल, काँपना, सूई चुभोने के समान प्रतीत होना, गले में ठनका लगना, गले का बैठना, थकावट, विलाप करना, सरकना, पीडा होना, विदीर्ण होना, कठोरता, कान मे शब्द का होना, भोजन का विषम पाक होना, गिरना, दृष्टि का विभ्रम, फरकना, इधर उधर पलटना, मुरझा जाना, अनिद्रा, मारने के समान पीडा, दबाने के समान पीडा, नीचे झुकाना, ऊपर उठाना, मन की खिन्नता, चक्कर, जँभाई, रोमाञ्च, विक्षिप्त होना, हाथ-पैर का बार-बार फेंका जाना, सूखना, जकडना, पोलापन, काटने के समान पीडा, लपेटने के समान प्रतीत होना, वर्ण का श्याम या लाल होना, तृषा, निद्राभग, निद्रा, तद्रा, मुँह का स्वाद कषाय प्रभृति लक्षण प्रकुपित वात मे होते हैं । चिकित्सा मे इन कारणो का परिहार करना चाहिये ।

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यं स्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनस्रंसशूलप्रभेदाः ।
पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहा-
विस्पन्दोद्घट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनञ्च ॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनञ्च ।
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसङ्गा
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च ॥

उपक्रम—स्नेहन, स्वेदन, हल्का शोधन, मधुराम्ललवणरसमय भोजन, तैल की मालिश, देह का दबाना, बाँधना, सुखाना, वातघ्न औषधियो के पकाये जल से स्नान, पीठी तथा गुड के बने मद्य का सेवन, स्निग्ध तथा उष्ण द्रव्यो से सम्पन्न आस्थापन वस्तियो का उपयोग, वस्ति कर्म मे उक्त नियमो का पालन, आराम करना, दीपन, पाचन द्रव्यो से सिद्ध किये अनेक प्रकार के स्निग्ध द्रव्यो का उपयोग, विशेषतः मेघावर्धक मासरसो का सेवन तथा अनुवासन प्रभृति क्रियायें वातजन्य रोगो की चिकित्सा में व्यवहृत होती हैं ।

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु ।
स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यमभ्यङ्गमर्दनम् ॥
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम् ।
स्निग्धोष्णा वस्तयो वस्तिनियमाः सुखशीलता ॥

दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः ।
विशेषान्मेध्यपिशितरसतैलानुवासनम् ॥

पित्तस्कंध—पित्त के गुण—स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, सर, अम्ल और कटु इन गुणो से युक्त पित्त होता है। जो रूक्ष, शीत, मृदु, सान्द्र, स्थिर, मधुर, तिक्त और कषाय रस वाले द्रव्यो के उपयोग से शान्त होता है।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥

पित्त-प्रकोप के कारण—कटु, अम्ल, उष्ण, विदाही, तीक्ष्ण एवं लवण रस पदार्थो के सेवन, क्रोध, उपवास, धूपका सेवन, स्त्रीसंग, तिल, अतसी, दधि, मत्स्य, मद्य, सुरा, शुक्त (काँजी) के अधिक सेवन से तथा भोजन की पच्यमानावस्था, शरद् ऋतु, ग्रीष्म ऋतु, मध्याह्न तथा अर्ध-रात्रि के काल में पित्त का कोप होता है। चिकित्सा में इन कारणो का परिहार करना चाहिये।

कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः ।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां
मध्याह्ने च तथाऽर्द्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ॥

प्रकुपित पित्त के लक्षण—फोडो का निकलना, मुँह का खट्टापन, धुँवाई डकार आना, प्रलाप, पसीने का निकलना, शरीर में दुर्गन्ध का होना, फट जाना, नशा होना, घाव का शीघ्रता से फैलना, पकना, बेचैनी, प्यास का विशेष लगना, चक्कर, गर्मी का अनुभव, तृप्ति का होना, जाठराग्नि का दीप्त होना, आँख के आगे अँधेरा छाना, जलन, कटु-अम्ल-तिक्त रसमय मुँह का स्वाद हो जाता है। शरीर के वर्ण का पीला होना, एव खौलने के समान प्रतीत होना ये पित्त के लक्षण है।

विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं
दौर्गन्ध्य दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।
ऊष्मा तृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा
वर्णः पाण्डुविवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥

पित्तोपक्रम—घृतपान, मधुर एवं शीतवीर्य की ओषधियाँ, रेचन, मधुर, तिक्त एवं कषाय रसवाला भोजन तथा औषध, सुगंधित, ठंडे एवं हृदय को प्रिय लगने वाले इत्रों एवं पुष्पों का धारण, गले में माला (हार) का पहनना, वक्ष स्थल पर मणियो का धारण, बार-बार कपूर, चंदन, खस का अनुलेपन, सायंकाल, चन्द्रमा की चाँदनी का सेवन, चूना से पुते हुए स्वच्छ महल की छत पर रहना,

मनोहर, गाना, ठंडी हवा, भेद-भाव रहित निस्संकोच मिलने वाले मित्र (जिनसे सुख पहुँचे ऐसे मित्र), संदिग्ध, मोहक वचन बोलने वाला-अल्पवयस्क पुत्र, इच्छानुसार कार्य करने वाली सुशील प्रिय स्त्री, ठंडे जल के फोहारो से युक्त घर, भ्रमण करने योग्य वाटिका, बावली, सुन्दर घाट वाला विस्तृत स्वच्छ तालाब, नदी के तट, जिसमे कमल खिले हो और किनारे-किनारे पेड लगे हो ऐसे स्थल का सेवन तथा शान्त भाव पित्त के शामक उपचार है। इनमे घी तथा दूध का सेवन और विरेचन विशेष उपयोगी है।

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम् ।
स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च ॥
सुगन्धशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम् ।
कण्ठे गुणाना हाराणां मणीनामुरसा धृतिः ॥
कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे ।
प्रदोषश्चन्द्रमा सौधं हारि गीतं हिमोऽनिल. ॥
अयन्त्रणं सुखं मित्रं पुत्रः सन्दिग्धमुग्धवाक् ।
छन्दानुवर्त्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः ॥
शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिका ।
सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥
साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमाकुले ।
सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः ॥

कफस्कंध—

कफ के गुण—गुरु, शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर और स्थिर गुण वाला श्लेष्मा होता है। जो लघु, उष्ण, रूक्ष, कटु, तिक्त, कषाय, चल और विशद गुण वाले द्रव्यो के उपयोग से शान्त होता है।

गुरु-शीत-मृदु-स्निध-मधुर-स्थिर-पिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥

कफ प्रकोप के कारण—गुरु एव मधुर द्रव्य, दूध एव उससे बने पदार्थ जैसे—खोवा, रबडी, मलाई आदि, गन्नेका रस तथा उसके बने पदार्थ जैसे—गुड, चीनी-मिश्री आदि के बने पदार्थ, द्रवद्रव्य, दधि, दिन का सोना, पूवा-पूडी प्रभृति पकवानो का सेवन अर्थात् स्निग्ध एव सतर्पणात्मक वस्तुओ का सेवन तुषार (पालाहिम) के गिरने के समय, दिन एवं रात के प्रथम भाग मे, भोजन के तत्काल बाद तथा वसन्त ऋतु कफ के प्रकोप मे हेतु बनते है। चिकित्सा में कारणो का परिहार आवश्यक होता है।

गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्य-
द्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिःप्रपूरैः ।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः
प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥

कफ के कार्य या लक्षण—पेट का सदा भरा हुआ जान पडना, भूख सदा निद्रा के समान मालूम होना, गुरुता, निश्चलता, गीला कपडा ओढे हुए के समान प्रतीत होना, मलो का विशेष बनना, चिकनाहट, अपच, मुँह मे जैसे कोई वस्तु लिप्त हो ऐसा जान पडना, ठडक लगना, खुजलाना, मुख या नाक से स्राव, किसी कार्य को देर से करना, शोथ का होना, निद्राधिक्य, मुँह का स्वाद मीठा या नमकीन, वर्ण का श्वेत होना, सदा आलस्य का लगा रहना ये लक्षण कफ के प्रकोप मे पाये जाते है।

तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् ।
स्नेहापक्त्युपलेपा शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ॥
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू ।
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥

कफोपक्रम—विधिपूर्वक तीक्ष्ण वमन तथा तीक्ष्ण रेचन कराना, रूक्ष-अल्प-तीक्ष्ण एव उष्ण वीर्यवाला तथा कटु-तिक्त-कषाय रस प्रधान भोजन, पुराना मद्य, स्त्रीप्रसग, विशेष जागरण, अनेक प्रकार के व्यायाम, परिश्रम, चिन्तन, रूखा उत्सादन, विना तेल के देह दबवाना, वमन करना, दाल के यूष का सेवन, चर्बी नाशक औषधियो का उपयोग, धूमपान, उपवास, गण्डूष और आरामतलबी का परित्याग ये सब कफके उपक्रम है।

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।
अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥
दीर्घकालस्थितं मद्यं रति प्रीतिः प्रजागरः ।
अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षविमर्दनम् ॥
विशेषाद् वमन यूपः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम् ।
धूमोपवासगण्डूषनिःसुखत्वं सुखाय च ॥

द्विदोष तथा त्रिदोष स्कन्ध-कोपकलक्षण—प्रकुपित द्विदोष या त्रिदोष के प्रकोप के कारण एव लक्षणो के लिये दो या तीन दोषो के संसर्ग होने पर उन दोनो या तीनो दोषो के प्रकुपित होने पर दोनो या तीनो दोषो के अनुसार लक्षण एक साथ मिलते हुए पाये जाते है।

द्विदोषलिङ्गसंसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः ।

उपक्रम—द्विदोषज मे दो दोषो के उपक्रमो को मिलाकर और सन्निपातज मे तीनो दोषो के उपक्रमो को मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिये ।

संसर्गः सन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत् ।

सर्व रोगों मे एक एक औषधि (Specific or drug presceription in differentdiseases)-ज्वर मे पित्तपापडा या नागरमोथा, तृषा मे मिट्टी के ढेले को गर्म करके बुझाया जल, वमन मे लाजा (धान का लावा), मूत्ररोगो में शिलाजीत, प्रमेह मे आमलकी या हरिद्रा, पाण्डु रोग मे लौह या मण्डूर, वातकफके विकारो मे हरड, प्लीहा एव यकृत् रोग मे पिप्पली, उर.क्षत (Haemoptysic) मे लाक्षा (लाख), विष मे शिरीष, मेदोरोग और वायुरोगो मे गुग्गुलु, रक्तपित्त मे अडूसा, अतिसार मे कुटज, अर्श मे भिलावा, गर विष मे सुवर्णभस्म, कृमियो मे वायविडङ्ग, स्थौल्य मे तार्क्ष्य शोष में सुरा, बकरी का दूध एव मास, नेत्ररोग एवं वातरोगो मे त्रिफला, ग्रहणी मे तक्र, कुष्ठ मे खैर (खदिरसार), और सब रोगो मे शिलाजीत का सेवन हितकर होता है ।

उन्माद मे पुराना घी, शोक मे मद्य, अपस्मार मे ब्राह्मी, निद्रानाश मे दूध, प्रतिश्याय मे रसाला, कृशता मे मास, वायु मे लहसुन, अगो की जकडाहट या स्तब्धता मे स्वेदन, स्कध-अस एव बाहु की वेदना (विश्वाची तथा अव बाहुक) में मुडमजरी (जिंगिणी) का नस्य, अर्दित मे मक्खन, उदररोगो मे ऊँटनी का दूध या ऊँट का मूत्र, शिरोरोगो मे नस्य, नवीन उत्पन्न विद्रधि मे रक्तविस्रावण, मुखरोगो मे नस्य एव कवल, नेत्ररोगो मे नस्य-अजन एव तर्पण, वार्द्धक्य मे दूध और घी, मूर्च्छा मे शीतल जल-वायु-एवं छाया, अग्निमाद्य मे शुक्त (सिरका) एव अदरक, थकान मे सुरा एव स्नान, दु ख के सहने योग्य एव शरीर को दृढ बनाने के लिये व्यायाम, मूत्रकृच्छ्र मे गोक्षुर, कास मे कटकारी, पार्श्वशूल मे पुष्करमूल, वय स्थापन मे आंवला, व्रण मे त्रिफला तथा गुग्गुलु, वातरोगो मे वस्ति, पित्तरोगो में विरेचन, कफ मे मधु, पित्त मे घी तथा वायु मे तैल परमोत्तम लाभप्रद है । इस प्रकार रोगानुसार श्रेष्ठ औषधियाँ बतलाई गई है । उनकी देश-काल तथा बल के अनुसार यथायोग्य कल्पना करके व्यवहार करना चाहिये ।

मुस्तापर्पटकं ज्वरे तृषि जलं मृद्भृष्टलोष्टोद्भवं
लाजाश्छर्दिषु वस्तिजेषु गिरिजं मेहेषु धात्रीनिशे ।
पाण्डौ श्रेष्ठमयोऽभयाऽनिलकफे प्लीहामये पिप्पली
सन्धाने कृमिजा विषे शुकतरुर्मेदोऽनिले गुग्गुलुः ॥

वृषोऽस्रपित्ते कुटजोऽतिसारे भल्लातकोऽर्शःसु गरेषु हेम ।
स्थूलेषु ताक्ष्यं कृमिषु क्रिमिघ्नं शोषे सुरा च्छागपयोऽनु मांसम् ॥
अक्ष्यामयेषु त्रिफला गुडूची वातास्ररोगे मथितं ग्रहण्याम् ।
कुष्ठेषु सेव्यः खदिरस्य सारः सर्वेषु रोगेषु शिलाह्वयश्च ॥
उन्मादं घृतमनवं शोकं मद्यं व्ययस्मृति ब्राह्मी ।
निद्रानाशं क्षीरं जयति रसाला प्रतिश्यायम् ॥
मांसं कार्श्यं लशुनः प्रभञ्जनं स्तब्धगात्रतां स्वेदः ।
गुडमञ्जर्याः खपुरो नस्यात् स्कन्धांसबाहुरुजम् ॥
नवनीतखण्डमर्दितमौष्ट्रं मूत्रं पयश्च हन्त्युदरम् ।
नस्यं मूर्धविकारान् विद्रधिमचिरोत्थमस्रविस्रव ॥
नस्यं कवलो मुखजान् नस्याञ्जनतर्पणानि नेत्ररुजः ।
वृद्धत्वं क्षीरघृते मूर्च्छा शीताम्बुमारुतच्छायाः ॥
समशुक्तार्द्रकमात्रा मन्दे वह्नौ श्रमे सुरा स्नानम् ।
दुखःसहत्वे स्थैर्यं व्यायामो गोक्षुरर्हितः कृच्छ्रे ।
कासे निदिग्धिका पार्श्वशूले पुष्करजा जटा ।
वयस स्थापने धात्री त्रिफला गुग्गुलुर्व्रणे ॥
वस्तिर्वातविकारान् पैत्तान् रेकः कफोद्भवान् वमनम् ।
क्षीरं जयति बलासं सर्पिः पित्तं समीरणं तैलम् ॥
इत्यग्र्यं यत्प्रोक्तं रोगाणामौषधं शमायालम् ।
तद्देशकालबलतो विकल्पनीयं यथायोग्यम् ॥ (वा उ ४०)

★

चतुर्थ खण्ड

विशिष्ट प्रतिषेध ज्वर प्रतिषेध

प्रथम अध्याय

ज्वर के पूर्वरूप में उपक्रम—ज्वर में सामान्य तथा विशिष्ट पूर्वरूपो के अनुसार निम्नलिखित उपक्रम करने चाहिये। लंघन या लघु भोजन—यदि कफ-पित्त या प्रतिश्याय आदि का आभास हो तो उपवास तथा वात-पित्त के दोषो का आभास हो तो लघु भोजन (मण्ड-पेया-विलेपी प्रभृति) देवे। विशिष्ट पूर्वरूपावस्था मे गोघृत या वातघ्नौषधि से सिद्ध घृत गर्म कर पतला कर पिलावे। पैत्तिक मे विरेचन देवे तथा श्लैष्मिक मे हल्का वमन करावे। द्वन्द्वज मे दो दो दोषो के अनुसार उपचार तथा त्रिदोषज मे तीनो दोषो का उपचार यथावश्यक करे।[1]

ज्वर मे उपक्रम या चिकित्सा-सूत्र—ज्वर की चिकित्सा मे सर्वप्रथम विचार इस बात का करना होता है कि ज्वर नव या तरुण है अथवा पुराण या जीर्ण। ज्वर की अवधि (Duration) से इसका निर्णय आसानी से किया जा सकता है। ज्वरोत्पत्ति से लेकर सात दिनो तक ज्वर की तरुणावस्था कहलाती है। फिर सातवें दिन से लेकर बारहवें दिन तक मध्यमावस्था तदनन्तर ज्वर की पुराणावस्था मानते है। तत तीन सप्ताह के पश्चात् जब ज्वर का वेग कम हो जाता है, प्लीहा की वृद्धि और अग्निमाद्य पैदा हो जाता है। इस अवस्था को जीर्ण ज्वर कहते है।[2]

ज्वर की चिकित्सा मे दूसरा विचार आम, पच्यमान तथा निराम प्रभृति लक्षणो की तीव्रातीव्रता के (Intensity or severity of

---

१ पूर्वरूपे प्रयुञ्जीत ज्वरस्य लघु भोजनम्।
लङ्घनञ्च यथादोषं विशेषे वातिके पुन ॥
पाययेत्सर्पिरेवाच्छ पैत्तिके तु विरेचनम्।
मृदु प्रच्छर्दनं तद्वत् कफजे तु विधीयते।
द्वन्द्वजे तु द्वय कुर्याद् बुद्ध्वा सर्वं तु सर्वजे ॥

२ आसप्तरात्रं तरुण ज्वरमाहुर्मनीषिण।
मध्य द्वादशरात्रन्तु पुराणमत उत्तरम् ॥
त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत।
प्लीहाग्निसाद कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

symptons) सम्बन्ध में करना आवश्यक होता है। ज्वर की आमावस्था मे—स्रोतस रुद्ध रहते हैं, शरीर से पसीने का निकलना बंद हो जाता है, क्षुधानाश, अरुचि, अविपाक, उदर का भारीपन, तंद्रा, आलस्य, हृदय की अविशुद्धि, ज्वर की प्रबलता, ज्वर का न टूटना, मल-मूत्र आदि की सम्यक् प्रवृत्ति न होना, लालास्राव, हृल्लास, शरीर का स्तब्ध, गुरु एव भारी होना, पुरीष का पक्व होकर न आना तथा मास का क्षीण न होना प्रभृति लक्षण पाये जाते है। पच्यमानावस्था मे—ज्वर का वेग अधिक तीव्र हो जाता है, तृष्णा, प्रलाप, श्वास, उत्क्लेश तथा मल का निकलना पाया जाता है। ज्वर की निरामावस्था में-क्षुधा की प्रवृत्ति, दुर्बलता का अनुभव, शरीर का हल्कापन, ज्वर का हल्का होना तथा दोषो का निकलना ये लक्षण मिलते है। ज्वर की निरामावस्था सामान्यतया आठवें दिन आती है। परन्तु विशेष प्रकार के ज्वरो में सन्निपातादि में वह अधिक दिनो की भी हो सकती है।[1]

एक तीसरा विचार भी ज्वर को चिकित्सा मे आवश्यक हो जाता है वह है दोषों के जनन के क्रम का। किस दोष की प्रधानता किस ज्वर मे है तदनन्तर चिकित्सा क्रम को निर्धारित करना पडता है।

ज्वर की तरुण, आम या पच्यमानावस्था मे, तथा पित्त एवं श्लेष्मा की बहुलता मे निम्नलिखित उपचार करना चाहिये। १ लंघन २ वमन ३ स्वेदन ४. काल (एक सप्ताह या आठ दिनो की प्रतीक्षा), ५ यवागू तथा ६ तिक्तरस ७ पाचन द्रव्य। इन उपक्रमोका क्रमश विचारपूर्वक प्रयोग करना चाहिये।

एक दूसरा सूत्र भी ज्वर की सामान्य चिकित्सा के सम्बन्धमे पाया जाता है —"ज्वर के प्रारंभ में-आम दोषो की प्रबलता में-लंघन, ज्वरकी मध्यमावस्था में पाचन औषधियो का प्रयोग तथा निरामावस्थामें शमन औषध की व्यवस्था

---

१ स्रोतसा सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति। स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे॥ अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च। हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च॥ ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्। लालाप्रसेको हृल्लास क्षुन्नाशो विरस मुखम्॥ स्तब्धसुप्तगुरुत्वञ्च गात्राणा बहुमूत्रता। न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम्॥ ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलाप. श्वसन भ्रम। मलप्रवृत्तिरुत्क्लेश पच्यमानस्य लक्षणम्॥ क्षुत्क्षामता लघुत्वञ्च गात्राणा ज्वरमार्दवम्। दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम्॥

और ज्वर के निवृत्त हो जाने पर रोगी के वलादिका विचार करके विरेचन औषधि का उपयोग करना चाहिये।"[1]

लंघन—ज्वर मे लघन कराना सर्वप्रथम उपचार है। लघन शब्द का प्रयोग यहाँ पर अनशन या उपवास कराने के अर्थ मे ही सीमित है। जब ज्वर नया हो उसमे आम दोष प्रबल हो, दोषो मे पित्त एव श्लेष्मा की प्रधानता हो, तो अनशन कराना चाहिये। इस क्रिया से दोषो के पाचन मे सहायता मिलती है। और अग्नि दीप्त होता है। परन्तु इसके विपरीत अवस्था के ज्वरो मे जैसे–जीर्ण ज्वर, धातुक्षय के कारण होने वाले ज्वर, राजयक्ष्मा के ज्वर, भय-क्रोध-काम-शोक प्रभृति मानसिक क्षोभ से उत्पन्न ज्वर, अधिक परिश्रम या अभिघात से उत्पन्न ज्वर तथा विशुद्ध वायु के कुपित होने से पैदा होने वाले ज्वरो मे उपवास या अनशन नही कराना चाहिये। इस अवस्था मे कर्शन न कराके शमन क्रिया से उपचार करना चाहिये।

ज्वर मे उपवास कराने का लक्ष्य बालक, वृद्ध, दुर्बल और गर्भिणी में लंघन नही करावे। बढे हुये दोषो का कम करना और अग्नि को प्रज्वलित करना, रहता है इस क्रिया से ज्वर का वेग कम होता है, शरीर मे हल्कापन आता है एवं भूख की इच्छा जागृत होती है। परन्तु लघन या अनशन रोगी के बल के अनुसार कराना चाहिये। यदि रोगी बलवान् हो तो पूर्ण उपवास कराया जा सकता है, किन्तु दुर्बल हो तो अधिक उपवास से उसका बल टूट जाता है। आरोग्य के लिये शारीरिक बल की ही प्रधानता दी गई है। बल के टूट जाने पर आरोग्य होना सभव नही रहता है। लघन क्रिया का अन्तिम उद्देश्य रोगी को आरोग्य देने के अतिरिक्त और कुछ नही होता है। अस्तु प्राण या बल के अविरोधी लघन से ही उपवास कराना चाहिये।[2] अर्थात् बल के अनुसार ही रोगी को उपवास कराना चाहिये।

लंघन-अवधि—जिस प्रकार राख से ढँकी अग्नि अन्न का पाक नही कर सकती, उसी प्रकार दोषो से ढकी जाठराग्नि ज्वरयुक्त रोगी को दिये गये भोजन का परिपाक नही कर सकती। अस्तु दोषो के परिपाक होने तक बल के अनुसार

---

१ ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्। क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्॥ चर चि ३। लङ्घन स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस। मलाना पाचनानि स्युर्यथावस्थ क्रमेण वा॥ ज्वरादौ लङ्घन सामे ज्वरमध्ये तु पाचनम्। निरामे शमन कुर्याज्ज्वरान्ते तु विरेचनम्। (भै र)

२ लघनेन क्षय नीते दोषे सधुक्षितेऽनले।
विज्वरत्वं लघुत्वञ्च क्षुच्चैवास्योपजायते।

ज्वरित को उपवास कराना चाहिये ।[1]

अन्यत्र लिखा है—आँख, पेट के रोग, प्रतिश्याय, व्रण तथा नव ज्वर ये रोग (Acute Inflamatory state) प्राय पाँच दिन के उपवास से ही ठीक हो जाते है ।

अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः ।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् ॥

हारीत सहिता मे लघन की अवधिसूचक एक बचन पाया जाता है "लघनीय ज्वर मे लघन दोष और बल के अनुरूप कराना चाहिये । कही तो एक दिन के लघन से ही काम चल जाता है, कही पर दो दिनो के लघन से काम पूरा हो जाता है, क्वचित् तीन या छ दिनो तक ज्वर मे उपवास कराने का विधान है ।" सामान्यतया ज्वरो मे इतना लघन पर्याप्त होता है । उसके बाद लघु-भोजन देना आवश्यक हो जाता है । लघन की अधिक अवधि केवल सान्निपातिक ज्वरो मे बतलाई गई है । क्योकि इन ज्वरो मे दोषो की संसक्ति एवं आम-दोष बडा प्रबल होता है अतएव उनमे "जब तक रोगी आरोग्य लाभ न करले "यावदारोग्यदर्शनात्" तब तक उपवास कराने का विधान है । इस प्रकार लघन या उपवास का सर्वाधिक महत्त्व सन्निपात ज्वरो मे ही होता है ।

लङ्घनं लङ्घनीयानां कुर्याद्दोषानुरूपतः ।
त्रिरात्रमेकरात्रं वा षड्रात्रमथवा ज्वरे ॥

लंघन के गुण—नव ज्वर मे वात-पित्तादिक दोष तथा शरीर की समस्त पाचक अग्नियो की स्थिति तथा प्रमाण व्यवस्थित नही होता है । लंघन दोषो को पचाकर ठीक-ठीक अपने स्थानो पर व्यवस्थित कर देता है । लघन से ज्वर का वेग कम हो जाता है, अग्नि दीप्त होती है, भोजन करने की इच्छा जागृत होती है, रुचि बढती है और शरीर हल्का हो जाता है ।[2]

सम्यक् लंघन के लक्षण—अपानवायु-मूत्र-पुरीष का ठीक समय से आना, गात्र की लघुता, हृदयका भार एव उपलेप से रहित का अनुभव होना, डकार का आना, कठ एव मुख की शुद्धि, तन्द्रा एव थकावट का न अनुभव

---

१. प्राणाविरोधिना चैन लंघनेनोपपादयेत् ।
बलाधिष्ठानमारोग्य यदर्थोऽय क्रियाक्रम ॥ (च चि ३)
दोषेण भस्मेनेवाग्नौ छन्नेऽन्न न विपच्यते ।
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानु- पवासयेत् ॥ (वा चि १)

२. लघनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति ।
स्वास्थ्यं क्षुत्तृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते ॥ (अ हृ १)

होना, पसीने का निकलना, रुचि का प्रकट होना, भूख एव प्यास का साथ-साथ जगना तथा चित्त का प्रसन्न होना। ये लक्षण एव चिह्न सम्यक् प्रकार से लघित रोगी मे पाये जाते है।

असम्यक् लंघन या अति लंघन के दोष—पहले बतलाया जा चुका है कि वायु के ज्वर, मुखशोष और भ्रम के रोगी, बालक, वृद्ध, गर्भिणी और दुर्बल रोगियो को उपवास नही कराना चाहिये। उपवास के बारे मे यह भी ध्यान रहे कि उपवास रोगी का बल के अनुसार कम या अधिक दिनो तक कराया जा सकता है। अन्यथा उपवास कराने से रोगी मे निम्न लिखित उपद्रव होने लगते है—जैसे—पर्वभेद, अङ्गमर्द, विपमज्वर, कास, मुखशोप, भूख का नष्ट होना, अरुचि, तृष्णा, कान एव नेत्र की दुर्बलता, मनका सभ्रम, ऊर्ध्वबात, मूर्च्छा, देह-अग्नि-बल की हानि प्रभृति उपद्रव अति लघन के कारण होते है।

हीन लंघन के लक्षण—कफ का उत्क्लेश, हृल्लास, थूक का बार-बार आना, कंठ-मुख एव हृदय की अशुद्धि प्रभृति लक्षण हीन लघन के कारण होते है।

वमन—सद्यो भोजन करनेके पश्चात् उत्पन्न ज्वरो मे अथवा अधिक मधुर-गुरु-स्निग्ध-पिच्छिल पदार्थो (तृप्तिकारक पदार्थो) के सेवन से उत्पन्न ज्वरो मे अथवा वमन के योग्य ज्वर मे वमन कराना प्रशस्त है। ऐसा वाग्भटाचार्य का मत है।[1] जिन रोगियो मे कफ-प्रकोप की अधिकता हो, बार-बार उत्क्लेश हो रहा हो, दोषो की स्थिति आमाशय मे हो और वहाँ से मुख द्वारा वमन के रूप मे निकलने की प्रवृत्ति-युक्त हो, ऐसे दोषा को ज्वरकारक जानकर उचित समय में वमनार्ह रोगियो को वमन करा के दोषो का निर्हरण किया जा सकता है।[2] कफकी अधिकता या चलायमानता का ज्ञान रोगी के जीमचलाने, लालास्राव, अन्नविद्वेष, विसूचिका (पेट में सूई चुभोने जैसा दर्द) और भोजन के पश्चात् तुरन्त ज्वर का होना प्रभृति लक्षणो से होता है। ऐसे रोगियो में वमन उचित रहता है।

ज्वर मे वमन कराने के लिये १ मदनफल चूर्ण ६ माशे, पिप्पली चूर्ण ८ रत्ती को फाँक कर ऊपर से एक पाव गर्म जल पिलाना। २ अथवा गर्मजल मे थोडा नमक डालकर आकठ पिलाकर वमन कराना चाहिये। ३. कलिङ्ग ६ माशे और मधुयष्टि ६ माशे का चूर्ण पीकर गर्म पानी पीना या कपाय बनाकर पिलाना। ४ मधु का पानी या ईख का रस आकंठ पिला कर वमन कराना।

---

१ सद्योभुक्तस्य वा जाते ज्वरे सतर्पणोत्थिते।
वमन वमनार्हस्य शस्तमित्याह वाग्भट.॥

२ कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोपानामाशयोत्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्याना वमनैर्हरेत्॥

परन्तु तरुण ज्वर मे हृल्लासादि लक्षणो के अभाव मे अचलायमान दोषो का वमन कर्म[1] के द्वारा निर्हरण करने से हृदय के रोग, श्वास, आनाह और मूर्च्छा प्रभृति उपद्रव होने लगते है।

ज्वर में वमनकारक द्रव्य—पिप्पली, इन्द्रयव या मुलेठी को मैनफल के साथ खौलाकर उसमें मधु या सेंधा नमक मिलाकर पिलाना। अथवा परवल, नीम, कर्कोट या वेतसपत्र का क्वाथ पिलाना। अथवा पानी में घुले सत्तू, ईख के रस, मद्य से या कल्प स्थान में कहे गये—अन्य योग्य वामक द्रव्यो से वमन कराना चाहिये।

वमन के वाद लंघन—ज्वर का रोगी जो वमन के योग्य है, उसको वमन कराके, जो वमन के योग्य नही है उसको वमन विना कराये ही उपवास कराना चाहिये। इस उपवासके द्वारा अपक्व दोषो का पाचन तथा पक्व दोषो का शमन हो जाता।[2]

उष्ण जल—ज्वरित रोगी में हेतु-काल-देश और दोष का विचार करते हुए गर्म जल पिलानेका प्राय विधान पाया जाता है—क्योकि ज्वर अधिकतर आमाशय के दोषो से उत्पन्न होता है और आमाशयगत विकारो के पाचन के लिये पाचन, वमन और लंघन प्रभृति कर्मो का उपदेश पाया जाता है। अस्तु पाचनार्थ उष्ण जल का ही विधान ज्वरकाल मे रोगी के लिये वैद्य लोग किया करते है। यह उष्ण जल पिये जाने के अनन्तर वायुका अनुलोमन करता है, अग्नि को उदीर्ण करता है, शीघ्रता से स्वयं पच जाता है और कफ को शोषित करता है। सर्वोपरि थोडा भी पीने से तृषाको शान्त करता है। ऐसा देखा जाता है कि तृषा की अवस्था मे शीतल जल जितना ही पिलाया जाता है उतनी ही प्यास वढ़ती है, परन्तु उष्ण से तृषा शान्त होती है।

---

१. अनुपस्थितदोषाणा वमनं तरुणे ज्वरे।
हृद्रोग श्वासमानाह मोहञ्च कुरुते भृशम्॥ (भै र)
तत्रोत्क्लिष्टे समुत्क्लिष्टे कफप्राये चले मले।
सहृल्लासप्रसेकान्नद्वेषकासविसूचिके॥
सद्योभुक्तस्य सजाते ज्वरे सामे विशेषत।
वमनं वमनार्हस्य शस्तं कुर्यात् तदन्यथा॥
श्वासातीसारसम्मोहहृद्रोगविषमज्वरान्। (अ. हृ चि १)

२ कृतेऽकृते वा वमने ज्वरी कुर्याद्विशोषणम्।
दोषाणा समुदीर्णाना पाचनाय शमाय च॥

अस्तु प्यास लगने पर थोडा-थोडा गर्म पानी वात-कफ ज्वर के रोगियो को पीने के लिये देना चाहिये। यह गर्म जल कफ का विलयन करके प्यास को शीघ्र नष्ट करता है। अग्नि को प्रवल करता और स्रोतो को मृदु एव विशोधन कर देता है। लीन हुए स्वेद-वायु- मल-मूत्र का अनुलोमन करता है। निद्रा-जडता एव अरुचि को नष्ट करता है, वल को सहारा देता है। इसके विपरीत शीतल जल दोषसमूह को वढाता है।[1]

यह उष्ण जल कई प्रकार का वनाया जा सकता है। जैसे, क्वथित जल पानी खौल जाय और उतार कर रखकर ठडा करले और पीने को दे अथवा लवङ्ग, वायविडङ्ग, धान्यक मे किसी एक द्रव्य को तीन से पाँच दाना डालकर खौला ले और ठडा होने पर पीने को दे। कई वैद्य-परम्पराओ मे अर्धावशिष्ट चतुर्थांशावशिष्ट, अष्टमांशावशिष्ट या षोडशांशावशिष्ट क्वथित जल देने की भी विधि पाई जाती है। यह जल वहुत हल्का, सुपाच्य एव दोषो का पाचक और मूत्रल हो जाता है। ऐसा जल दीपन, पाचन, ज्वरघ्न, स्रोतसो का शोधक, वल्य, रुचि एव स्वेद का वर्द्धक और ज्वरित को कल्याणप्रद होता है।[2]

उष्ण जल मे इतने गुण होने पर भी एकान्तत पित्तज्वर मे, वढे पित्त मे, दाह, मूर्च्छा एव अतिसार युक्त ज्वरो मे, विष एव मद्य से उत्पन्न ज्वरो मे, ग्रीष्म ऋतु मे, रक्तपित्त एव उरःक्षत के रोगियो मे उसका निषेध पाया जाता है। इन ज्वर के रोगियो मे शीतल जल देना चाहिये। यदि गर्म जल देना भी हो तो उसको शीतवीर्य औषधियो से जैसे, पित्तपापडा, उशीर, चदन आदि से सस्कारित कर ठडा करके देना चाहिये। गर्म करके ठडा किये जल को शृत शीत कहते है। इस प्रकार के औषधियो से सस्कारित और ठंडा किये जल को प्यास एव ज्वर की शान्ति के लिये पीने को देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ज्वरकालमे मद्य भी पिलाया जा सकता है। जिन देशो मे जल पीनेकी प्रथा नही है, अथवा उन व्यक्तियो मे जिनमे जल के पीने का अभ्यास नही है अर्थात् मद्यसात्म्य देश या व्यक्ति हो तो उनमे दोष और शरीर के वल के अनुरूप मद्य पिलाने की व्यवस्था करनी चाहिये।

---

१ तृष्यते सलिल चोष्ण दद्याद् वातकफे ज्वरे। तत्कफ विलय नीत्वा तृष्णामाशु निवर्त्तयेत्॥ उदीर्य चाग्नि स्रोतासि मृदूकृत्य विशोधयेत्। लीन-पित्तानिलस्वेदशकृन्मूत्रानुलोमनम्॥ निद्राजाड्यारुचिहर प्राणानामवलम्वनम्। विपरीतमत शीतं दोपसघातवर्धनम्॥ (वा. चि १)

२ दीपनं, पाचन चैव ज्वरघ्नमुभयञ्च तत्।
स्रोतसा शोधन वल्य रुचिस्वेदप्रद शिवम्॥ (भै २)

घर्मास्तु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत्।
मद्य वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम् ॥ (च० चि ३)

स्वेदन—सभी ज्वरो मे विशेषत सान्निपातिक ज्वर, उदर्द, पीनस, श्वास, जंघा-सधि-एव अस्थिवेदना युक्त ज्वरो मे, आमवात, वातिक तथा श्लैष्मिक ज्वरोमे स्वेदन कर्म प्रशस्त है। उष्ण जल का पिलाना, रोगी की शीत से रक्षा करना, उसको वस्त्रादि से आवृत करके रखना, और स्वेदल औषधियो के वाह्य एव आभ्यन्तर प्रयोग से स्वेदन का कार्य हो जाता है। इस क्रिया से स्वेद, मूत्र, मल और वात का निकलना चालू हो जाता है जिससे शरीर का हल्कापन, ज्वर के वेग का कम होना, अग्नि का जागृत होना प्रभृति लाभ होते है।[3] इस काल मे स्वेदन विधि मे कहे गये आहार-विहारो का अनुपालन भी रोगी को करना चाहिये। स्वेदन कर्म का विशेष उपयोग वातश्लैष्मिक ज्वर तथा सान्निपातिक ज्वरो मे होता है—अस्तु उसी प्रसग मे इसका वर्णन विशेष रूप से होगा।

षडङ्गपानीय—ज्वरकाल मे रोगी को प्रचुर मात्रा में जल देना चाहिये। इससे शरीर का विष पर्याप्त मात्रा मे मूत्र के द्वारा निकल जाता है। जल के सम्बन्ध में ऊपर में उष्ण जल, शीतल जल या शृत-शीत जलो के पिलानेके वारे में दोषानुसार विवेचन हो गया है। अब इस स्थान पर एक ऐसे सामान्य जल का प्रयोग बतलाया जा रहा है जिसका सामान्यतया सभी ज्वरों में उपयोग किया जा सकता है। इस ओषधिसिद्ध जल को षडङ्ग पानीय कहा जाता है। इसके बनाने मे मुस्त, पर्पट, उशीर, चदन, उदीच्य (सुगधवाला) और सोठ इन ओषधियो से जल को सिद्ध किया जाता है। इन ओषधियो का मिश्रित १ कर्ष (२ तोले) लेकर १२८ गुने जल में अर्थात् १ प्रस्थ (२५६ तोला या ३$\frac{१}{५}$ सेर) जल में किसी मिट्टी के वर्त्तन मे खौलाते है। पानी जल कर जब आधा शेष रहता है तो उसे चूल्हे से उतार कर शीतल कर लिया जाता है और एक शुद्ध पात्र में उसे सुरक्षित करके रख लेते है। ज्वर काल मे तृषा प्रतीत होने पर रोगी को थोडा-थोडा पिलाते रहते है। इस जल को पीने के लिये अथवा पेया और यवागू आदि के बनाने में भी व्यवहार किया जा सकता है। इससे तृषा शान्त होती है, रोगी में हल्का स्वेद निकलता रहता है जिससे ज्वर का वेग कम रहता है। इस योग में शु ठी के स्थान पर मृद्वीका (मुनक्का) का भी अवस्थानुसार उपयोग हो सकता है।

---

१ सोदर्दपीनसश्वासे जङ्घापर्वास्थिशूलिनि। वातश्लेष्मात्मके स्वेद प्रशस्त. स प्रवर्त्तयेद् ॥ स्वेदमूत्रशकृद्वातान् कुर्यादग्नेश्च पाटवम् ॥ (वा चि. १)

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदक वदेत् ॥

उष्णोदक, शृतशीत जल या षडङ्ग पानीय के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि या ताजे रहे वासी न हो। इसके लिये यह आवश्यक रहता है कि प्रात.काल का वनाया हुआ जल साय काल तक चलता रहे और साय काल का वनाया जल रात में और प्रात.काल तक चलाया जाय।

ज्वर मे आहार—अव विचारणीय है कि ज्वर काल मे रोगी को क्या आहार देना चाहिये। लघन का विधान होने पर पूर्णतया अनशन कराना अनुचित प्रतीत होता है। क्योकि वलाधिष्ठान या प्राण का मूल आहार या भोजन नही है। "अन्न वै प्राणा:", "कलावन्नगता प्राणा:" प्रभृति श्रुतियाँ इसकी साक्षी है। एक पौराणिक कथा भी है कि कृतयुग में प्राण का अवस्थान अस्थि मे रहता था—उस युग के मनुष्य (ऋषिलोग) अन्न-जल को छोडकर तपस्या करते हुए सम्पूर्ण धातुओ के क्षयित हो जाने पर यदि अस्थिमात्र भी अवशिष्ट हो जाते थे तो अश्विनीकुमार (देवताओ के चिकित्सक) उन्हे भेपज-वल से पुनर्जीवित कर सकते थे। त्रेता युग मे प्राण का अवस्थान मास धातु मे हो गया था—जिससे उस युग के मुनि लोग तपस्या करते हुए सभी धातुओ को क्षयित कर लेते थे परन्तु अस्थि एव मांस धातु उनका शेष रह जाता था तो तत्कालीन अश्विनी-कुमार उन्हे भेपज के योग से फिर जीवित कर लेते थे। द्वापर युग मे प्राण का अवस्थान चर्म में हो गया था यदि उस युग के साधक तपस्वी लोग साधना करते हुए सभी धातुओ को क्षयित कर चुके हो, परन्तु उनके अस्थि, मास और चर्म धातु सुरक्षित हो, तो उनको भेपज आदि से जीवित किया जा सकता था। जव कलियुग आया तो प्राण का अवस्थान अन्न मे हो गया यदि अन्न या भोजन मनुष्य का अधिक दिनो तक छुडा दिया जाय तो उसका पुनर्जीवनदान वैद्य के वश का नही रह जाता है। इस लिये कलियुग में अनशन या उपवास प्रशस्त नही माना गया है।

ज्वर काल मे ज्वरित को भी एकान्तत उपवास कराना ठीक नही है। "लङ्घन स्वल्पभोजनम्" लघन का अर्थ लघु आहार करना चाहिये। हल्का एव पथ्य भोजन ज्वरित को अवश्य भोजनकाल मे देना चाहिये। फिर भी गुरु, अभिष्यदी भोजन का उपयोग नही करना चाहिये तथा अकाल मे भोजन नही देना चाहिये। इसी प्रयोजन से आचार्य सुश्रुत ने लिखा है :—

"ज्वर से पीडित मनुष्य को अरुचि होने पर भी हितकर लघु भोजन देना चाहिये। क्योकि भोजन के समय में भूख प्रतीत होने पर भोजन न करने से रोगी क्षीण हो जाता है या मर जाता है।" ज्वर से पीडित या ज्वर से रहित मनुष्य को अपराह्ण (सायकाल) मे लघु भोजन करना चाहिये, क्योकि उस समय श्लेष्मा

क्षीण होने से शरीर के भीतर की अग्नि बढ जाने से पाचकाग्नि प्रबल हो जाती है। ऐसे समय मे भोजन नही करने से प्रदीप्त अग्नि रस-रक्तादि धातुओ को जलाती है, जिससे बलक्षय होता है।"[1] अस्तु ज्वरित को समय से लघु भोजन देना चाहिये। इस प्रकार के लघु भोजन या हल्के हितप्रद आहार कोने से है इसका एकैकश विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

पेया—सम्यक् प्रकार के लघन के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोगी की चिकित्सा पेयादि से करे। इसमे पेया आदि को अपनी-अपनी औषधियो से सिद्ध करके देवे। प्रथम यूप या मण्ड दे, पश्चात् पेया, यवागू आदि दे। ज्वर में प्रथम छै दिनो तक अथवा जब तक ज्वर मृदु न हो जाय पेया का ही प्रयोग करना चाहिये। पेया के बारे में चरक में लिखा है कि ये पेयादि औषधियो के सयोग से तथा लघु होने से अग्नि के दीप्त करने वाले होते है। इनके प्रयोग से वात-मूत्र एवं पुरीष का सरण होता रहता है, दोषो का अनुलोमन होता चलता है, इनके द्रव एवं उष्ण होने से रोगी का हल्का स्वेदन होता चलता है, तृषा शान्त हो जाती है। आहार का गुण होने से रोगी का बल नही टूटने पाता है, शरीर हल्का रहता है और ज्वर मे सात्म्य होने से ज्वरनाशक भी होते है। अस्तु पेया के द्वारा ज्वर के प्रारंभ में चिकित्सा करनी चाहिये।[2]

पेयाओं में सबसे प्रथम धान्य लाज (खीलो) की बनी पेया दे। इस पेया में सोंठ, धनिया, पिप्पली और सोंठ का प्रक्षेप डालकर देवे। यह लाजपेया जल्दी

---

१ ज्वरितो हितमश्नीयाद् यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्।
अन्नकाले ह्यभुञ्जान. क्षीयते म्रियतेऽपि वा॥
ज्वरित ज्वरमुक्तं वा दिनान्ते भोजयेल्लघु।
श्लेष्मक्षये विवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा॥ (सु चि.)

२. मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरै। शृतशीत जल देयं पिपासाज्वरशान्तये॥ यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिनविधौ॥ ३ युक्तं लङ्घित लिङ्गैस्तु त पेयाभिरुपाचरेत्। यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादित.॥ षडहं वा मृदुत्व वा ज्वरो यावदवाप्नुयात्। तस्याग्निर्दीप्यते ताभि समिद्भिरिव पावकः॥ (च चि १)। ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपना.। वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमना॥ स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात् तृट्प्रशान्तये। आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च। ज्वरघ्नो ज्वरसात्म्यत्वात् तस्मात्पेयाभिरादित. ज्वरानुपचरेद्धीमान्। (च चि ३)

पच जाती है जिस रोगी को अम्ल लेने की इच्छा हो उसमे अनारदाना या आँवला मिलाकर उसे दे। ऐसे ज्वरी जिनमे दोनो पार्श्व भाग, वस्तिभाग एवं शिरमे शूल चल रहा हो दोनो से पडङ्ग परिभाषा विधि से सिद्ध किये हुए जल से लाल साठी के चावलो की पेया बनाकर देना चाहिये। बहुत पित्त वाले या अतिसार वाले ज्वरी मे लाजपेया मे शुंठी और मधु मिलाकर पिलावे। ज्वरातिसार की अवस्था मे लाज-पेया को पृष्ठपर्णी, बला, बिल्व, सोठ, नीलोत्पल एव धान्यक से सिद्ध करके देवे। हिक्का, श्वास एव कास होने पर पचमूल से सिद्ध लाजपेया को पिलावे। मलावरोध एव उदरशूल युक्त ज्वरी मे चविका, पिप्पली-मूल, द्राक्षा, आँवला और सोठ मे सिद्ध पेया पिलावे। ज्वर मे परिकर्त्तन जैसी पीडा होने पर बेर, वृक्षाम्ल, पृश्निपर्णी, शालपर्णी और बिल्व से सिद्ध पेया देवे। स्वेद एव निद्रा के न आने पर तृष्णायुक्त ज्वर के रोगी मे शर्करा, आँवला और सोठ से सिद्ध पेया पिलानी चाहिये। शर्करा, बेर, द्राक्षा, सारिवा, मुस्ता और चन्दन से सिद्ध पेया मधु के साथ तृष्णा, वमन, दाह और ज्वर का नाशक होती है।

उपर्युक्त औषधियो से सिद्ध मण्ड, यूप, यवागू आदि पथ्य भी दिये जा सकते है। मण्ड, पेया, विलेपी और यवागू मे केवल बनाने का भेद मात्र है। कल्पना के भेद से जिसमे चावल के दाने न हो ऐसे सिद्ध चावल के द्रव भाग को मण्ड कहते है। जिसमे कुछ कुछ चावल के दाने हो उसे पेया कहते है। जिसमे अधिक चावलो के दाने हो उसे यवागू कहते है। जिसमे चावल के दाने अधिक और पानी बहुत कम हो उसे यवागू कहते है तथा जिसमे का जलाश बिल्कुल सुखा दिया जाय उसे ओदन (भात) कहते है। शार्ङ्गधर के मत से १ भाग चावल को पाँच गुने जल मे पका कर ओदन बनाना चाहिये। विलेपी--चार गुने जल मे पका कर, मण्ड–चौदह गुने जल मे पकाकर, यवागू को पड्गुण जल मे पका कर, और अठारह गुने जल मे पकाकर यूप बनाना चाहिये। इनमे क्रमशः यूप से मण्ड, मण्ड से पेया, पेया से विलेपी, विलेपी से यवागू और यवागूसे ओदन गुरु होता है। इनका प्रयोग क्रमश एक के बाद दूसरेका व्यवहार करना होता है। जब रोगी को प्रथम दिन यूष दिया पचने लगा तो दूसरे दिन मण्ड देना चाहिये। फिर यह भी पचने लगे तो तीसरे दिन पेया एव यवागू आदि का क्रमशः प्रयोग करना चाहिये। ज्वर के प्रारभिक सप्ताह मे अन्नकाल मे यूष, पेया या यवागू का प्रयोग औषधि सिद्ध करके किया जा सकता है।

मात्रा—जो मनुष्य जितना चावल खाता है उसका चौथाई परिमाण मे चावल लेकर उसका मण्ड या पेया बनाकर देना चाहिये। मण्ड, पेया, विलेपी,

यवागू और ओदन बनाने के लिये पुराने चावल का प्रयोग खास कर पुराने साठी के चावल या कोई भी लाल रंग के चावल का उपयोग करना चाहिये। मण्ड और पेया के लिये धान्यलाज (धान के खील) का ही व्यवहार होना चाहिये। क्योंकि ज्वरकाल में इनका प्रयोग ज्वरनाशक होता है।[1]

मण्ड, पेया, विलेपी, कृशरा ये सभी यवागू कहलाती हैं। यवागू बनाने के लिये पुराने चावल को कूट देवे ताकि एक एक में प्रायः चार टुकडे हो जायँ। कृशरा (खिचडी) बनाने की विधि यह है कि छ. गुने जल में चावल, मूग की दाल या उडद की दाल या तिल छोडकर पकावे। यह न बहुत पतली या न ज्यादा गाटी। यह बलकारक एव वातनाशक होती है। जब रोगी की अग्नि तीव्र हो, मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, ओदन आदि क्रमश दिया जा चुका हो तो उस रोगी को देना चाहिये।

भोजन की पेया प्रभृति विविध कल्पनावो के होते हुए भी व्यवहार में मूग की दाल की कृशरा का अधिक प्रयोग होता है। जब रोगी की अग्नि-पाचन शक्ति बहुत क्षीण हो तो उसे जौ का यूप (वाट्यमण्ड) या लाजपेया (धान के खील का मण्ड), साबूदाना, हल्के शाको के यूप आदि दिये जाते हैं। जब ये पचने लगते हैं और रोगी की पाचन शक्ति बढती है तो पतली खिचड़ी और पुन. गाटी खिचडी देने का विधान किया जाता है। अधिक व्यावहारिक पथ्यो का विस्तार के साथ आगे वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

संतर्पण या फलरस—कई प्रकार के ज्वरोमें पेया का निषेध शास्त्रो मे पाया जाता है। जैसे मद्य के कारण उत्पन्न ज्वर में, नित्य मद्य पीने वाले मनुष्य में, ग्रीष्मकाल मे, पित्त या कफ की अधिकता होने पर, रोगी को प्यास वमन और दाह अधिक होने पर तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में पेया नही देनी चाहिये। क्योकि पेयादि उष्ण होते है। इन अवस्थावो में शीतल पेयो की अपेक्षा रहती है। उस अवस्था में पोषण के लिये ज्वरनाशक हल्के, सुपाच्य, पुष्टिकर फलो के रस[2] (जैसे अगूर, मोसम्मी, मीठा नीबू, अनार, कागजी नीबू, गाम्भारी के फल, शहतूत, फालसा, मिश्री, मधु तथा धान के खील के सत्तू-मिश्री और मधु से बनाये शर्बत) मिश्री या मधु का जल देना चाहिये।

---

१ रक्तशाल्यादय. शस्ता पुराणा. षष्टिकै सह। यवाग्वोदनलाजार्थं ज्वरिताना ज्वरापहा.॥

२. द्राक्षादाडिमकाश्मर्यपथ्यापीलुपरूषकै। ज्वरघ्नै। (अ संग्रह)

मासरस—अधिक परिश्रम, उपवास तथा वात इन कारणो से उत्पन्न हुए ज्वर में रोगी के क्षीण होने पर तथा अग्नि के दीप्त रहने पर उसे मासरस और चावल का भात (तण्डुलौदन) खाने को देना चाहिये। आमिषभोजी रोगियो मे लावक (जगली बटेर), कपिञ्जल (जंगली तीतर), हिरण, पृषत (हिरन की कोई जाति), शरभ, शश (खरगोश), कालपुच्छ, कुरंग, मृगमातृक प्रभृति हल्के मासो का उपयोग करना चाहिये। ज्वरकाल मे कई बार प्रोटीनयुक्त आहार आवश्यक होते है। आज कल कई प्रकार के मासरस ज्वरकाल मे व्यवहृत होते हैं। जैसे:—'हाईन्यूट्रान' (हिन्द)।[1]

मासरस को रोगी की रुचि के अनुसार अनारदाना या आँवला डालकर थोडा खट्टा बनाकर या विना खट्टा किये भी दिया जा सकता है। इसके अभाव में चरने वाले बकरे के लघु अवयव के मास का रस भी दिया जा सकता है। बकरा भी जाङ्गलवत् माना गया है और मानव शरीर के लिये सात्म्य है।

दालके यूष—मूग, मसूर, चना, कुलत्थ, मकुष्ठ इनमे से किसी एक दाल को अठारह गुने जल में सिद्ध करके आहार-काल मे पोषण के लिये रोगी को दे। यह दाल का यूष कहलाता है।

शाक-यूष—परवल के पत्ते एव फल, बैगन, करेला, कर्कोट (ककोडे, खेखसा), पित्तपापडा की पत्ती, गोजिह्वा (गाजवाँ), छोटी मूली, गुडूची की पत्ती, चौलाई, बथुवा, तिनपतिया (सुनिषण्ण), चौपतिया (चाङ्गेरी), नीम का फूल, मारिष (मरसा), प्रभृति तिक्त रसवाले शाक विना घी-तेल आदि का छौंक दिये ही यूष के रूप मे बनाकर देना चाहिये।

वाट्यमण्ड (वार्ली वाटर)—जौ को कूटकर भूसी निकाल कर गूढी बनाकर फिर थोडा भूनकर चौदह गुने जल मे उबाले और छान लेवे तो उसे बाट्यमण्ड कहते हैं। यह कफ एवं पित्त का शामक होता है। ज्वर के रोगी मे अतिसार भी चल रहा हो तो उस अवस्था मे बडा उत्तम पथ्य रहता है। इसमे थोडा नमक और कागजी नीबू का रस मिलाकर स्वादिष्ट भी किया जा सकता है।[2] आज कल वार्ली पर्याप्त मात्रा में बाजार मे मिल जाती है। इसमें खडे दाने वाले वार्ली का प्रयोग करना चाहिये चूर्ण का नही।

---

१ उपवासश्रमकृते क्षीणे वाताधिके ज्वरे। दीप्ताग्निं भोजयेत्प्राज्ञो नरं मास-रसौदनम्॥ लावान् कपिञ्जलानेणान् पृषताञ्छरभाञ्छशान्। कालपुच्छान् कुर-ङ्गाश्च तथैव मृगमातृकान्॥ मासार्थं माससात्म्याना ज्वरिताना प्रदापयेत्। (सु उ ३९) ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षण। प्रदद्यान्माससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान्॥

२ सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत्।

सावूदाना—इसका वर्णन आयुर्वेदिक प्राचीन ग्रंथो मे नही पाया जाता है। यूनानी चिकित्सको के सम्पर्क से इस का प्रवेश ज्वरकाल के पथ्य के रूप मे लोक में हुआ है। सावूदाना के पेडका फल होता है। यह वडा लघु, सुपाच्य एव पित्तशामक होता है, ज्वरकाल मे इसका भी मण्ड वनाकर दिया जा सकता है।

लाजमण्ड या पेया—इसका वर्णन विस्तार से ऊपर हो चुका है। यहाँ पर एक अधिक व्यावहारिक विधि का उल्लेख मात्र करना ही लक्ष्य है। धान के लावा को या भुने चावल को चौदह गुने जल मे उवाल कर छान लेवे। इसे लाजमण्ड कहते है। यह भी कफपित्तशामक, तृषाशामक और ग्राही होता है।

दूध का पानी—दूध को गर्म करके उसमे नीवू का रस या इमली डालकर दूध को फाड देवे, पश्चात् छेने को पृथक् करके केवल पानी का भाग रखले और रोगी को वीच-वीच में पिलाता चले। यह नित्य ताजा वनाना चाहिये। यह पित्तशामक हल्का पथ्य है। जव दोप प्रवल हो, रोगी की अग्नि वहुत मद हो, मन्थर ज्वर या सान्निपातिक ज्वर हो तो यह पथ्य उत्तम रहता है।

दूध—प्राचीन ग्रंथकारो ने नव ज्वर मे दूध का निपेध किया है। नवज्वरी को पथ्य रूप में दूध नही देना चाहिये। इतना ही नही औपधि के देने की भी व्यवस्था एक सप्ताह तक ज्वर मे नही की है। परन्तु व्यवहार मे औपधि भी दी जाती है और दूध का पथ्य भी। वास्तव मे औपधि का निपेध काष्ठौपधियो के अर्थ में है। 'आम दोप वाले तरुग ज्वर मे भेपज के प्रयोग से ज्वर और भी वढ जाता है' 'भेषजं ह्यामदोपस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।' भेपज का अभिप्राय काष्ठौपधियो से वने, देर में पचने वाले, गुरु द्रव्य जैसे—क्वाथ, चूर्ण, कल्क आदि से है क्यो कि ज्वर में अग्नि मद हो जाती है, आमदोप प्रवल रहता है अस्तु इन औपधियो के पचाने की क्षमता ज्वरित की अग्नि मे नही रहती है, परिणाम स्वरूप आमदोप वढ जाता है, ज्वर तेज हो जाता है। अस्तु, उपवास कराना ही उत्तम उपाय रहता है। जवसे चिकित्सा मे रस के योगो का प्रयोग होने लगा है, भेपज निपेध का प्रश्न ही नही उठता। क्योकि ये अल्प मात्रा मे प्रयुक्त होती है। साथ ही तीव्र पाचक होती है अस्तु इनका विधान किया जा सकता है। ये औपधियाँ अधिकतर विपो के सयोग से निर्मित होती है अस्तु विपघ्न पथ्य क्षीर (दूध) का निपेध भी नव ज्वर मे अनुचित प्रतीत होता है। अस्तु रसौपधियो के प्रयोग काल मे नव ज्वर मे यदि रोगी की अग्नि अनुकूल हो और रोगी को सात्म्य हो तो दूध पथ्य रूप मे दिया जा सकता है।

दूध गाय का उत्तम होता है। परन्तु अतिसार हो तो ज्वरित को अजा-क्षीर (वकरी का दूध) भी दिया जा सकता है। दूध को गर्म करके ठंडा करके या

पिप्पली या शुण्ठी शृत करके देना चाहिये। इसके लिये दूध मे आधा पानी मिलाकर खौलाने के लिये आग पर रखे एक कपडे की पोटली मे एक-दो पीपल या १-२ माशे सोठ बाधकर छोड दे। दूध खौल जाने पर एव पानी के थोडा जल जाने पर उतार ले और ठडा करके समय-समय से दे।

मिश्री या ग्लुकोज का जल—खौलाये हुए जल मे मिश्री या ग्लुकोज का पानी मिलाकर बीच बीच मे पीने के लिये दे इससे एक उत्तम पोषण होता है।

काल—इस प्रकार रोगी के बल और दोप का ध्यान रखते हुए छ दिन व्यतीत कर देना चाहिये। अर्थात् जिस दिन ज्वर हुआ उस दिन आरम्भ करके छः दिनो तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। सातवे दिन लघु अन्न का मात्रा से सेवन करावे। पुन आठवें दिन से पाचन या शमन क्रिया के लिये काढा पिलावे। वास्तव में ज्वर मे प्रथम छ. दिनो तक प्रारम्भ में एक-दो दिनो तक लघन पश्चात् मण्ड पेया आदि का प्रयोग करना चाहिये। और आमदोपो के कम हो जाने एवं ज्वर के हल्के होने की प्रतीक्षा करनी चाहिये। सामान्यतया इन उपक्रमो से छ दिनो मे आम-दोपो का पर्याप्त पाचन हो गया रहता है। अस्तु सातवे दिन लघु अन्न देने का विधान है। पश्चात् सातवे या आठवें दिन से शेष दोषो के पाचन या शमन के लिये भेषज (काष्ठौषधियो के कषाय) का प्रयोग करना चाहिये।[1]

चरक चिकित्सा स्थान तीसवें अध्याय मे ज्वरो मे छ दिनो की सख्या का माहात्म्य बतलाते हुए एक वचन पाया जाता है। जो ज्वर मे काल (समय) की प्रतीक्षा के महत्त्व का दिग्दर्शक है। "ज्वर मे पेया छठे दिन तक, छठे दिन के पश्चात् कषाय, पश्चात् बारहवें दिन से क्षीर, पश्चात् अठारहवें दिन से घी तत्पश्चात् चौबीसवें दिन से विरेचन दोषो के बलाबल का विचार करते हुए देना चाहिये।[2]

चरक सहिता मे चिकित्सा के तृतीय अध्याय मे ज्वर के सबन्ध मे लिखा है कि

---

१ एता क्रिया प्रयुञ्जीत षड्रात्र सप्तमेऽहनि। पिबेत् कषायसयोगा-ञ्ज्वरघ्नान् साधु साधितान् ॥ (हारीत) इति पाड्रात्रिक प्रोक्तो नवज्वरहरो विधि। तत पर पाचनीय शमन वा ज्वरे हितम् ॥ (खरनाद)। पाचन शमनीयं वा कषाय पाययेद् भिषक्। ज्वरित षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ॥ (च. चि ३)

२ ज्वरे पेयाकषायाश्च क्षीर सर्पिर्विरेचनम्। षडहे षडहे देय वीक्ष्य दोषबलाबले ॥ (च चि. ३०)

मण्ड पेया प्रभृति यवागू का काल समाप्त हो जाने पर अर्थात् प्रथम सप्ताह के अनन्तर लघुभोजन दश दिनो तक ज्वर की शान्ति के लिये देना चाहिये। रोगी की अग्नि बलवती हो और कफ की अधिकता हो तो यूप का उपयोग, वात की प्रबलता हो और रोगी दुर्बल हो तो मासरस का उपयोग करना चाहिये। इस यूप या मासरस को आवश्यकतानुसार अनारदाने के बीजो को डाल कर अम्ल किया जा सकता है। फिर दस दिनो के बाद दोपो के परिपक्व हो जाने पर, कफके मद हो जाने पर, ज्वर मे वात-पित्त की अधिकता रहने पर गोघृत या औपधिशृत घी का पिलाना अमृत के समान लाभप्रद होता है। परन्तु इसके विपरीत अवस्था मे अर्थात् दोपो मे कफाधिक्य होने पर, अलंघित रोगी मे तथा दस दिनो के पूर्व घृतपान का निपेध है। इस दशा मे मासरस या यूप के साथ लघु भोजन देना ही प्रशस्त रहता है।

यदि ज्वरी मे दाह और तृष्णा की अधिकता, ज्वर निराम हो गया हो, ज्वर का समय भी दो सप्ताह से अधिक हो गया हो तो रोगी को दूध पिलाना चाहिये। यदि विवन्ध रहता हो तो गाय का गर्म कर ठडा किया दूध और यदि पतले दस्त हो रहे हो तो बकरी का दूध देना चाहिये। निराम ज्वर मे दूधरूपी पथ्य की प्रशंसा करते हुये वाग्भट ने लिखा है कि अग्नि से जले वन को जैसे बरसात का पानी जीवन देता है उसी प्रकार लघन से उत्तप्त ज्वर के रोगी के शरीर मे दूध जीवन देता है और उसके ज्वर को नष्ट कर देता है :

तद्वद्दुल्लङ्घनोत्तप्तं प्लुष्टं वनमिवाग्निना।
दिव्याम्बु जीवयेत्तस्य ज्वरं चाशु नियच्छति ॥

यदि इन उपचारो के बावजूद भी ज्वर न शान्त हो रहा हो, और रोगी का बल-मास और अग्नि क्षीण न हुई हो तो विरेचन के द्वारा उपचार करना चाहिये।

साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि ज्वर से क्षीण रोगी में वमन करावे और न विरेचन। उसके मल के निर्हरण के लिये पर्याप्त मात्रा मे गाय का दूध पिलावे या निरूहवस्ति (Enema) से कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये। ज्वर काल मे विवध होने पर अधिकतर वस्ति के द्वारा मल का निर्हरण करना ही उत्तम होता है। वस्ति दो प्रकार की होती है—रूक्ष कोष्ठशुद्धि के लिये तथा स्निग्ध पोषण तथा ज्वर के नाशन के लिये। कई प्रकार की ज्वरघ्न अनुवासन वस्तियो का पाठ अष्टाङ्ग हृदय मे पाया जाता है।

मद्योत्थज्वर, रक्तपित्त आदि मे जहाँ पर पेया का निपेध है—प्रथम छ. दिनो तक तर्पण के लिये लाजसत्तू तथा फलरसो का प्रयोग करना चाहिये।

आचार्य सुश्रुत का अभिमत यही है कि सात रात्रि के अनन्तर औषधि देनी चाहिये।[1] इस औषधि का लक्ष्य यह होता है—"लघन, उष्णजल, शृत शीत जल, यवागू आदि के उपयोग से यदि दोष का पाचन न हो सका हो और रोगी मे मुखवैरस्य, तृष्णा, अरुचि प्रभृति लक्षण विद्यमान हो तो पाचन, ज्वरघ्न एवं हृद्य कषायो के द्वारा सातवे दिनसे उपचार करे[2]।

तरुण ज्वरमे प्रथम सप्ताह तक कषाय का निषेध—आम ज्वरमे कषाय निषिद्ध है। ऐसे ज्वरोमे आम दोष बढा रहता है, 'अत' लघन कराया जाता है, ऐसी स्थितिमे कषाय रस का सेवन कराया जाय तो दोषोका स्तभन हो जाता है वे अधिक कुपित होते है और उनका प्राकृतावस्थामे लाना दुष्कर हो जाता है। विषम स्वरूपका ज्वर पैदा होता है। वस्तुत पचविध कषाय-कल्पनाके विचारसे (स्वरस, कल्क, शृत-शीत, फाण्ट एवं कषाय) सभी कषायोका सेवन निषिद्ध नही है अपितु जो कषाय, कषाय रस वाली ओषधियोसे बनाये गये है उनका ही उपयोग निषिद्ध है। कुछ आचार्योका मत है कि यहा पर निषिद्ध कषायसे उस कल्पनाका अर्थ अभिप्रेत है जो कि सोलह गुने जलमे पकाकर चौथाई अवशिष्ट रखकर (क्वाथ) बनाये जाते है। इस का नवज्वर मे प्रथम छ दिनो तक या एक सप्ताह तक पिलाना निषिद्ध है। क्योकि इस कल्पनामे औषधि का अश अधिक आ जाता है, स्वाद भी अरुचिकर हो जाता है, ये क्वाथ अधिकतर कटु-तिक्त रस वाली औषधियाके योग से बनते है, जिन्हे स्वभावत मनुष्य पीना नही चाहता, पीने से रोगी मे घबराहट और बेचैनी होती है—आम दोष अधिक तीव्र हो जाता है तथा ज्वर बढ जाता है।

उक्त औषधियोके बने स्वरस, शृतशीत जल, शीत कषाय या फाण्टका प्रयोग तो कर ही सकते है क्योकि इनमे औषधि का अश कम होता है, जल की मात्रा

---

१ सप्तरात्रात्पर केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्। लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते ॥ तदा त मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनै। कषायै पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नै समुपाचरेत् ॥ (सु उ तत्र ३९)

२ स्तभ्यते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्। दोषा बद्धा कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे॥ न तु कल्पनमुद्दिश्य कषाय प्रतिषिद्धचते। य. कषाय कषाय स्यात्स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥ च चि ३। न कषाय प्रयुञ्जीत नराणा तरुणे ज्वरे। कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतु सुदुष्कर ॥ न तु कल्पनमुद्दिश्य कषाय प्रतिषिद्धचते। य कार्य कषाय स्यात्स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥ चतुर्भागावशिष्टस्तु य षोडशगुणाम्भसा। स क्वाथ कषाय स्यात् स वर्ज्यस्तरुणे ज्वरे ॥ फाण्टादीना प्रयोगस्तु न निषिद्ध पाचन। (शार्ङ्ग०)।

अधिक होती है, जिससे ये रुचिकर, लघु एवं शीघ्र पचने वाले हो जाते है। चतुर्गुण जलमे औषधिको छोडकर कुछ मिनट तक आगपर रख कर मल कर छान लेने को फाण्ट (जैसे चाय बनाई जाती है) कहते है। छ गुने जल मे औषधि को शाम को भिगो कर सुबह छान ली जाती है। उसे शीत कषाय या हिम कहते है। स्वरस की मात्रा अल्प रहती है और रस को औषधियो के अनुपान रूप में व्यवहृत होते है अस्तु इनका प्रयोग विधेय हो जाता है। शृत-शीत जल की कल्पना का ऊपर में उल्लेख हो चुका है इस मे काष्ठौषधि की मात्रा अधिक गाढी (Concentrated) नही होती प्रत्युत हल्की (Dilute) रहती है और तरुण ज्वर मे उपयोग मे लाये जा सकते है।

इस प्रकार कई आचार्य सात दिनोके पश्चात् औषधि देने को कहते है, दूसरे दस दिनोके बाद औषधि देने का उपदेश देते है। कुछ लघु भोजन देने के अनन्तर भेषजका विधान करते है। वास्तवमें काल की प्रतीक्षा एक उपलक्षण मात्र है आम की अधिकता रहने तक औषधि नही देनी चाहिये। यह बात सर्वमान्य है। अवस्था भेद से तीनो पक्ष मान्य है।[1]

भेषज तिक्त रस या कषाय:—इसके अनन्तर ज्वरनाशक क्वाथो का उपयोग ज्वर की चिकित्सामे करना चाहिये। क्वाथ या कषाय के बनाने की कई परिभाषायें है—जैसे—द्रव्य से चतुर्गुण या अष्टगुण या षोडश गुण जल छोड़ कर, खौला कर चौथाई (पादावशेष) बचा कर छान कर पिलाना। उनमे तीसरी विधि का जिसमें षोडशगुण जल मे औषधि को खौलाया जावे और चतुर्थांश बचा लिया जावे अधिक मान्य है। यही सर्वोत्तम है। क्वाथ के निर्माण के लिये मिट्टी के बर्तन होने चाहिये और मध्यम आंच पर क्वाथ का पाक होना चाहिये। क्वाथ में अरुचि हो तो ठंडा कर के एक तोला मधु मिला लेना चाहिये। क्वाथ का दिन मे एक बार प्रात काल मे प्रयोग होना चाहिये। आवश्यकताके अनुसार सायं काल में भी उसी क्वाथ्य द्रव्य में पानी डाल कर पुन खौला कर क्वाथविधि से जल को शेष कर पिलाना चाहिये। ज्वरघ्न कषाय अधिकतर तिक्त रस (Bitter) होते है। क्वाथ्य द्रव्यो की जहाँ पर मात्रा नहीं लिखी है—समान मात्रा में लेना चाहिये और उस का जवकुट (कूट ॰ छोटे छोटे टुकड़े) कर लेने चाहिये फिर २ से २½ तोला द्रव्य को लेकर उसे ३२ तोले जलमे खौला कर ८ तोले शेष कर लेना चाहिये। साफ कपडे

---

[1] सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहत.।
लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्वणे न तु। (अ हृ चि १)

मे छान कर पिलाना चाहिये। कपाय अधिकतर आम दोप के पाचक या सशामक होते है। इसी अर्थ मे क्वाथ का पर्याय वगला भाषा मे पाचन हो जाता है।

ज्वर एकदोपज, द्विदोपज (ससर्गज) अथवा त्रिदोषज (सान्निपातिक) हो सकते है। वात, पित्त अथवा कफ शामक तो वहुत सी ओषधियाँ है उनका उपयोग करते हुए एकदोपज व्याधियो का उपचार हो सकता है, परन्तु जब दो दोषो का समर्ग या तोनो दोपो के सन्निपात से रोग उत्पन्न हो जाय तो चिकित्सा मे कठिनाई पैदा होती है। इसका विधान यह है कि ससृष्ट दोपो मे दो दो वर्ग की ओपधियो का सयोजन करके और सन्निपात मे सम, तर या तम दोपो का विचार करते हुए यथोक्त दोप-शामक ओपधियो से उपचार करना चाहिये। क्षीण दोपो के वर्धन करने वाले योग तथा वढे हुए दोपो के ह्रास करने वाले दोनो का प्रयोग करते हुए यथायोग्य औषधियो का योग करना चाहिये।

कुछ कपाय रूप मे प्रयोग मे आने वाले योग तथा औषधियो का सग्रह नीचे दिया जा रहा है।[1]

सामान्य योग—१ धान्य-पटोल-धान्यक एव पटोल का काढा। २. किराततिक्तादि कपाय–चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोठ, पाढ, खस तथा सुगंध वाला का कपाय। ३ पथ्यादि कपाय-हरीतकी को अमल्ताश, आमला और निशोथ का काढा।

विशेप योग—वातिक ज्वरमें–१ किरातादि क्वाथ–चिरायता, नागरमोथा नीम, गिलोय, छोटी-बडी कटेरी, गोखरू, शाल पर्णी, पृष्ठपर्णी और सोठ का काढा।

पित्त ज्वर मे—१ पर्पटादि–पित्तपापडा, लाल चन्दन, खस और सुगंधवाला का कपाय। २ द्राक्षादिकपाय–द्राक्षा, हरीतको, नागरमोथा, कुटकी और अमलताश की मज्जा का काढा।

श्लेप्म ज्वर मे—१ निम्बादिकपाय–नीम की छाल, सोठ, गिलोय, देवदारु, कचूर, चिरायता, पुष्करमूल, पीपल, गज-पीपल तथा वडी कटकारी का काढा। २ चतुर्भद्रावलेहिका–कट्फल, पुष्करमूल, काकडा सीगी और पुष्करमूल-समान मात्रामे लेकर महीन चूर्ण वनाकर मधु से चाटना।

वात-पित्त ज्वर—१ पचभद्र क्वाथ–पर्पट, मुस्तक, गुडूची, शुठी और चिरायता का काढा २ मधुकादि शीतकपाय–मुलैठी, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा.

---

१ ससृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमै समै।
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत्।
वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा॥ (च चि ३)

मुनक्का, महुवे के फूल, लाल चदन, नीलकमल, गाम्भारी की छाल, पद्मकाठ, लोध्र, हर्रे, बहेरा, आँवला, कमल केसर, फालसा, खस और धान का लावा इन द्रव्यो को सम भाग मे लेकर, कूट कर शुद्ध जल मे भिगोकर मिट्टी के पात्र मे भर कर रात भर रख दे। प्रात.काल मे साफ हाथो ने मसल कर छान कर उसमे शहद ६ माशे और चीनी ६ माशे मिलाकर ज्वरी को पिलाना चाहिये। प्रात -सायम् दिन मे दो बार पिलावे।

पित्तश्लेष्म ज्वर—१ पटोलादिकषाय–पटोल पत्र, नीम की छाल, हर्रे, बहेरा, आँवला, मधुयष्टि और बला से सिद्ध कषाय। २. अमृताष्टक कषाय-गुडूची नीम की छाल, कुटकी, मोथा, इन्द्र जौ, सोठ, परवल की पत्ती और लाल चंदन इन द्रव्यो से सिद्ध कषाय में पिप्पली का चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा मे मिलाकर पिलाना। ज्वर, छर्दि, तृषा और दाह को नष्ट करता है।

वातश्लेष्म ज्वर—१ दशमूल क्वाथ में पिप्पली चूर्ण एक माशा का का प्रक्षेप डालकर पीना। २ आरग्वधादि कषाय-अमलतास की गुद्दी, पिपरा मूल, मोथा, कुटकी, हर्रे के छिल्के का काढा। ३ कंटकारी मूल, शुठी, गुडूची पुटष्कर मूल का काढा। कास, श्वास तथा पार्श्वशूल में लाभप्रद।

त्रिदोषज ज्वर—इस ज्वर का स्वतन्त्रतया एक अध्याय में उल्लेख किया जायगा। यहाँ पर एक इङ्गित मात्र के लिये इस प्रकार के ज्वर में व्यवहृत होने वाले कुछ कषायो का नामोल्लेख किया जा रहा है।

१ द्वात्रिंशाङ्ग क्वाथ—भारङ्गी, चिरायता, नीम की छाल, नागर मोथा, कुटकी, मीठावच, सोठ, पीपल, मरिच, अडूसे की पत्ती, इन्द्रायण की जड़ की छाल, रास्ना, अनन्तमूल, परवल का पचाग, देवदारु, हल्दी, पाढल, तेदू, ब्राह्मी, दारुहल्दी, गुर्च, अगस्त, चीड, लालकमल, त्रायमाणा, भटकटैया, वनभण्टा, कुडे, की छाल, आँवला, हर्रे, बहेरा और कचूरको सम भाग लेकर क्वाथ बना कर पीना।

२ बृहत्कट्फलादि—कायफल, नागरमोथा, वचा, पाठा, पोहकरमूल, काला जीरा, पित्तपापडा, काकडा सिङ्गी, इन्द्रयव, धनिया, कचूर, भृङ्गराज, पिप्पली, कुटकी, हरड, चिरायता, भारङ्गी, घृतभर्जित हीग, बला (बरियारा), दशमूल की ओषधियाँ और पिपरामूल इन सबको बराबर-बराबर क्वाथ बना कर घृतभर्जित हीग २ रत्ती, आदी का स्वरस ½ तोला मिला कर पीना।

३ अष्टादशाङ्ग क्वाथ—चिरायता, देवदारु, शालिपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू, बेल की छाल, स्योनाक, गम्भारी की छाल, पाढल, अरणी की छाल, सोठ, मोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, पुरानी धनिया, गजपिप्पली का काढा बना कर प्रात काल में पीना।

नवज्वर मे वर्जनीय आहार विहार—तरुण ज्वर मे दिन का सोना, स्नान, तैल की मालिश, गुरु अन्न का सेवन, क्रोध, पूर्व दिशा की वायु का सेवन, अनेक प्रकार के व्यायाम और कषाय का प्रयोग करने वाला वैद्य अपने हाथ से सोते हुए कृष्ण सर्प को जागृत करता है। क्योकि कषाय-पान से क्षुभित हुए दोषो का शमन करना कठिन हो जाता है।

नवज्वर में दिन मे दो बार भोजन नही देना चाहिये। कफवर्धक, भारी एवं रस-वाहक स्रोतो का अवरोध करने वाले अभिष्यन्दी आहार–जैसे–दही, उडद प्रभृति पदार्थो को नही देना चाहिए। ऐसे ही गुरु पदार्थ घृतपक्व आहार, गोधूम के देर मे पचने वाले भोजन तथा रात मे (खासकर ९ बजे के बाद) भोजन देना निषिद्ध है।

इसी प्रकार स्नान, प्रदेह (अगुरु-चदन आदि का शरीर में लेप), शीतल जल का परिषेक, वमन-विरेचन आदि से देह का संशोधन, दिन मे शयन, स्त्री सग, विविध प्रकार के शरीर के आयासजनक व्यायाम, कच्चे ठडे जल का पीना, हस्त-पादादिका प्रक्षालन, किसी कारणवश क्रोध करना, हवा के झोके मे सोना, बैठना, घूमना आदि का, गरिष्ठ (देर मे पचने वाले) भोजनो का वर्जन करना चाहिये। जैसे–दूध, घी, दाल, मास, छाछ, मदिरा, मीठे और गुरु पदार्थ।

ज्वर से मुक्त होने के अनन्तर भी रोगी को जब तक पूर्ववत् वल का अनुभव न होने लगे, तव तक व्यायाम, मैथुन, स्नान और अधिक टहलना ये चार कर्म नही करने चाहिये।[1]

---

१ स्नान विरेक सुरत कषायो व्यायाममभ्यञ्जनमह्नि निद्राम्।
दुग्ध घृत वैदलमामिष च तक्र सुरा स्वादु गुरु द्रवञ्च ॥
अन्न प्रवात भ्रमण रुषाञ्च त्यजेत्प्रयत्नात् तरुणज्वरार्त्त.।
नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्।
क्रोधप्रवातव्यायामकषायाश्च विवर्जयेत् ॥
न द्विरद्यान्न पूर्वाह्णे नाभिष्यन्दि कदाचन।
न नक्त न गुरुप्राय भुञ्जीत तरुणज्वरी ॥ (भै र)
सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरुणि च।
असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि विवर्जयेत् ॥
व्यायाममतिचेष्टा च स्नानमत्यशितानि च।
तथा ज्वर शम याति प्रशान्तो जायते न च ॥
व्यायाम च व्यवाय च स्नान चड्क्रमणानि च।
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न वलवान् भवेत् ॥ च चि ३

सामान्य ज्वर में रसौषधियाँ—काष्ठौपधियो से चिकित्सा करते हुए उपर्युक्त वहुविध विचारणावो की आवश्यकता रहती है, परन्तु रसौपधियो के प्रयोग में रोगी, रोग, दोप, दूष्य, देश, काल प्रभृति वातो के परिज्ञान की अपेक्षा नही रहती है। क्योकि रस-चिकित्सा अचिन्त्य शक्ति से युक्त होती है। रस-चिकित्सा की प्रशंसा मे हम लोग पूर्व में देख चुके है कि १ 'उत्तमो रसवैद्यस्तु २ 'अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसङ्गत । क्षिप्रं च फलदातृत्वादोपधिभ्योऽधिको रस ।। अर्थात् रस योगो को मात्रा अल्प होती है, अरुचि का प्रश्न नही उठता और शीघ्रता से रोगी को लाभ पहुचता है, अस्तु, काष्ठौषियो से रसौपधियो की श्रेष्ठता स्वत सिद्ध है। फलत कपायादिके प्रयोग में जहाँ काल का विचार अपेक्षित रहता है जैसे नव ज्वर में 'कपायस्त्वष्टमेऽहनि, वहाँ पर रस योगो का प्रारभ से उपयोग किया जा सकता है। उसी प्रकार नव ज्वर में सामान्यतया दूध का निपेध पाया जाता है, परन्तु रस योगो के उपयोग मे नव ज्वर में दूध का निपेध उचित नही प्रतीत होता है क्योकि रस योगो में अधिकतर विपो का उपयोग पाया जाता है, अस्तु क्षीर विपघ्न हो कर इस काल में अनुकूल या पथ्य के रूप में गृहीत हो सकता है। भैपज्यरत्नावलीमे उक्ति मिलती है—

न दोपाणां न रोगाणां न पुंसां च परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य काय रसचिकित्सिते ।।

फलत. सम्पूर्ण शास्त्र का जानने वाला ही क्यो न हो यदि रसचिकित्सा का जानकार नही है तो वह उसी प्रकार उसहास का पात्र है जिस प्रकार धर्माचरण से हीन पण्डित।

'सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो न जानाति रसं यदा।
सर्वं तस्योपहासाय धर्महीनो यथा वुध.।।'

सग्रह ग्रथो में वहुत सा रस के योगों उल्लेख पाया जाता है, कुछ एक अनुभवसिद्ध योगो का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

मृत्युंजय रस—शुद्ध वत्सनाभ चूर्ण १ भाग, मरिच चूर्ण १ भाग, पिप्पली चूर्ण १ भाग, शुद्ध गधक १ भाग, शुद्ध सुहागा १ भाग, शुद्ध हिंगुल २ भाग। आर्द्रकस्वरस मे घोट कर १-१ रत्ती की गोली वना लें। वात श्लैष्मिक ज्वर या त्रिदोपज ज्वर में। अदरक के रस एवं मधु से उपयोग करे। एक पाठ कृष्ण मृत्युंजय का भी है जिसमे हिंगुल के स्थान पर कज्जली का प्रयोग किया जाता है।

२ हिंगुलेश्वर रस—पिप्पली चूर्ण, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ विप। इन तीनो को खरल में डाल कर महीन पीस कर रख ले। मात्रा ½ रत्ती से, अनुपान आर्द्रक स्वरस और मधु। वातिक ज्वरमें लाभप्रद।

३ गोदन्ती भस्म—गोदन्ती को साफ करके निम्ब पत्र स्वरस, घृत कुमारी स्वरस या करज स्वरस की भावना देकर गजपुट मे भस्म कर ले। फिर पैत्तिक ज्वरो मे पित्त के शमन के लिये, शिर शूल को कम करने के लिये स्वतन्त्र या उपर्युक्त योगो मे मिला कर प्रयोग करे।

मात्रा—१-२ माशा। अनुपान–जल, दूध, मधु, घृत एव शर्करा :

४ रसादिवटी—शुद्ध गधक, कपूर, श्वेत चदन, जटामासी, नेत्रवाला, नागरमोथा, खस, छोटी इलायची, नारियल—प्रत्येक सम भाग। प्रथम पारद गधक की कज्जली करे फिर अन्य द्रव्यो को मिलावे। गुलाव जल मे खरल कर दो-दो रत्ती की गोली वना ले या छाया मे सुखा कर चूर्ण रूप मे रख ले।

मात्रा—२-४ रत्ती। जल, गुलाव जल या चदनादि अर्क के साथ दाह, तृषा ८ हिक्का एव वमनयुक्त ज्वर में लाभप्रद।

५. त्रिभुवनकीर्त्ति रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, सोठ, काली मिच, छोटी पीपल, शुद्ध टकण और पीपरामूल प्रत्येक का सूक्ष्म कपडछन चूर्ण सम भाग लेकर अदरक, तुलसी और धतूरे के रस से प्रत्येक की तीन भावना देवे कागजी नीबू के रस की ३ भावना देकर १-१ रत्ती की गोली वना कर रख ले। मात्रा—१-१ गोली दिन मे चार वार-अनुपान—आर्द्रक स्वरस एव मधु।

उपयोग–नव ज्वर मे जिसमे प्रतिश्याय नाक से स्राव मिले। (Influenza) इन्फ्लुयेन्जा मे विशेष लाभप्रद यह योग है।

६ सजीवनी योग—सजीवनी ४ वटी, शृ ग भस्म ४ रत्ती और शुद्ध नरसार १ माशा। मिलाकर ४ मात्रा मे वाँट ले। चार-चार घटे के अनन्तर एक-एक मात्रा गर्म पानी के अनुपान से दे। नव प्रतिश्याय, वातश्लेष्मज ज्वर, जुकाम एव इन्फ्लुयेन्जा मे यह एक शतशोनुभूत व्यवस्था है। तीन चार दिनो के उपयोग से रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

७ अश्वकञ्चुकी रस—जयपाल (जमालगोटा) युक्त कुछ योग नव ज्वर मे प्रशस्त माने गये है। रोगी के वल एव काल के अनुसार विवन्ध युक्त नव ज्वर मे इनका उपयोग किया जा सकता है। जैसे ज्वरकेशरीरस, विश्वताप-हरण रस तथा अश्वकचुकी। इनका ज्वरोके अतिरिक्त अन्यत्र उदर विकारो मे भी उपयोग किया जा सकता है। यहाँ पर अश्वकचुकी रस का एक पाठ दिया जा रहा है।

शुद्ध पारद, आगपर फुलाया सुहागा, शुद्ध गधक, शुद्ध वत्सनाभ, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हरड, वहेरा, आँवला, शुद्ध हरताल या माणिक्यरस और

शुद्ध जमाल गोटा सम भाग में ले। प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली करे। पीछे हरताल मिला कर जब तक उसके सूक्ष्म कण भी न दिखाई दे खरल करे। फिर अन्य द्रव्यो को मिलावे। फिर नागरबेल के रस मे २१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा—१ गोली दिन मे तीन बार। अनुपान अदरक का रस, मिश्री या जल।

द्वितीय अध्याय

त्रिदोषज ज्वर में चिकित्सा का बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि त्रिदोष शामक द्रव्य प्राय नहीं होते। जो उपचार वात के लिये पथ्य होता है वह श्लेष्मा के लिये अपथ्य हो जाता है, जो औषधि पित्त मे पथ्य है वे प्राय. कफ के लिये अपथ्य हो जाती है। जो तिक्त और कषाय द्रव्य कफपित्तहर होते है वे वात को करने वाले सिद्ध होते है। मधुर रस जो वातपित्त का शामक होता है वह कफ का वर्द्धक होता है। जो वास्तव में त्रिदोष शामक आमलकी प्रभृति कुछ ओषधियाँ है वे बहुत थोड़ी है। वे भी प्रति रोग के लिये नियत नही है और निश्चित रूप से ज्वर के यौगिक रूप में व्यवहृत होने वाली भी नही है। तो फिर सन्निपातज ज्वर मे चिकित्सा कैसे की जावे ?

चिकित्सा सूत्र—सन्निपात से उत्पन्न ज्वरो मे चिकित्सा सूत्रों का उल्लेख करते हुये चरकाचार्य ने दो प्रधान विधियाँ बतलाई है :—

क. वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा। अर्थात् एक हीन दोष के बढाने अथवा एक बढे दोष के क्षपण (ह्रासन) करने से।

ख. कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्। अथवा कफ स्थान का सर्वप्रथम उपचार करने के पश्चात् दूसरे दोषो के अनुसार उपक्रम करते हुए सन्निपात जन्य ज्वरो को जीतना चाहिये।

सन्निपातज ज्वरो के पच्चीस भेद बतलाये गये है। इन मे क्षीण दोष से उत्पन्न बारह प्रकार के सन्निपातो मे दोषो में ज्वरारम्भक गुण ही नही होता है, क्योंकि क्षीण हुए दोष अपने लक्षणो के हानिमात्र (अभाव) को ही उत्पन्न कर सकते है बिना बढे ये ज्वरादि को पैदा नहीं कर सकते है। शेष जो तेरह प्रकार के त्रिदोषज ज्वर होते है उन में त्रिदोष-हर ज्वरघ्न द्रव्यो के अभाव मे दोषो

के बढाव, घटाव या समता का विचार करते हुए चिकित्सा का निर्धारण करना पडता है। एतदर्थ वृद्धतर और वृद्धतम दोषो का क्षपण करते हुए, एक दोष को बढाते हुए चिकित्सा की जाती है। जैसे बढे हुए कफ एव वृद्ध तर वातपित्त मे मधुर रस की औषधि, यह वृद्धतर वात और पित्त का नाशक होते हुए क्षीण कफ को बढाते हुए भी बलवान् दोष का हन्ता होने के कारण से ज्वर का नाशक होता है। इसी प्रकार घटे कफ एव वृद्धतर पित्त दोष मे भी मधुर रस लाभप्रद होता है। अस्तु 'वर्धनेनैकदोषस्य' इस सूत्र से दो उल्वण या तीन उल्वण, हीन और मध्य दोषो से उत्पन्न दस सन्निपातो की चिकित्सा बतलाई गई।

क्षपणेनैकदोषस्य—इस भाव का द्योतक दूसरा सूत्रार्द्ध पाया जाता है, इसका उपयोग अवशिष्ट सन्निपात ज्वरो मे किया जाता है। इसका भाव यह है कि अत्यन्त साघातिक जो वृद्धतर या वृद्धतम एक दोष सन्निपात की अवस्था मे पाया जा रहा है उसका क्षपण (ह्रासन) करते हुए जो भेषज मिले उन से चिकित्सा करे। यद्यपि इस एक दोष के क्षपण का परिणाम यह होगा कि जो दो क्षीण है वे बढ जायेगे तथापि ऐसा ही करना चाहिये क्योकि प्रतिकार न करने से अत्यन्त वृद्धतम दोष (बढा हुआ दोष) सद्यो घातक हो जावेगा। अस्तु सर्वप्रथम वृद्धतम दोष का क्षपण करना ही अपेक्षित रहता है। फिर क्षीण दोषो की जो वृद्धि हो गई है वह कम हानिप्रद होगी और उसका क्रमश. उपचार करना भी सभव रहेगा। इस सूत्र से अनेकोल्वण तीन अवशिष्ट सन्निपातो की चिकित्सा बतलाई गई।

दूसरे सूत्र का भाव यह है। कफ के स्थान से आमाशय का ऊपरी भाग ग्रहण किया गया है। स्थान ग्रहण से स्थानी कफ का भी ग्रहण हो जाता है। अस्तु सन्निपात से उत्पन्न ज्वरो मे सर्वप्रथम उपचार कफ तथा कफ स्थान का करना होता है। कफस्थान आमाशय है, और सभी ज्वर आमाशय-समुत्थ ही होते है अस्तु सभी ज्वरो मे कफ स्थान का उपचार लंघन, पाचन आदि, चिकित्सा मे सर्वप्रथम उपक्रम होता है तो फिर सान्निपातिक ज्वर मे इस पर अधिक बल देने की क्या आवश्यकता है ? इस शका का निराकरण यह है कि यद्यपि यह सूत्र सभी ज्वरो मे सामान्य रूप से गृहीत है, परन्तु सन्निपात से उत्पन्न ज्वरो मे इसका अर्थात् कफ स्थान की लघन, स्वेदन और पाचन प्रभृति कर्मो से उपचार का अधिक महत्त्व और उसका विशेषतया ध्यान रखना चाहिये। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के ज्वर के अतिरिक्त त्रिदोषज या सन्निपात से उत्पन्न रोगो मे सर्वप्रथम वात का उपचार किया जाता है, पश्चात् पित्त और तदनन्तर कफ का। वातस्यानु जयेत्पित्त पित्तस्यानु जयेत्कफम्। परन्तु

सान्निपातिक ज्वर में यह क्रम पूर्णतया वदल जाता है। यहाँ सर्वप्रथम कफ तथा कफ स्थान का उपचार करना आवश्यक होता है। एतदर्थ नये अभ्यासी को, अन्य सान्निपातिक उपचारो के साथ भ्रम न पैदा हो जाय आचार्य ने कफस्थानानु पूर्व्या वा कफस्थानानुपूर्वी उपक्रम पर अधिक जोर दिया है।

इसके पश्चात् दोप को उल्वणता का ह्रासन या क्षीण दोप का वर्धन करते हुए उपचार का प्रारभ करना चाहिये।

उपर्युक्त भाव का दूसरे शब्दो मे उल्लेख करते हुए आचार्य भेलने वतलाया है कि सन्निपात ज्वर मे प्रथम लघन, स्वेदन, पाचन प्रभृति कर्मो से आम और कफ का अपहरण करना चाहिये। पुन कफ के नष्ट हो जाने पर पित्त एवं वायु के प्रशमन का उपाय करना चाहिये।[1]

चिकित्सा क्रम—वात-पित्त एवं कफ इन तीनो दोपो के प्रकोप मे उत्पन्न सन्निपात ज्वरो मे १ लंघन २ वालुका स्वेद ३ नस्य ४ निष्ठीवन ५ अवलेह तथा ६ अजनो का प्रयोग करना चाहिये।[2].

लंघन एवं उसकी अवधि—साधारण ज्वरो की अपेक्षा सान्निपातिक ज्वरो में इस उपक्रम का अधिक महत्त्व वतलाया गया है। सन्निपात ज्वरो में दोपो के वलावल का विचार करके वाताधिक्य मे तीन दिन पित्ताधिक्य मे पाँच दिन तथा कफाधिक्य में दस दिनो तक लघन कराना चाहिये। अथवा जव तक आम दोप या आम रसो का परिपाक न हो तव तक लघन या उपवास कराना चाहिये। अथवा जव तक रोगी आरोग्य (रोगहीन) न हो जाय तव तक लंघन कराना चाहिये क्योकि जव तक मनुष्य लघन सहन करता रहता है तव तक दोपो की प्रवलता समझनी चाहिये। आम दोपो के क्षीण हो जाने पर मनुष्य लंघन को सहन नही कर सकता है। इस लिये लघन सहन करने की शक्ति रोगी में जव तक विद्यमान रहे लंघन कराते रहना चाहिये। यही लंघन की वास्तविक काल-मर्यादा है। कारण यह है कि जव तक रोगी में आम दोप की प्रवलता रहती है। उसको अन्न में अरुचि, उत्क्लेश, वमन, तृप्ति प्रभृति लक्षण रहते है। वह खाना नही खा सकता है। आमदोप के पच जाने पर स्वतः उसे वुभुक्षा पैदा होती है, अर्थात् भोजन की चाह पैदा होती है।[3]

---

१ सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्। पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत्पित्तमारुतौ भेल। २. लङ्घनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनन्तथा। अवलेहोऽञ्जनञ्चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे॥ ३. त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा। लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्यादारोग्यदर्शनात्। दोषाणामेव सा शक्तिर्लङ्घने या सहिष्णुता। नहि दोपक्षये कश्चित् सहते लङ्घनादिकम्॥

स्वेदन तथा उसका परिहार—स्वेदन कर्म से पसीना निकलता है, कफ क्षीण होता है, आम का पाक होता है तथा शोफ का शमन होता है। साथ ही शरीर के बहुत से अतःस्थ विष पसीने से बाहर निकल आते हैं। शरीर का ताप कम हो जाता है, शरीर भी हल्का हो जाता है।

एतदर्थ ही लिखा है कि स्वेदन के बिना सन्निपात ज्वर शान्त नही होता है। इस लिये सन्निपात ज्वरग्रस्त रोगियो को बार बार स्वेदन का कर्म करना चाहिये। सन्निपात ज्वर मे जलीयाश या कफ का अश अधिक हो जाता है इसको कम करने के लिये अग्नि से बढ कर दूसरा कोई उपाय नही है। इस लिये अग्नि का स्वेदन के रूप मे प्रयोग करते रहना चाहिये। यद्यपि सन्निपात ज्वर को नष्ट करने के लिये बहुत से सविष तथा निर्विष उपाय है, परन्तु अग्नि को उष्णता के बिना प्राय उनका प्रभाव नही होता है। इस लिये सन्निपातज ज्वर तन्त्रोक्त रसोपरस निर्मित योगो के साथ स्वेदनादि के रूप मे अथवा साक्षाद् अग्निकर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। पूर्वोक्त स्वेदनादि उपचारो के बावजूद भी सन्निपातग्रस्त रोगी की मूर्च्छा दूर न होती है तो उसके पादतल या ललाट प्रदेश मे अग्नितप्त रक्तवर्ण लौह-शलाका से दहन कर्म करना चाहिये।[1]

सन्निपात मे स्वेदन के इतने लाभप्रद होते हुए भी कुछ अवस्थावो मे स्वेदन नही करना चाहिये बल्कि उनमे शीतल उपचार की ही क्रिया प्रशस्त रहती है। जैसे रोगी के नेत्र लाल हो, वमन प्रलाप अधिक हो रहा हो, सिर को इधर-उधर पटक रहा हो। ऐसी अवस्थायें अधिकतर अत्युच्च ताप (Hyper pyraxia) अथवा मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Cerebral haemorrhage) की अवस्थावो मे पाई जाती हैं। इनमे उष्णोपचार न करके शीतोपचार ही करना चाहिये।[2]

स्वेदन का विधान ज्वरो मे वात-श्लेष्मा की अधिकता मे, आमवात मे तथा सन्निपात ज्वर मे पाया जाता है। स्वेदन के बहुत से प्रकार हैं। विस्तार के लिये चरक सूत्र स्वेदाध्याय देखना चाहिये। यहाँ पर कुछ प्रचलित स्वेद-विधियो का, जिनका व्यवहार आज कल होता है, सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

---

१ न स्वेदव्यतिरेकेण सन्निपात प्रशाम्यति। तस्मान्मुहुर्मुहु कार्यं स्वेदन सन्निपातिनाम् ॥ सन्निपाते जलमयो नराणा विग्रहो भवेत्। विना वह्न्युपचारेण कस्त शोषयितु क्षम ॥ प्रयोगा बहव. सन्ति सविषा निर्विषा अपि। वह्न्युष्माण विना प्रायो न वीर्यं दर्शयन्ति ते। प्रतिक्रियाविधावेव यस्य संज्ञा न जायते। पादतले ललाटे वा दहेल्लोहशलाकया ॥

२ लौहित्ये नेत्रयोर्वान्तौ प्रलापे मूर्धचालने।
न स्वेद शुभदो ज्ञेयस्तत्र शीतक्रिया हिता ॥

वालुका स्वेदन—भूने हुए वालू को कपड़े में बाँधकर पोटली बनाकर कांजी में डुबोकर तवे पर गर्म करके उस से सेके।

२ सैन्धव पोट्टली स्वेद—सैंधवनमक को चूर्ण करके उसको कपडे मे बाँध कर पोट्टली बनाकर तवे पर गर्म करके उससे सेंकना।

किलाट स्वेद—वक्षस्तोद या पार्श्वशूल मे खोवा को कपडे में बाँधकर उसको पोट्टली बनाकर तवे पर गर्म करके उससे सेंकना।

४ वेशवार स्वेद—मास के टुकडे को कपड़े मे रख पोटली बनाकर गर्म करके सेंकना।

५ घृत का अभ्यंग—पुराने घृत में सेंधा नमक और कर्पूर मिलाकर छाती और पसुलियो में मालिश करना।

६. लेप—भुना हुआ चावल, वकरी की मीगी, कूठ, सोठ को एक में मिलाकर गोमूत्र मे पीसकर लेप करना (अजाविडादिलेप)।

७ सेहुण्डको पत्तो का रस और पलाण्डुस्वरस में मृगशृंग (वारह सिंगा) को घिस कर लेप करना। (मृगशृंगवृष्ट लेप)

८ एण्टी फ्लौजिस्टोन—(Anti plangistin) का बाँधना।

आमज ज्वर, वातिक-श्लैष्मिक या वातश्लैष्मिक ज्वरो में, त्रिदोषज (वात श्लेष्मोल्वण) ज्वरोमे स्तब्धता और शूल (अंगमर्द की अधिकता) में स्वेदन की क्रिया प्रशस्त है।

नस्य—वेहोशी, तन्द्रा, प्रलाप एवं शिरोगौरव की स्थिति मे नस्यो का नाक से प्रयोग करना लाभप्रद पाया गया है। जैसे—

सैन्धवादि नस्य—सेंधानमक, सहिजन के वीज (या श्वेतमरिच), सरसो के वीज और कुष्ठ। इनका महीन कपडछन चूर्ण वनाकर वकरी के मूत्र में पीस-कर नास देना।

मधूकसारादि नस्य—महुए के फल की गूदी, सैंधव, वच, पिप्पली, काली मिर्च सब समान मात्रा में लेकर चौगुने जल में पीस कर छान कर नाके मे छोड़ना।

कुलवधूरस—(भै० र०) को जल में पीस कर नस्य देना। मातुलुङ्गादिनस्य विजौरा नीवू और अदरक के रस को गुन गुना गरम करके उसमें त्रिलवण (सेंधानमक, काला नमक और सोचल नमक) मिलाकर नस्य देना।

त्रिकटु प्रधमन—त्रिकटु का महीन चूर्ण वनाकर, कागज या नरकट की नली के जरिये एक सिरे पर चूर्ण रखकर नाक के छिद्र मे लगाकर दूसरे सिरे से फूंक दे ताकि अन्दर चला जाय।

निष्ठीवन—सोठ, मरिच, पिप्पली और सैधवलवण वरावर मात्रा मे लेकर महीन चूर्ण करके अदरक के रस मे मिलाकर मुख मे कण्ठ पर्यन्त भरकर रखे। जो कफ निकले उसको वार वार थूक कर निकाल दिया करे। इस प्रकार दिन मे कई वार करे। इस प्रयोग से गले मे, पार्श्व मे और सिर मे कफ भरा हो और न निकलता हो, कास-श्वास हो, गला बैठा हो, नेत्र मे भारीपन हो, उत्क्लेश और स्तब्धता हो तो लाभ होता है।

अंजन—तद्रा एव मूर्च्छा की स्थिति मे उसके निवारणार्थ शिरीषाद्यञ्जन-शिरीषवीज, पिप्पली, काली मिर्च, सेंधा नमक, लहसुन (छिल्का रहित), शुद्ध मन शिला और वच इनको वरावर मात्रा मे लेकर गो-मूत्र मे पीस कर वत्ती वनावे। उस वत्ती को पानी मे पीस कर घिसकर अजन नेत्र मे लगावे। अजन भैरव रस (र रा सग्रह) का अजन भी लाभप्रद होता है।

अवलेह—अष्टाङ्गावलेहिका-कट्फल, पुष्करमूल, सोठ, मरिच, पीपरि, काकडासीगी, जवासा, कालाजोरा सम भाग मे लेकर उसमे चतुर्गुण मधु मिलाकर रख ले। इस को थोडा-थोडा कर के वीच-वीच मे चाटने से कास, श्वास, कण्ठावरोध, गले की घुरघुराहट ठीक होता है।

शिरोऽभ्यंग—१ पुराण घृत (दस वर्ष का पुराना घी) का मस्तक और सिर पर लगाना। इस मे थोडा कपूर मिलाकर लगाना और अधिक लाभप्रद होता है। इस प्रयोग से ज्वर का वेग कुछ कम होता है शिरोगौरव, प्रलापादि भी शान्त होता है।

२ पुराण घृत सिर के ऊपर लगा करके काले उर्द (माष) के कल्क की मोटी टिकिया वना कर थोडा सेंक कर रख कर ऊपर से एरण्डपत्र रख कर वाँध देना चाहिये।

३ हिमाशु तैल का सिर के ऊपर तथा हाथ-पैर के तलवे मे मालिश करनी चाहिये।

४ अडे (मुर्गी) की जरदी का लेप सिर के ऊपर करना प्रलाप को कम करता है।

५ काली मुर्गी के अण्डे के पान, नस्य तथा अजन से अत्यन्त प्रवृद्ध कृच्छ्र सन्निपातमे अच्छा लाभ होता है।[1]

सन्निपात मे वृंहण तथा शीतल जल का निषेध—सन्निपात ज्वर मे काँपते और प्रलाप करते हुए रोगी को, घृत-क्षीर-मासादि प्रभृति द्रव्य नही देना

१ शितिकुक्कुटिकाण्डजजलपानान्नस्यादप्यञ्जनाच्च।

चाहिये। तथा तृषा और दाह से युक्त रोगी को शीतल जल भी नही पिलाना चाहिये। सदैव उष्ण जल का ही प्रयोग पीने मे करना चाहिये।

त्रयोदश (१३) प्रकार के सन्निपात ज्वर में क्रिया क्रम तथा भेपज

द्वात्रिंशदङ्ग, अष्टादशाङ्ग तथा वृहत् कट्फलादि कषायो का उल्लेख पूर्व मे हो चुका है। ये तीनो बडे लाभप्रद प्रसिद्ध कषाय है जिनका सामान्यतया त्रिदोषज ज्वरो मे प्रयाग होता है।

अब सन्निपात के तेरह भेदो के अनुसार चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है। सन्निपातज ज्वर मे तीव्र विषमयता होती है उस विष का विविध मस्तिष्क के केन्द्रो पर प्रभाव होकर कही वाधिर्य, कही स्वर का लोप, कही मूकता प्रभृति प्रमुख चिह्न मिलते है जो प्रबल उपद्रव के रूप में सन्निपात ज्वरो मे पैदा हो जाते है। उस एक प्रधान उपद्रव को आधार मानकर विविध प्रकार के सन्निपातो के नाम पाये जाते है। इन नामो के अनुसार ही यहाँ पर शास्त्रसम्मत चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है।

इस पाठको सान्निपातिक ज्वर के उपद्रवो की चिकित्सा कहा जाय तो अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

१. शीताङ्ग सन्निपात—इस अवस्था मे शरीर से अतिमात्रा मे स्वेद निकलकर शरीर का तापक्रम प्राकृत से बहुत कम हो जाता है। इस उपद्रव से सम्यक् रीति से सावधानी न रखने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। अस्तु कई प्रकार के उद्वर्त्तन तथा उष्ण द्रव्यो के योग से बने कषायो का उपयोग आवश्यक होता है। एतदर्थ—

भास्वन्मूलादि क्वाथ—मदार की जड, त्रिकटु, जीरा, भारङ्गी, कंटकारी, पुष्करमूल इन सब द्रव्यो को समान मात्रा में लेकर क्वाथ बनाकर गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये। इस प्रयोग से अंग का ठंडा होना, कफ की वृद्धि, मूर्च्छा प्रभृति उपद्रव ठीक हो जाते है।

शीताङ्गहर उद्वर्त्तन—खेखसा की जड का चूर्ण, कुल्थी, पिप्पली, वच, कट्फल, काला जीरा, चिरायता, चीता, सुगधवाला और हरीतकी इनके चूर्ण का शरीर पर मलना लाभप्रद होता है।

स्वेदूगमोपचार—यदि सन्निपात की इस अवस्था में स्वेद बहुत निकलने लगे तो ऐसी स्थिति मे अजवायन, वच, सोठ, पिप्पली और मगरैल (कृष्ण

दु साधन. सन्निपात प्रबलोऽप्याश्वेव शममेति। (भै द)
वातपित्तोल्वणे चैव घृतं योज्यं पुरातनम्।
अभ्यङ्गाच्छमयत्याशु सन्निपातं सुदारुणम्।

जीरक) का कपडछन महीन चूर्ण बनाकर उसका उद्धूलन (चूर्ण का रगडना –Dusting) करना चाहिये । अथवा भुनी हुई कुलथी या रहर के चूर्ण (सत्तू) का शरीर मे मालिश करनी चाहिये अथवा कट्फल के चूर्ण की हाथ, पैर और तलवे मे हल्के हाथो से मालिश करनी चाहिये । इससे स्वेद का शोषण होता है और शरीर गर्म हो जाता है, शीताङ्ग कम हो जाता है ।

तन्द्रिक सन्निपात—विषमयता के कारण यह भी उपद्रव होता है, जिसमे रोगी अर्द्धनिद्रित अवस्था मे पडा रहता है । अस्तु इस अवस्था मे अन्य उपचारो के साथ उसकी तद्रा को दूर करने के लिये कई प्रकार के नस्यो और अजनो का प्रयोग शास्त्र मे पाया जाता है । उदाहरणार्थ—

क शुण्ठी, पिप्पली, काली मिर्च इन द्रव्यो को सम मात्रा मे लेकर महीन चूर्ण करके अगस्त्य के फूल के रस मे पीसकर उसका रस नाक मे टपकाने से या चूर्ण का नस्य देने से कार्य होता है ।

ख घोडे की लार, सेधा नमक, कपूर, मैनसिल, पिप्पली और मधु का अजन लगाने से सन्निपातज तन्द्रा एव निद्रा दूर होती है ।

३ प्रलापक सन्निपात—सन्निपात या तीव्र ज्वरो मे यह एक प्रधान उपद्रव पाया जाता है । विषमयता की अधिकता की वजह से रोगी असम्वद्ध बातें करता है, अटपट बकता है, चिल्लाता है और शय्या से उठता और भागता है । प्रलाप मद या तीव्र स्वरूप भेद से कई प्रकार का हो सकता है । इस अवस्था मे मस्तिष्क पर सशामक प्रभाव दिखलाने वाले योगो का उपयोग लाभप्रद होता है । अस्तु, तगरादिकषाय—तगर, पित्तपापडा, अमल्ताश, नागरमोथा, कुटकी, लामज्जक, असगध, ब्राह्मी, द्राक्षा, श्वेत चदन, दशमूल की ओपधियाँ तथा शखपुष्पी इन द्रव्यो का क्वाथ बना कर देना शीघ्र लाभप्रद होता है ।

४ रक्तष्ठीवी सन्निपात—इस अवस्था मे रक्तष्ठीवन (Rusty sputum) पाया जाता है, कई बार तीव्र श्वसनक ज्वर (Acute pneumonia) यह लक्षण प्रमुखतया मिलता है । चिकित्सा मे १ रोहिषादि कषाय—रोहिसघास, अडूसा, पित्तापापडा, फूल प्रियङ्गु तथा कुटकी इन सब द्रव्यो को सममात्रा मे लेकर क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर मिश्री डाल कर पीना ।

पद्मकादि कपाय—पद्मकाष्ठ, लाल चदन, पित्तपापडा, नागरमोथा, जाति (चमेली का फूल), जीवक, सफेद चदन, सुगंधवाला, मुलेठी और नीम की पत्ती के कषाय का उपयोग ।

५ भुग्ननेत्रचिकित्सा—सन्निपात की इस अवस्था मे विपमयता की अधिकता से रोगी निद्रित सदृश अधखुले नेत्र से स्तब्ध पडा रहता है । होश मे

लाने के लिये नस्य का प्रयोग उत्तम रहता है। जैसे-असगंध, सेंधा नमक, वच, महुए का सार, काली मिर्च, पिप्पली, शुंठी, लहसुन इन द्रव्यो को गोमूत्र मे पीस कर छान कर नाक मे टपकाना।

६ जिह्वक सन्निपात—विपमयता के कारण इस सन्निपात मे जिह्वा की पेशियो का घात हो जाता है (Glaso pharyngeal paralysis) जिससे जिह्वा स्तब्ध हो जाती है। रोगी जीभ को बाहर नही निकाल सकता है और न कुछ निगल ही पाता है। अस्तु इस अवस्था मे अन्य उपचारो के साथ कवल धारण कराना (Gargle) चाहिये। १ किरातादि कवल—चिरायता, अकरकरा, कुलिञ्जन, कचूर, पिप्पली का चूर्ण करके उसमे सरसो का तेल तथा विजौरा नीवू, कागजी नीवू प्रभृति अम्ल द्रव्यो का रस डाल कर कल्क बना कर या काढा बनाकर मुँह मे भरने के लिये देना हितकर होता है।

जिह्वा के फट जाने पर उस पर मुनक्का को पीस कर उसमे थोडा मधु और घृत मिलाकर लेप करना चाहिये।

७ संधिक सन्निपात—इस मे विपमयता के कारण सन्धियो मे तीव्र पीडा, जाँघो मे जडता, मन्यास्तभ, अत्यधिक क्लान्ति, क्वचित् पक्षाघात प्रभृति उपद्रव हो जाते है। एतद् दूरीकरणार्थ इसमे वचादि क्वाथ का अन्त प्रयोग विशेपतया लाभप्रद होता है।

वचादि कपाय—वच, पित्तपापडा, जवासा, सैरेयक, गिलोय, अतीस, देवदारु, नागरमोथा, सोठ, विधारा, रास्ना, गुग्गुलु, वडी दन्ती, एरण्ड और शतावरी का क्वाथ।

८ अभिन्यास ज्वर—सन्निपात मे एक तीव्र विपमयता (Severe toxaemia) की अवस्था है। इसमे कारव्यादिकपाय, मातुलुङ्गादि कपाय—अथवा शृङ्गयादि कपाय (भै र) का प्रयोग उत्तम माना गया है। कारव्यादि कपाय—कलौंजी, पुष्करमूल, एरण्ड की जड, त्रायमाण, सोठ, गुडूची, दशमूल, कचूर, काकडासीगी, दुरालभा, भारङ्गी और पुनर्नवा। सम मात्रा मे लेकर २ तोले द्रव्य का ३२ तोले गोमूत्र मे क्वाथ बनाकर चतुर्थांश शेप रहने पर उतार कर पिलावे। इससे स्रोतसो का अवरोध दूर होकर तन्द्रा, प्रलाप, भ्रम आदि मे लाभ होता है।

९ कंठकुब्ज सन्निपात—इस प्रकार मे विपमयता की वजह से मूकता आ जाती है। चिकित्सा मे फलत्रिकादि कपाय का प्रयोग उत्तम रहता है। जैसे, त्रिफला, त्रिकटु, नागरमोथा कुटकी, इंद्रजौ, वासा और हल्दी का कपाय।

१० कर्णिक सन्निपात—इस प्रकार मे कान के मूल के पास मे एक गाँठ या सूजन पैदा होती है। इसलिये कर्णमूल सन्निपात भी कहा जाता है। यह अवस्था मुख की सफाई (गर्मजल या लवण विलयन या 'डेटाल' या 'सेवलान' के पानी से) न रखने की वजह से उत्पन्न होती है जिससे कर्णमूल ग्रंथि (Parotid Gland) मे व्रण शोफ पैदा हो जाता है।

यह एक सन्निपात ज्वर का आम उपद्रव है जो ज्वर के आदि मे, मध्य मे या अन्त मे रोगी की जीवनीय शक्ति (Vitality) के ऊपर पैदा हो सकता है। प्रारम्भ मे रोगी की जीवनीय शक्ति या बल अधिक होता है अस्तु शोथ साध्य रहता है। मध्य में मध्यम बल रहता है अस्तु रोग कृच्छ्र साध्य होता है। और अन्त में जब बल, जीवनीय शक्ति या रोग की प्रतिकारक शक्ति बहुत कम हो जाती है तो शोथ का उपशम कठिन होकर रोग असाध्य हो जाता है। जीवनीय शक्ति के अनुसार प्रारभ का साध्य, मध्य का कृच्छ्र साध्य तथा ज्वर के अत मे होने पर असाध्य माना जाता है। यदि ज्वर के अतमे कर्णमूल शोथ हो तो कोई रोगी कभी कभी बच जाता है। प्रारभ मे रोगी की जीवनीय शक्ति या बल अधिक होता है अस्तु शोथ साध्य रहता है। मध्य मे मध्यम बल रहता है अस्तु रोग कृच्छ्रसाध्य होता है। और अत मे जब बल, जीवनीय शक्ति या रोग की प्रतिकारक शक्ति बहुत कम हो जाती है तो शोथ का उपशम कठिन होकर रोग असाध्य हो जाता है।[1] ज्वरादि मे होने वाले कर्णमूल शोथ को सज्वर पाषाण गर्दभ रोग या Mumps कहा जा सकता है। जो एक सुखसाध्य मर्यादित रोग है और एक सप्ताह या दस दिनो मे अच्छा हो जाता है।

उपचार—सन्निपात ज्वर के अन्य उपचारो के साथ साथ निम्नलिखित विशिष्ट उपचारो को बरतना चाहिए। रोगी को मुख सफाई (Mouth hygeine) पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। गर्म जल, नमक मिश्रित गर्म जल, 'डेटाल' या 'सेवलान' के पानी से' या कषायो का कवल (कुल्ली) बीच बीच मे ज्वर काल मे कराते रहना चाहिये। यदि शोफ सामान्य हो तो प्रारभिक उपचार मे कई प्रकार के लेप है उन्हे पानी मे पीसकर गुनगुना करके लेप करना चाहिये। जोक लगा कर रक्तावसेचन करना चाहिये। यदि शोफ का शमन इन उपायो मे न हो और उसमे पाक या पूयोत्पत्ति न हो जावे तो शस्त्र क्रिया से चीर लगा कर मवाद (पूय) को निकालना चाहिये। पश्चात् पूय के निर्हरण

---

१ सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुण। शोफ सजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते।
ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथ।
क्रमेण साध्य खलु कृच्छ्रसाध्यस्ततस्त्वसाध्य कथितो भिषग्भि॥

हो जाने पर उसका शोधन एव रोपण का व्रणवत् उपचार करना चाहिये । निम्न-लिखित उपक्रमो को क्रमश: वरतना चाहिये ।

१ घृतपान—पचतिक्त सिद्ध गोघृत का पिलाना ।

२ कवल ग्रह—भारगी, जयन्ती, पुष्करमूल, कटकारी, त्रिकटु, वच, नागर मोथा, काकडासीगी, कुटकी और रास्ना (भारङ्ग्यादि कषाय) से कुल्ली कराना और पिलाना लाभप्रद होता है ।

३. लेप या प्रदेह—कुलत्थ, कट्फल, शुठो, कारवी (कलौंजी) इन द्रव्यो की वरावर मात्रा मे लेकर पानी से पीस कर गरम करके वार वार (दिन मे दो-तीन वार) लेप करना चाहिये । दशाङ्ग लेप (च द)

हिंग्वादि लेप—हीग, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रायणकी जड, सेंधा नमक, देव-दारु, कूठ और मदार का दूध इन को एकत्र पीस कर गर्म करके शोथ पर लेप करना । अर्कादि लेप—मदार का दूध, भिलावा, चित्रक की जड, गुड, दन्ती की जड, कूठ, हीराकासीस इन द्रव्यो को पीस कर लेप करना ।

४ नस्य—सेंधा नमक और पिप्पली को चतुर्गुण जल मे पीस कर गर्म करके छान कर नाक मे छोडना ।

५ रक्तावसेचन—कर्णमूल शोथ पर जोक लगाकर रक्त का निकालना प्रशस्त है ।

६ वमन—मैनफल का चूर्ण ६ माशे पिप्पली चूर्ण ८ रत्ती को फाँककर एक पाव गर्म जल पिलाकर वमन कराना अथवा गर्म जल में थोडा सेंधा नमक मिलाकर आकठ पिलाकर वमन करा देना भी उत्तम होता है । [1]

११. चित्तभ्रम या चित्तविभ्रम सन्निपात—सन्निपात की .विषमयता के कारण इस अवस्था मे रोगी मे चित्तविभ्रम पैदा हो जाता है, स्मरणशक्ति का अभाव, परिचितो को न पहचानना, भूतदोष, सिर और नेत्रसम्बन्धी पीडा, वेहोशी और चक्कर आदि प्रमुख उपद्रव रहते हैं । इस अवस्था मे रोगी को चेतना मे लाने के लिये प्रचेतना गुटिका का अजन और विशिष्ट प्रकार के कषायो का विधान पाया जाता है । जैसे—प्रचेतना गुटिका—पिप्पली, काली मिर्च, वच, सेंधा नमक, करज के वीज, धतूरा के फल, त्रिफला, सरसो, हीग और

---

१ रक्तावसेचनैः पूर्वं सर्पिष्पानैश्च त जयेत् ।
प्रदेहैः कफवातघ्नैर्वमनैः कवलग्रहैः ॥
प्रलेपस्ततस्त नयत्यल्पमेक समुद्रिक्तशोथञ्च रक्तावसेक ।
सुपक्वे च शस्त्रक्रिया पूयजित्सा व्रणत्व गते चोचिता तच्चिकित्सा ॥

सोठ। इन द्रव्यो को बकरी के मूत्र मे पीसकर गोली बनाकर रख लेना चाहिये। इसे प्रचेतना गुटिका कहते है। इसके अजन से अचेत रोगी मे चेतना जाग्रत होती है।

मृद्वीकादि कषाय—मुनक्का, देवदारु, कुटकी, नागरमोथा, आमलकी, हरीतकी, गुडूची, अमल ताश, चिरायता, पित्तपापडा और पटोल पत्र का क्वाथ अथवा ब्राह्मी, पाढल, पटोल पत्र, सुगधवाला, पर्पट, हरीतकी, अमल्ताश, कुटकी और गखपुष्पी (दर्दुरदलादि कषाय) का पिलाना उत्तम होता है।

१२ रुग्दाह सन्निपात—इस प्रकार मे सन्निपातज विषमयता के कारण ज्वर का वेग अधिक होता है, दाह, तृषा की अधिकता होती है। अस्तु उपचार में वात-पित्त शामक उपाय करना पडता है। एतदर्थ निम्नलिखित क्रियाक्रम उत्तम पाये जाते है।

१ षडङ्ग पानीय—खस, रक्तचदन, सुगधवाला, द्राक्षा (मुनक्का), आँवला और पित्तपापडा इन सब द्रव्यो का पानीय विधि से पानीय बनाकर पीने के लिये देना चाहिये।

२ लेप—बेर की पत्तियो को दही के साथ पीसकर अथवा कपूर, सफेद चदन तथा नीम के पत्रो को तक्र के साथ पीसकर लेप करने से दाह शान्त होता है। अथवा नीम की पत्तियो को पीसकर एक हडिका मे रख कर पानी मिलाकर मथन करने से जो फेन उठता है उस फेन का लेप भी दाह का शामक होता है।

३ अवगाहन—शीतल जल मे सौ बार धुले हुए गाय के घी मे, सफेद मलय गिरी चदन को घिसकर मिलाकर पूरे बदन मे लेप कर, पश्चात् कमल और कुमुदिनी के पुष्प की माला धारण कर के ठडे जल से पूर्ण पात्र मे बिठाना और डुबकी लगाकर स्नान करने से शरीर का दाह शीघ्र शान्त होता है।

४ अवगुण्ठन—रुग्दाह ज्वर वाले रोगी को काजी से भीगे हुए वस्त्र के अथवा गाय के तक्र मे भिगोये हुए वस्त्र के उढाने से दाह दूर होता है और ज्वर का वेग हल्का हो जाता है। अत्युच्च तापक्रमो (Hyperpyrexia) मे ठडे जल मे या बरफ के पानी मे तौलिया भिगोकर निचोडकर पूरे शरीर का परिमार्जन (Cold sponging) भी इसी प्रकार की क्रिया है।

५ हिमपुटक (Ice-cap)—सिर के ऊपर बरफ से भरी थैली का रखना भी दाह और ज्वर को कम करता है।

६ आहार-विहार—दाह और वमन से पीडित दुर्बल और निराहार रहने वाले रोगी को भोजन मे धान के खील का सत्तू, मिश्री और पानी मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये।

खिले हुए कमलो से युक्त वावलियो मे नाव पर रखना या छूटते हुए फुहारो से युक्त सुन्दर गृह मे। शरीर मे सफेद चदन का लेप किये हुए स्त्री का सम्पर्ण, मुक्ता की माला का धारण प्रभृति विहार दाह के शामक रूप मे कहे गये है।

१३ **अन्तक सन्निपात**—सन्निपात की साघातिक अवस्था—जिसमे कोई उपचार लाभप्रद न सिद्ध हो तो अतक या नाशक सन्निपात कहलाता है। इसमे युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय पूर्णतया निष्फल रहता है। ऐसी अवस्था में दैवव्यपाश्रय उपायो का अवलम्वन ही एकमात्र साधन शेप रह जाता है। ऐसी अवस्था में उपवास, उष्णोदक यूपादि का प्रयोग अकिंचित्कर होता है। केवल एक मात्र भगवान् का भरोसा रह जाता है। अस्तु भगवदाराधना करनी चाहिये। क्योकि वही मृत्यु को जीत सकते है, उन्ही का नाम मृत्युंजय है। (मृत्युजय अथवा महा मृत्युजय का जप प्रभृति उपायो का आश्रय लेना उचित रहता है।)

सन्निपात ज्वरो मे—सामान्य-पथ्य-पंचमुष्टिक यूप—जौ, वैर, कुलत्थ, मूग और आँवला इनमे से प्रत्येक को एक एक तोला लेकर अष्टगुण जल (४० तोले) में पाक करे और आधा शेप रहने पर उतार ले। यह पंचमुष्टिक यूप कहलाता है। यह त्रिदोपज ज्वरो मे लाभप्रद और हल्का पोपण के रूप में दिया जा सकता है। कुछ लोग मुद्गपर्णी, वालमूली या शुठी के योग से भी इस यूप को वनाते है।[1]

सान्निपातिक ज्वर में रस के योग

श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया तथा प्लुरिसी) में

१ **ज्वरार्यभ्र**—शुद्ध पारद, शुद्ध गवक, अभ्रभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध वत्सनाभचूर्ण प्रत्येक एक तोला, शुद्ध धतूरे का वीज २ तोला और त्रिकटुचूर्ण ५ तोला। प्रथम पारद एव गंधक की कज्जली वनाकर शेप द्रव्यो का कपडछान चूर्ण मिलाकर जल मे घोटकर २–२ रत्ती की गोलियाँ वना ले। मात्रा १–२ गोली प्रति चार घटे पर दिन मे कई वार। अनुपान–अदरक, तुलसी का रस एव मधु। इस योग मे कफनि सारण के विचार से प्रतिमात्रा मे यवक्षार २ रत्ती और शुद्ध टकण या शुद्ध नरसार भी २ रत्ती मिलाकर दिया जा सकता है। जैसे ज्वरार्यभ्र २ रत्ती, शुद्ध टकण २ रत्ती, यवक्षार २ रत्ती मिश्रित १ मात्रा।

हिंगुकर्पूरवटी—घी मे भुनी हीग १ भाग, कपूर १ भाग और कस्तूरी

---

१ यवकोलकुलत्थाना मुद्गामलकशुण्ठयो। एकैकं मुष्टिमाहृत्य पचेदष्टगुणे जले॥ पञ्चमुष्टिक इत्येप वातपित्तकफापहः। शस्यते गुल्मशूले च श्वासेकासे च शस्यते॥

१/२ भाग सब को एकत्र घोटकर गोलियाँ बना ले। कपूर और हीग को एक मे घोटने से गोली बनने लायक हो जाता है। यदि आवश्यकता हो तो थोडी मधु मिला ले।

अनुपान—पानी से या अदरक के रस और मधु मे घोल कर दे।

इसके उपयोग से नाडी एव श्वास की गति सुधरती है, छाती का दर्द (उर शूल एव वक्षस्तोद) कम होता है, कफ पतला होकर निकलने लगता है। रोगी के हाथ-पैर का फेकना, कपडा फेकना, उठना-बैठना, बकना कम होता है।

बालश्वसनक (ब्रांकोन्यूमोनिया मे)—शृंग सिन्दूर—रस सिन्दूर या स्वर्ण सिन्दूर १/२ रत्ती तथा शृगभस्म १ रत्ती, शुद्ध टकण १ रत्ती की मात्रा मे मिलाकर, ऐसी एक मात्रा बनावे। दिन मे चार, चार घटे के अन्त पर गुडची के स्वरस और मधु के अनुपान मे। बच्चो के श्वसनक ज्वर मे इससे उत्तम लाभ होता है।

छाती पर लेप—उपर्युक्त अतः उपचारो के साथ ही श्वसनक ज्वरो से युक्त रोगियो मे सीने पर कइ प्रकार के लेप भी बडे उत्तम होते है। जैसे-बारह सिंगे की सीग को प्याज के रस मे घिसकर लेप करना, पुराने घृत मे सेधानमक और कपूर मिलाकर सीने पर आगे-पीछे और पार्श्व मे लेप करना। केवल पंच-गुण तैल मे थोडा ऊपर से कपूर मिलाकर छाती पर मालिश करना।

अजाविडादि लेप—चावल को भूनकर, बकरी की मीगी, कूठ को गोमूत्र मे पीसकर आग पर गर्म करके सीने पर लेप करना।

तृतीय अध्याय

आगन्तुक ज्वरोपचार

क्रियाक्रम—लंघन का निषेध—आगन्तुक कारणो से उत्पन्न ज्वरो मे रोगी को लघन नही कराना चाहिये। आगन्तुक ज्वर का अर्थ होता है—चिन्ता, शोक, क्रोध, प्रहार, भय, भूत-प्रेत, श्रम अथवा औषधि के (वनस्पतियो के पराग की) गध से होने वाले ज्वर। इन ज्वरो मे उपवास न कराके मासरस के साथ चावल का भात खाने को देना चाहिये।[1]

१ आगन्तुजे ज्वरे नैव नर कुर्वीत लङ्घनम्। (भै र)

१ अभिघातज-ज्वर—चोट लगजाने, गिर जाने या किसी अभिघात से उत्पन्न ज्वरो में घृत और तैल का अभ्यंग तथा मासरस और तण्डुलोदन देना चाहिये। यदि कोई व्रण हो गया हो तो व्रणवत् उपचार करना चाहिये।

२ अभिचार या अभिशापज-ज्वर—ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और पतिव्रता स्त्री का अपमान करना, अभिचार और उनके शाप से उत्पन्न ज्वर अभिशापज कहलाते है। इस अवस्था में दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय लेने से ज्वर ठीक होता है। अस्तु, होम, प्रायश्चित्त, स्वस्त्ययन तथा अन्य मागलिक कर्म द्वारा उपचार करना चाहिये। उत्पात तथा ग्रह-पीडा जन्य व्याधियो मे भी यही उपक्रम लाभप्रद सिद्ध होता है।

३ क्रोधज-ज्वर—क्रोध से उत्पन्न ज्वरो की शान्ति के लिये पित्त-शामक क्रियाये करनी चाहिये। रोगी के इच्छित पदार्थो की पूर्ति करना, आश्वासन देना तथा अच्छे एव अनुकूल वचनो से रोगी की तसल्ली करना, उपचारो मे समाविष्ट है।

४ काम-शोक-भय ज्वर—इन कारणो से उत्पन्न ज्वरो मे वातशामक ओषधियो के प्रयोग तथा मन को हर्षित करने वाली क्रियाओ का प्रयोग करना चाहिये। अभिमत पदार्थ या इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से क्रोध ज्वर नष्ट होता है। और क्रोधजनक कारणो से कामवासनाजन्य ज्वरो का शमन होता है। काम और क्रोध इन दोनो भावो से भय और शोक जन्य ज्वर शान्त होता है। ओषधि के रूप में पित्तशामक भेषज जैसे सुगंधवाला, कमल, श्वेतचंदन, खस, दालचीनी, धनिया, जटामासी का क्वाथ काम ज्वर मे लाभप्रद होता है।

५ भूतज ज्वर—भूत विद्या का विषय है। तदनुसार बधन, ताडन, आवेश प्रभृति कर्मो द्वारा उपचार करना उत्तम रहता है।

६ मानस ज्वर—मानस ज्वर में ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, धृति और समाधि (चित्त की एकग्रता) द्वारा उपचार करना चाहिये। विधिपूर्वक सहदेवी मूल को कठ में बाँधकर रखने से तीन या चार दिनो में भूत-प्रेत प्रभृति कारणो से उत्पन्न ज्वर शान्त होते हैं।

शापाभिचाराद् भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः।
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते ॥

(चरक चि ३)

विषमज्वरोपचार

क्रियाक्रमः—१ विषमज्वर प्राय. त्रिदोषज हुआ करते है अस्तु इन ज्वरो में दोषकीउल्वणता (विशेषता या अधिकता) का विचार करते हुए तदनुकूल

चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। वात की प्रधानता होने पर घृतपान और अनुवासन वस्ति का प्रयोग, पित्त की प्रधानता होने पर औषधिसिद्ध दूध या घी का प्रयोग तिक्त और शीत गुण भूयिष्ठ औषधियो का प्रयोग तथा कफ की प्रधानता होने पर वमन, लघन, पाचन एव उष्णवीर्य भेषज का प्रयोग करना चाहिये।[1]

२ विषम ज्वर मे ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से शोधन प्रशस्त है अर्थात् रोगी को वमन तथा विरेचन करावे।

३ स्निग्ध एव उष्ण भोजन तथा आहार-विहार की व्यवस्था करनी चाहिये।

मधुकादि कषाय—मधुयष्टि, लाल चदन, मुस्तक, आमलकी, धान्यक, खस, गुडूची और पटोल का कषाय मधु और चीनी मिलाकर पीना।

शिशिरादिकषाय. (वैद्यजीवन)

सशिशिरः सघनः समहौषधः सनलदः सकणः सपयोधरः।
समधुशर्कर एष कषायको जयति बालमृगाक्षि तृतीयकम् ॥

संततादि विषम ज्वरो मे पच कषाय—१ इन्द्र जौ, पटोल, कुटकी, तीनो का सममात्रा मे सम्मिलित कषाय सतत ज्वर मे लाभप्रद। २ पटोलपत्र, अनन्त मूल, मुस्तक, कुटकी और पाठा इनका सममात्रा मे सम्मिलित प्रयोग सततक ज्वर मे ३ नीम की छाल, पटोल पत्र, मुनक्का, हरीतकी, विभीतक, आँवला, मोथा तथा इन्द्र जौ इनका सम्मिलित सममात्रा मे प्रयोग अन्येद्युष्क ज्वर मे लाभप्रद ४ चिरायता, गुडूची, लाल चदन और सोठ इन चारो का सममात्रा मे ग्रहण कर सम्मिलित प्रयोग तृतीयक ज्वर मे। ५ गुडूची, आँवला और मोथा इन तीनो का सममात्रा मे गृहीत प्रयोग चातुर्थक ज्वर मे लाभप्रद होता है। क्वाथ के लिये औषधिद्रव्य २ तोले लेकर ३२ तोले जल मे पकाकर ८ तोले शेष रहने पर उतारे और मधु मिला कर पिलाना चाहिये। विषम ज्वर मे प्रयुक्त होने वाले ये पच कषाय है—जो बडे प्रसिद्ध और प्राय सभी वैद्यक ग्रथो मे इनका पाठ पाया जाता है।[2]

---

१. विषमेष्वपि कर्त्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम्। स्निग्धोष्णरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम्। वातप्रधान सर्पिभि र्बस्तिभि सानुवासनै। विरेचन च पयसा सर्पिषा सकृतेन च ॥ विषम च तिक्तशीतैर्ज्वर पित्तोत्तर जयेत्। वमन पाचन रूक्षमन्नपानञ्च लङ्घनम्। कषायोष्णञ्च विषमे ज्वरे शस्त कफोत्तरे।

२ कलिङ्गक पटोलस्य पत्र कटुकरोहिणी। पटोल शारिवा मुस्त पाठा कटुकरोहिणी। निम्ब पटोल मृद्वीका त्रिफला मुस्तवत्सकौ। किराततिक्तममृता चन्दन विश्वभेषजम् ॥ गुडूच्यामलक मुस्तमर्धश्लोकसमापना ॥ कषाया शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधान् ज्वरान् ॥ सततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ॥ (च. चि ३)

विषमज्वर से एकौषधिप्रयोगः—१. कालाजीरा और गुडका सेवन। २ लहसुन की चटनी बनाकर उसको तिल तैल पकाकर सेवन, दीर्घकालीन वात रोग तथा विषम ज्वर मे सेवन। ३. त्रिफला कषाय और गुड़की चाशनी बनाकर सेवन या केवल त्रिफला[1] चूर्ण और गुड का सेवन। ४. हरीतकी चूर्ण और मधु का सेवन। ५ लहसुन की चटनी एव घी का सेवन। ६ वर्धमान पिप्पली का सेवन विशेषत जीर्ण विषम ज्वर मे जब यकृत् और प्लीहा की वृद्धि हो। इसमे एक, दो या तीन पिप्पली को दूध के साथ पीस कर सेवन प्रारंभ करना होता है, फिर उसी क्रम से प्रति एक, दो या तीन की वृद्धि करते हुए ग्यारह या इक्कीस दिन तक चलाकर फिर क्रमश उसी क्रम से कम करते हुए प्रारम्भिक मात्रा पर रोक देना चाहिये। रोगी के बल और काल का विचार करके मात्रा का प्रारभ एक, दो या तीन से करना चाहिये। ७ षट्पल सर्पि का सेवन। ८ उष्ण दूध में तिल तैल, घी, विदारीकद तथा गन्ने का रस मिलाकर सेवन। ९ छोटीपीपल, मिश्री, घी, मधुको गर्म करके ठंडा किये दूध में मिलाकर मथकर (पंचसार) का सेवन। १० शेफाली स्वरस और मधु का सेवन। ११ नाई वनस्पति का कषाय सेवन। १२ निम्ब पत्र ५ पीसकर नित्य लेना या नीम की छाल का कषाय ½ छटाँक का सेवन। १३ तुलसी का कषाय। इसमें कृष्ण तुलसी अधिक श्रेष्ठ है। १४ द्रोणपुष्पी का कषाय या स्वरस। १५ चम्पा के फूल का रस।

विषम ज्वर के वेग को रोकने की औषधियाँ—विषम ज्वरो में ज्वर के पूर्व में जाडा या हल्की सिहरन होती है—पश्चात् तीव्र ज्वर हो जाता है। वेग या दौरे रोग मे प्रायः पाये जाते है। वेगो का काल भी नियत सा रहता है कभी अनिश्चित भी होता है। ज्वर के दौरा या वेग आने के पूर्व कई औषधियाँ है, जिनका प्रयोग करने से वेग रुक जाता है। दो-तीन बार ऐसे वेगो को रोक देने से प्राय ज्वर मे लाभ भी हो जाता है। कुछ एक ऐसे भेषजो का नाम नीचे दिया जा रहा है.—

१. शुद्ध स्फटिका—(लाल फिटकिरी हो तो अधिक उत्तम) कच्ची फिटकिरी को गर्म तवे पर भूनकर खील बना ले पश्चात् उसका महीन चूर्ण कर ले। प्रात काल मे ज्वर के वेग के पूर्व १ माशा की मात्रा में बताशे मे रखकर रोगी को खिलादे। ज्वर प्राय नही आता है। २ मार्जारविष्टा का दूध के

---

१. भवति विषमहन्त्री चेतकी क्षौद्रयुक्ता। नान्यानि मान्यानि रसौषधानि परन्तु कान्ते न रसोनकल्कात्। तैलेन युक्तो ह्यपर प्रयोगो महासमीरे विषमज्वरे च। गुडप्रगाढा त्रिफला पिबेद्वा विषमार्दित । मधुना सर्वज्वरनुच्छेफालीदलजो रस ॥

साथ पिलाना इसी प्रकार का कार्य करता है अथवा ३ बैल का गोबर दधिमण्ड के साथ या मद्य के साथ नमक मिलाकर पिलाना भी ज्वर के वेग को रोकता है।[1] ४ धतूर के कोमलपत्रछोटे-छोटे दो या तीन, गुड और मरिच पाँच दाने का ज्वर के पूर्व सेवन करना।

५ सुवर्चला (हुरहुर) स्वरस-ज्वर आने के पूर्व हाथ-पैर नखो मे लगाना ६ कुकुरौधे का स्वरस दस बूद लगे पान के बीडे मे रख कर चूसना। ७ मदार के पुष्प की एक कली एक तोले गुड मे रखकर एक-एक घटेके अतर से ज्वर आने के पूर्व तीन बार देना उत्तम रहता है।

ऊर्ध्व शोधन (वमन)—इन्द्रजौ, मदनफल, मधुयष्टि का कषाय पिलाने से अथवा इन द्रव्यो को सम मात्रा मे लेकर ६ माशे चूर्ण को फँका कर ऊपर से एक पाव गर्म जल पिलाने से वमन होता है और ज्वर शान्त हो जाता है। विषम ज्वर मे अपने आप वमन होता है, उत्क्लेश अधिक हो तो इस वामक योग का प्रयोग करना चाहिये।

अध शोधन (रेचन)—रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके ज्वर आने वाले दिन को प्रात काल मे कासमर्द, वन जवायन, निशोथ और कुटकी कषाय पिलाने से रेचन हो जाता है और ज्वर का शमन हो जाता है। विवन्ध युक्त विषमज्वर मे व्यवहृत होने वाले कई जयपाल के यौगिक है, इनके प्रयोग से यह कार्य सिद्ध होता है, जैसे—ज्वर केशरीरस, शीतारि रस, अश्वकंचुकी रस, शीतारिरस (भै र) दो रत्ती की मात्रा मे दिन मे दो या तीन बार।

अंजन—

विषमज्वरघ्न अंजन—सैन्धव, छोटी पिप्पली के दाने, मन शिला इन सबो को तैल मे पीस कर अजन करना ज्वर के वेग को रोकता है। कान की मैल की बत्ती बनाकर तिलतैल से पूर्ण सकोरे मे रख कर दीपक जलाकर इस दीपक की ज्वाला के ऊपर युक्तिपूर्वक एक वर्त्तन औंधाकर रखकर उसके कज्जल का सग्रह करे। इस अजन को तृतीयक ज्वर के रोगी मे उसके दोनो नेत्रो मे रात मे अजन करे। ज्वर दूर होता है।

औषधि-धारण-कुछ ऐसी दिव्य ओषधियाँ है, जिनके मूल को सूत्र मे बाँधकर धारण करने मात्र से विषम ज्वर नष्ट होता है। ये औषधियाँ अपने प्रभाव से कार्य करती है। युक्ति या तर्क से इनकी अचिन्त्य शक्ति का ज्ञान नही होता है।

---

१ पयसा वृषदशस्य शकृद्वेगागमे पिवेत्।
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम्॥ (भै र)

उदाहरणार्थ—१ काकजंघा, वला, श्यामा, ब्रह्मदण्डी (भार्गी), लज्जावती, पृश्नि-पर्णी, अपामार्ग तथा भृंगराज। इन आठ औषधियों में से किसी एक को पुष्य-नक्षत्र में उखाडकर उसके मूल को लाल सूत्र से वेष्टित करके पुरुष के दाहिने हाथ अथवा स्त्री के वायें हाथ में बाँध कर धारण करने से नित्य आने वाला विषम ज्वर दूर होता है। (भै र.)

२ उल्लू के दाहिने पाँख को कच्चे श्वेत डोरेमे वाँधकर रोगी के वायें कान मे वाँधने से भी यही फल होता है।

३ कर्कट (केकडा) के विल की मिट्टी का माथे पर तिलक करने से भी यही फल होता है—इसमें तर्क नही करना चाहिये और इनके प्रभावो को देखना चाहिये।

४. अपामार्ग की जड को लाल रंग के सात सूत्रो से लपेट कर रविवार के दिन कटि मे वाँधने से ऐकाहिक ज्वर में लाभ देखा गया है।

५ सभी प्रकार के विषम ज्वर मे जयन्ती मूल को इसी प्रकार वाँध कर धारण करना भी लाभप्रद होता है। (भै. र)

६ मकोय की जडका कान मे वाँधना भी रात्रि ज्वर में लाभप्रद पाया गया है।

चातुर्थक ज्वर में विशेष क्रियाक्रम—चातुर्थक ज्वर एक वडा ही हठीला ज्वर होता है। वहुविध उपचारो के वावजूद भी शान्त नही होता है। इस मे रोगी मन से वहुत कमजोर हो गया रहता है। निश्चित समय पर उसको ज्वर का वेग अवश्य सता देता है। अस्तु कुछ विशिष्ट उपक्रमो का आश्रय लेना पडता है।

नस्य—१ शिरीष पुष्प के स्वरस में हरिद्रा, दारुहरिद्रा इनका चूर्ण और घृत मिला कर खरल में आलोडित करके नस्य देने से लाभ होता है। २. अगस्त्य पत्र स्वरस और हीग का नस्य भी ऐसा ही कार्य करता है। ३ अगस्त्यपत्र स्वरस मे हरिद्रा, दारु हरिद्रा तथा घी को आलोडित करके भी नस्य का विधान है। ४ केवल अगस्त्यपत्र स्वरस का नस्य भी लाभप्रद होता है।

मुख से प्रयोज्य औषधि—१ रोगी के वलावल के अनुसार शुद्ध मृत हरिताल भस्म $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती की मात्रा मे दिन मे तीन वार श्वेत वत्स और श्वेत वर्ण की गाय के दूध के साथ रविवार को देने से ज्वर नष्ट होता है।

२ महाज्वराङ्कुश—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध वछनाग १ भाग, शुद्ध गंधक १ भाग, शुद्ध धतूरे का वीज ३ भाग, काली मिर्च ४ भाग, सोठ ४ भाग, छोटी पीपल ४ भाग। प्रथम पारद एव गंधक की कज्जली करे पश्चात् अन्य औषधियो

का कपड छान चूर्ण मिलावे। फिर सत्यानाशी के स्वरस को तीन भावना देकर २ रत्ती की गोलियाँ वना ले। मात्रा १ से २ गोली। अनुपान-कागजी नीवू या जम्वीरी नीवू के रस या अदरक के रस के साथ दे। (यो र)

३ श्वेत अर्क या करवीर मूल को दो रत्ती की मात्रा मे तण्डुलोदक से देना भी लाभप्रद होता है। इसको जड को अश्विनी नक्षत्र मे उखाडने का विधान है।

४ चातुर्यकारि रस (भे र) मात्रा २ रत्ती। अनुपान चम्पा के पुष्प का रस ३ माशे या शेफाली का स्वरस ३ माशे और मधु ६ माशे। दिन मे दो या तीन वार।

५ पेया—चाङ्गेरी (तिन पतिया) की एक सहस्र पत्तियो को लेकर कषाय वनावे, फिर इस कषाय मे पेया विधि से चावल के कण डाल कर पेया वनावे। इसमे गोघृत डाल कर पिये तो चातुर्थक ज्वर नष्ट होता है।

६ धतूर के कोमल तीन पत्ते, गुड १ तोला और काली मिर्च ५ दाने मिला कर पीस कर गोली जैसा वना ले। ज्वर के आने से दो घटे पूर्व रोगी को खिला देना चाहिये। पीने के लिये उसे पानी नही देना चाहिये। अगर तृषा से अधिक व्याकुल होवे तो उसे दूध दिया जा सकता है। एक दिन के प्रयोग से ज्वर प्राय ठीक हो जाता है।

७ कुटकी मूल को अर्कक्षीर मे भावित करके सेवन करना तृतीय और चातुर्थक दोनो मे लाभ करता है।

धूप—ज्वर के पारी वाले दिन भृगराज स्वरस मे काले किये हुए वस्त्र मे गुग्गुलु और उलूक पक्षी की पाँख को अच्छी तरह से वाँधकर निर्धूम अङ्गारे पर रख देना चाहिये। समीप मे रोगी को वैठा कर उसके धुएँ से रोगी को धूपित करने से ज्वर का नाश होता है।

विषम ज्वर मे दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का माहात्म्य—सभी विषम ज्वरो मे विशेषत तृतीयक तथा चातुर्थिक ज्वर मे आगन्तुक अर्थात् भूतादि का अनुवध पाया जाता है। अस्तु, केवल युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा से लाभ की पूरी आशा नही की जा सकती है उसमे दैवव्यपाश्रय अथवा आधिदैविक चिकित्सा का आश्रय लेना भी अवश्यम्भावी हो जाता है। एतदर्थ मत्रधारण, इष्ट देवता की उपासना, जप, होम, मगल कर्म, औषधि धारण, स्तोत्र पाठ प्रभृति कर्मो को करना चाहिये। सोम का पूजन, विष्णु का पूजन, व्रह्मादि का पूजन लाभप्रद रहता है।[1]

---

१ कर्म साधारण जहयात् तृतीयकचतुर्थकौ। आगन्तुरनुवन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे॥ विष्णु सहस्रमूर्धान चराचरपतिं विभुम्। स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति॥ (चर चि ३)

जब किसी भी युक्ति से विषम ज्वर का अनुबंध नहीं टूटता तो ये उपाय अवश्य रोग को दूर कर सकते है।

विषम ज्वर मे प्रयुक्त होने वाले कुछ योग—१. सप्तपर्णसत्त्वादि वटी—सप्तपर्ण घन सत्त्व १० तोले, कुचीलु घन सत्त्व १० तोले, जेवायन घन सत्त्व १०तोले, करज वीज की गूदी ४० तोले। सबको खरल कर मटर के बराबर की गोली बनाले। मात्रा–१ से २ गोली दिन मे तीन वार या चार वार जल से।

तुवरीमल्ल योग—सफेद फिटकिरी का चूर्ण ६ तोले, शुद्ध सखिया १½ माशे लेकर, तवे पर फिटकिरीका चूर्ण रख उसके मध्य मे संखिया रख कर मद आँच देवे। जब फिटकरी का लावा बन जावे तो तवा को आँच से उतार कर रख लेवे। औषध के शीतल हो जाने पर खरल में घोट लेवे। मात्रा ¼ रत्ती से १ रत्ती तक अनुपात घृत ६ माशे। इसे ज्वर काल मे न देकर निर्ज्वर अवस्था मे देना चाहिये। ज्वर के आने के पूर्व एकमात्रा भी देने से प्राय ज्वर का वेग रुक जाता है। औषध पकाते समय धुंवा वैद्य के मुंह पर नही लगना चाहिये।

० हरीतक्यादि वटी—बडी हरड का छल, शुद्ध सखिया, काली मिर्च तीनो सम भाग लेकर जल से मर्दन करके सरसो के बराबर की गोलियाँ बनाले। ज्वर के उतरने के वाद १-२ गोली गाय के दूध से दे। इसके सेवन से पारी वाला ज्वर उतरता है।[1]

३. सुदर्शन चूर्ण—हरड, बहेरा, आँवला, दारु हल्दी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, कचूर, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, पीपरामूल, मूर्वा, गिलोय, धमासा, कुटकी, पित्तपापडा, नागर मोथा, त्रायमाण, नेत्रवाला, अजवायन, इंद्रयव, भारङ्गीमूल, शिग्रुवीज, आग पर फुलाई हुई फिटकरी, वच, दालचीनी, पद्माख, खस, सफेद चदन, अतीस, वलामूल, सरिवन, पिठवन, वायविडङ्ग, तगर, चित्रक,

---

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्। पूजयन् प्रयत शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्॥
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्र हुतभक्ष हिमाचलम्। गङ्गा मरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयन् जयति ज्वरम्॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणा पूजनेन च। ब्रह्मचर्येण तपसा पुराणश्रवणेन च॥
जपहोमैश्च दानैश्च सत्येन नियमेन च। ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूना दर्शनेन च॥
(भै र)

१ हरीतकीशम्बलवेल्लजाना कुर्याद्वटी वारिणि सर्षपाभाम्।
वेग रुणद्धि प्रथम प्रदत्ता ज्वरस्य वेलेव महाम्बुराशिम्॥
(सिद्धभेषजमणिमाला)

देवदारु, चव्य, पटोल पत्र, कालमेघ, करज के फल की मज्जा, लवङ्ग, वश लोचन, काकोली, कमल, तेज पत्र, जावित्री और तालीश पत्र। सभी द्रव्यो को सम प्रमाण मे लेकर चूर्ण करे। फिर सब चूर्ण का जितना प्रमाण हो उससे आधा चिरायते (किरात) का कपडछान चूर्ण मिलाकर बोतल मे भर ले। मात्रा—३ से ६ माशे। अनुपान-ठडा जल।

उपयोग—सभी ज्वरो में विशेपत. नये या पुराने विपम ज्वरो मे अधिक लाभप्रद योग है। इसका चूर्ण के रूप मे, फाण्ट के रूप मे या हिम के रूप मे भी प्रयोग किया जा सकता है। ज्वर का वेग कम करने के लिये एक उत्तम योग है। सतत ज्वर के रोगियोमे तीन सप्ताह की मियाद पूरी होने पर भी अगर ज्वर का अनुवध न टूटता हो तो इस फाण्ट के उपयोग से उत्तम लाभ होता है।(शा.ध.)

४ **सुदर्शन मिश्रण**—सुदर्शन चूर्ण १० तोला, सोडा वायकार्व २॥ तोला, शुद्ध कुपीलु चूर्ण १ तोला, आग पर फुलाई लाल फिटकिरी १॥ तोला (शुद्ध स्फटिका) अच्छी तरह एकत्र मिलाकर रखले। मात्रा १-३ माशे। अनुपान जल। उपयोग—शीत के साथ आने वाले ज्वर। (सि यो स)

५ **विपमुष्टयादि वटी**—शुद्ध कुचला का चूर्ण और काली मिर्च का चूर्ण सम भाग मे लेकर इन्द्रायण के फल के रस मे भावना देकर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बनावे। मात्रा १-२ गोली। अनुपान शीतल जल। विपम ज्वर, विवध, तथा वात ज्वर मे लाभप्रद।[1]

विपम ज्वर मे पथ्य—विषम ज्वर मे लघन का कोई विशेष महत्त्व नही है। ज्वर काल मे उपवास कराना चाहिये अन्यथा ज्वरमुक्तावस्था मे सुपाच्य और हल्के अन्न की व्यवस्था करनी चाहिये। विषम ज्वर मे मद्य और मास-रसो का प्रयोग विशेपत बतलाया गया है। पथ्य मे अधिक गेहूँ, जौ की रोटी, परवल, वास्तूक, करैले, मूँग, चने की दाल, नीबू, मोसम्मी प्रभृति फल, सूखे मेवे देने चाहिये। माससात्म्य व्यक्तियो मे मुर्गा, तीतर और मयूर का मास खाने को देना चाहिये।

पुनरावर्त्तक ज्वरप्रतिषेध (Relapsing fever)—जिन ज्वरो मे वार वार पुनरावर्त्तन पाया जाता है। उनमे सामान्य विपम ज्वर का उपचार उत्तम रहता है। तिक्त द्रव्यो का उपयोग, गोघृत का उपयोग एव तिक्त द्रव्यो से सिद्ध घृतो का उपयोग करना चाहिये। चरक मे किराततिक्तादि कपाय

---

१ सशोधिताना विपमुष्टिकाना तुल्याशमारीचरजोयुतानाम्।
वटयो विशालाफलवारिबद्धा विबन्धवातज्वरमुद्धरन्ति॥

का सेवन कराने का विधान भी पाया जाता है। यह पुनरावर्तक ज्वर में एक सिद्ध प्रयोग है—

किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता।
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्त्तकं ज्वरः॥

अर्थात् चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्तपापडा और गुडूची को जौकुट कर के २ तोले लेकर ३२ तोले मे खौलाकर ८ तोले शेष रहने पर उतार कर ठंडा कर मधु मिलाकर कुछ दिनो तक पीने से या कई मासो तक अभ्यास कराने से बार बार आवर्त्तन करने वाला ज्वर दूर होता है।

मन्थर ज्वर (Typpoid) प्रतिषेध—आन्त्रिक ज्वर, मन्थर ज्वर या सतत ज्वर एक मर्यादित (मियादी) सन्निपातज ज्वर का ही भेद है। इसमें ज्वर लगातार तीन या चार सप्ताह तक चलकर स्वयं शान्त होता है। इस रोग का विनिश्चय प्राय प्रथम सप्ताह के अनन्तर ही होता है। इस ज्वर में प्राय दो प्रकार के क्रम वाले रोगी मिलते हैं—एक वे जिन मे (विबध) या कब्ज रहता हो दूसरे वे जिनमें अतिसार चल रहा हो। इन दोनो क्रमो में चिकित्सा एवं पथ्य व्यवस्था का भेद करना होता है।

आधुनिक युग मे इस रोग की चिकित्सा मे 'क्लोरेमाईसेटिन' या उस वर्ग की किसी अन्य औषधि का उपयोग होता है—जिस से ज्वर अपेक्षाकृत कुछ शीघ्रता से दूर होता है। तथापि इस में कई दोष भी पाये जाते है—जैसे ज्वर का पुनरावर्त्तन ज्वर के छूट जाने पर पुन. आने की संभावना तथा औषधि की विपाक्तता का कुपरिणाम। आयुर्वेद की चिकित्सा में इन दोनो दोषो से रहित एव निरापद है। इस मे समय कुछ अधिक जरूर लगता है, परन्तु रोग का स्थायी एव चिरकालीन प्रतिकार हो जाता है।

वस्तुत मन्थर ज्वर की चिकित्सा में तीव्र ज्वरघ्न उपचार की आवश्यकता नही पड़ती है, रोगी की शुश्रूषा एवं पथ्य-व्यवस्था इस स्वरूप की की जाती है जिसमे उसे कोई उपद्रव न हो और ज्वर निरुपद्रव अपने काल पर पहुँचकर छूटे। इस काल में फुफ्फुस, हृदय, मुख, आंत्र तथा मस्तिष्कसम्बन्धी उपद्रवो का भय रहता है एतदर्थ जब रोगी चिकित्सा में आवे उसके रोग का विनिश्चय हो जावे तो तत्काल निम्नलिखित क्रम पर रख देना चाहिये। १. पूर्ण विश्राम २. पीने के लिये लवङ्गोदक या षडङ्गपानीय देना चाहिये। ३ सहिजन का कषाय बनाकर रख देना चाहिये उस से बीच-बीच में कुल्ली करते हुए रोगी अपने मुख की सफाई रखे। ४. रोगी को पथ्य मे यदि कब्ज हो तो गाय का दूध, गर्म करके ठंडा होने पर थोड़ा पानी मिलाकर पिलाना चाहिये। थोड़ा मिश्री या ग्लुकोज का

उबाले जल में शर्बत बनाकर रख कर बीच बीच मे पिलाना चाहिये। सूखे फलो मे मुनक्का देना चाहिये। हरे फलो मे सतरा, मोसम्मी और अंगूर देना चाहिये। यदि रोगी में अतिसार, पतले दस्त चल रहे हो तो दूध न देकर दूध को फाड कर उस का पानी पीने को देना, ग्लुकोज या मिश्री का पानी भी दिया जा सकता है। बार्ली वाटर नमकीन बनाकर नीबू का रस डाल कर देना चाहिये। फलो मे हरे फलो के रस—नीबू, मोसम्मी, सतरे का रस—देना चाहिये। बकरी का दूध मिल सके तो रोगी को अधिक अनुकूल पडता है।

औषधि मे—अभ्रक भस्म २ रत्ती
शु टकण २ रत्ती
शुक्ति भस्म २ रत्ती या
मुक्ता भस्म १ रत्ती
मिश्र ४ मात्रा

जायफल, जावित्री और लौंग के चूर्ण प्रत्येक २-२ रत्ती और मधु ६ माशे के साथ। या भुनाजीरा के चूर्ण और मधु से प्रति चार-चार घटे पर।

यदि रोगी दुर्बल हो तो इस योग मे रस सिन्दूर १ रत्ती मिलाकर देना चाहिए। इस योग से रोगी मे ज्वर का क्रम निरुपद्रव चलता रहता है। अपने-अपने मियाद के पूरे होने पर रोगी रोग मुक्त हो जाता है।

योग—यदि इसके स्थान पर कोई योग देने का विचार रहे तो अतिसार युक्त सतत ज्वर मे सिद्ध प्राणेश्वर रस का उपयोग ४ रत्ती की मात्रा मे प्रति छै घटे पर दिन में तीन बार भूने जीरा के चूर्ण एव मधु के अनुपान से देना उत्तम रहता है। यदि रोगी मे विवन्ध हो तो सौभाग्यवटी उपयोग करना चाहिये। सन्निपाताधिकार का यह उत्तम एव सिद्ध योग है जो मन्थर ज्वर मे अव्यर्थ सिद्ध होता है।

सौभाग्यवटी—शुद्ध सुहागा, शुद्ध वत्सनाभ, श्वेत जीरक, सैधव, रुचक, विड, औद्भिद और सामुद्र (पाँचो लवण), त्रिकटु, त्रिफला, अभ्रक भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गधक समभाग। प्रथम पारद एव गधक की कज्जली बनाकर अन्य द्रव्यो के महीन चूर्णों को मिलाकर निम्नलिखित द्रव्यो के कषाय से सात सात भावना दे। श्वेतपुष्पा निर्गुण्डी, नीलपुष्पा निर्गुण्डी, भृगराज, अडूसा, अपामार्ग। फिर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनाकर सुखाकर रख ले। अनुपान—अदरक का रस, तुलसी का रस, जायफल एव जावित्री के चूर्ण, ७-१ लौग के पानी से दे।

कस्तूरी भैरव रस (लघु)—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वचछनाग, शुद्ध टकण, जायफल, जावित्री, कस्तूरी और कपूर सम भाग। पान के रस मे मर्दन कर १-१ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया मे सुखाकर रख ले।

बृहत् कस्तूरीभैरव रस—कस्तूरी, कपूर, ताम्रभस्म, धाय के फूल, केंवाच के बीज, रौप्य भस्म, सुवर्ण भस्म, मुक्ता पिष्टि, प्रवाल भस्म, लौह भस्म, पाठा, वाय विडङ्ग, नागर मोथा, सोंठ, खस, शुद्ध हरताल, माणिक्य रस, अभ्र भस्म एवं आंवला सब द्रव्य सम भाग ले। मदार के पत्र स्वरस में तीन दिन मर्दन करके २–२रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा–१ गोली दिन में तीन बार। अनुपान पान के रस और मधु से।

उपयोग—उपर्युक्त दोनो योगो का सभी प्रकार के सन्निपात ज्वरो में उपयोग करे। विशेषत. मंथर ज्वर में दूसरे सप्ताह के अंत और तीसरे सप्ताह के प्रारम मे इसका प्रयोग करे। यह अमृत तुल्य गुणकारी योग है। शरीर का ठडा पडना, नाडी की क्षीणता, अधिक पसीना आना, प्रलाप, तंद्रा, हृदौर्बल्य, श्वास कृच्छ्र आदि उपद्रवो मे सद्यो लाभ प्रद रहता है। अनुपान रूप में यथावश्यक अदरक, पान, वासा, लवङ्ग, ब्राह्मी, जटा मासी, तगर, शंखपुष्पी इनमें से किसी एक के अनुपान मे दे। सूतिका रोग मे देवदार्वादि कषाय (भै र॰ प्रदर रोग) के अनुपान से इसका उपयोग करे।

यदि इस ज्वर के रोगी में प्रलाप बहुत हो अथवा दूसरे सान्निपातिक ज्वर में भी प्रलापाधिक्य पाया जावे तो बृहत् कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग करना चाहिये। वात रोगाधिकार में पठित रसराज, योगेन्द्र, बृहद्वात चिन्तामणि रस, कृष्ण चतुर्मुख या चतुर्भुज का भी यथालाभ एक या एकाधिक का उपयोग लाभ-प्रद रहता है। इन योगो के अनुपान रूप में निम्नलिखित कषाय का प्रयोग निश्चित लाभप्रद रहता है —

तगरादि क्वाथ—तगर (सुगन्धबाला), पित्तपापडा, अमलताश का गूदा, नागरमोथा, कुटकी, जटामासी (बालछड), असगंध, ब्राह्मी, मुनक्का, लाल चन्दन, दशमूल (सरिवन, पिठवन, गोखरू, भटकटैया, बडी कटेरी, बेल, गाम्भारी, अरणी, सोनापाठा, पाढलमूल) और शंखपुष्पी। इन सभी द्रव्यो को सम भाग लेकर जौकुट करे। १ तोले द्रव्य को १६ तोले जल में खौलावे, ४ तोला शेष रहे तो कपडे मे छान कर देवे। यदि रोगी को पतले दस्त आते हो तो इसमें से कुटकी, अमलताश और मुनक्का निकाल कर इसका प्रयोग करे।[1]

---

१ सतगरवरतिक्ता रेवताम्भोदतिक्ता नलदतुरगगंधाभारतीहारहूरा.।
मलयजदशमूलीशंखपुष्प्य सुपीताः प्रलपनमपहन्यु. पानतो नातिदूरात् ॥
(त्रिशती)

यदि मियाद पूरी हो जाने के बाद भी मन्थर ज्वर न टूट रहा हो तो उसमे कफ का उपद्रव (Lung complication) की सभावना रहती है अस्तु तदनुकूल ज्वरार्यभ्र, रससिन्दूर, शृ ग भस्म आदि का योग औषधि एव अनुपान मे करना चाहिये। कई बार विषम ज्वर का अनुबध भी ज्वर को टूटने नही देता है। उस अवस्था मे सुदर्शन चूर्ण (विषम ज्वर मे प्रोक्त) का फाण्ट बनाकर औषधि के सहपान रूप मे देना चाहिये। एतदर्थ सुदर्शन चूर्ण ३ माशे लेकर खोलते पानी मे चाय जैसे बना लेना चाहिये और छानकर कई बार प्रधान औषधि के अनुपान रूप मे देना चाहिये।

यदि ज्वर काल मे विबध हो तो 'ग्लिसरीन सपाजिटरी' (गुदवर्त्ति), या ग्लिसरीन सिरिञ्ज १ औंस ग्लिसरी गुदा मे चढाकर कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये। कई में लवण जल की स्थापन वस्ति (Enema) देने की भी आवश्यकता पड़ती है। भरसक कोई रेचक औषधि मुख से न देकर मुनक्का, अजीर, गुलकर, अगूर आदि खिलाकर ही रोगी की कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये। यदि रेचक देना ही हो तो अमलतास की गुद्दी औषधि के अनुपान रूप मे देने से कार्य हो जाता है।

तीन सप्ताह के अनन्तर रोग का क्रम चलता रहे तो रोगी को हल्का सुपाच्य पथ्य देते हुए जीर्ण ज्वरवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

पंचम अध्याय

जीर्ण ज्वर प्रतिषेध

तीन सप्ताह के बाद जो ज्वर गम्भीर धातुओ मे प्रविष्ट होकर मंद हो जाता है और जिसमे प्लीहावृद्धि या यकृत्वृद्धि हो जाती है, अग्नि मद हो जाती है उसे जीर्ण ज्वर कहते हैं।[1]

क्रियाक्रम—चिकित्सा सूत्र—क्षीर—जीर्ण ज्वर मे कफ के क्षीण हो जाने पर दूध अमृत के समान विशेष गुणकारी होता है। गोदुग्ध के अतिरिक्त बकरी

१ त्रिसप्ताहाद् व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत ।
प्लीहाग्निसाद कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

के दूध का भी प्रयोग किया जा सकता है। यदि ये दोनों दूध उपलब्ध न हों तो भैंस का दूध भी पानी मिलाकर हल्का करके लिया जा सकता है। दूध का प्रयोग गर्म या गर्म करके ठंढा किया हुआ (शृतशीत) अथवा धारोष्ण अथवा औषधि से सिद्ध करके किया जा सकता है।

क्षीर सर्व प्रकार के जीर्ण ज्वरों का प्रशमन करता है। इस लिये प्रतिदिन मन्दोष्ण, शीत तथा औषधि से पकाकर उसके देने की व्यवस्था करनी चाहिये। क्षीर के पाक की विधि यह है कि द्रव्य से आठगुना दूध और दूध से चार गुना पानी छोड कर दूध को पकावे, जब पानी जल जावे, दूध मात्र ही शेष रहे तो उतार ले, और औषधि को छान करके दूध पीने के लिये रोगी को दे। इस प्रकार पचमूल से, त्रिकंटक बला-कटकारी-गुड और सोठ से पकाकर अथवा पुनर्नवा से पाक करके देना चाहिये।[२]

घृत—जब ज्वर लघन, पेया, कषायादि के प्रयोग से शान्त नही होता है तब उस रूक्ष रोगी के लिये औषधिसिद्ध घृत अथवा केवल गोघृत का उपयोग पिलाने के लिये करना चाहिये क्योकि ज्वर को उत्पन्न करने वाली ऊष्मा रूक्ष गुण वाली होती है और उस ऊष्मा (ताप) के अधिक काल तक रहने से रोगी के शरीर मे रूक्षता आ जाती है जो कफ और रस-रक्तादि के क्षीण होने से वायु की वृद्धि में कारण होती है। अत ज्वर के अनुबंध स्वरूप उस वायु को शान्त करने के लिये स्नेह का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। अतएव पुराने ज्वरो घृत का सेवन कराना चाहिये। वाग्भट ने महस्रधौत घृत का अभ्यंग जीर्ण ज्वर मे दाह की अवस्था मे बतलाया है "दाहे सहस्रधौतेन सर्पिषाऽभ्यङ्गमाचरेत् ।"

ज्वराधिकार मे पठित विविध कषाय एव चूर्ण का प्रयोग घृत मिश्रित करके जीर्ण ज्वर मे किया जा सकता है। इससे ज्वर का शमन होता है, जाठराग्नि दीप्त होती है और बल की वृद्धि होती है। पिप्पल्यादिघृत—पिप्पली, चंदन, मुस्तक, खस, कुटकी, इन्द्रजौ, भूम्यामलकी, अनन्त मूल, अतीस, शालपर्णी, मुनक्का, आँवला, निम्बपत्र, त्रायमाणा और कंटकारी से सिद्ध घृत। मात्रा १ तोला दिन मे

---

२. जीर्णज्वरे कफे क्षीणे क्षीरं स्यादमृतोपमम् । पेयं तदुष्ण शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ॥ चतुर्गुणेनाम्भसा च शृतं ज्वरहर पयः । धारोष्ण वा पय शीतं पीतं जीर्णज्वर जयेत् ॥ जीर्णज्वराणा सर्वेषा पयः प्रशमन परम् । पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वमौषधैः शृतम् ॥ (च)

तीन-चार जल, दूध या ज्वरनाशक किसी क्वाथ से इसी प्रकार गुडूच्यादि घृत का प्रयोग परम लाभप्रद होता है।[1]

अनुवासन—ज्वर की पुराण या जीर्णावस्था मे जब कफ एव पित्त क्षीण हो गये हो, अग्नि प्रवल हो, रोगी का पाखाना रूक्ष और वद्ध (गाँठदार) हो गया हो तो अनुवासन देना चाहिये।[2] सिद्धि स्थान मे चरक मे वहुत से अनुवासन वस्तियों का उल्लेख है उनमें से किसी एक का जो ज्वरघ्न हो उपयोग करना चाहिये। अष्टाङ्ग हृदयकार ने एक ज्वरघ्न अनुवासन वस्ति का सामान्य उपदेश किया है। वह इस प्रकार का है—जीवन्ती, मैनफल, मेदा, पिप्पली, मधुयष्टि, वच, ऋद्धि, रास्ना, वला, विल्व, शतपुष्पा, शतावरी इन सब द्रव्यो को सम मात्रा में लेकर पीसकर—दूध, जल, तैल और घी मिलाकर सिद्ध करे। इसमे दूध का चार भाग, जल का चार भाग, घी और तैल का एक-एक भाग होना चाहिये और द्रव्य का कल्क आधा भाग होना चाहिये। इस प्रकार सिद्ध किये स्नेह का गुदा मार्ग से वस्ति द्वारा प्रवेश कराना चाहिये।

ऊर्ध्व विरेचन या शिरोरेचन—जीर्ण ज्वर मे शोधन के लिये विरेचन नस्य देना चाहिये। इससे सिर का दर्द, गुरुता (भारीपन) एव कफ नष्ट होता है, अन्न मे रुचि पैदा होती है, इन्द्रिया चैतन्य युक्त और प्रसन्न होती है। शून्य सिर (खाली सिर) मे स्निग्ध नस्य देना चाहिये।[3]

अभ्यग तथा परिषेक—शीत और उष्ण उपचार की विवेचना करते हुए औषधि से सिद्ध तैलो का अभ्यग, प्रदेह (लेप), परिषेक (Sponging) तथा अवगाहन (जल, दूध या सिद्ध तैल से भरे पात्र मे डुबकी लगाकर स्नान)

---

१ ज्वरा कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः। रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषा भिषग्जितम्॥ रूक्ष तेजोज्वरकर तेजसा रूक्षितस्य च। य स्यादनुवलो धातु स्नेहसाध्य न चानिल॥ कषाया सर्व एवैते सर्पिषा सहयोजिता। प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसधुक्षणा शिवा॥

गुडूच्या क्वाथकल्काभ्या त्रिफलाया वृषस्य च।
मृद्वीकाया वलायाश्च सिद्धा स्नेहा ज्वरच्छिद॥ (भै)

२ ज्वरे पुराणे सक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये। रूक्षवद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्॥ (च)

३ गौरवे शिरस शूले विवद्धेष्विन्द्रियेषु च।
जीर्णज्वरे रुचिकर दद्यान्मूर्धविरेचनम्। (चर)
शिरोरुग्गौरवश्लेष्महरमिन्द्रियवोधनम्।
जीर्णज्वरे रुचिकर दद्यान्नस्य विरेचनम्। स्नैहिक शून्यशिरस॥ (वा)

अवस्थानुसार यथायोग्य जीर्ण ज्वर के रोगियो मे कराना चाहिये। इस प्रयोग से तीन लाभ होते है–(क) बहिर्मार्गगत (त्वचा गत) ज्वर का शमन होता है। (ख) शरीर के अगो को सुख मिलता है और बल बढता है। त्वचा से इन स्नेहो का शोषण होकर कई पोषक तत्त्वो की प्राप्ति (Vit A D specially) होती है, शरीर पुष्ट होता है। (ग) त्वचा का रक्षण होने से जो वर्ण विकृत हो गया रहता है वह प्राकृतावस्था में आ जाता है। वास्तव मे लम्बी अवधि तक उपवासादि के कारण जीर्ण ज्वर में सभी तन्तु बुभुक्षित रहते है–इन क्रियाओ से इन बुभुक्षित तन्तुवो का शीघ्रता से आप्यायन होता है, जिससे बल बढता है।[1]

जीर्ण ज्वरो मे लाक्षादि तैल, महालाक्षादि तैल, चदनादि तैल, अगुर्वादि तैल अथवा षट्कट्वर तैल या चन्दनबला लाक्षादि तैल की मालिश पूरे शरीर भर मे हल्के हाथो मे करनी चाहिये। इन तैलो के लिये शोषण के पर्याप्त अवसर दो-तीन घण्टे का देना चाहिये। पश्चात् रोगी बहुत क्षीण न हो तो गर्म पानी मे तौलिये को भिगो कर निचोड़ कर पोछ देना चाहिये। इन तैलो के प्रयोग के सम्बन्ध में थोडा विचार अपेक्षित रहता है। जैसे यदि रोगी को जाडा बहुत लगता हो तो उसे उष्ण द्रव्यो से सिद्ध तैल का अभ्यग जैसे अङ्गारक तैल (शा. स.) या अगुर्वादि तैल (चर) का अभ्यग कराना चाहिये। यदि दाहादि लक्षण मिलें तो चंदनादि तैल (चर) या लाक्षादि या चंदनबला लाक्षादि तैल (भै. र) का अभ्यग कराना चाहिये।[2]

धूपन—नव ज्वर तथा जीर्ण ज्वर इन दोनो अवस्थाओ मे धूपन का उपयोग किया जा सकता है। परन्तु जीर्ण ज्वर में यह विशेष लाभप्रद पाया गया है। इस क्रिया के द्वारा त्वचागत ज्वर स्वेद के द्वारा उतर जाता है। अष्टाङ्ग धूप, अपराजित धूप तथा माहेश्वर धूप के नाम मे कई पाठ भैषज्यरत्नावली में पाये जाते है। इन मे से किसी एक का प्रयोग रोगी के शरीर के धूपन के लिये करना चाहिये। धूपन के अनन्तर पसीना बहुत आता है, उसको सूखे वस्त्र से पोछ देना चाहिये फिर उसको ठडा हवा के झोंके आदि मे रक्षा करनी चाहिये।

---

१ अभ्यङ्गाश्च प्रदेहाश्च परिषेकावगाहने। विभज्य शीतोष्णकृत कुर्याज्जीर्णज्वरे भिषक्॥ तैराशु प्रशम याति बहिर्मार्गगतो ज्वर। लभन्ते सुखमङ्गानि बल वर्णश्च वर्द्धते॥ (च)

२ लाजामधुकमञ्जिष्ठामूर्वाचन्दनसारिवा।
तैलं षट्कट्वरं नाम ह्यभ्यङ्गाज्ज्वरनाशनम्॥
लाक्षाहरिद्रामञ्जिष्ठाकल्कैस्तैलं विपाचितम्।
षड्गुणेनारनालेन दाहशीतज्वरापहम्॥

अजन—यदि क्षीर, घृत, अभ्यगादि विविध प्रयोगो के करने पर भी ज्वर का शमन नही हो रहा है तो उसमे आगन्तुक का अनुबध (भूतानुवध या प्रेतानुवध) समझना चाहिये और एतदर्थ उस रोगी में अंजन का प्रयोग करना चाहिये। अजन के कई पाठ सन्निपात ज्वर के प्रसग मे आते है—जैसे अजन भैरव रस। इसका अजन लगाने से ज्वर की शान्ति होती है।[1]

वमन विरेचन का निषेध—ज्वर से क्षीण हुए जीर्ण ज्वर के रोगो मे पर्याप्त धातुओ का नाश हो गया रहता है। सर्व धातुक्षय से युक्त रोगी का मल ही वल होता है। अस्तु इस मल को निकालने के लिये कदापि वमन और विरेचन नही देना चाहिये। उसको पर्याप्त मात्रा मे गाय का दूध, मुनक्का देना चाहिये, इसी से पेट साफ हो जाता है। यदि बहुत कब्ज हो तो निरूहण क्रिया से अर्थात् गिलसरीन की वत्ती (Glycerine suppositery), गिलसरीन की पिचकारी (Grlycerine Syringe) से एक या दो औंस गिलसरीन पाखाने के रास्ते से चढाकर, या सेलाइन या सोप वाटर एनीमा (नमक या साबुन का पानी गुदा मार्ग से चढा कर) या दशमूल कषाय की वस्ति देकर कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी चाहिये। यदि मृदुरेचन देना हो तो गुलकद, मुनक्का, मुलेठी या अमलताश की गुद्दी मात्रा से खिला कर पेट को साफ करा देना चाहिये।

निरूहण की क्रिया से ज्वर कम होता है, रोगी के वल एव अग्नि की रक्षा होती है और अन्न मे रुचि जागृत होती है।[2]

जीर्ण ज्वर में योग—१ संशमनी वटी (गुडूची घन वटी)—अगूठे जैसे मोटी गिलोय को लेकर, पानी से धोकर चार-चार अगुल के टुकडे काट ले। फिर एक कलईदार पीतल के कडाहे मे या लोहे के कडाहे मे चतुर्गुण जल मे खौलावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले। फिर इस द्रव को कलईदार कडाहे मे डाल कर अग्नि पर चढावे। जब द्रव गाढा हो कर हलवे जैसा हो जावे तो

---

१ धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वरा शमम्।
त्वङ्मात्रशेषा येषाञ्च भवत्यागन्तुरन्वय। (च)
पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठ हरीतकी।
सयवा सर्षपा सर्पिर्धूपन ज्वरनाशनम्॥ (भै)

२ ज्वरक्षीणस्य न हित वमन न विरेचनम्।
काम तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान्॥
निरूहो वलमग्निञ्च विज्वरत्व मुद रुचिम्।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्त शीघ्रमावहेत्॥ (च)

१-१ रत्ती की गोली बना ले। मात्रा एवं अनुपान १ से २० गोली तक। दिन में चार-पाँच बार जल के साथ दे। किसी भी जीर्ण ज्वर में इसका निःशंक प्रयोग किया जा सकता है। राजयक्ष्मा के ज्वर में इसका उपयोग अच्छा होता है। प्रमेह, जीर्ण ज्वर, मन्दाग्नि, दौर्बल्य और पाण्डु रोग में इसके प्रयोग से अच्छा लाभ होता है। यह एक कल्प एवं रसायन योग है। (सि. यो. सं.)

२. मकरामृत योग—मकरध्वज १ रत्ती और गुडूची सत्त्व १ माशा मिश्रित १ मात्रा। इस योग का उपयोग अत्युच्च तापक्रम (Hiper pyrexia) में एक-एक घंटे के अंतर से देने से तापक्रम एक–दो अंश कम हो जाता है। रोगी की खतरे से रक्षा होती है। दूसरा प्रयोग इस योग का जीर्ण ज्वर में उत्तम होता है। दीर्घकालीन ज्वर जो विविध योगों के सेवन से ठीक न हो रहा हो इसके कुछ ही दिनों के उपयोग से उसमें सुधार होता है। अनुपान मधु या घृत एवं मिश्री के साथ। दिन में दो या तीन मात्रा देनी चाहिये। इसके योग में मकरध्वज के स्थान पर अन्य कूपीपक्व रसायन जैसे रस-सिन्दूर या स्वर्ण-सिन्दूर भी मिलाया जा सकता है।

३. वसन्त मालती—सुवर्ण भस्म या सोने के वरक १ तोला, मोती की पिष्टि २ तोला, शुद्ध हिंगुल ३ तोला, काली मिर्च का कपडछन चूर्ण ४ तोला, शुद्ध खपरिया या जसद भस्म ८ तोला। गाय के दूध या छाछ से (२ तोले दूध से निकाले) एक दिन तक मर्दन करे। फिर कागजी नीबू के रस की भावना तब तक दे जब तक उसकी चिकनाई न दूर हो जावे। सामान्यतः मक्खन की चिकनाई दूर करने के लिये लगभग १०० निम्बुओं की आवश्यकता होती है। फिर १–२ रत्ती की गोली बना ले। मात्रा १–२ गोली प्रातः साथ पिप्पली चूर्ण २ रत्ती मधु या घृत के साथ। यह योग जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा तथा ज्वर दौर्बल्य में लाभप्रद है।

४. पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह—प्रथम पारद एवं गंधक १-१ तोला लेकर कज्जली करे। फिर इसकी पर्पटी बनावे। पीछे खरल कर मर्दन करे। फिर सूक्ष्म चूर्ण होने पर उसमें सुवर्ण भस्म ½ तोला, लौह भस्म २ तोला, ताम्र एवं लौह भस्म प्रत्येक २ तोला, शुद्ध सोहागा, शुद्ध सोना गेरू, वंग भस्म, प्रवाल भस्म प्रत्येक ½ तोला, मुक्तापिष्टि, शंख भस्म और शुक्ति भस्म प्रत्येक ½ तोला। सब को एकत्र करके तम्बाकू की पत्ती, धतूरे की पत्ती एवं कालमेघ की पत्ती के स्वरस से एक-एक दिन तक भावित करके द्रव्य को सीपी के दो टुकड़ों के भीतर सम्पुट करके उसके ऊपर कपड़मिट्टी कर निर्धूम अङ्गारे (निर्धूम कण्डे की अग्नि) पर पाक करे। जब वे लाल हो जावें तो आग से

निकाल कर ठडा करे। सम्पुट को खोल कर द्रव्य को पीस कर रख ले। मात्रा १-२ रत्ती अनुपान-भनेजीरे का चूर्ण १ माशा और मधु। जीर्ण ज्वर, पाण्डु रोग, प्रमेह में लाभप्रद। यह बल्य एव रसायन योग है।

५ अपूर्व मालिनी वसन्त—(प्रमेहाधिकार) जीर्ण ज्वर मे यह भी एक लाभप्रद योग है।

जीर्ण ज्वर में व्यवस्था पत्र—स्वर्ण वसन्त मालती १-२ रत्ती, शिलाजत्वादि या चदनादि या यक्ष्मादि या सर्वज्वरहर लौह ३ रत्ती, त्रिवग भस्म १-२ रत्ती, प्रवाल १-२ रत्ती, शृङ्ग भस्म १-२ रत्ती, गुडूची सत्व १-- माशा, सितोपलादि चूर्ण ३-४ माशे मिलाकर पीस कर तीन मात्रा बनाले, अनुपान—घृत और मधु या केवल मधु, दिन मे तीन वार। द्राक्षारिष्ट, अश्वगधारिष्ट, बलारिष्ट या दशमूलारिष्ट भोजन के बाद २ चम्मच दवा एव बराबर पानी मिला कर। चद्रप्रभावटी (अर्श या प्रमेहाधिकार) १ गोली रात मे सोते वक्त दूध से। चदनबलालाक्षादि तैल, लाक्षादि तैल या महालाक्षादि तैल का पूरे शरीर पर अभ्यग कराना चाहिये। सिर पर हिमाशु तैल का अभ्यग कराना चाहिये। इस व्यवस्था से सभी जीर्ण ज्वरो मे विशेषत. राजयक्ष्मा के ज्वरो मे सुन्दर लाभ देखने को मिलना है।

☆

षष्ठ अध्याय

ज्वरातिसार प्रतिषेध

"यदि पित्तज ज्वर मे अतिसार हो जाय अथवा अतिसार के रोगी मे ज्वर हो जाय ऐसी अवस्था मे दोष और दूष्य (पित्त दोष, पित्तरूप अग्नि दूष्य) इन दोनो के समान होने के कारण आयुर्वेदज्ञो ने इस रोग को ज्वरातिसार की सज्ञा दी है।"[1] ज्वरातिसार मे ज्वर और पुरीष का अतिसरण ये दो ही प्रमुख लक्षण पाये जाते है। इन दोनो की उत्पत्ति मे आम दोष ही कारण के रूप मे होता है। यह आम दोष अग्नि का विनाश करके ज्वरातिसार रोग पैदा करता है।

ज्वरातिसार की उत्पत्ति मे पित्त का प्रकोप होना प्रधान कारण माना गया है और उसीसे आम दोष की वृद्धि हो कर रोग पैदा होता है। ऐसी अवस्था मे शका यह होती है कि पित्त साक्षाद् अग्नि स्वरूप है और आग्नेय गुण से युक्त होना है तो उसका वृद्धि से अग्निनाश क्यो कर होता है तथा आमदोषता रस मे कैसे आ सकती है? इस शका का समाधान यह है कि पित्त आग्नेयगुणभूयिष्ठ होते

---

१ पित्तज्वरे पित्तभवेऽतिसारे तथाऽतिसारे यदि वा ज्वर स्यात्। दोषस्य दूष्यस्य च साम्यभावात् ज्वरातिसार कथित भिषग्भि ॥

हुए भी द्रव स्वरूप का होता है अस्तु वह अग्नि का नाश कर कर देता है। जैसे द्रव स्वरूप प्रतप्त जल अत्युष्ण होने से अग्नि पर छोडे जाने पर अग्नि को बुझा देता है। अब इस बढे पित्त मे पाचकाग्नि मद पड जाती है या बुझ जाती है। फलत आम दोष बढता है और ज्वरातिसार उत्पन्न हो जाता है। अस्तु चिकित्सा में लंघन-पाचन का कर्म श्रेष्ठ रहता है।

क्रिया क्रम—१ ज्वरातिसार मे प्रारंभ मे लंघन और पाचन आम दोषो की प्रबलता को कम करने के लिये करना चाहिये। २ ज्वर और अतिसार की जो भिन्न भिन्न चिकित्सा कही गई है उन्ही दोनो क्रियाक्रमो के मिलित योगो का ज्वरातिसार की चिकित्सा मे प्रयोग नही करना चाहिये क्योकि मिलित उपक्रम प्राय एक दूसरे के विरुद्ध पडते है और रोग को बढा देते है। जैसे, प्राय ज्वर-हर औषधियाँ भेदक होती है फलत ज्वरातिसार के रोगी मे प्रयुक्त होकर अतिसार को बढा देंगी और अतिसार रोग मे पठित औषधियाँ प्राय. ग्राही या स्तंभक होती है जो ज्वरातिसार मे प्रयुक्त होकर अतिसार का निग्रह करके ज्वर को बढा देगी। अस्तु ज्वरातिसार की चिकित्सा मे विशिष्ट उपक्रमो को लेकर चलना पड़ता है। जिसमें ज्वर तथा अतिसार दोनो के लक्षणो का साथ साथ शमन होता चले।[1] सज्वर प्रवाहिका मे भी ज्वरातिसारवत् ही क्रियाक्रम रखना चाहिये।

३ पेया—लंघन करने के पश्चात् ज्वरातिसार में पेयादि का क्रम हितकारी होता है। अत पृष्ठपर्णी, बला, बिल्व के फलका गूदा, सोठ, कमल पत्र, धनियाँ इनको समभाग में लेकर एक तोला की मात्रा में लेकर बत्तीस तोले पानी मे पकाकर आधा शेष रहने पर उतार कर छान ले। फिर इस पानी मे धान्य लाज या तण्डुल का कण डाल कर पेया बना कर उसमें थोडा अनार का रस या (अनारदाने का रस) मिलाकर रोगी को पीने को दे।

४ नागरादि कषाय—नागर (सुठी), अतीस, मुस्तक, अमृता, चिरायता, कुटज की छाल का कषाय—ज्वरातिसार का शामक होता है।

५ इन्द्रयव, देवदारु, कुटकी और गज-पीपल अथवा गोक्षुर, पिप्पली, धान्यक, बेल की मज्जा, पाठा, तथा अजवायन का क्वाथ—ज्वरातिसार एवं दाह का शामक होता है।

---

१. ज्वरातिसारिणामादौ कुर्यात् लङ्घनपाचने। प्रायस्तावामसम्बन्धं विना न भवतो यत ॥ ज्वरातिसारिणा प्रोक्तं भेषज यत् पृथक्-पृथक्। न तन्मिलितयोः कार्यमन्योऽन्यं वर्द्धयेद्यत. ॥ प्रायो ज्वरहरं भेदि स्तम्भनं त्वतिसारनुत्। अतोऽन्योऽन्यविरुद्धत्वाद् वर्धनं तत् परस्परम् ॥ ज्वरातिसारे पेयादिक्रम स्याल्लङ्घिते हित.।

६ कलिङ्गादि गुटिका—इन्द्रजव, नीम की छाल, बेल के फल की गूदी, आम की गुठली, कैथ का गूदा, रसाञ्जन, लाक्षा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, नेत्रवाला, कायफर, सोना पाठा, लोध, मोचरस, शख भस्म, धाय का पुष्प, वटाङ्कुर इन द्रव्यो को सम परिमाण में लेकर तण्डुलोदक मे पीस कर ३ माशे की गुटिका बना कर छाया मे सुखाकर रख ले। जल से १-१ गोली दिन मे तीन बार या चार बार दे तो ज्वरातिसार तथा रक्तस्राव मे लाभप्रद होता है।

रसयोग चिकित्सा—सिद्ध प्राणेश्वर रस —शुद्ध गधक ४ भाग, पारद ४ भाग, अभ्रक भस्म ४ भाग, सर्जिक्षार १ भाग, शुद्ध टकण १ भाग, यवक्षार, १ भाग, सैन्धव लवण १ भाग, रुचक लवण १ भाग, विड्लवण १ भाग, औद्भिद लवण १ भाग, सामुद्रलवण १ भाग, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, शुठी, मरिच, पिप्पली, श्वेत जीरा, स्याह जीरा, चित्रक की जड, यमानी, घृतभर्जित हीग, वायविडङ्ग, विजैसार और सौफ मे से प्रत्येक एक एक भाग। मात्रा—४ रत्ती से १ माशे। अनुपान—पान के रस के साथ।

कनकसुन्दर रस—हिंगुल, मरिच, गधक, टकण, पिप्पली, वत्सनाभ।

धतूर का बीज—समपरिमाण मे लेकर विजया-स्वरस मे भावित कर २ रत्ती की गोली निर्माण करे। अनुपान—भृष्ट जीरक + मधु।

आनन्दभैरव रस—शुद्ध हिंगुल, वत्सनाभ, सोठ, मरिच, पिप्पली, शुद्ध टकण, गधक। इन्हे सम भाग ले। प्रथम हिंगुल एव गधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यो को मिला दे। जम्बीरी नीबू के रस से भावित कर १-२ रत्ती की गोली बना ले। छाया मे सुखाकर शीशी मे रख ले। अनुपान–अदरक के रस और मधु से या भुनाजीरा के चूर्ण और मधु मे।

ज्वरातिसार मे उपवास करना अधिक उत्तम रहता है तथापि पाचनार्थ एव पोषणार्थ पथ्य— पूर्वकथित पेया का उपयोग करे। बार्लीवाटर नमकीन बनाकर नीबू का रस डाल कर पिलावे। अनार या बेदाने का रस पिलावे। बकरी का दूध पीने को दे।

सप्तम अध्याय

अतिसार प्रतिषेध

अग्निमाद्य होने से बढे हुए द्रव धातु से युक्त मल वायु से प्रेरित होकर जब गुदामार्ग से बार बार निकलता है तो उसे अतिसार कहते है। यह कारण

भेद से वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मज, त्रिदोषज, शोकज और आमज छ प्रकार का होता है।

क्रियाक्रम—अतिसार की चिकित्सा में सर्वप्रथम विचार यह करना होता है कि इसमें आमदोष युक्त है या पक्व। अस्तु चिकित्सक के लिए दोनो प्रकार के लक्षण एवं चिह्नो से अवगत होना आवश्यक होता है क्योंकि दोनो अवस्थाओ में क्रियाक्रम का पर्याप्त भेद करना पड़ता है। जैसे, आमातिसार की अवस्था में स्तंभन या ग्राही योगों को नहीं दिया जाता है, केवल लंघन और पाचन प्रभृति उपचारो से ठीक करना पड़ता है, परन्तु पक्वातिसार की अवस्था में रोगी में सग्राही औषधि का योग आवश्यक हो जाता है। अतएव सर्वप्रथम आम और पक्व की जानकारी आवश्यक हो जाती है।

आम और पक्व शब्द एक पारिभाषिक अर्थ में शास्त्र व्यवहृत होता है। अतिसार में आमावस्था अतस्थविष (Internal toxins) के अर्थ मे और पक्वावस्था निर्गत अतस्थ विष के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। तथापि आम और निराम के विनिश्चय के लिये कुछ लक्षण तथा चिह्न निर्धारित हैं। जैसे—

अतिसार में आम तथा पक्व मल का भेद—१ आमदोष युक्त विष्ठा गुरु होने के कारण जल में डालने से डूब जाती है तथा पक्वातिसार या पक्व-मल युक्त अतिसार मे मल के परिपक्व होने की वजह से लघु होने से जल में डालने से उसपर तैरती है। परन्तु कई बार आम दोष युक्त मल में भी जलीयाश अधिक होने से वह जल में मिलकर तैरता है और पक्व मल अधिक कफ युक्त, शीत, और घना होने के कारण पानी में डूब जाता है। इसलिये लक्षण के अनुसार भी आम-पक्व की परीक्षा कर लेनी चाहिये। जैसे—२ अतिसार की आमावस्था में जो पुरीष निकलता है उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध होती है, उदर में आटोप (गुड़ गुड़ शब्द होता है, पेट फूला आध्मान युक्त) रहता है, पेट मे अर्ति (सुई चुभोने जैसी वेदना), हृल्लास और कफ का मुख से स्राव प्रभृति लक्षण मिलते हैं। इन लक्षणो के अभाव में या विपरीत लक्षणों की उपस्थिति में निरामता या पक्वता समझनी चाहिये।[1]

---

१ आमपक्वक्रम हित्वा नातिसारे क्रिया यत । अत. सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम् ॥ मज्जत्यामं गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनातिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥ शकृद् दुर्गन्धि साटोपविष्टंभार्त्तिप्रसेकिन । विपरीतं निरामं तु कफात् पक्वं च मज्जति ॥

वस्तुत शरीर मे किसी भी प्रकार की विषमयता (toxaemia) के उत्पन्न होने पर उसको दूर करने के लिये अतिसार एक प्राकृतिक साधन है। पतले दस्त होने से शरीर से बहुत प्रकार के विष निकल जाते है, शरीर का शोधन हो जाता है। इसको प्रारम्भ मे ही बद कर देने से या अतिसार के रोकने से शरीर के भीतर आम दोष या अन्तस्थ विष अधिक मात्रा मे बढ कर शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, गुल्म ज्वर, दण्डक, अलसक, आध्मान, ग्रहणी और अर्श प्रभृति बहुत से रोग या उपद्रव को पैदा करता है, अस्तु प्रारभ मे अर्थात् आमदोष की दशा मे अतिसार का स्तभन नही करना चाहिये। परन्तु शरीर के आम या अन्तस्थ विष के निकल जाने के अनन्तर ग्राही औषधियो का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है क्यो कि अतिसार मे मल के निकलने के साथ ही साथ द्रव धातु (जल), लवण और क्षार धातु का भी सरण होता है। जिसके परिणाम स्वरूप जलाल्पता या द्रवधातुक्षय (Dehydration) हो कर रोगी की मृत्यु हो जाती है। अस्तु पक्व अतिसार मे पुरीषसग्रहणीय या स्तभक औषधियो का योग कर यथाशीघ्र पतले दस्त को बद कर देना चाहिये।[1]

कई बार अतिसार के प्रबल होने पर द्रव-धातु-क्षय से रक्षा करने के निमित्त तथा रोगी के प्राण रक्षार्थ आमावस्था में भी अतिसार का स्तभन आवश्यक हो जाता है। अस्तु रोगी की धातु की दशा तथा बल देखते हुए यदि अतिसार बडा प्रबल हो तो दो-तीन दस्त के बाद ही उसकी आमावस्था मे भी ग्राही भेषजो का प्रयोग शास्त्र सम्मत है।[2]

अत्यन्त क्षीण धातु और बल वाले रोगियो मे अतिसार के स्तभन के लिये ही औषधि देनी चाहिये, उसके लिये लघन और पाचन आदि क्रमो की प्रतीक्षा नही चाहिये।

आमातिसार—१ प्रारभ मे लघन एव पाचन करना, पश्चात् स्तभन करना चाहिये। पथ्य मे अद्रव और लघु भोजन देना चाहिये। रोगी बलवान्

---

१ न तु सग्रहण दद्यात् पूर्वमामातिसारिणे। दोषा ह्यादौ रुद्धयमाना जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान्। दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदास्तथा। पाकोऽसकृदतीसारो। ग्रहणीमार्दवाद्यथा। प्रवर्त्तते तदा कार्य क्षिप्रं साग्राहिको विधि ॥

२ क्षीणधातुबलार्त्तस्य बहुदोषोऽतिनि सृत । आमोऽपि स्तम्भनीयः स्यात् पाचनान्मरण भवेत् ॥

हो तो लघन वडा ही उत्तम होता है। उसी मे उसके वढे हुए दोप का शमन और आम का पाचन भी हो जाता है।[1]

२ जल प्रयोग—अतिसार मे कच्चा ठडा जल देना ठीक नही रहता, अस्तु उसको औपधिस्मृत जल देना चाहिये। अत एव सुगंधवाला तथा शुठी या मुस्तक तथा पर्पट या नागरमोथा तथा सुगध वाला के योग से सस्कृत अर्थात् पडङ्गपानीय विधि मे वनाया जल पीने को देना चाहिये। इसके अभाव मे सौंफ का अर्क, पुदीने का अर्क या जेवायन का अर्क वीच-वीच मे तृपा की शान्ति के लिये देना चाहिये।[2]

३ शालपर्ण्यादि पडङ्गपानीय—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, वृहती, कंटकारी, वला, गोक्षुर, विल्व, पाठा और मोठ इन द्रव्यो को समपरिमाण में मिला कर पडङ्गपानीय विधि से कपाय वना कर रख ले। तृपा मे रोगी को पीने को दे। फिर इसी कपाय मे मण्ड, पेया और यवागू आदि पथ्य सिद्ध करके रोगी को पथ्य के रूप मे अन्न काल मे देना चाहिये।

४ लघन एक दो वक्त तक कराके रोगी को पीने के लिये उपर्युक्त कपायो मे सिद्ध मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू प्रभृति पथ्य समय से क्षुधा लगने पर भोजन के काल मे देना चाहिये। अतिसार के रोगियो मसूर की दाल (यूप) सर्वोत्तम पथ्य माना गया है। इसी प्रकार धान्य लाज के सत्तू का प्रयोग भी उपर्युक्त कपाय मे घोल कर मिश्री मिलाकर या सेंधा नमक मिला कर अतिसार मे हितकर माना गया है।[3]

---

१ आमे विलघन शस्तमादौ पाचनमेव च। कार्यं चानशनस्यान्ते प्रद्रवं लघु भोजनम्॥

२ ह्रीवेरशृङ्गवेराभ्या मुस्तपर्पटकेन वा। मुस्तोदीच्यशृत तोय देयं वापि पिपासवे॥

३ युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षाम लघून्यन्नानि भोजयेत्।
औपधसिद्धा पेया लाजाना शक्तवोऽतिसारहिता।
वस्त्रप्रस्तुतमण्ड पेया च मसूरयूपश्च।
शालपर्णी पृश्निपर्णी वृहती कण्टकारिका।
वलाश्वदंष्ट्राविल्वानि पाठानागरधान्यकम्।
एतदाहारसंयोगे हितं सर्वातिसारिणाम्।
धान्यक नागर मुस्त वालकं विल्वमेव च॥
आमशूलविवन्धघ्नं पाचन वह्निदीपनम्।
इद धान्यचतुष्क स्यात् पैत्ते शुण्ठी विना पुनः। (भै. र.)

५ पाचन के लिये कई क्वाथो का प्रयोग उत्तम रहता है—जैसे नागरादि क्वाथ-शु ठी, अतीस, मुस्तक अथवा धान्यक और सोंठ से बने कपाय का योग नये शूल युक्त अतिसार मे लाभप्रद रहता है। धान्यपचक या धान्यचतुष्क-कपाय-धान्यक, शुण्ठी, मुस्तक, नेत्रवाला, विल्वमज्जा इन पाच द्रव्यो का क्वाथ धान्य-पञ्चक कहलाता है। यह आमातिसार मे आम का पाचक, विबध को नष्ट करने वाला, शूल का शामक तथा पाचकाग्नि को दीप्त करने वाला होता है। धान्यपचक मे से शु ठी को निकाल कर शेप चार द्रव्यो से बने कपाय को धान्य चतुष्क कहते है। इसका प्रयोग पित्तातिसार मे अधिक लाभप्रद होता है। वत्सकादि कपाय—इन्द्रयव, अतिविपा, बिल्व, सुगध बाला, शुण्ठी, मुस्तक का बना कषाय आमयुक्त, शूलयुक्त अतिसार, रक्तातिसार तथा जीर्ण अतिसार या प्रवाहिका मे लाभप्रद होता है।[1]

दोपानुसार व्यवस्था—अतिसार मे स्तभन के लिये कुटजादि कपाय—इन्द्रयव, दाडिम फल के छिलके, मोथा, धाय के फूल, वेल की मज्जा, नेत्रबाला, लोध्र, रक्त चंदन एव पाठा का कपाय अतिसार तथा रक्तातिसार को वद करता है। यदि अतिसार मे वायु की अधिकता हो तो वच, अतीस, मुस्तक, इन्द्र जौ और कुटज की छाल का कपाय (वातातिसार मे वचादि क्वाथ), यदि पित्त की अधिकता हो तो किरात, इद्रयव और रसाञ्जन का क्वाथ मधु मिला कर अथवा अतीस, कुटज की छाल, इन्द्रयव का समपरिमाण मे चूर्ण बनाकर चावल के पानी और मधु के साथ (पित्तातिसार मे किराततिक्तादि कपाय या अतिविषादि चूर्ण) और श्लेष्मा की अधिकता हो तो घृतभृष्ट हिंगु, कालानमक, त्रिकटु, अतिविषा और मुस्तक का कषाय बना कर इन्ही द्रव्यो के चूर्ण का उष्ण जल से (श्लेष्मातिसार मे) हिंग्वादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये। अतिसार मे यदि दो दो दोपो का ससर्ग पाया जावे तो द्विदोषशामक ओषधियो का योग करके चिकित्सा करनी चाहिये।

पुटपाक प्रयोग—दोषो का भले प्रकार से पाक हो जाने पर, वेदना के कम हो जाने पर, दीप्त अग्निवाले मनुष्य के लिये, चिरकालीन अतिसार के रोगो मे पुट-पाक सिद्ध ओषधियो का उपयोग करना चाहिये। जैसे कुटज पुटपाक या स्योनाक पुटपाक या दाडिम पुटपाक। यहा पर एक कुटज पुटपाक का विधान दिया जा रहा है—'स्निग्ध और स्थूल कृमि आदि से अभक्षित की ताजी और गीली

---

१ सवत्सक सातिविष सविल्व सोदीच्यमुस्तश्च कृत कषाय।
सामे सशूले च सशोणिते च चिरप्रवृत्तेऽपि हितोऽतिसारे॥ (भै॰ र॰)

लेकर छोटे-छोटे टुकडे करके तण्डुलोदक मे पीसकर कल्क (लुगदी) के रूप में बना ले। पश्चात् इसका गोला कर उसके ऊपर से जामुन पत्र या पलाश पत्रों का आवरण लगा कर कुश से बांध दे। फिर इसके ऊपर चिकनी मिट्टी का पानी मे पंक बनाकर, दो अंगुल मोटा लेप करके अग्नि के अगारो में रख दे। जब पक कर ऊपर की मिट्टी लाल रंग की हो जाय तो बाहर निकाले और ऊपर का वेष्टन हटा कर कल्क का रस निकाल कर इस रस मे मधु मिला कर अतिसार से पीडित रोगी को पिलावे। मात्रा ४ तोले दिन मे एक या दो बार। इसी विधि से स्योनाक या दाडिम के फलो का भी पुटपाक-स्वरस निकाला जा सकता है।

कुटजावलेह या कुटजाष्टक का प्रयोग भी उत्तम रहता है। कुटज की छाल का काढा बनाकर उसमें मोचरस, पाठा, मजीठ या लज्जालु के बीज, अतीस, नागर-मोथा, कच्चे विल्वफल की मज्जा, धाय का फूल महीन कर बराबर परिमाण में डालकर मिलाकर गाढा कर लेना चाहिये। इस योग को ½ से २ तोले की मात्रा मे दिन में दो या तीन बार चावल के मण्ड, बकरी के दूध या शीतल जल से पीने से विविध प्रकार का अतिसार अच्छा होता है।

छागी दुग्ध—जीर्णातिसार में बकरी का दूध बडा लाभप्रद होता है। दूध का प्रयोग या तो औषधि से सिद्ध कराके या केवल तीन गुने जल में उबाल कर दूध मात्र शेष होने पर पिलाना चाहिये।

भय-शोकातिसार—भय और शोक के कारण उत्पन्न अतिसार मे वातातिसारवत् चिकित्सा करनी चाहिये। सर्वप्रथम इन रोगियो मे हर्षण (हर्षोत्पादन) तथा आश्वासन (सान्त्वना देना) प्रभृति उपचारो से मन को प्रसन्न करना चाहिये। पश्चात् वातातिसारवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

पृश्निपर्ण्यादि कषाय—पृश्निपर्णी, बला, बिल्व, धान्यक, उत्पल, सोठ, वायविडङ्ग, अतीस, नागरमोथा।
देवदारु, पाठा इन्द्रजौ—इन द्रव्यो के क्वाथ मे मरिच के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर पिलाना।

रक्तातिसार प्रतिषेध—१ बिल्व-मज्जा (आग मे भुने बेल या उबाले बेल की मज्जा) और पुराने गुड का सेवन।

२ शाल की छाल, बेर की छाल, जामुन की छाल, पियाल की छाल, आम की छाल या अर्जुन की छाल में से किसी एक का ६ माशे चूर्ण लेकर मधु मे मिलाकर दूध के साथ सेवन।

३ लालचंदन का चूर्ण ६ माशे चीनी और शहद मिलाकर चावल के पानी के साथ सेवन।

४ दाडिम के फलका छिल्का तथा कुटजत्वक् का कषाय मधु और चीनी के साथ सेवन।

५ जम्बु, आम्र, आमलकी का स्वरस निकालकर शहद मिलाकर दूध से प्रयोग।

६ बकरी के दूध मे पकाये कच्चे बेल की मज्जा का मोचरस और इन्द्र जौ मिलाकर सेवन।

७ वन तण्डुलीयक का चावल के धोवन के साथ प्रयोग।

८ शतावरी का दूध के साथ सेवन।

९ कुटजत्वक् कषाय मे अतीस मिलाकर सेवन।

१० कृष्ण तिल के चूर्ण मे चतुर्थांश शर्करा मिलाकर बकरी के दूध के साथ

११ बिल्वादि चूर्ण—बिल्व, मुस्तकी, धाय के फूल, पाठा, शुण्ठी, मोचरस-गुड और तक्र के साथ सेवन। दुर्जय अतिसार का भी शमन करता है।

१२ वटाङ्कुर या वट—प्ररोह का तण्डुलोदक के साथ सेवन।

१३ अकोठ मूल (ढेरा) ६ माशे का चावल के धोवन के साथ सेवन। नवीन या पुराने रक्तातिसार मे सद्य. लाभप्रद होता है।

१४ विशल्यकरणी (अयापान) या कुक्कुरद्रु (कुकरौधा) का स्वरस या कषाय सद्य रक्तस्तभक होता है। रक्तातिसार रक्त प्रवाहिका, रक्तार्श, रक्त प्रदर रक्त तथा अतिसार मे इसके स्वरस या कषाय का प्रयोग करे। श्वेत कुकरौधा अधिक श्रेष्ठ होता है।

१५ नागकेसर या केशर का मक्खन या शहद के साथ सेवन रक्तस्तभक होता है।

१६ रसाञ्जनादि चूर्ण, रसाञ्जन, इन्द्रयव, अतीस, कुटज कीछाल, धातकी पुष्प और शुठी का सम परिमाण मे लेकर बनाया चूर्ण। मात्रा, ३ माशे। अनुपान, तण्डुलोदक और मधु। रक्तातिसार तथा अतिसार मे लाभप्रद।

उपद्रवो की चिकित्सा—गुददाह—बारबार पुरीष त्याग करने से गुद के श्लेष्मलकला व्रणित या विदार युक्त हो जाती है। जिससे रोगी को शौच-त्याग मे वेदना और दाह होता है। एतदर्थ १ पटोल और मुलैठी का कषाद बनाकर उसमे अजाक्षीर मिलाकर प्रक्षालन तथा २. गुदवर्त्ति धतूरे की जड, इन्द्रजौ और अफीम सम-परिमाण मे लेकर दो रत्ती की मात्रा मे वर्त्ति बनाकर गुदा मे धारण करना लाभप्रद होता है।

गुदभ्रंश—चाङ्गेरीघृत (चर) तिन पतिया के स्वरस से सिद्ध गोघृत का सेवन। मात्रा १ से २ तोले बकरी के दूध मे डालकर। मूषिक तैल (सु) का स्थानिक प्रयोग भी उत्तम होता है।

मूर्च्छा तथा तृषा के उपद्रव में—जामुन, आम के पल्लव या छाल (ऐसे पेड जिनमें फूल और फल न आये हो)। उशीर,वटाङ्कुर,प्रियङ्गु, मुस्तक, पटोल पत्र और धान्यक के योग से बने कषाय का मधु के साथ सेवन।

अतिसार में नाभि प्रलेप—कई वार उदर और नाभि प्रदेश पर लेप करने से अतिसार में शमन होते देखा गया है। अतिसार की तीव्रावस्था में अन्य भेपजो के साथ या स्वतत्रतया भी इन लेपो का प्रयोग किया जा सकता है। ये वडे अद्भुत और इष्ट फल योग है। जैसे—

१ नाभि के चारो ओर आम की के कल्क की एक क्यारी बनाकर उसमें अदरक का स्वरस भर देना।

२. जायफल को घिसकर लेप करना पूरे उदर विशेषत. नाभि पर। यह प्रयोग बालको में बडा लाभप्रद होता है।

३ आम की छाल को काजी से पीसकर नाभि पर लेप करना।

यह अफीम एवं भाग रहित उत्ताम पाचक ग्राही योग है। जहाँ पर भांग और अफीम युक्त योगो से लाभ न हो इनका प्रयोग करना चाहिये।

कर्पूरादि वटी—कपूर, शुद्ध अफीम, नागरमोथा, भुँका हुआ इंद्र जौ, जायफल, शुद्ध हिंगुल, और शुद्ध टकण। प्रथम हिंगुल, अफीम और कपूर को जल से मर्दन करे। फिर अन्य औपधियो का सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण मिलावे। तीन घटे तक जल से मर्दन करके २–२ रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा-१-२ गोली। अनुपान–जल या चावल के पानी के साथ यह तीव्र ग्राही योग है। अतिसार में सद्यः स्तभन के लिये इसका उपयोग करना चाहिये।

अगस्ति सूतराज—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक १ तोला, शुद्ध हिंगुल २ तोला, शुद्ध धतूर का वीज ४ तोला, शुद्ध अफीम ४ तोला। भृंगराज स्वरस के साथ भावित कर २-२ रत्ती की गोली बना ले। त्रिकटु चूर्ण ४ रत्ती और मधु मिला कर १-२ गोली का दिन मे दो-तीन वार प्रयोग करे। सब प्रकार के वमन, शूल एव अतिसार में लाभप्रद रहता है। काली मिर्च ४ रत्ती और घी १ तोला के अनुपान से प्रवाहिका मे उत्ताम कार्य करता है। इसका स्वतत्र या निम्नलिखित व्यवस्थापत्र के अनुसार मिश्रण बना कर अतिसार तथा प्रवाहिका मे उपयोग करना लाभप्रद पाया जाता है—

रामबाण रस	४ र०
महागंधक	४ र०
शंखभस्म	२ र०
वराट भस्म	२ र०
अगस्ति सूतराज	४ र०

विश्व ४ मात्रा—मरिच ४ र० और मधु ६ माशे के साथ।

जातिफलाद्यावटी—पारद और गधक की कज्जली से रहित, परन्तु धतूर एव अहिफेन युक्त योग है। शूलयुक्त अतिसारप्रवाहिका तथा ग्रहणी मे लाभप्रद रहता है। योग–जायफल, शुद्ध टकण, अभ्रक भस्म, धतूर के वीज सभी द्रव्य समान और धतूर द्विगुण अहिफेन (शुद्ध) सवको एकत्र महीन पीस कर गधप्रसारणी स्वरस की भावना। मात्रा ३ रत्ती। मधु से।

ग्रहणी रोग प्रतिषेध

व्याख्या—पचन सस्थान के विकारो मे एक अन्यतम या प्रधान विकार ग्रहणी रोग है। वास्तव मे पचन सस्थान मे दो ही प्रमुख अग पाये जाते है। एक वे जिनका सम्बन्ध खाये हुए अन्न का ठीक प्रकार से पाचन से है, दूसरे वे अग जिनका सम्बन्ध सम्पाचित अन्न रस का सम्यक् रीति से शोषण करना है। इस प्रकार पूरे पाचन सस्थान मे दो ही क्रियाओ का समावेश होता है। १ पाचन (Digestion) २ शोपण (Absorption)।

अनुभव वतलाता है कि सर्वप्रथम पचने की क्रिया ही दूपित होती है। इसके दूषित होने से विविध प्रकार के अजीर्ण (Dyspepsia) अग्निमाद्य प्रवाहिका, आमातिसार, अतिसार प्रभृति रोग होते है। ये रोग यदि अधिक दिनो तक चलते रहे और उनका सम्यक् रीति से उपचार न हो तो ये दूसरे पाचन अवयवो को भी दूपित कर देते है जिसका परिणाम यह होता है कि अन्न रस का शोपण ठीक रीति से नही हो पाता है। इस शोपण के अवयवो मे ग्रहणी एक प्रधान अवयव है जव इस अवयव की दुष्टि हो जाती है तो रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं। ग्रहणी कहने से पक्वाशय (Duodenum), लघ्वत्र तथा वृहदत्र का ग्रहण समझना चाहिये। इन अवयवो की दुष्टिसे तद् तद् अगो की क्रिया भी दूषित हो जाती है।

इसी लिये शास्त्रकारो ने वताया है कि अतिसार अथवा प्रवाहिका के ठीक हो जाने पर भी रोगी की अग्नि मद हो जाती है—इस मन्दाग्नि के काल मे रोगी को पथ्य और लघु भोजन प्रभृति आहार-विहार के ऊपर रहना चाहिये। अगर अतिसार या प्रवाहिका से निवृत्त रोगी ने अपने पथ्यादि की व्यवस्था ठीक नही रखी तो विषमाग्नि पैदा हो जाती है–जिसमे कदाचित् सम्यक् पाक हो जाता है और कई वार ठीक पाक नही होता है पुन इस विपमाग्नि का परिणाम ग्रहणी रोग पैदा होना होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण प्रकार से पचनसम्वन्धी रोग का अतिम परिणाम ग्रहणी रोग है। इस अवस्था मे रोगी के पचन तथा शोपण की दोनो क्रियायें ही विकृत हो जाती है। फलतः

–रोग कष्टसाध्य हो जाता है। रोग में निवृत्त होने के अनन्तर भी पुनरावृत्ति (Relapses) की सभावना रहती है। अस्तु सम्पूर्ण पचन संस्थान का नवीनीकरण (Over Havling) करना ग्रहणी चिकित्सा का लक्ष्य रहना है।

ग्रहणी में चिकित्साक्रम भी दो प्रकार का रखा जाता है—एक वातातपिक (Ambulatory or Outdoor treatment) और दूसरा कुटी प्रावेशिक (Indoor Hospital)। यदि रोग नया हो विकृति बहुत बढ़ी हुई न हो तो सामान्य उपचारो से प्राय. रोगी ठीक हो जाता है, परन्तु बहुत बढे हुये रोग में विशिष्ट उपक्रमो से उपचार चिकित्सालय में रख कर कल्प-क्रम से करना होता है।

सामान्य क्रियाक्रम—जैसा कि प्रारभ मे ही बताया जा चुका है कि ग्रहणी वह व्याधि है जिस मे पाचन तथा शोषण नामक उभयविध कार्य दूषित हो जाते है (A syndrome of Indigestion and Malabsorption) अस्तु ऐसी चिकित्सा जो अजीर्ण (Dyspepsia) को भी ठीक करे साथ ही साथ अतिसार (Diarrhoea) को सँभाले ऐ। उपचार करना अपेक्षित होता है। अस्तु आम तथा निराम दोनो अवस्थावो का विचार करके चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये।[1] यदि आम रस की प्रबलता हो तो रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वमन और विरेचन देकर शुद्धि करनी चाहिये। पश्चात् लंघन, दीपन और पाचन प्रभृतिक्रियाओ से उपचार करना चाहिये। पंचकोल से शृतपेया का सेवन भी कराना चाहिये।

आमावस्था मे उपक्रम—आहार के विदग्ध होने से आध्मान, लाला प्रसेक, उदर शूल, गले मे जलन, अरुचि और गौरवादि लक्षणो की उपस्थिति से ग्रहणी रोग में आम दोष की विद्यमानता समझना। अस्तु इसके निर्हरण के लिये रोगी का स्नेहन, स्वेदन करके वमन करा देना चाहिये। दो चार वमन हो जाने से आमाशय गत आम दोष निकल जाता है। वमन कराने के लिये मदन फलके कषाय में पिप्पली और सर्षप का कल्क मिलाकर देना चाहिये अथवा केवल गर्म जल और सेंधा नमक मिलाकर पिला कर वमन करा देना चाहिये। यदि आम दोष कोष्ठ मे लीन हो और पक्वाशय मे स्थित हो तो दीपन औषधियो के साथ कुछ रेचक औषधियो को मिला कर कोष्ठ की शुद्धि करा देनी चाहिये। यदि आम दोष

---

१ ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्। अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विपाचयेत्॥ शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम्। विशुद्धामाशयायास्मै पंचकोलादिभिः शृतम्। दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान्॥

युक्त रस शरीर मे व्याप्त हो तो लघन और पाचन औषधियो के द्वारा आम दोष का पाचन करना अपेक्षित रहता है। जब आशय या कोष्ठगत आम दोष निकल जावे तो पचकोल (पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक, नागर) प्रभृति दीपन एव पाचन औषधियो के क्वाथ, कल्क या प्रक्षेप से सिद्ध पेया, मण्ड, आदि लघु अन्न रोगी को सेवन करना चाहिये।[1]

पक्वावस्था में क्रियाक्रम—वात ग्रहणी जब दीपन और पाचन औषधियो के प्रयोग से आम का पाचन हो जावे तो वातिक ग्रहणी मे दीपन और पाचन औषधियो से सिद्ध या युक्त गोघृत का प्रयोग करे। जब जाठराग्नि दीप्त हो जावे, तो दो-तीन दिनो तक स्नेहन (घी पिलाकर और तैल का अभ्यग करके) आस्थापन वस्ति, दशमूल कषाय ३२ तोले, सैधव ६ माशे मधु १ तोला और तिल तैल ८ तोले सबको एक मथनी से मथकर और वस्ति यत्र मे भर कर गुदा द्वारा देना चाहिये। इसके बाद वायु के शान्त हो जाने पर, मल के ढीला हो जाने पर एरण्ड तैल या क्षार युक्त तैल्वक घृत (चरक) से विरेचन कराना चाहिये। शोधन के वाद कोष्ठ के रूक्ष होने से मल बद्ध होकर गाँठदार हो जाता है अस्तु उसके निकालने के लिये दीपन एव अम्ल रस युक्त तथा वात नाशक द्रव्यो से सिद्ध तैल का मात्रा मे (१२ तोले की ह्रस्व मात्रा नारायण तैल की) अनुवासन वस्ति (Retention Enema) देना चाहिये। इस प्रकार निरूहण, विरेचन तथा अनुवासन के बाद रोगी को दीपन औषधियो से सस्कृत लघु भोजन तथा सिद्ध घृतो के प्रयोग से रोगी को स्वस्थ करना चाहिये।[2]

वातिक ग्रहणी के रोगियो मे तीव्र विबन्ध और अतिसार पर्यायक्रम से चलते रहते है। रोगी दिनो-दिन रूक्ष और क्षीण होता चलता है। अतिसार की चिकित्सा

---

१ ग्रहणीमाश्रित दोष विदग्धाहारमूर्च्छितम्। सविष्टम्भप्रसेकार्त्तिविदाहारुचिगौरवे। आमलिङ्गान्वित ज्ञात्वा सुखोष्णेनाम्बुना हरेत्। फलाना वा॥

२ ज्ञात्वा तु परिपक्वाम मारुतग्रहणीगदम्। दीपनीययुत सर्पि पाययेताल्पशो भिषक्॥ किंचित् सधुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम्। द्व्यह त्र्यह वा सस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्त निरूहयेत्॥ तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा। सक्षारेणानले शान्तेस्रस्तदोष विरेचयेत्। शुद्ध रूक्षाशय बद्धवर्चस चानुवासयेत्॥ दीपनीयाम्लवातघ्न सिद्धतैलेन मात्रया॥ निरूढ च विरिक्त च सम्यक् चैवानुवासितम् लघ्वन्न प्रतिसभुक्त सर्पिरभ्यासयेत् पुनः।

के साथ साथ इनकी कोष्ठगत रूक्षता को दूर करने के लिये दीपन तथा पाचन औषधियो से युक्त घृत का प्रयोग भी आवश्यक रहता है। आन्त्रगत रूक्षता को दूर करने के लिये तथा आंत्रो के स्नेहन के लिये सिद्ध घृत, निरूहण एवं अनुवासन प्रभृति उपाय प्राचीनो ने वतलाया है। वातिक ग्रहणी की चिकित्सा करते समय रोगी में गाढपुरीषता की कठिनाई पैदा होती है। गाढविट्कता की वजह से कई वार के छिल जाने से दरारें पड जाती हैं। गुदा व्रणयुक्त या विदारयुक्त (Fissures) हो जाती है जिससे रोगी को न पतले दस्त मे ही आराम मिलता है और न गॉठ दार या वँधे मल के निकलने से ही। दोनो अवस्थाओ में रोगी को पुरीष-त्याग में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये एक सरल उपाय 'लिक्विड पैराफीन' का प्रयोग है। यह एक खनिज तैल है जिसका आत्र की श्लेष्मल कला से शोषण नही होता है और न यह किसी पाचन रस को ही विकृत करता है—किसी औषधि के साथ इसका विरोध भी (Incompatibility) फलत नही होता है। अस्तु इनका उपयोग ग्रहणी चिकित्सा-काल में वैद्यक औषधियों के साथ भी किया जा सकता है। इसका सर्वोत्तम काल भोजन के पूर्व मुख मे एक दो चम्मच भर कर पहले लेना पश्चात् भोजन करना ठीक पडता है। इस से आमाशय से लेकर गुद पर्यन्त सम्पूर्ण श्लेष्मल कला का स्नेहन (Oiling) हो जाता है। इस का प्रयोग लगातार एक पक्ष तक करके पश्चात् यथावश्यक कोष्ठ के नियमित हो जाने पर कभी कभी कर लेना चाहिये। घृत और सैन्धव का उष्णोदक से सेवन करना भी एक उत्तम उपाय ग्रहणी को[1] कठिन, शुष्क, रूक्ष या गाठदार मल की अवस्था मे पाया गया है।

पित्त-ग्रहणी में क्रियाक्रम—पित्त ग्रहणी में अग्नि के बुझाने वाले स्वाभाविक पित्त को अपने स्थान मे स्थित किन्तु उत्क्लिष्ट जान कर वमन या विरेचन द्वारा निकाले। तथा विदाह न उत्पन्न करने वाले, तिक्त रस युक्त लघु अन्न (पेया, विलेपी आदि) खाने को दे, रोगी की जाठराग्नि दीप्त करने के लिये तिक्त रस प्रधान चूर्ण अथवा तिक्तरसात्मक द्रव्यो से सिद्ध घृत खिलावे।[2]

---

१ नितान्तदुष्टेमरुतो मलं यदा नरो विमुञ्चेत् कठिनं च रूक्षम्। ससैन्धवं सर्पिरिहौषधं तदा प्रयोजयेत् तस्य सुखाय वैद्य। (भै र)

२ स्वस्थानागतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापक भिषक् पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेनवा। अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः तस्याग्निदीप्तये चूर्णैः सर्पिर्भिवा सतिक्तकैः॥

कफ ग्रहणी में क्रियाक्रम—कफ से दूषित ग्रहणी मे यथाविधि वमन करा के कटु, अम्ल, लवण क्षार तथा तीक्ष्ण द्रव्यो का सेवन कराके जाठराग्नि दीप्त करे।[1]

त्रिदोष-ग्रहणी-में क्रियाक्रम—त्रिदोषो से दूषित ग्रहणी मे विधिपूर्वक पचकर्म कराके दीपन घृत, क्षार, आसव, अरिष्ट का प्रयोग करे। वातादि ग्रहणी की जो चिकित्सा बतलाई गई है उसे पर्याय क्रम से पृथक् पृथक् अथवा तीनो को मिलाकर दोषो की विशेपता के अनुसार उपचार करे।[2]

सामान्य औषध योग—ग्रहणी मे प्रारभ मे स्नेह, स्वेदन और लघन कराने के पश्चात् जाठराग्नि को दीप्त करने वाले योगो का प्रयोग लाभ करता है—जैसे—पाचन के लिये चूर्ण, लवण प्रधान ओपधियाँ (लवण-भास्कर), क्षार प्रधानयोग, मधु का उपयोग, अरिष्ट, आसव (कुटजारिष्ट, तक्रारिष्ट, मूलासव आदि), जाठराग्नि वर्धक घी (पिप्पल्यादि घृत, पट्पल घृत) तथा तक्र के विविध प्रकार के योगो का सेवनक दोपानुसार यथावश्यक ग्रहणी रोग मे करना चाहिये।[3]

ग्रहणी रोग में तक्र प्रयोग—ग्रहणी रोग मे तक्र (मट्ठा) ग्राही, दीपन और लघु होने के कारण तथा आन्त्र की शोपण क्रिया को बढाने वाले होने के कारण श्रेष्ठ माना गया है। विपाक मे मधुर होने से यह पित्त को कुपित नही करता अर्थात् पित्त ग्रहणी मे मीठा करके तक्र का सेवन करे। कषाय रस, उष्ण विकासि और रूक्ष होने की वजह से कफ मे हितकर होता है अस्तु कफज ग्रहणी मे मक्खन निकाला रूखा ही सेवन किया जा सकता है। मधुर, अम्ल और सान्द्र (गाढा) होने से तक्र वातिक ग्रहणी मे भी लाभप्रद रहता है। तक्र प्रयोग मे ताजा का ही उपयोग करना चाहिये क्यो कि यह विदाह नही पैदा करता है। तक्र मीठा, कुछ खट्टापन लिये हुए ताजा और गाढा प्रयोग मे लाना चाहिये।

---

१ ग्रहण्या श्लेष्मदुष्टाया वमिताय यथाविधि। कट्वम्ल लवणक्षारै स्तीक्ष्णैश्चाग्नि विवर्धयेत।

२ त्रिदोषे विधिवद् वैद्य पञ्चकर्माणि कारयेत्, घृत क्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान्॥ क्रिया याचानिलादीना निर्दिष्टा ग्रहणी प्रति, व्यत्यसात्ता समस्ता च कुर्याद् दोषविशेषवित्।

३ तक्रं तु ग्रहणीदोपे दीपन ग्राहि लाघवात्। श्रेष्ठ मधुरपा कित्वान्न च पित्त प्रकोपयेत्, कषायोष्णविकासित्वाद् रौक्ष्याच्चैव कफे मतम्।

वस्तुत वात ग्रहणी में विना मक्खन निकाला (सान्द्र), पित्त ग्रहणी में कुछ मक्खन निकाला (अल्पसान्द्र) और श्लैष्मिक ग्रहणी मे पूरा मक्खन निकाला तक्र (असान्द्र) का प्रयोग करना चाहिये, यदि रोगी की पाचन शक्ति अत्यन्त क्षीण हो तो सदैव मक्खन निकाला ही तक्र प्रयोग मे लाना चाहिये । तक्र वनाने के लिये ताजे दही मे चतुर्थांश गर्म कर के ठंडा किया जल (शृतशीत जल) मिलाकर मथकर वनाने का विधान है। यदि अधिक लघु करना हो तो उसमे अधिक जलांश भी आवश्यकतानुसार दिया जा सकता है ।[1]

वातिक ग्रहणी में—१ शालपर्णी, वला, विल्व, धान्यक और शुंठी का कषाय (शालपर्ण्यादि कषाय ।)

हिंग्वष्टक चूर्ण (त्रिकटु, अजमोद, सैंधव, श्वेत जीरक और कृष्ण जीरक, घृत भर्जित हिंगु । घृत के साथ मिलाकर भोजन के पूर्व ।

पैत्तिक ग्रहणी में—१. हरीत की, रसाञ्जन, शुंठी, धातकीपुष्प, कुटकी, इन्द्रजौ, मुस्तक, कुटजकी छाल और अतीस का सेवन । (हरीतक्यादि कषाय)

२ रसाञ्जनादि चूर्ण—रसाञ्जन, अतीस, इन्द्रयव, कुटज की छाल, धाय के फूल, शुंठी, समभाग में चूर्ण । मात्रा २ से ४ माशे । अनुपान तण्डुलोदक ।

श्लैष्मिक ग्रहणी मे–सैन्धव कचूर, शुंठी, मरिच, पिप्पली, हरीतकी, सज्जीक्षार, यवक्षार, पिप्पलीमूल, विजौरा नीवू । मात्रा-३ से ६ माशे । अनुपान-जल ।

व्यावहारिक चिकित्सा—ग्रहणी जैसा कि प्रारभ मे वतलाया जा चुका है कि अजीर्ण तथा अतिसार की एक वहुत वढी हुई अवस्था है । इसमे औपधोपचार मे लाभ हो जाने पर पुनरावर्त्तन (Ralapses) की सभावना रहती है । अस्तु पथ्य के ऊपर सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है । रोगी के रोगमुक्त होने के अनन्तर भी उसे पथ्य-सेवन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है । व्यावहारिक क्षेत्र में दो प्रकार के रोगी आम तौर से मिलते है । एक जिनका रोग वहुत वढा हुआ नही है, खाते-पीते और चलते-फिरते रह सकते है । दूसरे जिनमें रोग वहुत वढा हुआ है, उपद्रव तथा दुर्वलता-वहुत वढी हुई है । इनमें चलते-फिरते रोगियो (Ambnlent type) में तो वातातपिक चिकित्सा (Outdoor treatment) आसानी से दी जा सकती है । इनकी चिकित्सा में लघु और सुपाच्य आहार देते हुए चिकित्सा की जाती है। इस क्रियाक्रम को सान्न चिकित्सा क्रम (भोजन या अन्न देते हुए चिकित्सा करना) कहते है ।

---

१ वाते स्वाद्वम्ल सान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ।

दूसरा वर्ग उपद्रुत ग्रहणी रोगियो का होता है। जिनमे रोगी को चिकित्सालय मे प्रविष्ट करके वैद्य के साक्षात् निरीक्षण मे रहते हुए विना अन्न के (निरन्न-चिकित्सा) चिकित्सा करने की आवश्यकता रहती है। इन रोगियो को अन्न व्यतिरिक्त दूध, तक्र या दूध और फल के ऊपर रखकर चिकित्सा की जाती है।

ग्रहणी की चिकित्सा मे बहुत प्रकार के चूर्ण, कषाय, गुटिका, मोदक, अवलेह, रसक्रिया प्रभृति काष्ठौषधियो के योग (काष्ठौषधि पाचन) तथा पारद-गधक की कज्जली, पर्पटी तथा रसौषधियो के बहुत से योग (पारद के पाचको) का व्यवहार पाया जाता है। साधारण रोगियो मे काष्ठौषधियो के पाचको से ही रोग ठीक हो जाता है, परन्तु जब रोग अधिक बढा हुआ रहता है तो काष्ठौषधियो के पाचको से काम नही चलता है। ये स्वय पचन-सस्थान के लिये भारभूत हो जाती है। इस अवस्था मे पारद के पाचक योगो की आवश्यकता पडती है। ये पारद के पाचन भी बहुत प्रकार के होते है जैसे—पारा-गधक की कज्जली के साथ अन्यान्य भस्म तथा काष्ठौषधियो के योग से बने योग तथा पारद-गधक की कज्जली या उससे बने पर्पटी के योग। अस्तु पारद के पाचको मे भी कुछ ऐसे योग है जिनका उपयोग केवल चलते-फिरते रोगियो मे सुपाच्य अन्न या आहार देते हुए चिकित्सामे किया जाता है।

कुछ ऐसे भी योग है जिनका सामान्य प्रयोग न होकर कल्प-चिकित्सा के रूप मे ही प्रयोग किया जाता है। इन औषधियो मे अधिकतर पर्पटी के योग ही व्यवहृत होते है। इसके लिये रोगी को दूध या तक्र पर रखकर रोगी एव रोग के बलाबल का विचार करते हुए एक छोटी मात्रा से आरभ करके क्रमश बढाते हुए एक सीमित मात्रा तक ले जाते है, पुन क्रमश घटाते हुए आरभ के मात्रा पर ले आकर दवा देना बद कर देते है। इस विधि को वर्धमान पर्पटी प्रयोग या पर्पटीकल्प-प्रयोग कहा जाता है। इस प्रकार दो प्रकार की चिकित्सा का प्रयोग ग्रहणी रोगमे विशेषत पर्पटी के सम्बन्ध मे करना होता है। १ सामान्य प्रयोग तथा २ विशेष प्रयोग या पर्पटी कल्प।

सामान्य प्रयोग या वातातपिक चिकित्सा—(Outdoor treatment) या सान्नचिकित्सा—

आहार—रोगी को लघु और सुपाच्य आहार देना चाहिये। एतदर्थ सर्व प्रथम रोगी की चिकित्सा मे आने के साथ ही उसे मण्ड पर तीन दीनो तक रख कर औषधि का प्रारभ करना चाहिये। मण्ड के लिये धान्य लाज या चावल की लाई, पुराना चावल या पुराने साठी के चावल का उपयोग करना चाहिये। फिर उससे गाढा पथ्य कुछ अन्नयुक्त मण्ड जिसे विलेपी कहते है तीन दिनो तक देना

चाहिये। इस पथ्य का भी सम्यक् पाक होने लगे तो चावल का गीला मण्डयुक्त ओदन (भात) या मसूर या मूंग की दाल युक्त पतली खिचड़ी बनाकर एक दो सप्ताह तक देना चाहिये। रोगी का अग्नि बल अच्छा हो तो चिकित्सा का प्रारभ पतली खिचडी के आहार से भी किया जा सकता है। मण्ड, पेयादि अन्नो को रोगी की रुचि के अनुसार नमकीन (सेंधा नमक और भुना जीरा से सयुक्त करके) अथवा मीठा बनाकर मिश्री मिलाकर दिया सकता है।

इसके पश्चात् पचन की दशा के सुधरने पर रोगीको चावल-दाल देना चाहिये। जब यह पचने लगे तो उसको एक समय चावल-दाल दूसरे समय रोटी-दाल पथ्य रूपमें देना चाहिये। इस सादे आहार पर बाद मे रोगी को रोगमुक्त होने पर भी रखना चाहिये। अधिक गरिष्ठ भोजन, घी या तेल मे तली पूडी, पूवा, माल पूवा, जलेबी आदि, अधिक मात्रा मे शाक-सब्जी, पत्र-शाक, गर्म मसालेदार भोजन का सदा के लिये परिहार करना आवश्यक होता है।

ग्रहणी रोगी के आहार को सदैव पचकोल युक्त करके देना चाहिये। इसके लिये विधि यह है कि पचकोल का चूर्ण पर्याप्त मात्रा मे बनाकर एक शीशी में भरकर रख लेना चाहिये और एक से माशे की मात्रा में मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, खिचडी, दाल मे छिडक लेनी चाहिये। इस दीपन पाचन योग से संस्कृत पथ्य सुपाच्य और लघु हो जाता है। अग्नि दीप्त होती चलती है। अस्तु इसका प्रयोग रोगी को पथ्य में करना सदैव लाभप्रद होता है।

ऊपर मे ग्रहणी रोग मे तक्र की प्रशसा हो चुकी है। तक्र इस रोगी को अग्नि बल के अनुसार प्रारभ से ही देना शुरू कर देना चाहिये। अन्न काल में तथा दिन के अन्य भाग में इसका उपयोग लाभप्रद रहता है। तक्र को रोगी की रुचि के अनुसार पंचकोलयुक्त या भुनाजीरे का चूर्ण और सेंधा नमक युक्त करके देना चाहिये। यदि रोगी को नमकीन तक्र रुचिकर न प्रतीत हो तो मिश्री मिलाकर, या केवल सादा, परन्तु पंचकोल से संयुक्त करके देना चाहिये।

ग्रहणी के रोगी में अन्न मे रुचि जागृत करने के लिये कागजी नीबू या नीबू का अचार दिया सकता है। इससे अन्न मे रुचि पैदा होती है और पेया यदि पथ्य का परिपाक भी उत्तम होता है। पके अनार या बेदाना का रस भी उत्तम पाया गया है—अस्तु अन्नकाल के अतिरिक्त समय मे दिन में भूख लगने पर उसे बेदाना का रस, मिश्री या मधु देना चाहिये।

शाक-सब्जी का प्राय प्रयोग नही करना चाहिये, विशेषत पत्रशाको का। क्योकि इनके दुर्जर होने से अतिसार में सहायता मिलती है। गूलर या प्याज के शाक भी दिया जा सकता है। परन्तु इसका प्रयोग कुछ विलम्ब से सप्ताह दो

सप्ताह के अनन्तर किया जा सकता है। ऋतु के अनुसार कच्चे खरबूजे का शाक भी लाभ, प्रद होता है। यदि पर्पटी या कज्जली का योग न चल रहा हो तो केले के शाग का उपयोग किया जा सकता है अन्यथा नही करना ही उत्तम रहता है।

शुद्ध देशी घृत का प्रयोग भोजन मे मिलाकर किया जा सकता है क्योंकि अल्पमात्रा में दिया गया घी अग्नि का वर्धक होता है। पीने के लिये खोलाकर ठंडा किया हुआ जल, अथवा सौफ का अर्क मिल सके तो देना उत्तम रहता है। नारिकेल जल तृषा मे देना प्रशस्त है।

ग्रहणी-चिकित्सा-मे प्रयुक्त होने वाले योग—सामान्यतया अधोलिखित योगो मे से किसी एक का प्रयोग योग्य अनुपान से करने से और ऊपर में कथित पथ्य के सेवन से रोग अच्छा हो जाता है।

१. कपित्थाष्टक चूर्ण—यमानी, पिप्पली मूल, दालचीनी, सूक्ष्मैला, तेजपत्र नागकेसर, शुठी, मरिच, चित्रकमूल, सुगधवाला, धनिया, सौवर्चल, लवण मे से प्रत्येक एक तोला तथा वृक्षाम्ल, धातकी पुष्प, पिप्पली, बिल्व फल की मज्जा, अनारदाना और तिन्दुक फल मे से प्रत्येक का ३ तोला, मिश्री ६ तोला और कपित्थफल की मज्जा ८ तोले। मात्रा २ से ४ माशे। अनुपान-मट्ठे के साथ।

२ वृद्ध गंगाधर चूर्ण—गगाधर चूर्ण नाम से कई पाठ भैषज्यरत्नावली मे सगृहीत है। जैसे स्वल्प गगाधर चूर्ण, मध्यम गगाधर चूर्ण (अहिफेन युक्त), मध्यम गगाधर चूर्ण तथा वृद्ध गगाधर चूर्ण। इनमे वृद्ध गगाधर चूर्ण का प्रयोग अधिकतर प्रचलित है। योग इस प्रकार है—नागरमोथा, सोना पाठा, सोठ, धाय के फूल, लोध्र, नेत्रवाला, विल्वमज्जा, मोचरस, पाठा, इन्द्रयव, कुटज की छाल, आम की गुठली, मजिष्ठा और अतीस इन द्रव्यो का समपरिमाण मे बना चूर्ण। मात्रा-१ से ३ माशे, अनुपान-तण्डुलोदक और मधु।

लवङ्गाद्य चूर्णम्—लवङ्गाद्य चूर्ण नाम से कई पाठ भैषज्यरत्नावली मे सगृहीत है। जैसे स्वल्प लवङ्गाद्य, वृहद् लवङ्गाद्य तथा महत् लवङ्गाद्य (अभ्रक लौह और कज्जली युक्त) इन मे स्वल्प लवङ्गाद्य विशुद्ध काष्ठौषधि योग उत्तम है। इसमे निम्नलिखित घटक पाये जाते है। इसका दुर्बल रोगियो मे अम्लपित्त एव ग्रहणी उभय प्रकार के रोगियो मे व्यवहार किया जा सकता है। लवङ्ग, अतीस, मुस्तक, बाल बिल्व मज्जा, पाठा, मोचरस, श्वेत जीरक, धातकीपुष्प, लोध्र, इद्रयव, नेत्रवाला, धान्यक, राल, काकडासीगी, छोटी पिप्पली, शुठी, मजिष्ठा, यवक्षार, सैन्धव, रसोत, समपरिमाण मे गृहीत चूर्ण। मात्रा-३माशे। अनुपान-जल।

नायिका चूर्ण—इसी का दूसरा नाम ग्रथान्तरमें लायी चूर्ण आया है। लय 'ग्रहणे' धातु से लायी शब्द की निष्पत्ति होती है इसका अर्थ है अतिसार का ग्रहण करने वाला योग। इस चूर्ण मे पारद-गधक की कज्जली पड़ी हुई है साथ ही अन्य काष्ठौषधियो के साथ भाँग का चूर्ण भी पडा हुआ है। क्षुधानाश युक्त ग्रहणी मे मट्ठे के अनुपान से प्रयुक्त होकर लाभप्रद सिद्ध होता है।

स्वल्पनायिका चूर्ण और वृहद् नायिका चूर्ण नामक दो पाठ मिलते है। इन में स्वल्प नायिका चूर्ण का व्यवहार अधिकतर होता है। इसके घटक इस प्रकार है। शुद्ध पारद ४ माशे गधक, ८ माशे ले कर कज्जली बनाले। इस कज्जली मे सैंधव, सौवर्चल, विड, खनिज और समुद्रलवण में से प्रत्येक एक-एक तोला, शुठी, मरिच और पिप्पली का भी एक-एक तोला चूर्ण तथा शुद्ध भाग (विजया) मात्रा का पाँच तोले मिलाकर महीन चूर्ण बनावे। १ माशे से ३ माशे तक अनुपान तक्र या काजी।

जातीफलादि चूर्ण—विजया के योग से निर्मित यह भी योग है, परन्तु इसमें कज्जली नही पडी है। बडा उत्तम योग है। इसके घटक इस प्रकार वे है—जातीफल, वायविडङ्ग, चित्रकमूल, तगर, तालीशपत्र, श्वेत चदन, शुठी, लवङ्ग, जीरा, कर्पूर, हरड, आँवला, मरिच, पिप्पली, वशलोचन, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेसर प्रत्येक एक-एक तोला और शुद्ध भाग की पत्ती २८ तोले और पूरे चूर्ण के परिमाण अर्थात् ४७ तोले मिश्री या चीनी। मात्रा-३ से ४ माशे। अनुपान-जल, तक्र।

इन प्रचलित चूर्णो के अतिरिक्त कुछ अन्य चूर्ण जैसे—ग्रहणी शार्दूल चूर्ण, जीरकाद्य चूर्ण, मार्कण्डेय चूर्ण (अहिफेन युक्त) तथा तालीशाद्य चूर्ण भी ग्रहणी अधिकार में पठित है। इन चूर्णो के अतिरिक्त वार्ताकुगुटिका (बैंगन), मुस्ड यादि गुटिका, कचटावलेह (जलपिप्पली), दशमूल गुड, कल्याण गुड, कुष्माण्ड गुड प्रभृति कई उत्तम योगो का पाठ है।

मोदक—ग्रहणी अधिकार मे कई मोदको का पाठ पाया जाता है। ये मोदक अधिकतर ग्रहणी की रोगमुक्तावस्था (Cenvalescent stage) में अधिक लाभप्रद होते है। जलपान जैसे सुबह-शाम दूध के साथ लेने का विधान है। ये मोदक रसायन तथा वाजीकरण के गुणो से सम्पन्न होते है। ग्रहणी मे काम शक्ति की क्षीणता प्राय आती है। उस समय इन मोदको की आवश्यकता प्रतीत होती है। कई बार श्रीमान् व्यक्तियो की चिकित्सा में इस प्रकार की कल्पनावो की आवश्यकता पड़ती है। आवश्यकता के अनुसार इनका ताजा निर्माण करना चाहिये। इनमें ग्राही ओषधियाँ पडी हुई है, साथ ही विजया भी पडी

है। इनसे अग्नि का दीपन, आम का पाचन तथा द्रवधातु-मरण का ग्रहण तथा वीर्यस्तंभन भी एक साथ ही संभव रहता है। मोदको मे श्री कामेश्वरमोदक, मेथी मोदक, वृहद्मेथी मोदक, मदनमोदक, मुस्तादि मोदक, कामेश्वर मोदक, जीरकादि मोदक, (वंग, अभ्र, लोह, युक्त), वृहज्जीरकादि मोदक तथा अग्नि कुमार मोदक। इन मोदको की मात्रा-½ तोले से १ तोले तक। अनुपान-शीतल जल या बकरी का दूध।

रसयोग—हंसपोट्टली रस, ग्रहणीकपाट पोट्टली रस, अग्निकुमार रस। ग्रहणीगजेन्द्ररस। ग्रहणीशार्दूल रस।

ग्रहणी कपाट रस—इस नाम से कई योग भैषज्यरत्नावली मे अभिहित है। जैसे ग्रहणीकपाट रस (स्वल्प अहिफेन युक्त), ग्रहणीकपाट रस द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, ग्रहणीवज्रकपाट रस, ग्रहणीवज्रकपाट रस (वृहद्—रजत, लौह, सुवर्ण और मुक्ता युक्त) तथा संग्रहग्रहणीकपाट रस (मुक्ता-स्वर्ण-अभ्रक-वराट भस्म युक्त—अन्नक्षय मे विशेष लाभप्रद-जहाँ पर ग्रहणी के साथ मदज्वर भी चिरकालीन हो।) तथा वज्रकपाट रस (अहिफेन युक्त)।

महागंधकम्—समपरिमाण मे शुद्ध पारद तथा शुद्ध गंधक की कज्जली बनाकर लौह की कलछी मे डाल कर मंद आँच पर गर्म करे। फिर उसे पतला करके उसमे बराबर मात्रा मे जायफल, जावित्री, लवङ्ग, नीम की पत्ती, सिन्दुवार की पत्ती, इलायची के दाने का महीन चूर्ण मिला लेना चाहिये। फिर पानी मिलाकर खरल मे घोट कर एक कर लेना चाहिए। फिर शुद्ध की हुई मोती के सीप के सम्पुट में (भली प्रकार कपडमिट्टी करके अर्थात् दो सीप के भीतर भर कर उसके ऊपर केले का पत्ता लपेट कर दो अंगुल मोटा कपडे और मिट्टी का लेप कर के) अग्नि मे पाक करना चाहिये। फिर पुटपाक हो जाने पर उसके आवरण को दूर करके शुक्ति समेत औषधि को खरल कर के महीन चूर्ण को शीशी में भर कर रख लेना चाहिये। मात्रा—२ रत्ती से ६ रत्ती तक। बालको के अनेक रोगो से रक्षा करने के लिये एक महौषध है। इस मे शुक्ति की राख पर्याप्त मात्रा मे रहती है—जो जीव की हड्डी का राख (Bone charcol) और आन्त्र गत वायु का शोषण (Gasabsorbent) होकर अतिसार मे अद्भुत लाभ दिखलाती है। बडो मे भी इसका प्रयोग हो सकता है, परन्तु बालातिसार या बाल-ग्रहणी मे यह विशेषतया लाभप्रद है।

वटिका—वैद्यनाथ वटिका, रसाभ्रवटी, महाभ्रवटी (मन शिला तथा कृष्ण सर्पविषयुक्त), पानीयभक्तवटिका प्रभृति योग उत्तम है। इसी प्रकार शम्बूकवटी, दुग्धवटी, जाती फलाद्य वटी भी अच्छे योग है। शम्बूकादिवटी-शम्बूक

(घोंघे) की भस्म और सेंधानमक समान मात्रा में लेकर मधु मिलाकर गोली एक माशे की बनावे। वात-ग्रहणी में उत्तम योग है। बालकों के शोष रोग (सूखा रोग) में अतिसार या ग्रहणी की स्थिति में स्वतंत्र या महागंधक का योग करके प्रयोग करना बड़ा उत्तम फल देता है।

दुग्धवटी—इसके दो पाठ हैं। प्रथम में हिंगुल और धतूरबीज है, दूसरे में नहीं है। प्रथम में अभ्रक, लौह भस्म नहीं है। दूसरे में है। प्रथम मे विजया स्वरस की भावना है। दूसरे में केवल क्षीरकी। दोनों का प्रयोग शोथ और ग्रहणी में बतलाया गया है। भैषज्यरत्नावली में दोनों पाठ मिलते हैं। प्रथम पाठ अधिक श्रेष्ठ अनुभव में पाया गया है। इसके घटक निम्न लिखित हैं— शुद्ध हिंगुल १ तोला, लौंग, अफीम, वत्सनाभ, जायफल और धतूर के बीज प्रत्येक दो-दो तोले। विजया के स्वरस की भावना। मात्रा-मूंग के बराबर की गोली। अनुपान—दूध। प्रयोग-काल में जल, एवं लवण का परिहार। तृषाधिक्य नारिकेल जल या शतपुष्पार्क, पुनर्नवार्क या काकमाची अर्क। यह योग शोथ रोग में अथवा शोथ से उपद्रुत ग्रहणी मे विशेष लाभदायक है।

पीयूषवल्ली रस—शुद्ध समपरिमाण में पारद-गंधक की कज्जली, अभ्रकभस्म, लौह भस्म, रजत भस्म, शुद्ध टंकण, रसाञ्जन, स्वर्णमाक्षिक भस्म, लवङ्ग, श्वेत चन्दन, पाठा, श्वेत जीरक, धान्यक, वाराहक्रान्ता, अतीस, लोध्र, कुटजत्वक्, इन्द्रयव, जायफल, शुंठी, बिल्वफल मज्जा, धूतर केबीज, दाडिमबीज, मजिष्ठा, धातकी पुष्प और मीठाकूठ सभी द्रव्य समान।

भृंगराज स्वरस की सात भावना देकर बकरी के दूध में पीसकर चने के बराबर की गोली। अनुपान—बिल्व मज्जा ½ तो + गुड १ तोला। यह बड़ा ही उत्तम योग है। अनुपान के रूप में ठंडे जल, इसबगोल का लुआब या बेल का शर्बत भी दिया जा सकता है।

श्री नृपतिवल्लभ रस—जातीफल, लवङ्ग, मुस्तक, छोटी इलायची, शुद्ध टंकण, घृतभर्जित हींग, जीरक तेजपात, अजवायन, सोंठ, लौह भस्म, ताम्र भस्म, शुद्ध पारद और गंधक प्रत्येक चार-चार तोले और काली मिर्च ८ तोले। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाये पश्चात् उसमें अन्य भस्म और वनस्पतियो के सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण मिलाकर आमलकी स्वरस की सात भावना देकर तीन-तीन रत्ती की गोली बनावे। मात्रा—१-२ गोली। अनुपान—जल या तक्र।

नृपतिवल्लभ रस के अन्य पाठ भी वृहद् नृपतिवल्लभ रस (राजवल्लभ रस पर्याय नाम), महाराज नृपतिवल्लभ रस (स्वर्ण, रजत और विजया युक्त),

तथा महाराज नृपवल्लभ रस (स्वर्ण एवं रजत युक्त) भैषज्यरत्नावली में पाये जाते हैं। ऊपर वाला पाठ एक उत्तम अल्पव्यय साध्य योग है।

रसेन्द्र चूर्ण—रससिन्दूर, वंशलोचन, मुक्ताभस्म, स्वर्णभस्म तथा अहिफेन का यौगिक। मात्रा–४ रत्ती एक बार रात्रि में सोते समय दूध से।

अग्निसूनुरस—कपर्द भस्म १ तोला, शंख भस्म १ तोला सम प्रमाण पारद-गंधक से बनी कज्जली १ तो, मरिच चूर्ण ३ तोले। सबको निम्बू के रस से खरल में रख भावितकर सुखाकर शीशी में रख ले। मात्रा–१ माशे। अनुपान–पिप्पली चूर्ण तथा घृत।

पर्पटी के योग–रस पर्पटी–द्रव्य और निर्माण विधि–हिंगुल से निकाले पारद को क्रमश. जयन्ती, एरण्ड और मकोय के स्वरस से एक दिन मर्दन करके गर्म जल से धोले। गंधक का मोटा चूर्ण करके उसको सात दिनो तक भृंगराज के स्वरस में भिगोकर रखे। फिर उसको सुखाकर, भीतर से घृतलिप्त लोह की कड़ाही में रख कर आग पर चढाकर पिघलावे। फिर इस पिघले गंधक को छाने। छानने के लिये एक ऐसा घट ले जिसमे भृंगराज स्वरस आधा भरा हो और उसके मुंह के ऊपर मजबूत कपड़ा बँधा हो। छानने से गंधक घडे मे भृंगराज मे जाकर बैठ जायेगा फिर इस गंधक को निकाल कर गर्म जल से धोकर सुखा ले। इस प्रकार से शुद्ध किये पारद और गन्धक का सम भाग लेकर खरल मे मर्दन करके कज्जली बनावे। कज्जली बनाने में तब तक मर्दन करे जब तक पारद के कण (चन्द्रिका) अदृश्य न हो जाँय। पर्पटी बनाने के लिये इस कज्जली को अब एक बड़े लोहे के कलछी मे लेकर अग्नि पर रख पिघलावे। द्रव्य को लोहे के दंड से चलाता रहे। जब कज्जली द्रव हो जाय तब उसको जमीन पर गोबर बिछाकर उसके ऊपर केले का पत्ता बिछाकर उस पर ढाल दे। ढालने के साथ ही दूसरे केले के पत्ते से उसको ढके और दबा दे। जब पर्पटी ठंडी हो जाय तो शीशी मे भरकर रख दे। सेवन कराने के समय पर्पटी का महीन चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिये।

विविध पर्पटियाँ—इसी विधि से स्वर्णपर्पटी, (सुवर्ण-भस्म की अतिरिक्त योग से), लौह पर्पटी (लौह भस्म का अधिक योग) करके मण्डूर पर्पटी (मण्डूर भस्म के विशेष योग से), गगन पर्पटी (अभ्रक भस्म कज्जली के अतिरिक्त मिलाकर), ताम्र पर्पटी (ताम्र भस्म का अधिक योग करके), पचामृत पर्पटी (लौह भस्म, अभ्रभस्म, ताम्र भस्मो का कज्जली के अतिरिक्त योग से), विजय पर्पटी (रजत, सुवर्ण, मुक्तापिष्टि, वैक्रान्त, ताम्र, अभ्र, भस्म-यदि प्राप्य हो तो हीरक भस्म भी इन द्रव्यो के अधिक योग से निर्मित) नामक विविध पर्पटियाँ भी बनती है।

मात्रा और अनुपान—सामान्य प्रयोग में २ से ४ रत्ती तक पर्पटियो की मात्रा प्रतिदिन लगातार डेढ से दो मास तक करना चाहिये। विशेप प्रयोग मे जब पर्पटी का कल्प प्रयोग या वर्धमान प्रयोग चल रहा तो मात्रा एक रत्ती से प्रारभ करके, एक-एक रत्ती की मात्रा प्रतिदिन वढाते हुए अथवा दो दिनो के अतर मे प्रतिदिन वढ़ाते हुए दस मे बारह रत्ती तक रोगी का वलादि देखकर देने का विधान है। फिर रोगी के अच्छा होने तक वही मात्रा देता रहे। अर्थात् जब दस्त वंद हो जाय, पाचन सुधर जाय, अग्नि दीप्त हो जाय, आन्त्रकूजन (वायु के कारण) शान्त होने लगे तो प्रतिदिन या हर तीसरे दिन एक-एक रत्ती की मात्रा घटाकर एक रत्ती की मात्रा पर रोगी को लावे। कुछ दिनो तक यह मात्रा चलती रहे। रोगी स्वस्थ हो जाय तो औषध छुडा दे। दिन में एक ही खुराक मे अधिक मात्रा की औपधिको (८रत्ती या १० रत्ती) न देकर दिन मे कई वार मे विभाजित करके दो रत्ती से तीन रत्ती तक प्रति मात्रा देते हुए तीन या चार वार में देना उत्तम रहता है। सामान्यत वर्धमान पर्पटी कल्प प्रयोग मे ४० से ६० दिन लग जाते है।

अनुपान—भुना जीरा का चूर्ण १॥ से ३ माशे और घी मे भुनी हीग ½ रत्ती मिलाकर दे। या भुना जीरे का चूर्ण और शहद के साथ दे। ऊपर से दूध, दाडिम, छाछ, मोसम्मी मीठा नीबू या नारिकेल जल दे।

उपयोग रसपर्पटी—सब प्रकार के पचन विकारो (जाठराग्नि के दोपो) मे रसपर्पटी का उत्तम औपधि है, ग्रहणी, जीर्ण अतिसार, जीर्ण प्रवाहिका और अग्निमाद्य मे इसके प्रयोग से विशेप लाभ होगा है।

स्वर्ण पर्पटी—जाठराग्नि को दीप्त करने वाली, वलकारक और शरीर को पुष्ट करने वाली पर्पटी है ग्रहणी, सर्व प्रकार के क्षय रोग विशेपत. आन्त्र के क्षय में इससे विशेप लाभ होता है।

लौह पर्पटी—सूतिका रोग, प्लीहा, वृद्धि, यकृद्वृद्धि, अग्निमाद्य, पाण्डु रोग अम्ल पित्त और उदरशूल मे विशेप लाभ पद होता है।

मण्डूर पर्पटी—पाण्डु रोग, प्लीहा के रोग, शोथ, मन्दाग्मिन यकृद्दौर्वल्य मे विशेप लाभपद रहती है।

गगन-पर्पटी—मदाग्नि, पाण्डु रोग, राजयक्ष्मा, खाँसी और श्वास युक्त ग्रहणी रोग में विशेप लाभप्रद होता है।

विजय पर्पटी—कृच्छ्र साध्य ग्रहणी रोग, उपद्रव युक्त राज यक्ष्मा, पाण्डु रोग, प्लीहा के रोग, हृद्रोग, अम्लपित्त अथवा जीर्ण ज्वर युक्त ग्रहणी रोग में विजय पर्पटी एक उत्तम औपधि है। सुलभ हो तो इसी पर्पटी का प्रयोग और

रोगी व्ययसाध्य इस औषधि का प्रबंध कर सकता हो, तो कल्प रूप मे करना सर्वोत्तम रहता है।

पंचामृत पर्पटी—पर्पटी योगो मे यह एक अल्पव्ययसाध्य उत्तम योग है। अधिकतर इसी का व्यवहार कल्प योगो मे चिकित्सक करते है। इसमे अभ्र, ताम्र और लौह भस्म का योग हो जाने से औषधि की क्रिया जीर्ण-ग्रहणी रोगमे बडी उत्तम होती है। जीर्णातिसार, पाण्डु रोग, अरुचि, मंदाग्नि और ग्रहणी रोगमे इसका प्रयोग करना चाहिये। पचामृत पर्पटी के प्रयोग से भूख बढती है।

ताम्र पर्पटी—यकृत् के रोग, प्लीहा की वृद्धि और उदर के रोगो मे एक उत्तम औषधि है। शास्त्र में लिखा है कि ताम्र पर्पटी—छोटी इलायची और भुने जीरे के चूर्ण के साथ पुराने ग्रहणी रोग को, त्रिफला चूर्ण और मधु के साथ प्रमेह और पाण्डु रोग को, एरण्ड तैल के साथ सम्पूर्ण प्रकार के उदर-शूलो को और बाकुची के चूर्ण के साथ सेवन करने से दद्रु और श्वित्र को दूर करती है।

निरन्न चिकित्सा-पथ्य—वर्धमान पर्पटी प्रयोग मे शरीर का एक कल्प (नवीनीकरण या कायाकल्प) हो जाता है। रोगी को पूर्ण विश्राम से विस्तर पर रखना होता है। उसके पचन सस्थान को मुख से लेकर गुदा पर्यन्त आमाशयान्त्र प्रभृति अवयवो को पूर्ण विश्राम देने के लक्ष्य से रोगी को अन्न, जल, लवण, मसाले प्रभृति सामान्य ठोस भोजन को पूर्णतया बद कर दिया जाता है। उनको केवल द्रवाहार दूध अथवा तक्रपर रख कर (Bland diet) चिकित्सा की जाती है। इस चिकित्सा का लक्ष्य पचन सस्थान की पुरानी श्लेष्मल कला को नष्ट कर उसके स्थान पर नये श्लेष्मल कला का निर्माण तथा शोषणाङ्कुरो का पुनर्जनन और अधिक कार्यक्षम बनाना रहता है। इस तरह इस कल्प चिकित्सा के परिणाम स्वरूप पचन तथा शोषण की दोनो क्रियायें प्राकृत हो जाती है।

सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि तक्र और दूध इनमें से कौन सा द्रव पदार्थ रोगी के अनुकूल पडता है, तब किसी एक पर रख कर चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये। जिस रोगी की अग्नि बहुत मद है, पाचन की शक्ति बहुत क्षीण है और जिसके कोष्ठ मे वायु की अधिकता है उसको तक्र विशेष हित करता है। इसके विपरीत जिसके कोष्ठ मे वायु विशेष नही है और अग्नि अधिक मंद न हो उसे गोदुग्ध पर रखना चाहिये। दूध से शक्ति शीघ्र आती है। परन्तु तक्र लघु होने से पचन शीघ्र सुधरता है और मल जल्दी बँध जाता है।

प्रकृति तथा प्राप्यता (Availability) का भी विचार करना चाहिए। कभी कभी तक्र या दुग्ध मे से किसी एक का प्रारभ कराने पर रोगी

के पथ्य की प्रतिकूलता का ज्ञान होता है तो पथ्य का विपर्यय कर देना चाहिये। अर्थात् दूध बंद करके तक्र या तक्र बंद करके दूध पिलाना प्रारंभ कर देना चाहिये। स्त्रियों में दूध स्वभावतः कम रुचिकर होता है उन्हें प्रायः तक्र ही अनुकूल पड़ता है। पित्त प्रकृति वालों को गाय का दूध या अजादुग्ध अधिक हितकर होता है। हृदय की दुर्बलता होने पर तक्र की अपेक्षा दूध अधिक हितकर होता है। क्रिमियुक्त ग्रहणी रोग में दूध की अपेक्षा तक्र अधिक लाभप्रद पाया जाता है। अर्शोविकार युक्त ग्रहणी में भी तक्र उत्तम पथ्य रहता है। शोथयुक्त ग्रहणी में दूध का पथ्य उत्तम रहता है।

तक्र गोदुग्ध से नित्य ताजा बनाना चाहिये। बढ़िया जमे दही का ही तक्र देना चाहिये। थोड़ा थोड़ा करके नियमित समय पर तक्र या दूध पिलाना चाहिये जिसमें रोगी का बल न घटे, शीघ्र पचे और क्षुधा बढ़ती चले। दूध उबाला हुआ पतला ही पीने को देना चाहिये। बहुत गाढ़ा करके नहीं देना चाहिये। तक्र बनाने में शास्त्रीय विधान दही में चतुर्थांश उबाल कर ठंडा किया हुआ जल मिलाकर मथन करके घोल बनाकर देने का है, परन्तु आवश्यकतानुसार उसमें जल कुछ अधिक भी मिलाया जा सकता है। वातिक ग्रहणी में पूर्ण नवनीत युक्त तक्र, पैत्तिक में मध्यम नवनीत युक्त (अर्थात् कुछ निकाल कर नवनीत) और श्लैष्मिक ग्रहणी में पूर्णतया नवनीत हीन तक्र देना चाहिये। दूध या तक्र में थोड़ा पंचकोल चूर्ण एक माशे की मात्रा में मिलाकर लेना उत्तम रहता है। यदि दूध या तक्र रुचिकर न प्रतीत हो तो थोड़ी मिश्री डालकर मीठा करके दिया जा सकता है।

तृषा के शमन के लिये प्रायः दूध या तक्र का पी लेना ही पर्याप्त रहता है, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में यदि तृषा अधिक लगे तो रोगी को सौंफ का अर्क या नारिकेल जल या शृत-शीतजल पीने के लिए दिया जा सकता है। फलों में अनार का रस पीने को दिया सकता है।

पर्पटी प्रयोग विधि—इस निरन्न चिकित्सा में पर्पटी नामक औषधि का सेवन एक विशेष क्रम से एक विशिष्ट अवधि तक कराया जाता है। कई पर्पटियों के नाम ऊपर में उल्लिखित है। उनमें सर्वोत्तम विजय पर्पटी है, यह यदि सुलभ न हो तो पंचामृत पर्पटी हर हालत में बहुत अच्छी है। यकृद्विकार, रक्ताल्पत्व, शोथादि उपद्रवयुक्त ग्रहणी में इस का प्रयोग विशेष लाभप्रद रहता है। स्वर्ण-पर्पटी—संग्रहग्रहणी या मदज्वर युक्त ग्रहणी या क्षयज ग्रहणी में यह औषध लाभप्रद रहती है। यह हृद्य एवं बलवर्धक होती है।

पर्पटी सेवन कराने की शास्त्रीय विधि का ऊपर में उल्लेख हो चुका है। जिसमे १ रत्ती से मात्रा का आरभ करके प्रतिदिन एक ही रत्ती वढाते हुए कुल दस रत्ती तक ले जाते है पुन कुछ दिनो तक इस मात्रा को चालू रख कर क्रमश एक एक रत्ती घटाते हुए एक रत्ती पर लाकर पर्पटी का सेवन बंद कर देते हैं। पश्चात् कुछ चूर्ण, गुटिका, मोदक, आसवारिष्ट का प्रयोग करते हुए रोगी को प्रकृतस्थ कर लिया जाता है। स्वर्गीय वैद्य यादव जी त्रिक्रमजी आचार्य इसी क्रम के पक्षपाती थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के आयुर्वेदानुसधान विभाग के सचालक प० राजेश्वर दत्त जी शास्त्री का क्रम किंचित् इससे परिवर्त्तित है। यही क्रम हम लोगो को भी मान्य है। इसमे पर्पटी सेवन के एक दिन पूर्व रोगी को कृष्ण बीज चूर्ण ६ माशे की मात्रा मे कोष्ण दूध के साथ खिलाकर सचित मल को निकाल देना चाहिये। तत्पश्चात् पर्पटी एक एक रत्ती की दो मात्रा बनाकर भुने जीरा का चूर्ण ४ रत्तो से १ माशा और मधु ३ से ६ माशे तक मिलाकर प्रात -सायम् देना चाहिये। इस प्रकार दो दिनो तक देकर तीसरे दिन एक रत्ती और वढाकर ३ रत्ती को तीन मात्रा मे बाँटकर प्रात, मध्याह्न और सायं देना चाहिये। यह क्रम भी दो दिनो तक चले। इस प्रकार हर तीसरे दिन एक एक रत्ती की मात्रा वढाता चले और पर्पटी की मात्रा अधिक होने पर चार वार, पाँच वार या छ वार मे समय का विभाग करके दिन मे देवे। जब पर्पटी वारह रत्ती तक पहुँच जावे तब वढाना वद कर देवे। यदि इस मात्रा के पहुँचने पर भी मल बँध न रहा हो, दस्त पतले ही हो रहे हो तो यही मात्रा एक सप्ताह तक स्थिर रखे। इसके वाद एक एक रत्ती प्रतिदिन घटाता चले जव तक कि पर्पटी प्रारभिक मात्रा (२ रत्ती) तक न पहुँच जावे। इस आरोहावरोह क्रम मे रोगी को कोष्ठवद्धता हो तो हरीतकी चूर्ण ६ माशे देकर कोष्ठशुद्धि कर ले।

कई वार रोग के हल्का होने पर वारह रत्ती तक पहुचने के पूर्व ही छ या आठ या दस रत्ती तक पहुँचते ही मल बँध जाता है, भूक वढ जाती है, रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करने लगता है तो उसी मात्रा पर पर्पटी को रोक देना चाहिये। चार, पाँच दिनो तक उसी मात्रा पर स्थिर रखकर आगे न वढावे और ह्रासन या घटाने का क्रम चालू कर देना चाहिये। और रोगी को प्रारभिक मात्रा पर ले आना चाहिये। इस वर्धमान तथा ह्रासवान पर्पटी की प्रयोगविधि को पर्पटी कल्प कहा जाता है।

पर्पटी की मात्रावृद्धि के साथ साथ, रोगी क्षुधा और अग्निवल का विचार करते हुए एक एक पाव दूध या उतने ही का वना तक्र भी वढाता चले। दूध या

तक्र की वृद्धि प्रतिदिन या कुछ कुछ दिन ठहर कर भी की जा सकती है। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बढाने मे इतनी मात्रा न हो कि रोगी को अजीर्ण हो जावे। मात्रा इतनी देनी चाहिये कि कुछ कुछ बुभुक्षा बनी ही रहे। पर्पटी के घटाते समय पुन. दूध या तक्र की मात्रा घटाने की आवश्यकता नही रहती है, जितना रोगी पी सकता हो और पचा सकता हो पिलाते रहना चाहिये। दस, बारह सेर दूध या इतने का बना तक्र पी लेना एक साधारण बात है। कई बार बीस सेर या अधिक दूध पीते भी रोगी देखे गये है। यदि पर्पटी वृद्धि के साथ दूध पीने की क्षमता रोगी की अधिक न बढे तो चिन्तित होने की आवश्यकता नही रहती है। चार सेर या पाँच सेर तक दूध पर्याप्त है।

संसर्जन क्रम—[1] पर्पटी कल्प के समाप्त हो जाने पर सहसा प्राकृत भोजन पर रोगी को नही लाना चाहिये। अपितु ससर्जन करते हुए प्राकृत आहार पर लाना चाहिये। जैसे प्रथम दिन लाजमण्ड, दूसरे दिन लाजपेया। तीसरे दिन पुराने शालि या साठी के २॥ तोले चावल की पेया। चौथे दिन ४ तोला चावल। पाँचवे दिन १ छटाँक चावल की पेया। भूख बढती चले तो छठे दिन उतने चावल की विलेपी। यदि अन्न का सम्यक् परिपाक होता चले तो क्रमश चावल की मात्रा बढाता चले, परन्तु एक पाव तक पहुँच जावे तो बढाना बंद कर दे। इन पथ्यो को पचकोल युक्त करके लेना उत्तम रहता है। चावल का सेवन दूध या तक्र से यथाक्रम मीठा या नमकीन करके करना चाहिये। तक्र को रुचिकर बनाने के लिये भुने जीरे का चूर्ण और नमक मिलाकर भी लिया जा सकता है। इसके बाद मूग, अरहर या मसूर की पतली दाल बिना घी-मसाले से छौंके और उसके बाद घी, मसाले युक्त छौंक (जीरे की) लगाकर देना चाहिये। शाक-सब्जियो में पलाण्डु, खरबूजे, गूलर आदि देने चाहिये। पत्र शाक, मूल शाक (जड) तथा अन्य कई बातो का परहेज पर्पटी कल्प के अनन्तर रोगी को करना चाहिये। जैसे—निम्बादि पत्र शाक, अम्ल (खटाई), काजी, केले का फल, पत्र शाक, जड के शाक, खीरा, ककडी, तरोई, कुष्माण्ड, करैला, तरबूज आदि नही खाने चाहिये। साथ ही रात्रि-जागरण तथा स्त्रीसग का भी निषेध है।

मास-सात्म्य व्यक्तियो में मृग, तीतर, लवा, मुर्गा, छोटी मछली, बकरे को सिद्ध करके शोरबा देना चाहिये। जब खिचडी, चावल, दाल आदि रोगी को पचने लगे तो रोटी-दाल भी सेवन को देना चाहिये। पूडी, पराठे,

१. पेया विलेपीमकृतं कृतञ्च यूषं रस द्वित्रिरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकाय प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्ध ॥ (च सि १.)

पूवे, घेवर आदि घी या तेल के तले पदार्थों का परहेज हमेशा ही करना चाहिये। अन्य भी इस प्रकार के दुर्जर और गरिष्ठ भोजनो का सेवन ग्रहणी रोग से मुक्त को सर्दैव नही करना चाहिये। अन्न के प्रारभ हो जाने पर दूध और तक्र की मात्रा क्रमश कम कर देनी चाहिये। परन्तु एक बारगी नही बन्द करना चाहिये। गहणी के रोगी में रोगमुक्तावस्था के अनन्तर भी दही, तक्र और दूध के सेवन का क्रम सदा बनाये रखना उत्तम है।

ग्रहणी रोग में प्रयुक्त सिद्ध घृत—बिल्वगर्भ घृत, शुठीघृत, नागरघृत, चित्रक घृत, बिल्व घृत, मरिचाद्य घृत, पट्पल घृत, महापट्पल घृत तथा चाङ्गेरी घृत।

चाङ्गेरी घृत—पचकोल, गोक्षुर, धान्यक, बिल्वमज्जा, पाठा, अजवायन। इन द्रव्यो का समभाग मे लेकर पीस कर कल्क बना ले। फिर इस कल्क से चतुर्गुण घृत, घृत से चतुर्गुण चाङ्गेरी का स्वरस अथवा क्वाथ तथा घृत से चतुर्गुण दही और उतना ही पानी लेकर सबको कलईदार कडाही मे रख घृत को सिद्ध कर ले। यह योग अर्शोरोग, जीर्ण-प्रवाहिका, गुदभ्रंश तथा ग्रहणी मे लाभ करता है। **मात्रा** १-२ तोले। **अनुपान** अजाक्षीर या गोदुग्ध के साथ।

ग्रहणी रोग में प्रयुक्त होनेवाले तैल—बिल्व तैल, ग्रहणीमिहिर तैल, बृहद् ग्रहणीमिहिर तैल, दाडिमाद्य तैल। इन तैलो मे से किसी एक का अभ्यंग तथा पान लाभ-प्रद होता है।

ग्रहणी मे प्रयुक्त आसवारिष्ट-तक्रारिष्ट, पिप्पल्याद्यासव तथा कुटजारिष्ट।

कुटजारिष्ट—कुटजकी छाल ५ सेर, मुनक्का २॥ सेर, महुए का फूल आधा सेर, गाम्भारी की छाल आधा सेर, जल १ मन ११ सेर ३ छटाँक। क्वाथ बनाकर चतुर्थांश शेप करे। फिर इसे एक घट मे रख कर उसमे धाय का फूल १ सेर, गुड ५ सेर मिलाकर। १ मास तक सधान। **मात्रा** २ तो०। **अनुपान** समान जल मिलाकर भोजन के पश्चात्।

ग्रहणी मे एक व्यवस्था पत्र—१ पचामृत पर्पटी ३ र०, अजीर्णकटक ३ र०, लाचा चूर्ण २ माशा मिलाकर ३ मात्रा मधु से दिन मे तीन बार। २ कुटजारिष्ट भोजन के बाद २ चम्मच समान जल मिलाकर।

●

आठवाँ अध्याय

अर्शोरोग प्रतिषेध

क्रियाक्रम—अर्शो रोग को विनष्ट करने के लिये चार प्रकार से चिकित्सा की जाती है। भेषज, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि। इनमें आद्य अर्थात् भेषज चिकित्सा ही अपना प्रतिपाद्य विषय है। आचार्य सुश्रुतने इनकी चतुर्विध साधनोपाय नाम से व्याख्या की है और बतलाया है कि अचिरकालजात (जो चिरकाल से न हो), अल्प दोष, लक्षण एवं उपद्रवो से युक्त तथा अदृश्य अर्शो मे प्राय. भेषज के द्वारा उपचार करना उत्तम रहता है। मृदु अकुर युक्त, फैले हुए (प्रसृत), गहराई में पहुचे हुए (अवगाढ एव उच्छ्रित) अर्श के अकुरो मे अथवा वातश्लेष्मज या रक्त-पित्त दोपयुक्त अवस्था में क्षार कर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। कर्कश-स्थिर-स्थूल और कठिन (कडे) अर्शाङ्कुरो मे अथवा वातश्लेष्मज दोपयुक्त अर्श मे अग्निकर्म के द्वारा उपचार ठीक रहता है तथा तनुमूल (पतले जड़ वाले), उठे हुए (उच्छ्रित) एवं क्लेदयुक्त सभी प्रकार के दोपोत्पन्न अर्शाङ्कुरो मे शस्त्रकर्म के द्वारा उपचार करना उत्तम रहता है। (सु चि. ६)[1]

चरक ने भेपज (औपधि-योग) से अर्श की चिकित्सा करने को सर्वोत्तम साधन माना है तथा उसकी अधिकार-पूर्ण प्रशसा भी की है। काय-चिकित्सा के समर्थक होने के कारण उन्होने अपने भेपज-साधन को सुखोपाय और अदारुण कर्म नाम से प्रशसा की है और अर्शोकी समूल निवृत्ति के लिये भेपज-साधन को हेतु भी माना है। दूसरे साधनोपायो को अर्थात् शस्त्र-क्षार एव अग्निकर्म को उतना उपयुक्त न मानते हुए इन क्रियावो से चिकित्सा करने की पद्धति की चुटकी भी ली है। उनका कथन है कि कुछ लोगो का कहना है कि अर्श के मस्सो को काटकर निकालना चाहिये। दूसरे क्षार के द्वारा जलाने की सलाह देते है और अन्य लोगो ने अग्नि के द्वारा दाह का विधान बतलाया है। इसमें सन्देह नही ये सभी मत बडे आचार्यो के है तथा तन्त्रसम्मत है। साथ ही कर्म करने वाले चिकित्सक भी दृष्टकर्मा और प्रत्यक्षाभ्यासी व्यक्ति होते है और तीनो क्रियाये अर्श के प्रतिकार रूप मे प्रचलित हैं। परन्तु निजी अनुभव मे इनकी क्रियावो के द्वारा कई प्रकार के उपद्रव होते देखे गये है। जैसे, दारुण गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), पुंस्त्वोपघात (Impoteny), गुदपाक

---

१. दुर्नाम्ना साधनोपायश्चतुर्धा परिकीर्त्तित ।
भेषजक्षारशस्त्राग्निकर्म चाद्यन्तु सम्मतम् ॥

(Proctitis), आध्मान, दारुण शूल, रक्तातिस्राव (Haemorhgea) तथा अर्शका पुनरुद्भव (Ralapses) तथा कई वार इन कर्मो मे असावधानी से मृत्यु तक हो जाती है। अस्तु, जो कर्म सुविधापूर्वक किया जा सके उसी कर्मों का उल्लेखहम करते हैं जिनसे अर्श जड के साथ नष्ट हो जाते हैं।[1]

अर्श रोगो में प्रधान कारण मन्दाग्नि (अग्निमदता) रहती है। अर्श, अतिसार तथा ग्रहणी तीनो रोग एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और वहुधा एक दूसरे के उत्पादक रूप मे पाये जाते हैं। उन सवो की उत्पत्ति मे अग्निमदता ही प्रधान हेतु के रूप में पाई जाती है। अग्नि के मंद होने पर ये उत्पन्न होते हैं और अग्नि के दीप्त होने पर ये स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। अस्तु इन रोगो के उपचार मे अग्नि को दीप्त करने के लिये जो भी उपचार प्रशसित हैं उनका उपयोग करना चाहिये।[2]

अस्तु अर्श को चिकित्सा मे १ वातानुलोमक (वायु के अनुलोमन के लिये), २ अग्नि के वल को वढाने के लिये (अग्निवर्धक) ३ विवधहर (कोष्ठ की वद्धता को दूर करने के लिये) जो अन्न, पेय तथा भेपज द्रव्य हैं उनका प्रयोग नित्य अर्श मे करना चाहिये।[3] यदि अर्श रोग का अतिसार (पतले दस्त) आ रहे हो तो वातातिसारवत् चिकित्सा करे और अगर पुरीप वद्ध या गाँठदार हो तो उदावर्त्त रोग के सदृश उपचार करना चाहिये।[4]

अर्श रोगो के छ प्रकार शास्त्र मे (वात-पित्त-कफ-रक्त-त्रिदोप और सहज भेद मे) वतलाये गये हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से दो ही भेद कर लेना पर्याप्त होता है कि अर्श शुष्क है या स्रावी? शुष्क अर्श अधिकतर गुदा की वाह्य वलियो

---

१ तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तन हितमर्शसाम्। दाह क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना ॥ अस्त्येतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा। क्रियते त्रिविध कर्म भ्रशस्तत्र सुदारुणम् ॥ पुंस्त्वोपघात श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रह। आध्मान दारुण शूल व्यथा रक्तातिवर्त्तनम् ॥ पुनर्विरोहो रूढाना क्लेदो भ्रशो गुदस्य च। मरण वा भवेच्छीघ्र शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥ यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रशमदारुणम्। तदर्शसा प्रवक्ष्यामि समूलाना निवृत्तये ॥ (च चि १४)

२ अर्शोऽतिसारा ग्रहणीविकारा प्रायेण चान्योऽन्यनिदानभूता।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेपु विशेपतोऽग्निम् ॥

३ यद् वायोरानुलोम्याय यदग्निवलवृद्धये।
अन्नपानौषधद्रव्य तत्सेव्य नित्यमर्शसै ॥

४ वातातिसारवद् भिन्नवर्चास्यर्शास्युपाचरेत्।
उदावर्त्तविधानेन गाढविट्कानि चासकृत् ॥

में स्थित होते हैं उनके मस्से (अंकुर) दृश्य होते हैं और उनमें वेदना अधिक होती है (वादी ववासीर)। स्रावी अर्श प्रायः गुदा के मध्य या अन्तः वलियों में पैदा होते हैं, उनके अंकुर (मस्से) दिखलाई नहीं पड़ते (अदृश्य होते हैं)— इनमें वेदना अल्प या नहीं रहती है, रक्तस्राव ही एक प्रमुख लक्षण पाया जाता है। शुष्क में वायु और श्लेष्मा दोषों की प्रबलता होती है और स्रावी अर्शों में रक्त और पित्तदोषों की प्रबलता पाई जाती है।

अस्तु दृश्य शुष्कार्शों में तीक्ष्ण द्रव्यों से निर्मित प्रलेपादि, अभ्यंग, स्वेद, सेक, अवगाहन, धूपन, उपनाह, गुदवर्त्ति तथा रक्तावसेचन प्रभृति स्थानिक उपचार, तीक्ष्ण पाचन द्रव्यों के अंतः प्रयोग से उपचार करना चाहिये। अदृश्य स्रावी अर्शों में रक्तपित्त (अधोग) सदृश मृदु एवं पित्तशामक आभ्यंतर प्रयोग से उपचार करना चाहिये।[1] इसमें मृदु वमन और रेचन कर्म लाभप्रद रहता है। कोष्ठशुद्धि का ध्यान रखना सभी प्रकार के अर्शों की चिकित्सा में प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। दोषभेद से विचार करें तो वातिक में स्नेहन-स्वेदन, पैत्तिक में रेचनादि, श्लैष्मिक में वमनादि, मिश्र दोषों से उत्पन्न में मिश्रित तथा पित्त-सदृश ही क्रिया रक्तज अर्शों में प्रकीर्त्तित है।

रक्तार्श में रक्त-पित्तशामक उपचार करे। अर्श से निकलने वाले रक्त की प्रारंभ में उपेक्षा करनी चाहिये और उसको निकलने देना चाहिये-क्योंकि प्रारंभ में जो दूषित रक्त निकलता है—उसके रोकने से बहुत तरह के कामलादि उपद्रव होने लगते हैं–अस्तु प्रारंभ में रक्त के रोकने के लिये स्थानिक या सार्वदैहिक रक्तस्तंभक उपचार नहीं करना चाहिये। परन्तु दुष्ट रक्त के निकल जाने पर रक्त का संग्रहण करना चाहिये। अथवा यदि रक्तस्राव तीव्र हो तो आत्ययिक अवस्था समझ कर उसका संग्रहण प्रारंभ में भी किया जा सकता है।

रक्तार्श की चिकित्सा में जाठराग्नि को उद्दीप्त करने के लिये, रक्त के संग्रहण (स्तंभन) के लिये तथा दोषों के लिये तिक्त रसात्मक द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। रक्त के अधिक स्रुत हो जाने से वायु की वृद्धि अधिक हो जाती है ऐसी स्थिति स्नेहसाध्य रहती है अस्तु-पिलाने, मालिश तथा अनुवासन के लिये स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। पित्तोल्बण रक्तस्राव में,

---

१ शुष्कार्शसां प्रलेपादिक्रिया तीक्ष्णा विधीयते। स्राविणां रक्तमालोक्य क्रिया कार्यास्रपित्तिकी ॥ स्नेहाः स्वेदादयो वाते पित्ते स्यू रेचनादयः। कफे वान्त्यादयोऽर्शःसु मिश्रे मिश्राः प्रकीर्त्तिताः ॥ पित्तवद् रक्तजे कार्यः प्रतिकारोऽर्शसि ध्रुवम्। (च.)

दुर्वल रोगी मे जिनमे वात-कफ का अनुवंध नही हो और ग्रीष्मकाल हो तो उनका स्तभन तत्काल करना चाहिये।

रक्तजे पित्तवैशेष्याद्रक्तपित्तहरी क्रिया।
प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यवुद्धिमान्।
शोणितं दोपमलिनं तद्रोगान् जनयेद्बहून्॥
तस्मात्स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं मतम्।
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्॥
अग्निसंदीपनार्थञ्च रक्तसंग्रहणाय च।
दोपाणां पाचनार्थञ्च परं तिक्तैरुपाचरेत्॥
यत्तु प्रक्षीणदोपस्य रक्तं वातोल्वणस्य च।
वर्त्तते स्नेहसाध्यन्तत्पानाभ्यङ्गानुवासनैः॥
यत्तु पित्तोल्वणं रक्त घर्मकाले प्रवर्त्तते।
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम्॥ (चर),

अर्श रोग मे तक्र—तक्र का निरन्तर सेवन करने से अर्श रोग नष्ट हो जाता है और नष्ट हो जाने पर पुन नही उत्पन्न होता है। ग्रहणी और अतिसार रोग मे भी तक्र सेवन की प्रशसा हो चुकी है। अव यहाँ अर्श समान उत्पादक हेतु होने की वजह से पुन उसका विधान किया जा रहा है। चरकने लिखा है कि जव पृथ्वी मे एक वार घास को निकाल कर उसकी जडमे तक्र छोडने से पुन नही उगता फिर दीप्त जाठराग्नि वाले पुरुपका शुष्क अर्श तक्र के उपयोग से कैसे-शेप रह सकता है? तक्र के निरन्तर प्रयोग से भी सभी स्रोत शुद्ध हो जाते हैं, पाचन शक्ति तीव्र होती है, अन्न का सम्यक् परिपाक होने से पक्व रस पैदा होता है। उस से रक्त, मासादि धातुओ की यथाक्रम सम्यक् वृद्धि होती है। शरीर पुष्ट होता है। शरीर मे वल-वर्ण-कान्ति का उदय होता है। मन मे प्रसन्नता आती है, वस्तुत वातश्लेष्मोल्वण अर्श के लिये तक्र से वढ कर कोई औपध नही है। अर्श के रोगियो मे जिनकी अग्नि वहुत मद है उनमे कुछ दिनो तक अन्न न देकर तक्र पर ही रखना चाहिये और जव अग्नि दीप्त हो जाय तो तक्र के साथ लघु भोजन रोगी को देना चाहिये।

अग्नि के वल तथा दोप का विचार करते हुए तक्र का भी प्रयोग करना उत्तम रहता है। जैसे, यदि पचन शक्ति पर्याप्त हो तो अनुद्धृत स्नेह तक्र (विना मक्खन निकाला), यदि पचन शक्ति मध्यम हो तो अर्धोद्धृत स्नेह (आधा मक्खन निकाला) तक्र और अग्नि वहुत मद हो तो रूक्ष (पूरा मक्खन निकाला) तक्र पीने को दे। दोपानुसारवात की अधिकता मे अनुद्धृत स्नेह,

पित्त की अधिकता मे मध्योद्धृत तथा कफ की अधिकता में पूर्णोद्धृत या रूक्ष तक्र पीने को देना चाहिये।

तक्र को चित्रकमूल चूर्ण के साथ मिश्रित करके पिलाने का नियम है। इसके लिये एक विधि यह कि चित्रक के जड के कल्क को मिट्टी की हडिया के भीतर लेप कर के सुखालेवे और उसमे तक्र डालकर पी जावे अथवा उसमें यथाविधि गोदुग्ध छोडकर दही जमा ले, उस दही या तक्र का सेवन करे। यह अर्शोहर प्रयोग होता है। यह संभव न हो तो चित्रकमूल चूर्ण (एक माशा, तक्र में मिलाकर पी जावे।[1] अथवा अजवायन ३ माशे। विडलवण ½ तोला तक्र मे मिलाकर भोजन के बाद सेवन करना कोष्ठवद्धता को दूर करता है।[2]

शुष्कार्श मे भेषज—आभ्यंतर प्रयोग--

गुडहरीतकी—६ माशे हरीतकी और एक तोला गुड मिलाकर प्रातः काल सेवन।

२ एक द्रोण गोमूत्र में हरीतकी के सौफलो का स्वेदन करके एक एक का सुबह-शाम ब्रह्मचर्य रखकर सेवन।

३ सगुड़ कणा अभया—गुड़ १ तोला, पिप्पली ४ रत्ती और हरीतकी ६ माशे मिश्रित सेवन।

४ त्रिवृत् (निशोथ) ३ माशे या दन्तीमूल का चूर्ण ३ माशे तथा गुड़ १ तोला के साथ सेवन। ५ तिल आरुष्कर—तिलका चूर्ण ६ माशे और शुद्ध भल्लातक एक माशा मिश्रितकर तक्र या गोदुग्ध या शीतल-जल से सेवन। ६ तिलभल्लातक-काले तिल, शुद्ध भल्लातक तथा गुड का समान मात्रा मे बना योग दो माशे भर की मात्रा मे गोली बनाकर सेवन। ७ चित्रक मूल का मट्ठा या सीधु के साथ सेवन। ८ तक्र या मट्ठे के साथ जौके सत्तू का नमक मिलाकर सेवन। ९

---

१ त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्। तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ॥ वातश्लेष्मार्शसां तक्रात्परं नास्तीह भेषजम्। तत्प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ॥ रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्। तक्रं दोषाग्नि-बलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥ भस्मावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम्। किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥ स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः साम्यमुपैति यः। तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥ नास्ति तक्रात्परं किंचिदौषधं कफवातजे। पिबेदहरहस्तक्रं निरन्नो वा प्रकामतः ॥ अत्यर्थं मन्दकायाग्नेस्त-क्रमेवावचारयेत्। (चर)

२ विड्विबन्धे हितं तक्रं यमानीविडसंयुतम्। (भै र)

पंचकोल, विडङ्ग, हरीतकी चूर्ण युक्त तक्र का एक मास तक निरन्न रहकर सेवन। १० शृङ्गवेर (अदरक), पुनर्नवा और चित्रक से सिद्ध दूध का सेवन। ११ चित्रक मूल और क्षारोदक से यव के ओदन (भात) का सेवन।

१२ पुटपक्व शूरण प्रयोग—सूरण के ऊपर मिट्टी का २ अगुल मोटा लेप कर अग्नि मे पकाकर भर्त्ता बनाकर नमक और तेल के साथ सेवन।

१३. वैंगन (भण्टा) का भर्त्ता बनाकर सेवन।

भेपज-योग—चिरविल्वादिकषाय—चिरविल्व (करजकी गुद्दी), पुनर्नवा, चित्रक मूल, अभया, छोटी पीपली, सोंठ तथा सैंधव के सम भाग में सिद्ध कपाय का सेवन।[1]

लवणोत्तमादिचूर्ण—सैन्धवलवण, चित्रकमूल, इन्द्र जौ, करञ्ज बीज की मज्जा, वकायन के बीज की गुद्दी समभाग मे चूर्ण। मात्रा ३ माशे–६ माशे। अनुपान तक्र (मट्ठे)। एक सप्ताह के प्रयोग से पर्याप्त लाभप्रद।[2]

— समशर्करचूर्ण—छोटी इलायची १ तोला, दालचीनी २ तो तेजपत्र ३ तोला, नागकेसर ४ तोला, काली मिर्च ५ तोला, पीपरि ६ तोला, सोंठ ७ तोला सब के बराबर मिश्री मिलाकर बनाया चूर्ण। मात्रा ३ माशे से ६ माशे की अनुपान जल। श्वास कास, अर्श तथा अग्निमाद्य मे लाभप्रद।[3]

भल्लातक अथवा कुटजत्वक्—शुष्कार्श मे भल्लातक और रक्तार्श मे कुटजत्वक् का योग सर्वोत्तम हैं। सभी प्रकार के अर्श मे सभी ऋतुवो मे शक्ति-वर्द्धक, अग्निबल कारक और मलशोधक आहार और पथ्य देना चाहिये।[4]

उपर्युक्त प्रयोगो द्वारा अग्नि दीप्त होती है और—कारण के नाश से कार्य का नाश—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्शाङ्कुर नष्ट होते हैं। अर्शाङ्कुरो पर कई प्रकार के अभ्यग, लेप आदि का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। ऐसे कुछ योगो का नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

---

१ चिरविल्वपुनर्नववह्न्यभयाकणनागरसैन्धवसाधितकम्।
गुदकीलभगदरगुल्महर जठराग्निविवर्धनमाशु नृणाम्॥

२ लवणोत्तमवह्निकलिङ्गयवान् चिरविल्वमहापिचुमर्दयुतान्।
पिव सप्तदिन मथितालुलितान् यदि मर्दितुमिच्छसि पायुगदान्॥

३ शुण्ठीकणामरिचनागदलत्वगेल चूर्णीकृत क्रमविवर्द्धितमूर्ध्वमन्त्यात्।
खादेदिद समसित गुदजाग्निमाद्यकासारुचिश्वसनकण्ठहृदामयेपु॥
(भै र)

४ शुष्केपु भल्लातकमग्र्यमुक्त भैपज्यमार्द्रेपु च वत्सकत्वक्।
सर्वेपु सर्वर्त्तुषु कालशेयमर्शसु वल्य च मलापहञ्च॥

बाह्य या स्थानिक प्रयोग—अभ्यंग तथा स्वेद—स्तब्धता, शोफ और शूल से युक्त गुदकार्श मे 'पचगुण तैल या पिप्पल्यादि तैल (चित्रक-यवक्षार-बेल से यथाविधि सिद्ध तैल) का अभ्यग करके सोवा और घोडवच की पोट्टली या भाँग की पत्ती की पोट्टली बनाकर या सहिजन के छाल को पोट्टली बनाकर आग पर तवा रख कर उस पर गर्म करके सेंक करना। **सेक**—वासक, अर्क, एरण्ड, बिल्व के पत्रो का काढा बना कर गुनगुने (कोष्ण जल से) अर्शाङ्कुरो का धोना। **अवगाहन**—झरवेर या बिल्व के छाल की काढे को कोष्ठक (Tub) में भर कर कुछ समय तक उसमें बैठना आर्शोङ्कुरगत शोथ और वेदना का शामक होता है। **धूपन**—सम भाग मे गुग्गुलु, भूर्जपत्र, देवदाली (बन्दाक), घी, शर्करा लेकर आग मे छोडकर गुदाङ्कुरो पर धुवा देना अथवा मनुष्य के बाल, साँप की केचुल, बिडाल का चमडा, मदार की जड और शमीपत्र, समभाग मे लेकर आग पर छोड कर मस्सो पर धुवाँ देना। **लेप-अर्कक्षीरादि लेप**—अर्क क्षीर (मदार का दूध), स्नुहीक्षीर (सेहुडका दूध),कडुवी लौकी की पत्ती, करञ्ज का फल सब समभाग मे लेकर बकरी के मूत्र मे पीस कर अकुरो के ऊपर लेप करना। **हरिद्रादि लेप**—हरिद्राका चूर्ण, कडवी तरोई की पत्ती, बीज या जड का चूर्ण बराबर बराबर लेकर सरसो के तेल मे मिलाकर लेप करना। स्नुही क्षीर और हरिद्रा के चूर्ण का लेप अथवा दन्ती बीज, तूतिया या कासीस, कबूतर या मुर्गे की विष्ठा और गुड को एक में पीस कर लेप करना। **उपनाह**—भाँग, कुकुरौंधा की पत्ती, महुवे का फूल या केवल कुकुरौंधा को पानी में पीस कर टिकिया जैसे बनाकर गर्म करके मस्सो पर बाँधना अथवा चक्रमर्द के बीज को पीस कर गर्म करके बाँधना। **गुदवर्ति**—कडवी तुम्बी के बीज, शिरीष के बीज, खारीलवण या साभर लवण, कडुवी तरोई के बीज की गुद्दी और गुड मिलाकर पिवला कर लम्बी वर्ति (Suppository) बनाकर गुदा में धारण करना। **पिचुधारण**—कासीसाद्य तैल (शा स.) या पिप्पल्यादि तैल की रूई में प्लोत बनाकर गुदा मे धारण करना। **जलौका**—उपयुक्त उपायो से यदि अर्शोङ्कुरगत वेदना, शोफ और स्तंभ का शमन न हो तो जलौका (जोक) लगाकर दूषित रक्त को निकालना चाहिये। अथवा सर्वप्रथम फूले हुए अर्शोङ्कुरो का दूषित रक्त जोक से निकलवा कर पश्चात् ये लेप, सेक आदि उपचारो को बरतना चाहिये।

रक्तस्रावी अर्श मे आभ्यंतर भेषज—१. अपामार्ग मूल को मरिच, मिश्री और चावल के पानी के साथ पिलाना। २. दूध के साथ सतावरी का सेवन। ३. कुटज और बदाक मूल का कल्क मट्ठे के साथ लेना। ४. काले तिल

का ६ माशे प्रतिदिन शीतल जल मे प्रात काल मे सेवन। अथवा कालातिल १ तोला, शक्कर १ तोला बकरी के दूध के साथ सेवन। १४ अभ्यास—नवनीत (मक्खन) और तिल के अभ्यास मे, केशर, नवनीत और मिश्री के अभ्यास से, सारयुक्त दधि का मथकर सेवन के अभ्यास से अर्थात् नित्य सेवन करने से रक्तार्श रोग दूर होता है।[1]

५ असली नागकेसर या केसर का मक्खन और मिश्री के साथ सेवन। ६ वनतण्डुलीयक का तण्डुलोदक से सेवन (वन चौलाई की जड ६ माशे, मधु ३ माशे, मिश्री ३ माशे, तण्डुलोदक एक छटॉक छानकर पिये) ७ मण्डूकपर्णी का स्वरस मधु के साथ मिलाकर सेवन। ८ कच्ची मूली का चीनी के साथ सेवन या पलाण्डु का सेवन। ९ कुटज की छाल, बिल्वफल-मज्जा और शुठी का सेवन। अथवा केवल कुटज की छाल को तक्र के साथ पीसकर सेवन। १० गेन्दे के फूल और पत्ती का स्वरस ६ माशे दिन मे दो बार रक्तार्श मे लाभप्रद पाया गया है। ११ दाडिम (अनार) फल के छिल्के को पीसकर चीनी के साथ सेवन। १२ असली केसर या नागकेसर ४ रत्ती की मात्रा मिश्री और चावल के पानी के साथ देना भी लाभ-प्रद होता है। १३ कमलिनी का कोमल पत्र पीसकर बकरी के दूध और मिश्री के साथ पीना।

भेषज योग—

१ नागकेशर योग—नागकेशर, खूनखराबी (दमउल अखवेन) का सम-मात्रा मे बना योग। २ माशे। अनुपान शीतल जल, बकरी का दूध या चावल के जल के साथ।

२ चंदनकिराताद्रि कषाय—रक्त चदन, चिरायता, जवासा, सोठ, इन्द्र जौ, कुटज की छाल, खस, अनार के फल का छिलका, दारुहल्दी, नीम की छाल, लज्जालु, अतीस और रसोत समभाग मे लेकर यथाविधि क्वाथ। शीतल होने पर मधु मिलाकर एक छटॉक की मात्रा मे दिन मे तीन बार सेवन रक्त का सद्यः सग्राहक होता है।

३ समङ्गादि चूर्ण—मजीठ, नील कमल, मोचरस, लोध्र, कालीतिल, श्वेत चदन, लाजवन्ती। समभाग चूर्ण। मात्रा ३ माशे। अनुपान अजाक्षीर।

बाह्य धूपन—नृकेशादि धूम (जिसका उल्लेख ऊपर मे शुष्कार्श मे हो चुका है।) अथवा राल-कर्पूर धूम राल एव कपूर को अग्नि मे जलाकर गुदा

---

१. नवनीततिलाभ्यासात केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासाद् गुदजा शाम्यन्ति रक्तवहाः॥ (भै र)

का धूपन करने से रक्तस्राव बद होता है। **दाहशामक अभ्यंग**—दाह के निवारण के लिये शतधौत अथवा सहस्रधौत घृत का लेप अगुली की सहायता से गुदा मे करना। **अवगाहन**—यदि अधिक रक्तस्राव हो और गुदा मे दाह हो तो, मधुयष्टि, खस, पद्म काष्ट, रक्त चदन, कुश और कास की जड के उवाले शीतल जल को टव मे भर दे और उसमें रोगी को कुछ देर के लिये बैठावे। **पिचुधारण**—कई वार रक्तार्श मे अत्यधिक रक्तस्राव होने लगता है और वह बद नही होता उस अवस्था मे वर्फ मे तर करके कपडे की वर्त्ति (Gawge) या उदुम्बर सार मे भिगोयी वर्त्ति को गुदा मे भरना लाभप्रद रहता है। रसोत और गोधृत, राल और गोधृत, सफेद चदन का धृष्ट और गोधृत अथवा नीलोत्पल चूर्ण और गोधृत का गुद वलियो मे लेप भी लाभप्रद रहता है। **पिच्छा वस्ति**—जवासा, कुश और कास की जड, सेमर का फूल, वरगद, गूलर और पीपल का शुंग प्रत्येक दो-दो पल, जल ३ प्रस्थ, गोदुग्ध १ प्रस्थ सवको एक मे पकावे जव दूध मात्र अवशिष्ट रहे तो छान ले। उसमे सेमल की गोद, लाजवन्ती, चंदन, नीलोफर, इन्द्रजौ, फूल प्रियगु और कमल की केसर का कल्क छोडकर मथकर वस्ति यंत्र में भरकर वस्ति दे। यह योग सद्य. रक्तस्तंभक होता है और रक्तार्श के अतिरिक्त प्रवाहिका और गुद-भ्रंश में भी उपयोगी है।

अर्श रोग मे व्यवहृत होने वाले प्रसिद्ध एवं दृष्टफल योग—

मोदक—नागरादि मोदक, अगस्ति मोदक, स्वल्प शूरण मोदक तथा,

वृहत् सूरण मोदक—सूरणकद (ओल या जमीकद) १६ भाग, चित्रक की जड ८ भाग, शुठी चूर्ण ४ भाग, कालीमिर्च का चूर्ण २ भाग, त्रिफला चूर्ण ४ भाग, पिप्पली, पिप्पली मूल, तालीश पत्र, शुद्ध भल्लातक, वायविडङ्ग प्रत्येक ४ भाग, मुसलीकद ८ भाग, वृद्धदारुक (विधारे के वीज का चूर्ण) १६ भाग, छोटी एला ४ भाग। इन सभी द्रव्यो की मिश्रित मात्रा के द्विगुण पुराना गुड। मात्रा २ तोले। **अनुपान** दूध। इस योग के लम्वे समय तक प्रयोग करने से विना किसी शस्त्र कर्म क ही अर्शोङ्कुर नष्ट हो जाते है और अग्नि दीप्त होती है।

काङ्कायन मोदक—हरीत की चूर्ण ४ तोले, जीरक, मरिच, पिप्पली प्रत्येक १ तो, पिप्पली मूल दो तोले, चव्य का चूर्ण ३ तोले, चित्रक चूर्ण ४ तोले, शुठी चूर्ण ५ तोले, शुद्ध यवक्षार २ तोले, शुद्ध भल्लातक ८ तोले, सूरण कंद १६ तोले। इस चूर्ण से द्विगुण पुराना गुड (१ सेर) लेकर भली प्रकार मे आलोडित कर पूरा करे। ४ माशे की मात्रा मे मोदक वना ले। प्रात १ या दो मोदक। शीतल जल या तक्र से।

कुजट लेह—कुटज का कषाय बनाकर उसमे गुड, घृत मिलाकर गाढा करना उसमे निम्नलिखित द्रव्यो का प्रक्षेप–शुद्ध भल्लातक, वायविडङ्ग, त्रिकटु, त्रिफला, रसाञ्जन, चित्रक मूल, इन्द्र जौ का चूर्ण, वचा, अतीस तथा बिल्व फल मज्जा समभाग मे। इस लेह मे घृत और शहद मिलाकर रख ले। मात्रा १ तोला। अनुपान घृत, मधु तक्र या जल। सभी प्रकार के अर्श मे, ग्रहणी, अम्लपित्त तथा अतिसार रोग मे भी लाभप्रद होता है।

श्री बाहुशाल गुड—त्रिवृत्, दन्तीमूल, चव्य, गोखरु, चित्रकमूल, कचूर, इन्द्रायण की मूल, नागरमोथा, शुण्ठी, वायविडङ्ग, हरीतकी प्रत्येक एक तोला, शुद्धभल्लातक ८ तोले, वृद्धदारुक का शुद्ध बीज ६ तोले, शुद्ध शूरण कद १६ पल। इन द्रव्यो का क्वाथ बनाकर उसमे सवा ६ सेर पुराना गुड डालकर अग्नि पर चढाकर गाढा करे। पुन उसमे निम्न लिखित आठ द्रव्यो का प्रक्षेप छोडकर एक मे मिलाकर रखे। प्रक्षेप द्रव्य-त्रिवृश्तमूल २ तोले, चव्यचूर्ण २ तोले, सूरणकद चूर्ण २ तोले, चित्रक मूल चूर्ण २ तोले, सूक्ष्मैला, दालचीनी, मरिच और गजपिप्पली चूर्ण प्रत्येक ६ तोले (मात्रा १ तोले) प्रतिदिन शीतल जल से। यह एक सिद्ध योग है। इसके लम्बे समय तक छ. मास या एक वर्ष के प्रयोग से अर्श रोग अवश्य नष्ट होता है।

दन्त्यरिष्ट—दन्ती, चित्रक, लघुपचमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कटकारिका, गोक्षुर), बृहत् पचमूल (बिल्व, अग्निमथ, सोनापाठा, पाटला, गाम्भारी), इनमे प्रत्येक का चार-चार तोले, तथा त्रिफला १२ तोले। इन द्रव्यो का यवकुट करके क्वाथ्य द्रव्य, जल १२ सेर, १२ छटाँक ४ तोले। क्वाथ करके चतुर्थांश अवशिष्ट जल मे ५ सेर पुराना गुड मिलाकर घट मे भर आसवारिष्ट विधि से सधान एक मास तक करे। फिर छानकर बोतल मे भर कर प्रयोग करे। मात्रा २॥ तोले। अनुपान समान जल मिलाकर। दोनो समय प्रधान भोजन के बाद। यह तीव्रवातानुलोमक और विवधहारक (मलशोधक) होता है। जीर्ण विवध और अर्श के रोगियो मे समान भाव से उपयोगी है।

अभयारिष्ट—गुठली रहित हरीतकी फल ५ सेर, मुनक्का २½ सेर, वायविडङ्ग और मधूक पुष्प (महुवे का फूल) प्रत्येक आधासेर। इन द्रव्यो को १२ सेर, १२ छटाँक ४ तोले अर्थात् १ द्रोण जल मे अग्नि पर चढाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनावे। पश्चात् शीतल होने पर आसव विधि से ५ सेर पुराना गुड मिलाकर निम्नलिखित प्रक्षेप द्रव्यो को डाल कर सधान करे। प्रक्षेप द्रव्य-गोक्षरु, त्रिवृतमूल, धान्यक, धातकी पुष्प, इन्द्रवारुणी, चव्य, शतपुष्पा, शुण्ठी,

दन्तीमूल, मोचरस प्रत्येक का ८ तोले चूर्ण। एक मास तक संधान (संधि-बंधन कर के जमीन में गाड़ कर रखकर) करके निकाले और छानकर बोतलो में भर दे। मात्रा २ से ४ तोले। अनुपान समान जल मे भोजन के अनन्तर। यह भी एक सिद्ध योग है, अर्श रोगियो मे प्रयुक्त होकर अग्नि का वर्धन, मल का शोधन और वायु का अनुलोमन करता है। जीर्ण विबंध के रोगियो (Chronic Constipation) में बड़ा लाभप्रद रहता है।

सुनिषण्ण चाङ्गेरीघृत—शतपुष्पा, दन्तीमूल, वान्हरिद्रा, पृश्निपर्णी, गोक्षुर, वटाङ्कुर, उदुम्बर की कोमल पत्तियाँ, अश्वत्थ (पीपल) के कोमल पत्र। इन द्रव्यो का क्वाथ। इस क्वाथ में निम्नलिखित ओषधियो के कल्क छोड़े—जीवंती, कुटकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, काली मिर्च, देवदारु, इन्द्रयव, सेमलपुष्पी, क्षीरका कोली, लालचंदन, श्वेतचंदन, रसोत, कायफल, चित्रकमूल, नागरमोथा, फूल प्रियगु, अतीस, शालपर्णी, लाल कमल का केसर, मंजिष्ठा, छोटी कटेरी, कच्चे बिल्व फल की मज्जा, मोचरस और पाठा समभाग मे लेकर शिला पर पीसकर मिलावें। पुन इसमें चौपतिया (सुनिषण्णक) तथा तिनपतिया (चाङ्गेरी) का स्वरस मिलाकर गोघृत को घृतपाक विधि से पकावे। इस योग का प्रयोग अर्श, ग्रहणी, जीर्ण प्रवाहिका तथा गुदभ्रंश में बड़ा उत्तम रहता है।

कासीसाद्य तैल—कासीस, दन्तीमूल, सैन्धव, कनेर की जड़—प्रत्येक १ पाव लेकर पीसकर कल्क बना ले। पुन. इस कल्क को ४ सेर तिल, तैल काञ्जी १६ सेर, अर्कक्षीर १ पाव डालकर सिद्ध करे। इसके स्थानिक उपयोग से अर्श के मस्से कटकर गिर जाते हैं।

पिप्पल्याद्य तैल—छोटी पीपल, मधुयष्टि, बिल्वफल मज्जा, शतपुष्पा, मदनफल, वच, कूठ, शुण्ठी, पुष्करमूल, चित्रकमूल, देवदारु-समभाग में लेकर कल्क। इस कल्क से चतुर्गुण तिल, तैल तिल तैल से द्विगुण गाय का दुग्ध और चतुर्गुण जल डालकर अग्नि पर चढाकर सिद्ध करे। इस तैल का गुदा में पिचु धारण या गुदान्त- भरण (Rectal Injection) अर्शोगत वेदना का शामक होता है।

अर्शोवेदनान्तक लेप—शतधौत घृत १ भाग, देशी कपूर $\frac{१}{२}$ भाग, पिपरमेण्ट $\frac{१}{१६}$ भाग, थायमाल (यमानीसत्त्व) $\frac{१}{१६}$ भाग। इसके लेप से गुदागत दाह और वेदना का शमन होता है। इसमें माजूफल $\frac{१}{२}$ भाग और अहिफेन $\frac{१}{२}$ भाग मिलाने से वेदना का शमन और शीघ्र होता है।

रस के योग : अर्श कुठार रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गधक २ तोला, लौहभस्म, ताम्रभस्म, प्रत्येक दो तोला, दन्तीमूल चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण, सूरणकद चूर्ण, वशलोचन चूर्ण, सैन्धव लवण, शुद्धटकण, यवक्षार, इनमे प्रत्येक ५ तोले, स्नुही-क्षीर ८ तोले। पहले कज्जली वनाकर पश्चात् इन चूर्णों को छोडकर महीन पीसकर—३२ तोले गोमूत्र मे मिलाकर अग्नि पर चढा दे, समग्र औषधि का पिण्ड रूप आने तक पाक करे। फिर सुखाकर चूर्ण रूप मे पीसकर शीशी मे भर ले। मात्रा १ माशा। अनुपान गुलकद या १० मुनक्के की चटनी से। यह एक सुन्दर योग है—अर्श के प्रकोपकाल मे (Inflammed piles) प्रयुक्त होकर तीन दिनो मे पर्याप्त लाभ दिखलाता है।

चक्रकुठार रस—शुद्ध पारद २ तोला, शुद्ध गधक २ तोला, लौह भस्म २ तोला, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, दन्तीमूल, मीठा कूठ, प्रत्येक का एक-एक तोला, कलिहारीमूल चूर्ण, यवक्षार, सैन्धव, शुद्ध सुहागा (टकण), गोमूत्र ३२ तोले, स्नुही क्षीर ३२ तोले। खरलकर पिण्डीभाव तक पाक। फिर शीतल हो जाने पर सुखा कर चूर्ण रूप या वटी रूप मे वना ले। मात्रा २ रत्ती प्रात. सायम्। गुलकंद या १० मुनक्के की चटनी से।

नित्योदित रस (भल्लातक युक्त)—रससिन्दूर, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, ताम्र भस्म, शुद्ध वत्सनाभ विष प्रत्येक १ तोला शुद्ध भल्लातक चूर्ण ६ तोले। सब एकत्र महीन घोट पीस कर सूरणकद और मानकद के स्वरस से तीन दिनो तक भावना दे। सुखा कर शीशी मे भरलें। मात्रा १ माशे। घृतके साथ।

चद्रप्रभा गुटिका—वायविडङ्ग, त्रिकटु, त्रिफला, देवदारु, चव्य, चिरायता, पिप्पलीमूल, मुस्तक, कचूर, वच सुवर्णमाक्षिक, सैधव, यवक्षार, हरिद्रा, दारु-हरिद्रा, नेपाली धनिया, प्रत्येक एक तोला, शुद्ध शिलाजीत ३२ तोले, शुद्ध गुग्गुल ८ तोले, लौह भस्म ८ तोले लेकर पीस कर वस्त्र से छानी हुए वशलोचन, दन्ती-मूल, दालचीनी या त्रिसुगध (छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र) सब को अच्छी तरह घोट कर ४ रत्ती की गोलियाँ बना ले। यह एक सिद्ध योग है जिसका प्रयोग बहुत प्रकार के रोगो मे होता है। विशेषतया मधुमेह, वहुमूत्र (Diabeties), पौरुषग्रथिवृद्धि (Enlarged Prostate), रक्ताल्पता, दौर्बल्य तथा अर्श रोग मे लाभप्रद पाया गया है। मात्रा—१-२ गोली। अनुपान—क्षीर।

यष्ट्यादि चूर्ण या मधुयष्ट्यादि चूर्ण—मधुयष्टि, सनाय की पत्ती प्रत्येक २ भाग, सौंफ, दारुहरिद्रा और शुद्ध गधक प्रत्येक एक भाग, मिश्री

७ भाग, सबो को मिलाकर बना मिश्रित चूर्ण। मात्रा ६ माशे। अनुपान जल या दूध। यह एक मृदु रेचन (Mild purgative) है। अर्श के रोगियो को प्रकोपावस्था में एक सप्ताह तक नित्य प्रयोग करने से मल का शोधन करके बड़ा लाभप्रद होता है।

अर्शोघ्नी वटी—नीमके फल की गुद्दी २ भाग, महानिम्ब (बकायन) के फल की गुद्दी २ भाग, खूनखराबा २ भाग, तृणकान्त (कहरवा) की गुलाब जल से घुटी हुई पिष्टि १ भाग, शुद्ध रसौत ६ भाग लेकर महीन पीसकर। तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा १ से २ गोली तीन बार जल से।

कुछ व्यवस्थापत्र—शुष्कार्श में अर्श कुठार रस १ माशे की दो मात्रा मे बाँटकर सुबह-शाम गुलकद या मुनक्के की चटनी से। अर्शकुठार के साथ या नित्योदित रस २ रत्ती सुबह-शाम या काङ्कायन मोदक या चंचत्कुठार रस ४ रत्ती सुबह और शाम भी दिया जा सकता है। अभयारिष्ट या दन्त्यरिष्ट भोजन के बाद दोनो समय दो से चार चाय की चम्मच भर समान जल मिला कर। रात्रि में सोते वक्त यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे गर्म जल या दूध से लगातार एक सप्ताह तक।

स्रावी अर्श या रक्तार्श मे—अर्शोघ्नी वटी १ से २ गोली दिन में तीन चार ठंडे जल से। भोजनोत्तर अभयारिष्ट या दन्त्यरिष्ट। यष्ट्यादि चूर्ण लगातार चार दिनो तक ६ माशे की मात्रा में दूध या जल से। पश्चात् चन्द्रप्रभागुटिका का लम्बे समय तक प्रयोग करना चाहिये। २ गोली रात मे सोते वक्त दूध से।

पथ्य—पुराना चावल, गेहूँ, जौ, मूंग की दाल, गाय का दूध, मक्खन, घृत, तक्र, पत्रशाको मे (बथुवा, पुनर्नवा, पटोलपत्र, चणक), फल-शाको मे सभी विशेषतः लौकी, परवल, कच्चा पपीता, बैंगन, पका टमाटर (विशेषत. रक्तार्शमें), भण्टा का भर्ता, कंद शाको में शलजम, मूली, सूरण, पलाण्डु, मासो मे मुर्गा, बत्तक, लवा, बटेर, तीतर, हिरण और बकरे का मांसरस (सामान्यतया मांसरस सभी विबन्धकर होते हैं अस्तु उनका प्रयोग कम करना तथापि हल्के और सुपाच्य मास रसो का उपयोग किया जा सकता है।) सैंधव लवण, धनिया, जीरा, सोंठ, अजवायन, लहसुन, काली मिर्च, हल्दी, आँवला, कपित्थ आदि मसाले व्यवहार में लाने चाहिये। फलो मे पका पपीता, बीज रहित अमरूद, मुनक्का, किशमिश, अंजीर, आँवले का प्रयोग पथ्य है। रक्तार्श के रोगियो मे विशेषतः तिनपतिया, चौपतिया, बरगदका अंकुर, कमल की पंखुडी, बिस (कमलनाल), कच्चा केला, फलो में अनार, मोसम्मी, पिण्ड खजूर, किशमिश, पका गूलर आदि विशेष लाभप्रद रहते है।

अपथ्य—गर्म मसाले, मिर्च-राई और सरसो का अधिक सेवन, विवधकर तथा गुरु पदार्थ-पूडी, हलुवा, चना, मसूर, उडद, अचार, सेम, बोडा, अरुई, आलू प्रभृति कदशाक, मत्स्य, शूकर, पालतू जानवर प्रभृति गरिष्ठ मासो का परित्याग अर्श रोग मे करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अधिक स्त्रीसग, जानवर के पीठ की सवारी, उत्कटुकासन, मल-मूत्र के वेगो का धारण, आस्थापन वस्ति का वार-वार प्रयोग प्रभृति आचरणो को छोड देना चाहिये।[1]

नवाँ अध्याय

अग्निमान्द्य-प्रतिषेध

क्रियाक्रम

जाठराग्नि—चार प्रकार की होती है। सम (प्राकृत), विपम (कभी पाक हो कभी न हो), तीक्ष्ण (अतिमात्रा मे पाचन की शक्ति वढ जाना) तथा मन्दाग्नि (जिसमे अन्न का परिपाक न होवे)। इनमे प्राकृत या समाग्नि प्राकृतिक जठराग्नि का वोधक है यह कोई विकार नही है—इसका सम्यक्तया ठीक वनाये रखने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। शेष अग्नि के विभेद अर्थात् विपम, तीक्ष्ण या मन्द वैकारिक अवस्थायें है—जिनका सम्यक्तया उपचार करते हुए प्राकृत या समाग्नि के रूप मे लाना चिकित्सक का प्रधान उद्देश्य रहता है। पुन इन तीन वैकारिक अवस्थाओ मे तीक्ष्णाग्नि या भस्मक का उपचार विलकुल पृथक् या स्वतन्त्र रूप का है। अस्तु इसका पृथक् उल्लेख किया जायगा। विपमाग्नि तथा मन्दाग्नि ये वास्तव मे दो ही रोग प्रधान है जिनकी चिकित्सा का वर्णन इस अग्निमान्द्य नामक प्रतिपेध अधिकार मे विधेय है।[2]

अग्निभेदो का दोपानुसार विचार किया जावे तो कफदोप की अधिकता से अग्नि मद, पित्त दोप की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण, वातदोप की अधिकता से अग्नि विपम तथा तीनो दोपो के समान रहनेसे अग्नि सम या स्वाभाविक रहती है। अस्तु उपचार काल मे काय-चिकित्सा मे जठराग्नि का सर्वाधिक महत्त्व है। सैकडो दोपो के कुपित हो जाने तथा अनेक रोगो के उत्पन्न हो जाने पर भी कायाग्नि की रक्षा करते रहने से जीवन की रक्षा हो जाती है। अर्थात् पाचकाग्नि

---

१ वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कटुकासनम ।
यथास्व दोपल चान्नमर्शा सु परिवर्जयेत् ॥ (सु चि २)

२ मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विपम समश्चेति चतुर्विध । कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनल. ॥ समस्य रक्षण कार्यं विषमे वातनिग्रह । तीक्ष्णे पित्तप्रतीकारो मन्दे श्लेष्मविशोषणम् ॥

के ठीक या स्वस्थ न रहने पर कुपित हुए अनेक दोष अथवा रोग, रोगी का कोई बड़ा अनिष्ट नही कर सकते, परन्तु पाचकाग्नि के विषम होने से बहुविध दोषो का कोप होकर विविध रोग हो जाते है—जो रोगी के लिये प्राणघातक भी सिद्ध हो सकते है। अस्तु कायचिकित्सा तन्त्र मे समस्त रोगो की चिकित्सा मे पाचकाग्नि या जाठराग्नि की रक्षा करना मुख्य मन्त्र या सार है। एतदर्थ पाचकाग्नि को साम्यावस्था (स्वाभाविक अवस्था) मे रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।[1]

अग्निभेदो का दोषानुसार विचार किया जाय तो कफ दोष की अधिकता से अग्नि मद, पित्त दोष की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण, वात दोष की अधिकता से अग्नि विषम तथा तीनो दोषो के समान रहने पर अग्नि सम या स्वाभाविक रहती है। अस्तु उपचार-काल मे इस बात का भी विचार अपेक्षित रहता है। इनमें समाग्नि अर्थात् स्वाभाविक अग्नि की उचित आहार-विहारादि से रक्षा करना, विषम होने पर वायु का निग्रह करना, तीक्ष्णाग्नि मे पित्त का शमन करना तथा मन्द अग्नि होने पर बढे और दूषित कफ का शोषण या शोधन करना चाहिये।

मन्दाग्नि या विषमाग्नि की चिकित्सा मे अग्नि को दीप्त करनेवाले योगो को देना चाहिये। मन्द अग्नि को कटु-तिक्त और कषाय रसात्मक द्रव्यो का सेवन करके उद्दीप्त करना चाहिये और विषमाग्नि को स्नेहाम्ल-लवणादि द्रव्यो से वात का शमन करते हुए सम या स्वाभाविक अवस्था मे लाना चाहिये।[2]

मन्दाग्नि तथा विषमाग्नि मे व्यवहृत होनेवाले एवं अग्नि को दीप्त करनेवाले योग—१ हरीतकी तथा शुण्ठी चूर्ण प्रत्येक ३ मासे का पुराने गुड एक तोला के साथ मिलाकर सेवन अथवा सेन्धा नमक २ माशे के साथ मिलाकर सेवन करना उत्तम रहता है।

२ पिप्पली (१ माशे) का चूर्ण पुराने गुण्ड (६ माशे) मिलाकर सेवन करना भी अग्नि को दीप्त करता है। अथवा पिप्पली को निम्बुस्वरस मे भिगोवे, उसके तर हो जाने पर उसमें चतुर्थांश काला नमक मिलाकर निम्बु के रस मे घोट कर गोली बना ले। पुन इ- गोली का सेवन करे।

३ यवक्षार २ माशे, शुण्ठी चूर्ण ४ माशे गोघृत मिलाकर प्रात काल मे सेवन अथवा शुण्ठी चूर्ण घृत के साथ।

---

१ सारमेतच्चिकित्सायाः परमग्नेश्च पालनम्। तस्माद्यत्नेन कर्त्तव्यं वह्नेस्तु प्रतिपालनम् ॥ अस्तु दोषशत क्रुद्ध सन्तु व्याधिशतानि च। कायाग्निमेव मतिमान् रक्षन् रक्षति जीवितम् ॥ (भै र)

२ सममग्निं भिषग् रक्षेदन्नपानैर्नृणा हितै। मन्द स वर्धयेदग्निं कटुतिक्त-कषायकै। स्नेहाम्ललवणाद्यैश्च विषमाग्निमुपाचरेत् ॥ (च)

४ भात के मण्ड मे घी मे भुनी हीग और काला नमक मिलाकर सेवन।

५ भोजन के पूर्व लवण और अदरक का सेवन—अग्नि का संदीपन, जिह्वा और कण्ठ का विशोधन तथा हृद्य होता है।

हिंग्वष्टक चूर्ण—शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, अजमोदा, सैन्धव, श्वेत जीरा, कृष्ण जीरक और घृत मे भुनी हिंगु। सब सम भाग मे बना चूर्ण। मात्रा २ माशे से ४ माशे। अनुपान घृत मे मिलाकर भोजन के साथ प्रथम कवल मे सेवन। यह प्रसिद्ध योग है, जाठराग्नि को दीप्त करता है।

भास्कर लवण—पिप्पली, पिप्पलीमूल, धान्यक, काला जीरा, पीसा हुआ सैंधव लवण, विड्लवण, तेजपत्र, तालीश पत्र, नागकेसर प्रत्येक का चूर्ण ८ तोले। सौवर्चल (काला नमक) २० तोले, काली मिर्च, श्वेत जीरा, शुण्ठी प्रत्येक का चूर्ण चार तोले, दालचीनी, छोटी इलायची प्रत्येक का चूर्ण २ तोले, सामुद्र लवण ३२ तोले, अनारदानो का चूर्ण १६ तोले, अम्लवेत ८ तोले। सभी द्रव्यो का उक्त प्रमाण मे बना महीन चूर्ण। मात्रा २ माशे से ४ माशे। अनुपान—मट्ठा, कांजी, शुक्त, जंगली पशु-पक्षियो के मांसरस अथवा केवल गर्म जल। यह एक प्रसिद्ध योग है इसके सेवन से अग्नि दीप्त होती है फलत मन्दाग्नि के कारण उत्पन्न होनेवाले अर्श, अतिसार, ग्रहणी, विबंध आदि सभी रोगो मे लाभप्रद है। इस चूर्ण का नाम आविष्कारक के नाम पर आधारित है। भास्कर नामक आचार्य ने संसार के कल्याणार्थ सर्वप्रथम चिकित्साशास्त्र मे इस योग का प्रवेश कराया था। इस योग मे लवणो को निकालकर अलवण-भास्कर चूर्ण बनाया जा सकता है, जिसमे लवण अपथ्य हो विशेषत मधुमेह के रोगियो मे अग्निमान्द्य होने पर प्रयोग मे लाना उत्तम रहता है।

क्षुधावटी—शुद्ध टकण, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, सज्जीखार, यवाखार, आँवला, हरीतकी, विभीतक का छिल्का, लौंग, चीते की जड, चव्य, पचलवण, तिन्तिडीक, खट्टा अनारदाना, सोठ भुनी, लौह भस्म, भीमसेनी कपूर सम भाग लेकर चूर्ण करे पश्चात् अम्लवेत के काढे से, अदरक के रस, नीबू के रस से तथा अजवायन के काढे से तीन-तीन बार भावना देकर चना के बराबर की गोली। दिन मे तीन-चार गोली जल से।

क्षुधासागर लवण—घी मे तली भूरी सोठ ४ छटाँक, काली मिर्च २ छटाँक, पीपरि २॥ तोला, भुना जीरा २ छटाँक, अजवायन २ छटाँक, बडी इलायची का बीज १॥ छटाँक, लौंग १॥ छटाँक, सज्जीखार १॥ छटाँक, जवाखार १ छटाँक, सेंधा नमक १॥ छटाँक, काला नमक १॥ छटाँक, घी मे भुनी तलाव हीग १४ माशे। सब का कपडछन चूर्ण। मात्रा ३ माशे। अनुपान उष्णोदक।

✔ ज्वरणादि चूर्ण—मगरैल, कालानमक, शुठी, पिप्पली, कालीमिर्च, सैन्धव, भुनी अजवायन, घी में भुनी हीग, छोटी हर्रे प्रत्येक एक तोला और निशोथ ४ तोले लेकर। कपडछन चूर्ण बनावे। मात्रा १ से ३ माशे। अनुपान उष्ण जल। प्रात-सायम्। जब रोगियो मे कोष्ठबद्धता रहती हो (sluggish Liver Function) इस चूर्ण का प्रयोग हितकर है। (चि आ)

शतपत्र्यादि चूर्ण—गुलाब के फूल २० भाग, मोथा, जीरा, श्वेत चन्दन, छोटी इलायची, कबाबचीनी, गिलोयका सत्त्व, खसखस, खस, वंशलोचन, इसबगोलकी भूसी, गोखरु, दालचीनी, तमालपत्र, नागकेसर, सारिवा, कमलगट्टा, नीलोफर, कमल के फूल और तीखुर प्रत्येक एक भाग और मिश्री ४० भाग लेकर कपडछन चूर्ण। यह एक मधुर पाचक है विशेषत विदग्धाजीर्ण, अग्निमाद्य तथा जीर्ण विबंध (sluggish Liver Function) मे लाभप्रद होता है। मात्रा १॥ माशा से ३ माशे। अनुपान जल। (सि यो स)

रस के योग-अग्नितुण्डी वटी—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, वत्सनाभ अजमोद, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, सर्ज्जीखार, यवाखार, चित्रकमूल की छाल, सैंधव, जीरा, सोंचल (काला नमक), वायविडङ्ग, सामुद्र लवण, शुण्ठी, छोटी पीपल, कालीमिर्च सभी सम भाग मे और सबके बराबर शुद्ध कुपीलु (कुचिला)। जम्बीरी निम्बुके रस में तीन दिनो तक मर्दन करके तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ। भोजन के बाद २ गोली। गर्म जल से। यह एक उत्तम योग है, आंत्र की क्रियाको सुधार कर (Intestinal toner) विबंध को दूर करता है और अग्नि को दीप्त करता है।

अग्निकुमार रस—शुद्ध, पारद, शुद्ध गंधक (कज्जली), शुद्ध टंकण प्रत्येक का १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ का चूर्ण, कपर्द भस्म, शंख भस्म, प्रत्येक ३ तोले तथा काली मिर्चका चूर्ण ८ भाग। जम्बीरी नीबू के रस मे भावना देकर २ रत्ती की गोलियाँ। अनुपान अदरक का रस या नीबू का रस ३ माशे, सैंधानमक ४ रत्ती मिलाकर एक से दो गोली प्रात -सायम्।

श्री रामबाण रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक की सममात्रा में बनी कज्जली, लवङ्ग चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभ विप चूर्ण, प्रत्येक एक एक तोला, कालीमिर्च २ तोले भर, जायफल का चूर्ण आधा तोला। मात्रा ४ रत्ती से १ माशा। अनुपान भृष्टजीरक और मधु। कुम्भकर्ण रूपी ग्रहणी रोग, खरदूषण रूपी आमवात तथा रावण रूपी अग्निमाद्य रोग विनष्ट करने के लिये यह राम के बाण सदृश प्रख्यात 'रामबाण' रस है।

क्रव्याद रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गधक २ तोला, ताम्रभस्म ½ तोला, लौहभस्म आधा तोला। प्रथम पारद और गधक को घोट कर महीन कज्जली करे फिर उसमे ताम्रभस्म, लौह भस्म को मिश्रित कर खरल करे पश्चात् लौहकी कलछी मे लेकर पिघलावे पिघलनेपर उसकी पर्पटी बनावे। फिर एक कलई-दार लौह के वर्त्तन मे जम्बीरीनीबू का रस ५ सेर लेकर उसमे पर्पटी को चूर्ण करके मिलावे। फिर उसको अग्निपर चढाकर पाक करे जब जम्बीरीनीबू का रस जल जाये। तो उसमे पचकोल अथवा अम्लवेत का कषाय छोडकर धीरे-धीरे पकावे। फिर इस औषधको कडाही मे से निकाल कर खरल मे डाल देवे। फिर उसमे शुद्ध टकण १६ तोले, विड लवण ८ तोले, काली मिर्च का चूर्ण ४० तोले डालकर चणकाम्लकी सात भावना देकर ४ रत्ती की गोलियाँ बनाकर सुखाकर शीशीमे रख ले। मात्रा ४ रत्ती, तक्र और सेधानमक के अनुपान से भोजन के वाद। यह परम अग्निदीपक योग है। इसके सेवन काल मे किसी प्रकार के पथ्य का विचार न करते हुए गुरुपाकी पदार्थो-मास रवडी, मलाई, पूडी, पराठे, उडद और घृत-तैल के तले भोजन का सेवन किया जा सकता है।

तीक्ष्णाग्नि या भस्मक-चिकित्सा

क्रियाक्रम—तीक्ष्णाग्नि का उपचार मन्दाग्नि की चिकित्सा के ठीक विपरीत पडता है। अग्नि को प्राकृत या समावस्था मे लाने के लिये अग्नि को मंद करने का उपचार इस अवस्था मे करना पडता है। अस्तु, तीक्ष्ण अग्नि को सम करने के लिये दधि, दूध और पायस का अधिक प्रयोग करना चाहिये। गुरु, सान्द्र, मन्द, शीतल अन्न-पान से तीक्ष्णाग्नि को शान्त करना चाहिये। पित्त के सशमन के लिये विरेचन देना चाहिये। जो द्रव्य मधुररस, मेदोवर्द्धक (चरवीदार), कफवर्द्धक और देर मे पचने वाला है, वह हितकर होता है। भोजन करके दिन में सोना (दिवास्वाप) इसमे पथ्य होता है। तीक्ष्णाग्नि का ही पर्याय भस्मक या अत्यग्नि भी है। रोगी जो कुछ खाता है वह शीघ्र पच जाता है, और भूख शीघ्र ही लग जाती है। अत अजीर्णावस्था मे भी भोजन वार वार खिलाते रहना चाहिये ताकि विना भोजन के यह तीक्ष्णाग्नि रोगी को उपहत न कर दे।[1]

---

१. तीक्ष्णमग्नि दधिक्षीरपायसै समता नयेत्। त भस्मक गुरुस्निग्धसान्द्र-मन्दहिमादिभि ॥ अन्नपानैर्नयेच्छान्ति पित्तघ्नैश्च विरेचनै। यत्किंचिन्मधुर मेद्य श्लेष्मल गुरु भोजनम् ॥ सर्वं तदत्यग्निहित भुक्त्वा प्रस्वपन दिवा। मुहुर्मुहुरजीर्णेपि भोज्यान्यस्योपचारयेत् ॥ निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैन न निपातयेत्। (च)

अत्यग्नि चिकित्सा में व्यवहृत योग—१ उदुम्बर की छाल २ तो० स्त्रीस्तन्य के साथ पीस कर पिलाना अथवा उदुम्बर की छाल का कल्क, चावल, स्त्रीस्तन्य में खीर बनाकर सेवन।

त्रिवृतादिक्षीर—निशोथ, अमल्तास की गुद्दी एक-एक तोला, दूध १६ तोला, जल ६४ तोला। अग्नि पर चढ़ाकर पकावे जब दूधमात्र (१६ तोले) शेष रहे तो उतार कर ठंढा होने पर पिलावे।

अपामार्ग-तण्डुलक्षीर—अपामार्ग का बीज, भैंस के दूध मे पकाकर, शक्कर और घी मिलाकर खीर बनाकर सेवन। इस प्रयोग से बार-बार भूख लगना बन्द हो जाता है।

अजीर्ण-प्रतिषेध

क्रियाक्रम—अजीर्ण ६ प्रकार का हो सकता है। १ आमाजीर्ण कफ विकार से होता है २ विदग्धाजीर्ण मे पित्त दोष की प्रबलता होती ३ विष्टब्धाजीर्ण मे वात दोष की अधिकता होती है। और ४ रसशेषाजीर्ण एक विशेष प्रकार का अजीर्ण है जिसमें आम रस का सचार होकर शरीर में गुरुता, शोथ प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन चारो विभेदो के अतिरिक्त ५. दिनपाकी और ६. प्राकृताजीर्ण नामक भी दो अजीर्ण-भेद बतलाये गये है जो प्राय. निर्दोष होते हैं और जिनमें किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नही पडती है। सामान्य पाचन योगो से ठीक हो जाते है।

वस्तुत सभी अजीर्णो में सामान्य उपचार अपतर्पण है। अल्प दोष होने पर (अपचन हल्का) होने पर केवल लंघन या उपवास करा देना पर्याप्त होता है, मध्यम दोष होने पर लंघन के साथ पाचन के लिये औषध-प्रयोग भी अपेक्षित रहता है, परन्तु दोष की प्रबलता होने पर (तीव्र अजीर्ण मे) शोधन (वमन अथवा विरेचन या दोनों) करना समुचित रहता है जिसमें दोष का पूर्णतया निर्मूलन हो जाय। शास्त्र मे इस क्रियाक्रम का विस्तार से उल्लेख इस प्रकार का पाया जाता है।

आमाजीर्ण में वमन, विदग्धाजीर्ण में लघन, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन और रसशेषाजीर्ण में खूब सोना हितकर होता है।[1]

---

१. शान्तिरामविकाराणा भवति त्वपतर्पणात्। त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत्॥ तत्राल्पे लङ्घनं शस्तं मध्ये लङ्घन-पाचनम्। प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान्॥ (वा)। तत्रामे वमनं कार्यं विदग्धे लङ्घनं हितम्। विष्टब्धे स्वेदनं शस्तं रसशेषे शयीत च॥ (भा प्र.) लङ्घनं वमनं वाऽऽमे

अजीर्ण चिकित्सा में एक लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है "अजीर्णस्य किमौषधम् वमन, विरेचन, निद्रा वारि अथवा वमन विरेचन पन्था वारि।" अर्थात् अजीर्ण की चिकित्सा मे वमन, विरेचन, सोना, रास्ता चलना और शीतल जल का पीना सदा पथ्य है। सोने की क्रिया को सर्वाधिक अजीर्णनाशक और सब प्रकार के अजीर्णो मे प्रशस्त माना गया है जैसे—'हीग, त्रिकटु और सैन्धव का उदर पर लेप कर के दिन मे सोने से सभी अजीर्ण शान्त होते है।' आलिप्य जठरं प्राज्ञो हिङ्गुत्र्यूषणसैन्धवैः। दिवास्वप्नं प्रकुर्वीत सर्वाजीर्णविनाशनम्।' अस्तु दिवास्वाप सब अजीर्ण रोग मे एकान्तत पथ्य माना गया है।

आमाजीर्ण में लघन कराना चाहिये। यदि दोपाधिक्य हो तो वमन करावे तथा पीने के लिए धनिया-सोठ से पकाया जल देवे। विदग्धाजीर्ण मे वमन करावे यदि दोप उत्कट न हो तो लङ्घन मात्र से शान्त करे, पीने के लिये ठढा जल देवे। विष्टब्धाजीर्ण मे उदर पर पर्याप्त स्वेदन करे तथा पीने को सेंधा नमक मिला हुआ गर्म जल देवे। रसशेषाजीर्ण में विना कुछ खिलाये ही जहाँ वायु विशेप न हो ऐसे स्थल पर दिन मे सुलावे। इसके बाद भूख लगने पर लघु भोजन दे। अन्य भी वायु-शामक उपचार करे।

आमाजीर्ण-प्रतिषेध—आमाजीर्ण में वमन कराने के लिये वचा और लवण जल से वमन कराना चाहिये। अथवा पिप्पली, वच और सैन्धव का चूर्ण शीतल जल मे मिलाकर पिलाना चाहिये। धान्यक और शुण्ठी से पकाया जल पीने को देना चाहिये। इस से शूल की शान्ति होती है और वस्ति का शोधन होता है। आचार्य सुश्रुत ने अजीर्ण रोग की सामान्य चिकित्सा बतलाते हुए लिखा है यदि सोकर उठने पर प्रात.काल मे अजीर्ण की शका हो तो दिन मे उपवास करा देना चाहिये, परन्तु यदि रोगी अधिक कामकाजी व्यक्ति हो और उसमे उपवास कठिन हो तो हरीतकी २ माशे, शुण्ठी २ माशे, और सैन्धव १ माशा मिश्रित चूर्ण की एक मात्रा शीतल जल से सर्वप्रथम पिला देना चाहिये और अन्न-काल मे उसको लघु एव परिमित अन्न नि शक होकर भोजन कर लेना चाहिये।[1]

धान्यशुण्ठीजल तथा। विष्टब्धे वमनं यद्वा लङ्घन शिशिरोदकम्॥ विष्टब्धे स्वेदन कार्यं पेयञ्च लवणोदकम्। रसशेषे दिवास्वापो लङ्घन वातवर्जनम्।

१ भवेद्यदा प्रातरजीर्णशका तदाभया नागरसैन्धवाभ्याम्। विचूर्णिता शीतजलेन भुक्त्वा भुञ्ज्यादशङ्क मितमन्नकाले॥ (भैष)

भवेदजीर्ण प्रति यस्य शका स्निग्धस्य जन्तोर्वलिनोऽन्नकाले।

प्रातः स शुठीमभयामशको भुञ्जीत संप्राश्य हितं हितार्थी॥ (सु)

पाचन चूर्ण—काला नमक १ भाग, काली मिर्च १ भाग, शुद्ध नौसादर १ भाग, शुद्ध हीग $\frac{1}{16}$ भाग। **मात्रा**—३ माशे। उष्ण जल से।

विडलवण वटी—काला नमक, सेंधा नमक प्रत्येक २० तोले, अजवायन, काली मिर्च, छोटी पीपल, चित्रकमूल, अजमोद, धनिया, डाँसरिया (यूनानी गिर्द समाक), सूखा पुदीना, घृत मे भुनी हीग, पीपरामूल, नौसादर प्रत्येक १० तोले। सब द्रव्यो का सूक्ष्म कपडछान चूर्ण कर कागजी नीबू के रस की तीन भावना देकर चने के बराबर की गोलियाँ। (सि यो सं)

विदग्धाजीर्ण-प्रतिषेध—शीतल जल को थोडी-थोडी मात्रा मे बार-बार पीने मे विदग्ध अन्नपाक शीघ्र ही हो जाता है—क्योकि जल स्वभाव से शीतल होने मे प्रकुपित पित्त को नष्ट कर देता है। और जल से अन्न क्लिन्न होकर नीचे की ओर (क्षुद्रान्त्र एवं बृहदन्त्र) की ओर चला जाता है पश्चात् मलाशय से बाहर होकर सुखपूर्वक उत्सर्जित हो जाता है।

भोजनोपरान्त यदि भुक्त द्रव्य से विदाह हो एव तज्जन्य हृदय, कोष्ठ तथा गला जलता हो तो हरीतकी, मुनक्का और मिश्री सम भाग मे मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये। काजी मे दोलायत्र की विधि से स्विन्न हरीतकी और पिप्पली और सेंधा नमक मिलाकर सेवन करने से मुख से धुए युक्त डकारो का निकलना बन्द होता, अजीर्ण शान्त होकर क्षुधा जागृत होती है।

शतपत्र्यादि चूर्ण—(पूर्वोक्त) ३ माशे की मात्रा मे अथवा **अविपत्तिकर चूर्ण** (अम्लपित्ताधिकार) ३ माशे की मात्रा मे दिन मे दो-तीन बार।

द्राक्षादि योग—मुनक्का ६ माशे, हरीतकी चूर्ण ६ माशे, चीनी ६ माशे, मधु १ तोला। मिला कर चाटना।

क्षारराज—ताड के पुष्प की भस्म १ भाग, असली यवक्षार १ भाग, सर्जिका क्षार १ भाग, वराट भस्म $\frac{1}{4}$ भाग, शंख भस्म $\frac{1}{4}$ भाग, श्वेत कुष्माण्ड क्षार १ भाग। एक मे बारीक घोट कर चूर्ण रखे। **मात्रा**—२ माशा, चीनी का शर्बत १ छटाक मे मिलाकर ऊपर से $\frac{1}{2}$ नीबू का रस डाल कर फेन उठते ही पिये। एक शीशे के वर्त्तन मे शर्बत को रखे। (चि आ)

विष्टब्धाजीर्ण प्रतिषेध—स्वेदन, दिवास्वाप तथा वायुशामक योग। जैसे—

१. **हिंग्वष्टक चूर्ण**—३ माशे गर्म जल से। २. **हिंग्वादिवटी** (कुपीलुयुक्त)

अजीर्ण मे सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले कुछ योग—

जम्बीर लवणवटी—जम्बीरी या कागजी नीबू का रस १२० तोले, सेंधा नमक १२ तोले, सोंठ २॥ तोले, अजवायन २॥ तोले, सज्जीखार

२।। तोले, छोटी पीपल २।। तोले, घृत भर्जितहीग २।। तोले, करजवे के बीज की गुद्दी २।। तोले, काली मिर्च २।। तोले, छिला हुआ लहशुन २।। तोले, पुनर्नवा का मूल २।। तोले, सफेद (पीली) सरसो २।। तोले, जरा सेंका हुआ जीरा २।। तोले, अतीस २।। तोले, सामुद्र लवण २।। तोले। (सि यो स)

निर्माणविधि—स्वच्छ कपडे से छने जम्बीरी या कागजी नीबू के रस मे सेधा नमक डाल कर एक कांच के वर्त्तन मे भर कर चार दिनो तक धूप मे रखे। पाँचवे दिन उस रस को मिट्टी के बर्त्तन मे रख कर मद आँच पर पकावे और लकडी के हत्थे से हिलाता रहे जब रस गाढा हो जाय तो उसमें अन्य द्रव्यो का सूक्ष्म कपडछन चूर्ण मिलाकर नीचे उतार कर ठडा होने पर, ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना कर सुखा ले। **मात्रा-अनुपान**—२ या तीन गोली यथावश्यक जल से दिन मे तीन या चार बार। उपयोग—ये गोलियाँ उत्तम पाचन और दीपन है। मन्दाग्नि, अरुचि, पेटका दर्द, अजीर्ण के सभी प्रकारो मे और आध्मान मे लाभप्रद पायी गई हे।

कुबेराक्षादि वटी—बालू मे भुना करज (कटु) बीज १ तोला, मट्ठे मे भिगो कर धोकर घी मे भून कर लहशुन १ तोले, सोठ १ तोला, घी मे भुनी हीग १ तोला, शुद्ध सुहागा १ तोला। सहिजन के रस या काढे मे खरल करके ४-४ रत्ती की गोली बनाकर। सभी प्रकार के अजीर्ण और उदरशूल मे लाभप्रद।

चित्रकादि वटी—चित्रक के मूल की छाल, पिप्पलीमूल, सज्जीखार, यवाखार, सेधा नमक, काला नमक, सामुद्र लवण, साँभर लवण, नौसादर, शुण्ठी, काली मिर्च, छोटी पीपल, घी मे सेकी हीग, अजमोद और चव्य प्रत्येक सम भाग। एकत्र चूर्ण करके कागजी नीबू, बिजौरा नीबू, खट्टे अनारदाने के कषाय से ३ दिन तक मर्दन करके १ माशे की गोली। २ से ४ गोली भोजन के बाद जल से। यह एक अच्छा पाचन और दीपन योग है। विषमाग्नि मे विशेष लाभप्रद होती है।

महाशंख वटी—सेधा नमक, काला नमक, सामुद्र लवण, साभर लवण, नौसादर, घी में भुनी हीग, शख भस्म, इमली का क्षार (टार्टरिक एसिड), सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, शुद्ध गधक, शुद्ध पारद और शुद्ध वत्सनाभ। सबका सम भाग मे चूर्ण बनाकर बिजौरा नीबू, अनारदाने (खट्टे) और कागजी नीबू की सात भावना देकर दो दो रत्ती की गोलिया। भोजनोपरान्त।१–२ गोली।

अजीर्णकण्टक रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, शुद्ध वत्सनाभ १-१ तोला, काली मिर्च का चूर्ण ३ तोले। कज्जली बना कर चूर्णो को मिला कर पीस कर कण्टकारी फल स्वरस या कषाय से २१ बार भावित करना चाहिये। २ रत्ती

की गोली। अनुपान कण्टकारी स्वरस या नीबू के रस के साथ। अजीर्ण या विसूचिका के कारण होने वाले वमन में लाभप्रद।

अजीर्णारि रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक एक-एक तोला, हरीतकी २ तोले, सोंठ, पिप्पली, काली मिर्च, सैन्धव ३-३ तोले। शुद्ध भाग का चूर्ण ४ तोले। निम्बु स्वरस से ७ भावना। मात्रा २ से ४ रत्ती। अनुपान कागजी नीबू के रस से। यह योग अग्नि को दीप्त करता है। पचन शक्ति को बढ़ाता है।

गंधक वटी—शुद्ध पारद, १ तोला, शुद्ध गंधक २ तोले, शुंठी २ तोले, लवङ्ग और मरिच चार-चार तोले, सेंधा नमक और सोंचल नमक प्रत्येक १२ तोले, चुक्र और मूली का क्षार प्रत्येक ८ तोले। नीबू के स्वरस की ७ भावना देकर ४-८ रत्ती की गोलियाँ बनावे। समस्त अजीर्ण और अरुचि में लाभप्रद।

रसशेषाजीर्ण-प्रतिषेध—इस अवस्था में रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिये। उपवास करावे और दिन में पर्याप्त सोने का उपदेश करना चाहिये। औषधि के रूप में मण्डूर भस्म और शङ्ख भस्म क्रमशः १ माशा और २-२ रत्ती मिला कर दिन में एक या दो बार त्रिफला चूर्ण ३ माशे और मधु देना चाहिये। रोगी को दूध और रोटी के पथ्य पर लवणवर्ज्य आहार पर रखना चाहिये। हींग, सोंठ, मरिच, छोटी पीपल और सेंधा नमक को पानी से पीस कर उदर पर लेप करके दिन में पर्याप्त रोगी को सुलावे।[1] आमतौर से सभी अजीर्णों में शूलघ्न औषधियों का निषेध पाया जाता है।[2]

अजीर्ण भेद-प्रतिषेध

अजीर्ण के कई अन्य प्रकार अलसक, विलम्बिका और विसूचिका की अवस्थायें पाई जाती हैं। इन में भी अजीर्णवत् ही उपचार का क्रम रखना चाहिये। इनका विशिष्ट क्रिया-क्रम पृथक्-पृथक् दिया जा रहा है। **विलम्बिका तथा अलसक-प्रतिषेध-क्रियाक्रम**—विलम्बिका और अलसक में वमन और विरेचन कारक औषधियों को मिलाकर आस्थापन अथवा गुदवर्त्ति (Suppository) कराके दोष का शोधन तथा वायु का अनुलोमन करना उद्देश्य रहता है। अलसक में फलवर्त्ति, वमन, स्वेदन तथा अपतर्पण चिकित्सा हितकर होती है।[3]

---

१. काम दिवा स्वापयेत्। आलिप्य जठरं प्राज्ञो हिंग्वूषणसैन्धवैः। दिवास्वप्नं प्रकुर्वीत सर्वाजीर्णविनाशनम्॥ (भै. र.)

२. तीव्रार्त्तिरपि नाजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्।
आमसन्नोऽनलो नालं पक्तुं दोषौषधाशनम्॥ (अ. हृ.)

३. विलम्बिकालसकयोरूर्ध्वाधः शोधनं हितम्। नालेन फलवर्त्या च तथा शोधनभेषजैः॥

अलसक की भाँति ही विलम्बिका की चिकित्सा की जाती है, परन्तु अलसक की अपेक्षा विलम्बिका अधिक दुःसाध्य और सद्योघातक होती है।

अलसक मे न वमन होता है न रेचन ; फलत: अंत· विपमयता के कारण रोगी तडपता रहता है। अस्तु, सेधानमक मिलाकर आकठ पिलाना चाहिये अथवा शुद्ध ककुष्ठ २ माशा खिलाकर वमन करादे। उसके वाद उदर को खूव सेकना चाहिये। कई बार आस्थापन या गुदवर्त्ति के जरिये कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिये। कई वार जयपाल अथवा स्नुहीक्षीर-मिश्रित योगो के सेवन से जैसे नाराच रस, इच्छाभेदी या विन्दु घृत (स्नुहीक्षीर सिद्ध घृत) के प्रयोग से उत्तम लाभ देखा जाता है। इन औपधियो के सेवन से वमन और विरेचन दोनो शोधन कर्म सम्पन्न हो जाते है। रोगी की विपमयता दूर हो जाती है।

यदि आनाह या आध्मान और उदरशूल अधिक हो तो दारुषट्कलेप (देवदारु, वच, कूठ, सौफ या सोये का वीज, हीग, सेधानमक समभाग) का काजी या सिरके से पीस कर गर्म करके उदर पर लेप करना उत्तम होता है। जौ के आटे मे यवाखार मिला कर मट्ठे से पीस कर लिट्टी जैसे वनाकर एक तरफ से तवे पर सेककर जिधर नही सेका हैं उस ओर से उदर वाँधना वडा उत्तम उदरशूल और आध्मान का शामक होता है।[1] उदर के स्वेदन के लिये गर्म पानी का वोतल (Hot wrter Bag) भी दिया जा सकता है।

विसूचीप्रतिषेध-क्रियाक्रम—'विसूच्यामतिसारवत्' अर्थात् विसूचिका मे अतिसारवत् चिकित्सा करनी चाहिये। विसूचिका मे वमन भी होता है और अतीसार भी। फलत. शरीर के द्रव धातु का अतिमात्रा मे नि सरण होने लगता है। जिसके फलस्वरूप द्रव-नाश (Dehydration) होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

विसूचिका मे वमन और अतिसार को शीघ्र वद करने की आवश्यकता नही रहती है वल्कि प्रारभ मे उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। क्योकि वमन और रेचन से आमदोप (Toxins) निकलते रहते है। यदि उनको सहसा वदकर दिया जावे तो आमदोपज वहुविध उपद्रव होने लगते है। अस्तु जव कुछ वमन और विरेचन हो जायँ उसके पश्चात् रोगी का दीपन, पाचन एव ग्राही औपधियो का प्रयोग करते हुए उपचार करना चाहिये।[2]

---

१ सरुक् चानद्धमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत्। दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गु सैन्धवैः ॥ तक्रेण पिष्ट यवचूर्णमुष्ण सक्षारमर्ति जठरे निहन्यात्। (च०)

२ विसूचिकाया वमित विरिक्तं सुलघित वा मनुज विदित्वा। पेयादिभिर्दीपन-पाचनैश्च सम्यक् क्षुधार्त्त समुपक्रमेत ॥ (भै र)

सबसे उत्तम यह होता है—वमन एवं रेचन में से किसी एक को पहले बंद करे साथ ही द्रव-नाश (Dehydrration) न पैदा होने पाये इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। वमन को बंद करने के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक होता है कि रोगी को पूर्ण लंघन कराया जाय। उसको पीने के लिए धान्यपंचक कषाय, या शतपुष्पार्क या जेवायन का अर्क या कर्पूराम्बु (देशी कपूर ५ तोला, क्वथित जल ३० सेर में छोड़कर रख दे सात दिन के पश्चात् निकाले और छानकर रख ले यह कर्पूराम्बु है) अथवा इमली का पानी (पुरानी इमली ८ छटाँक जल ४ सेर खौलाकर आधा शेष रखे शीतल होने पर प्रयोग करे, या निम्ब जल(स्वच्छ जल में $\frac{1}{16}$ भाग नीम की पत्ती को पीसकर छानकर शीशी में भर कर रखा जल) अथवा नीबू का पानी (१ पौण्ड बोतल जल में एक कागजी नीबू का रस छोड़कर बनाया), अश्वत्थोदक (पीपल की सूखी छाल से शृत या अंगारे से बुझा जल) थोड़ा-थोड़ा चम्मच से बार बार देना चाहिये। एक बार में अधिक पानी पिलाने से वमन को सहायता मिलती है। अस्तु, चम्मच से थोड़ा थोड़ा जल पिलावे।

इस प्रकार के जल—प्रयोग से वमन, तृषा और दाह की शीघ्र शान्ति होती है।

कर्पूरधारा—रोगी को प्रारंभ में अमृत धारा या कर्पूरधारा (देशी कपूर पोदिकासत्व (पिपरमेंट), यमानीसत्त्व (थायमोल) समभाग में मिला कर बना द्रव) बताशे में रखकर ३ बूंद देना चाहिये। एक-दो बार के प्रयोग से वमन बंद हो जाय तो ठीक है अन्यथा अधिक प्रयोग नहीं होना चाहिये क्योंकि इसके अतियोग से वृक्क की क्रिया में बाधा होकर मूत्रावसाद का भय रहता है।

लशुनादिवटी—छिल्कानिकाला हुआ लहसुन २ भाग, स्याहजीरा, सफेद जीरा, शुद्ध गंधक, सेंधानमक, सोंठ, कालीमिर्च, छोटी पीपल और घी में भुनी हींग १-१ भाग। चूर्ण करके निम्बुरस से मर्दन करके ४ रत्ती की गोलियाँ। मात्रा एवं अनुपान १, १, गोली निम्बू के रस के साथ प्रति आधे से एक घंटे पर। प्रारंभिक अवस्था में इस योग से बड़ा उत्तम कार्य होता है। इससे वमन बंद होता है और क्रमशः अतिसार का शमन होता है।[1]

अजीर्णकंटक रस—(पूर्वोक्त) छर्दि या वमन के शमन के लिये यह उत्तम योग है इसका सबसे अद्भुत लाभ कंटकारी स्वरस से देने पर पाया जाता है। परन्तु कंटकारी स्वरस के अभाव में निम्बू के (कागजी) रस से भी दिया

---

१ लशुनगन्धकसैन्धवजीरकत्रिकटुरामठचूर्णमिदं समम्। सपदि निम्बुरसेन विसूचिकां हरति भो रतिभोगविचक्षणे॥ (वै. जी)

जा सकता है। जब तक वमन बद न हो जावे जल्दी जल्दी दे। जब वमन बद हो जावे तो ३, ३ घटे के अतर से दे।

संजीवनीवटी[१]—विडङ्ग, शुठी, मरिच, हरीतकी, चित्रक, विभीतक, वचा, गुडूची, भल्लातक (शुद्ध), शुद्ध वत्सनाभ-समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर एक-एक रत्ती की गोलियाँ बना ले। **अनुपान** अदरक का रस या केवल जल। **मात्रा** अजीर्ण युक्त मे एक गोली, विसूचिका मे दो-दो गोली, सर्प काटे रोगी मे तीन-तीन और सन्निपात के रोगियो मे चार-चार गोलियो को एक साथ देवे। अतिसार एव छर्दि के अधिकार मे पठित योगो का प्रयोग भी वमन की शान्ति के लिये करना चाहिये।

भेषज—१ अपामार्ग मूलको जल मे पीसकर उसका स्वरस पिलाना। २ करैले की पत्ती का या फल का रस उसमे तिलतैल मिलाकर पिलाना ३ छोटी मूली का रस और पिप्पली चूर्ण २ रत्ती को मिलाकर पिलाना।

३ **पाथरचूर-पाषाण भेद**—जिसको स्थानिक भाषा मे जेवायन पत्ता कहते है और वगदेशीय भाषा मे पाथरचूर कहते हैं। इसका पत्र-स्वरस १ चम्मच पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के अतर से देने पर वमन रुक जाता है। यह औषध विसूचिका मे बडी लाभ-प्रद होती है। यह एक सिद्ध भेषज है जिसका प्रयोग दृष्टफल है।

४ **पलाण्डु**—प्याज को कूचकर स्वरस निकाल कर पिलाने से भी विसूचिका की प्रारभिक अवस्था मे लाभ होता है।

५. **आम्रास्थिक्वाथ**—आमकी गुठली की मज्जा और विल्व फल की मज्जा का काढा मधु-मिश्री मिला कर पीना बड़ा लाभप्रद पाया गया है। इससे वमन एव अतिसार दोनो का शीघ्र शमन होता है।

कुछ अन्य सिद्ध फलयोग—

अर्कवटी—मदार के जडकी छाल छाया-शुष्क, कालीमिर्च, सेधानमक, समभाग चूर्ण नीबू के रस मे चना के बराबर बनी गोलियाँ। इसको एक-एक घटे पर देने से लाभ होता है। (चि आ.)

विसूचीभञ्जन वटी, (सि भे. म मा)—काली मिर्च, नीबू के बीज, भुनी छोटी हरड, जहरमोहरा खताई, दरियायी नारियल, मदार के जडकी

---

१. एकामजीर्णयुक्तस्य द्वे विसूच्या प्रदापयेत्। तिस्रो भुजगदष्टस्य चतस्र सन्निपातिन ॥ सजीवनी वटी (गुटिका जीवनी) नाम्ना संजीवयति मानवम् ॥ (शा. स.)

छाल, पियावासा के जड की छाल सव सम भाग मे लेकर कपडछन चूर्ण कर अदरक के रस से घोटकर चने के वरावर गोलियाँ वनावे। एक-एक घटे पर इसका प्रयोग विसूचिका मे वडा चमत्कारिक प्रभाव दिखलाता है।

अंजन प्रयोग—विसूचिका एक अत्यन्त तीव्र रोग है—इसमे वमन इतना तीव्र होता है, कि औपधिका कोई प्रभाव ही नही दिखलाई पडता है। जो औपधि दी जाती है वमन हो जाता है, पानी पिया जाता है वह भी कै से निकल जाया करता है। अस्तु, वहुत प्रकार के योगो की कल्पनायें की गई है। औपधि के कै द्वारा निकलजाने पर पुन औपधि को देते रहना चाहिये। एक औपधि योग अनुकूल नही पड रहा हे तो दूसरा योग दिया जा सकता है। कई वार अजन (नेत्र मे औपधि) लगाने से अद्भुत लाभ देखा जाता है। वमन और अतिसार की शृखला टूट जाती है। यहाँ पर दो पाठ दिये जा रहे है—किसी एक का प्रयोग करे।

व्योपादि गुटिकाञ्जन—त्रिकटु, करञ्ज के फलकी गुद्दो, हरिद्रा, विजौरे नीवू की जड़ को पीस कर गोली वनाकर छाया में शुष्क करके रखे। अंजन गुडिका–महुए का फूल, अपामार्गवीज, अपराजिता के मूल, हल्दी और त्रिकटु। गोली वनाकर रखले। गोली पत्थर पर पानी से घिस कर नेत्र में लगावे। इस अजन का प्रभाव स्वतत्र नाडी मण्डलपर होकर आमाशयान्त्रकी क्षुब्धता शान्त हो (Irritation) जाती है और फलतः वमन तथा अतिसार वद हो जाता है।

विसूचिका मे वमन तथा अतिसार की अधिकता से द्रवधातु का नाश होता चलता है। द्रवनाश (Dehydration)—परिणामस्वरूप रोगी में उदर मे दाह, तृपाधिक्य, खल्ली (हाथ-पैर में टीस या ऐंठन), मूत्रावसाद (Suppression of urine), नाडी और हृदय की दुर्वलता, त्वचाकी रूक्षता, नेत्रो की भीतर की ओर धँसकर अन्त. प्रविष्ट हो जाना-ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते है। यह अवस्था घातक होती है। इसमें शिरामार्ग द्वारा लवण जल (Saline Infusion) एक मात्र उपाय शेप रहता है। इसका सिद्धान्त यह है कि शरीर से जिन धातुओ का अत्यधिक सरण हो गया है उनकी पूर्त्ति करना। द्रवनाश मे जल, लवण, क्षार की कमी हो जाती है और इन्ही द्रव्यो के अत भरण शिराद्वारा करने से स्थिति सुधरती है। क्वचित् निम्न लिखित योगो से भी लाभ होता है।

विसूचीविध्वंसन रस—शुद्ध टंकण, सुवर्णमाक्षिक भस्म, शुठीचूर्ण, शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, शुद्ध कृष्ण सर्पविप तथा हिंगुल सव समभाग। पहले पारद और गधक की कज्जली वनाकर उसमें शेप द्रव्यो के सूक्ष्म चूर्णो को मिलाकर जम्वीरीनीवू के रस मे घोटकर सर्पप के वरावर की गोलियाँ वनाले। मृत सजीवनी सुरा या ब्राण्डी के साथ इसकी एक-एक गोली का प्रयोग करे तो यह

सर्वोपद्रव युक्त, त्रिदोषज अतिसार या विसूचिका मे भी लाभ करती है। वस्तुतः वह अंतिम उपचार है। सर्पविष के प्रभाव से शिरागत रक्तस्कदन (Coagulation) रुक जाता है और रोगी की प्राणरक्षा सम्भव रहती है।

खल्ली—दालचीनी, तेजपात, अगर, रास्ना, सहिजन की छाल, कूठ, वच और सोवा के बीज समभाग मे लेकर काजी मे पीसकर उबटन लगाना। अथवा नारायण तैल, ईख का सिरका समभाग मिलाकर पूरे शरीर मे रगडना।

मूत्रावसाद—विसूचिका मे यह उपद्रव जलांश के अधिक निकल जाने से तथा हृदय की दुर्बलता से उत्पन्न होता है। अस्तु, थोडा २ द्रव देते हुए, हृद्य औषधियो के प्रयोग (स्वर्णसिन्दूर, रस सिन्दूर अथवा मकरध्वज) चालू रखना चाहिये और समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये। रोग के सुधार होने पर मूत्र का आना प्रारम्भ हो जाता है। मूत्रावसाद मे मूत्रोत्सर्जन मे शीघ्रता लाने के लिये कुछ स्थानिक उपचार भी प्रशस्त रहते है। जैसे—१ पेडू पर गर्म पानी के बोतल (Hot water Bag) का सेक कई बार। २ चूहे की लेंडी, चूहे के बिल की मिट्टी, केले की जड, कलमीशोरा को ठंडे पानी मे पीस कर उदर के अधो भाग मूत्राशय-क्षेत्र के ऊपर (पेडू पर) लेप करने से भी मूत्र का बनना और उत्सर्जन प्रारम्भ हो जाता है। विसूचिका मे वमन, अतिसार के बन्द हो जाने पर मूत्र का उत्सर्जन न होना एक अरिष्ट लक्षण है। जब मूत्र-त्याग प्रारम्भ हो जाय फिर रोगी के स्वस्थ होने मे कोई भी शंका नही रहती है। ३ स्वर्णसिन्दूर ½ रत्ती, संजीवनी १ वटी मिलाकर प्रति तीन घण्टे पर देते रहना चाहिये। साथ ही शतपुष्पार्क मे मृतसंजीवनी सुरा १० बूँद से ३० बूँद तक मिलाकर देना चाहिये। ये औषधियाँ हृदय मे बल देती है, पाचन होती है, जलांश की पूर्त्ति करती है और रोगी मे मूत्र-त्याग की प्रवृत्ति को जागृत करती है। सभी उपद्रवो के शान्त होने पर भी जब तक मूत्रावसाद न दूर हो जावे रोगी की ओर से निश्चिन्त चित्त नही होना चाहिये।

पथ्य—अजीर्ण और अग्निमाद्य मे पथ्य समान ही रखना पडता है। पुराना चावल, धान्यलाज, मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, ओदन, जौ या गेहूँ की दलिया, मूँग की दाल, मूँग की दाल की कृशरा, लौकी, परवल, करैला, नेनुवा, तरोई, मूली, अदरक, सेंधानमक, काला नमक, तक्र, सिरका, तीतर-लवा-बटेर-मृग के मांसरस प्रभृति यथावश्यक रोगी को पथ्य रूप मे देना चाहिये। लघु एवं परिमित आहार देना चाहिये। हल्दी, धनिया, काली मिर्च, हरा मिर्च, जीरा प्रभृति अग्नि-वर्धक मसालो का व्यवहार भोजन मे लाना चाहिये। पीने के लिये गर्म करके ठंडा किया जल देना चाहिये।

अपथ्य—विरुद्ध, असात्म्य, विबन्धकारक, गुरु भोजनो का जैसे—नया अन्न, हलुवा, पूडी, पूआ, उडद और चने की दाल, आलू, अरुई प्रभृति जड के शाक, गरिष्ठ मास और मत्स्य, वासी मास आदि दुर्जर पदार्थ अग्नि की मंदता रहने पर अपथ्य होते है, परन्तु तीक्ष्णाग्निमे इस प्रकार के पदार्थ पथ्य रूप मे निर्दिष्ट है।

०

दसवॉ अध्याय

कृमिरोग-प्रतिषेध

विषय-प्रवेश—वैकारिक अवस्था मे पाई जाने वाली (Pathological) शरीरगत क्रिमियो की उपजातियो का उल्लेख वैद्यक ग्रथो मे पाया जाता है 'विंशति कृमिजातय'। 'ये बीस उपजातियॉ विविध श्लेष्मवर्धक आहार-विहार अथवा अपथ्यो के सेवन से उत्पन्न (Acqwired) होती है। इनके अलावे बहुत सी कृमियो की उपजातियॉ सहज (Congenital) भी पाई जाती है।

निदान या कारण की दृष्टि से विचार किया (Clinicaly) जाय तो इनको चार प्रकारो मे वर्णन करना ही पर्याप्त होता है। १. पुरीपज, २. श्लेष्मज, ३ शोणितज ४ मलज।

मलज—मल के वाह्य तथा आभ्यतर दो भेद से दो प्रकार की कृमियाँ हो जाती है। इन मे वाह्य मल मे पैदा होने वाली कृमियो को ही मलज कृमि कहा जाता है। वाह्य मल मे कृमियो के उत्पन्न होने का मूल हेतु स्वच्छता का अभाव या सफाई का न रखना है। स्वच्छता के अभाव मे केश, दाढी, त्वचा के लोम, (पक्ष्म Eyelashes) तथा वस्त्र में अणु से लेकर तिल के परिमाण तक के विना पैर के, वहुत पैर के—यूका (जूआ), लिक्षा (लीख), पिपीलिका (ढोल), चिल्लर आदि नामो से अभिहित वहुत प्रकार की कृमियाँ पैदा हो सकती है। इनकी वजह से खुजली, दद्रु, पामा, शीतपित्त, कोठ (urticarial Patches), फोडे, फुन्सी आदि उत्पन्न हो जाते है। इनकी चिकित्सा मे मल उत्पन्न करने वाले कारणो को दूर करना, सफाई के द्वारा मल को दूर करना तथा पैदा हुई कृमियो को मारना या पकड-पकड कर खीच कर दूर करना ही उपचार है। मलज कृमियो में Pediculosis Acarus Scabies, Ringworm आदि गृहीत हैं। गदगी से पसीने, नख, त्वचा के मैल या मल मे पैदा होने से मलज कहलाती है।

शोणितज या रक्तज—रक्तवह सस्थान में सिरा, धमनी तथा रस-वाहिनियो (lymphatics) मे पाई जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म, चर्मचक्षु से अदृश्य (परन्तु अणुवीक्षण दर्शनयत्र से दृश्य) वृत्ताकार और विना पैर की ये

कृमियाँ होती है। इनके नाम क्रमश केशाद (केशो को खाने वाली), लोमाद (लोमो को खाने वाली), लोमद्वीप (लोगो के कूपो मे रहने वाली), सौसुर (मधोत्थ) तथा औडुम्बर उदुम्बर के कीडे जैसे तथा जन्तुमार (जीव को मारने वाली) है। इन कृमियो के प्रभाव से केश, दाढी, पक्ष्म के बाल झड जाते है (Alopecia universalis), व्रण प्रदेश में कण्डु और हर्ष पैदा करती हैं। यदि अधिक संख्या-वृद्धि हो तो त्वक्, सिरा, स्नायु, मास, तरुणास्थि प्रभृति अतस्थ अवयवो को भी प्रभावित करती है। इन अंगो मे शोथ, कोथ और कर्दम (Oedema, Necrosis or Gangrene) पैदा कर इन अवयवो को खा जाती हैं। इनका प्रभाव स्थानिक न होकर सार्वदैहिक होता है। अस्तु, इनमे कुष्ठवत् रक्तशोधक (Blood Purifier) औषधियो की व्यवस्था करनी चाहिये। श्लीपद (Microfilarae) तथा कुष्ठ रोग मे इस प्रकार की कृमियाँ बहुलता से मिलती हैं।

श्लेष्मज—मधुर-रसात्मक द्रव्य, मिष्टान्न, क्षीर, गुड, तिल, दधि, मत्स्य, आनूपमास, पिष्टान्न, पायस (परमान्न), कुसुम्भ स्नेह (बर्रे का तेल), अजीर्ण मे भोजन करना, पूतियुक्त (सडी, गली, बासी अन्न का सेवन), क्लिन्न या अतिद्रव भोजन (अधिक जल, गुड आदि के योग से बने अन्न), सकीर्ण भोजन (मलादि-मिश्रित घृणाजनक अन्न का सेवन), विरुद्ध अन्न (कई प्रकार के विरोधी भोजन बतलाये गये है जैसे —दूध के साथ मछली का सेवन, दूध के साथ नमक का खाना आदि), असात्म्य अन्न (जिस प्रकार के भोजन का अभ्यास न हो ऐसे अन्न का सेवन), बिना उबाले जल का पीना, दिवास्वाप प्रभृति कारणो से श्लेष्मजात कफज कृमियाँ उत्पन्न होती है। इन का प्रधान आवास आमाशय मे होता है। वहाँ से अपने अण्डे बच्चो से बढती है तथा आकार-प्रकार से स्वय बढती हुई ऊपर और नीचे को चलती है। ऊपर की ओर से चल वे मुख और नासाद्वार से नीचे की ओर चलती हुई मलद्वार से निकलती रहती है। ये कई प्रकार की आकार और परिमाण की हो सकती हैं, कुछ पतली, लम्बी, कुछ मोटी और दीर्घ, वृत्ताकार, कुछ केचुवे सदृश (गण्डूपदाकृतयः), अणु और दीर्घ होती है। इनके वर्ण भी कई प्रकार के सफेद, लाल या ताम्र वर्ण के होते है। प्रभाव तथा आकार के अनुसार इनके नाम भी विविध हैं। अन्त्रादा (आतको खाने वाली), उदरादा (उदर को खाने वाली), हृदयचरा हृदयादा –(हृदयमे चलने वाली या हृदय को खाने वाली), कई बार कृमियो के अण्डे रक्तवह सस्थान से चक्कर काटते हुए हृदय मे पहुँचकर हृद्रोग पैदा करते है।

चुरव (चू शब्द करनेवाले या चुरनेवाले), दर्भपुष्पाः (दर्भ के आकार वाली), सौगविका (विम या कमलनाल के समान गंधवाली), महागुदा (वहुत वडे आकार की गुदा मे निकले वाली कृमियाँ (जैसे Tape worm या स्फीत कृमि)। इन कृमियो के कारण ज्वर, मूर्च्छा, जृम्भा, क्षवथु (छीको का आना), आनाह (पेट का फूलना), अङ्गमर्द (अंग मे पीडा), हृल्लास (मिचली आना), आस्यस्रवण (मुंह में पानी भरना या लार का अविक गिरना), अरोचक (अन्न में अरुचि), अविपाक (अन्न का पाक न होना), छर्दि (वमन), शरीर की कृशता और त्वचा की परुषता (रूक्षता या कर्कशता) प्रभृति लक्षण या चिह्न पाये जाते है।

पुरीषज—पुरीषज कृमियाँ भी प्राय उन्ही कारणो मे उत्पन्न होती है, जिन कारणो से श्लेष्मज कृमियाँ। ये अधिकतर पक्वाशय (क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र तथा मलाशय) मे पाई जाती है। और वही पर वढती है और वढकर प्राय अधो-मार्ग मे निकलती है। इनके क्वचित् आमाशयाभिमुख होने पर रोगी के निश्वास तथा उद्गार मे पुरीषगवो वदवू आती है। ये कृमियाँ अधिकतर श्वेत, ऊन के वरावर की दीर्घता की होती है। कुछ स्थूल और गोल घेरे की भी हो सकती है। क्वचित् श्याव, नील या हरित वर्ण की भी हो सकती है। इनके नाम विशेष प्रकार की गति करने वाली ककेरुक एवं मकेरुक, चाटने वाली लेलिह, शूल पैदा करने वाली सशूलक तथा मधोरत्थ सौसुराद। इनके प्रभाव से पुरीषभेद, कार्श्य, पारुष्य, लोमहर्ष, गुदा मे कण्डु प्रभृति लक्षण प्रधानत इन कृमियो में युक्त व्यक्तियो मे मिलते है। इनके परिणाम से गुदनिष्क्रमण (गुद-भ्रंश) पाया जाता है।

आचार्य सुश्रुतने कृमिरोगो के उत्पादक कारणो का वहुत सारगर्भित सक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होने लिखा है—उडद, अम्ल और लवण, गुड और शाको (पत्र शाको) के सेवन से पुरीषज कृमियाँ, मास, मत्स्य, गुड और क्षीर के अविक सेवन मे श्लेष्मज कृमियाँ उत्पन्न होती है।

आमाशयान्त्र कृमि (Intestinal Parsites)

इस प्रकार चरक के मत से चार प्रकार की कृमियो का आख्यान समाप्त हुआ। अब जरा व्यावहारिक दृष्टि से भेद किया जाय तो कृमियो को दो वर्गो में बाँट सकते है। १ वाह्य २ आभ्यंतर। वाह्य कृमियाँ वे है जो वाह्य त्वचा पर, केश, नख, रोम, श्मश्रु के सन्निधान मे या वस्त्र आदि मे पाई जाती हैं। यह चरकोक्त मलज कृमियो का वर्ग है। दूसरा वर्ग आभ्यंतर आन्त्रगत कृमियो का है। वे आमाशयान्त्र प्रदेश मे पाई जाती है और वही रहकर वृद्धि करती तथा विविध लक्षणो को पैदा करती है। उपर्युक्त पुरीष और कफज कृमियो का

समावेश इस आन्त्र कृमि के वर्ग मे ही हो जाता है। आभ्यतर कृमियो का ही एक दूसरा वर्ग रक्तज कृमियो का हो सकता है। जिनसे श्लीपद और कुष्ठ प्रभृति रोग होते हैं। आभ्यतर कृमियो मे आमाशयान्त्रगत कृमियो का Intestinal Parasites नाम से आधुनिक ग्रथो मे वर्णन पाया जाता है। रक्तज कृमियो का वर्णन श्लीपद रोग या कुष्ठ रोग के अधिकार मे आगे किया जायगा। इस अध्याय मे अपना प्रतिपाद्य विषय केवल आन्त्रगत कृमियो तक ही सीमित रखना अपेक्षित है।

आन्त्रगत कृमि (Intestinal Worms) की श्रेणी मे प्रमुखतया पाई जाने वाली आधुनिक युग के शोधो पर आधारित तथा व्यवहार क्षेत्र मे अधिक पाई जाने वाली चार प्रकार की कृमियाँ प्रमुखतया पाई जाती है। १ अकुशमुख कृमि (Hook worms), गण्डूपद कृमि (Round worms), सूत्र कृमि (Thread worms) तथा स्फीतकृमि (Tape worms), ये सभी प्राचीनोक्त श्लेष्मज और पुरीषज श्रेणी के भीतर ही समाविष्ट हो जाती है।

प्राचीन निदान को समझने के लिये आधुनिक शोधो के आधार पर इनके उपसर्ग-विधि पर एक सक्षिप्त कथन प्रासगिक प्रतीत होता है। एतदर्थ इनके पृथक् पृथक् समुत्थान स्थान, संस्थान, वर्ण, नाम, प्रभावादि का उल्लेख किया जा रहा है।

अंकुशमुख कृमि—श्लेष्मज कृमियो के वर्ग मे अन्त्राद नाम से सभवत. प्राचीन सहिताओ मे इसी कृमि का उल्लेख आता है। अकुशमुख कृमि से उपसृष्ट व्यक्ति के मल-पुरीष (पाखाने) मे इनके अण्डो की उपस्थिति पाई जाती है। ये अण्डे गीली भूमि मे पडे रह कर तीन दिनो मे इल्ली (Larval) का रूप धारण कर लेते है। इसके पश्चात् इनका और भी रूपान्तर होता है। इस अवस्था मे ये तीन-चार मास तक जीवित रह सकती है। यदि कोई व्यक्ति नगे पैर उस स्थान पर जाता है तो इल्लियाँ उसकी त्वचा के द्वारा प्रविष्ट होकर लसीका-वाहिनियो और सिराओ से होते हुए दक्षिण निलय मे पहुँच जाता है। वहाँ से रक्त द्वारा फुफ्फुस को फिर फुफ्फुस से कंठनाली तक जाती है वहाँ से पुन अन्न–प्रणाली मे फिर वहाँ से चलकर अन्ततो गत्वा अपने स्थायी आवास-स्थान पक्वामाशयान्त्र (Duodenum and jejunum) मे आकर स्थित हो जाती है। दो सप्ताहो तक इनके आकार मे वृद्धि होती है एव लगभग चार सप्ताह मे ये पूर्ण पुष्ट हो जाती है। यहाँ रहते हुए स्त्री कृमि गर्भवती होकर अण्डे देती है जो पुरीष द्वारा निकल कर पूर्वोक्त अवस्थावो को प्राप्त करके उपसर्ग मे सहायता करती है।

इन क्रिमियों का मुख अंकुश (Hooks) या बडिश के समान होता है और इन अंकुशों के द्वारा ये आंत्र में चिपकी रहती हैं और रक्त का पान करती रहती है। परिणामत इन कृमियों से उपसृष्ट व्यक्ति में रक्तक्षय या पाण्डुता की उत्पत्ति (Anaemia) होती है। रक्त में शोणाग्र (Haemoglobin) की कमी हो जाती है—रोग के अधिक तीव्र होने पर रक्त के लाल कणों की संख्या भी कम हो जाती है। अस्तु उपचार-काल में रक्तक्षय की चिकित्सा का भी ध्यान रखना पड़ता है।

गण्डूपद कृमि (केंचुवे या Round worms)—ये कृमि अधिकतर बालकों में पाई जाती हैं, परन्तु बड़ी आयु में भी हो सकती हैं। प्राचीन संहिता में गण्डूपद नाम से श्लेष्मज वर्ग में इसका प्रसंग पाया जाता है।

रोगी व्यक्ति के मल से निकले हुए अण्डों से उपसृष्ट खाद्य पदार्थ के सेवन से ये स्वस्थ व्यक्ति के आंत्र में पहुँच जाती हैं। आमाशय में अम्ल से उनके ऊपर का आवरण गल जाता है तब ये स्वतन्त्र होकर यकृत् में होती हुई सिरा द्वारा हृदय और अंकुशमुख कृमि की भांति फुफ्फुस में जाकर पुष्ट होते हैं। वहाँ से पुन. आमाशय में होती हुई आंत्र में प्रविष्ट होती हैं। यहां पर इनकी वृद्धि होती है और परिपक्वावस्था को प्राप्त करती हैं। ये कृमियां अत्यन्त चंचल और गतिशील होती हैं। प्राय. आंत्र में कुण्डलित अवस्था में रहती हैं और विड्भेद, अतिसार, उदरशूल, हृल्लास, वमन, सन्तत स्वरूप का ज्वर आदि पैदा करती हैं। कई बार वमन के साथ मुख से और कई बार पाखाने के जरिये मल द्वार से निकलती हैं। इनके अण्डे प्राय. पाखाने के जरिये बाहर निकलते रहते हैं जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से अदृश्य रहते हैं—कच्चे शाक-पत्रशाक आदि के जरिये मुख से निगले जाकर स्वस्थ व्यक्ति के आमाशय में जाकर उपसृष्ट करते रहते हैं। कभी कभी कई कृमियां एक में मिल कर कुण्डलित होकर आंत्र छिद्र को रुद्ध कर आन्त्रावरोध (Acute Intestinal obstruction) की अवस्था उत्पन्न कर देती हैं और कई बार पित्तवाहिनी में अवरोध पैदा करके कामला भी भी उत्पन्न कर देती हैं।

स्फीत कृमि—(Tapeworm) कई जाति की कृमि होती हैं। ये फीते के समान चौड़ी, चिपटी और बहुत लम्बी (८-१० फीट) होती हैं। ये अपने गोल सिर से स्थित बडिशों द्वारा आंत्र में चिपकी रहती हैं। इनके शरीर में अनेक पर्व होते हैं और प्रत्येक पर्व में अण्डे होते हैं। परिपक्व होने पर अंतिम कुछ पर्व (४-६) टूट कर गिर जाते हैं उनके आकार कद्दू के बीज के समान होते हैं।

इसी लिये इस कृमि को कद्दूदाना भी कहते है। इनकी उपस्थिति से कभी-कभी पेट मे दर्द, वमन, मन्दाग्नि और कई वार भस्मक रोग तथा पाण्डु रोग भी पैदा होता है। ये कृमिया अधिकतर आनूप मास (गोमास, शूकरमास) खाने वालो मे पाई जाती हैं।

ये कृमिया सहितोक्त श्लेष्मजवर्ग मे आती हैं। सभवत महागुद नाम से इनका ही वर्णन प्राप्त होता है।

सूत्रकृमि या तन्तुकृमि (Thread worms)—ये बीजाङ्कुर या सूत्र की भाँति श्वेत वर्ण के वहुत सख्या मे पाये जाने वाली प्रायः आधा जौ की लम्बाई की कृमियाँ हैं। प्राय बच्चो मे मिलती और गुदामार्ग से रात्रि मे वाहर निकलती हैं। इनसे गुदकण्डू (गुदा मे खुजली होना) एक प्रधान लक्षण है। इनमे कई के वजह से प्रवाहिका, गुद-भ्रंश, शय्या-मूत्र और प्रतिश्याय प्रभृति लक्षण भी पैदा हो जाते हैं।

इन कृमियो का पुरीषज कृमियो के वर्ग मे वर्णन पाया जाता है। इन कृमियो के अतिरिक्त भी कुछ कृमि जैसे—प्रतोद कृमि (Whipworm) तथा श्लीपद कृमि (Filaria Nocterna) प्रभृति पाई जाती हैं। कृमि-चिकित्सा मे कथित योग इनमे भी लाभप्रद होते हैं।

क्रिया-क्रम—१ सभी कृमियो मे अपकर्षण प्रथम उपचार है। अपकर्षण शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, खीच कर निकालना। यह अपकर्षण की क्रिया हाथ की अगुलियो या नख की सहायता से अथवा चिमटी जैसे किसी यत्र की सहायता से सम्पन्न हो सकती है। यह क्रिया वाह्य कृमियो के सम्वन्ध मे तथा दिखलाई पडने वाली कृमियो के सम्वन्ध मे समुचित प्रतीत होती है, परन्तु आभ्यतर कृमियो तथा अदृष्ट कृमियो के विषय मे कैसे सभव हो सकता है? आचार्य ने वतलाया कि इन अदृष्ट या आभ्यतर कृमियो का अपकर्षण भेषज या औषधियो के द्वारा सभव है। भेषज द्वारा अपकर्षण के चार साधन है—१ वमन २ विरेचन ३. शिरोविरेचन तथा ४ आस्थापन वस्ति।

२ **दूसरा उपक्रम**—प्रकृति विघात का होता है—जिसमे कारणो को नष्ट करने के लिये या शरीर का सतुलन ठीक रखने के लिये कृमि रोग मे कटु, तिक्त एव कषाय रस पदार्थों का सेवन तथा क्षारीय एव उष्ण द्रव्यो का उपयोग करना आवश्यक है। इससे मधुर-अम्ल-लवण के अति सेवन से उत्पन्न कृमियो का क्रमश नाश होता चलता है। यह उपक्रम सशमन कहलाता है।

३ निदानोक्त भावो का परिवर्जन—कृमि के उत्पन्न करनेवाले कारणो का सर्वथा परिवर्जन करना। क्षीर, दधि, गुड़, तिल, मत्स्य, आनूप मास, पायस, पिष्टान्न, कुसुम्भ स्नेह प्रभृति उत्पादक कारणो को छोड देना चाहिए।[1]

यह एक सामान्य उपक्रम है। विशेष उपक्रमो की दृष्टि से विचार किया जावे तो पुरीपज कृमियो मे वस्ति और विरेचन के द्वारा उपचार, कफज कृमियो मे शिरोविरेचन (नस्य), वमन और शमन की चिकित्सा, रक्तज कृमियो मे उनके विनाश के लिये कुष्ठाविकार मे वतलाये गये उपचार रक्तशोधक योग तथा वाह्य कृमियो में यूका, लिक्षा आदि को नष्ट करने के लिये लेप, प्रक्षालन (सेक) एव अभ्यंगादि का प्रयोग कुशल चिकित्सक को करना चाहिये।[2]

भेपज—कृमिघ्न औपधियाँ सामान्यतया सभी कृमियो पर कार्य करती हैं परन्तु कुछ विशिष्ट कृमिघ्न भी होती है उनका यथास्थान वर्णन किया जावेगा। कृमिघ्न भेपजोका प्रयोग गुडपूर्वा—गुड के साथ करने का विधान है। इसका उद्देश्य यह होता है कि कृमियाँ गुडप्रिय या मधुरप्रिय होती हैं। गुड के उदर में पहुचने पर आन्त्रस्थ कृमि आमाशयान्त्र के विविध स्थानो (आन्त्र की अत स्थ भित्तियो) से निकल कर गुडभक्षण की स्पृहा से उस स्थान पर जहाँ गुड पहुचा है, एकत्रित हो जाती हैं। उसमें तिक्त, उष्ण, क्षारीय और उष्ण औपधियो के सम्पर्क मे आकर या तो वे मर जाती हैं अथवा मूच्छित हो जाती हैं और फिर एक रेचन दे देने से वे आन्त्र से धुलकर वाहर निकल जाती है। अस्तु प्राय गुड के साथ भेपजो का प्रयोग करने का उपदेश शास्त्रों में पाया जाता है।

१. पारसीकयमानी—क्रिमिकोष्ठ वाले रोगी को प्रात काल मे पहले १ तोला गुड खिलाकर फिर पारसीकयमानी (खुरासानी अजवायन) का चूर्ण ३ माशे खिलावे। चूर्ण को खिलाकर वासी पानी पीने को दे। तो कृमिया मल के साथ वाहर निकल जाती हैं। यह योग सभी कृमियो विशेपत अंकुशमुख कृमियो में लाभप्रद रहता है।

आधुनिक युग मे पारसीकयमानी सत्त्व (थायमाल नाम से Thymol) पाया जाता है। अकुशमुख कृमि मे यह औपधि विशेष लाभप्रद (Specific)

---

१. 'अपकर्पणमेवादौ कृमीणा भेपजं स्मृतम्। ततो विघात प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम्। (चर वि ८)

२ पुरीपजेपु सुतरा दद्याद्वस्तिविरेचने। शिरोविरेकं वमन शमनं कफजन्मसु ॥ रक्तजाना प्रतीकार कुर्यात् कुष्ठचिकित्सया। वाह्येपु लेपसेकादीन् विदध्यात् कुशलो भिपक् ॥

मानी जाती है। प्रयोग विधि—औषधि प्रयोग के पूर्व रोगी को दो दिनो तक मूग की दाल, खिचडी या अन्य लघु अन्न देना चाहिये। फिर प्रात काल मे दस ग्रेन की मात्रा की तीन पुडिया अथवा कपस्युल मे भर कर दस ग्रेन प्रति कैपस्युल बनाकर एक दो या तीन मात्रा एक-एक घटे के अतर से देना चाहिये। युवक को पूर्ण मात्रा ३० ग्रेन की होती है। इससे अधिक कदापि न दे। आवश्यकतानुसार रोगी और रोग के बल-काल के अनुसार दस, बीस या तीस ग्रेन तक दिया जा सकता है। यथावश्यक औषधि देने के अनन्तर रोगी के आन्त्र के प्रक्षालन के लिये दो घंटे के बाद तीव्र रेचक (जलस्रावक) सामुद्रेचन (Magsulph) छ ड्राम से १ औंस तक पानी मे घोलकर पिला देना चाहिये। दस्त की दवा देना आवश्यक होता है। सिद्धान्त यह है कि यमानी सत्त्व के सम्पर्क मे आकर कृमि मूच्छित हो जाते है—मूच्छितावस्था मे उनको आन्त्र से दूर करने के लिये तीव्र रेचन परमोत्तम साधन है।

इसके प्रयोग-काल में मद्य, ग्लिसरीन, क्लोरोफार्म, मक्खन, तैल, एरण्डतैल वर्ज्य है।

२ पारिभद्रक (पर्वतनिम्ब) पत्र-स्वरस १ तोला मधु मिलाकर सेवन। ३ केबुक ४ पूतीक स्वरस का मधु के साथ सेवन अथवा ५ वायविडङ्ग चूर्ण और मधु का सेवन।

६ पलाशबीज—पलाशबीज का स्वरस मधु से या पलाशबीज का कल्क का मट्ठे से या पलाशबीज चूर्ण का गुड से अथवा पलाशबीज कषाय का गुड से सेवन कृमिघ्न होता है। मात्रा ३ माशे से ६ माशे तक। पलाशबीज (Butea seeds) यह बडा ही उत्तम योग है। गण्डूपद कृमियो में (Round worms) विशेष लाभप्रद पाया गया है।

७ सुपारी—कच्ची सुपारी को जम्बीरी नीबू के रस के साथ पीने से पुरीषज कृमि (Thread worms) मे विशेष लाभ-प्रद पाया जाता है।

८. तुम्बी बीज—(कडवे कद्दू का बीज) ३ माशे मट्ठे के साथ।

९ कुष्माण्ड बीज का प्रयोग भी कृमिघ्न होता है। मात्रा—३ से ६ माशे।

१० नारिकेल जल का मधु के साथ सेवन भी कृमियो को निकालता है।

११. जेवायन—(यमानी) के बीज का चूर्ण ६ माशे सैन्धव लवण के साथ प्रात. काल मे खाली पेट पर लेने से अजीर्ण, आमवात, शीतपित्त तथा कृमिरोग मे लाभप्रद होता है। जेवायन का गुडके साथ भी प्रयोग कृमिनाशक होता है।

१२ काम्पिल्लक चूर्ण—(शुद्ध कबीले का चूर्ण) १ से २ माशे की मात्रा में गुडके साथ मिलाकर सेवन करने से उदरस्थ सभी कृमियो को निकाल देता है। इसका प्रयोग बच्चो के कृमि रोग मे विशेषत. पुरीषज कृमि (Thread worms) में लाभप्रद होता है।

१३ किरमाणी अजवायन चूर्ण—१ माशे से ३ माशे तक गुड के साथ सेवन गण्डूपद कृमि मे विशेष लाभप्रद होता है। आधुनिक युग में इसका सत्त्व किरमाणी अजवायन सत्त्व (Santonin) के नाम से आता है। इसकी मात्रा १ से ३ ग्रेन की होती है। गण्डूपद कृमियो मे (Round worms) मे विशिष्ट (Specific) रूप मे प्रयुक्त होता है।

प्रयोग विधि—सैण्टोनीन मे कैलोमल तथा सोडावाय कार्ब मिलाकर एक मिश्रण (Santonin ½ to 1 grain, Calomel ½ to 1 grain, sodi Bicarb 3to 5 grains) बनाकर। सायकाल मे रोगी को एक एक घटे के अतर मे तीन पुडिया खिला दे। फिर प्रात. काल मे सामुद्रेचन (Sodi sulph or Magsulph ४ ड्राम से १ औंस तक) को पानी मे घोल कर पिलावे इसमे रेचन होकर उदरस्थ कृमि मूर्च्छित हो गये रहते हैं दस्त के साथ बाहर निकल जाते हैं।

१४ स्वर्णक्षीरीबीज—स्वर्णक्षीरी की जड़ की छाल का कल्क ३ माशे मरिच ५ दाने के साथ या बीज का तैल सभी कृमियो विशेषत अकुश मुख कृमियो मे लाभप्रद पाया गया है। आजकल एतादृग औषधि का प्रयोग Hexylresorsinol नाम से बहुतायत मे होता है। Crystoids (sharp & Dhome) बना बनाया कैपस्युल में भरा पाया जाता है। इस औषधि को कम विषाक्त माना जाता है। पाँच कैपस्युल एक ही साथ शीतल जल के साथ प्रात. काल में रोगी को निगलवा दिया जाता है। पश्चात् तीन या चार घटे के अनन्तर उसको सोडा सल्फ १ औंस जल मे घोल कर पिला दिया जाता है जिसमे रेचन हो जाय। इसके प्रयोग मे धीरे धीरे कृमियो का तथा उनके अण्डो का निकलना प्रारभ होता है और दस दिनो तक निकलते रहते हैं। इसका उपयोग निरापद माना जाता है।

१५ आखुपर्णी या मूषाकर्णी—आखुपर्णी को जौ के आटे मे पीसकर पकौडी बनाकर तैल मे तलकर काजी के साथ पीने से कृमि नष्ट होते हैं।

१६ सुरसादि गण—कृष्ण तथा श्वेत तुलसी, मरुवक (मरुआ), अर्जक, भूस्तृण (रोहिस तृण), सुगवक (गंधतृण), सुमुख (तुलसी भेद), कृष्णार्जक (काला माल), कासमर्द, क्षवक (नकछिकनी), खरपुष्पा (वन

वर्वरिका) विडङ्ग, कट्फल, निर्गुण्डी, मुण्डी, मूपाकर्णी, भारंगी, काकजघा, काकमाची, कुपीलु (कुचिला) । इस गण की प्रत्येक औपधि स्वतंत्रतया कृमिघ्न है । इनमे कईयो का उल्लेख ऊपर मे हो चुका है । दवना या मरूवा विशेप उल्लेखनीय है । इनमे से किसी एक का ताजा रस ½ से १ तोला मधु से सेवन कराने से बालको मे गण्डूपद तथा सूत्र कृमियो मे लाभप्रद होता है ।

१७ दाडिम बीज—अनारदाने का बीज सामान्यतया कृमि रोग मे व्यवहृत होता है । इसका विशेष प्रयोग स्फीत कृमि (Tape worms) मे होता है । Palıtrın Tannet नाम इसका एक विशेप योग आता है जो इस अवस्था मे उत्तम लाभ प्रद पाया जाता है ।

१८ गंधवास्तूक—वथुवे की एक जाति गधवास्तूक नाम से पाई जाती है । इसके बीज कृमिघ्न होते हैं । इन बीजो से एक तैल गधवास्तूक तैल (Oıl chenapodıum) बनता है, इसका उपयोग विशेष अकुशमुख कृमियो मे लाभप्रद पाया जाता है । मात्रा १० बूद । प्रयोग कैपस्यूल मे भर कर दस बूद खिला देना चाहिये । एक घटे के पश्चात् समुद्रेचन (Mag sulph or sodı sulph) देकर रेचन करा देना चाहिये ।

इन वानस्पतिक द्रव्यो के अतिरिक्त अन्य कई रासायनिक द्रव्य भी कृमि चिकित्सा मे व्यवहृत होते हैं । जैसे—१९ कार्वन टेट्राक्लोरायड या कार्बन टेट्रा क्लोरेथीलीन । मात्रा ३० ग्रे Tetra cap नाम से १० ग्रेन की मात्रा के कैपस्युल बने बनाये बाजार मे उपलब्ध है । इनका यथावश्यक रोगी के बल के अनुसार दो या तीन कैपस्युल पानी से निगलवा देना चाहिये । फिर दो घटे के बाद सामुद्रेचन देकर रोगी का रेचन करा देना चाहिये । कृमियाँ तथा उनके के अण्डे सभी बाहर निकल जाते है । यह औपधि विशेप कर अकुशमुख कृमि मे लाभप्रद रहती हैं । एक मिश्रण का प्रयोग अकुशमुख कृमि के रोगियो मे वडा लाभप्रद पाया गया है । कृमिघ्न मिश्रण—गंधवास्तूक तैल (Oıl chenapodıum) १० बूद, कार्बन टेट्राक्लोरायड (Carbon tetra chlorıde XXXms) ३० बूद तथा सामुद्रेचन (Magsulph) ६ ड्राम तथा जल २ औंस । यह एक तीव्र औषधि प्रयोग है, रोगी को आत्मनिरीक्षण मे रख कर देना चाहिये । रेचन न हो तो पुन समुद्रेच ४ ड्राम पानी मे घोल कर देना चाहिये ।

२० जेन्शियन वायलेट—(Jentıan Voılet) इसके भी बने योग बाजार मे मिलते है । यह औपधि गण्डूपद कृमियो मे विशेप रूप से कार्य करती है ।

२१ कार्बेमेजीनसायट्रेट (Carbamazine citrate) हेट्राजान (Lederle) के नाम से यह औषधि बाजार में मिलती है। गण्डूपद कृमि तथा श्लीपद कृमि में लाभप्रद है। पिपरा जीन सायट्रेट (Piprazine Citrate) इसके कई योग कई नामो से बाजारो में मिलते है। 'एण्टोपार' 'वर्मिजाइन' आदि। एक निरापद औषधि है। गण्डूपद कृमि (Round worm) तथा सूत्रकृमि (Thread worms) मे विशेष लाभप्रद होती है।

प्राचीनोक्त तथा अर्वाचीन कृमिघ्नों में अंतर—आधुनिक युग के कृमिघ्न अधिकतर बडे तीव्र एवं विषाक्त होते है। इनका अधिक लम्बे समय तक लगातार प्रयोग नही किया जा सकता है क्योकि ये लगातार प्रयोग मे आकर यकृत् को हानि पहुँचाते है। इनके विपरीत प्राचीनोक्त कृमिघ्न औषधियो में विषाक्तता अत्यल्प या नही है। अधिक दिनो तक प्रयोग में आने पर भी किसी प्रकार से यकृत् की क्रिया को हानि नही पहुँचाते प्रत्युत यकृत् की क्रिया को बल देते है। प्राचीनोक्त औषधिया मृदु है फलत. इनकी क्रिया (कृमियो के दूर करने की) धीरे धीरे होती है और अधिक काल तक प्रयोग करने की आवश्यकता रहती है। इसके विपरीत आजकल की कृमिघ्न औषधिया तीक्ष्ण होती है। परिणामत इनका कार्य (कृमियो के निकालने का कार्य) भी शीघ्रता से होता है।

अब विचारणीय है कि प्राचीनोक्त कृमिघ्न औषधियो का प्रयोग अधिक उत्तम है या अर्वाचीन का। गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो दोनो योगों के मिश्रित उपचार का उपयोग अधिक समीचीन प्रतीत होता है। व्यवहार में ऐसा ही किया भी जाता है। उदाहरणार्थ एक अङ्कुशमुख कृमि से पीडित रोगी को ले लें। इसकी चिकित्सा मे सर्वप्रथम आवश्यकता होती है कि अर्वाचीन कृमिघ्न योग की एक तीव्र मात्रा दी जाय जो शीघ्रता से अधिक से अधिक मात्रा में कृमियो को निकाल दे। फिर उसके बाद आयुर्वेदीय किसी कृमिघ्न योग की लगातार सेवन करने की एक मास तक व्यवस्था कर दी जाय। कारण यह है अर्वाचीन औषधियाँ तीव्र होते हुए भी सम्पूर्ण कृमियो को एक ही साथ बाहर नही निकाल सकती कुछ न कुछ शेष रह जाती है जिनकी पुन' वृद्धि होकर रोगी को हानि पहुँच सकती है। इस बीच यदि आयुर्वेदीय योगो का प्रयोग कर दिया जाय तो शेष रही कृमियो के नष्ट हो जाने की पूरी संभावना रहती है।

अर्वाचीन औषधियो का उपयोग एक बार कर देने के बाद अनन्तर कम से कम तीन सप्ताह का अंतर देना चाहिये यदि आवश्यकता हो तो दो या तीन बार पुन. पुन दी जा सकती है। मध्य के अवान्तर काल में आयुर्वेदीय निरापद

कृमिघ्न योगो का प्रयोग उत्तम रहता है। इस प्रकार उभय विध चिकित्सा करते कृमियो को निर्मूल करना एक उत्तम विधान है।

कृमिघ्न योग—

भद्रमुस्तादि कषाय—मुस्तक, मूसाकर्णी, पलाशबीज, वायविडङ्ग, अनार की छाल (वृक्षकी), खुरासानी अजवायन, सुपारी, देवदारु, सहिजन के बीज, हरड, बहेरा, आँवला, खैरसार, नीमकी छाल, इन्द्रजौ। सब समभाग। इसका २ तोला लेकर आधासेर जल मे खौलावे, दो छटाँक शेष रहे पिलावे। प्रात । सभी कृमियो मे लाभप्रद।

विडङ्गादि चूर्ण—वायविडङ्ग, सेंधव, यवक्षार, कबीला, पलाशबीज, अजवायन, हरीतकी। सब समभाग। **मात्रा** ६ माशे। **अनुपान** उष्ण जल या तक्र से। सर्वकृमियो मे लाभप्रद।

पलाशबीजादि चूर्ण—पलाशके बीज, जेवायन इद्रयव, वायविडङ्ग, नीम की छाल, चिरायता सब सम भाग। **मात्रा** १ से ३ माशे। पुराने गुडके साथ।[1] विशेषत गण्डूपद कृमि मे लाभप्रद।

पारसीयादि चूर्ण—पारसीक जेवायन, मोथा, पिप्पली, काकडासीगी वायविङ्ग और अतीस। सबका समभाग मे बना चूर्ण। **मात्रा** १–३ माशे। अंत्राद क्रिमियो मे लाभप्रद। जब क्रिमियो के कारण कास-श्वास का उपद्रव हो तो इसका उपयोग ठीक रहता है।

पारसीकादि वटी—खुरासानी अजवायन, पलाशबीज, वायविडङ्ग, कर-जकी गुद्दी, अनार की छाल, इद्रजौ, कबीला, नागरमोथा, शुद्ध गधक, अजवायन का सत और भुनी हीग। सब समभाग। कपडछन चूर्ण बना कर। अनन्नास था खजूरके रस मे घोट कर ४ रत्ती की गोलियाँ। **मात्रा** १ से २ गोली। **अनुपान** भद्रमुस्तादि कषाय। प्रात काल मे एक बार। १ सप्ताह से तीन सप्ताह तक। अत्राद था अकुश मुख कृमि मे विशेष लाभप्रद। (Hookwoms)

विडङ्गादि वस्ति—वायविडङ्ग, त्रिफला, सहिजन की छाल, मैनफल, मोथा, दन्ती की जड, पलाशबीज, खुरासानी अजवायन, कबीला, वनतुलसी की पत्ती, दमनक, मरुवक प्रत्येक द्रव्य एक एक तोला लेकर ३ सेर जल मे पकावे जब

---

1 पलाशबीजेन्द्रविडङ्गनिम्बभूनिम्ब चूर्णं सगुड लिहेद्य ।
दिनत्रयेण क्रिमय पतन्ति पलाशबीजेन यकानिका वा ॥ (भै र)

चौथाई काढा शेप रहे तो उसमें विडङ्गादि तैल २ तोला मिलाकर। आस्थापन वस्ति के प्रयोग से गुदा से पुरीषज क्रुमियाँ (Threadwomrs) निकल जाती है।

क्रिमिकालानल रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गधक की सममात्रा मे बनी कज्जली १ भाग, वायविडङ्ग १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ विप ½ भाग। बकरी के दूध मे पीसकर। २ रत्ती की गोली। धनिया और जीरा के अनुपान से सेवन।

क्रुमिमुद्गर रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गंधक २ तोला, अजमोदा का चूर्ण ३ तोला, वायविडङ्ग चूर्ण ४ तोला, शुद्ध कुपीलु बीज का चूर्ण ५ तोले तथा शुद्ध पलाशबीज चूर्ण ६ तोले। सभी प्रकार की क्रुमियो मे लाभ-प्रद। मात्रा २ से ४ रत्ती। अनुपान मुस्तक कषाय।

विडङ्ग लौह—शुद्ध पारद, गधक, मरिच, जायफल, लवङ्ग, पिप्पली, शुद्ध हरताल, शुण्ठी, वग भस्म प्रत्येक एक एक तोला, लौह भस्म ९ तोले तथा वायविडङ्ग १८ तोले। अकुश मुख क्रुमि तथा तज्जन्य पाण्डु में लाभप्रद। मात्रा—१ माशा। अनुपान मधु।

बाह्य क्रिमियों में चिकित्सा—स्नानादि के द्वारा तथा वस्त्रादि के प्रक्षालन और सूर्य के धूप मे रखने प्रभृति सफाइयो से बाह्य क्रुमियो में लाभ होता है। साथ ही कई प्रकार के लेप, तैल तथा धूप भी प्रशस्त है। जैसे—

१. नाडीच (काल शाक) के बीजो को काजी के साथ पीस कर सिर पर लेप करने से शिरोगत केशो की यूका तथा लिक्षा नष्ट हो जाती है।

२ धतूर के या पान के रस मे पारे को खरल कर लेप करने से भी यह लाभ प्राप्त होता है।

३ खाने वाली तम्बाकू का शीतल कषाय बालो मे मलना अथवा लाल कनेर की पत्तियो के काढे मे सिर के केशो का धोना भी यूका-लिक्षा को नष्ट करता है।

४ लाक्षादि धूप—लाख, भिलावा, विरोजा, सफेद अपराजिता, अर्जुन की छाल, फल-फूल, वायविडङ्ग, सफेद, राल, गुग्गुलु। सम भाग मे खरल कर रख ले। इसको आग मे जलाकर कमरे को बन्द कर इसका धुआँ देने से घर, शय्या और वस्त्र के कीडे नष्ट हो जाते है। साँप, चूहे, मच्छर, मकडी, खटमल आदि पराश्रयी नष्ट हो जाते है।

५ विडङ्ग तैल—वायविडङ्ग, गंधक, मन शिला। इनका सम भाग मे गृहीत कल्क १ पाव। मूर्च्छित कटु तैल १ सेर। गोमूत्र ४ सेर। कडाही मे

लेकर अग्नि पर चढा कर मंद अग्नि से पाक करे। तेल के लगाने से सिर के केशो के या अन्यत्र सम्पूर्ण त्वचा पर पाये जाने वाली कृमियाँ नष्ट हो जाती है।

६ **धुस्तूर तैल**—धतूर के पत्र-स्वरस से सिद्ध सर्पप तैल भी ऐसा ही कार्य करता है।

अपथ्य—कृमि रोग मे विशेषत श्लेष्मज, पुरीषज तथा रक्तज कृमियो मे कच्चा दूध, आनूप मास, मछली, दही, अधिक स्निग्ध भोजन, गुड, अधिक मधुर (मिष्ठान्न) सेवन, पत्र शाक, उडद, अति द्रव अन्न, कच्चा जल (बिना उबाला), बिना उबाला या पकाया शाक-भाजी, तरकारी तथा दिवास्वाप (दिन का सोना) निषिद्ध है। एतद्-विपरीत आहार-विहार पथ्य है।

पाण्डु तथा कामला प्रतिषेध

प्रावेशिक—रक्तक्षय या किसी कारण से रक्त की कमी हो जाने से जब रोगी की त्वचा, नेत्र, मुख, जिह्वा, नख, मूत्र और मल ईपत् पीत युक्त श्वेत वर्ण के हो जाते है तब उस रोग को पाण्डु रोग कहा जाता है और रोगी को पाण्डु-पीडित रोगी। रक्त की मात्रा की कमी के अनुसार रोगी की त्वचा का वर्ण पीत या श्वेत कई प्रकार का हो सकता है। दोपो के अनुसार भी लक्षण तथा त्वचा, नख आदि के वर्ण मे विविधता आ सकती है। अस्तु दोषभेद से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक सन्निपातज भेद से चार प्रकार का पाण्डु रोग होता है। पाण्डु रोग का एक पाँचवा भेद मृज्ज-पाण्डु का होता है—जिसमे रोगी मे मिट्टी खाने का इतिवृत्त पाया जाता है और अधिक मिट्टी खाने के परिणाम-स्वरूप रक्त क्षय हो पाण्डुता आई हो। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से पाण्डु रोग के पाँच प्रकार हो जाते है। नेत्र के अधोवर्त्म को नीचे की ओर अगुलि से दबा कर अथवा जीभ के वर्ण को देख कर रक्त की कमी या पाण्डु का विनिश्चय सरलता से किया जा सकता है।

पाण्डु रोग से हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा से साम्य रखने वाला दूसरा रोग कामला है। हेतु, लक्षण एव चिकित्सा मे बहुत कुछ साम्य होने के कारण दोनो रोगो का एक ही अध्याय मे वर्णन प्राय प्राचीन ग्रथो मे पाया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से दोनो की चिकित्सा भी बहुत अशो में समान ही रहती है। पाण्डु तथा कामला मे भेद यह होता है—कामला मे पित्त की बहुलता पाई जाती है। फलत इसमे त्वक्, मूत्र, नेत्र का वर्ण अधिक पीला हो जाता है। यह पीतता सर्वाधिक नेत्र के श्वेत भाग (Conjuctiva), जिह्वातल तथा

मूत्र मे पाई जाती है। केवल देखने मात्र से ही रोग का विनिश्चय सभव रहता है। कामला के प्रधान दो प्रकार मिलते है। १ कोष्ठाश्रित, २. शाखाश्रित।

कामला ही बढा हुआ कुम्भ कामला है। कामला ही कालान्तर (कुछ समय के पश्चात्) मे समय अधिक बीत जाने पर कुम्भकामला का रूप धारण कर कृच्छ्रसाध्य हो जाता है। इसमें शोफ का उपद्रव भी पाया जाता है।

हलीमक कुम्भ कामला से परे की अवस्था है जिसमे पाण्डु रोगी का वर्ण हरा या नील पीत हो जाता है। दौर्बल्य, रक्तक्षय, मन्दाग्नि, मृदु ज्वर और उत्साह की कमी रोगी में पाई जाती है।[1]

पाण्डु रोग में क्रियाक्रम—घृत[2] (पचगव्य-महातिक्त अथवा कल्याण घृत) पिलाकर तीक्ष्ण वमन तथा रेचन कर्म के द्वारा ऊर्ध्वाध. शोधन करना चाहिये। तदनन्तर निम्नविधि से प्रशमन की क्रिया करे। वातिक पाण्डु रोग मे विशेषत. स्निग्ध, पैत्तिक मे तिक्त रसात्मक शीत वीर्य द्रव्य तथा श्लैष्मिक में, कटु तिक्त रसात्मक उष्ण द्रव्यो का प्रयोग करे। त्रिदोषज पाण्डु मे त्रिदोष शामक अथवा तीनो दोषो की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये।

मृज्जपाण्डु में विशिष्ट क्रियाक्रम—मृज्जपाण्डु में रोगी के बलाबल को देखते हुए युक्तिपूर्वक तीक्ष्ण विरेचन दे देकर खाई हुई मिट्टी को कोष्ठ से बाहर निकालना चाहिये। कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर बल्य सिद्ध घृतो का सेवन कराना चाहिये।[3]

व्योषादि घृत—व्योष (त्रिकटु), बिल्व, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, श्वेत एवं रक्त पुनर्नवा, मोथा, मण्डूर, पाठा, विडङ्ग, देवदारु, वृश्चिकाली, भार्गी और दूध

---

१ पाण्डुत्वङ्नेत्रविण्मूत्रनखः स्यात्पाण्डुरोगवान्। दोषैर्भिन्नैरभिन्नैश्च पचमो भक्षणान्मृद.॥ पीतत्वङ्मूत्रविण्नेत्रा बहुपित्तात्तु कामला कोष्ठशाखाश्रया मता॥ कालान्तरखरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला। उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला॥

२ पंचगव्य महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामला-पाण्डुरोगिणे॥

३ तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धतीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः। सशोध्य। ततः प्रशमनी कार्या क्रिया वैद्येन जानता। वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम्॥ श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं विमिश्रं सान्निपातिकम्। निष्पातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम्। शुद्धकायस्य सर्पोषि बलाधानानि योजयेत्॥ (च चि १६)

से सिद्ध घृत पिलाना चाहिये। यदि रोगी मिट्टी खाना न छोड पाता हो तो तत्तद्दोपशामक औपधियो से भावित करके मिट्टी खाने का सयोग उपस्थित करना चाहिये ताकि वैसी मिट्टी से उसे द्वेप हा जाय और खाना छोडदे। जैसे विडङ्ग एला, अतिविपा, निम्बपत्र, पाठा, कुटकी, कुटज, मूर्वा और वैंगन प्रभृति द्रव्यो के रसो में भावित करके मिट्टी खाने को देना चाहिये। इन विशिष्ट उपक्रमो के अतिरिक्त शेप चिकित्सा पाण्डुवत् करनी चाहिये।

भेपज—स्नेहन और शोधन (विरेचन) दो ही उपक्रम पाण्डुचिकित्सा मे वरते जाते हैं एतदर्थ कई भेपज उपयुक्त रहते हैं। जैसे १ दन्तीस्वरस २. काश्मर्गी (गाम्भारी फल-प्रयोग), ३ मुनक्के का सेवन ४ गोमूत्र मे भिगोई हरीतकी का प्रयोग ५. त्रिवृत् चूर्ण और मिश्री का सेवन ६ त्रिफला और गोमूत्र का सेवन ७ स्वर्णचीरीमूल, देददारु, शुण्ठी अथवा मातुलु ग-मूलका गोमूत्र मे क्वथित करके सेवन। ८ गोमूत्र, गोदुग्ध और माहिप घृत का सेवन ९ गुड तथा हरीतकी का सेवन पाण्डु रोग में सदैव लाभप्रद है। १० लौहभस्म का (१-२ रत्ती) हरीतकी चूर्ण (६ मा) घृत और (८ मा) मधु से सेवन।[1] ११ लौहपात्र में गर्म किये दूध का सेवन। १२ स्वर्णमाक्षिक का १ रत्ती या २ रत्ती मात्रा मे गोमूत्र ने सेवन।

भेपज योग—पाण्डुरोग मे घृतो के योग सर्वोत्तम माने गये हैं—इसके लिये हरिद्रा से सिद्ध घृत, दाडिमवीज से सिद्ध घृत, द्राक्षादिघृत, त्रिफलासिद्ध घृत तथा तैन्दुकसिद्ध घृत मे से किसी एक का प्रयोग करना चाहिये। यदि सिद्ध घृत सुलभ न रहे तो वैरेचनिक योगो का घृत के साथ प्रयोग करना चाहिये। अथवा प्रत्येक औपधिको घृत के अनुपान से दे।

फलत्रिकादि कषाय—हरीतकी, विभीतक, आमलकी, गिलोय, अडूसा, कुटकी, चिरायता, नीम की छाल। सव समभाग में लेकर जौकुट करले। २ तोले इस चूर्ण को आधा सेर जल मे खौलाकर जव जलकर दो छटाँक शेप रहे, तव ठडा होने पर मधु मिलाकर प्रात सेवन करे।[2] यह एक प्रसिद्ध योग पाण्डु तथा कामला दोनो मे लाभ करता है। कामला मे विशेष उपयोगी है।

---

१ साध्यन्तु पाण्ड्वामयिन निरीक्ष्य स्निग्ध घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्ध। सम्पादयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढैर्हरीतकीचूर्णमयै प्रयोगैः॥ पिवेद् घृतवारजनीविपक्व यत्त्रैफल तैन्दुकमेव वापि। विरेचनद्रव्यघृतम् पिवेद्वा योगाश्च वैरेचनिकान् घृतेन॥ (च)

२ फलत्रिकामृतावासातिक्ताभूनिम्वनिम्वजै। क्वाथ क्षौद्रयुतो हन्यात् पाण्डुरोगं सकामलम्॥

लौह तथा मण्डूर के योग—लौह तथा मण्डूर भस्म के बहुत से योग पाण्डु रोग मे व्यवहृत होते हैं। स्वतन्त्रतया भी केवल लौह या केवल मण्डूर भस्म का प्रयोग हरीतकी चूर्ण, घी और मधु के साथ सेवन करने का विधान ऊपर आ चुका है। यहाँ कुछ सिद्ध योगो के नुस्खे उद्धृत किये जा रहे है।

मण्डूर भस्म—४ रत्ती मण्डूर भस्म मे २ रत्ती शख भस्म मिलाकर १ मात्रा। घृत, मधु, हरीतकी चूर्ण से।

मण्डूर वटक—त्रिकटु, त्रिफला, चव्य, चित्रक, देवदारु, वायविडङ्ग, मुस्तक सम परिमाण मे प्रत्येक लेकर कुल चूर्ण के बराबर मण्डूर भस्म लेकर अष्टगुण गोमूत्र मे अग्नि पर चढाकर पाक करे। जब वटक बनने लायक हो तो ६ माशे के वटक बनाले। अग्नि-बल के अनुसार १ से २ वटक का दूध से सेवन। (चरक)

पुनर्नवादि मण्डूर—पुनर्नवामूल, त्रिवृत्मूल, शुठी, मरिच, पिप्पली, वायविडङ्ग, देवदारु, चित्रकमूल, पुष्करमूल, हरड, बहेरा, आँवला, हल्दी, दारुहल्दी, दन्ती की जड, चव्य, इन्द्रयव, कुटकी, पीपरामूल मोथा-प्रत्येक का एक-एक तोला चूर्ण, चूर्ण के कुल परिमाण मे द्विगुण मण्डूरभस्म और मण्डूर भस्म के आठ गुना गोमूत्र। अग्नि पर चढाकर पाक करे। जब गाढा हो जाय और गोली बनने लायक हो जाय तब ४ रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा १ माशे। मधु से दिन में दो बार। यह एक सिद्ध योग है। पाण्डु, कामला, कृमिरोग तथा शोथ रोग मे उपकारक है। (चर)

नवायस लौह—नवायस चूर्ण त्रिकटु, त्रिफला, त्रिमद (मुस्तक-वायविडङ्ग-चित्रक) इन नौ द्रव्यो में से प्रत्येक एक एक तोला लेकर महीन चूर्ण बनाले फिर उसमे लौहभस्म कुल परिमाण के बराबर अर्थात् ९ तोले मिलाकर खरल करके रख ले। मात्रा ४ रत्ती। **अनुपान** १ तोला घृत और ½ तोला मधु मिला कर रोगी को सेवन करावे। यह परम उत्तम योग है। कामला तथा पाण्डु दोनो रोगो मे लाभदायक है। (शा)

निशालौह—समभाग हरिद्रा, दारुहरिद्रा, त्रिफला तथा कुटकी का कपड-छन चूर्ण सबके बराबर लौह भस्म अर्थात् ६ तोला मिलाकर महीन खरल कर रख ले। यह योग कामला रोग मे विशेष लाभप्रद होता है। **मात्रा** २ से ४ रत्ती, **अनुपान** मधु एव घृत (भै र)

विडङ्गादिलौह—वायविडङ्ग, त्रिफला, त्रिकटु प्रत्येक समभाग मे अर्थात् कुल ७ तोले चूर्ण में ७ तोले लौह भस्म मिलाकर बनाया योग। **मात्रा** २ से

४ रत्ती। अनुपान घृत, मधु, विशेषत कृमिज पाण्डु या मृज्ज पाण्डु मे लाभप्रद। (भै र)

योगराज—हरीतकी, विभीतक, आमलकी, शुंठी, कालीमिर्च, छोटी पिप्पली, चित्रकमूल, वायविडङ्ग प्रत्येक का १ भाग, शिलाजीत ५ भाग, रौप्य शिलाजीत ५ भाग, सुवर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग, लौह भस्म ५ भाग तथा मिश्री आठ भाग। भस्मे तथा शिलाजीत छोड अन्य द्रव्यो का चूर्ण करे। पश्चात् उसमे शिलाजीत व भस्मे मिलाकर १, १, माशे की गोलियाँ वना ले। यदि रौप्य शिलाजतु न मिले तो रौप्यमाक्षिक भस्म ५ तोला अथवा शिलाजीत १० तोला मिला ले। अनुपान १–२ गोली दूध से प्रात (चर)

पाण्डु पचानन रस—लौह भस्म, अभ्र भस्म, ताम्रभस्म प्रत्येक चार चार तोले, त्रिकटु, त्रिफला, दन्तीमूल, चव्य, काला जीरा, चित्रकमूल, दारुहल्दी, हल्दी, त्रिवृत् की जड, मानकद की जड, इन्द्रजौ, कुटकी, देवदारु, वचा और नागरमोथा प्रत्येक का एक एक तोला, मण्डूर भस्म ६२ तोले और मण्डूर से अष्टगुण गोमूत्र छोडकर अग्नि पर पाक करे। जब पाक सिद्ध हो जाय तो उतार कर १-१ माशे की गोली वनाकर रख ले। यह एक उत्तम योग है। इसमे लौह और मण्डूर के अतिरिक्त ताम्र भस्म है। जो रक्ताल्पता मे विशेष लाभप्रद रहता है। इस योग का प्रयोग शोथ, कामला, पाण्डु, हलीमक तथा प्लीहा और यकृत् के रोगो में होता है। (भै र)

आमलक्यवलेह (धात्र्यवलेह)—ताजा आँवले का रस (१२ सेर १२ छटाँक ४ तोले) को कडाही मे छोडकर आग पर चढा दे। मन्द आँच पर पाक करे जब कुछ गाढा होने लगे तब उसमे निम्नलिखित द्रव्यों का प्रक्षेप डाल दे। पिप्पली चूर्ण ६४ तोले, मधुयष्टि चूर्ण ८ तोले, पत्थर पर पीसे मुनक्के को चटनी ६४ तोले, सोठ तथा वशलोचन प्रत्येक का ८ तोले, मिश्री २॥ सेर। जब अवलेह जैसे वन जाय तो अग्नि से नीचे उतार कर ठडा करके उसमे मधु ६४ तोले मिलाकर सुरक्षित रख दे। मात्रा १ से २ तोले। दूध से। (चर)

धात्र्यरिष्ट— (चर) दो सहस्र आँवले के रस मे २॥ सेर चीनी मिलाकर कलईदार कडाही मे छोडकर अग्नि पर चढादे। जब एक तरह की चाशनी वनने लगे तब उसमे ८ तोले पिप्पली चूर्ण छोडकर अच्छी तरह से हिला ले। फिर शीतल होने पर अष्टमाश शहद मिलाकर घृतलिप्त मिट्टी के घडे मे रखकर आसवविधि से सधान करे। १ मास के अनन्तर खोलकर छानकर बोतलो मे भर ले। यह योग वल्य, अग्निवर्धक, पित्तशामक होने से परिणाम शूल, पाण्डु,

कामला तथा हृद्रोग में लाभप्रद रहता है। यह एक परमोत्तम योग है। मात्रा २ तोला भोजन के बाद समान जल मिलाकर।

लौहासव—(शा. सं.) घृत से स्निग्ध घट मे २ द्रोण (२६ सेर) जल भर कर उसमे ५ सेर पुराना गुड, मधु ३¼ सेर छोडकर भली प्रकार मिलावे और हाथो से मलकर एक कर दे। पश्चात् उसमें लौह भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, अजवायन, वायविडङ्ग, मोथा, चित्रक प्रत्येक का ८ तोला प्रक्षेप। पश्चात् घडे का मुख बंद कर १ मास तक संधान करे। पश्चात् छानकर बोतलो में भर दे। मात्रा २॥ तोले अनुपान समान जल से। दोनो वक्त भोजन के बाद। पाण्डु, कामला, विषमाग्नि में लाभप्रद।

पुनर्नवादि तैल—पुनर्नवा पंचाङ्ग का चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ, तिल तैल तथा तैल में चतुर्थांश निम्नलिखित कल्क डालकर पाक। त्रिकटु, त्रिफला, शृङ्गी, धान्यक, कट्फल, शटी, दार्वी, प्रियङ्गु, पद्मकाष्ठ, हरेणु, कुष्ठ, पुनर्नवा, यमानी, कलौंजी, छोटी इलायची, दालचीनी, लौंग, तेजपात, नागकेशर, वच, पीपरामूल, चव्य, चित्रक मूल, सौंफ, सुगंधवाला, मजीठ, रास्ना, धमासा प्रत्येक एक एक तोला। तैल पाक विधि से मंद आँच पर पाक करके रखले। पाण्डु, कामला, कुम्भ कामला तथा हलीमक मे पिलाने तथा मालिश के लिये।

पाण्डु रोग में औषधि-व्यवस्थापत्र

उपर्युक्त औषधि योगो में से किसी एक लौह या मण्डूर के योग की १ मात्रा प्रात, तथा १ मात्रा सायंकाल में देनी चाहिये। जैसे मण्डूर भस्म ४ र०, शंख भस्म १ र० मिलाकर एक सुबह और एक शाम केवल मधु से अथवा घृत १ तो० मधु ६ माशे के साथ अथवा हरीतकी चूर्ण २ माशे और घृत तथा मधु के साथ मिलाकर दे। इसी भाँति नवायस प्रति मात्रा २ रत्ती सुबह-शाम उपर्युक्त अनुपान से अथवा योगराज या पाण्डु पंचानन रस इसी अनुपान या दूध से सुबह-शाम दिया जा सकता है।

भोजन के बाद प्रतिदिन लौहासव या कुमार्यासव अथवा धात्र्यरिष्ट दोनो वक्त बडे चम्मच से दो चम्मच पानी मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये।

आमलक्यवलेह रात्रि में सोते वक्त या प्रात काल मे १-२ तोले दूध के साथ प्रतिदिन दिया जा सकता है। मृज्ज पाण्डु अथवा कृमिजात पाण्डु में कृमिघ्न औषधियो का योग करके भी देना चाहिए। जैसे—कृमिमुद्गर रस ४ र०, मण्डूर भस्म ४ र०, शंख भस्म १ रत्ती मिलाकर। एक या दो मात्रा प्रात-सायम् घी और मधु से, मण्डूक भस्म के स्थान पर नवायस या पाण्डु पंचानन भी मिलाया जा सकता है (प्रति मात्रा दो से ४ रत्ती)। रात्रि मे पलाश-बीजादि

चूर्ण २ मा० रात मे सोते वक्त पुराने गुड के साथ। भोजनोत्तर आसवारिष्टो की व्यवस्था की जा सकती है।

मांसरस—पाण्डु रोग या रक्तक्षय मे बकरे, भेड या खरगोश के रक्त का पिलाना या आमाशय का खिलाना प्रशस्त माना गया है। यदि ये सुलभ हो तो रोगी के लिए इसकी व्यवस्था करनी चाहिए। सामान्य-पथ्यकर भोजनो के साथ यकृत् मास का सेवन अधिक लाभ करता है। रक्तोत्पत्ति की क्रिया को उत्तेजना मिलती है, शरीर मे रक्त बढता है और पाण्डुता दूर होती है।

आजकल आमाशय सत्त्व तथा यकृत् सत्त्व के कई योग बाजारो मे सुविधा से प्राप्त होते है। पीने के शर्बत के रूप मे तथा पेशीमार्ग से सूचीवेध के द्वारा प्रयोग होता है। इन आयुर्वेदीय योगो के साथ इन योगो का प्रयोग अधिक लाभ-प्रद होता है। इन दोनो के उपयोग मे परस्पर मे कोई विरोध भी नही होता।

अत्यधिक रक्त की कमी मे रक्त का अत भरण (Blood Transfusion) योग्य मानव-रक्त का शिरा द्वारा शरीर मे प्रविष्ट करना भी आज की एक सिद्ध प्रक्रिया है। यथासमय इसका उपयोग किया जा सकता है।

पाण्डु रोग मे पथ्य—पाण्डु रोग मे मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम छोडकर पूर्ण विश्राम करना चाहिए। रोगी को विस्तर पर लेट कर रहना चाहिए। भोजन मे दूध, छाछ, मोसम्मी, माल्टा, सेव, दाडिम, अनार, खरबूजा, मीठानीबू ईख या गन्ने का रस, पके आम का प्रयोग अधिक करना चाहिए। मीठा आम पाण्डु रोग मे अमृत के तुल्य रहता है। अन्नो मे पुराने चावल का भात, मूग की दाल, हल्के शाक देने चाहिए। रोगी के लिए ब्रह्मचर्य से रहना अच्छा रहता है। यह पथ्य कामला रोग मे भी उत्तम रहता है।

कामला प्रतिषेध—

सामान्य या कोष्ठाश्रया कामला में क्रियाक्रम—कामला वाले रोगी का घृत (महातिक्त, त्रिफला, पचगव्य, कल्याण, हरिद्रादि या द्राक्षादि घृत) से स्नेहन करके तिक्त रस वाले द्रव्यो से मृदु विरेचन कराना चाहिए। पश्चात् शामक औषधियो का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार स्नेहन, विरेचन, पश्चात् शमन तीन उपक्रम कामला की चिकित्सा मे व्यवहृत होते है। कामला के रोगी मे नित्य मृदु विरेचक औषधि का प्रयोग उत्तम रहता है।[1]

भेषज—१ त्रिफला चूर्ण का मधु के साथ सेवन, २ गुडूची स्वरस मे मधु

---

१ रेचन कामलार्त्तस्य स्निग्धस्यादौ प्रयोजयेत्। तत प्रशमनी कार्या क्रिया वैद्येन जानता॥ (भै र) कामली तु विरेचनै। (च०)

मिलाकर सेवन कराना अथवा गुडूची के कषाय में मधु मिलाकर सेवन ३ दारु-हरिद्रा, हरिद्रा चूर्ण या कषाय का मधु के साथ सेवन ४ इन्द्रायण मूल स्वरस ६ माशे या इन्द्रायण की ७ पत्ती के रस का दूध मिलाकर सेवन ५. पतली मूली का स्वरस ४ तोला, शक्कर १ तोला मिलाकर सेवन ६. पुनर्नवा मूल ६ माशे, मरिच ३, मिश्री २ तोला मिलाकर शर्वत बनाकर सेवन। ७ द्रोणपुष्पी (गूमा) या पुनर्नवा पंचाग के शाक का सेवन । ८. त्रिभण्डी (निशोथ) मूल अथवा ९. इन्द्रायण मूल ३ माशे अथवा १० शुण्ठी चूर्ण ४ माशे का पुराने गुड के साथ सेवन। पूर्ण विश्राम रोगी को देना चाहिए ।

कामला में पथ्य—कामला रोग में यकृत् की क्रिया मन्द रहती है। भूख रोगी को विल्कुल नही लगती, अन्न से अरुचि हो जाती है। साथ ही रोगी का पेट साफ नही रहता और कोष्ठबद्धता रहती है। अस्तु चिकित्सा-काल मे लघु, सुपाच्य तथा अग्नि को संधुक्षित करने वाले आहार-विहार की आवश्यकता पडती है। एतदर्थ मूग की दाल की पतली खिचडी, नीवू का अचार और मूली की तरकारी सबसे उत्तम अन्न प्रारम्भ मे रहता है। अग्नि-वल के अनुसार रोगी जितना खा सके खाने को देना चाहिए। पित्त के शमन तथा यकृत्-कोषो की सुरक्षा के लिए मधुर द्रव्यो का प्रयोग पर्याप्त करना चाहिए। एतदर्थ मिश्री का उपयोग अच्छा रहता है। रोगी को प्रति दिन छटाँक, दो छटाँक तक मिश्री खाने को देना चाहिए अथवा दिन में कई वार गर्म पानी मे मिश्री का शर्वत वना कर कागजी नीवू का रस डालकर पीने को देना चाहिए । मीठे फलो मे मीठा नीवू, शरवती, मोसम्मी, अंगूर, सेव, नीवू आदि पर्याप्त रोगी को खाने के लिए देना चाहिए। दही का मट्ठा वना कर मीठा कर के पीने के लिए भोजन काल मे रोगी को दिया जा सकता है। दूध का अधिक सेवन अनुकूल नही पडता, थोड़ी मात्रा में मलाई निकाल रोगी की रुचि के अनुकूल देना चाहिए। रोगी के अग्निवल के अनुसार गन्ने का रस पीने के लिए दिया जा सकता है।

एक सप्ताह या दो सप्ताह तक इस क्रम पर रखने के अनन्तर अग्निवल के वढ जाने पर रोगी को प्राकृत आहार चावल या रोटी, दाल, शाक पर ले आना चाहिए। कामला रोग मे पुनर्नवा का उपयोग वड़ा उत्तम रहता है। पुनर्नवा पंचाङ्ग को पानी मे खौला कर उसका जल बना कर रख देना चाहिए और रोगी को पिलाते रहना चाहिए। डाभ का जल या नारिकेल जल का उपयोग भी उत्तम रहता है।

भेषज योग—रोगी मे ज्वर हो तो विषमज्वराधिकार में कथित सुदर्शन चूर्ण २ माशे की मात्रा मे दिन मे तीन वार जल से देना चाहिए। यष्ट्यादि चूर्ण

६ माशे की मात्रा मे रात में सोते वक्त गर्म जल से देना चाहिए। कालमेघ कपाय भी उत्तम रहता है।

जब ज्वर न रहे तो नवायस या निशादि लौह या पुनर्नवा मण्डूर (पाण्डु रोगाधिकार) दो से ४ रत्ती की मात्रा में दो बार दारुहल्दी के चूर्ण १ माशे से २ माशे और मधु ६ माशे से १ तोले मिला कर सुबह और शाम को देना चाहिए। भोजनोपरान्त धात्र्यरिष्ट का पिलाना उत्तम रहता है। बडे चम्मच से दो चम्मच समान जल मिलाकर दोनो प्रधान भोजन के पश्चात। लोहासव अथवा कुमार्यासव का उपयोग भी इसी भाँति किया जा सकता है।

फलत्रिकादि कषाय—कामला रोग मे अमृत के समान हितकारी एक या दो बार नित्य काढा बना कर मधु मिलाकर नवायस देने के अनन्तर सहपान के रूप मे या स्वतंत्रतया भी दिया जा सकता है।

रोगी रात्रि मे शतपत्र्यादि चूर्ण ६ माशे या यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे (अग्नि-मान्द्याधिकार मे पठित) गर्म जल से दिया जा सकता है। त्रिफला चूर्ण का भी प्रयोग रात्रि मे ६ माशे की मात्रा मे किया जा सकता है। रस के योगो मे आरोग्यवर्धिनी १ माशे की मात्रा मे जल या दूध से दिया जा सकता है।

आरोग्यवर्धिनी वटी—द्रव्य-शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म प्रत्येक का एक भाग, हरीतकी, बिभीतक, आमलकी प्रत्येक का २ भाग, शिलाजीत ३ भाग, शुद्ध गुग्गुल, चित्रक मूल की छाल प्रत्येक ४ भाग तथा कुटकी २२ भाग।

निर्माण विधि—पहले पारद और गधक की कज्जली करके पश्चात् उसमें अन्य भस्मे और शेष अन्य द्रव्यो का कपडछन चूर्ण मिलावे। नीमकी पत्ती के रस मे तीन दिनो तक मर्दन करके तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ बनावे। छाया में सुखाकर रख ले। **मात्रा** १ से ३ गोली। **अनुपान** रोगानुसार जल, दूध, पुनर्नवा कषाय, दशमूलकषाय या मूत्रलकषाय से। (रसरत्नसमुच्चय कुष्ठाधिकार)

यह योग बहुत रोगो मे अनुपान भेद से चलता है। विशेषत यकृत् विकार, जीर्ण विबध, उदररोग, कुष्ठ रोग, कामला, यकृत्प्लीहा के रोगो मे लाभ-प्रद पाया गया है।

अंजन—द्रोणपुष्पी स्वरस अथवा पुनर्नवा स्वरस का अंजन आँख के पीला-पन को नष्ट करता है। **निशाद्यंजन**—हरिद्रा, गैरिक तथा आँवले को चिकने पत्थर पर पानी मे घिसकर अंजन करने से भी कामला रोग मे नेत्र का पीलापन दूर होता है।

नस्य—कर्कोट (ककोडा या खेखसा) की जडको पानी मे भिगोकर अथवा कडवी तरोई के सूखे फल को रात मे पानी मे भिगोकर दूसरे दिन उसको छान कर बनाये जल (शीत कषाय) का नासिका में छोडने से नासिका से तीव्र पीलास्राव होता है और नेत्र का पीलापन दूर होता है।[1]

वस्तुत कामला रोग यकृत् की क्रिया ठीक न होने से अथवा पित्ताशय शोथ या पित्तके अवरोध अथवा पित्त के अधिक बनने से उत्पन्न होता है। अग्निमान्द्य, अरुचि, तीव्र विबंध तथा आँखो का पीलापन प्रमुख लक्षण पाया जाता है। सम्यक् उपचार होने पर सामान्यतया रोग एक सप्ताह में अच्छा हो जाता है। रोगी की अग्नि जागृत हो जाती है—भोजन करने लगता है। विविध लक्षण प्रशमित हो जाते है परन्तु आँखो का पीलापन मास या डेढ़ मास तक चलता रहता है। यह पीलापन धीरे-धीरे दूर होता है। इस पीलापन को दूर करने के लिये कई प्रकार के झाड फूंक, विविध नस्य तथा अजनो के उपयोग पाये जाते है। नस्य तथा अजन के प्रयोग आँखो के पीलेपन को शीघ्रता से दूर करने मे सहायक होता है। फलत नस्य और अजनो के साथ-साथ पित्तकी अधिकता को कम करने के लिये, पित्ताशय शोथ एव पित्तावरोध के दूर करने के लिए तथा यकृत् क्रिया सुचारु रूप से संचालित करने के लिये मुख से आभ्यन्तर औषधि के प्रयोगो को चालू रखना चाहिये। क्योंकि प्रधान उपचार यही है—नस्य एवं अजन गौण उपचार है—यदि अजन या नस्य का प्रयोग न भी किया जाय तो भी मुख से औषधियोग का प्रयोग करते हुए एक से तीन या चार सप्ताह मे कामला का रोगी पूर्णतया रोग-मुक्त हो जाता है।

शाखाश्रित कामला प्रतिषेध—कामला शुद्ध पैत्तिक रोग है अतएव उसमे पित्तविरुद्ध चिकित्सा का उपक्रम बतलाया गया है। क्लिनिकल दृष्टि से देखा जाय तो इसके दो प्रकार मिलते है १ जिसमे संम्पूर्ण मूत्र, नख, त्वचा-नेत्र रक्त के रंजित होते हुए भी पुरीष (पाखाना) रोगी का श्वेत वर्ण (तिलके पिष्ट सदृश) निकलता है। १ दूसरा वह प्रकार जिसमे सभी त्वचा रक्त-नेत्र आदि के पीलापन के साथ पाखाने का रंग अत्यधिक रंजित होकर काला आता है। इनमे प्रथम को शाखाश्रित और दूसरे को कोष्ठाश्रित (Haemolytic or Hepatic) कहते है। प्रथम स्वतंत्रतया तथा दूसरा पाण्डु रोग के अनन्तर रक्तनाश के उपद्रव स्वरूप होता है।

---

१ अंजनं कामलार्त्तस्य द्रोणपुष्पीरसः स्मृतः। निशागैरिकधात्रीणा चूर्णं वा सम्प्रकल्पयेत् ॥ नस्य कर्कोटमूलं वा घ्रेयं वा जालिनीफलम् ॥

इनमे शाखाश्रया निश्चित रूप से पित्त नलिका के अवरोध से उत्पन्न होती है जिसमे पित्त का पित्त-नलिका के द्वारा अन्त्र मे उत्सर्ग नही होता है (obstructive jaundice) फलत पुरीष का रग श्वेत होता है। इसको शाखाश्रित कामला कहते है। इसमे कुपित कफयुक्त वायु कोष्ठस्थ पित्तको शाखा मे प्रक्षिप्त कर देती है अत कोष्ठ मे श्लेष्मा की वृद्धि होती है, पित्त का मार्ग कफ से रुद्ध हो जाता है और पुरीप तिलपिष्टवत् श्वेत होकर निकलता है और मूत्र, त्वचा हल्दी के रग के हो जाते है अत वायु एवं कफ के शमन, अग्नि के दीपन, कफ के पाचन तथा पित्त को कोष्ठ मे लाने का उपाय करना चाहिये तदनन्तर कोष्ठाश्रया कामला की चिकित्सा पूर्वोक्त करनी चाहिये।[1]

शाखाश्रित कामला को अल्पपित्ता कामला भी कहते है। इसमे पित्त कफ से आवृत रहता है अस्तु कफ के पाचन तथा वायु को अनुगुण कर के पुरीप मे पित्त का रग आने पर्यन्त कटु-तीक्ष्ण-उष्ण-रूक्ष-लवण और अम्ल पदार्थों का सेवन कराना चाहिए।

पित्तको स्वस्थान (कोष्ठगत) पर आ जाने, पुरीप के पित्त से रजित हो जाने तथा उपद्रवो के शान्त हो जाने पर कामला की पूर्ववत् सामान्य चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् कोष्ठाश्रित कामलावत् चिकित्सा करनी चाहिये। शाखाश्रया कामला के ये विशिष्ट उपक्रम है।[2]

पित्त को स्वस्थान पर लाने के लिये मयूर, तित्तिर एव मुर्गे के मासरस को कटु-अम्ल और रूक्ष वना कर रोगी को खाने के लिये देना चाहिये। सूखी मूली, कुलथी की यूप के साथ अन्न का सेवन कराना भी उत्तम रहता है।

मातुलुङ्गादि योग—(विजौरा या कागजी) नीवू का रस ६ माशे, मधु ६ माशे, पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती, कालीमिर्च चूर्ण ४ रत्ती, शुण्ठी चूर्ण ४ रत्ती एक मे मिलाकर दिन मे तीन वार सेवन।

इन द्रव्यो के उपयोग से पित्त अपने कोष्ठगत आशय मे पुन आ जाता है।[3]

---

१ तिलपिष्टनिभ यस्तु वर्च सृजति कामली। श्लेष्मणा रुद्धमार्ग तत् पित्त श्लेष्महरैर्जयेत्।

२ कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रम। आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत्॥ स्वस्थानमागते पित्ते पुरीपे पित्तरजिते। निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्व कामलिको विधि॥

३ वर्हितित्तिरदक्षाणा रूक्षाम्लै कटुकै रसै। शुष्कामलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्॥ मातुलुगरस क्षौद्र पिप्पलीमरिचान्वितम्। सनागर पिवेत् पित्त तथास्यैति स्वमाशयम्। (च चि १६)

उपर्युक्त सभी द्रव्य कफहर परन्तु पित्तवर्द्धक है—शाखाश्रय दोष-पित्त की वृद्धि कराने का उद्देश्य कोष्ठानयन अर्थात् पित्त का स्वस्थानानयन के अतिरिक्त और कुछ नही है। आचार्य सुश्रुत ने लिखा है दोषो का स्वस्थानानयन वृद्धि से, अभिष्यंदन से, पाक होने से, स्रोतोमुख के विशोधन से तथा वायु के निग्रह से (शाखागत दोष शाखाओ को छोडकर स्वस्थान अर्थात् कोष्ठ मे आ जाते है) सभव रहता है।[1] पश्चात् कामला की सामान्य चिकित्सा करते हुए रोगी को रोगमुक्त करना चाहिये।

शाखाश्रित कामला का चरकोक्त वर्णन—रूक्ष, शीत, गुरु-स्वादु व्यायामाधिक्य एवं वेगो को रोकने से कफ से मिल कर वायु पित्त को अपने स्थान (कोष्ठ) से खीचकर बाहर को शाखाओ मे सचालित कर देता है जिससे रोगी की त्वचा-रक्त-नेत्र-मूत्र हारिद्र वर्ण (हल्दी के रंग) के हो जाते है और पाखाने का रग सफेद (श्वेत) हो जाता है। रोगी के उदर मे सुई चुभाने जैसी वेदना, विबध, आध्मान, अफारा, हृदय का भारीपन, दुर्बलता, अग्नि की मदता, पार्श्वशूल (दाहिनी ओर यकृत् प्रदेश पर पीडा या स्पर्शासह्यता (Tenderness), अन्न में अरुचि, ज्वर आदि लक्षण क्रमश रोगी में पैदा हो जाते है। अल्प पित्त के शाखा-समाश्रित होने पर ये लक्षण रोगी में उपस्थित रहते है।[2]

कुम्भकामला-प्रतिषेध—कामला की एक जीर्णावस्था है जिसमें रोगी के पैरो पर शोथ और सधिशूल का उपद्रव पैदा हो जाता है। फलत. यह कामला की अपेक्षा अधिक कष्टसाध्य हो जाता है।[3] इसमें रोगी को लवणवर्ज्य आहार-दूध और रोटी पर रखना चाहिये। इसमे कोष्ठाश्रया कामला की सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये। इसमें अधिक से अधिक पुराने मण्डूर को भस्म बना कर बडी मात्रा—१ माशा की मात्रा दिन में तीन बार मधु के साथ सेवन करने के लिये देना चाहिये। साथ ही फलत्रिकादि कषाय को एक-दो बार दिन में पीने के लिये देना चाहिये।

---

१ वृद्ध्याभिष्यदनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। शाखा मुक्त्वा मला कोष्ठ यान्ति वायोश्च निग्रहात्।

२ रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहै। कफसम्मूर्च्छितो वायु. स्थानात् पित्त क्षिपेद्वली। (सु सू २८) हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः। भवेत्साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च। दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्त्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः। क्रमेणाल्पेनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते॥ (च चि १७)

३ भेदस्तु तस्या खलु कुम्भसाह्व. शोथो महास्तत्र च पर्वभेदः (सु)

हलीमक-प्रतिषेध—कामला का ही एक बढा हुआ रूप हलीमक होता है। इसमे वात और पित्त दोषो की अधिकता पाई जाती है। रक्त मे पित्त के अत्यधिक होने से रोगी मे असाध्यता के लक्षण व्यक्त होने लगते है। रोगी का वर्ण हरित, श्याव या पीतवर्ण का हो जाता है। अग्नि मद हो जाती है, मृदु स्वरूप का ज्वर बना रहता है, अरुचि, आलस्य, रोगी का बल और उत्साह क्षीण हो जाता है, स्त्रियो मे अहर्ष, अगमर्द, श्वास, तृष्णा, भ्रम और मूर्च्छा प्रभृति उपद्रव होने लगते है। इसी रोग को आचार्य सुश्रुत ने लाघवक या लाघरक अथवा अलसनाम से वर्णन किया है। सभवत अर्वाचीन विद्वानो के द्वारा वर्णित पित्तमयता (Cholaemia) की यह अवस्था हो। इस रोग को चरक ने "महाव्याधि-हलीमक" बतलाया है।

इसमे वात-पित्त-शामक पाण्डु तथा कामला रोग की चिकित्सा करनी चाहिये। एतदर्थ गुडूची स्वरस और क्षीर से सिद्ध माहिष (भैसका) घृत का सेवन कराना चाहिये। निशोथ या आमलका का स्वरस पिलाकर उपर्युक्त घृत से स्निग्ध रोगी को मृदु विरेचन कराना चाहिये। पुन. विरेचन के अनन्तर वात-पित्त शामक मधुर-प्राय योगो का सेवन कराना उत्तम रहता है। जैसे अभयालेह, द्राक्षालेह, मार्द्वीकारिष्ट (द्राक्षारिष्ट), जीवनीय गण से सिद्ध घृत आदि का सेवन कराना चाहिये। अग्नि की वृद्धि के लिये अन्य अरिष्टो का भी प्रयोग उत्तम रहता है। कास-रोगाधिकार मे कथित अभयावलेह जिसको अगस्त्य हरीतकी कहते है एक उत्तम योग है, पिप्पली तथा मधुयष्टि का उपयोग भी इस अवस्था मे उत्तम रहता है। अस्तु, इनका प्रयोग दोष और रोगी के बलाबल के अनुसार दूध के अनुपान से करना चाहिये। रोगी मे क्षीरवस्ति, यापना वस्ति (सिद्धिस्थानोक्त) अथवा अनुवासन वस्ति का प्रयोग लाभप्रद रहता है।[1]

इस अवस्था मे सहस्रपुटी लौह का अथवा अधिक से अधिक पुट दी हुई लौह भस्म का प्रयोग १ रत्ती की मात्रा मे दिन मे तीन बार मधु से करना चाहिये। दूध और शर्करा का अनुपान पर्याप्त मात्रा मे करना चाहिये।

●

---

१ गुडूचीस्वरसक्षीरसाधित माहिष घृतम्। स पिबेत् त्रिवृता स्निग्धो रसेनामलकस्य तु। विरिक्तो मधुरप्राय भजेत् पित्तानिलापहम्। द्राक्षालेह च पूर्वोक्तं सर्पोपि मधुराणि च। यापनान् क्षीरवस्तीश्च शीलयेत्सानुवासनान्। मार्द्वीकारिष्टयोगाश्च पिबेद्युक्त्याग्निवृद्धये। कासिक चाभयालेहं पिप्पली मधुक बलाम्। पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोष यथाबलम्।

ग्यारहवा अध्याय
रक्तपित्त-प्रतिषेध

प्रावेशिक—रक्तपित्त एक महारोग है चरकाचार्य ने उसको महागद की सज्ञा दी है। वस्तुत बहुत उष्ण-तीक्ष्ण-क्षार-अम्ल-कटु-लवण, अधिक परिश्रम, धूप या अग्नि के सेवन प्रभृति पित्त-प्रकोपक कारणो से पित्त जब बढकर रक्त मे मिलकर उसे भी दूषित कर देता है तब वह पित्तदूषित रक्त शरीर के विविध द्वारो से ऊपर या नीचे या दोनो ओर से गिरने लगता है। इस रोग को रक्तपित्त (Bleeding or Haemorrhage) कहते है। रक्तपित्त का तात्पर्य यह है कि—इसमें रक्त का सयोग, रक्त की दुष्टि, रक्त के गध एवं वर्ण की समानता पित्त के साथ पाई जाती है अस्तु इस व्याधिको रक्तपित्त कहते है। यह वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, दो दो दोषो के द्वारा द्वंद्वज तथा तीनो दोषा से सान्निपातिक प्रकार का होता है।

चिकित्सा की दृष्टि से या अधिक व्यावहारिक पक्ष से विचार किया जाय तो रक्तपित्त को तीन प्रकारो मे विभजित करना पर्याप्त है। १. ऊर्ध्वग (ऊपर की ओर से—सप्त छिद्रो से दोनो आँख, दोनो नाक, दोनो कान तथा मुख से निकले वाला रक्त-स्राव। २ अधोग नीचे के दो मार्ग-गुदा एव लिङ्ग से पुरुषो में गुदा और योनि से स्त्रियो में पाया जाने वाला रक्तस्राव। ३ उभयग या दोनो मार्गो या सम्पूर्ण त्वचा से निकलने वाला रक्त। उन मे ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कफ का अनुबंध, अधोग मे वात दोष का अनुबंध तथा उभयग या दोनो मार्ग मे प्रवृत्त होने वाले रक्तपित्त में कफ तथा वात दोनो दोषो का अनुबंध पाया जाता है। साध्यासाध्यता की दृष्टि से विचार करें तो ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य, अधोग याप्य तथा दोनो मार्ग अर्थात् ऊपर-नीचे दोनो ओर से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है।

इसी प्रकार एकदोषानुग रक्तपित्त साध्य, द्विदोषज कृच्छ्रसाध्य तथा त्रिदोषज असाध्य होता है। जीर्णकालीन रोग से क्षीण हुए व्यक्ति का अथवा वृद्ध का अथवा लम्बे उपवासके अनन्तर होने वाला रक्तपित्त भी असाध्य होता है।

जब रक्तपित्त एक मार्ग तक ही सीमित हो, रोगी बलवान् हो, रोग नया हो रक्तस्राव का वेग बहुत तीव्र न हो, रोगी मे उपद्रव न हो और ऋतु या काल भी अनुकूल हो तो ऐसा रक्तपित्त रोग सुखसाध्य होता है अर्थात् सुविधा पूर्वक ठीक किया जा सकता है।

सामान्य क्रियाक्रम

नादौ स्तम्भनमर्हति—यदि रोगी वलवान् है, खाता-पीता है तो उसके गिरते हुए रक्तपित्त को प्रारंभ मे रोकना न चाहिये। क्योकि प्रारभ मे आम दोष (Toxins) या दूषित पित्त गिरता है उसका गिर जाना ही ठीक रहता है। अस्तु, प्रारभ मे रोगी का वल एव रोग मे दोप का वल देखते हुए रक्तस्राव की उपेक्षा करनी चाहिये।

प्रारभ मे ही रक्तपित्त का स्तभन कर देने से अंतर्विषमयता रोगी मे वढती है और उसके परिणामस्वरूप गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, आनाह, किलास, मूत्रकृच्छ्र, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, वर्णनाश, भगन्दर, वुद्धि तथा इन्द्रियो का घात-प्रभृति रोग उपद्रव रूप मे पैदा हो जाते है। अतः वल और दोप का विचार करते हुए वलवान् रोगी के रक्तपित्त को प्रारभ मे गिरने देना चाहिये। जव आम दोपमय पित्त निकल जावे तव शोधन अथवा सशमन की चिकित्सा करते हुए चिकित्सा करे। ऐसा करने से शीघ्र रोग निवृत्त हो जाता है।[1]

लंघन अथवा संतर्पण—मार्ग, दोपका अनुवध, हेतु आदि का विचार करते हुए रक्तपित्त मे यथावश्यक लघन (अपतर्पण) या सतर्पण कराना चाहिये। रक्तपित्त ऊर्ध्वग है या अधोग ? अर्थात् कफानुवधी है या वातानुवधी ? अर्थात् उष्ण और स्निग्ध पदार्थ के सेवन से उत्पन्न है अथवा उष्ण रूक्ष पदार्थों के सेवन से ? इन वातो का विचार करके लघन या सतर्पण क्रमो का रोगी में अनुष्ठान करना चाहिये।

यदि रक्त-पित्त ऊर्ध्वग है तो उसमे कफ का अनुवध पाया जाता है, स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थो के सेवन से पैदा हुआ है, इसमे आम की अधिकता रहती है अस्तु ऊर्ध्वग रक्तपित्त में प्रारभ मे अपतर्पण या लघन कराना चाहिये। इसके विपरीत रक्तपित्त अधोमार्ग से प्रवृत्त है तो उसमे वात अनुवध है और वह उष्ण एव रूक्ष द्रव्यो के सेवन से पैदा हुआ है, इसमे आम की कमी रहती है। अस्तु, सतर्पण या वृंहण चिकित्सा क्रम का अनुष्ठान युक्तिसगत रहता है। इस कथन का सक्षेप मे निष्कर्ष यह है कि ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे आमकी प्रवलता रहती है। अस्तु, लंघन कराना चाहिये तथा अधोग रक्तपित्त मे आम की कमी

---

१ अक्षीणवलमासस्य रक्तपित्त यदश्नत । तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्ट नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहगुल्मोदरादिकृत् । तस्मादुपेक्ष्य वलिनो वलदोपविचारिणा ॥ रक्तपित्त प्रथमतः प्रवृद्ध सिद्धिमिच्छता ॥ (च चि. ४)

रहती है। वायु की प्रबलता रहती है। अस्तु, पेयादि के द्वारा उसमे बृंहण या सतर्पण कराना चाहिये।[1]

पेयजल—रक्तपित्त के रोगी में तृष्णा के शमन के लिए ह्रीवेर-चंदन-उशीर-मुस्तक और पित्तपापडे मे शृत जल अथवा केवल शृत-शीत जल पीने के लिए देना (खौलाकर ठढा किया जल) चाहिये।[2] विदारिगंधादिक मे शृत-शीत जल अथवा पर्याप्त मात्रा मे फलो के रस देने चाहिये।

संशोधन—वमन अथवा विरेचन—ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे प्रारभ मे एक दो वक्त उपवास कराके तर्पणकरा के विरेचन औपधियो का प्रयोग करना चाहिये। अधोग रक्तपित्त मे विना उपवास कराये प्रारभ से ही पेयादि देकर वमन कराना चाहिये। काल, सात्म्य, दोपानुवध और रोगी को प्रकृति आदि का विचार करते हुए यथायोग्य तर्पण और पेयादि का योग देना चाहिये।[3] रक्तपित्त की चिकित्सा विपरीत मार्ग से दोपो के हरण का विधान है।

अर्थात् ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त मे वमन के द्वारा मे शोधन करना चाहिए[4]।

ऊर्ध्वग रक्तपित्तमें तर्पण के लिए निम्नलिखित द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए। जैसे १ पिण्ड खजूर, मुनक्का, महुवे का फूल या फालसा के फल का पडङ्ग परिभाषा के अनुसार जल पकाकर ठण्डा करके शक्कर मिलाकर देना चाहिए। २ धान के खील के सत्तू में घी और मधु मिलाकर पानी में घोल कर पिलाना। ३ जल के स्थान पर पूर्वोक्त फलोदक मे सत्तू को घोल कर पिलाना। ४ यदि अग्निमंद हो, भोजन मे अरुचि हो, अम्ल अनुकूल पडता हो तो खट्टा अनारदाना या आमलकी का चूर्ण मिलाकर तर्पण जलो या रसो को दिया जा सकता है। ५ विविध प्रकार के फलरस, मिश्री का पानी (Glucose Water) तथा

---

१ मार्गौ दोपानुबन्धञ्च निदान प्रसमीक्ष्य च। लंघन रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्। प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोपाच्छरीरिणाम्। वृद्धि प्रयाति पित्तासृक् तस्माल्लघनमाचरेत्।

२ ह्रीवेरचदनोशीरमुस्तपर्पटकै शृतम्। केवल शृतशीतं वा तोयं दद्यात् पिपासवे।

३ ऊर्ध्वगे तर्पण पूर्व कर्तव्यञ्च विरेचनम्। प्रागधोगमने पेया वमनञ्च यथावलम्। (चर चि ४)

४. प्रतिमार्गञ्च हरण रक्तपित्ते विधीयते। (नि० २ च०)

मोसम्मी, अगूर, सेव प्रभृति फलो के रस (Fruit juice) इस कार्य मे व्यवहृत हो सकते हैं । ६ ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे यवागू हितकर नही होती हैं ।

तर्पण देने के अनन्तर रेचन के लिए अमल्ताश की गुद्दी, आँवला, निशोथ अथवा वडे हर्रे का काढा शक्कर और मधु मिलाकर प्रात पिलाना ऊर्ध्वग रक्तपित्त में रेचन करता हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे लघन, तर्पण और रेचन के द्वारा प्रारभिक चिकित्सा करनी चाहिए।

अधोग रक्तपित्त मे प्रारभ से ही पेया का प्रयोग करना चाहिए तदनन्तर वामक क्वाथ पिलाकर वमन कराना चाहिए। पेया का निर्माण निम्न द्रव्यो के जल मे पका कर पुराने चावल या साठी के चावल का वनाना चाहिए । रोगी के अग्निवल के अनुसार पतला (मण्ड), अर्ध द्रव (पेया) या अल्पद्रव (विलेपी) वना कर देना चाहिए। दालो मे मूग या मसूर का योग करके कृशरा भी वनाई जा सकती है। कमल तथा नीलोत्पल की केशर, पृश्निपर्णी, फूल प्रियगु, चदन, उशीर, लोध्र, चिरायता, धातकी पुष्प, यवासा, विल्व, वला और शुण्ठी प्रभृति औपधियो से षडगपानीय विधि से जल वनाकर उसमे चावल, दाल आदि का पाक करके पेया वनानी चाहिए। इस पेया का प्रयोग ठडा करके उसमे घृत और मधु मिलाकर सेवन के लिए देना चाहिए। मासमात्म्य व्यक्तियो को कपोत के मासरस के साथ पेया सिद्ध करके दी जा सकती है।

पेया के अनन्तर रोगी को मोथा, इन्द्रजौ, मुलैठी और मेनफल सम भाग मे ले कर कपाय मिलाकर वमन कराना चाहिए अथवा चीनी का गाढा शर्वत प्रचुर मात्रा मे पिलाकर अथवा इक्षुरस पेट भर पिलाकर वमन कराना भी प्रशस्त है। इस प्रकार अधोग रक्तपित्त मे प्रारभ से ही अन्न (पेया) देकर वमन कराना चाहिए ।

यह सशोधन की चिकित्सा वलवान रोगियो के लिए है। जिनमे रक्त, मास और वल क्षीण न हो, दोपो की प्रवलता हो और रोग सतर्पणजन्य हो और जिनमे कोई उपद्रव न हो। ऐसे रोगी मे दूषित रक्त तथा पित्त का निर्हरण करना आवश्यक हो जाता हैं और ऊर्ध्व भाग के दोपो का हरण विरेचन से तथा अधो भाग का दोप हरण-वमन के द्वारा कराना चाहिए[1] ।

---

१ वक्ष्यते वहुदोपाणा कार्यं वलवता च यत् ।। अक्षीणवलमासस्य यस्य सतर्पणोत्थितम् ।। वहुदोप वलवतो रक्तपित्त शरीरिण । काले सशोधनार्हस्य तद्हरेन्निरुपद्रवम ।। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोग वमनेन च ।

संशमन—जिस रोगी का वल-माम बहुत क्षीण हो गया हो, जो चिन्ता-शोक-कार्याविक्य, अतिपरिश्रम, वोझ अधिक ढोने या रास्ता अधिक चलने से दुर्वल हो अथवा जो अग्नि (भट्टी पर काम करने वाला) तथा सूर्य-सताप से सतप्त हो, अथवा दूसरे किसी रोग से पीडित रहा हो और उपद्रव रूप मे रक्तपित्त का रोग पैदा हुआ हो अथवा गर्भिणी, वृद्ध, वाल, रूक्ष, अल्प और सीमित भोजन करने वाला व्यक्ति हो (under nourished) अथवा अन्य किसी कारण से रोगी को अवम्य (न वमन देने लायक) यद्वा अविरेच्य (न विरेचन देने योग्य) समझा गया हो अथवा शोप का अनुवंध रोगी में पाया जावे तो उसमें सशोधन न देकर सशमन की क्रिया प्रारंभ मे करनी चाहिए। सशमन का अर्थ यहाँ पर रक्तस्तभक योगो के प्रयोग से है[1]।

सामान्यतया पहले दोपो के सशोधन के अनन्तर ही सशमन का विधान है। परन्तु आत्ययिक अवस्था में (Incases of emergency) जिनका ऊपर मे उल्लेख हो चुका है संशमन के कर्म से चिकित्सा का प्रारभ करना चाहिए।

निदान परिवर्जन—रक्तपित्त की उत्पत्ति मे कारणभूत पदार्थों का पूर्णतया परित्याग करना चाहिए। साथ ही निम्नलिखित आहार-विहार या अन्न-पान का अनुष्ठान करना चाहिए। अपथ्यो में कुलथी, गुड, वैंगन, तिल, उडद, सरसो, राई, दही, क्षार, लवण, लहसुन, मद्य, सेम, पान, अम्ल एवं विदाहि पदार्थ, गर्म मसाले, विरुद्ध भोजन, मछली, क्रोध करना, धूप या आग का सेवन, मैथुन, स्वेदन, धूमपान, मूत्र-पुरीपादि वेगो को रोकना, भार वहन, अध्वगमन, व्यायाम, परिश्रम, पैदल या तेज सवारी मे चलना प्रभृति पदार्थों का परिहार करना चाहिए।

आहाराचार—रक्तपित की चिकित्सा मे आहार (अन्न-पान), आचार (विहार) का बहुत बडा महत्त्व है। प्रधान भोजन मे पुराना शालि या साठी का चावल, कोदो, सावा, कगुनी, तिन्नी का चावल, साबूदाना प्रभृति अन्नोका ओदन देना चाहिये। ये परम ग्राही एव लघु अन्न है। दाल के लिए मूंग, मसूर, चना, मोठ या अरहर प्रयोग करना चाहिये। इनमे मसूर की दाल लघु और ग्राही होने से तथा मूंग की दाल लघु और शीतवीर्य होने की वजह से अधिक उत्तम पडती है। शाक में लौकी, परवल, भिण्डी, गूलर, वथुवा, केला, कचनार

---

१ वलमासपरिक्षीण शोकभाराध्वकर्शितम्। ज्वलनादित्यसतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयै ॥ गर्भिणी स्थविर वालरूक्षाल्पप्रमिताशनम्। अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्ये-द्रक्तपित्तिनाम् ॥ शोपेण सानुवन्धं वा तस्य सशमनी क्रिया। शस्यते रक्तपित्तस्य पर साऽथ प्रवक्ष्यते। (च चि. ४)

के फूल, प्लक्ष (पाकड़ के कोंपल), सेमल के फूल, चौलाई, नीम की कोमल पत्ती, पेठा कुष्माण्ड, पतली मूली, पलाण्डु, बेत के कोमल पत्र और गाम्भारी के फल-फूल या पत्र शाक उत्तम रहते है । इन शाको को घी मे भून कर नमक मिला कर अनारदाने या अनार मे कुछ खट्टा करके (यदि खट्टा रोगी को प्रिय हो तो) देना चाहिये । मांससात्म्य व्यक्तियो में जाङ्गल पशु-पक्षियो के मासरस जैसे पारावत, कपोत (कबूतर), हिरन, खरगोश, लवा, बत्तख, बटेर, तीतर आदि का घृतभृष्ट सैन्धवयुक्त मासरस देना चाहिये ।

मांससात्म्य व्यक्तियो में रक्तपित्त की अवस्था मे विबंध हो तो बथुवे के रस मे खरगोश के मास को पका कर दे । वात की उल्बणता हो तो उदुम्बर (गूलर) के रस में पकाये तित्तिर का मासरस देना चाहिये । अथवा पाकड़ के कषाय में पकाये मयूर का मास अथवा बरगद के फल या शुंग के रस मे पकाये मुर्गे का मास अथवा नीलोफर या कमल के रस में पकाये बटेर का मास देना चाहिये ।

दूध मे गाय या बकरी का दूध पथ्य होता है । माहिष घृत या गोघृत, मक्खन उत्तम रहता है । फलो में आँवला, खजूर, बेदाना, अनार, मुसम्मी, मीठा संतरा, नेब, केला, फालसा, सिघाडा, कसेरू, सौंफ, कमलनाल (बिस), कमलगट्टा, मीठा अंगूर, मुनक्का, किशमिश, ताड का फल, नारिकेल जल (डाब का पानी), ईख या गन्ने का रस, मिश्री, चीनी का उपयोग उत्तम रहता है ।

आचार या विहार—रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिये । रोग-काल में भूमिगृह (तहखाने), धारागृह (जिस घर के छत पर जल की धारा गिर रही हो), हिमालय (ठंडे स्थान पर) अथवा दरीगृह (पर्वत की ऐसी कदरा जहा निर्झर या प्रपात हो), शीतल उपवन, शीत स्थान या जलाशय जैसे किसी बडी नाल-तली में जो भाग जल मे डूबा रहता हो रोगी को रखने की व्यवस्था करनी चाहिये ।

अवगाहन या ठंडे जल का स्नान, शीतल वायु के सेवन, चन्दन-रक्त चदन-पुण्डरीक-कमल-नीलोत्पल प्रभृति शीतल द्रव्यो को पीस कर लेप, पुष्करिणी की कीचड का लेप, मनोनुकूल तथा हर्षप्रद कथा-सगीत प्रवचन, सोने और बैठने के लिए मनोनुकूल शय्या उस के ऊपर कमल पत्र पुष्प का बिछौना या केले के पत्ते का बिछौना, पद्म और उत्पल की ठंडी हवा, मुक्ता-वैदूर्य प्रभृति मणि-भाजनो को जल से ठंडा करके स्पर्श करना या माला रूप मे धारण या अन्य सुगंधित पुष्पो की माला, चादनी का सेवन, नौका-विहार, प्रियङ्गु, चन्दन आदि से दिग्ध शरीर-वराङ्गनाओ का स्पर्श प्रभृति बाह्योपचार रक्तपित्त मे लाभप्रद

रहते हैं।[1] उन उपचारो से रक्त का स्तम्भन तथा रक्तनाशजन्य दाह की शान्ति होती है।

रक्तपित्त में संशमनोपचार या भेषज--रक्तपित्त मे वासा (अडूसा) एक प्रमुख औषधि के रूप में व्यवहृत होता है। लिखा है "अडूसा की विद्यमानता में और जीवन की आशा रहने पर रक्तपित्त, क्षय तथा कास (खाँसी) वाले क्यो कष्ट उठाते हैं।[2] अर्थात् इन रोगो में वासा का प्रयोग अन्वर्थ रहता है। ऐसे रोगी वासा के सेवन से अपने रोग को हटा सकते है। कई कल्पनायें वासा की हो सकती है :—

वासा स्वरस—वासा के पंचाङ्ग को पानी से पीस कर उसका स्वरस मधु के साथ सेवन। या तालीशपत्र का २ माशा चूर्ण मिलाकर सेवन।

वासापुटपाक स्वरस—पुटपाक विधि से वासा का स्वरस मधु से मिश्रित करके सेवन।

वासा-कषाय—अडूसे के पंचाङ्ग के विधिपूर्वक सिद्ध किये कषाय मे नील कमल, सोरठ मिट्टी (अभाव मे फिटकिरी), फूल प्रियङ्गु, लोध्र, स्रोतोञ्जन, कमल की केसर प्रत्येक का ४ रत्ती की मात्रा में प्रक्षेप डाल कर सेवन।

---

१. भद्रश्रियं लोहितचन्दनञ्च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पल च। उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुक पयस्या ॥ शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलाना कुशकाशयोश्च। कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्यातृणमूलमृद्धि ॥ मूलानि पुष्पाणि च वारिजाना प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च। उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षा. शिशिराश्च सर्वे। प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथावगाहे घृततैलसिद्धौ। रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक् प्रयुञ्ज्यात। धारागृहं भूमिगृहं च शीतं वन च रम्य जलवातशीतम्। वैदूर्यमुक्तामणिभाजनाना स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीता.॥ पत्राणि पुष्पाणि च वारिजाना क्षौमञ्च शीतं कदली-दलानि। प्रच्छादनार्थं शयनासनाना पद्मोत्पलानाञ्च दलाः प्रशस्ता.॥ प्रियङ्गुका-चन्दनरूपितानां स्पर्शा प्रियाणाञ्च वराङ्गनानाम्। दाहे प्रशस्ताः सजला सुशीताः पद्मोत्पलानाञ्च कलापवाताः॥ सरिद्ध्रदाना हिमवद्दरीणा चन्द्रोदयाना कमला-कराणाम्। मनोनुकूला शिशिराश्च सर्वा कथा. सरक्तं शमयन्ति पित्तम्॥

(चर० चि० ४)

२. वासाया विद्यमानायामाशायां जीवनस्य च।
रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति ॥ (च० द०)

आटरूपक क्वाथ—अडूसा के क्वाथ मे फूल-प्रियङ्गु, सोरठ मिट्टी, सफेद सुरमा या रसवत का प्रक्षेप प्रत्येक एक माशा चूर्ण छोडकर मधु मिलाकर सेवन।

वासा घृत—१ वासा पंचाङ्ग से सिद्ध घृत का सेवन।[1]

२ गूलर के अधपके फलो का रस २१ तोले, शहद १ तोला मिलाकर सेवन। ३ अभया (हर्रे) का चूर्ण २ माशे ६ माशा शहद के साथ। ४. वासा के स्वरस से भावित पिप्पली या अभया चूर्ण, वासा-स्वरस की सात भावना देकर वनाया चूर्ण मात्रा पिप्पली चूर्ण २ माशा और हरीतकी चूर्ण ४ माशे मधु ६ माशे के साथ। ५ पकी गूलर, गाम्भारी फल, हरीतकी या पिण्ड खजूर का पृथक् मधु से सेवन। ६ खदिर, प्रियङ्गु, काचनार और सेमल इनमे से किसी एक फूलो का चूर्ण ३ माशे मधु ६ माशे मिला कर सेवन। ७ शुद्ध लाक्षा का वस्त्र से छाना हुआ महीन चूर्ण ४ माशे की मात्रा मे लेकर मधु ६ माशे और घृत १ तोले के साथ सेवन रक्त वमन को सद्य वद करता है। ८ निशोथ, हरड-वहेरा-आँवला-श्यामा लता और छोटी पीपल प्रत्येक १-१ तोला शर्करा कुल मात्रा की दुगुनी। $\frac{१}{२}$ से १ तोले का मोदक के रूप मे वनाकर सेवन ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे लाभप्रद होता है। ९ मदयन्तिका (मेहदी) के मूल का काढा वना कर मधु तथा शर्करा के साथ सेवन। १० अतसी का फूल ११ लज्जावती का पचाङ्ग १२. मजीठ १३ वटका प्ररोह इन का पृथक् पृथक् कपाय वनाकर मुद्गयूप के साथ सेवन। १४ शुद्ध स्फटिका (फिटकिरी) एक वडी सुन्दर रक्तस्तभक औपधि है। इसका स्थानिक प्रयोग बाह्य रक्तस्राव को वन्द करता है। दन्तोत्पाटन के अनन्तर या दाँत से होनेवाले रक्त-स्राव मे फिटकिरी के चूर्ण को गर्त मे रख कर वद कर देना चाहिए। तत्काल रक्त वन्द हो जाता है। इसी प्रकार वाह्य या दृष्ट रक्तस्राव मे फिटकरी का स्थानिक प्रयोग सद्य रक्तस्तभक होता है। आभ्यतर रक्तस्राव मे विशेपत. अधोग रक्तस्राव मे अर्थात् गुदा, लिङ्ग या योनि से होने वाले रक्तस्राव मे शुद्ध स्फटिका १ माशा की मात्रा मे गूलर के छाल के काढे के अनुपान से दिन मे दो-तीन वार प्रयोग करने पर सद्य लाभप्रद पाई जाती है। १५ शुद्ध शख भस्म ४र०, सुवर्ण गैरिक १ माशा या दुग्धपापाण चूर्ण १ माशा की मात्रा मे दिन मे चार वार मधु के या घी-चीनी के साथ सेवन। १६ मूपाकर्णी, १७ अयापान १८

---

१ वासा सशाखा सहपत्रमूला कृत्वा कपाय कुसुमानि चास्या:।
प्रदाय कल्क विपचेद् घृतञ्च क्षौद्रेण पानाद्विनिहन्ति रक्तम्॥

वन तण्डुलीयक (वन चौलाई), १९ तण्डुलोदक २० चंदन २१. पठानी लोध्र का प्रयोग भी लाभप्रद होता है।[1]

नासागत रक्तपित्त में स्थानिक उपचार—रोगी को पीठ के वल लेटा देना चाहिए, उसके सिर को शीतल जल से धो देना चाहिए। सिर पर वरफ की थैली रखने या वरफ के रगडने से भी लाभ होता है। सिर पर गोवृत और कपूर मिलाकर अभ्यंग, शतधौत या सहस्रधौत घृत का अभ्यग-हिमाशु तैल का लगाना भी लाभ करता है। कई प्रकार की ग्राही औपधियो के स्वरसो का नाक मे वूद वूंद करके छोडना भी उत्तम रहता है। जैसे १ चीनी मिलाकर दूध या जल को पीने के लिए देना चाहिए साथ ही उसकी कुछ वूदो को नाक मे भी छोडना चाहिए। २ दाडिम के फूल का स्वरस-नस्य अथवा ३ आम की गुठली को पानी मे पीस-छान कर उसका नस्य ४. ताजा दूव हरी या श्वेत के स्वरस का नस्य अथवा ५ प्याज के स्वरस का नस्य ६ वव्वूल की पत्ती का स्वरस नाक मे देना उत्तम रहता है। इसी प्रकार ७ लाक्षास्वरस का नस्य अथवा ८ हरीतकी स्वरस का नस्य भी हितकर होता है। ९ जव रक्तस्राव वहुत तीव्र हो तो पच क्षीरी कपाय में कपडे की वर्ति मे भिगो कर नाक को भर देना आवश्यक होता है। १० फिटकिरी, माजूफल और कपूर का चूर्ण महीन कर नाक मे वुरकाने (अव-धूलन) से भी लाभ होता है। ११. आँवले को काजी मट्ठे या जल मे पीस कर कल्क वना कर गोवृत मे छौक कर ठंडा करके सिर और मस्तक पर मोटा लेप करने से सद्यः रक्तस्राव वद होता है। यह एक उत्तम और अनुभूत उपक्रम है। लिखा भी है कि यह उपाय रक्त के वेग को उसी प्रकार रोकता है जिस प्रकार सेतु तोय के वेग को।

यदि नासागत रक्तस्राव वडा हठी स्वरूप का हो तो उसमे दहन कर्म की सलाह रोगी को देना चाहिए। रक्तस्राव जव किसी तरह से वद न हो तो 'असिद्धिमत्सु चैतेपु दाह परममिष्यते' सुश्रुत ने दाह कर्म का ही उपदेश दिया है, इसके लिए आज के युग में Electric Cateurization प्रचलित इसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

आभ्यंतर उपचार—इन स्थानिक उपचारो के अतिरिक्त रक्तपित्ताधिकार में वर्णित वहुविध भेपज योगो का आभ्यंतर प्रयोग भी रोगी मे करने चाहिए।

---

१ उशीरकालीयकलोध्रपद्मक-प्रियङ्गुकाकट्फलगङ्खगैरिका.।
पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिका सशर्करा तण्डुलधावनप्लुता। (च चि ४)

एक आम तौर से चलने वाला नुस्खा-प्रवालपिष्टि २ रत्ती, गुडूची सत्त्व १ माशा मिलाकर एक मात्रा। ऐसी दिन मे दो या तीन मात्रा घी और चीनी या मक्खन और मिश्री के साथ देना चाहिए। साथ ही प्रतिदिन एक मृदु रेचन की एक मात्रा यष्टयादि चूर्ण ६ माशे या शतपत्र्यादि चूर्ण ६ माशे नित्य रात मे सोते वक्त देते रहना चाहिए।

रोगी को पथ्य के रूप मे पर्याप्त मात्रा मे चीनी का शर्वत (Glucose Water), अंगूर का रस, ईख का रस, दूध, घी, मक्खन आदि सेवन करने के लिए देना चाहिए।

इन योगो का प्रयोग सभी प्रकार के रक्तपित्त में लाभप्रद रहता है। जैसे-

उशीरादि चूर्ण—खस, शीतलचीनी, तगर, सोठ, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, लौंग, पिपरामूल, पिप्पली, छोटी इलायची, केसर, नागरमोथा, मुलेठी, कपूर, वंशलोचन, तेजपात प्रत्येक एक तोला, काला अगर इन सव के वरावर अर्थात् १६ तोले। कूट पीस कर कपडछन चूर्ण फिर उसमे ८ गुनी शक्कर (१२८ तोले) मिलाकर योग को वनावे। मात्रा ३ से ६ माशे। अनुपान शीतल जल।

एलादि गुटिका—इलायची, तेजपात, दालचीनी प्रत्येक ½ तोला, पिप्पली २ तोला, चीनी, मुलेठी, खजूर या छुहारा और मुनक्का प्रत्येक ४ तोले। सवको कपडछन चूर्ण करके खरल मे मधु से घोट कर २ माशे की गुटिका वनाले। दिन मे कई वार चूसने के लिए दे। इससे रक्तपित्त मे विशेषत उर:क्षत तथा रक्तष्ठीवन मे वडा लाभ होता है।

कुष्माण्ड खण्ड—छिल्के और बीजरहित सफेद पेठे को पानी मे डालकर एक मिट्टी के वर्तन मे रख कर आग पर चढा कर स्विन्न करके पेठे को रेशमी वस्त्र मे रख कर हाथ से दवा कर उसके रस को पृथक् करके निकाल कर रख लेना चाहिए। फिर इस पेठे को पत्थर पर पीस कर धूप मे सुखा ले। इस चूर्ण को ५ सेर लेकर कलईदार वर्त्तन मे ६४ तोले घृत में अग्नि पर चढाकर भूने। जव वह लाल हो जाय तो उसमे निकाले हुए पेंठे का रस ५ सेर खाड या मिश्री मिलाकर पाक करना चाहिए। जव पाक समीप मालूम हो तो उसमे निम्नलिखित द्रव्यो का प्रक्षेप डाले। छोटी पीपल, सोठ, जीरा प्रत्येक आठ तोले, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, काली मिर्च, धनिया प्रत्येक २ तोले। खूव अच्छी तरह से चलाते हुए पाक को सिद्ध करके ठडा होने पर घी की आधी मात्रामे (३२ तोले) शहद मिलाकर मर्तवान मे भर कर रख लेना चाहिए। मात्रा-अग्निवल के अनुसार २ तोले से एक छटांक तक। यह एक रसायन और ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे सिद्ध योग है।

वासा कुष्माण्ड खण्ड—उक्तविधि से निर्मित पेठे का चूर्ण ५० पल (२॥ सेर) भर लेकर कलईदार ताम्र की कडाही मे प्रतप्त हुए १ प्रस्थ (६४ तोले) घृत के साथ भून लेना चाहिए। भूनते-भूनते जब पेठे का चूर्ण लाल हो जाय और सुगन्ध आने लगे तब उसमे खाण्ड १०० पल (५ सेर) और अडूसे का क्वाथ १ आढक (४ प्रस्थ=२५६ तोला) डाल कर अच्छी तरह पाक करना चाहिए। आसन्न पाक की अवस्था मे मोथा, आँवला, वंशलोचन, भार्गी, त्रिसुगन्ध (दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात) का प्रत्येक चूर्ण १-१ तोला, एलुआ सोठ, धनिया, काली मरिच का प्रत्येक चूर्ण ४-४ तोला और छोटी पीपल का चूर्ण १ कुडव (१६ तोला) प्रक्षिप्त करके कलछी अथवा शुद्ध लकडी के डण्डे से अच्छी तरह घोट कर चूल्हे से उतार लेवे। शीतल होने पर शहद १ मणिका अर्थात् ८ पल (३२ तोला) मिला कर घृतस्निग्ध मिट्टी के पात्र अथवा काच-पात्र में भर देवे।

दूर्वाद्य घृत—दूर्वा की लता, कमल-केसर, मजीठ, एलवालुक, खाड, श्वेत चन्दन, खस, मोथा, लाल चन्दन और पद्माख प्रत्येक १-१ तोला लेकर सबको जल के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बना लेवें। फिर बकरी का घृत चतुर्गुण अर्थात् ४० तोला, तुण्डुलोदक घृत से चतुर्गुण (१६० तोला=२ सेर) तथा बकरी का दुग्ध २ सेर लेकर सबको कलईदार ताम्र अथवा पित्तल या लौह की कडाही में डाल कर कडाही को चूल्हे पर चढाकर मन्द-मन्द अग्नि जला के पाक करना चाहिए। मात्रा—१-२ तोले दूध मे।

उशीरासव—खस, नेत्रवाला, कमल की जड, गम्भारी की छाल, नील कमल, प्रियङ्गु, पद्माख, लोध, मजीठ, धमासा, पाठा, चिरायता, वट के अकुर अथवा छाल, उदुम्बर के फल अथवा छाल, कचूर, पित्तपापडा, श्वेत कमल की जड़ अथवा पत्ती, पटोलपत्र, कचनार की छाल अथवा पुष्प, जामुन की छाल और मोचरस प्रत्येक का चूर्ण १-१ पल। तथा मुनक्को का पत्थर पर पीसा हुआ कल्क २० पल (१ सेर), धाय के फूल का चूर्ण १६ पल भर ले कर दो द्रोण (२५½ सेर ८ तोला) जल में डाल कर एक घृतस्निग्ध तथा जटामासी और कालीमरिचो से धूपित मिट्टी के भाण्ड में भर देवें और उसमे शर्करा १ तुला (१०० पल=५ सेर) तथा शहद ½ तुला मिला कर भाण्ड के मुख को शराव से ढँक कर कपडमिट्टी द्वारा सन्धिबन्धन करके १ मास तक एकान्त और उष्ण स्थान मे रख देवें। १ महीने के पश्चात् इसको वस्त्र से छान कर बोतलो में भर ले। मात्रा—२ तोले भोजन के बाद बराबर जल मिलाकर।

रक्तपित्तकुलकण्डनरस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, प्रवाल भस्म, स्वर्ण-भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, नागभस्म और वङ्गभस्म १–१ तोला ले कर प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बनाकर उसमे शेष भस्मे मिलाकर लालचन्दन, कमल की डण्डी, मालतीपुष्प (मुकुलित), अडूसे के पत्ते, धनिया, वारणकणा (गजपीपल), शतावरकन्द, सेमल कन्द, वट के अकुर और गिलोय इनमे से प्रत्येक के स्वरस अथवा क्वाथ से क्रमश. तीन-तीन बार भावित करके घोट कर सुखा के शीशी मे भर देवे। मात्रा–४ रत्ती से १ माशा। अनुपान–मुलेठी और अडूसे के क्वाथ मे मधु मिला कर।

पित्तान्तक रस—जायफल, जावित्री, जटामासी, कूठ, तालीसपत्र, सोना-माखी, लौह भस्म और अभ्रक भस्म सब सम भाग मे लेकर उसमे सबो के बराबर रजतभस्म डाल कर पानी के साथ पीस कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना कर रख छोडे। मात्रा १ से २ गोली।

महापित्तान्तक रस—पित्तान्तक रस मे सोनामाखी के स्थान मे स्वर्ण भस्म मिला देने से महापित्तान्तक रस होता है।

सुधानिधि रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण माक्षिक भस्म और लौह भस्म प्रत्येक समभाग मे लेकर खरल मे एकत्र कर लेवे। फिर इसमे त्रिफला क्वाथ डालकर मर्दन करके गोला बना कर भूषा मे रख कर 'भूधर यन्त्र' मे पका लेवे। मात्रा १-२ रत्ती त्रिफला कषायके साथ। लौह पात्र मे दूध को गर्म करके रातमे पीना इस औषधि के प्रयोग-कालमे हितकर होता है।

चन्द्रकला रस—शुद्ध पारद १ तोला, ताम्रभस्म १ तोला, अभ्रकभस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, मोती की पिष्टी २ तोला, कुटकी, गिलोय का सत्त्व, पित्तपापडा, खस, छोटो पीपल, श्वेतचन्दन और अनन्तमूल प्रत्येक का कपड-छान चूर्ण १–१ तोला। प्रथम पारे-गन्धक की कज्जली करे। पीछे उसमे भस्मे तथा अन्य द्रव्यो का चूर्ण मिलाकर नागरमोथा, मीठा दाडिम (अनार), दूब, केवडा, कमल, सहदेई, शतावर और पित्तपापडा इनके यथालाभ स्वरस, अर्क या क्वाथ की १-१ भावना और मुनक्का के क्वाथ की ७ भावनायें देवे। प्रत्येक भावना मे १-१ दिन मर्दन करे और छाया मे सुखा करके दूसरी भावना दे। पीछे वशलोचन का सूक्ष्म कडछान चूर्ण अँगुलियो पर लगाकर उनसे चने के बराबर गोलियाँ बना छाया मे सुखा कर रख दे।

मात्रा और अनुपान—१–२ गोली, ठण्डा जल, उशीरासव, अशोकारिष्ट या पेडे के स्वरस से दिन मे २–३ बार दे।

बारहवाँ अध्याय

राज-यक्ष्मा-प्रतिषेध

प्रावेशिक—राज-यक्ष्मा शब्द की दो व्युत्पत्ति चरक संहिता में पाई जाती हैं। १ "यक्ष्मणा (रोगाणा) राजा" इति राजयक्ष्मा तथा "राज्ञ. चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामय । तस्माद् राजयक्ष्म सज्ञेति" सर्वप्रथम नक्षत्रो के राजा चंद्रमा को यह रोग हुआ, अस्तु इस रोग का नाम राजयक्ष्मा पड़ा।

पौराणिक कथा है कि प्रजापति को अट्ठाइस कन्यायें थी उन्होने सबका विवाह चंद्रमा से कर दिया परन्तु राजा चद्रमा ने सभी रानियो को सम भाव से नही देखा केवल एक में जो रोहिणी नाम की रानी थी उस मे अत्यधिक आसक्ति दिखलाई। प्रजापति से शेष कन्यावो ने इस बात की शिकायत की और प्रजापति को क्रोध हुआ उन्होने शाप दिया और वह क्रोध यक्ष्मा के रूप में चंद्रमा के शरीर में प्रविष्ट हो गया और वे राजयक्ष्मा रोग से ग्रसित हो गये। राजा चंद्रमा को पश्चात्ताप हुआ वे गुरुकी शरण में गये उनकी अभ्यर्थना की गुरु ने प्रसन्न होकर उनको पुन. स्वस्थ होने का आशीर्वाद दिया अश्विनीकुमारो ने उनकी चिकित्साकी और चद्रमा फिर ठीक हो गये।

इस पौराणिक कथा से इस रोग के बारे में लक्षणो के द्वारा कई काम के अर्थ निकलते हैं। जैसे—१. यह रोग—रोगराज या राजरोग या राज-यक्ष्मा है। अर्थात् एक राजा के समान बृहत् या विशाल रोग है जिसमें अनुचर के रूप में प्राय सभी छोटे-बड़े रोगो का जैसे, ज्वर अतिसार, रक्तपित्त और विषमाग्नि प्रभृति रोगो का अनुप्रवेश पाया जाता है। फलत. इस रोग की इतनी विशालता है कि इस का सम्पूर्णतया सभी अवस्थावो के लक्षण, चिह्न और चिकित्सा प्रभृति बातो का ज्ञान हो जाय तो प्राय सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र का पण्डित हो जाना सभव रहता है क्योकि इस मे अधिकतर कायचिकित्सा-सम्बन्धी लक्षणो का अनुप्रवेश मिलता है। कई लेखको ने भी इस भाव की उक्तियाँ कही है कि "क्षय और फिरंग रोग को कोई चिकित्सक सम्पूर्णतया जान जावे तो वह सम्पूर्ण चिकित्सा (कायचिकित्सा शास्त्र) का ज्ञाता हो सकता है।"

२ यह रोग राजा को हो जाय अर्थात् आढ्य और श्रीमन्त व्यक्ति को हो जाय तो वह अच्छा हो जाता है, परन्तु यदि किसी गरीब या दरिद्र व्यक्ति को हो जाय तो उसके लिये चिकित्सा और पथ्य की सुविधा न होने से प्राय असाध्य हो जाता है।

३ यह रोग आहार-विहार के असयम से विशेषत. शुक्रक्षय की अधिकता से

होता है। अस्तु इस रोग मे शुक्र-क्षय या वीर्य क्षय को बचाना अर्थात् शुक्र या वीर्य वर्धक औषधियो का प्रयोग उत्तम रहता है।

४ यह रोग स्नेहसंक्षय से "तत स्नेहपरिक्षयात्" से होता है अस्तु चिकित्सा मे अत्यधिक मात्रा मे दूध, घी, मक्खन, तैल, वसा, मज्जा, मासरस, यकृत् तैल (विटामीन ए डी) तथा पौष्टिक आहार की आवश्यकता पडती है। इसके अभाव मे रोग का अच्छा होना कठिन रहता है। स्नेह शब्द से देह का सारक्षय भी माना जाता है—सार से शुक्र और ओजक्षय। जिसका वर्णन आगे किया जावेगा, इस रोग मे पाया जाता है।

५ यह रोग असाध्य नही है—साध्य या कृच्छ्र साध्य है प्रारभ से ही चिकित्सा की जाय तो साध्य होता है, परन्तु विलम्व से चिकित्सा करने पर कृच्छ्र साध्य या असाध्य हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इस रोग मे पुनरावर्त्तन की प्रवृत्ति पाई जाती है अर्थात् एक बार हो जाने पर पुन पुन उसके होने की संभावना रहती है। महाराज चद्रमा को यह रोग हुआ, देवचिकित्सक अश्विनी कुमारो ने इसकी चिकित्सा की, रोग अच्छा हो गया, परन्तु पुन सक्षय प्रारभ हुआ। अस्तु चद्रमा शुक्ल पक्ष मे पूर्ण चिकित्सा-विश्राम-पथ्यादि के ऊपर (Senetorium Treatment) के ऊपर रहने पर अच्छा हो जाते हैं और वे पन्द्रह दिन मे पूर्ण हो जाते हैं-परन्तु चिकित्सा आदि की निगरानी के छूट जाने पर उनमें कृष्ण पक्ष मे पुनः सक्षय प्रारभ हो जाता है और कृष्ण पक्ष की अमावस्या को वे पूर्णतया क्षीण हो जाते है। पुन उनकी चिकित्सा या पथ्यादि की आवश्यकता पडती है—अश्विनीकुमार लोग पुन उनकी चिकित्सा करते हैं पुन उनकी एक-एक कलावो का सवन्ध शुरू होता है और वे वढ कर एक पक्ष में स्वस्थ हो कर षोडश कला पूर्ण चद्र होते हैं। इसी प्रकार क्षयरोग मे भी पथ्यापथ्य का परिणाम पाया जाता है और रोग का बार-बार होना या पुनरावर्त्तन पाया जाता है। चन्द्रमा की वृद्धि एव क्षय का प्रभाव सभवत. इस रोग मे पाया भी जाता है।

६. इस रोग मे चन्द्रका प्रतीक सोम से भी है। सोम से सौम्य गुण अर्थात् आप्यायन धातुवो का पोषण अभिलक्षित होता है। जगत् मे दो प्रकार के अग्नि तथा सोम गुण के तत्त्व पाये जाते है। कही पर चिकित्सा मे आग्नेय तत्त्वो की आवश्यकता होती है। कई वार इसके विपरीत सोम तत्त्व की। यहाँ पर क्षय रोग के प्रतिषेध मे सोम तत्त्व का ही व्यवहार हितकर रहता है। धातुओ का शोष इस रोग मे पाया जाता है। आप्यायन इस के लिए जरूरी होता है अस्तु सोम-गुण वाली औषधियो का शीतवीर्य एव धातुवर्धक पथ्य का उपयोग उत्तम रहता है।

७ इस रोग मे धातु-क्षय प्रधान हेतु के रूप मे पाया जाता है यह क्षय अनुलोम या प्रतिलोम द्विविध हो सकता है। अनुलोम रस या रक्त के नाश से प्रारभ होकर क्रमश. उत्तरोत्तर पाये जाने वाले धातुवो का अर्थात् रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और अतमे शुक्र या वीर्य का क्षय होता है। प्रतिलोम मे शुक्र-क्षय का प्रारंभ होकर क्रमश उससे अवर धातुवो का अर्थात् मज्जा, अस्थि, मेद, मास, रक्त और अंत मे रस का क्षय होता है। इस प्रकार धातुक्षय इस रोग के हेतु तथा प्रधान रूप मे पाया जाता है अस्तु राज-यक्ष्मा रोग का दूसरा पर्याय-क्षय रोग अथवा शोष रोग (धातुवो का सुखाने वाला रोग) बनता है। इस रोग मे बलक्षय, भारक्षय प्रमुखतया पाया जाता है। अस्तु चिकित्सा में बल और मास प्रभृति धातुवो को बढाने वाला उपचार अपेक्षित रहता है।

८. चूँकि यह रोग शाप के कारण चन्द्रमा को हुआ था अस्तु इस रोग को जीतने के लिए दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का बडा महत्त्व है, आधिभौतिक (Materialistic treatment) के साथ-साथ जिन क्रियावो के द्वारा प्राचीन काल मे राजयक्ष्मा रोग को दूर किया गया उन आधिदैविक अर्थात् मनोनुकूल सम्पूर्ण वेद-विहित क्रियावोको करते हुए उपचार करना चाहिये। ये दैव-व्यपाश्रय उपाय निम्नलिखित है। इन उपायो से यक्ष्मारंभक दोपो की शान्ति होती है। इच्छित और मनोज्ञ (मनका अच्छा लगने वाले) मद्य का सेवन, गध का सूघना, रमणीय मित्रो तथा प्रमदावो का दर्शन, कानो के प्रिय लगने वाले गीत, वाद्य, हर्षण (प्रसन्न करने वाले आहार-विहार-आचार-कथा प्रसग), आश्वासन (तसल्ली देना), ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान, दान, तपस्या, देवता की अर्चना, गुरुजनो का पूजन, सत्यभापण, अहिंसा, दूसरे के कल्याण की भावना, वैद्य और धर्म-शास्त्रज्ञ के कथनो के अनुसार चलना आदि।[1]

राजयक्ष्मा रोग के पर्याय—रसादि धातुओ के शोषण होने से रोग का नाम शोप, धातु-क्रियाओ के क्षय होने से रोग का नाम क्षय हो जाता है,

---

१ इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञाना मद्यानामुपसेवनै। सुहृदा रमणीयाना प्रमदानाञ्च दर्शनै.॥ गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च। हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणा समुपासनै.॥ ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनै.। सत्येनाचारयोगेन मङ्गलैरप्यहिंसया॥ वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते। यया प्रयुक्तया चेष्टचा राजयक्ष्मा पुरा जित.॥ ता वेदविहितामिष्टामारोग्यार्थी प्रयोजयेत्। (च. चि)

सर्वप्रथम यह रोग राजा चद्रमा को हुआ अस्तु राजयक्ष्मा, राजरोग या रोग राज भी कहलाता है[1]।

राज-यक्ष्मा रोग के चतुर्विध हेतु—वेगावरोध (मल-मूत्र-प्रभृतिवेगो का रोकना), क्षय (शुक्र प्रभृति धातुओ का क्षय), साहस (अयथावल आरम्भ) और विषमाशन (विषम भोजन) इन चार कारणो से त्रिदोषज राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। इसमे वेगावरोधादि कारणो से सर्वप्रथम वायु का कोप होता है पश्चात् अग्नि की दुष्टि होने से कफ और पित्त भी दूषित होता है। इन मूलभूत चार हेतुओ मे अगभूत असंख्य कारणो का समावेश समझना चाहिये।[2]

राजयक्ष्मा के त्रिविध रूप या अवस्थाये—कधे और पार्श्व मे पीडा, हाथ-पैरो मे जलन और सम्पूर्ण शरीर मे ज्वर। इसको त्रि-रूप राजयक्ष्मा कहते है। रोग के प्रारभिक अवस्था मे ये ही लक्षण पाये जाते है। जब रोग अधिक बढता है तो द्वितीयावस्था मे षड्रूप यक्ष्मा पाया जाता है जिसमे भोजन मे अरुचि, स्वरभेद, कास, श्वास, रक्तष्ठीवन और ज्वर रहने लगता है–'कासो ज्वर पार्श्वशूल स्वरवर्चोग्रहोऽरुचि ।' इस से बढी हुई अवस्था एकादश रूप राजयक्ष्मा की होती है जिसमे वात के कारण स्वरभेद, कधे तथा पार्श्व मे शूल और संकोच, पित्त के कारण ज्वर, दाह, रक्तष्ठीवन तथा कफ के कारण सिर मे भारीपन, भोजन मे अरुचि, कास तथा कठ मे पीड़ा (या उत्कासिका या धसका) इन लक्षणो की उपस्थिति रोगी मे पाई जाती है।[3] भोज ने लिखा है कि राजयक्ष्मा में 'कासो ज्वरो रक्तपित्त त्रिरूपं राजयक्ष्मणि' अर्थात् यक्ष्मा मे प्रधान तीन ही लक्षण मिलते हैं कास, ज्वर और रक्तपित्त।

साध्यासाध्यता—यदि रोगी मे बलक्षय, मासक्षय और मदाग्नि न हो तो साध्य अन्यथा रोग कृच्छ्र साध्य या असाध्य हो जाता है। सम्पूर्ण, अर्ध या

---

१. संशोषणाद्रसादीना शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधै। राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामय। तस्मात्त राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिण.। (सुश्रुत ३ ४)

२ वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद् विषमाशनात्। त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥ (मा नि.)

३. अंसपार्श्वाभितापश्च सताप करपादयो। ज्वर सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मण.॥ स्वरभेदोऽनिलाच्छल सकोचश्चासपार्श्वयो। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागम॥ शिरस परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च। कास. कठस्य चोद्ध्वसो विज्ञेय कफकोपत.।

त्रिलिङ्ग मात्र से युक्त क्षयी रोगी मे यदि मास-बल बहुत क्षीण हो गये हो तो चिकित्सा मे वर्जन करना चाहिये परन्तु सम्पूर्ण लक्षणो से उपद्रुत रोगी मे भी मास एवं बल का क्षय न हो तो चिकित्सा करनी चाहिये। वह साध्य रहता है[1]।

क्रियाक्रम—सभी प्रकार के राजयक्ष्मा का रोग त्रिदोपज होता है अस्तु दोपो का बलाबल देखते हुए और विभिन्न अवस्थावो का विचार करते हुए शोप रोग की चिकित्सा करे[2]।

ज्वराधिकार मे ज्वर के शमन के लिये जो विधियाँ बतलाई गई है। वे सभी यक्ष्मा रोगी के ज्वर और दाह की अवस्थामे उत्तम होती हैं और व्यवहार मे लाई जा सकती है। अर्थात् क्षय रोग मे जीर्ण ज्वर की सम्पूर्ण चिकित्सा ज्वर के शमन के लिये करनी चाहिये[3]।

राजयक्ष्मा मे प्रथम ज्वरादि उपद्रवो की चिकित्सा ज्वररोगाधिकारोक्त योगो से क्वाथ, चूर्ण, आसव, अरिष्ट और रसादिको के प्रयोग से करनी चाहिये। इन ज्वरादिक उपद्रवो के शान्त होने के साथ ही साथ राजयक्ष्मा मे जो शोप (धातुवो के क्षय या शोष) पाया जाता है उसका उपचार करना चाहिये[4]।

शोधन निषेध—यदि रोगी बलवान् हो और रोग मे दोपो की अधिकता हो तो उसका स्नेहन स्वेदन करा के स्निग्ध वमन और विरेचन के द्वारा दोपो का निर्हरण करना प्रशस्त रहता है, परन्तु यदि रोगी क्षीण हो जैसा कि प्राय राजयक्ष्मा रोग मे पाया जाता है उसमे सशोधन (पचकर्म) कदापि नही करना चाहिये। यक्ष्मा में सशोधन विप के सदृश अहित करता है[5]।

---

१. सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मासबलक्षयै। युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ (च चि)

२ सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोपाणा च बलाबलम्। परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोपिणं समुपाचरेत्।

३ ज्वराणा शमनीयो य पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः। यक्ष्मिणा ज्वरदाहेपु स सर्वोपि प्रशस्यते ॥

४ उपद्रवा ज्वराद्यास्ते साध्या स्वै स्वैश्चिकित्सितैः।
तेपु शान्तेपु रोगेपु पश्चाच्छोपमुपाचरेत् ॥ (चर. चि. ८)

५ दोपाधिकाना वमनं शस्यते सविरेचनम्। स्नेहस्वेदोपपन्नाना सस्नेहं यन्न कर्पणम् ॥ बलिनो बहुदोपस्य पच कर्माणि कारयेत्। यक्ष्मिण. क्षीणदेहस्य तत् कृतं स्याद् विपोपमम् ॥

राजयक्ष्मा रोग मे शुक्र (वीर्य) और मल की रक्षा का सदैव ध्यान रखना चाहिये[1]। यह सिद्धान्त केवल राज-यक्ष्मा तक ही सीमित नही अपितु सभी प्रकार के दीर्घकालीन और क्षीण रोगियो मे उनके शुक्र और मल की रक्षा करना परमावश्यक कर्त्तव्य चिकित्सक का रहता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का बल शुक्र के अधीन रहता है क्योकि शुक्र समस्त धातुओ का अन्तिम तथा सारभूत पदार्थ है। चरक ने भी लिखा है आहार का परम धाम शुक्र होता है उसकी रक्षा करना सभी आत्मवान् पुरुपो का कर्त्तव्य है—उसके अधिक क्षय होने मे बहुत से रोग हो सकते है अथवा व्यक्ति की मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु स्वस्थ व्यक्ति को भी शुक्र-सरक्षण ब्रह्मचर्य और स्त्री-सयम के द्वारा करना चाहिये रोगी और दुर्बल के बारे मे तो उसमे शका का स्थान ही नही है[2]।

'मलायत्तं हि जीवनम्' का तात्पर्य यह है–शरीर का स्तभक होने से इसके अधीन क्षीण मनुष्य का जीवन रहता है। चरक ने लिखा है कि 'राजयक्ष्मा के रोगी मे क्षीणावस्था मे कोष्ठ-सश्रित अग्नि अन्न का जो पाक करता है उसमे अधिकाश मल बनता है और अल्प मात्रा में ओज या बल का निर्माण होता है। अर्थात् रोग की महिमा से अन्न का अधिकाश किट्ट बनता है और प्रसादभूत धातु अत्यल्प मात्रा मे निर्मित होता है। अस्तु सभी क्षीण रोगियो मे विशेषत राजयक्ष्मी मे मल की रक्षा मे चिकित्सक को तत्परता रखनी चाहिये। सर्व धातुओ के क्षय से आर्त्त रोगी मे उसका बल विट् या मल ही होता है। इस मल का रूक्ष, तीव्र या तीक्ष्ण रेचन देने से या शोधन करने से रोगी का बलक्षय होकर मृत्यु की संभावना रहती है। अस्तु राजयक्ष्मा रोग मे क्षीण रोगी को कदापि सशोधन (वमन और विरेचन) नही करना चाहिये। और यदि विवश हो तो स्निग्ध, मृदु और स्र सन औपधियो जैसे—अमलताश, मुनक्का, निशोथ, अजीर आदि से घृत + मधु + शक्कर आदि से हल्का स्र सन कराना चाहिये। अथवा गुदवर्त्ति, आस्थापन वस्ति, अनुवासन देकर कोष्ठ की शुद्धि करनी चाहिये[3]।

---

१ शुक्रायत्त बल पुमा मलायत्त हि जीवनम्। तस्माद्यत्नेन सरक्षेद्यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥

२. आहारस्य पर धाम शुक्र तद्रक्ष्यमात्मनः। क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरण वा नियच्छति ॥ (च)

३ तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्न कोष्ठसश्रितम्। मल भवति तत्प्राय कल्पते किंचिदोजसे ॥ तस्मात्पुरीष सरक्ष्यं विशेपाद्राजयक्ष्मिण। सर्वधातुक्षयार्तस्य बल तस्य हि विड्बलम् ॥ (च० चि० ८.)

राजयक्ष्मा मे पथ्य (आहार-विहार)–रोगी को विस्तर पर लेटे रह कर रोग काल मे पूर्ण विश्राम देना चाहिये। अपानवायु, मल-मूत्र-कास-छीक प्रभृति वेगो का रोकना छोड देना चाहिये। भोजन मे एक साल पुराना शालि धान्य (साधारण चावल), षष्टिक धान्य (साठी का चावल), गेहू, यव की रोटी, मूंग या अरहर की दाल, वकरी का दूध खाने के लिये देना चाहिये। दूध मे प्राय: वकरी का दूध या भैंस का दूध रोगी को देना चाहिये। गाय का दूध इस रोग में शस्त नही है। उसके स्थान पर माहिष क्षीर दिया जा सकता है। सूखे फल (मेवे) इस रोग में अधिक लाभप्रद होते हैं—जैसे पिण्ड-खजूर, मुनक्का, वादाम, चिलगोजा, अखरोट, काजू, पिस्ता आदि। तैलीय सूखे फल अधिक वल्य होते है। पका केला, पका आम, आँवला, खजूर, फालसा, नारियल भी उत्तम रहता है। स्वर्ण की अँगूठी और आभूषण धारण रोग में लाभ करता है। आँवले का हर प्रकार से चटनी, चोखा, अचार, मुरब्बा आदि बनाकर प्रचुर मात्रा में रोगी को देना चाहिये। ताडका रस या खजूर का रस भी उत्तम रहता है। प्रचुर मात्रा में उसका उपयोग यक्ष्मा-रोगी में कराया जा सकता है।

अपथ्य—अधिक जागरण, वेग-विधारण, श्रम, स्वेदन, साहसकर्म, स्त्री-रूक्ष-कटु-तिक्त और अम्ल रस का सेवन, अधिक धूप सेवन और ताम्बूल सेवन अपथ्य होता है।

यदि शोष (धातुओ का सूखना) बहुत हो तो अनेक प्रकार के मद्य, जाङ्गल पशु-पक्षियो के मांस देना चाहिए। जिस व्यक्ति ने कभी मांस न खाया हो उसके लिए तो मास पर्याप्त धातुवर्धक होते है, परन्तु ऐसे व्यक्ति मे जिनमे सदा मास खाने का वृत्त हो, फिर भी क्षय ग्रस्त हो जायें तो उनके शोष मे किस प्रकार के मास सेवन की व्यवस्था करनी चाहिए? इसके लिए शास्त्र में उपदेश मास खाने वाले पशु-पक्षियो के मास देने का है। ये मास विशेष रूप से बृंहण या धातुओ के वर्धन करने वाले होते है।[२]

मांसाहार–"सर्वदा सर्वभावाना सामान्यं वृद्धिकारणम्" समान द्रव्य समान का वर्धक होता है 'अस्तु मास मासेन वर्द्धते।' मास का सेवन शरीरगत मास धातु की

२. शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गादय. शुभा। मद्यानि जाङ्गला. पक्षिमृगा. शस्ता विशुष्यताम्॥ शुष्यता क्षीणमासाना कल्पितानि विधानवित्। दद्यात् क्रव्यादमासानि बृंहणानि विशेषतः॥ मासेनोपचिताङ्गाना मासं मासकरं परम्। तीक्ष्णोष्णलाघवाच् शस्त विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥ (च० चि० ८)

वृद्धि करता है। राजयक्ष्मा रोग मे मास धातु का वहुत क्षय हो जाता है, अस्तु मास सेवन से ही उसकी पूर्ति सभव रहती है। एतदथ यक्ष्मा के रोगियो मे मास का वहुलता से सेवन कराने का विधान शास्त्र मे पाया जाता है।

चरक तथा सुश्रुत सहिता मे ऐसे वहुत प्रकार के जीवो के मास सेवन कराने का विधान वतलाया गया है जिनका सामान्य भोजन के रूप मे व्यवहार नही पाया जाता है। इन मासो के प्रति अनभ्यास के कारण रोगी को घृणा हो सकती है। अस्तु इस प्रकार के अनिष्ट (जो रोगी को अभीष्ट नही है) मासो का प्रयोग रोगी से छुपाकर दूसरे नामो से जो खाद्य मासो मे आते है वढिया स्वादिष्ट बनाकर मनोज्ञ, मृदु, रस्सेदार और सुगंधित करके देना चाहिये ताकि उनको रोगी विना किसी प्रकार की घृणा के भाव से सेवन कर सके।[1]

अन्न-पान मे प्रयुक्त होनेवाले मासो के आठ वर्ग है प्रसह, भूशय (जमीन में विल वनाकर रहने वाले), आनूप, वारिज (जल मे पैदा होनेवाले) वारिचर (जल मे चलनेवाले) ये विशेप रूप से वृंहण होते हैं इनका शोप मे वाताधिक्य होने पर प्रयोग करे। प्रतुद (चोच से ठोग मारने वाले पक्षी) विष्किर (पैर से विखेर कर खानेवाले पक्षी)।

तथा धन्वज (जाङ्गल पशु-पक्षी) ये लघु होते है, अस्तु शोप मे कफ-पित्त की अधिकता मे इनका व्यवहार करे।[2]

शोप मे वर्ही (मयूर) का मास दे और वर्ही का मास कह के गीध, उलूक और चाप (वाज) का मास स्वादिष्ट वनाकर रोगी को खाने को दे। तीतर के नाम से काक का मास, वर्मि (एक प्रकार की लम्बी जल की मछली), घृत मे भुने केचुवे का मास, खरगोश के मास के नाम से लोपाक (मृग विशेप), मोटे न्योले, विल्ली, शृगाल के वच्चो के मास दे। हिरण के मास के नाम से सिंह, व्याघ्र, तरक्षु (भेडिया), चीते आदि मास खाने वाले पशुओ का मास देना चाहिए। हाथी, गैंडा, घोडे का मास भैसे के मास के नाम से दे। इनमे मयूर, तीतर, मुर्गा, हस, सूअर, ऊँट, गदहा, गो, माहिष के मास परं मासकर माने जाते हैं।

सुश्रुत ने निम्नलिखित पशु-पक्षियो के मासो का नाम शोप रोग मे व्यवहार के लिए लिखा है —काक, उल्लू, न्योला, बिडाल, गण्डूपद (केचुवा) व्याल,

---

१. योनिरष्टविधा प्रोक्ता मासानामन्नपानिके। ता परीक्ष्य भिषग्विद्वान् दद्यान्मासानि शोपिणे ॥

२ विधिवत् सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च। अस्रवन्ति सुगन्धीनि मासान्येतानि भक्षयेत् ॥

बिल में रहने वाले चूहे, गृध्र, गदहा, ऊँट, हाथी , घोड़ा, खच्चर इन मासो को सर्षप तैल में भूनकर सेंधा नमक मिलाकर देना चाहिए।

आज के युग में जलचर और जलजात सामुद्रिक मछलियो के यकृत तैल का प्रयोग बहुलता से हो रहा है। शाक और कार्क मछली का यकृत अधिकतर व्यवहार में आता है इन प्रयोगो से भी धातुओ का वर्धन होता है।

मद्यसेवन-(Medicated wines) क्षयरोग की चिकित्सा मे मद्य तथा माम का सेवन कराने का बडा माहात्म्य बतलाया है। मास के भोजन का ऊपर मे उल्लेख हो चुका है, अब मद्य की विशेषतायें बतलाई जा रही है। मद्य कई प्रकार के निर्माण, द्रव्य एव अल्कोहल (Alcohol) की प्रतिशत मात्रा के ऊपर हो सकते हैं जैसे प्रसन्ना, वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव, मध्वासव आदि। आधुनिक युग में भी मद्य कई प्रकार के पाये जाते हैं। जैसे—बीयर, शैम्पेन, ह्विस्की, रम, जिन, ओडका, ब्राण्डी, प्रभृति।

मांसाहार में सर्वोत्तम अनुपान मद्य का माना जाता है। अस्तु मांससेवन के साथ ही साथ मद्य-पान का भी विधान है। मद्य में कई विशिष्ट गुण होते है—जैसे वह तीक्ष्ण, उष्ण, विशद और सूक्ष्म गुण वाला होता है फलत वह स्रोतो के द्वारो को जो यक्ष्मा रोग में अवरुद्ध हो जाते हैं मथकर खोल देता है। जिससे रस-रक्तादि सप्त धातुवों का पोषण होने लगता है और इनके पोषण के परिणाम स्वरूप रोगी में धातुओ की वृद्धि प्रारंभ हो जाती है और क्षय या शोष शीघ्रता से दूर हो जाता है। अस्तु चरकाचार्य ने लिखा है "नियमित रूप से मांस का सेवन करते हुए और माध्वीक (मद्य) को पीते हुए स्थिर चित्त वाले संयमशील मनुष्य के शरीर में शोष रोग चिरकाल तक नही रहता है।" अर्थात् शीघ्र ठीक हो जाता है। इस प्रकार मद्य का अनुपान करते हुए मास के सेवन मे रोगराज के दूर करने का विधान प्राचीन ग्रंथो में पाया जाता है।[1]

बहिर्मार्जन या बहिः स्पर्शन (अवगाहन)—राजयक्ष्मा रोग में ज्वर एवं दाह के शमन के लिये जीर्ण ज्वर में कहे गये विधानो में जो क्रिया विधि बतलाई गई है उनका सम्पूर्णतया प्रयोग करना चाहिये।

---

१ मांसमेवाश्नत शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च। नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥ प्रसन्ना वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान् मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ॥ मद्य तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यात्सूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम्। प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्त धातव. ॥ पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोष. प्रशाम्यति। (च)

ज्वर और दाह के शमन के लिए दूसरा साधन अवगाहन का है। तैल, दूध (बकरी का) अथवा जल से भरे कोष्ठ (Tub) मे डुबकी लगाकर स्नान करना अवगाहन कहलाता है। इस क्रिया से स्रोतसो के बद हुए मुख खुल जाते है। रोगी के बल की वृद्धि होती है, तथा वह पुष्ट होता है। तैल से भरी टकी मे नहाये और तैल का सुखपूर्वक हल्के हाथो से शरीर का मर्दन करे। औषधि सिद्ध तैल जैसे लाक्षादि तैल, चन्दन बला-लाक्षादि या वासा-चन्दनादि तैल, उत्तम रहते है। यदि ये सुलभ न हो तो जितने भी खाद्य तैल मिल सकते है, उनका मिश्रण बनाकर टकी मे भर कर अवगाहन करना चाहिये। तैल के इस क्रिया को बहि स्पर्शन या बहि मार्जन कहते है।[1] बहिमर्जिन के लिये यह विधि सुलभ न हो तो **जीवन्त्यादि उत्सादन**—जीवन्ती, शतावरी, मजिष्ठा, अश्वगध, पुनर्नवा मूल, अपामार्ग, जया, मुलैठी, बला, विदारीकद, सर्षप, कूठ, चावल, अतसी के बीज, उडद, तिल, किण्व समभाग में लेकर चूर्ण करके इनसे तीन गुना जौ का आटा लेकर दही मे पीसकर थोडा मधु मिलाकर पूरे बदन पर उबटन जैसे लगाना चाहिये। इससे रोगी पुष्ट होता है उसके बल और वर्ण की वृद्धि होती है। **स्नान**—पीले सरसो के कल्क तथा जीवनीय गण की औषधियो से शृतजल मे सुगधित द्रव्यो को छोडकर इस जल को किसी बडे बर्तन म भरकर उसमे भली प्रकार स्नान कराना भी इसी प्रकार लाभप्रद होता है। इस जल को ऋतु के अनुसार शीत ऋतुओ मे उष्ण तथा उष्ण ऋतुवो मे शीतल कर लेना चाहिये।

इन क्रियायो से हल्का व्यायाम, निष्क्रिय परिश्रम (Passive exercise) हो जाती है, त्वचागत ज्वर का शमन हो जाता है, शरीर का उत्तम प्रोच्छण या प्रमार्जन (Sponging) हो जाता है। तैलो के अभ्यग से सूर्य-प्रकाश की उपस्थिति मे पर्याप्त मात्रा मे जीवतिक्तियो (Vit A. & D) का निर्माण और शोपण होने लगता है फलत शरीर पुष्ट होता है। अस्तु १ मास का सेवन २. मद्य का सेवन ३ बहिर्मार्जन ४ तथा वेगो के अविधारण (अपान, मल, मूत्र, कास, छीक आदि वेगो का न रोकना) से राजयक्ष्मा रोग दूर होता है।[2]

---

१ बहि स्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽत पर विधिः। स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेपु स्वभ्यक्त-, मवगाहयेत्। स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च। (च. चि ८)

२ वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविन.।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम्॥

अजा या छाग सेवन—अजा या बकरी मे क्षय रोग के दूर करने की अद्भुत क्षमता है। वास्तव मे इस जीव में कदापि क्षय रोग नही होता हैं। ये राजयक्ष्मा रोग के लिये सदैव सक्षम (Resistent) रहती है। एतदर्थ ही इनके दूध, घृत, मास, मूत्र तथा मल का उपयोग क्षय रोग मे अमोघ फल वाला माना जाता हैं। इमीलिये लिखा है बकरे का मास, बकरी का दूध, बकरी का घी शक्कर के साथ सेवन करना, बकरियो के झुण्ड मे चारपाई डालकर सोना और बकरियो के झुण्ड मे ही रहना यक्ष्मा रोग के नाश के लिये अत्यन्त हितकारी है।[1]

अजा पंचक घृत--बकरी की मीगी ½ सेर, बकरी का मूत्र १ सेर, बकरी का दूध १ सेर, बकरी का दही १ सेर और बकरी का घृत १ सेर। घृत पाक-विधि से मद आँच पर पका कर उसमे यवक्षार दो छटाँक मिलाकर रख देना चाहिये। मात्रा—१–२ तोले प्रतिदिन। छागलाद्य घृत का भी प्रयोग होता है।

भेपज—१ मास खाने वाले पशु-पक्षियो के मासरस से सिद्ध घृत मधु के साथ उपयोग।

२ दसगुने दूध मे सिद्ध किये घी का उपयोग।

३ मधुर द्रव्य, दशमूल कषाय, क्षीर, मासरस से सिद्ध घृत परम शोपहर होता है।[2]

४ कबूतर, वानर, बकरा और हरिण इनके शुष्क मास का पृथक् पृथक् चूर्ण बकरी के दूध के साथ पीने से क्षय रोग नष्ट होता है।[3]

५ पिप्पली, यव, कुलथी, सोठ, दाडिम बीज, आमलकी चूर्ण इनसे युक्त पकाया हुआ बकरी के मासरस का घृत के साथ सेवन राजयक्ष्मा मे लाभप्रद होता है। इसके सेवन से पीनसादि षड् लक्षणो से युक्त यक्ष्मा ठीक हो जाता है।

६. मास वटक उपर्युक्त विधि से संस्कृत (औषधियुक्त) वटक भी सेवन के लिये दिया जा सकता है।

---

१ छागमासं पयश्छाग छाग सर्पि सशर्करम्।
छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्॥

२ मासादमासस्वरसे सिद्ध सर्पि प्रयोजयेत्।
सक्षौद्रं पयसा सिद्ध सर्पिर्दशगुणेन वा॥
सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायकैः।
क्षीरमासरसोपेत घृत शोपहरं परम्॥ (च चि ८)

३ पारावतकपिच्छागकुरङ्गाणां पृथक् पृथक्।
मासचूर्णमजाक्षीरैः पीतं क्षयहर परम्॥ (भै र)

७ नागबला मूल चूर्ण प्रत्यह १ तोले तक घी और मधु के साथ मिलाकर सेवन। ८. काकजंघा मूल के चूर्ण का बकरी के दूध के साथ सेवन। आचार्य सुश्रुत ने चार औषधियो का प्रयोग शोषहर बतलाया है। ९. रसोन (लहसुन) १० नाग बला ११ पिप्पली १२ शिलाजीत इनका प्रयोग पृथक् पृथक् दूध के अनुपान से करने को बतलाया है।[1]

भेषज योग—१ दशमूलादि कषाय—दशमूल (बिल्व-अरणी-सोना-पाठा-पाढल-गम्भारी-शालपर्णी-पृश्निपर्णी-कटकारी-बडी कटेरी-गोखरू)-बला-रास्ना, पुष्करमूल, देवदारु और शुण्ठी का समभाग मे लिया कषाय पार्श्व-कंधे और शिर के शूल को तथा कास मे लाभप्रद।

क्वाथयोग–२. अश्वगन्धादि कषाय—अश्वगंध-अमृता-शतावरी-नागबला-पुष्करमूल-अडूसा अतीस तथा दशमूल का सम प्रमाण मे लेकर बनाये कषाय का सेवन। ३ **त्रयोदशाङ्ग कषाय** धनिया-पिप्पली-शुण्ठी तथा दशमूल का कषाय पार्श्वशूल, ज्वर, श्वास और पीनसादि को नष्ट करता है। (च० द०)

चूर्ण योग

लवङ्गादि चूर्ण—लवङ्ग-शीतल चीनी-खस-श्वेत चन्दन-नील कमल-श्वेत जीरा-इलायची-पिप्पली-अगुरु-भृंगराज-नागकेसर-शुण्ठी-कालीमिर्च-जटामासी-नागर मोथा-अनन्त मूल-जायफल-वंश लोचन प्रत्येक का एक एक तोला, मिश्री ८ तोले। महीन चूर्ण करके शीशी मे रखले। यह चूर्ण अग्निवर्धक, रोचक, वृष्य और त्रिदोषघ्न होता है। **मात्रा** ३ माशे। **अनुपान** बकरी के दूध से।

कर्पूराद्य चूर्ण—शुद्ध कपूर, दाल चीनी, शीतल चीनी, जायफल, जावित्री प्रत्येक एक तोला, लवङ्ग चूर्ण २ तोले, जटामासी चूर्ण ३ तोले, कालीमिर्च का चूर्ण ४ तोले, छोटी पिप्पली ५ तोले और सोठ का चूर्ण ५ तोले। इन सबा का महीन चूर्ण बनाकर सब के बराबर अर्थात् २५ तोले मिश्री मिलाकर चूर्ण को शीशी मे भर कर रख ले। यह चूर्ण हृद्य है, हस्त-पादादि दाह, कास, स्वरावसाद, जीर्ण प्रतिश्याय, श्वास-कास और क्षय मे लाभप्रद है। **मात्रा** ३ माशे। **अनुपान** अन्न-पान के साथ मिला कर सेवन।

---

१. रसोनयोग विधिवत् क्षयार्त्त क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम्।
सेवेत वा मागधिका विधान तथोपयोगं जतुनोऽश्मजस्य॥
(सु ३ ४१)

सितोपलादि चूर्ण—मिश्री (सिता) १६ भाग, वंश लोचन (तुगाक्षीरी) ८ भाग, पिप्पली ४ भाग, इलायची २ भाग तथा दाल चीनी १ भाग। सबका मिश्रित चूर्ण। इस योग के नाम से ही नुस्खा याद हो जाता है, सि से सिता-मिश्री, तो से तुगाक्षीरी या वंशलोचन, प से पिप्पली, ला से लाची, दि से दाल चीनी। क्रमशः नीचे से ऊपर वाली औषधियों को द्विगुणित करता चले तो नुस्खा तैयार हो जाता है। मात्रा १—३ माशे। अनुपान मधु। कास, श्वास, दौर्बल्य तथा क्षय में लाभप्रद। इस चूर्ण को थोडा मुख में रखकर चूसने के लिए भी दिया जा सकता है।

तालीशाद्य चूर्ण या मोदक—तालीशपत्र १ भाग, काली मिर्च २ भाग, सोंठ ३ भाग, पिप्पली ४ भाग, वंशलोचन ५ भाग, दालचीनी $\frac{1}{2}$ भाग, छोटी इलायची $\frac{1}{2}$ भाग, मिश्री ३२ भाग पृथक्-पृथक् कूटकर महीन चूर्ण। श्वास-कास-अरुचि-अग्निमाद्य और क्षयरोग में लाभप्रद। मात्रा १ माशे से ६ माशे। अनुपान मधु।

इस चूर्ण में काकडासीगी-अर्जुन-असगंध-नागवला-पुष्करमूल-हरीतकी-गुडूची का मिश्रण कर दिया जाय तो क्षय रोग में विशेष लाभप्रद होता है। इस योग को शृङ्ग्यर्जुनादि चूर्ण कहा जाता है।

चौसठ प्रहरी-पिप्पली—पिप्पली को कूट कर चौसठ पहर अर्थात् १९२ घटे तक खरल करे। मात्रा १ माशा। अनुपान घृत-मधु।

वासावलेह बृहत्—वासावलेह नाम से कई योग पाये जाते हैं—यहाँ एक बृहत् वासावलेह का योग दिया जा रहा है। वासा पंचाङ्ग ५ सेर लेकर एक मिट्टी के भाण्ड में २ द्रोण (२५$\frac{1}{2}$ सेर ८ तोले) जल लेकर अग्नि पर चढा दे। चतुर्थांश जल शेष रहने पर काढे को उतार ले। फिर उसमें ५ सेर चीनी छोड़-कर पुन अग्नि पर चढा कर पाक करे। लेह की तरह उस चाशनी के होने पर उसमें निम्न लिखित औषधि का महीन चूर्ण डालकर कलछी से चलाते हुए अवलेह (चटनी) को बनावे—सोंठ-मरिच-पीपल (छोटी)—दालचीनी-छोटी इलायची—नागकेसर-कायफल-मोथा-मीठाकूठ—कबीला-श्वेतजीरा-कालाजीरा—त्रिवृत् मूल-पिपरा मूल-चव्य-कुटकी-हरड़-तालीशपत्र और धनिया प्रत्येक २–२ तोला। फिर ठढा होने पर उसमें मधु ३२ तोले मिलाकर रखले। यह अवलेह कास-श्वास-स्वरावसाद-उर. क्षत-हृद्रोग-राजयक्ष्मा में लाभप्रद है। मात्रा १ से २ तोले। अनुपान उष्ण जल।

च्यवन प्राश—दशमूल की औषधियाँ प्रत्येक चार तोला, छोटी पिप्पली, वला, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, काकडासीगी, भुइ आँवला, द्राक्षा, जीवन्ती, पुष्करमूल, अगर, हरड गुडूची, कचूर, मोथा, पुनर्नवा, पचाङ्ग, छोटी इलायची, नीलकमल, लाल चदन, श्वेत चदन, विदारी कद, अडूसे की जड, काकनासा तथा अष्टवर्ग (ऋद्धि-वृद्धि-जीवक-ऋषभक-काकोली क्षीर काकोली-मेदा-महामेदा कद) अष्टवर्ग के अभाव मे शतावरी, विदारी, अश्वगध तथा वाराहीकद मे से प्रत्येक ४ तोला लेकर जौ कुट करे। एक वडे कलईदार वर्त्तन मे डालकर उसमे १२ सेर १२ छटाँक ४ तोले जल और ५०० पके ताजा आँवले (६। सेर) को जल से धोकर कपडे मे वाँधकर पोटली वनाकर डाले। फिर अग्नि पर चढाकर पाक करे। जव चौथा हिस्सा जल शेष रहे तव वर्त्तन को नीचे उतार ठडा करे और आँवले को पृथक् करे और क्वाथ को कपडे से छान कर बर्त्तन मे रख ले। आँवले की गुठली को अलग करके उसको एक अच्छे कलईदार वर्त्तन के मुँह पर पाट (सन) का कपडा वाँधकर उस पर थोडे-थोडे आँवले रखकर हाथ से दवाकर मसल कर छान ले। पीछे उसमे २८ तोले घी (गाय का) डालकर मदी आँच पर भूने और लकडी के हत्थे से हिलाता रहे। जव आँवलो से घी अलग होने लगे और गाढा हो जाय तो उतार कर रख दे। फिर उसमे शेष रखा हुआ क्वाथ और उसमे ७ से १३ छटाँक देशी खाँड या चीनी डालकर पकावे। अवलेह जैसी गाढी हो जाय उतार कर ठडा करे। फिर उसमे २४ तोला शहद, छोटी पीपल ८ तोला, वशलोचन १६ तोला, दालचीनी ४ तोला, छोटी इलायची ४ तोला, तेजपात ४ तोला, नागकेसर ४ तोला इनका कपड़छन चूर्ण मिलाकर चीनी मिट्टी के वर्त्तन मे भर कर रख दे। मात्रा व्यक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है—जिस मात्रा के खाने से उस व्यक्ति के भूख मे कमी न हो वही उसकी मात्रा है। सामान्यतया २ तोला दूध से।

गुण—यह एक पौष्टिक रसायन है। इसके सेवन से खाँसी, पुराना श्वासरोग, राजयक्ष्मा, हृद्रोग, स्वरभग, स्मरण शक्ति की कमी आदि दूर होती है।

द्राक्षारिष्ट—मुनक्का २½ सेर, जल २५½ सेर २८ तोले मे क्वथित करके चतुर्थांश शेष करे फिर इस क्वाथ मे ठंडा हो जाने पर गुड पुराना १० सेर लेकर हाथो से फोडकर मिलावे। फिर उसमे दाल चीनी-छोटी इलायची-तेजपत्र-नाग-केशर-प्रियङ्गु-कालीमिर्च-छोटी पीपल और वायविडङ्ग प्रत्येक का ४ तोले प्रक्षेप छोडकर घृतलिप्त पात्र मे रखकर संधान करे। इसमे धाय का फूल ३२ तोले भी मिला लेना चाहिये। १ मास के अनन्तर सधान को खोलकर छानकर

बोतलो मैं भरकर रख लेना चाहिये। मात्रा २½ तोले समान जल मिलाकर भोजन के उपरान्त।

इस अरिष्ट के सेवन से मल का शोधन होता है, रोगी का बल बढ़ता है, अग्नि जागृत होती है। क्षय, कास, उर क्षत मे लाभप्रद होता है।

यक्ष्मारि लौह—मधु १ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म १ रत्ती, विडङ्ग चूर्ण १ माशा, शुद्ध शिलाजीत १ माशा, लौह भस्म १ रत्ती, हरीतकी चूर्ण १ माशा और गोघृत ½ तोला। इस योग का सेवन उग्र यक्ष्मा में भी लाभप्रद होता है। रोगी को दूध पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये और पथ्यकर आहार-विहार से रहना चाहिये। इसी योग का दूसरा नाम ताप्यादि योग है।

शिलाजत्वादि लौह—शुद्ध शिलाजीत, मधुयष्टि चूर्ण (या सत्त्व), शुठी, मरिच, छोटी पीपल तथा सुवर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक एक-एक तोला। इन सबके बराबर अर्थात् ६ तोला लौह भस्म मिलाकर महीन पीसकर शीशी मे भर लेवे। मात्रा २-४ रत्ती। सहपान घी और मधु। अनुपान दूध।

शृंगाराभ्र—अभ्रक भस्म ८ तोले, कर्पूर ४ माशे, जावित्री-नेत्रवाला-गज-पीपल-तेजपत्र-लवङ्ग-जटामासी-तालीशपत्र-दालचीनी-नागकेसर-कूठ-धाय के फूल प्रत्येक चार-चार माशे, हरड़-बहेरा-आँवला-शुण्ठी-मरिच-पिप्पली प्रत्येक दो-दो माशे, छोटी इलायची ८ माशे, जायफल चूर्ण ८ माशे, शुद्ध गधक ८ माशे और शुद्ध पारद ४ माशे। प्रथम पारद और गधक की कज्जली बनाकर उसमें शेष चूर्णो को मिलाकर-जल के साथ खरल करके चार-चार रत्ती की गोलियाँ बना लेनी चाहिये। मात्रा १ से २ गोली अदरक और पान के रस और मधु से। यह योग श्वास-कास तथा यक्ष्मा मे लाभप्रद है।

सुवर्ण भस्म के योग से वृहत् शृ गाराभ्रनामक योग बनता है।

कुमुदेश्वर रस—स्वर्णभस्म-रससिन्दूर-गधक-मोती भस्म-रजत भस्म-स्वर्ण-माक्षिक भस्म-शुद्ध पारद-शुद्ध टकण मिलाकर कांजी में पीसकर गोला बनावे। उसपर कपडमिट्टी करके लवण यत्र में पाक करे। चूर्ण करके २ रत्ती की मात्रा में घी और मरिच के चूर्ण के साथ चाटे।

वृहत् काञ्चनाभ्र रस—स्वर्ण भस्म, रस सिन्दूर, मुक्ताभस्म, लौह भस्म, अभ्र भस्म, विद्रुम (प्रवाल भस्म), वैक्रान्त भस्म, रजत भस्म, ताम्र भस्म, वंगभस्म, कस्तूरी, लवङ्ग, जावित्री, ऐलवालुक प्रत्येक एक-एक तोला लेकर भली प्रकार से महीन पीस ले। फिर घृत कुमारी के मज्जा, भृ गराज स्वरस और बकरी के दूध से पृथक्-पृथक् तीन भावना देकर २ रत्ती की गोलियाँ बनाले। यह एक

उत्तम लाभप्रद योग है। क्षयज कण्ठमाला मे तथा मधुमेह के साथ पाये जाने वाले क्षय रोग मे विशेष लाभप्रद होता है।

महामृगाङ्क रस—मृगाङ्क रस राज-यक्ष्मा मे एक स्वनामख्यात योग है। इसके चार पाठ मिलते है—१. स्वल्पमृगाङ्क २ मृगाङ्क ३ राजमृगाङ्क (सताम्र भस्म) तथा ४ महामृगाङ्क रस इस मे **राजमृगाङ्क** नामक योग का पाठ यहाँ दिया जा रहा है :—

पारद की भस्म अथवा रस सिंदूर ३ भाग, स्वर्णभस्म-ताम्रभस्म एक-एक तोला, शुद्ध मन शिला, शुद्ध हरताल शुद्ध गधक प्रत्येक २ तोले। प्रथम पारद गधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यो को मिलाकर महीन चूर्ण बनावे फिर बडी-बडी कौडियो मे थोडा-थोडा भर कौडियो के मुख को शुद्ध टकण और बकरी के दूध एक मे पिसे हुए से बदकर के सुखाले। फिर शराव-सम्पुट मे बद कर गजपुट मे पुट देवे। पुट के अनन्तर शीतल हो जाने पर मय कौडियो के पीस कर महीन चूर्ण बनाकर शीशी मे भर ले। इस राजमृगाङ्क का सेवन १ से ४ रत्ती की मात्रा मे। १० पीपल और २१ काली मिर्च के चूर्ण, घी ½ तो, मधु १ तोले के साथ सेवन करना चाहिये। यह सभी प्रकार के क्षयरोग मे अमोघ औषधि है।

महामृगाङ्क रस मे सुवर्ण भस्म १ भाग, रस सिन्दूर २ भाग, मुक्ता भस्म तीन भाग, शुद्ध गधक ४ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग, रजत भस्म ६ भाग, प्रवाल भस्म ७ भाग, शुद्ध टकण २ भाग, हीरे का भस्म सम्पूर्ण का ६४ भाग (हीरा भस्म के अभाव मे वैक्रान्त भस्म छोडने का विधान है) के योग से बनाया जाता है।

चतुर्मुख रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, लौह भस्म, अभ्र भस्म प्रत्येक का एक भाग और सुवर्ण भस्म ¼ भाग। प्रथम पारद और गधक की कज्जली करके उसमे अन्य भस्मे मिलावे। पीछे उसमे ग्वार पाठा (कुमारी), ताजा गिलोय, त्रिफला, नागर मोथा, ब्राह्मी, जटामासी, लौग, पुनर्नवा और चित्रक मूल के यथालभ्य स्वरस या क्वाथ मे एक-एक दिन तक मर्दन करके एक गोला बनाकर धूपमे सुखावे। जब गोला सूख जाय तो उस पर एरण्ड की हरी पत्ती लपेट कर सूत से बाँधले। फिर उसको धान्य की कोठरी में घुसेड कर तीन दिनो तक रहने दे। तीन दिन के बाद उसको निकाल कर एरण्डपत्र को हटाकर पुन कई दिनो तक लगातार घोट कर शीशी मे भर कर रखले। **मात्रा** १-२ रत्ती **अनुपान**—त्रिफला चूर्ण १ माशा और मधु १ तोला मे मिलाकर सुबह शाम सेवन के लिये दे।

यह योग बहुत से रोगो मे लाभप्रद होता है। राज यक्ष्मा-पाण्डुरोग-वात-रोग-अपस्मार और उन्माद मे विशेष हितकारी पाया गया है।

मुक्ता पंचामृत—मुक्ता भस्म ८ भाग, मूगा भस्म ४ भाग, हिरन खुरी-वंग भस्म २ भाग, शख भस्म १ भाग, शुक्ति (सीप) भस्म १ भाग। सबको एकत्र करके घोट कर ईख के रस मे भावना देकर गोला बनावे फिर उसको शराव सम्पुट में बंद करके लघु पुट दे। इसी प्रकार गोदुग्ध, विदारी कद, घृत कुमारी, शतावरी, तुलसी या निर्गुण्डी, हंसपदी या लाल लज्जालु के स्वरस या क्वाथ मे पृथक् पृथक् भावना देकर लघुपुट दे। मात्रा ४ रत्ती। सहपान पिप्पली चूर्ण १ माशा के साथ। अनुपान बहुत दिनो की व्याई गाय का दूध। यह योग जीर्ण ज्वर और यक्ष्मा मे लाभप्रद पाया जाता है। इस योग से खटिक (Calcium) की कमी पूरी होकर खटिकाभरण (Calcification) मे सहायता मिलती है।

अमृतप्राश घृत—द्रव्य एव निर्माणविधि—जीवक, ऋषभक, विदारीकंद, मोठ, कचूर, सरिवन, पिठवन, मुद्गपर्णी, माषपर्णी,मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा (गदहपुर्ना),मुलैठी, केवाछ, शतावरी, ऋद्धि, फालसा, भारगी मूल, मुनक्का, छोटी गोखरू, छोटी पीपल, सिघाडा, भुंई आँवला, दूधिया, वला, गुलशकरी, उन्नाव, अखरोट, पिण्ड खजूर, वादाम, पिस्ता, चिलगोजा, खुरमानी, चिरौंजी प्रत्येक एक एक तोला लेकर कपडछान चूर्ण करके फिर जल से पास कर कल्क बनावे। उसमे ताजे आँवले का रस ६४ तोला, ताजा शतावर का रस ६४ तोला, विदारीकद स्वरस ६४ तोला, वकरे का मास ६४ तोला, वकरी का दूध ६४ तोला, गाय का घी १२८ तोला। घृतपाक की विधि से घृत तैयार करे। घृत के सिद्ध हो जाने पर उसको छान कर उसमें ३२ तोले शहद, मिश्री ६४ तोले, तेजपात-छोटी इलायची-नाग केसर-दालचीनी और काली मिर्च इनका चूर्ण दो-दो तोला, वंशलोचन चूर्ण १६ तोले मिला कर रख ले। मात्रा ½ से १ तोला। अनुपान दूध। यह एक उत्तम पौष्टिक रसायन है। राजयक्ष्मा और वालको के सूखा रोग (वाल शोप) मे विशेष हितकारी है। जो रोगी मास वाली दवा का सेवन न करता हो उसको अजामास के स्थान पर उडद का क्वाथ डाल कर घृत को पकाना चाहिये।

महाचंदनादि तैल—स्वल्प चंदनादि, चदनादि तथा महा चंदनादि तैल नाम से तीन योग भैपज्यरत्नावली मे पठित है। यहां पर महाचदनादि तैल का योग दिया जा रहा है।

चदन, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी तथा बडी कटेरी, गोखरू, मुद्‌गपर्णी, विदारी कद, असगध, मापपर्णी, आँवला, शिरीप की छाल, पद्‌माख, खस, सरल काष्ठ, नाग केसर, प्रसारणी की जड अथवा प चाङ्ग, मूर्वामूल, प्रियङ्गु नील कमल, सुगध वाला, बला और अतिवला की जड, कमल कंद, कमल की डडी प्रत्येक ८ तोले श्वेत पुष्प वाली वला का पंचाग २॥ सेर लेकर २५॥ सेर ८ तोले जल मे छोड कर वडे भाण्ड मे रखकर अग्नि पर चढावे और चतुर्थांश शेष क्वाथ बनावे। फिर उसमे वकरी का दूध, शतावर का स्वरस, लाक्षा का रस, काजी और दही का पानी प्रत्येक ३ सेर १६ तोले, हरिण-बकरी-खरगोश के मास का चतुर्गुण जल मे पकाया काढा १० सेर डाले। अब मूर्छित तिल तैल ३ सेर १६ तोले लेकर उसमे इस काढे को डाल कर तथा निम्नलिखित द्रव्यो का कल्क छोड कर मद आँच पर पका कर तैल को सिद्‌ध करे। कल्क द्रव्य—श्वेत चदन, अगुरु, शीतल चोनी, व्याघ्रनखी, शिलारस, नागकेसर, तेजपत्र, दालचीनी, कमलमूल, हल्दी, दारु हल्दी, श्वेत अनन्तमूल, काला अनन्तमूल, लाल कमल, तगर, मीठा कूठ, त्रिफला, फालसे की छाल, मूर्वा, गठिवन, नालुका, देवदारु, सरल काष्ठ, पद्‌म-काष्ठ, धायके फूल, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, रसाजन, मोथा, नेत्रवाला, वच, मजीठ, लोध, सौंफ, जीवनीय गणकी ओपधियाँ, प्रियंगु, शटी, एला, कुकुम (केशर), खट्टाशी, कमल केसर, रास्ना, जावित्री, सोठ और धनिया प्रत्येक २ तोले। तैल के सिद्ध हो जाने पर नीचे उतार कर छान कर उसमे सुगधित द्रव्य, कस्तूरी, कपूर और केशर मिलाकर रख लेना चाहिये। इस तैल का अभ्यग, जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, उर क्षत तथा धातुक्षीण रोगियो मे पुष्टिकर होता है।

चदनवलालाक्षादि तैल—चदन, नागवलामूल, लाख और लामज्जक प्रत्येक एक सेर, जल १६ सेर को अग्नि पर चढाकर चतुर्थांश शेप क्वाथ बनाले। इस क्वाथ मे निम्नलिखित कल्क और ४ सेर दूध और २ सेर तिल तैल सिद्ध करले। कल्क द्रव्य—सफेद चदन, खस, मुलैठी, सोया, कुटकी, देवदारु, हल्दी, कूठ, मजीठ, अगर, नेत्रवाला, असगध, खिरेटी, दारु हल्दी, मूर्वा, मोथा, मूली, इलायची, दाल चीनी, नागकेसर, रास्ना, लाख, अजमोद, चम्पक, शिलारस, सारिवा, बिडलवण और सेधा नमक प्रत्येक समान भाग मे कुल मिलाकर आधा सेर।

इस तेल के अभ्यग से जीर्ण ज्वर, रक्तपित्त, यक्ष्मा, दौर्बल्य, श्वास, कासादि रोग दूर होते है। सभी धातुवो की वृद्धि होती है।

बादाम का तेल (रोगन बादाम)—श्वास, कास तथा राजयक्ष्मा मे बादाम का प्रयोग बडा उत्तम माना गया है। इसके सेवन के दो प्रकार हैं—

१ हलुवा बनाकर—बादाम ११ दाने, इलायची ११ दाने, मरीच ७ दाने। पीसकर घी २ तोले मे भूनकर मिश्री २ तोले मिलाकर दूध से सेवन करना। यह योग पुरानी खाँसी, जुकाम, श्वास रोग में बड़ा लाभप्रद मिला है। आवश्यकतानुसार एक या दो बार दिन में लिया जा सकता है।

२ तैल रूप में सेवन—बढ़िया रोगन बादाम का चाय वाली चम्मच से १-२ चम्मच गर्म दूध मे मिला कर पीना। निरामिष आहार वालों मे जिनको मास से परहेज है, इस तैल का प्रयोग पर्याप्त बृंहण करता है। काडलिवर आयल के प्रतिनिधि रूप मे व्यवहृत हो सकता है।

तेरहवाँ अध्याय

कास रोग-प्रतिषेध

प्रावेशिक—कास रोग के पाँच भेद बतलाये हैं। जैसे वातज, पित्तज, श्लेष्मज, क्षतज और क्षयज। उनमें प्रारंभिक तीन प्रकार के सुखसाध्य और शेष दो कृच्छ्र साध्य होते हैं। अथवा यदि रोगी बहुत क्षीण हो तो असाध्य हो जाते हैं। जराकास वृद्धावस्था मे होने वाला एक प्रकार का दीर्घकालीन कास भी याप्य ही होता है।[1] सम्यक् उपचार न होने पर सभी का अंतिम परिणाम क्षयज कास या क्षय रोग होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो कास के दो-सूखी खाँसी या गीली खाँसी भेद से अथवा तीन प्रकार प्रधानतया मिलते हैं। १ शुष्क कास या वातिक कास (सूखी खाँसी) तथा २ श्लैष्मिक कास (गीली खाँसी) तथा ३ पैत्तिक कास (खूनी खाँसी)। खूनी खाँसी के वर्ग मे ही क्षतज कास का समावेश हो जायगा जिसमें रोगी को खाँसी के साथ रक्त आता है। रोग की अवधि की दृष्टि से भी कास का विचार करना समीचीन रहता है। तीव्र या नवीन कास (Acute Bronchitis), चिरकालीन या दीर्घकालीन कास। नवीन कास के वर्ग मे

१ वातादिजास्त्रयो ये च क्षतज क्षयजस्तथा। पञ्चैते स्युर्नृणा कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ साध्यो बलवता वा स्याद्याप्यस्त्वेव क्षतोत्थित । नवौ कदाचित् सिद्धयेतामेतौ पादगुणान्वितौ ॥ स्थविराणा जराकास सर्वो याप्य. प्रकीर्तित । त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान् पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत् ॥ (च० चि० १८)

वातिक, श्लैष्मिक तथा क्षतजो का समावेश हो जाता है और दीर्घकालीन कासो मे क्षयज कास (Tubercular Bronchitis) जिसके परिणाम स्वरूप क्षय रोग पैदा होता है अथवा जराकास (Bronchiectasis) वृद्धावस्थागत फुफ्फुस तन्तुवो के स्थितिस्थापकत्व (elasticity) की कमी और फुफ्फुस सौत्र (Lung Fibrosis) के कारण उत्पन्न कासो का समावेश समझना चाहिए।

इनमे रूक्ष कास या वातिक कास (Cough without expectoration) श्वसनेतर फुफ्फुसेतर अंगो के विकार मे (Extrarespiratory origin) तथा शेष सभी प्रकार के कास फुफ्फुस एव श्वसन-सस्थान जात (Respiratory origin) के पाये जाते है। श्वसनेतर कहने का तात्पर्य उन अगो से है जिनका श्वसन क्रिया से साक्षात् सम्पर्क नही है। जैसे विबध आदि पचन संस्थान के विकारो मे, गले के विकार जैसे गल शोथ (Pharyngitis), तुण्डिकेरी (Tonsillitis), कण्ठशालूक (Adenoids), फुफ्फुसावृत्ति शोथ आदि में शुष्क कास पाया जाता है। शेष अन्य प्रकार के कासो मे अर्थात् कफयुक्त (बलगमदार) कास मे साक्षात् श्वसन सस्थान ही विकार के स्थल होते है। अस्तु चिकित्सा मे भेद करना पडता है। कास का प्रारभ वास्तव मे शुष्क कास या वात कास से ही होता है आगे चल कर वह श्लैष्मिक का रूप धारण करता है। वातिक कास का रोग ही अधिकतर मिलता है पैत्तिक या श्लैष्मिककास अपेक्षाकृत कम मिलते है। वातिक के परिणाम स्वरूप श्वास तथा हिक्कारोग और श्लेष्मकास का परिणाम स्वरूप फुफ्फुस क्षय होता है।

कास रोग मे क्रियाक्रम और कुछ योगो का उल्लेख दोपभेद से पृथक् पृथक् करके यथाशास्त्र आगे दिया जा रहा है।

क्रियाक्रम—वातिक कास मे, रोगी रूक्ष रहता है अस्तु उसको सर्वप्रथम वातघ्न औषधियो से सिद्ध स्नेह से (स्निग्ध) चिकित्सा करनी चाहिए। स्निग्ध पेया, यूष (दाल), मासरस खिलावे। वातघ्न लेह, धूम, अभ्यग, स्वेद, सेक, अवगाहन कर्म से चिकित्सा करे। यदि रोगी को विबध हो तो वस्ति देकर उसकी कोष्ठ शुद्धि करे।

पित्तानुबध मे भोजन के बाद घृत या दूध पिलाना (ऊर्ध्व या औत्तरभक्तिक घृत या क्षीर) उत्तम होता है। श्लेष्मानुबन्ध मे एरण्ड तैल जैसे स्निग्ध विरेचन के द्वारा उपचार करे।[1]

---

१ केवलानिलजं कास स्नेहैरादावुपाचरेत्। वातघ्नसिद्धैः स्निग्धैश्च पेयायूषरसादिभि ॥ लेहैर्धूमैस्तथाऽभ्यङ्गस्वेदसेकावगाहनैः। वस्तिभिर्बद्धविड्वात सपित्त तूर्ध्वभक्तिकैः ॥ घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः। (वा० चि० ३)

पथ्य—ग्राम्य, आनूप और औदक (जल के) मासो के रससे या उडद अथवा केवाछ का यूप बनाकर उसके साथ शालि (चावल) अथवा षष्टिक (साठी के चावलो) का भात रोगी को खिलाना चाहिए। वातिक कास के उप-द्रव रूप मे होने वाले श्वास-कास एव हिचकी रोग में दशमूल कषाय मे पकाई यवागू भी हितकर होती है। यह यवागू अग्नि को दीप्त करने वाली, धातुओ को बढाने वाली और वायु रोगो को शात करने वाली होती है। घृत मे भुना हुआ कर्कोटक (केकड़ा जीव या खेखसा शाक) का सोठ मिलाकर अथवा शृंगीमत्स्य को घी मे भूनकर सोठ के चूर्ण के साथ मिला कर खिलाना भी वातकास मे पथ्य होता है। वातज कास मे वथुवा, मकोय, मूली, चौपतिया, घृत, तैल आदि स्नेह, दूध, ईख के रस और गुड से निर्मित भोजन, दही, काजी, खट्टेफल, प्रसन्ना, पानक (शर्वत), खट्टे और नमकीन पदार्थों का सेवन करना पथ्य होता है।

भेषज योग—अपराजित लेह-कचूर-कर्कट शृंगी, पिप्पली, भारंगी, गुड, नागर मोथा, यवासा सम भाग मे लेकर बनाया चूर्ण तेल (कडवे तेल) मे मिला कर सेवन करने से वातिक कास मे लाभ होता है। इस अपराजित लेह का प्रयोग सभी प्रकार की सूखी खाँसियो मे विशेषत कुकास (whooping Caugh) मे अधिक लाभप्रद पाया जाता है।[1] यह कभी न पराजित होने वाला लेह है इसका अपराजित लेह नाम सार्थक है।

भार्ङ्ग्यादि लेह—भारङ्गी, मुनक्का, कचूर, कर्कट शृगी, पिप्पली, शुण्ठी का सम भाग में बनाया महीन चूर्ण का गुड-तैल के साथ सेवन लाभप्रद होता है।[2]

दशमूली घृत—दशमूल कषाय और भारगी कल्क, मुर्गे और तीतर के मास से पकाया घृत भी वात कास मे लाभप्रद होता है।

कण्टकार्यवलेह—चित्रक, पिप्पलीमूल, त्रिकटु, मस्तक, यवासा, कचूर, पुष्करमूल, श्रेयसी, तुलसी, वच, भारङ्गी, गुडूची, रास्ना, काकडा सीगी के कल्क प्रत्येक एक कर्ष, कंटकारी का काढा (क्वाथ) दो तुला, खाड सवा सेर, घी एक कुडव छोडकर पाक के सिद्ध हो जाने पर ठडा होने पर उसमे मधु, पिप्पली एक कुडव, वंशलोचन १६ तोले मिलावे। इस अवलेह का प्रयोग वातिक कास-श्वास और हृद्रोग में करे।

---

१ शटीशृङ्गीकणाभार्ङ्गी-गुडवारिदयासकै.।
सतैलवातकासघ्नो लेहोऽयमपराजित.॥ (भै र)

२ भार्ङ्गीद्राक्षाशटीशृङ्गीपिप्पलीविश्वभेषजम्।
गुडतैलयुतो लेहो हितो मारुतकासिनाम्॥

पंचमूली कषाय—बृहत पचमूल का काढा पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप देकर पिलाने से वात कास मे लाभ होता है ।[1]

क्रियाक्रम

पित्तकास में—यदि कफ की अधिकता हो तो घी से वमन कराना हितकारी होता है । वमन कराने के लिये मदनफल, गाम्भारी का फल और मुलैठी का काढा पिलाकर अथवा इन औषधियो से सिद्ध घृत पिलाकर अथवा मदनफल और मुलैठी को पीसकर उसका कल्क बनाकर विदारीकद या गन्ने के रस मे घोलकर उसे पिलाकर वमन कराना चाहिये ।[2]

पैत्तिक कास मे यदि कफ हो तो मधुर द्रव्यो से मिश्रित निशोथ का प्रयोग और यदि कफ गाढा हो तो तिक्त द्रव्यो के साथ संयुक्त करके निशोथ का प्रयोग विरेचन के लिये करे । दोषो के निकल जाने पर शीतल, मधुर और स्निग्ध पेया औषधि आदि का उपयोग कफ के पतले होने पर तथा कफ के गाढा होने पर रूक्ष, तिक्त और शीतल क्रियाक्रम रखना चाहिये ।[3]

पथ्य—कफ के गाढे होने पर पित्तज कास मे जाङ्गल मासरसो के साथ या मूँग की दाल या मधुर द्रव्यो के साथ जौ, सावा, कोदो आदि के चावल का भात बनाकर तिक्त रस शाको का उपयोग मात्रा मे करना चाहिये । यदि कफ पतला निकलता हो तो चावल या साठी के चावल का उपयोग मासरस के साथ करना चाहिये । पीने के लिये गन्ने का रस, अगूर का रस, मुनक्के का प्रयोग अथवा शर्बत या दूध का प्रयोग करना चाहिये ।[4]

भेषज योग-लेह-द्राक्षामलकादि—मुनक्का, मुलैठी, आँवला, खजूर (या छुहाडा), पिप्पली, मरिच का कल्क बना कर घी और मधु के साथ सेवन।

---

१ पंचमूलकृत क्वाथ पिप्पलीचूर्णसयुत ।
रसै समश्नतो नित्यं वातकासमुदस्यति ॥ (च द)

२ पित्तकासे तनुकफे त्रिवृता मधुरैर्युताम् । युञ्ज्याद्विरेकाय युता घनश्लेष्मणि तिक्तकैः ।

३ हृतदोषे हिम स्वादु स्निग्धं ससर्जन भजेत् ।
घने कफे तु शिशिर रूक्षं तिक्तोपसहितम् ।

४ मधुरैर्जाङ्गलरसयवश्यामाककोद्रवा । मुद्गादियूषै शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रिया हिता ॥ घने श्लेष्मणि लेहाश्च तिक्तका मधुसयुता । शालय स्यात्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभि । शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसा पय । (वा. चि. ३)

दूध पीते बछडे के गोवर का रस मधु के साथ चाटना।[1] काकोली, बडी कटेरी, मेदा, महामेदा, अडूसा और सोठ से मासरस, दूध, पेया, यूप आदि को सस्कृत करके पित्तकास में देना चाहिये।

वलादि क्वाथ—वला की जड, छोटी कंटकारी, बड़ी कटेरी, अडूसा और द्राक्षा (मुनक्का) इन सब को बराबर मात्रा मे लेकर। २ तोले का ३२ तोले जल मे खौलाकर ८ तोले शेष रहने पर चीनी और शहद मिलाकर सेवन करना।

क्रियाक्रम-श्लेष्मजकास में—यदि रोगी बलवान् हो तो उसका तीक्ष्ण वमन-विरेचन तथा शिरो विरेचन करके दोषो का संशोधन करना चाहिये। यदि रोगी निर्बल तो उसमें मृदु वमन तथा विरेचन कराके संशमन कराना चाहिये। श्लैष्मिक कास के प्रारभ में दो उपक्रम आवश्यक होते है—प्रथम वमन, द्वितीय लघन। तदनन्तर सशमन करते हुए उपचार करे।[2]

पथ्य—जौ या तत्सदृश रूक्ष अन्न, कटु और तिक्त रस वाले यूप और शाक की व्यवस्था करनी चाहिये। कटु, तिक्त-रूक्ष और उष्णक्षार गुणवाले द्रव्यो का उपयोग कफघ्न होता है, अस्तु इन गुणो से युक्त द्रव्यो का आहार तथा औषधि के रूप मे प्रयोग करना चाहिये। जैसे-पिप्पली, क्षार, कुलथी, मूली, लहसुन, तिल, सर्षप, मूँग की दाल, जाङ्गल मास, तक्र, मद्य, पटोल, नीम, कासमर्द, कंटकारी, मधु आदि।

नवाङ्ग-यूप—मूँग और आँवला, यव और अनार, छोटी वेर और सूखी मूली, सोठ और पिप्पली से सस्कृत करके कुलथी या मूँग की दाल बनाकर देना कफज कास में बडा उत्तम रहता है।[3]

भेपज योग—१. मरिच का चूर्ण मधु से चाटना २ अगुरु का चूर्ण मधु मे चाटना, ३. कटेरी का स्वरस ४. बडी कटेरी का स्वरस ५ भृङ्गराज का स्वरस इनमें से किसी एक का स्वरस मधु से चाटना, ६. कसौदी (कासमर्द) ७.

---

१ लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम्। (च चि १८)

२. स्निग्ध विरेचयेदूर्ध्वमधो मूर्ध्नि च युक्तित.। तीक्ष्णैर्विरेकैर्बलिनम्। (अ हृ) कफजे वमनं कार्यं कासे लघनमेव च। शस्ता यवास्तत्प्रकृतियूपाश्च कटुतिक्तका। (अ. हृ.)

३ मुद्गामलाभ्या यवदाडिमाभ्या कर्कन्धुना शुष्कमूलकेन। शुण्ठीकणाभ्या सकुलत्थकेन यूपो नवाङ्गः कफकासहन्ता (यो र)

घोडे की लीद का रस अथवा ८. काली तुलसी का रस मधु से चाटना कफज कास मे उत्तम रहता है। ९ बैगन या भंटे का स्वरस भी मधु के साथ कासघ्न होता है।[1]

१०. पिप्पली, पिप्पली मूल, सोठ और विभीतक के समभाग मे बने चूर्ण का मधु मे सेवन।

११ मोर और मुर्गा की पखो को जलाकर ली गई कारिख, यवक्षार, इन्द्र-वारुणी मूल, पिप्पली मूल और निशोथ के चूर्ण का मधु से सेवन।

१२. देवदारु, शटी (कचूर), अतीस, नागरमोथा, पुष्करमूल, कट्फल, हरीतकी, कर्कटशृङ्गी, अदरक, सोठ, हिंगु, सैन्धव, पंचकोल, दशमूल आदि औषधियाँ वात और कफ कास में लाभप्रद होती है।

क्रियाक्रम-क्षतज कास में—पित्तकास मे वतलाये उपक्रमो के अनुसार क्षतज कास मे चिकित्सा करनी चाहिये। पित्तकास मे शमन के लिये पित्त दोष के शामक, कासघ्न एव मधुर द्रव्यो से जैसे क्षीर, घृत, इक्षु रस, शर्वत और मधु आदि का अनुपान देना चाहिए। जीवनीय गण की औषधियो से सिद्ध घृत का पिलाना। घृत का अभ्यग। कबूतर का मासरस। तृष्णाधिक्य मे बकरी का दूध। रक्तष्ठीवन अधिक हो रहा हो तो शीतल यवागू का सेवन।[2]

इक्ष्वादिलेह—इक्षु, इक्षुवालिका, पद्म, मृणाल, उत्पल, चदन, मुलैठी, पिप्पली, मुनक्का, कर्कटशृंगी, शतावरी, प्रत्येक का एक भाग। कुल से दूना वशलोचन और चतुर्गुण मिश्री। इस चूर्ण का घृत और मधु मिलाकर सेवन।

क्रियाक्रम-क्षयज कास में—यदि रोगी दुर्वल हो और उसमे सम्पूर्ण लक्षणो से युक्त रोग हो तो उसको छोड देना चाहिए, परन्तु बलवान् रोगी हो और रोग नवीन हो तो रोग की दु साध्यता के बारे में रोगी के अभिभावक को बतलाकर (प्रत्याख्यान करके) उसकी स्वीकृति लेकर उपचार प्रारभ करना चाहिये।

क्षयज कास मे सर्वप्रथम अग्नि का दीपन और रोगी के शरीर का बृहण (धातुवो की वृद्धि) का ध्यान रखना चाहिए। यदि रोगी मे दोषो की अधिकता

---

१ मधुना मरिच लिह्यान्मधुनैव च जोङ्गकम्। पृथग् रसाश्च मधुना व्याघ्री-भार्ताकुङ्गजान्। कासघ्नाश्चक्रशाश्वश ७. सुरसस्यासितस्य च। (वा चि ३)

२ क्षतकासाभिभूताना वृत्ति स्यात् पित्तकासिकी। क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम्॥ वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदैर्घृतैर्हितः। पानं जीवनीयस्य सर्पिष॥

हो तो उसको स्निग्ध और मृदु विरेचन देना चाहिए। अमलताश, त्रिवृत्, मुनक्का, तिल्वक कषाय या विदारी कंद के स्वरस से सिद्ध घृत से कमजोर रोगियो का शोधन करना चाहिए।[1]

भेषज—रोगी में अनुवासन वस्ति का प्रयोग घृतमण्ड या मिश्रक स्नेह मे मधु मिलाकर। जाङ्गल मास, बिल मे रहने वाले पशु-पक्षियो का मास तथा मास खाने वाले पशु-पक्षियो के मास जो विशेप बृंहण होते हैं, क्षयज कास मे खाने के लिए देना चाहिये। क्षयज कास मे चटक-मास का प्रयोग भी लाभप्रद बतलाया है।

पिप्पली गुड से सिद्ध अथवा छागीक्षीर से सिद्ध घृत क्षयज कास मे पिलावे। अचूर्ण के चूर्ण को वासा के स्वरस मे बहुत बार भावित करके वंशलोचन, घृत, मधु और मिश्री के साथ सेवन।

मुस्तकादिलेह—मोथा, पिप्पली, द्राक्षा, पके बडी कटेरी का फल सम भाग मे चूर्ण बनाकर घृत और मधु मिला कर सेवन।

कास रोग का सर्व सामान्य प्रतिषेध—शास्त्रीय दोषानुसार चिकित्सा के अनन्तर व्यावहारिक चिकित्सा का उल्लेख किया जा रहा है। वास्तव में आधुनिक चिकित्सा मे अधिकतर इन्ही क्रिया-क्रमो का अनुपालन करते हुए रोगी को रोगमुक्त किया जा सकता है।

भेषज-शृंगवेरस्वरस—(अदरक का रस) १० से २० बूंद, मधु ६ माशे के साथ पिलाना। इसका उपयोग अधिकतर रस योगो के सेवन काल मे अनुपान या सहपान के रूप में व्यवहृत होता है। सभी प्रकार के कास में लाभप्रद पाया जाता है। आर्द्रक के रस के साथ मधु की जगह पर पुराने गुड या चीनी की चाशनी का भी उपयोग हो सकता है। विभीतक (बहेरा)—बहेरे के फल को घी मे चुपडकर उसके ऊपर गाय का गोबर लपेट कर आग में डाल कर पकाले। इस प्रकार स्विन्न विभीतक को ठडाकर के उसका चूर्ण बनाले। मुख में रख कर चूसने से कास तथा श्वास रोग मे अद्भुत लाभ दिखलाता है। औषधियो के अनुपान रूप मे इस विभीतक के चूर्ण का प्रयोग किया जा सकता

---

१ सम्पूर्णरूप क्षयज दुर्बलस्य विवर्जयेत्। नवोत्थित बलवत. प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥ तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम्। बहुदोपाय सस्नेहं मृदु दद्याद् विरेचनम् ॥ शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया। तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥ सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम् ॥

(च चि. १८)

है। आमलकी—आँवले को आग मे पकाकर उसका भर्त्ता बना लिया जावे तो सभी प्रकार के कास मे लाभ प्रद होता है। हरिद्रा—की गाँठ आग मे भूनकर उसकी गाँठ को मुख मे धारण करने और चूमने से खाँसी मे लाभ पहुँचता है। लवङ्ग—को आग के ऊपर तपा रख कर सेक कर मुख मे धारण करने से कास मे पर्याप्त लाभ होता है। वासक—अडूसे का पुटपाक से बनाया स्वरस मधु के साथ पिलाना अथवा वासा का कषाय बनाकर उसमे पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती और मधु ६ माशे मिलाकर पिलाने से कास का वेग शान्त होता है। इमली—इमली की पत्ती का काढा हिंगु एवं सेंधानमक मिलाकर पिलाने से दुष्ट कास रोग मे भी लाभ होता है। कंटकारी—कटकारी पंचाङ्ग-स्वरस, कषाय या घृतभृष्ट फल श्रेष्ठ कासनाशक होता है। मधुयष्टि—मुलैठी का मुख मे धारण या इसके अनुपान से रसौषधियोगो का प्रयोग कासघ्न होता है। बृहत् पंचमूल अथवा दशमूल का कषाय पिप्पली का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से पार्श्वशूल, कास, श्वास तथा श्लेष्मज काग मे लाभप्रद होता है। कालीमिर्च—का पुराने गुडके साथ सेवन। गुडूची—का स्वरस या कषाय का मधु के साथ पिलाने से कास मे चमत्कारिक लाभ होता है।

वदरीपत्र—बेर की पत्ती को घृत मे भूनकर नमक मिलाकर सेवन। त्रिफला और त्रिकटु के प्रत्येक द्रव्य सम मात्रा मे लेकर २ माशे की मात्रा मे मधु मे चाटना।

कंटकार्यादिकषाय—छोटी कटेरी, बडी कटेरी, मुनक्का, अडूसा, सोठ, छोटी पीपल, कायफल, कचूर, कालीमिर्च, जेवायन और सुगधवाला का क्वाथ मधु और मिश्री युक्त कास मे सद्य. लाभ दिखलाता है। इसका उपयोग कास मिश्रण (Cough Mixtures) के प्रतिनिधि रूप मे किया जा सकता है सभी प्रकार के कास मे समान भाव से लाभप्रद होता है।

मरिच्यादि चूर्ण या गुटिका—काली मिर्च १ तोला, छोटी पिप्पली ½ तोला, दाडिम के फल का छिलका या अनारदाना ४ तोले, यवक्षार ½ तोला और गुड ८ तोला। महीन पीसकर चूर्ण बनाले अथवा गुटिका बना ले। यह मरिच्यादि चूर्ण या मरिच्यादि वटी एक सिद्ध योग है। सभी प्रकार की खाँसी मे इसका प्रयोग लाभप्रद रहता है। मात्रा ३ माशे चूर्ण या १-२ माशे की गोलियाँ दिन में कई वार चूसने के लिए दे। सर्व औषधियो से असाध्य, वैद्य के द्वारा परित्यक्त कास रोग मे, यदि पूय भी खाँसी के साथ निकलती हो तो भी इस योग के प्रयोग से लाभ होता है।

सम शर्कर चूर्ण—लवङ्ग, जायफल, छोटी पीपल प्रत्येक का चूर्ण एक एक तोला, मरिच २ तोला, सोंठ १६ तोला सब चूर्णों के बराबर अर्थात् मिश्री का चूर्ण २१ तोला। इस चूर्ण का प्रयोग वायु और श्लेष्मा जन्य कास में तथा अग्निमाद्य में बडा लाभप्रद होता है। मात्रा २ माशे। अनुपान जल।

लवङ्गादिवटी—लवङ्ग, काली मिर्च, बहेरे के फल का छिल्का प्रत्येक १ भाग लेकर कुल चूर्ण के बराबर कत्था लेकर अर्थात् ३ भाग। बबूल के रस में घोट कर गोलियाँ ४ रत्ती के परिमाण की बना ले। सभी प्रकार के कास में विशेषत: गीली खाँसी मे चूसने के लिए प्रयोग करे। इससे गले का क्षोभ (Irritation) कम होता है। फलत: खाँसी मे लाभ करता है।[1]

बृहत् लवङ्गादिवटी—लौंग ४ तोला, बहेडे के फल का छिल्का ४ तोला, छोटी पीपल ४ तोला, काकडा सीगी २ तोला, अनार के फल का सूखा छिल्का १ तोला, दालचीनी २ तोला, कत्था १० तोला, मुलेठी का सत २ तोला, मुनक्का ५ तोला, आक के फूल ५ तोला, आगपर फुलाया सुहागा १ तोला। पहले आक के फूल और मुनक्के का चौगुने जल मे काढा बनावे जब चौथाई जल बाकी रहे तब कपडे से छान कर उसमे मुलैठी का सत और सुहागे का लावा मिलावे पीछे अन्य द्रव्यो का चूर्ण मिलाकर मटर के बराबर की गोलियाँ बनावे।

उपयोग—जब खाँसी जोर को आती हो और कफ न निकलता हो तब इस गोली को मुँह मे रखकर चूसने मे खाँसी का वेग कम होता है, कफ आसानी से निकलता है और गला साफ होता है। (आचार्य यादवजी के सिद्धयोग-संग्रह से)

सितोपलादि या तालीशादि चूर्ण—(क्षय रोग में उक्त) इसका १ माशे से ३ माशे की मात्रा मे घी १ भाग शहद २ भाग के साथ दिन मे कई बार देना सभी प्रकार के कास मे लाभप्रद होता है।

शर्बत जूफा—मुनक्का ३० तोले, उन्नाव २० तोले, सपिस्तान (लसोढे के पके और सूखे फल) २० तोले, सूखे अजीर २० तोले, सोसन के मूल (बेख कर्फस) १० तोले, जूफा १० तोले, हंसराज १० तोला, बिहीदाना ५ तोला, अनीसून ५ तोला, सौंफ ५ तोला, छिल्का रहित जौ ३ तोले। सबको जौ कुट करके तीन गुने जल मे रात को भिगो दे। सुबह मदी आँच पर पकावे। जब एक तिहाई जल रह जावे तो ठडा करके कपडे मे छान ले। पीछे उसमें ६ सेर चीनी डाल कर पकावे जब चाशनी बन जावे तो उसे नीचे उतार कर ठंडा होने दे। फिर

---

१ तुल्या लवङ्गमरिचाक्षफलत्वच. स्यु. सर्वैः समो निगदितः खदिरस्य सार। बब्बूलवृक्षजकषाययुत च चूर्णं कासान्निहन्ति गुटिका घटिकाऽऽक्रान्ते ॥ (वै० जी०)

कपडे से छान कर बोतलो मे भर ले। मात्रा १ से २ तोला बराबर पानी मिला कर तीन बार दिन मे। वातिक और पैत्तिक कास मे लाभप्रद। खाँसी से कफ निकलता हो तो इसके प्रयोग से कफ ढीला होकर आसानी से गिर जाता है।

अगस्त्यहरीतकी—दशमूल की प्रत्येक औषधि ८ तोला, केवाछ के बीज, शखपुष्पी, कचूर, बलाकी जड, गजपीपल, अपामार्ग मूल, पीपरामूल, चित्रक मूल, भारङ्गी मूल, पुष्कर मूल प्रत्येक ८ तोला। वस्त्र की पोटली मे बंधा जौ ३ सेर १६ तोला, बडी हरड १००, जल ३२ सेर। सबको एक बडे भाण्ड मे रख कर अग्नि पर चढावे। जब जल कर चौथाई पानी शेष रहे तो भाण्ड को नीचे करके ठंडा करे। पानी को छान लेवे। अब हरड को पृथक् करके प्रत्येक हरड को पतली नोकदार शलाका (Fork) से—सूए से कई छेद कर ले। फिर कलईदार कडाही मे घृत ३२ तोले, तिल तैल ३२ तोले डाल कर भट्टी पर चढाकर घृत और तेल के प्रतप्त हो जाने पर उसमे विधे हुए हरीतकी के फलों को भूने जब भुनने पर हरीतकी का जलाश सूख जाये वह लाल हो जाय, उसमे सुगंध आने लगे तो कडाही को उतार कर हरडो को एक वर्तन मे पृथक् रख ले। अब कडाही मे उपर्युक्त क्वाथ जल में ५ सेर पुराना गुड डाल कर आग पर चढावे। जब एक तार की चाशनी बनने लगे तो उसमे स्नेह मे भर्जित हरड को छोडे जब पाक समीप आवे तो उसमें १६ तोले पिप्पली का चूर्ण डालकर आलोडित करके उतार लेवे। शीतल हो जाने पर उसमे ३२ तोले शहद मिलाकर किसी मृतबान मे भर कर सुरक्षित रख लेवें। मात्रा प्रतिदिन २ से ४ हरड का सेवन। दूध या जल से करे। यह अगस्त्य ऋषि के द्वारा प्रोक्त रसायन है। सर्वकास मे प्रशसित है।

च्यवनप्राश तथा वासावलेह पूर्वोक्त क्षय रोगाधिकार का भी प्रयोग कास मे लाभप्रद है।

विभीतकावलेह—बकरी का मूत्र ५ सेर, बिभीतक फल का चूर्ण ५ सेर। अग्नि पर चढाकर सिद्ध करे। सिद्ध होने पर उतारे और ठडा हो जाने पर मधु आधा सेर मिलाकर रख ले। कास और श्वास रोग मे यह एक श्रेष्ठ योग है।[1]

वासावलेह—का सेवन भी उत्तम रहता है।

---

१ आजस्य मूत्रस्य शतं पलाना शत पलाना च कलिद्रुमस्य।
पक्वं समध्वाशु निहन्ति कासं श्वास च तद्वत् सबलं बलासम्॥
(वै० जी०)

करवीर योग—रक्त करवीर की जलाई काली राख ३ भाग, त्रिकटु चूर्ण (सोठ, मरिच, छोटी पीपल प्रत्येक एक भाग), मात्रा १ माशा, अनुपान लगा पान के बीडे मे रख कर खाना। दिन में तीन चार बार। कासमे सद्यः लाभप्रद। (स्व० पुरुषोत्तम जी उपाध्याय अध्यापक आयुर्वेद विद्यालय हि० वि० वि० काशी का योग)। गले का क्षोभ कम होकर कास मे लाभ पहुँचता है।

एलादि वटी— छोटी इलायची, तेजपात, दालचीनी प्रत्येक आधा तोला, छोटी पीपल दो तोला, मिश्री ४ तोला, धोकर बीज निकाला मुनक्का ४ तोला, गुठली निकाला हुआ पिण्ड खजूर ४ तोला, प्रथम मुनक्का और पिण्ड खजूर को महीन पीसे। पीछे उसमे अन्य द्रव्यो का कपडछन चूर्ण मिलावे। यदि गोली बनाने में आवश्यकता पडे तो उसमे शहद मिलावे। इसमें मुलैठी का सत भी ४ तोले मिला लेना चाहिए।

यह सूखी खाँसी, पैत्तिक कास या क्षतज कास में सिद्ध योग है। दिन मे ८ से १२ गोली तक रोगी को चूसने के लिए देना चाहिए साथ मे नित्य यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशे एक मात्रा रात्रि में देना चाहिए। उत्तम कार्यकर होती है।

द्राक्षारिष्ट (क्षय रोग में पठित)—भोजन के बाद नित्य पीने के लिये २॥ तोले की मात्रा में समान भाग जल मिलाकर देना भी कास रोग में उत्तम रहता है।

वासकारिष्ट—अडूसे के पत्तो का स्वरस अथवा पञ्चाङ्ग का क्वाथ और मृत-सञ्जीवनी सुरा (Rectified Spirit) इन दोनो को बराबर लेकर घृत स्निग्ध मिट्टी के पात्र अथवा काच पात्र में भर कर उस पात्र के मुख को अच्छी तरह बन्द करके एक स्थान पर रख देवे। पश्चात् उसको साफ छान कर शीशे में भर कर रख ले और प्रयोग करे। मात्रा १० से ३० बूंद पानी मिलाकर।

चंद्रामृत रस—सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हर्रे का दल, बहेडादल, आँवला, चव्य, धनिया, जीरा, सेंधा नमक, शुद्ध पारद तथा गंधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म प्रत्येक एक तोला तथा शुद्ध सोहागा ४ तोला। प्रथम पारद-गंधक की कज्जली बनाकर शेष वनस्पतियो के कपड़ छन चूर्ण और भस्मो को मिलावे। बकरी के दूध तथा अडूसे के रस की भावना देकर तीन तीन रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा १–२ गोली दिन में तीन बार। अनुपान अदरक के रस मधु से या पिप्पली चूर्ण और मधु से या कुलथी के काढ़े से या मिश्री के शर्बत से, शर्बत जूफा से सूखी खाँसी में, खून गिरने मे खून खराबा का चूर्ण ५ रत्ती मिलाकर और लाल कमल या नीलोफर के काढे से पीने को दे।

भागोत्तर गुटिका—शुद्ध पारद १ तोला, गन्धक २ तोला, पिप्पली चूर्ण ३ तोला, हरीतकी चूर्ण ४ तोला, वहेडे का चूर्ण ५ तोला, अडूसे के मूल या पत्ती का चूर्ण ६ भाग, भारङ्गी चूर्ण ७ भाग। इनका महीन चूर्ण। वव्बूल के रस या कषाय की भावना। मधु मिलाकर १ माशे की गोलियाँ। पिप्पली चूर्ण और मधु अथवा कंटकारी क्वाथ या अदरक रस और मधु से सेवन करावे अथवा मधुयष्टी चूर्ण और मधु के साथ दे। कुकास मे यह योग विशेष लाभप्रद (Whooping Cough) पाया जाता है।

शृंगाराभ्र, वृहत् शृंगाराभ्र इनका भी यथायोग्य अनुपान से प्रयोग कास मे लाभप्रद होता है।

नागवल्लभ रस—कस्तूरी, चोच, टकण प्रत्येक १ तोला, केशर, दरद, पिप्पली प्रत्येक २ तोला, अकरकरा, जातिपत्री, जातीफल (जावित्री एवं जायफल) प्रत्येक ४ तोले। महीन चूर्ण करके। पान के रस मे तीन दिनो तक मर्दन करे। मूंग के वरावर गोली वना ले। आर्द्रक के रस और मधु के अनुपान से अथवा पान में रखकर खाने का विधान है।

वासाचन्दनादि तैल—श्वेत चन्दन, रेणुका, खट्टाशी, अश्वगन्धा, गन्ध प्रसारिणी, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, पिपरामूल, नागकेशर, मेदा, महामेदा, सोठ, मरिच, पिप्पली, रास्ना, मुलेठी, भूरि छरीला, कचूर, मीठा कूठ, देवदारु, प्रियङ्गु और वहेडे के फल का छिलका प्रत्येक ४-४ तोले भर लेकर सवको जल के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क वना लेवे। फिर तिल-तैल ३ सेर १६ तोला, अडूसा पञ्चाग का क्वाथ, लाक्षा का स्वरस अथवा काढा, दही का पानी तथा लालचन्दन, गुडूची, भारंगी, दशमूल, छोटी कंटकारी का मिश्रित क्वाथ प्रत्येक का आधा द्रोण। तैल-पाक विधि से सिद्ध कर ले। इस तेल का अभ्यग पूरे शरीर मे विशेषत छाती, पीठ और पार्श्व मे करने से जीर्ण कास मे उत्तम लाभ होता है।

धूम प्रयोग–जात्यादि धूम—चमेली की पत्ती, मरिच, मन शिला, आक की जड, गुग्गुल•वेर की पत्ती और जटामासी सम भाग में लेकर मोटा चूर्ण वना कर अर्क क्षीर से भावित कर के सुखाकर रख ले। निर्धूम अगारे पर थोडा छोडकर धूम के पीने से खाँसी मे वडा लाभ होता है। धूम-पान का थोडी देर वाद दूध और मिश्री या मिश्री का शर्वत पिलाना चाहिये। पान का लगा वीडा खाने को देना चाहिये। इससे खाँसी मे तत्काल लाभ होता है।

अपथ्य—चावल, दधि, शर्वत, लस्सी, नया गुड, दूध, मछली, कदशाक, अन्य गुरु, शीत एव अभिष्यन्दी आहार, धुलि, धुवे आदि का स्थान कास रोग मे अपथ्य है।

चौदहवाँ अध्याय

हिक्का-श्वास-प्रतिषेध

प्रावेशिक—साधारण बोल चाल में हिक्का को हिचकी और श्वास को दमा कहते हैं। खाँसी के साथ दमा का घनिष्ट सम्बन्ध है। खाँसी पुरानी होकर श्वास रोग को उत्पन्न करती है। इन दोनो का पाठ भी प्राय. शास्त्रों मे साथ साथ या एक के बाद दूसरे का (अर्थात् कासके बाद श्वास का) पाया जाता है। चिकित्सा मे बहुत से भेषज और उनके योग समान ही मिलते हैं और दोनो में लाभप्रद पाये जाते हैं। श्वास रोग के साथ हिक्का रोग का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस तरह कास (Cough), श्वास (Asthma) तथा हिक्का (Hiccough) के लक्षण समुदाय (syndrome) तीनों रोगो में परस्पर में सम्बद्ध है अस्तु दो या तीनो का पाठ एक ही अध्याय मे किया मिलता है।[1]

कास-हिक्का और श्वास में निदान (हेतु) और चिकित्सा सूत्र (Principles of treament) समान होने की वजह से दोनो या तीनो रोगो मे समानता होते हुए भी सम्प्राप्ति, क्रिया तथा वेग में भिन्नता होने की वजह से कास का पाठ पृथक् किया गया है। इसके अतिरिक्त दोषभेद से कास रोग में वातिक-पैत्तिक-श्लैष्मिक आदि भेद होते हैं। हिक्का-श्वास मे इस प्रकार के भेद नही होते हैं। साथ ही हिक्का-श्वास में प्राणोदान-समाना-पान तथा कास मे प्राणोदान ही विकृत होता है। अस्तु, कास रोग का स्वतंत्र वर्णन पाया जाता है। और श्वास का साथ साथ।

हिक्का और श्वास रोग में केवल वात और कफ दो दोषों की ही प्रधानता होती है, साथ ही पचन संस्थान की विकृति का होना भी अनिवार्य है जैसा कि दृढबल ने कहा है 'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्गतौ' अर्थात् हिक्का एवं श्वास रोग पित्त स्थान से उद्‌भूत होते हैं। और कफवातात्मक होते हैं। यद्वा 'वायु. कफेनानुगत पञ्च हिक्का करोति च' अर्थात् वायु कफ से मिलकर पाच प्रकार की हिक्का पैदा करता है। आचार्य वाग्भट ने तो श्वास और हिक्का रोग में

---

१ हिक्का—श्वाससामान्योत्पादकनिदानमाह—विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यंदिभोजनै. । शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥ व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघाता-पतर्पणै हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणा समुपजायते ॥ (सु ३. ५०)

एक ही हेतु, प्राग्रूप, संख्या, प्रकृति और संश्रय "श्वासैकहेतुप्राग्रूपसंख्या-प्रकृतिसंश्रया" कहकर विराम दे लिया है। यद्यपि हिक्का और श्वास में आरभक दोष समान होते हैं तथापि उनमे सम्प्राप्ति, वेग, स्वर, लक्षण तथा प्रतिषेध मे प्रयुक्त होने वाले भेषजो के भेद से पर्याप्त भेद हो जाता है। अस्तु, दोनो की चिकित्सा का पृथक् पृथक् उल्लेख किया जाता है।

हिक्का और श्वास रोग स्वतंत्र भी हो सकते हैं अथवा किसी अन्य रोग मे उपद्रव स्वरूप मे भी पैदा हो सकते हैं।[1] ये दोनो ही सद्य घातक रोग हैं। प्राण को नष्ट करने वाले रोग यद्यपि बहुत हैं, तथापि वे हिक्का और श्वास के समान उतनी शीघ्रता से प्राणो का नाश नही करते हैं। इन अवस्थाओ में श्वासावरोध, हृदय का घात (syncope) या सन्यास (coma) से सद्य. प्राणनाश का भय रहता है। हिक्का और श्वास ये महान् प्राणघातक रोगो के लिये खतरे की घंटी का काम करते हैं।[2]

हिक्का—आधुनिक विचारको के अनुसार हिक्का की उत्पत्ति अनुकोष्ठिका वातनाडी (Phrenic Nerve) के क्षोभ (Irritation) से होनेवाले महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के अनियमित सकोच (Clonic Diapthragmatic spasm is called Hiccough) के कारण होती है। स्वभाविक दशा मे आमतौर से महाप्राचीरा के सकोच के साथ ही उपजिह्विका द्वार (Epiglottis) खुलता है, परन्तु अनियमितता आने पर इन दोनो क्रियावो मे अन्तर आ जाता है जिसमे अंत श्वसित वायु उपजिह्विका द्वार के बद होने के कारण रास्ते मे ही अवरुद्ध हो जाती है जिससे हिक् हिक् शब्द की उत्पत्ति होती है।[3] एतदर्थ इस रोग को हिक्का या हिचकी कहते हैं। इस अनियमित सकोच के विविध कारण हैं। उन सबको दो प्रधान वर्गों मे बाँट सकते है १ पचन संस्थानीय २ वात संस्थानीय (Nervous)

---

१. अतिसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात्। रक्तपित्तादुदावर्त्ताद् विसूच्यलसकादपि ॥ पाण्डुरोगा द्विषाच्चैव प्रवर्त्तेते गदाविमौ। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात्। जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ॥ अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलाना च सेवनात्। कण्ठोरस.-प्रतीघाताद्विविधैश्च पृथग्विधै ॥ (च)

२ कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरत प्राणमाशु च ॥ (च चि २१)

३ मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधै ॥

पचनसंस्थानीय कारण—आमाशय और अन्न—प्रणाली का क्षोभ जैसे मिर्च, मसाले, खटाई, धूम आदि विविध प्रकार के अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका, विबंध और आध्मान आदि। प्राचीनो के अनुसार पित्त स्थान से उद्भूत कहने का यही अर्थ है। पित्तस्थान का अर्थ सम्पूर्ण पचनसस्थान से ग्रहण किया जा सकता है जिनके विकारो में हिचकी पैदा हो सकती है।

वातसंस्थानीय कारण—१ अपतंत्रक, मस्तिष्क शोफ, मस्तिष्कार्बुद, अपस्मार, मदात्यय (२) फुफ्फुसावृति शोथ, मध्यपर्शुकीय अर्बुद या ग्रंथियाँ (Mediastinal glands), जीर्णवृक्क शोथ, मूत्रविपमयता में हिक्का उत्पन्न हो सकती हैं। इनमे प्रथम वर्ग का साक्षात् मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है, दूसरे का प्रान्तीय वातनाडी क्षोभ (Peripheral Nerve Irritation) के द्वारा।

हिक्का पाँच प्रकार की पाई जाती है अन्नजा, यमला (चरक के अनुसार व्यपेता), क्षुद्रा, गम्भीरा और महती। इनमें गम्भीरा (नाभि से उठने वाली और गम्भीर शब्द करने वाली उपद्रव युक्त) तथा महती (मर्मो को पीडित करने वाली वडी हिक्का) असाध्य होती है। यमिका भी यदि रोगी बलवान् हो, उपद्रव अधिक न हो, दो-दो या तीन हिचकी मिलकर आवें तो कृच्छ्रसाध्य अन्यथा असाध्य होती है। अन्नजा और क्षुद्रा हिक्का सुखसाध्य है।[1]

क्रियाक्रम—सामान्य हिचकी में जहाँ मिर्च अधिक खा लेने से या तम्बाकू, सुर्ती आदि खा लेने से हिचकी आने लगती है, इसमें हेतु आमाशय और कंठ देश का क्षोभ होता है। इसमें पानी पिलाना पर्याप्त होता है। पानी पी लेने से, साँस रोक लेने से या मन को दूसरी दिशा में प्रेरित कर लेने से हिचकी शान्त हो जाती है। चित्तको दूसरी ओर आकृष्ट करने के लिये सहसा कुछ क्रियायें करने से हिक्का का दौरा खतम हो जाता है। संभवत इन क्रियावो से डडा स्वतंत्र नाडी-मडल की उत्तेजना (Sympathicotonia) कम होकर प्राणदानाडी (Vagotonia) की क्रिया वढती है और लक्षणो मे शान्ति मिलती है। जैसे, शीतल जल का परिषेक (छींटा देना), त्रास दिखलाना, विस्मय या आश्चर्य में डालना, क्रोध कराना, हर्ष कराना, प्यारी वस्तु को दिखाना, उद्विग्न कराना,

---

१. अन्नजा यमला क्षुद्रा गम्भीरा महती तथा। वायु. कफेनानुगत. पञ्च हिक्का. करोति हि। द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानो। अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च य ॥ तस्य साधयितु शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥

(सु ३.५०)

प्राणायाम कराना, दग्ध मिट्टी पर जल डालकर सुघाना, कूंचो से जल की धारा छोडना, नाभि के ऊपर चोट पहुँचाना, हल्दी को दिया पर जला कर उससे पैरो पर या नाभि के दो अंगुल नीचे या ऊपर जलाना ।[1]

परन्तु जहाँ पर हिचकी रोग रूप मे पैदा हो जाती है—कुछ स्थायी उपचार की आवश्यकता होती है । अस्तु, हिक्का रोग मे तथा श्वास रोग मे सर्वप्रथम हिक्का रोग मे रोगी के उदर पर तथा श्वास रोग मे रोगी के वक्ष-स्थल पर किसी तैल का मर्दन कराके स्वेदन करना चाहिए । तैल मे सैधव या कपूर भी मिलाया जा सकता है । स्वेदन के अनन्तर स्निग्ध तथा लवणयुक्त प्रयोगो से वायु का अनुलोमन करना चाहिए । यदि रोग वलवान् हो तो वमन तथा विरेचन से उसका मृदु सशोधन करना चाहिए अन्यथा केवल शमन चिकित्सा करनी चाहिए ।[2]

कुछ सामान्य औषधियाँ जो श्वास तथा हिक्का दोनो मे व्यवहृत होती है । दशमूल की औषधियाँ, रास्ना, कचुर, पिप्पली, द्राक्षा, शुठी, पुष्कर मूल, कर्कट-शृंगी, आमलकी, खजूर, भारगी, गुडूची, हिंगु, सौवर्चल, जीरा, हरीतकी, यव, कासमर्द, शोभाञ्जन, सूखी मूली का यूप या वैगन का यूप, दधि, त्रिकटु और चित्रक घी मिला कर ।

हिक्काघ्न-भेषज—औषधियाँ कारणानुसार दो प्रकार की होती है १. जिनका प्रभाव साक्षात् मस्तिष्क पर होकर हिचकी वद हो । २ दूसरी ऐसी औषधियाँ जिनका प्रभाव पचन सस्थान पर होकर धीरे-धीरे वायु का अनुलोमन होकर हिक्का का शमन हो । प्रथम वर्ग मे कई प्रकार के नस्य (नाक के रास्ते प्रयुक्त होने वाले योग) तथा धूम आदि है । जैसे—१ मातृस्तन्य (नारीक्षीर) का नस्य हिचकी मे चामत्कारिक लाभ दिखलाता है । २ नारीक्षीर, सफेद चंदन का घृष्ट और सैन्धव नमक मिलाकर पानी मे घोलकर गर्म करके नाक मे टपकाना हिक्का को सद्य वद करता है ।[3] ३ सेंधानमक को पानी मे घोल कर

---

१. शीताम्वुसेक सहसा त्रासो विस्मापन भयम् । क्रोधो हर्ष. प्रियोद्वेग-प्राणायामनिषेवणम् ।। दग्धसिक्तमृदाघ्राणं कूर्चधाराजलार्पणम् । नाभ्यूर्ध्वघातन दाहो दीपदग्धहरिद्रया पादयोर्द्वयाङ्गुलान्नाभेरूर्ध्वं चेष्टानि हिक्किनाम् ।। (भै. र)

२. हिक्काश्वासातुरे पूर्वं तैलाक्ते स्वेद इष्यते । स्निग्धैर्लवणयोगैश्च मृदु वातानुलोमनम् । ऊर्ध्वाध. शोधन शक्ते दुर्वले शमन मतम् ।। (भै र)

३ नारीपय दिष्टसुशुक्लचन्दन कृत सुखोष्णञ्च ससैन्धव च ।
पिष्ट तथा सैन्धवमम्वुना वा निहन्ति हिक्का खलु नावनेन ।। (यो र)

(लवण विलयन गाढ) नाक में टपकाना भी ऐसा ही कार्य करता है। ४. मुलेठी के चूर्ण को मधु मिलाकर नस्य देना। ५. छोटी पिप्पली का चूर्ण शक्कर मिलाकर नस्य देना। ६. शुंठी और गुडके चूर्ण का नस्य। ७ मक्खी की विष्ठा को दूध मे या अलक्तक (आलता) के रस में घोल कर मिलाकर नस्य देना। ८. गाय के दूध और चन्दन का नस्य। ये सभी नस्य हिक्का के नष्ट करने मे समर्थ होते हैं। इन से चमत्कारिक लाभ होता है। ९ गुडूची और शुंठी चूर्ण का नस्य भी हिक्कानाशक होता है। १० नौसादर और चूने को मिलाकर पोटली मे बांध कर या अमोनियम गैस का सुंघाना भी रोगी में लाभप्रद पाया गया है। ११ लहसुन का रस १२ पलाण्डु का रस या १३ गाजर का रस का नस्य भी सद्यः हिक्का को वंद करता है।

धूम-प्रयोग—उडद को चिलम में रखकर आग जला कर उसका धुवाँ पीने से सद्य लाभ होता है।[1]

हिक्काघ्नलेह—१ कास के मूल का चूर्ण मधु से चाटना सद्य हिक्का मे लाभ पहुँचाता है २ केले के मूल का रस १ तोला, मधु ६ माशे मिलाकर सेवन। ३. इलायची के चूर्ण और मिश्री को मिलाकर सेवन। ४ काली मिर्च का चूर्ण और शक्कर मधु से कई वार सेवन करना ५ मयूरपिच्छ को जलाकर उसकी राख (मयूरपुच्छभस्म), पिप्पली चूर्ण और मधु के साथ मिलाकर सेवन यह वमन तथा श्वास मे भी लाभप्रद होता है। ६. यवक्षार १½ माशे की मात्रा मे खिलाकर ऊपर से गर्म पानी पिलाने से सद्य हिक्का शान्त होती है। ७ छोटी पीपल, सूखा आँवला और सोंठ प्रत्येक १ तोला, मिश्री ३ तोला। एकत्र महीन पीसकर रखलें। ३ माशे की मात्रा मे मधु से सेवन करावे। यह एक सिद्ध योग है। हिक्का रोग में परम संशमन होता है। ८ वेर के पके हुए सूखे फल की मज्जा (कोलमज्जा) का चूर्ण, कालासुरमा (काला सुरमा त्रिफला के कषाय मे सात दिन तक लगातार भावना देने से शुद्ध होता है—इस प्रकार शुद्ध सुरमा होना चाहिए) तथा लाक्षा चूर्ण का मधु से चटना। मात्रा १-२ माशे। ९ कुटकी का चूर्ण और शुद्ध स्वर्ण गैरिक (सोना गेरू को चूर्ण करके दूध में भावित करके या गोघृत में तवे पर भून करके लेना चाहिये) का चूर्ण मिश्रित कर के मधु से सेवन। १०. शुद्ध कासीस (भृंगराज के स्वरस मे तीन घंटे तक दोला यंत्र में स्वेदन करने से शुद्ध होता है।) तथा कैथ के फल के सूखे गूदे का चूर्ण सम मात्रा मे मिलाकर ४ रत्ती की मात्रा में मधु से चटाना। ११ पाढ़ल के फल

१ माषचूर्णमयो धूमो हिक्का हन्ति न संशय. ॥

और फूल को समभाग मे लेकर २ माशे की मात्रा मे मधु से चटाना। १२ छोटी पीपल का चूर्ण, खजूर और नागर मोथे का समभाग मे बना चूर्ण ३ माशे की मात्रा मे मधु से चटाना। ये सभी श्रेष्ठ हिक्कानाशक भेषज है।[1] १३ विजौरे निम्बू का रस १ तोला, काला नमक २ माशे और मधु ६ माशे मिलाकर सेवन[2] १४ सोठ पकाया बकरी के दूध का सेवन। १५. धान्यलाज का चूर्ण सेंधानमक नीबू रस के साथ सेवन। १६ गर्म घी का सेवन, गर्म किये दूध का सेवन तथा गर्म जल का सेवन हिक्का में पथ्य होता है और शीघ्रता से हिचकी को शान्त करता है। १७ खजूर, पिप्पली, द्राक्षा का घी और मधु से सेवन हिक्का और श्वास दोनो में लाभप्रद होता है।

रस तथा भस्म के योग—कान्त लौह भस्म १ रत्ती की मात्रा मे मधु से चाटकर दशमूल का क्वाथ सेवन। मुक्ता भस्म का १ रत्ती की मात्रा मे लेकर कुटकी चूर्ण ४ र० और शुद्ध गैरिक चूर्ण १ माशा और मधु के साथ सेवन। ताम्र भस्म का ½ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ चाटकर निम्बू (विजौरे) का रस १ तोला पीना। स्वर्णभस्म-मुक्ताभस्म-लौह भस्म तथा ताम्र भस्म सम मात्रा मे मिलाकर १ रत्ती की मात्रा में बीजपूर या विजौरे नीबू का रस, काला नमक और मधु के साथ सेवन सद्य हिक्का का शमन करता है। शंखचूल रस—शुद्ध पारद, अभ्रक भस्म, सुवर्ण भस्म, वैकान्त भस्म प्रत्येक १ तोला, शंख भस्म २० तोले। इन द्रव्यो को महीन पीसकर सूखे ही चूर्ण बना ले। मात्रा २ माशे। अनुपान मधु। यह योग मुमूर्षु रोगी को भी हिक्का को तत्काल शान्त करता है।

श्वास रोग—भी हिक्का के समान ही एक महाव्याधि है। यह भी प्राणघातक होती है। इस श्वास रोग मे कफप्रकोप पूर्वक वायु जब प्राणवाही स्रोतो को अवरुद्ध करके सब ओर व्याप्त (पूरे फुफ्फुस मे) हो जाती है तो श्वास को उत्पन्न करती है।[3] इस रोग मे प्रधान लक्षण श्वास का फूलना या दम का

---

१ कोलमज्जाञ्जन लाक्षा तिक्ता कोचनगैरिकम्। कृष्णा धात्री सिता शुण्ठी काशीसं दधिनाम च। पाटल्या सफल पुष्पं कृष्णाखर्जूरमुस्तकम्। पडेते पादिका लेहा हिक्काघ्ना मधुसयुता ॥ (भै र.)

२. मधुसौवर्चलोपेतं मातुलुंगरस पिबेत्। (भै र) इसका प्रयोग ureamia के कारण उत्पन्न हिक्का मे उत्तम लाभ दिखलाता है।

३. यदा स्रोतांसि संरुद्धय मारुत कफपूर्वक.। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स ॥ महोर्ध्व-छिन्न-तमक-क्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा। भिद्यते स महाव्याधि. श्वास एको विशेषत ॥

फूलना या (Dyspnoea) पाई जाती है जो अनेक कारणो से हो सकती है। जैसे श्वासनलिका के ऊपरी भाग मे किसी प्रकार का अवरोध, उरोवात (Emphysema), मूत्र-विषमयता, जानपदिक शोफ (Epidemicdr-opsy) तथा सन्यास (Coma) आदि। श्वास रोग के पाँच भेद वतलाये गये है। महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्न श्वास, तमक श्वास तथा क्षुद्र श्वास। इनमें महा श्वास अन्तिम श्वास है इससे युक्त रोगी शीघ्र ही मर जाता है। पूर्णतया असाध्य होता है। ऐसी अवस्था हृद्रोग, वृक्क या मस्तिष्क रोगो में चिन्तनीय स्थिति मे पाई जाती है। ऊर्ध्व श्वास भी मृत्यु के समीप की अवस्था है (Sterterous breathing), श्वास सस्थान के पात (Failure of respiratory system) में पाई जाती है, सद्यो घातक और असाध्य होती है। छिन्न श्वास जिसमे श्वास वेग कभी कम और कभी वढ जाता है और कभी कुछ काल के लिये श्वास की गति रुक जाती है फिर चालू होती है (Cheyne Stocks respeirati-on)। यह भी एक सावातिक अवस्था है, रोगी क्लान्त हो जाता है और प्राण-त्याग भी हो जाता है। तमक श्वास दमा का रूप है (Bronchial Asthma Allergic Asthma or spasmodic Bronchitis) यह एक याप्य रोग है। रोगी सम्यक्तया आहार-विहार तथा औषधि के वल पर ठीक हो जाता है—अभाव मे रोग वढ जाता है। क्षुद्र श्वास अधिक दौड-धूप के कारण या मेदस्वी व्यक्तियो मे अल्प श्रम से उत्पन्न होनेवाला श्वास है और साध्य है।[1]

तमक श्वास के पुन. दो भेद हो जाते है—१ प्रतमक तथा सतमक। इनमें प्रथम म वेगो के विधारण से वाताधिक्य पाया जाता है—यह रोग अधिकतर योगाभ्यास स अनभिज्ञ व्यक्तियो मे प्राणायाम की विधियो की विपरीत क्रिया से उत्पन्न होते देखा जाता है। दूसरा पित्ताधिक्य में अधिक होता है और शीतल उपचार से रोगी को शान्ति मिलती है।

श्वास रोग मे क्रियाक्रम—हिक्का रोग मे सामान्य उपक्रमो का उल्लेख हो चुका है जैसे स्नेहन, स्वेदन, वलवान् रोगी में शोधन अन्यथा शमन चिकित्सा करना। हिक्का और वात-श्लेष्म दोषो से पैदा होते है अस्तु दोनो में समान भाव से वात-श्लेष्महर उपचार लाभप्रद रहता है।

चरक में लिखा है—जो भी अन्न-पान या औषधि कफ-वात को नष्ट करने वाली एव वातानुलोमन है। श्वास एवं हिक्का रोग मे प्रशस्त है। वात को

---

१. क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषा तमक कृच्छ्र उच्यते। त्रय श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्वलस्य च ॥

बढाने वाली कफको हरने वाली अथवा कफ को बढाने वाली लेकिन वात को हरने वाली, ऐकान्तिक क्रिया का क्रम ठीक नही रहता है। बृहण अथवा कर्शन का कार्य हिक्का तथा श्वास के रोगियो में बहुत विचारपूर्वक करना होता है। बृहण अथवा कर्शन के अति मात्रा में होने से हानि की आशका रहती है, परन्तु सशमन कार्य बिल्कुल ही निरापद रहता है। अस्तु हिक्का-श्वास के रोगियो में अधिकतर सशमन के द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिए।[1]

श्वास रोग में भेपज-वानस्पतिक (Vegitable sources)—१. हरीतकी ३ माशे, शुठी चूर्ण २ माशा मिश्रित कल्क का उष्ण जल के साथ सेवन। २. पुष्करमूल १ माशा, यवक्षार १ माशा और काली मिर्च का चूर्ण १ माशा का उष्ण जल के साथ सेवन। हिक्का और श्वास दोनो मे लाभप्रद है। ३. बहेडे के फल के छिलके का चूर्ण १ तो०, मधु १ तोला मिलाकर सेवन श्वास तथा हिक्का मे सद्य लाभप्रद होता है ४ पुराने गुड के १ तोला में सरसो का शुद्ध तैल १ तोला मिलाकर प्रतिदिन सेवन करने से कुल तीन सप्ताह के प्रयोग से श्वास रोग मे पर्याप्त लाभ होता है।[2] ५ बिल्व पत्र स्वरस या अडूसे की पत्ती का रस या सहदेवी की जड और पत्ती का रस या कमलपत्र-स्वरस का कटुतैल-सरसो के तेल के साथ सेवन। ६ कुष्माण्ड (पेंठे) का सूखा चूर्ण ६ माशे गर्म जल के साथ। ७ छोटी पीपल और सैधव और अदरक के रस का सेवन। ७ शुद्ध गधक का गोघृत के साथ सेवन श्वास में लाभप्रद होता है। ९ भारङ्गी और गुड का सेवन या भारङ्गी एव सोठ का क्वाथ गुड मिलाकर सेवन करना भी श्वासघ्न होता है।[3] १०. केवाछ के बीज का चूर्ण घी और मधु के साथ सेवन करना। मात्रा ३ माशा चूर्ण, घृत ६ माशा और मधु १ तोला।

---

१ यत्किंचित् कफवातघ्नमुष्ण वातानुलोमनम्। भेपजमन्नपान व तद्धितं श्वासहिक्किने ॥ वातकृद्वा कफहर कफकृद्वाऽनिलापहम्। कार्यं नैकान्तिकं ताभ्या प्राय श्रेयोऽनिलापहम् ॥ सर्वेपा बृहणे ह्यल्प शक्यश्च प्रायशो भवेत्। नात्यर्थ शमनेऽपायो भृशं शक्यश्च कर्शने ॥ तस्माच्छुद्धानशुद्धाश्च शमनैर्बृंहणैरपि। हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥ (च चि. १७)

२ गुड कटुकतैलेन मिश्रयित्वा सम लिहेत्।
त्रिसप्ताहप्रयोगेण श्वास निर्मूलतो जयेत् ॥ (भै र)

३ आर्ये प्राणप्रिये जातीफललोहितलोचने।
भार्ङ्गीनागरयोः क्वाथ श्वासत्राणाय पाययेत् ॥ (वै जी)

११. अश्वगंध का क्षार (असगन्ध जलाकर उसकी राख) का मधु से सेवन। १२. सुवर्चला का स्वरस या शिरीष पुष्प स्वरस या सप्तपर्ण स्वरस का मधु के साथ सेवन। १३ मण्डूकपर्णी का स्वरस और कटु तैल का सेवन। रसयोगो के अनुपान रूप में भी इनका उपयोग किया जा सकता है।

जीवद्रव्य

गाय, खर, अश्व, उष्ट्र, शूकर, भेंड और गज के विष्ठा का रस पृथक्-पृथक् कफाधिक्य युक्त श्वास रोग में मधुके साथ पिलाने से लाभप्रद होता है। मयूर-पाद नाल (मोर के पैर की नली), शल्लक, साही का शकल (मत्स्य-शकल के आकार का शकल), कुत्ता, जाण्डक, चाप, कुरर के रोम-केश, शृंगवाले तथा एक खुर या दो खुर वाले पशुवो के चर्म, अस्थि तथा खुर। इन द्रव्यो की भस्म पृथक्-पृथक् या एक में मिलाकर घृत और मधु से सेवन श्वास रोग मे बडा ही लाभप्रद होता है। इनका प्रयोग सदैव कफ की अधिकता युक्त श्वास में करना उत्तम होता है।[1] इनमें अश्वखुर एक बडा सुलभ पदार्थ है इसको जलाकर उसकी राख १ माशा और यवक्षार १ माशा मिलाकर मधु के साथ देने से सद्य लाभ होता है। यह एक सिद्ध योग है। खरगोश, शल्लक मास और शल्लक शोणित और पिप्पली से सिद्ध घृत का प्रयोग श्वास में वाताधिक्य होने पर देना चाहिये।

हरिद्रादिलेह—हल्दी, कालीमिर्च, मुनक्का, रास्ना, छोटी पिप्पली, कचूर और पुराना गुड सब मिलाकर महीन पीस कर कडवे तेल में मिलाकर चाटने से श्वास रोग में उत्तम लाभ होता है।

शृंग्यादि चूर्ण—काकडासीगी, भारगी, त्रिफला, सोठ, पीपरि, कालीमिर्च, कटकारी, नागर मोथा, पुष्करमूल, कचूर और कालीमिर्च सब का एक-एक भाग लेकर महीन चूर्ण बनावें फिर उसमें मिश्री ७ भाग मिलाकर रखले। मात्रा ६ माशे। अनुपान शहद। इस औषधि के साथ बृहत् पंचमूल, गुडूची और अडूसे का काढा भी पिये। तो उग्र श्वास रोग में भी तीन दिनो में लाभ पहुँचता है। शृंग्यादि चूर्ण एक दूसरा योग है जिसमें मिश्री के स्थान पर पंच लवण पडता है। इसका भी सेवन उत्तम रहता है। शृंग्यादि चूर्ण का केवल गर्म जल से पीना भी लाभप्रद रहता है।

---

१ एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपत।
तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे॥ (च चि. १७.)

दशमूल कषाय—दशमूल के क्वाथ में पिप्पली चूर्ण ४ र० का प्रक्षेप डालकर पीना अथवा पुष्कर मूल ४ रत्ती का प्रक्षेप डालकर पीने से श्वास तथा कास मे लाभ होता है।

वासादि क्वाथ—अडूसा, हल्दी, धनिया, गुरुच, भारंगी, छोटी पीपल, सोठ, मरिच और कटकारी इन का सम भाग में लेकर जौकुट कर के २ तोले द्रव्य को ३२ तोले जल में खौलकर ८ तोले जल मे खौलाकर ८ तोले शेप रहने पर पिलावे। दिन मे दो बार प्रातः और सायम्। यह एक सिद्ध योग है। यह (anti spasmodic) तथा (anti Alergic) पडता है। कास और श्वास में बडा लाभप्रद होता है।[1] क्वाथ मे कुछ लोग मरिच का चूर्ण डालने का विधान बताते है—अर्थात् मरिच के अतिरिक्त अन्य द्रव्यो का क्वाथ बनाकर उसमे ७ दाने मरिच को छोड कर पीना।

डामरेश्वराभ्र—वज्राभ्रक भस्म को लेकर खरल मे डालकर निम्नलिखित द्रव्यो की प्रत्येक की एक भावना दे। भारङ्गी, धतूर, गिलोय, अडूसा, कसौंदी, पारिभद्र, चव्य, पीपरा मूल और चित्रक का क्वाथ या स्वरस यथालाभ। मात्रा ३ रत्ती की गोलियाँ। अनुपान अदरक का रस और मधु।

महाश्वासारि लौह—लौह भस्म २ तोला, अभ्रक भस्म ½ तोला, पिसी हुई मिश्री और शहद दो दो तोले। हरड, वहेरा, आँवला, मुलैठी, मुनक्का, वेरकी मज्जा, वंशलोचन, तालीश पत्र, वायविडङ्ग, छोटी इलायची, पुष्कर मूल और नागकेसर प्रत्येक का चूर्ण ½ तोला। लौह के खरल मे डालकर लौह के मुमली से छ घटे तक घोटकर ३ रत्ती की वटिका वनाकर रख ले। मात्रा १-२ गोली। अनुपान मधु। सभी प्रकार के श्वास रोग मे लाभप्रद।

श्वास कुठार रस—कज्जली, शुद्ध वत्सनाभ विप चूर्ण, शुद्ध टकण, शुद्ध मन शिला प्रत्येक एक एक तोला तथा ८ तोला काली मिर्च का चूर्ण, ६ तोला पिप्पली चूर्ण और ६ तोला सोठ का चूर्ण। प्रथम पारद–गधक की कज्जली वना कर शेप द्रव्यो को महीन पीस कर मिश्रित करे। मात्रा १-२ रत्ती। अनुपान आर्द्रक स्वरस और मधु। विविध प्रकार के श्वास और कास रोग मे लाभप्रद। इस श्वासकुठार का नस्य भी दिया जा सकता है। मूर्च्छा, सूर्यावर्त, अर्धावभेदक तथा अपतत्रक मे नासारध्र से इसका प्रयोग रोगी को जागृत

---

१. वासाहरिद्राधनिकागुडूचीमार्ङ्गीकणानागररिङ्गिणीनाम्। (छोटी कटेरी या रेंगनी)। क्वाथे नमारीचरजोऽन्वितेन श्वास शम कस्य न याति पुस ॥

(वै. जी)

करने के लिए किया जा सकता है। इस योग में मन शिला पड़ा हुआ है जो एक संखिया का यौगिक है।

श्वास-कासचिन्तामणि रस—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग सोनामाखी की भस्म १ भाग, सुवर्ण भस्म १ भाग, मुक्ता भस्म ½ भाग, अभ्रक भस्म २ भाग, लौह भस्म ४ भाग। सबको एकत्र महीन पीसकर खरल में डालकर कटकारी स्वरस, बकरी का दूध, मधुयष्टी का काढा और पान के रस में से प्रत्येक की सात सात भावना देकर बनावे। मात्रा १ से २ रत्ती। अनुपान पिप्पली चूर्ण और मधु। यह एक उत्तम योग है। सभी प्रकार के श्वास में विशेषत हृज्ज श्वास (Cardiac Asthma) में लाभप्रद पाया जाता है।

नागार्जुनाभ्र रस—सहस्रपुटी अभ्रक भस्म (अभाव मे अधिक से अधिक पुट का अभ्रक भस्म ले) को अर्जुन की छाल के क्वाथ में सात भावना देकर छाया में सुखाकर रख ले। मात्रा २ रत्ती। अर्जुन क्षीरपाक। यह हृदय के विविध कपाटीय रोग (Volvulardiseases) एवं तज्जन्य श्वास रोग मे लाभप्रद पाया जाता है। बल को बढाने वाला, वृष्य तथा रसायन है।

भार्गी गुड—भारङ्गी ५ सेर, दशमूल ५ सेर, पोटली में बाँध कर १०० बडे हरड सबको एक बडे भाण्ड में लेकर चतुर्गुण जल छोड कर आग पर चढावे, चतुर्थांश क्वाथ शेष रहने पर छान कर उसको पृथक् रख ले। फिर इस छाने क्वाथ को एक कलईदार कडाही मे रख कर उसमे ५ सेर गुड घोल कर, स्विन्न किये हरडों को डाल कर चूल्हे पर पुन पाक करे जब वह गाढा होने लगे तो उसमे सोंठ, मरिच, पीपरि, इलायची, दालचीनी और तेजपात इनमे से प्रत्येक का चूर्ण ४ तोले और यवक्षार २ तोले मिलाकर चलाते रहे। चाशनी के गाढा होने पर उतारे। ठंडा हो जाने पर उसमें २४ तोले शुद्ध शहद मिलाकर किसी मृतवान में भर कर रख ले। मात्रा २-४ हरड चाशनी के साथ। अनुपान गर्म दूध या जल। श्वास रोग मे दौरे के बीच के काल में इसका एक बल्य-योग (tonic) के रूप मे व्यवहार लम्बे समय तक करना चाहिए।

कनकासव—धतूरे का पचाङ्ग (मूल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल सबमे युक्त) १६ तोले, अडूसे की जड १६ तोले, महुवे का फूल ८ तोले, तालीश पत्र ८ तोले, पिप्पली-कण्टकारी-नागकेशर-शुण्ठी-भारगी प्रत्येक ८ तोले। कूट पीस कर चूर्ण के रूप में कर लेवें। धाय के फूलो का चूर्ण १ सेर, मुनक्का १ सेर, जल २५ सेर ८ तोले, मिश्री ५ सेर और शहद २॥ सेर। घृतस्निग्ध भाण्ड में भर कर भाण्ड का मुख बंद करके एक मास तक एकान्त वायु के

झोको से रहित और उष्ण स्थान मे रखे। पश्चात छान कर बोतलो मे भर कर रख ले। मात्रा २-४ तोला। समान जल मिला कर भोजनोत्तर। श्वास रोग मे एक उत्तम योग है।

शर्बत एजाज, शर्बत शहतूत, शर्बत लिसोडा और शर्बत अडूसा भी लाभप्रद होता है।

सोम कल्प—एफेड्रा वल्गेरिस (Ephedra Valgari) नामक औषधि का चूर्ण ४ रत्ती से १ माशा की मात्रा मे देने से तत्काल लाभ होता है। तमक श्वास (दमा) के दौरे के काल मे दौरे के वेग को तत्काल कम करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। सोम-सत्त्व (Ephedrine Hydrochloride) नाम से इस औषधि का प्रयोग बहुलता से हो रहा है। इसकी मात्रा ⅛ ग्रेन से ½ ग्रेन की गोलियाँ औषधि विक्रेताओ से प्राप्त होती है। वैद्यक दृष्टि से सोम चूर्ण का (Crudeform) मे प्रयोग ही अधिक समीचीन होता है।

इसे शृंगाराभ्र, श्वास कुठार, श्वासकासचिन्तामणि या महाश्वासारि लौह के साथ २ रत्ती की मात्रा मे प्रति मात्रा मिलाकर दिया जा सकता है।

यदि स्वतत्र देना हो तो रस सिन्दूर के साथ मिलाकर देना उत्तम रहता है। जैसे **सोम योग** (सि० यो० संग्रह)—रस सिन्दूर १ भाग, सोम चूर्ण २० भाग। प्रथम रस सिन्दूर को महीन पीसे फिर उसी खरल मे सोम चूर्ण का कपड़छन चूर्ण मिलाकर एक दिन मर्दन करके शीशी मे भर कर रखले। इस चूर्ण का अकेला ५ से १० रत्ती की मात्रा में जल या मधु से श्वास के दौरे के समय एक दो मात्रा दे। तात्कालिक अच्छा लाभ होता है।

श्वासहर धूम—१ धतूरे की पत्तो, शाखा और फल को कूट कर छाया मे सुखाले। फिर निर्धूम अगारे पर रख कर मध्य छिद्र युक्त सकोरे से ढक दे, फिर रबर की नली लगा कर धूम का पान करे। इसको तम्बाकू पीने वाली चिलम और हुक्के पर चढा कर पिया जा सकता है। इससे श्वास के दौरे मे तात्कालिक लाभ होता है।[1]

२. **धूमयोग**—(सि० यो० स०) छाया मे सुखाई हुई अडूसे की पत्ती ४ भाग, धतूरे की पत्ती २ भाग, भाग २ भाग, चाय २ भाग और खुरासानी अजवायन की पत्ती २ भाग। सबको मिलाकर मोटा चूर्ण करके कलमी शोरे के सतृप्त विलयन (कलमी सोरे को जल मे घोलता चले जब ऐसी स्थिति आजावे कि

---

१. कनकस्य फल शाखा-पत्र सकुट्य यत्नत।
शोषयित्वा तु तद्धूमपानोच्छ्वासो विनश्यति॥ (भै० र०)

उसमें शोरा घुल सके तो उसको संतृप्त घोल या विलयन कहते है) में भिगोकर छाया में सुखा कर रखले। आवश्यकता पड़ने पर इसको मोटे कागज में सिगरेट जैसे बना कर जला कर उसका धूम पिलावे। दौरे में तत्काल आराम होता है। रोगी को खुश्की अनुभव हो वे तो थोड़ी देर बाद गो का दूध और मिश्री पीने को देना चाहिए।

उपसंहार—श्वास के पाँच भेद बतलाये गये है। इनमे महाश्वास, ऊर्ध्व श्वास, तथा छिन्न श्वास असाध्य बतलाये गये है। इनमें चिकित्सा ईश्वराधीन रहती है। यदि रोगी की आयु शेष है तब तो उपचार से लाभ की आशा रहती अन्यथा प्राणभय उपस्थित रहता है। इन अवस्थाओ मे अधिकतर हृदय तथा श्वसनक उत्तेजक योगो का प्रयोग (Heart Respiratory Stimulants) ही श्रेयस्कर होता है। जैसे कूपीपक्व रसायन, रस सिन्दूर, चन्द्रोदय, मकरध्वज, कस्तूरी भूषण, चतुर्मुख रस आदि।

इस अधिकार मे पठित नागार्जुनाभ्र, महाश्वासारि लौह अथवा श्वासकास चिन्तामणि रस उत्तम योग है। इनमे से किसी एक का किसी एक कूपीपक्व रसायन के साथ मिश्रित करके देना चाहिए। जैसे रस सिन्दूर ½ र०, श्वासकास-चिन्तामणि रस २ र०, नागार्जुनाभ्र रस १ र० मिश्रित एक मात्रा दिन मे तीन या चार मात्रा मण्डूकपर्णी के रस और मधु के साथ या रुद्राक्ष के घृष्ट चंदन और मधु के साथ।

शेष दो श्वास रोगो मे अर्थात् तमक श्वास या क्षुद्र श्वास रोगो में ही प्रयुक्त होने वाली सम्पूर्ण चिकित्सा का उल्लेख पाया जाता है। क्षुद्र श्वास तो एक सुसाध्य रोग है। किसी एक योग के प्रयोग से पीड़ित रोगी लाभान्वित हो जाता है, परन्तु तमक श्वास (Asthma) एक चिरकालीन स्वरूप का हठी फलत याप्य रोग है। इसमे व्यवहृत होने वाले बहुविध उपचारो का उल्लेख ऊपर में हो चुका है। आधुनिक दृष्टि से तमक श्वास वृक्कजन्य (Renal), हृज्ज (cardiac) हृदय के विकारो के कारण तथा श्वासनलिकीय (Bronchial) प्रभृति हो सकते है। कई बार अनूर्जता (Allergic) जन्य भी पाया जाता है। उष्ण कटिबंधज उपसिध्रियता (Tropical Eosinophilia) तमक श्वास के सदृश ही विकार है। इन सभी अवस्थाओ मे चिकित्सा का भेद होते हुए पर्याप्त समता है। इस समता के आधार पर ही आयुर्वेद ग्रंथो मे चिकित्सा लिखी मिलती है। यहाँ पर एक अनुभूत व्यवस्था पत्र दिया जा रहा है जो प्राय सभी प्रकार के श्वास रोगो में लाभप्रद पाया जाता है।

(१) श्वासकासचिन्तामणि रस	२ र०	श्वासकासचिन्तामणि सुलभ न हो या अधिक मूल्यवान प्रतीत हो तो हटा दे। सखिया के योगो का देना अधिक लाभप्रद प्रतीत हो तो मल्लसिन्दूर या मल्ल चद्रोदय दिन भर मे १ रत्ती मिलाया जा सकता है। श्वास कुठार भी सखिया का योग है।
शृगाराभ्र रस	४ र०	
शिलाजत्वादि लौह	३ र०	
श्वासकुठार रस	४ र०	
मोम चूर्ण	१ मा.	
यवक्षार	४ र०	
तालीशादि चूर्ण	६ माशे	

सबको मिलाकर पीस कर ४ मात्रा मे विभाजित करे।

अनुपान—केवल मधु मे या केवल अडूसे के शर्बत से या केवल शर्बत एजाज से या शर्बत एजाज, शहतूत, लिसोढा और अडूसे के मिश्रण से। ४-४ घटे पर दिन मे चार वार।

(२) अर्क लवण—४ माशे २ मात्रा, भोजन के बाद एक मात्रा दोनो वक्त। अथवा

कनकासव—भोजन के बडे चम्मच से दो चम्मच बरावर पानी मिलाकर दोनों वक्त।

(३) वासादि कषाय—दिन मे एक बार प्रात या रात्रि मे। अनूर्जता (Allergy) के लक्षण मिलने पर विशेष लाभ होता है। श्वास रोग मे दो प्रकार की चिकित्सा अवस्थाभेद से की जाती है। दौरे के समय की वेगकालीन तथा वेगो के बीच वेगान्तर कालीन। वेगकालीन चिकित्सा तत्काल दौरे को शात करने के लिए धूम प्रयोग, सोम कल्प या अर्क लवण २ माशे की मात्रा मे गर्म पानी से देना उत्तम रहता है। वेगान्तर काल में पौष्टिक, बल्य तथा अन्य सशामक योगो का प्रयोग श्रेयस्कर रहता है।

पथ्यापथ्य—तमक श्वास के रोगी मे पथ्यापथ्य का विवेक आवश्यक रहता है। वातश्लेष्मकर एव रूक्ष तथा शीत आहार-विहार अनुकूल नहो पडते है। नया गुड, दधि, नया चावल, उडद, मत्स्य, वैगन, कद शाक, ठडा दूध, लस्सी, वर्फ का शर्बत, ठडाजल, ठडे और धूलि-धूम युक्त स्थान, अधिक परिश्रम-अति स्त्री सग, मलमूत्र, छीक आदि के वेगो का रोकना आदि अपथ्य है।

पथ्य—गर्म किया हुआ गाढा दूध, मलाई, मिश्री, पुराना गुड, चने, रहर की दाल, गेहूँ, जौ, पुराना चावल, वथुवा, चौलाई, मूली, परवल, लहसुन, प्याज आदि गर्म मसाले, विरेचन, स्वेदन, औपधि युक्त धूमपान, वमन आदि कर्म प्रशस्त

है। सूखे फल—मुनक्का, खजूर, बादाम आदि मेवे उत्तम रहते है। जागल पशु-पक्षियो के मासरस का सेवन भी पथ्य होता है। तमक श्वास के रोगी मे प्रात.काल में सूर्योदय के पूर्व किसी जलाशय या नदी में स्नान करना भी लाभप्रद पाया जाता है। स्नान के बाद शीघ्रता से अग को पोछ कर गर्म कपडे मे शरीर को आवृत कर लेना चाहिए। पीने के लिए उष्ण जल देना चाहिए। श्वास और हिक्का के रोगी में शीतल जल प्रतिकूल पडता है। ब्रह्मचर्य का पालन भी इस रोग मे पथ्य होना है। श्वास के रोगियो मे तम्बाकू के नस्य की आदत डालना उत्तम रहता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

स्वरभेद-प्रतिषेध

प्रावेशिक—गले का भारीपन या गले का बैठना या आवाज का भद्दा होना स्वरभेद कहलाता है। यह प्रतिश्याय, कास और श्वास रोग में पाई जाने वाली एक सामान्य व्यथा (complaint) है। कई दशाओं मे मिल सकता है, मामूली स्वरभेद, दीर्घकालीन स्वरावसाद, स्वरलोप अथवा स्वरोपघात। शब्दोच्चारण मे होने वाला विकार अर्थात् स्वरभेद स्वरयत्र के स्थानिक अथवा मस्तिष्कगत वाणी केन्द्र के प्रभावित होने से आंशिक या पूर्णघात तक हो सकता है। स्वर-यत्र के स्थानिक विकृति के भेद से कई प्रकार का रूप हो सकता है जैसे १. खर-स्वरता (Hoarseness of voice) २ भाषणकृच्छ्रता (Dysphagia) ३ स्वरावसाद (Aphonia), यह अवस्था तीव्र स्वर-यत्र शोथ (Acute or catarrhal laryngitis) अथवा पुराण स्वर यंत्र शोथ (chronic laryngitis) में मिलती है। स्वरभेद से अपने अध्याय का प्रतिपाद्य विषय यहीं तक सीमित है।

इस प्रकार स्वरभेद ऊँचे स्वर से बोलना या गाना (भाषण देना, चिल्लाना), अत्युच्च स्वर से अध्ययन (पाठ करना), अभिघात (Tranma) अथवा विषसेवन से होता है। इन कारणो से वातादि दोष कुपित होते हैं और वे कुपित होकर स्वरवाही स्रोतो मे अधिष्ठित होकर स्वर को नष्ट कर देते है जिसे स्वर-

भेद नामक व्याधि से अभिहित किया जाता है।[1] पानी के दोष से भी स्वर-भेद पैदा होता है। यात्रा मे विभिन्न स्थानो का जल पीने से प्रायः स्वर का भेद होना देखा जाता है।

मस्तिष्कगत वाणीकेन्द्र के प्रभावित या विकारयुक्त होने से यदि पूर्णतया स्वरनाश हो जाय तो उसको मूकता (Aphasia) कहते है। इसका कारण मस्तिष्कगत वाणीकेन्द्र की भयकर विकृति है। यह मूकता यदि आशिक हुई तो उसे वाकक्रृच्छ्रता (Dysphasia) कहते है। इसके अतिरिक्त एक और तीसरी अवस्था भी हो सकती है जिसे गद्‌गद् वाक् (Dysarthria) कहते हैं। ये अवस्थायें सान्निपातिक ज्वर की विषमयता के परिणाम स्वरूप या वात रोगो मे जिसमें स्वरोत्पादक साधन (स्वर यत्र ओष्ठ, जिह्वा और तालु) का घात के (Paralysis) फल स्वरूप पाई जाती है। इनका उपचार वातरोगो के अध्याय मे बतलाया जायेगा।

यहाँ पर स्वरभेद (Hoarseness of the voice) का वर्णन विशुद्धतया स्वर यत्र की स्थानिक-विकृति के परिणाम से होने वाले स्वरभेद (laryngitis) का ही किया जायेगा।

यह स्वरभेद स्वतंत्रतया या रोगो के उपद्रव स्वरूप या किसी प्रधान व्याधि के लक्षण रूप मे भी मिल सकता है। यह छ प्रकार का होता है—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, क्षयज तथा मेदोज। इनमे क्षीण, वृद्ध, कृश रोगियो का स्वरभेद या दीघकालीन जन्मजात, सान्निपातिक अथवा मेदस्वी व्यक्तियो में मेदाधिक्य के कारण होने वाला स्वरभेद असाध्य होता है। शेष साध्य होते है।[2]

स्वरभेद में क्रियाक्रम—सर्वप्रथम उपचार-कारणो का दूर करना होता है, यदि बहुत बोलने या भाषण देने से स्वरभेद हो, तो गले और स्वरयंत्र को पूर्ण विश्राम देने के उद्‌देश्य से बोलना छोडकर मौन रहना रोगी के लिए हितकर होता है। शरीर के बल एवं पुष्टि को बढाने वाले, कफघ्न और स्वर शुद्ध करनेवाले अन्न-पान तथा आचार स्वरभेद मे हितकारक होते हैं। इसके लिये जो, लालचावल,

---

१ अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-सदूषणै. प्रकुपिता. पवनादयस्तु। स्रोत सु ते स्वरवहेषु गता प्रतिष्ठा हन्यु स्वरं भवति चापि हि षड्‌विध स ॥ वातादिभि पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च।

२ क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजात.।
मेदस्विन सर्वसमुद्‌भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ (सु उ. ५३)

हंस (बत्तक) और मुर्गे का अण्डा, मुर्गे, और मोरका मांसरस, मद्य, गोखरु, बिजौरे का रस, मकोय, जीवन्ती, कच्ची छोटी मूली, मुनक्का, हरीतकी, लहसुन, अदरक नमक के साथ, काली मिर्च, पान का रस या लगे पान का बीडा, घी, मलाई, रबडी का सेवन पथ्यकर होता है। रोगी में उष्णोपचार हितकर रहता है, अस्तु, पीने के लिये उष्णजल की व्यवस्था स्वरभेद में करनी चाहिये। उष्ण पेय चाय, कोको, काफी अच्छा है।

कपित्थ, जामुन, बकुल तथा अन्य कच्चे फल, शालूक (बिस या जलकंद), कषाय एवं अम्ल रस द्रव्य, दही, वमन कर्म, दिवा स्वप्न आदि पदार्थ स्वरभेद वाले रोगी के लिये प्रतिकूल पड़ते हैं। अभिष्यन्दकारक आहार-विहार, शीत और वेगों का विधारण भी अपथ्य होता है।[1] शीतपेयों (cold drinks) का निषेध करना चाहिये।

स्वरभेद में सामान्यतया स्वेदन, वस्ति देना, धूमपान, विरेचन-नस्य, कवल-ग्रह (गार्गल) और सिरावेध के द्वारा उपचार करना होता है।[2]

वातिक स्वरभेद में—भोजनोत्तर (भोजन के बाद) घृत का पिलाना। घृत में मरिच चूर्ण मिलाकर देना चाहिये। कास-मर्द का रस और भारंगी से सिद्ध घृत भी पथ्य होता है।[3]

पैत्तिक स्वरभेद में—मधुर (मधुयष्टि, मुनक्का, खजूर आदि) द्रव्यों से पकाये दूध का प्रयोग करना चाहिये। मृदु रेचन देना चाहिए। मुलैठी के काढ़े का घी मिलाकर सेवन उत्तम रहता है। मधुर रस वाले द्रव्यों का मधु के साथ सेवन उत्तम रहता है। शतावरी, बला और धान्य लाज के चूर्ण का मधु के साथ सेवन उत्तम रहता है। शर्करा, मिश्री, बताशे या तालमिश्री का चूसना लाभ करता है। सुंठी, मधुयष्टि, क्षीरीवृक्ष के कल्क और दूध से सिद्ध घृत का प्रयोग हितकर होता है।[4]

---

१ बलपुष्टिकरं हृद्यं कफघ्नं स्वरशुद्धिकृत्।
अन्नं पानं च निखिलं स्वरभेदे हितं मतम्॥
२ द्राक्षा पथ्या मातुलुङ्गं लशुनं लवणार्द्रकम्।
ताम्बूलं मरिचं सर्पिः पथ्यानि स्वरभेदिनाम्॥
३ नात्राभिष्यन्दि संसेव्यं न च शीतक्रिया हिता।
दिवास्वापो न कर्त्तव्यो न च वेगविधारणम्॥
४ स्वरोपघातेऽनिलजे भक्तोपरि घृतं पिबेत्।

श्लैष्मिक स्वरभेद में—पिप्पली, पिप्पलीमूल, मरिच और शुठी का सम प्रमाण मे बनाया चूर्ण २ माशे की मात्रा मे गोमूत्र के साथ लेना हितकर होता है।[1]

त्रिदोषज स्वरभेद मे—अजमोदा, हरिद्रा, आमलकी, चित्रक, यवक्षार का समप्रमाण मे बनाया चूर्ण ३ माशे, मधु ६ माशे, घृत १ तोले के साथ मिलाकर सेवन।

क्षयज और मेदोज स्वरभेद मे—क्षयरोग और मेदो रोग (स्थौल्य रोगाधिकार) के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

कवल-धारण—(Gargles)—स्वरभेद मे कवल-ग्रहण बडा उत्तम उपचार है। कवल के द्वारा स्वरयत्र, गला, तालु, जिह्वा, दन्तमूल आदि मुख-गह्वरगत अवयवो मे चिपका हुआ कफ निकल जाता है—कफ के निकल जाने से स्वर शुद्ध हो जाता है। अस्तु, बहुत प्रकार के कवलो का प्रयोग शास्त्र मे पाया जाता है।[2]

वातिक स्वरभेद मे कटु तेल और लवण मिलाकर, पैत्तिक मे घृत और मधु मिलाकर और कफज स्वरभेद मे कटुद्रव्य एव मधु और क्षार मिलाकर कवल धारण करना उत्तम रहता है।[3]

भेपज—सामान्यतया कवल के लिए गर्म जल मे नमक डालकर कुल्ली करना, या गर्म जल मे शुद्ध फिटकरी का चूर्ण डाल कर कुल्ली करना, अथवा त्रिफला का काढा बना कर उसमे सरसो का तेल छोड कुल्ली करना अथवा क्षीरी वृक्षके छालो का क्वाथ बनाकर कवल धारण उत्तम रहता है।

रोगी को घृत, रबडी, मलाई प्रभृति स्निग्ध आहार या मासरस के साथ अन्न देना चाहिए और पीने के लिए गर्म जल देना चाहिए। गर्म दूध का पीना भी लाभप्रद रहता है। यदि कफ दोष की अधिकता प्रतीत हो तो दूध मे थोडा सोठ या पिप्पली का चूर्ण छोडकर उबाल देना चाहिए। १ मरिच चूर्ण का

---

१ पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरैः शृतम्।
पिप्पली पिप्पलीमूल मरिच विश्वभेषजम्।
पिबेन्मूत्रेण मतिमान् कफजे स्वरसक्षये॥

२ गले तालुनि जिह्वाया दन्तमूलेषु चाश्रित।
तेन निष्क्रमते श्लेष्मा स्वरश्चाशु प्रसीदति॥

३ वाते सलवण तैल पित्ते सर्पिः समाक्षिकम्।
कफे सक्षारकटुक क्षौद्र कवलमिष्यते॥

२ मा घृत के साथ सेवन। २. वेर की पत्ती को घी मे भूनकर सेंधानमक मिला-कर सेवन [1]। ३ जीवनीय गण की औषधियो से सिद्ध दुग्ध में चीनी और शहद मिलाकर सेवन। ४. आमलकी फल ताजा या अभाव आमलकी चूर्ण ३ माशे गर्म दूध के साथ सेवन ५ विभीतक (बहेडे) के फल का छिलका लेकर उसका चूर्ण बनाकर २ माशे पिप्पली चूर्ण १ माशा और सेंधानमक १ माशा मिलाकर सेवन करना।

भेषज-योग—

चव्यादि चूर्ण—चव्य, अम्लवेत, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, इमली के बीज, तालीश पत्र, श्वेत जीरा, वशलोचन, चित्रक, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात–प्रत्येक का एक-एक तोला और कुल चूर्ण के बराबर अर्थात् १३ तोला पुराना गुड मिलाकर एकत्र महीन पीसकर रखले। सभी प्रकार के स्वरभेद में लाभप्रद रहता है। मात्रा ३-६ माशे। अनुपान गर्मजल।

निदिग्धिकावलेह—छोटी कटेरी ५ सेर, पिपरामूल २॥ सेर, चित्रक मूल १। सेर, दशमूल की ओषधियाँ १। सेर, जल २५ सेर। क्वाथ बनाकर चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले। अब इस क्वाथ की कडाही में रख आग पर चढावे। उसमे पुराना गुड ३ सेर मिलाकर गाढा करे। जब अवलेह जैसे होने लगे तो उसमे पिप्पली चूर्ण ३२ तोले, त्रिजात (दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात) ३२ तोले, काली मिर्च का चूर्ण ४ तोला मिलाकर पाक को उतार ले। ठडा होने पर उसमें मधु १६ तोला मिलाकर रखले। दीर्घ-कालीन स्वरभेद में लाभप्रद है। प्रतिश्याय, कास में भी लाभप्रद होता है। मात्रा ६ माशे से १ तो अनुपान दूध या उष्ण जल।

किन्नरकंठ रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्रक भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म प्रत्येक १ तोला, वैक्रान्त भस्म ३ माशे, स्वर्ण भस्म १½ माशा और चादी की भस्म ६ माशा। अडूसे, भारङ्गी, बडी कटेरी, अदरक, ब्राह्मी के स्वरस या क्वाथ की पृथक्-पृथक् एक भावना। २ रत्ती की गोलियाँ। अनुपान शुण्ठी, शक्कर और मधु से सेवन।

इस गुटिका के सेवन से स्वरभेद दूर होता है। कंठ कोकिल-स्वर हो जाता है।

---

१ बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्।
स्वरोपघाते कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत्॥

उपसंहार—सामान्यतया स्वरभेद मे किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नही पडती है, प्रतिश्याय, कास आदि की चिकित्सा और कवल धारण, स्वर यत्र को आराम देने से ही स्वत एक सप्ताह के भीतर ठीक हो जाता है। कभी स्वरभेद अधिक दिनो तक चलने लगता है। उस अवस्था मे उसके विशेष उपचार की आवश्यकता पडती है। ऊपर लिखे उपक्रमो के अनुसार चिकित्सा करते हुए लाभ होता है।

सोलहवाँ अध्याय
अरोचक प्रतिषेध

प्रावेशिक—जिस रोग मे अरुचि (खाने मे रुचि या इच्छा का बिल्कुल न होना) प्रधान रूप से पाया जाता है उसे अरोचक कहते है। अरोचक (Anorexia) शारीरिक और मानसिक कारणो के भेद से दो प्रकार का हो सकता है। शारीरिक कारणो में आमाशयगत विकार जैसे आमाशयकला शोथ, कैन्सर, अनम्लता तथा रक्ताल्पता (Gasteritis, cancer, hypochlorhydria & Anaemia) अरुचि की उत्पत्ति मे भाग लेते है। मानसिक कारणो में शोक, भय, लोभ, क्रोध, मनोविघात (मन का टूटना) आदि कारण भाग लेते है। इस अवस्था में (anorexia nervosa) हर प्रकार के भोजन से रोगी को घृणा हो जाती है, थोडा भी खा लेने पर पेट फूला रहता है। पोषण के अभाव मे रोगी दुर्बल होता चलता है। प्राचीन ग्रथकारो ने पाँच प्रकार के अरोचक का वर्णन किया है—१ वात २ पित्त ३ कफ ४ सन्निपात दोष से (शारीरिक) तथा ५ मनोविघात (क्रोध, शोक लोभ प्रभृति मानसिक उद्वेगो से) के कारण होने वाले अरोचक।[1]

अरोचक में क्रियाक्रम—

वातजन्य अरोचक मे वस्ति कर्म, पित्तजन्य अरोचक मे विरेचन कर्म, कफ जन्य अरोचक मे वमन कर्म कराना चाहिये तथा मनोविघातजन्य अरोचक मे हृद्य–

---

१ वातादिभि. शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धै । अरोचका स्यु ॥ हृच्छूलपीडनयुत पवनेन पित्तात्तृड्दाहचोषबहुल सकफप्रसेकम् । श्लेष्म त्मक बहुरुज बहुभिश्च विद्याद् वैगुण्यमोहजडताभिरथापरञ्च ॥ (च चि २६)

रुचिकारक एव मन को प्रसन्न करने वाले आहार-विहार एवं औषधि करनी चाहिए।

अरोचक मे कवल धारण, धूम का उपयोग, मुखधावन, मनोज्ञ अन्न-पान, हर्षण एव आश्वासन, चित्र विचित्र स्वाद का पानक (शर्बत), लेह, तक्र, कांजी, षाडव (अचार, चटनी) आदि रोगी को खाने के लिए देना चाहिए। (अरुचौ चित्रभोजनम्)। लघु, सुपाच्य, रुक्ष तथा मनोनुकूल पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।[1] इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए ये विविध प्रकार के रुचिकर भोजन रोगी की प्रकृति, देश और काल के अनुकूल और सात्म्य हो।

१ विडङ्ग चूर्ण १ तोला, मधु ४ तोला मिलाकर मुख में धारण करने से कठिन अरोचक मे भी लाभ होता है।

२ **कवलग्रह या मुख का धावन**—२. त्रिकटु, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, को सम प्रमाण में लेकर चतुर्गुण जल में खौलाकर उसमें यवक्षार और मधु मिलाकर कुल्ली (Gargle) करना।

३ गुडके शर्बत में दालचीनी, छोटी इलायची, काली मिर्च प्रत्येक ½ माशे डालकर कुल्ली करना।

४ गण्डूष—कांजी मे सेंधानमक मिलाकर गर्म करके मुख मे भरना और बार-बार फेंकना मुख की विरसता को दूर करता है।

५. पानक—चीनी का गाढा शर्बत ६ भाग, कागजी नीबू का रस १ भाग, लवङ्ग तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर पीना। केवल नीबू का रस पीना, नीबू और नमक का चूसना भी अरुचि को दूर करता है।

६ **गुटिका**—कालाजीरा, श्वेत जीरा, काली मिर्च, मुनक्का, अम्लवेत, अनारदाना, काला नमक तथा गुड प्रत्येक समभाग में लेकर महीन चूर्ण करके मधु मिलाकर गोली २ माशे की बना ले। मुख मे धारण करके चूसने स सभी प्रकार के अरोचक में लाभ होता है।

७. तक्र—भुनी राई, भुना जीरा, भुनी हीग, सोठ और सैन्धव नमक प्रत्येक का एक तोला लेकर कूट-पीस कर महीन चूर्ण कर ले। गाय की मथी हुई दधि

---

१. वस्ति समीरणे पित्ते विरेको वमनं कफे। सर्वजे सर्वकामार्थं हर्षण स्याद-रोचके॥ अरुचौ कवलग्राहो धूमः सुमुखधावनः। मनोज्ञमन्न-पानं वा हर्षणाश्वासनानि च॥ सात्म्यान्स्वदेशरचितान् विविधांश्च भक्ष्यान्। पानानिमूलकफलषाडव-रागलेहान्। सेवेद्रसाश्च विविधान् विविधप्रयोगैर्भुञ्जीत चापि लघुरूक्षमन सुखानि॥ (या र)

दो छटाँक में ½ तोला इस चूर्ण को मिलाकर सेवन करे। इससे अग्नि और रुचिकी वृद्धि होती।

८ शिखरिणी–भली प्रकार औटाया दूध, वस्त्र मे बँधी हुई जल रहित भैंस की दही इनको एक मे मिलाकर इसमे बराबर चीनी मिलाकर एक मोटे कपडे पर घिस कर छान ले। पश्चात् उसमें छोटी इलायची, लौंग, कपूर और काली-मिर्च का चूर्ण मिलावे। यह एक रुचिकारक भोजन है।

९ रसाला–खट्टी दही १२८ तोला, श्वेत चीनी ६४ तोला, गोघृत और शहद ४-४ तोला, काली मिर्च और और सोठ का चूर्ण २-२ तोला, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात और नागकेसर प्रत्येक ½ तोला। प्रथम दही को एक कपडे में बाँधकर एक खूटी से लटका दे। जब उसका पानी निकल जाय। तब उस दही को एक श्वेत वस्त्र पर रखकर स्वच्छ हाथो से घिसकर छान ले। फिर कपडे से छाने दही में शेष द्रव्यो के चूर्णों को मिलाकर कपूर से वासित करके पात्र मे भर रख लेवे। यह रसाला सर्वप्रथम भीमसेन ने बनाई थी जिसको भगवान् श्रीकृष्ण ने आस्वादित किया था। यह स्निग्ध बृंहण और रुचिप्रद योग है।

१०. अवलेह—बिजौरा नीबू या कागजी नीबू का केसर, सैंधव तथा घी के साथ बार-बार लेने या नीबू का रस मधु से लेने से या अनार के दाने चूसने से अरुचि दूर होती है।[1]

११ सैंधव-अदरक—अदरक का नमक के साथ भोजन के पूर्व खाना।[2]

१२ चूर्ण—

यमानीषाडव—अजवायन, इमली का चूर्ण या सत्व, सोंठ, अम्लवेत, खट्टा अनार दाना, और खट्टे बेर की सूखी मज्जा प्रत्येक एक-एक तोला, धनिया, सोचल नमक (काला नमक), श्वेत जीरा और दालचीनी प्रत्येक आधा तोला, छोटी पीपल १००, काली मिर्च २०० तथा मिश्री १६ तोले। यह यमानी षाडव चूर्ण मुखशोधक, रुचिकारक, हृदय और पार्श्व-शूलशामक, विबंध तथा आनाह को दूर करने वाला, कास और श्वास शामक तथा ग्रहणी एवं अर्श मे भी लाभप्रद है। अरुचि मे इसका थोडा-थोडा चूसना या नीबू का रस मिलाकर सेवन फलप्रद होता है।

---

१. शमयति केसरमरुचिं सलवणघृतमाशु मातुलुङ्गस्य।
दाडिमचर्वणमथवा चरको रुचिकारि सूचयामास ॥ (यो र)

२ भोजनाग्रे सदा पथ्य लवणार्द्रकभक्षणम्।
रोचन दीपन वह्ने जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥ (भा० प्र०)

१३. रस योग—

सुधानिधि रस—शुद्ध पारद और गंधक एक-एक भाग लेकर कज्जली बनावे। उसमें दन्तीमूल क्वाथ की एक भावना दे। फिर जम्बीरी नीबू का रस, अदरख का रस, बिजौरा नीबू का रस, बिजौरे नीबू की मज्जा के रस की पृथक् पृथक् एक-एक भावना दे। फिर उसमें सुहागे की खील (शुद्ध टंकण) २ भाग, लवङ्ग ५ भाग, शुद्ध वत्सनाभ विष (पारे का चौथाई भाग) मिलाकर जल से पीसकर माशे-माशे भर की गोलियाँ बना ले। मात्रा १ से २ गोली। अनुपान-सुठी या गुड के साथ खावे। सभी प्रकार के अरोचक एवं अग्निमांद्य मे लाभप्रद है।

पथ्य—गेहूँ, चावल, मूग, शूकर-बकरा-खरगोश-हिरण का मास, मछली, तरबूज, बेंत के अग्र, मूली, बैंगन, सहिजन, अनार, केला, कमरख, परवल, काला नमक, घी, दूध, कच्चे ताल फल, लहसुन, सूरण, दाख, आम, नीम के कोमल पत्ते, काजी, मद्य, रसाला, दही, मट्ठा, अदरक, खजूर, कैथ, बेर, खाँड, हरड, अजवायन, काली मिर्च, हीग, स्वादु-अम्ल एवं तिक्त द्रव्य, उबटन, तीरे पर ठढे में टहलना और स्नान अरोचक में प्रशस्त है।

अपथ्य—वेगविधारण, अहृद्य अन्न-पान, रक्तमोक्षण, क्रोध, लोभ, शोक, भय प्रभृति मानसिक उद्वेगो की अधिकता, दुर्गन्ध एवं कुरूप द्रव्यो का अवलोकन अरोचक में वर्जित है।

सत्रहवाँ अध्याय

छर्दि-प्रतिषेध

प्रावेशिक—जिस रोग मे वमन (कै) होना प्रमुख लक्षण के रूप मे पाया जाता है उसको छर्दि रोग कहते है। यह पाँच प्रकार का वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, से (दोषज या शारीरिक) तथा आगन्तुक (मानसिक उद्वेग से) का होता है। अन्ननलिका तथा मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थो का वेगपूर्वक निकलना इस छर्दि रोग मे पाया जाता है।[1]

---

१. द्रुतमुत्क्लेशितो बलात्। छादयन्नानन वेगैरर्दयन्नंगभञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावित ॥ दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः। छर्दयः पञ्च विज्ञेया। अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति। अकाले चातिमात्रैश्च तथा सात्म्यैश्च भोजनै ॥ श्रमाद् भयात्तथोद्वेगादजीर्णात्क्रिमिदोषतः। नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथातिद्रुतमश्नत ॥ बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्य.।

प्रतीच्य वैद्यक के आधार पर छर्दि को तीन बडे भागो मे विभक्त किया जा सकता है ।

१. केन्द्रीय छर्दि (Central Vomiting)—मस्तिष्कगत वामक केन्द्र के उत्तेजना के फलस्वरूप वमन होना । इस प्रकार का वमन किसी वस्तु के प्रति स्वाभाविक घृणा, भय और वीभत्स हेतुओ से वामक केन्द्र के उत्तेजित होने से उत्पन्न होता है । इस प्रकार की अवस्था प्राय असहिष्णु (Neurotic) व्यक्तियो मे पायी जाती है । कई बार मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्कावरण शोथ प्रभृति रोगो मे शीर्षान्तरीय निपीड (Intra Cranial Pressure) के बढने से भी इस प्रकार की छर्दि का होना सभव है ।

१ प्रत्यावर्त्तन क्रियाजन्य छर्दि (Reflex Vomiting)—यह आमाशस्थ विकृत खाद्य पदार्थ, विभिन्न सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय विषो से आमाशय कला के क्षोभ तथा आमाशय के अधिक तन जाने से छर्दि उत्पन्न होती है । जैसे अतिद्रव, अति स्निग्ध, अहृद्य, असात्म्य भोजन आदि ।

३ विषजन्य छर्दि (Toxic Vomiting)—कई प्रकार के बाह्य तथा अतस्थ विषो का प्रभाव साक्षात् मस्किष्कगत वामक केन्द्र पर होता है फलत वमन होने लगता है । जैसे तूतिया, ताम्र, लवण जल तथा मूत्रविषमयता (uraemia) आदि ।

आगन्तुक छर्दि में सुश्रुत मे वीभत्स (घृणोत्पादक) पदार्थों का देखना, सूघना या सेवन के अतिरिक्त, कृमिजन्य छर्दि तथा गर्भकालीन छर्दि का भी वर्णन पाया जाता है । इनमे त्रिदोषज के अतिरिक्त सभी छर्दि रोग साध्य है, निम्नलिखित उपद्रवयुक्त छर्दि भी तृषाधिक्य, श्वासाधिक्य, लगातार हिक्का युक्त वमन (जलाल्पता Dehydration से) तीव्र वेग का वमन अथवा मल-मूत्र के समान गध एवं वर्ण वाला वमन (आन्त्रावरोध Intestinal obstuction) असाध्य होता है ।

क्रियाक्रम—सभी प्रकार के छर्दि रोग मे आमाशय का उत्क्लेश (क्षोभ Irritation) पाया जाता है । अस्तु, सर्वप्रथम उपक्रम मे लघन या उपवास कराना चाहिए । आमाशय के क्षोभ के कारण कुछ भी देने से वमन बढ जाता है, अस्तु जब तक वमन शान्त न हो जाय बल्कि वमन के बद हो जाने पर भी जब तक आमाशय का क्षोभ शान्त न हो जाय (वमन के चार या छ घन्टे बाद तक) रोगी को कुछ भी खाने को नही देना चाहिए ।

छर्दि रोग मे यदि विशुद्ध वायु दोष पाया जावे और रोगी दुर्बल हो तो

इस रोगी में शीघ्र ही वमन के बंद होने के अनन्तर कुछ हल्का भोजन, धान्यलाज-मण्ड, अनार के फल का रस, पश्चात् कुछ गाढा भोजन आदि देना चाहिए। परन्तु जब कफ और पित्त दोष की प्रधानता हो और रोगी बलवान् हो तो उपवास या लंघन के साथ ही साथ संशोधन की भी व्यवस्था करनी चाहिए। अर्थात् कफाधिक्य में पिप्पली, सर्षप, निम्बपत्र का कषाय या मदनफल के कषाय में सेंधा-नमक का योग करके वमन कराना चाहिए। परन्तु यदि रोगी इन दोषों के अधिकता में भी दुर्बल हो तो संशोधन न देकर के संशमन कराना हितकर होता है। यदि वमन आगन्तुक प्रकार का हो अर्थात् बीभत्स, अप्रिय, विपरीत एवं अपवित्र चीजों के देखने, सूंघने या खाने से वमन हो रहा हो (मानसिक) तो उसे मनोनुकूल, रुचिकर, प्रिय लगने वाले, लघु, शुष्क भक्ष्य, भोज्य या पेय द्रव्यों के (सामिष या निरामिष) सेवन की व्यवस्था करनी चाहिए।[1]

छर्दि रोग में वायु की गति ऊपर की होती है उसका अनुलोमन या अधोगमन बंद हो जाता है। अस्तु, वायु या अन्य दोषों के अधोगमन कराने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रतीच्य वैद्यकोक्त यात्रा वमन (Travel sickness), सामुद्र वमन (Sea sickness), आकाश वमन (Air sickness) जिसमें अनभ्यस्त सवारियों पर चलने, समुद्र के जहाज पर चढने या हवाई जहाज में यात्रा करते समय वमन होने लगता है। प्राचीनोक्त आगन्तुक वमन के भीतर ये समाविष्ट हो जाते हैं। इनमें आगन्तुक वमन सदृश ही क्रियाक्रम को रखना चाहिए।

सुश्रुत ने बतलाया है कि यदि वमन बडा तीव्र हो और संशमन के उपायों से ठीक न हो रहा हो और दोषों की प्रबलता हो तो वामक ओषधियों के द्वारा वमन कराना हितकर होता है। "छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते" वमन करा देने से अथवा आमाशय का प्रक्षालन (Stomach wash) करा देने से आमाशय में क्षोभ पैदा करने वाले सभी दोष निकल जाते हैं और वमन स्वयमेव शान्त हो जाता है।

---

१ आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्। प्राक्कारयेद् मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि॥ चूर्णानि लिह्यान्मधुनाभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि। मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधोदोषमुदीर्णमूर्ध्वम्॥ बलीयसश्चर्दिषु वमनं विदद्ध्यात् यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत्। रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैश्च भोज्यैर्विविधैश्च पानैः॥

दोषानुसार प्रतिषेध--

वातिक छर्दि-[1] दूध मे समान भाग पानी मिलाकर पीने से अथवा घृत और सेंधा नमक मिलाकर पिलाने से अथवा मूंग और आँवले का यूप बनाकर (भुना हुआ मूग २ तोला, आँवला १ तोला, ३१ तोले जल मे खौलाकर ८ तोला शेप रहने पर) १ तोला घी और सेंधा नमक मिलाकर पिलाने से वातिक वमन शान्त होता है। सशमन के लिये धनियाँ, त्रिकटु, शंखपुष्पी तथा दशमूल के कषाय का उपयोग करना चाहिये।

पैत्तिक छर्दि[2]—अनुलोमन तथा मृदु रेचन के लिये मुनक्का, विदारी कद, निशोथ, का काढा बनाकर ईख के रस मे निशोथ चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये। मृदु रेचन होने के अनन्तर धान्य लाज का सत्तू पानी मे घोलकर या मण्ड बनाकर उसमें शक्कर और मधु मिला कर देना चाहिये। जब यह पच जावे तो पुराने चावल का गीला भात बनाकर मूँग की पतली दाल या हल्के मासरस (शोरवे) के साथ खाने को रोगी को देना चाहिये। संशमन के लिये श्वेत चंदन, कमलनाल, खस, सुगधवाला, शुठी, सोनागेरू, आमलकी, अडूसा को समभाग मे लेकर कल्क (पीसकर चटनी बनाकर) चावल के पानी और मधु से देना चाहिये। पित्त पापडा का काढा मधु के साथ पीने से पैत्तिक वमन मे शान्ति मिलती है। आँवला या कच्चे कैथ का रस भी पैत्तिक वमन को शान्त करता है।

श्लैष्मिक छर्दि[3]—कफजछर्दि मे कफ एव आमदोप की शुद्धि के लिये पिप्पली, सरसो नीम की छाल, उनको समप्रमाण मे लेकर २ तोले द्रव्य को ३२ तोले जल में खौलाकर ८ तोला शेप रहने पर उसमे मैनफल का चूर्ण ¼ तोला और सेंधानमक ½ तोला मिलाकर पिलाना चाहिये।

पथ्य में—पुराना चावल का भात, गाय की दधि और चीनी मिलाकर देना उत्तम रहता है।

---

१ हन्यात् क्षीरोदक पीत छर्दि पवनसम्भवाम्।
ससैन्धव पिबेत्सर्पिर्वातच्छर्दिनिवारणम्॥

२ पित्तात्मिकाया त्वनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत् स्यात्। (च द्र)

३ कफात्मिकाया वमन प्रशस्त सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः।
पिण्डीतकैः सैन्धवसप्रयुक्तैश्छर्द्यां कफामाशयशोधनार्थम्॥

संशमन के लिये—१ वाय विडङ्ग, त्रिफला, शुंठी का सम प्रमाण में बना चूर्ण मधु के साथ। २ जामुन की गुठली तथा वेर के फल की मज्जा का सूखा चूर्ण मधु मे। ३. नागरमोथा तथा कर्कटशृङ्गी का चूर्ण मधु से। ४ दुरालभा (जवासा) का चूर्ण मधु से कफज छर्दि का शामक होता है।

सामान्य भेपज—(सभी प्रकार के वमन में —१ विधिवत् वनाये हुए गुडूची के काढा या हिम (गुडूची को कूट कर पानी में भिगो कर रखे हुए जल को हिम कहा जाता है) का मधु के साथ सेवन अथवा गुडूची का स्वरस, मधु प्रत्येक १ तोला मिलाकर देने से सभी प्रकार के वमन मे विशेपत गर्भकालीन वमन में वढिया लाभ दिखलाता है। २ [1]श्रीफल (वेल) और गुडूची का काढा मधु के साथ पिलाना भी लाभप्रद होता है। ३ मूर्वा का स्वरस या चूर्ण मधु के साथ सेवन। ४ विल्व के मूल की छाल का काढा मधु के साथ पिलाने से सभी प्रकार के वमन मे लाभ पहुँचाता है। ५. मसूर का सत्तू–मसूर के सत्तू को मधु मे मिलाकर अनार या वेदाना का रस मिला कर पानी में घोलकर थोडी मिश्री मिलाकर पिलाने से वमन को शान्त करता है। ६ जौ के सत्तू को घोलकर शहद मिलाकर लेने से भी वमन शान्त होता है। ७. अश्वत्थ—पीपल की सूखी छाल को लेकर आग में जलाकर उसके अंगारे को पानी में बुझाकर इस पानी के पिलाने से वमन शान्त होता है। यह जल तृपाशामक भी होता है। ८ आम्रास्थि (आम की गुठली की मज्जा) तथा विल्व की मज्जा का काढा वनाकर मिश्री और मधु मिलाकर पिलाने से वमन तथा अतिसार दोनो की शान्ति होती है। इस भेपज का पाठ विसूचिकाविकार में हो चुका है। विसूचिका मे विशेप लाभप्रद रहता है। ९ विजौरा नीवू, जामुन एवं आम के पल्लव का काढा ठडा करके धान के लावा का चूर्ण एवं मधु मिलाकर सेवन कराने से वमन एवं अतिसार दोनो मे लाभ होता है। १० मक्षिकाविट् का मधु के साथ सेवन या जगलीवेर, आँवले की मज्जा का मिश्री और मधु के साथ सेवन वमन का शामक होता है। ११ मयूरपिच्छ-मयूर-पुच्छ को जलाकर उसकी राख को मधु के साथ चटाने से वमन शान्त होता है।[2] १२ गोणी भस्म पुरानी गोणी को जलाकर उसकी राख

---

१ विल्वत्वचो गुडूच्या वा क्वाथं चौद्रेण संयुत।
जयेत् त्रिदोपजां छर्दि पर्पट. पित्तजा तथा॥ (च. द तथा शार्ङ्गधर)

२ वैल या ऊंट के ऊपर वोझा लादने के लिये जो चीज वनती है उसे गोणी कहते है। इस तरह की पुरानी गोणी को जला कर उसकी राख को मधु से सेवन के लिये देने से वमन शान्त होता है।

का जल मधु के साथ सेवन । १३ जातीपत्र-चमेली की पत्ती का रस, कच्चे कैथ के फल का रस-छोटी पीपल, मरिच, मिश्री और मधु के साथ सेवन चिरकालीन वमन को भी शान्त करता है । १४ दही का पानी, पिप्पली चूर्ण मधु, मिलाकर थोडा-थोडा करके वार-वार चाटने से वमन शान्त होता है । १५ करंज (कट्टु कुवेराच)—करंज की कोमल पत्तियो को पीसकर सेंधानमक तथा नीवू के रस मे मिलाकर थोडा-थोडा चाटने से कफ के विकार तथा वमन सद्य' शान्त होता है । करंज के वोज को थोडा आग पर भूनकर छोटे-छोटे टुकडे करके खाने से तीव्र वमन भी शान्त होता है । १६ हरीतकी-हरोतकी चूर्ण ३ माशे मधु के साथ चाटने से दोप के अधोगमन होने से वमन शान्त होता है । १७. शखपुष्पी-का स्वरस १ तोला मधु के साथ देने से वमन की शान्ति होती है । १८ मधुयष्टी और श्वेत चदन-को गाय के दूध मे पीसकर पिलाने से रक्त या रुधिर का वमन शान्त होता है । १९. धनिया और चावल को जल में सायकाल में भिगोकर दूसरे दिन प्रात काल में मसल कर छान कर मधु या मिश्री मिलाकर पीने से छर्दि विशेपत. गर्भकालीन छर्दि का शमन होता है ।[1] २० छोटी इलायची-को पीस कर मधु के साथ देने से भी कुछ वमन की शान्ति होती है । २१ पुदीने-का ताजा रस या अर्क पीने से भी वमन मे शान्ति होती है । २२ मुलेठी, विजौरे नीवू की जड को पीस कर घी एवं मधु से सेवन करने पर भी वमन मे विशेपत गर्भिणी के वमन मे लाभप्रद होता है ।

// योग-एलादि चूर्ण—वडी इलायची, लवङ्ग, नागकेसर, वेर के फल की मज्जा, धान का लावा, प्रियङ्गु, मोथा, श्वेत चन्दन तथा पिप्पली प्रत्येक का चूर्ण १ तोला कूटकर कपडछन चूर्ण वनाकर शीशी मे भर लेवे । इस चूर्ण को थोडा थोडा मुह में रखकर चूसने से या २ माशे की मात्रा मे मधु के साथ सेवन करने से सभी प्रकार के वमन मे लाभ होता है ।[2]

रसादि या पारदादिचूर्ण—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, कपूर, वेरकी मज्जा (वेरकी गुठली का मगज), लौग, नागरमोथा, प्रियङ्गु, सफेद चन्दन, छोटी पीपल, दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात । पहले पारद-गंधक की कज्जली वना

---

१ सतण्डुलाम्भःसितधान्यकल्कपानाद्वमिर्गच्छति गर्भिणीनाम् ।
मध्वाज्ययष्टीमधुलुङ्गमूल निष्पीड्य पीतं च तदर्थकारि ॥

२ एलालवङ्गगजकेसरकोलमज्जालाजप्रियङ्गुघनचन्दनपिप्पलीनाम् ।
चूर्णं सितामधुयुतं मनुजो विलिह्य छर्दि निहन्ति कफमारुतपित्तजाताम् ॥
(योगरत्नावली) ।

कर पीछे उसमें अन्य द्रव्यो का कपड छन चूर्ण मिलाकर चन्दन के काढे को भावना देकर सुखा कर चूर्ण बना ले। मात्रा ४ रत्ती से १ माशे। अनुपान मरिच चूर्ण और मधु से, जल से, धान के लावा के मण्ड से, चन्दनादि अर्क से या पोदीने का रस या अर्क के साथ। इस योग को थोडा मुंह मे रखकर चूसने से भी लाभ अच्छा होता है।

वमनामृत योग—शुद्ध गधक, कमल गट्टे का वीज, मुलैठी, शिलाजीत, द्राक्ष, शुद्ध टंकण, मृगशृङ्ग भस्म, श्वेत चन्दन, वंशलोचन तथा गोरोचन प्रत्येक सममात्रा मे लेकर बेल के मूल के काढे मे तीन घण्टे तक भावितकर मटर के वरावर की गोलियाँ बनाले। यह योगरत्नाकर में पठित योगसार नामक पुस्तक मे उद्धृत एवं कमलाकर वैद्य द्वारा निर्मित सिद्ध योग है जो विविध अनुपानो से अनेक प्रकार की छर्दि में लाभ करता है।

छर्दिरिपु—कपूर कचरी का सूक्ष्म कपडछन चूर्ण करके उसको तीन घण्टे तक चन्दनादि अर्क के काढे में मर्दन करके २, २ रत्ती की गोली बनाले। मात्रा २, २ गोली पुदीने के अर्क मे।

उपसंहार—वमन के रोगी में उपवास कराके आमाशय को रिक्त रखना उत्तम रहता है। दोषो का अधोगमन कराने के लिये तथा वायु के अनुलोमन के लिये विपरीत मार्ग मे दोषहरण अर्थात् मृदुरेचन जैसे यष्ट्यादि चूर्ण २ माशे की मात्रा में कई वार देना आवश्यक होता है। यदि वमन बहुत हठी स्वरूप का हो तो मस्तिष्क केन्द्र के संशमन के लिये रस के योगों का या छर्दिरिपु योग का या मयूरपुच्छ भस्म का प्रयोग करना चाहिये। अम्लपित्तविकार में पठित सूतशेखर रस का भी प्रयोग इस कार्य के लिये किया जा सकता है। संशमन के लिये पठित बहुविध भेषजो का भी सुलभता के अनुसार रोग के वल के अनुसार प्रयोग करने मे सद्य लाभ होता है। वमन में तृषा की प्राय अधिकता पाई जाती है उसके लिये विल्व की छाल का जल, गुडूचीशृतजल, वटाङ्कुरशृतजल, विजौरा नीबू की पत्ती, आम के पत्र, जामुन के पत्र के शृत जलो को अथवा सौंफका अर्क, कर्पूराम्बु या पुदीने का अर्क या चन्दनाद्यर्क पीने को देना चाहिये। आमाशय के क्षुब्ध रहने पर कोई भी जल पचता नहीं पीने के साथ ही वमन होने लगता है। अस्तु, इन पेय जलो को चम्मच से थोडा-थोडा करके कई वार मे देना चाहिए।

वमन के रोगी को पूर्ण विश्राम कराना चाहिए। उसके लिए जौ, गेहूँ, चावल, मूग, कलाय, मसूर, खरगोश, तित्तिर, लवा का मास, नारिकेल, गाजर, खजूर, बेर, द्राक्षा, मीठा अनार या बेदाना, ईख का रस आदि पथ्य होता है। असात्म्य और दुष्ट अन्न-पान एवं व्यायाम अपथ्य होता है।

आगन्तुक छर्दि में यदि वमन बीभत्स कारणों से हो रहा हो तो रोगी को उस वातावरण से दूर करना चाहिए। यदि गर्भकालीन वमन हो तो मृदु औषधियो से उनका शमन करे, यदि दौहृद के कारण हो रहा हो तो हृद्य औषधियो के द्वारा या गर्भवती की इच्छा पूरी करने से वह दूर होता है। असात्म्य वस्तुवो का अभ्यास रहने के वजह से वमन हो रहा हो तो लंघन कराके, असात्म्य पदार्थों का वमन करा के और सात्म्यपदार्थो के सेवन से रोग को जीतना चाहिये। उदरस्थकृमियो के कारण वमन हो रहा हो तो कृमिरोग के अधिकार मे कथित चिकित्सा द्वारा शमन करना चाहिए।[1]

मनोविघात से वमन हो रहा हो तो मनोनुकूल, वाणी, आश्वासन, हर्षण, अन्न, पान, गध, रस, स्पर्श, शब्द, रूप का योग करने से वमन का शमन होता है। इस प्रकार का वमन मानसिक कारणो से अधिकतर अपतंत्रक वाले (Hysterical) रोगियो मे पाया जाता है। कई वार पति से वियुक्तावस्था मे युवती स्त्रियो में पाया जाता है। इनमे उनके मनोनुकूल आहार, विहार और परिस्थिति करने से ही लाभ सभव रहता है। यदि इनके अनुकूल पदार्थ छर्दि रोग में अपथ्य भी हो अथवा रोगी को सात्म्य भी न हो तब उसकी मानसिक प्रसन्नता के लिए देना चाहिए।

वमन के अनन्तर होने वाले उपद्रवो के लिए वातनाशक उपचार जैसे-दूध, घृत, सर्पिर्गुड आदि का प्रयोग रोगी के बृंहण के लिए करना चाहिए। दीर्घ छर्दि रोग में सदैव वातघ्न उपचार करना ही श्रेयस्कर होता है।

लाज मण्ड—धान का लावा (खील) १ तोला, छोटी इलायची ४ नग, लौंग ४ नग, मिश्री ½ तोला, पानी २० तोला। सबको एकत्र कर आग पर चढा-कर ५,७ उफान आवे इतना पकावे फिर छानकर ठंडा करे। १-२ चम्मच थोडी-थोडी देर से रोगी को पिलावे। इसमे कागजी नीबू का रस भी मिलाया जा सकता है। बरफ से ठडा करके भी दिया जा सकता है। (सि यो. स)

☆

---

१ बीभत्सजामबीभत्सैर्हेतुभि संहरेद्वमिम्। दौर्हृदस्था वमिं हृद्यैःकाङ्क्षितैर्वस्तुभिर्जयेत् ॥ लङ्घनैर्वमनैर्वापि सात्म्यैर्वाऽसात्म्यसम्भवाम्। कृमिहृद्रोगवच्चापि साधयेत्कृमिजा वमिम् ॥ वमघ्नी च चिरोत्थासु प्रयोज्या च्छर्दिषु क्रिया ॥ (यो र)

गन्ध रस स्पर्शमथापि शब्द रूपं च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम्। तदेव दद्यात् प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ॥ (च चि २०)

अठारहवाँ अध्याय

तृष्णा रोग प्रतिषेध

प्रावेशिक—जिस रोग में रोगी अनवरत जल पीता रहे और बार-बार पीने में भी उसको तृप्ति का अनुभव न हो, बार-बार जल के पीने की इच्छा करता रहे, उस रोग को तृष्णा कहते है। बोल-चाल की भाषा में इसे तृषा या प्यास की अधिकता कहते है। यह रोग शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक कारणो से कई बार रोगो के उपद्रव स्वरूप एक लक्षण के रूप में और कभी स्वतत्र व्याधि के रूप में, जिसमें तृष्णा एक प्रमुख लक्षण ही, पाया जाता है।[1]

इस रोग की उत्पत्ति में शरीरगत जलांश की कमी या जलाल्पता (Dehydration) प्रधान हेतु है। शरीर में ६५-७० प्रतिशत जल या द्रव का भाग होता है। आहार द्रव्य से उत्पन्न आवश्यक तत्त्वों को घोलकर रस या रक्त के रूप मे विभिन्न धातुओ को पोषण पहुँचाना और उसके त्याज्य द्रव्यो को मूत्र, स्वेद, वाष्प (श्वास से), अश्रु और मल के द्वारा बाहर निकालना भी शरीरगत जलीय या तरल भाग का ही काम है। अस्तु, यह निश्चित है कि जब भी शरीर में रस-सचार में बाधा उत्पन्न होने से या मलो की अधिक उत्पत्ति या संचय होनेसे अथवा किसी कारण से मूत्र, स्वेद-पुरीष आदि के द्वारा अस्वाभाविक रूप में जल के अति नि सरण होने से अथवा आहार द्वारा ऐसे पदार्थो के पहुँचने से जो अनिष्ट है—और उन्हें घोल कर निर्बल करना तथा बाहर निकालना होगा तो जल की अधिक मात्रा की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की सूचनास्वरूप मुख, जिह्वा, तालु आदि अवयवो में जलीयांश की कमी के कारण तृष्णा तथा अन्य सार्वदैहिक लक्षणो की उत्पत्ति होती है। इसी को तृष्णा कहते है।[2]

दोषो की दृष्टि से विचार किया जाय तो वात तथा पित्त दोष की प्रधानता पाई जाती है। सुश्रुतने तृष्णा रोग के सात प्रकार बताये हैं। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, क्षतज (रक्तस्रावज या Haemorrhagic), क्षयज (जैसे मधुमेहज), आमसमुद्भव या आमज तथा भक्तोद्भवा (स्निग्ध, लवण, गुरु

---

१. सन्ततं य पिवेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति।
पुन काङ्क्षति तोयञ्च त तृष्णार्दितमादिशेत्॥ (सु)

२ अब्धातु देहस्थं कुपित. पवनो यदा विशोषयति।
तस्मिञ्छुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्॥ (च)

और गर्म मसालेदार भोजन से)।[1] चरक तथा वाग्भट ने एक उपसर्गज (रोगो के उपद्रवस्वरूप) भेद का वर्णन किया है।

सभी प्रकार के तृष्णा रोग अत्यधिक प्रमाण मे होने से असाध्य होती है। रोग से कृश तथा वमनयुक्त तथा उपद्रवयुक्त रोगियो में तृष्णारोग असाध्य होता है। शेष साध्य होता है।[2]

सामान्य-क्रियाक्रम—जलीय धातुवो के क्षय से तृष्णा उत्पन्न होती है और जलधातु के सूख जाने से अर्थात् जलाल्पता से प्राण का भय उपस्थित रहता है। अस्तु, पर्याप्त मात्रा में वर्षाजल (ऐन्द्रतोय) मधु मिलाकर तृष्णा से पीडित रोगी को देना चाहिए। यदि यह सुलभ न हो तो तद्‌गुणो से युक्त जल जैसे-सौफका अर्क, जेरायन का अर्क, पुदीने का अर्क, चदनादि अर्क, वरफ का जल, कर्पूराम्बु या वरफ चूसने के लिए या मिश्री या द्राक्षाशर्करा का जल (Glucose water) रोगी को थोडा थोडा कर के पिलाते रहना चाहिये। कोई भी जल जो हल्का, पतला, शीतल, सुगधित, सरस, किंचित् कषाय अनुरस वाला तथा अनभिष्यदि हो, ऐन्द्र तोय के सदृश ही होते हैं उनका प्रयोग तृष्णा में किया जा सकता है।[3]

गर्म करके शीतल किया जल मिश्री मिलाकर अथवा मिट्टी का ढेला गर्म करके अथवा सुवर्ण, चादी आदि को तप्त करके पानी में बुझाया जल मिश्री मिलाकर या अश्वत्थ (पीपल) की सूखी छाल जलाकर उसके अगारे से बुझाया जल अथवा कशेरू, सिघाडा, कमलगट्टा, शर-ईक्षु दर्भ-काश-शालि मूल से खौलाकर ठडा किया जल पीने के लिए तृष्णा रोग में वार-वार थोडा-थोडा करके देते रहना चाहिये। गर्म करके ठडा किया या वरफ छोडकर शीतल किया जल या केवल विना गर्म किये

---

१. तिस्रः स्मृतास्ता. क्षतजा चतुर्थी चतात्तथा ह्यामसमुद्भवा च।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासा निवोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥
(सु ३ ४८)

२ सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशाना वमिप्रयुक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेया ॥ (च चि २२)

३. अपा क्षयाद्धि तृष्णा सशोष्य नर प्रणाशयेदाशु।
तस्मादैन्द्र तोय समधु पिवेत् तद्‌गुण वाऽन्यत् ॥
किंचित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसञ्च।
अनभिष्यन्दि च यत्तच्चितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥ (च चि २२)

शीतल जल मूर्च्छा, रक्तपित्त, छर्दि, तृषा, दाह, मदात्यय तथा कर्शित व्यक्तियो मे लाभप्रद होता है।[1]

पथ्य—धान्यलाज या तालमखाने की खील का सत्तू बनाकर पानी में घोल कर पतला बनाकर मिश्री मिलाकर दिया जासकता है। जौ या वाट्य. मण्ड (बार्ली वाटर) मधु और मिश्री मिलाकर, या कोद्रव (कोदो) या चावल की पतली पेया या मण्ड मिश्री मिलाकर दिया जा सकता है। भुने हुए मूग, मसूर या चने की दाल का पतला यूप पीने के लिए दिया जा सकता है। केले का फूल, द्राक्षा (दाख), पित्तपापडा, कपित्थ, जंगली बेर (कोल), इमली, कुष्माण्ड आदि की पेया। खजूर, दाडिम (अनार या वेदाना मीठा), आँवला, ककड़ी, खस का पानी, जम्बीरी नीबू या कागजी नीबू, करमर्द, गाय का दूध, तक्र, महुए का फूल प्रभृति तिक्त एव मधुर द्रव्य हितकर होते है। नारिकेल या डाभ का पानी, पन्ना, शहद, तालाब का जल, सौंफ, केसर, इलायची, जायफल, हरीतकी, धनिया, तृषाशामक होते है। शीतल चादनी में बैठना, घूमना, सोना, शीतल पवन का सेवन, श्वेत चदन, कपूर आदि का अनुलेपन तथा अन्य पित्तशामक आहार, विहार तृष्णा के शामक होते है। मास-सात्म्य व्यक्तियो मे कबूतर का मासरस घृत में बना कर देना उत्तम रहता है। घृत में पकाया छाग (बकरे) का मास भी लाभप्रद होना है।

अपथ्य—तृष्णा रोग मे स्नेह, अञ्जन, धूमपान, स्वेदन, व्यायाम, धूप में रहना, अम्ल, कटु, लवण रस पदार्थ, तीक्ष्ण पदार्थ, दूषित जल, स्त्रीसंग आदि का परिवर्जन करना चाहिए।[2]

तृष्णा के भेदानुसार विशिष्ट क्रियाक्रम—[3] वातिक मे—वातघ्न, शीत

---

१. मूर्च्छाच्छर्दितृषादाहस्त्रीमद्यभृशकर्शिताः।
पिबेयु. शीतल तोयं रक्तपित्ते मदात्यये॥ (भै र)

२ हृद्य सुमधुर शीत सेवेत तृपयार्दितः। उग्रमुद्वेगजनन त्येजत् सर्वमतन्द्रित॥

३ वातघ्नमन्नपान मिष्टं शीत च वाततृष्णायां। स्याज्जीवनीयसिद्ध क्षीरघृत वातजे तर्पे॥ पित्तजायां तु तृष्णायां पक्वोदुम्बरज रसम्। तत्क्वाथो वा हिमस्तद्वच्छारिवादिगणाम्बु वा॥ यच्चोक्त कफतृष्णायां छर्द्यां तत्तथैव कार्यं स्यात्। पयसाथवा प्रदद्याद्रजनी मधुशर्करायुक्ताम्॥ यो० र०

क्षतोत्थिता रुग्विनिवारणेन जयेद्रसानामसृजश्च पानैः।
क्षयोत्थिता क्षीरजल निहन्याद् मासोदकं वाऽथ मधूदकं वा॥
गुर्वन्नजामुल्लिखनैर्जयेच्च क्षयादृते सर्वकृताञ्च तृष्णाम्॥

अन्न-पान तथा जीवनीय गणकी औषधियो से सिद्ध क्षीर या घृत का उपयोग, गुड और दधि का सेवन। गुडूची स्वरस का सेवन उत्तम रहता है।

पैत्तिक मे—पक्व गूलर का रस मिश्री के साथ, गूलर का काढा या शारिवादि गण की ओषधियाँ (अनन्तमूल, खस, गाम्भारी के फल, महुवे का फूल, दोनो चदन, मुलैठी और फालसा) तथा मधुयष्टि, अमल्ताश और द्राक्षा का उपयोग उत्तम रहता है। लाजसत्तूका घोल भी मिश्री के साथ अनुकूल पडता है।

श्लैष्मिक मे—कफज छर्दि के समान उपचार करे। नीम की पत्ती का काढा पिलाकर वमन करावे। दाडिम तथा अन्य अम्ल एवं कषाय रस के फलो के रस का सेवन। हल्दी का चूर्ण मधु और मिश्री मिला कर जल से दे। विल्वमूल, अरहर का मूल, धाय का फूल और पचकोल के कषाय का सेवन उत्तम रहता है।

क्षतोत्थित में—रक्तस्राव के लिए स्तम्भन चिकित्सा करे और मृग आदि का ताजा रक्त का पान रोगी को करावे।

क्षयोत्थित मे—क्षयघ्न उपचार। दूध-पानी बराबर मिलाकर पिलाना, मधु युक्त जल का पिलाना अथवा मास के रस का सेवन कराना लाभप्रद होता है।

भक्तोद्भव—गरिष्ठ अन्न के सेवन करने से उत्पन्न तृष्णा मे वमन कराना चाहिए। क्षयोद्भव तृष्णा को छोडकर सभी तृष्णा रोग मे वमन करा देना लाभप्रद होता है।

सामान्य भेषज

नस्य—मुनक्के (अगूर) का रस, ईख का रस, दूध और मिश्री, मिश्री का पानी मे बना शर्बत, मुलैठी का काढा और मधु, महुए के फूल का रस मधु मिलाकर, नील कमल का रस मधु मिलाकर। नाक से नस्य रूप मे देने से दारुण तृष्णा भी शान्त होती है। इन रसो को पृथक् पृथक् उपयोग मे लाना चाहिए। ऊँटनी का दूध अथवा नारी-क्षीर का नस्य भी तृषा मे शामक प्रभाव दिखलाता है।

गण्डूष—दूध, ईख का रस, महुवे का आसव (माध्वीक), शहद, सीधु (मधुर द्रव्यो का आसव), गुड का शर्बत, अम्लवेंत का काढा तथा काजी इनका यथालाभ एकैक या मिलाकर गण्डूष (मुख मे कुल्ला) भरने से तृष्णा शान्त होती है। यह योग विशेषत तालु-शोष (तालु के सूखने) मे लाभप्रद होता है।

कवल—बिजौरे नीबू का केशर, अनारदाने का चूर्ण और मधु मिलाकर चटनी जैसे बना कर मुख मे धारण करने से तत्काल तृष्णा शान्त होती है।

लेप—अनार, वेर, लोध, कपित्थ, बीजपूर (बिजौरा नीबू), लाल चदन, चन्दन, खस, सुगधबाला, कमल के फूल। इन द्रव्यो को यथालाभ काजी मे पीस कर सिर पर लेप करने से तृष्णा का शमन होता है।

कषाय—आम और जामुन की पत्ती या छाल या गुठली का कषाय मधु मिलाकर लेना सभी प्रकार की छर्दि तथा तृष्णा का शामक होता है।

मधुका फाण्ट—महुए का फूल, गाम्भारी, श्वेत चंदन, खस, धनिया, मुनक्का को कुचल कर खौलते पानी में चाय जैसे बना कर ठंडा हो जाने पर मिलाकर सेवन करने से दाह, मूर्च्छा, भ्रम तथा तृष्णा शान्त होती है।

चूर्ण—वटशुंग, लोध्र, दाडिम की छाल, मुलेठी और मिश्री सम परिमाण में लेकर चूर्ण बनावे। यह वटशृङ्गादि चूर्ण का योग है। अनुपान मधु। मात्रा ३ माशा तृषाशामक होता है।

गुटिका—वट के अंकुर, मीठा कूठ, धान का लावा और नील कमल के फूल इन का सम भाग में लेकर चूर्ण बना कर मधु के साथ घोट कर १ माशे के परिमाण की गोलियाँ बनाले। इस गुटिका को मुख में धारण करने से तृषा शान्त होती है।

वामक—सभी प्रकार के तृषा रोग में (क्षयज को छोडकर) वमन कराने से लाभ देखा जाता है। इसके लिए मदनफल का प्रयोग उत्तम रहता है। शीतल जल में मधु मिलाकर कंठ पर्यन्त पिलाने से वमन होता है और तृषा शान्त होती है।

ओदन—चावल का गीला भात बनाकर उसके ठंडे हो जाने पर मधु के साथ सेवन करने से तृष्णा शांत होती है। यदि वमन की अति मात्रा होने की वजह से तृषाधिक्य हो तो वमन के बन्द हो जाने पर दही और गुड रोगी को खिलाना चाहिए अथवा दही और गुड के साथ भात खाने को देना चाहिए।

मद्य—जीरा, अदरक, काला नमक मिला कर मद्य का पीना भी तृषाशामक होता है।

जल—तृष्णा रोग में जल पीने की इच्छा रोगी को होती है। यदि जल न दिया जाय तो तृषित रोगी मूर्च्छित हो जाता है, मूर्च्छा के अनन्तर उसकी मृत्यु हो जाती है अतः किसी भी अवस्था में पानी को नहीं रोकना चाहिए। अन्न के बिना तो कुछ दिनों तक जीवन-यापन हो भी सकता है, परन्तु जल के बिना जीवन का धारण असम्भव हो जाता है, अस्तु, तृषित को थोडा थोडा, बार बार, गर्म करके ठंडा किया जल या शीतल जल पीने को देते रहना चाहिए।[1]

---

[1] अन्नेनापि विना जन्तुः प्राणान् धारयते चिरम्। तोयाभावे पिपासार्तः क्षणात्प्राणैर्विमुच्यते॥ तृषितो मोहमायाति मोहात्प्राणान् विमुञ्चति। तस्मात्सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद्वारि वार्यते॥ अत्यम्बुपानात् प्रभवन्ति रोगा निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्माद् बुधः प्राणविवर्धनार्थं मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥ मूर्च्छाछर्दितृषादाहस्त्रीमद्यभृशकर्शिताः। पिबेयुः शीतलं तोयं रक्तपित्ते मदात्यये॥

कच्चे ठडे पानी की अपेक्षा उबाल कर ठंडा किया जल अधिक तृपाशामक होता है। उबाल कर पानी को मिट्टी के घडे या सुराही मे ठडा होने के लिए रख देना चाहिए। ठडा हो जाने पर थोडा थोडा पिलाना चाहिए।

रस योग

रसादि चूर्ण—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, कपूर, छैलछरीला, खस इन द्रव्यो को क्रम मे बढते हुए भाग मे लेकर। प्रथम पारद गंधक की कज्जली बनाकर शेप द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलाकर बराबर मात्रा में शक्कर डालकर पानी से घोट कर ३ रत्ती की गोलियाँ बना ले। प्रात. काल मे १ गोली का सेवन बासी पानी के अनुपान से करने से तृष्णा रोग शान्त होता है।

उपसंहार—छर्दि रोगाधिकार के योगो का प्रयोग करने से तृष्णा को रोग में भी शाति मिलती है।

उन्नीसवॉ अध्याय

मूर्च्छा-भ्रम-अनिद्रा-तद्रा-संन्यास प्रतिषेध

अहिताहार-विहार, रक्तादि-धातुक्षय, अभिघात, विष तथा मद्यादि के सेवन से रजो गुण और तमो गुण की वृद्धि होने से रसवाही, रक्तवाही एव चेतनावाही स्रोतो में अवरोध होकर मद, मूर्च्छा और सन्यास की उत्पत्ति होती है। ये रोग यथोत्तर बलवान् होते है अर्थात् मद से मूर्च्छा और मूर्च्छा से सन्यास आत्यायिक होता है। इनमे रसवह स्रोत के अवरोध से मद, रक्तवह स्रोत के अवरोध से मूर्च्छा तथा चेतनावह स्रोत के अवरोध से सन्यास की उत्पत्ति मानी जाती है।[1]

मूर्च्छा को बोलचाल की भापा मे 'बेहोश होना' कहते है। इसमे मुख्य विकार हृद्विकार के कारण मस्तिष्क के रक्तसचार मे बाधा उत्पन्न होती है। हृदय के विकार दो तरह के होते है—१ हृद्गत-हृदय के पेशी की दुर्बलता और हृदय के द्वारो के विकार, जिसमें शरीर मे पर्याप्त रक्त रहते हुए भी हृदय मस्तिष्क तक पहुँचाने मे असमर्थ होता है फलत मूर्च्छा पैदा होती है। २ परिसरोय

---

१ रजोमोहाहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदा।
रसासृक्चेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवा।
मदमूर्च्छायसन्यासा यथोत्तरबलोत्तरा॥ (अ हृ नि. ६.)

(Peripheral)—दूसरे प्रकार में कुछ अंगो मे केशिकावो का विस्फार हो जाता है। जिस से रक्त का अधिक भाग प्रान्तस्थ या दूरस्थ भागो में चला जाता है। शरीर मे रक्त की कमी होने (पाण्डु रोग)से, हृदय में स्वतः रक्त की कमी हो जाती है—जिस से मस्तिष्क को पूर्ण रक्त नही पहुँचता फलत मूर्च्छा उत्पन्न होती है। इन कारणो के अतिरिक्त मूर्च्छा या सन्यास की उत्पत्ति मे-निम्नलिखित हेतु भी भाग लेते है। जैसे १. मस्तिष्क का तीव्र आघात २ उच्च रक्तनिपीड या विप सेवन से मस्तिष्क के किसी वडी धमनी का फट जाना ३ अति तीव्र संताप (ज्वर, लू या अग्निसम्पर्क से) ४. मादक द्रव्यो का सेवन—अफीम, भाँग, धतूर, मद्य आदि का ५ हीन मनोवल अपतत्रक और अपस्मार आदि ६ अहिताहार-विहारजन्य अम्लोत्कर्प (Acidosis), क्षारोत्कर्प (Alkalosis) अथवा मूत्रविपमयता (Uraemia),

मद-मूर्च्छादि का परस्पर में भेद—१ मूर्च्छा की उत्पत्ति मे पित्त और तम दोप की प्रधानता, भ्रम में रजोदोप, पित्त-वायु दोप की अधिकता, तमो गुण एव वात और कफ की विशेपता तन्द्रा में, श्लेष्म और तमो गुण की वहुलता निद्रा में पाई जाती है। २ दूसरा भेद यह है कि मद और मूर्च्छा में दोपा के वेग (दौरे) के शान्त होने पर विना औपधि-सेवन के ही रोगी जागृत हो जाता है, परन्तु सन्यास में जहाँ पर दोपो की अधिक प्रवलता और तम का अतिरेक पाया जाता है, वहुत कठिनाई से चिकित्सा होती है और विना औपधि-सेवन के अच्छा नही होता है। अग्रेजी पर्याय के रूप मे मद को (Faintness), मूर्च्छा को (Syncope),सन्यास को(Coma)कहते है। तद्रा तथा अनिद्रा को(Drowsy Feeling of Insomnia) नाम से कहा जाता है। मूर्च्छा के छ प्रकार ग्रथकारो ने वतलाया है—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, मद्योत्थ तथा विप-जन्य। इनमें कारणनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये। अधिकतर पित्त दोप की विशेपता मूर्च्छा रोग में पाई जाती है।[1]

मूर्च्छा मे क्रियाक्रम-सामान्य—मूर्च्छा रोग में प्राय पित्त की वहुलता पाई जाती है, अस्तु, शीतल उपचार सामान्यतया लाभप्रद रहता है। माथे पर ठडे पानी का जोर से छोटा देना; माथे पर शीतल जल की धारा छोडना, तालाव या

---

१. मूर्च्छा पित्ततम प्राया रज पित्तानिलाद् भ्रम.।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ (मा नि)
वातादिभि शोणितेन मद्येन च विपेण च।
पट्स्वप्येतासु पित्त तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ (सु. ३ ४६)

ठंडे जल से भरे टब मे बैठना, मज्जन (स्नान) या अवगाहन (डुबकी लगाकर नहाना), मोती-प्रवाल-स्फटिक प्रभृति मणियो का धारण करना या उनसे बने हार का धारण, कपूर, केशर और श्वेत चंदन का लेप करना, ताडपत्र या कमल पत्र के पंखे से हवा करना, चदन-खस-गुलाब-केवडा-आदि गंध द्रव्यो से निर्मित प्रपानक या शर्बत का पान करना हितकर उपचार है ।

नारिकेल, दाख, मिश्री, अनार, लज्जालु (लज्जावती), नील कमल, कमल के फूल प्रभृति द्रव्यो का सुगंधित कपाय बनाकर पीना अथवा पित्त ज्वर मे कथित पित्तशामक उपचारो से भी मूर्च्छा मे लाभ होता ।[1]

रक्तज मूर्च्छा मे भी शीतोपचार ही लाभप्रद रहता है। मद्यज मूर्च्छा मे हल्का मद्य पिलाना और सुलाना उपचार हैं । विषजन्य मूर्च्छा मे शीतोपचार के साथ विषनाशक चिकित्सा की भी व्यवस्था करनी चाहिये ।[2]

मूर्च्छा में दो प्रकार का उपचार प्रशस्त है । वेगकालीन तथा वेगान्तर-कालीन । वेगकालीन कहने का तात्पर्य उस चिकित्सा से है जिससे रोगी की बेहोशी दूर हो वह जागृत हो जाय । वेगान्तरकालीन चिकित्सा वह है जो मूर्च्छा के दौरे के अनन्तर चलायी जावे जिस से रोग मे स्थायी लाभ हो सके । मूर्च्छा से जागृत करने के कई उपाय ऐसे है जिनसे चमत्कारिक लाभ होता है । जैसे—

बोधकरी प्रक्रिया १. अंजन—शुंठी, मरिच या पिप्पली को घिस कर नेत्रो में आजन करना । होश मे लाने के उपाय—चंद्रोदयावर्ति, तुत्थकादि वर्त्ति को घिस कर अजन करने से मूर्च्छा तत्काल दूर होती है । अवपीडन—नाक से फूक मारकर लहसुन से भावित औषधि चूर्ण को नाक मे डालना । इस कार्य के लिये देव दाली (वन्दाक) का नस्य या कायफर का महीन कपडछन चूर्ण का नस्य बडा उत्तम कार्य करता है । एक कागज का चोगा बनाकर उसको नाक मे प्रविष्ट करके चूर्ण को अदर की ओर फूंक देना चाहिए ।

धूम—तीव्र गध वाले धूम का धुंवा देने से भी बेहोशी दूर होती है ।

---

१ सेकावगाहो मणयः सहारा शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च ।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥
द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति शीतानि नीलोत्पलपद्मवन्ति ।
पिबेत् कपायाणि च गन्धवन्ति पित्तज्वरं यानि शमं नयन्ति ॥ (सु)

२ रक्तजाया तु मूर्च्छाया हित शीतक्रियाविधि । मद्यजाया पिबेन्मद्यं निद्रा सेवेद्यथासुखम् । विषजाया विषघ्नानि भेपजानि प्रयोजयेत् ॥ (भे र)

सूचीवेध—सूई की नोक से देह में कोचना। आज कल की सूचीवेध द्वारा किसी निरापद औषधि की सूई देना इस अवस्था में एक उचित कर्म है। इस क्रिया से बेहोश रोगी होश में आ जाता है।

केश और लोमों का लुंचन—एक दो केशोंको पकड़कर नोचने से भी लाभ होता है।

नाक और मुख बंद करना, अंडको रगड़ना, दांत से काटना। नखो के मध्य में दबाना। शलाका से दाह कर्म (जलाना) तथा केवाँछ की फली का शरीर में घर्षण करना प्रभृति क्रियावो से मूर्च्छित रोगी संज्ञा में आ जाता है।

वेगान्तरकालीन चिकित्सा—मूर्च्छा-भ्रम-अनिद्रा तथा संन्यास रोगो मे रसायनाधिकार की औषधियों का प्रयोग करना लाभप्रद रहता है।

मूर्च्छा में भेषज—[१] त्रिफला चूर्ण ६ माशे को रात्रि मे मधुके साथ चाटना २. अदरक को पीसकर १ तोला और गुड़ २ तोला का प्रात काल में सेवन ३ पिप्पली चूर्ण १॥ माशे मधु के साथ सेवन ४. जौ का सत्तू बराबर शक्कर मिलाकर नारिकेल जल के (डाब के पानी के) साथ पीना। ५ कोल-मज्जादि चूर्ण—बेर के फल की सूखी मज्जा, काली मिर्च, खस और नागकेसर का सम प्रमाण में बना चूर्ण। मात्रा ३ माशा। अनुपान शीतल जल। इन भेषजो से मूर्च्छा शान्त होती है।

भ्रम-(चक्कर आना)[२]

दुरालभास्वरस या कषाय—[३] दुरालभा अथवा यवासा का स्वरस २ तोला लेकर ३२ तोले जल में खौलाकर ८ तोले शेष रहने पर २ तोला मिश्री और १ तोला गोघृत मिला कर सेवन करने से चक्कर का आना शान्त होता है।

कौम्भ सर्पिः—एक सौ वर्ष का पुराना कौम्भ घृत कहलाता है। इसको ३ माशे की मात्रा मे गाय के दूध में छोड़कर पीना भ्रम तथा मूर्च्छा को शान्त करता है।

प्रवालपिष्टि योग—प्रवालपिष्टि २ र० और गुडूची सत्त्व १ माशे की मात्रा मे एक मात्रा बनाकर ऐसी दो मात्रा सुबह-शाम, आँवले का चूर्ण २ माशे

---

१ मधुना हन्त्युपयुक्ता त्रिफला रात्री गुडार्द्रकं प्रातः।
सप्ताहात् पथ्यभुजो मदमूर्च्छाकामलोन्मादान् ॥

२. चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रक्तपित्तानिलात्मकः ॥ (मा नि.)

३. दुरालभा-कषायस्य घृतयुक्तस्य सेवनात्।
भ्रमो नश्यति गोविन्दस्मरणादिव पातकम् ॥ (वै. जी)

घी और मिश्री के साथ अथवा केवल घी और चीनी के साथ खिलाने से तथा रात्रि मे नित्य त्रिफला चूर्ण ६ माशे या यष्टयादि चूर्ण ६ माशे दूध के साथ देने से भ्रम, मूर्च्छा तथा अनिद्रा में उत्तम लाभ होता है। शतावरी, वलामूल, द्राक्षा से सिद्ध दूध का सेवन भ्रम मे लाभप्रद होता है।

अनिद्रा—पीपरामूल का २ माशे चूर्ण और ½ तोला पुराना गुड मिलाकर सेवन करने से निश्चित रूप में चिरकाल से नष्ट हुई निद्रा आ जाती है।

भाँग को घी मे भूनकर वकरी के दूध मे पीस पैर के तलवे मे लेप करने से निद्रा आती है। सर्पगंधा चूर्ण २ माशा गुलकद के साथ देना भी निद्राकर है।

चद्रोदय अथवा मकरध्वज ½ रत्ती की मात्रा मे चावल के धोवन (पानी) और मधु के साथ सोने के आधा घटा पूर्व लेने से निद्रा आती है। ईख का रस, पोईशाक (उपोदिका), उडद की दाल, मद्य, मास, घृत, भैसका दूध, गोधूम (गेहूँ), मिश्री, गुड तथा तथा मत्स्य का भोजन में उपयोग परम निद्राकर होता है। अहिफेन के योग जैसे कर्पूर वटी निद्राकर होती है।

अहिफेन और कपूर के योग से वनी मंगलोदया वटी परम वेदनाशामक तथा निद्राकर होती है। परन्तु इसका प्रयोग वहुत कम, जव नितान्त आवश्यकता हो और अन्य निरापद योगो से लाभ न होता हो तव करना चाहिये।

तन्द्रा—तन्द्रा मे त्रिफला चूर्ण ६ माशे मधु से सेवन करना तथा कट्फल का नस्य देना उत्तम रहता है।

मूर्च्छान्तक रस—रससिन्दूर, स्वर्णमाक्षिक भस्म, स्वर्ण भस्म, शुद्ध शिलाजीत और लौह भस्म प्रत्येक एक तोला। शतावरी तथा विदारी के स्वरस या कषाय में भावना देकर ३ रत्ती की गोली वनावे। १ वटी की मात्रा मे दिन मे दो वार गाय के दूध और मिश्री के साथ दे। भ्रम तथा मूर्च्छा मे लाभप्रद होता है।

अश्वगंधारिष्ट—असगध २½ सेर, मुसली १ सेर, मजीठ-हरड-हल्दी-दारुहल्दी-मुलैठी-रासन-विदारीकद-अर्जुन की छाल, मोथा-त्रिवृत की जड प्रत्येक आधा सेर, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, श्वेत चदन, लाल चदन, वच और चित्रक की जड प्रत्येक ३२ तोले। सवको जवकुट करके, २ मन ५४ तोले जल मे खौलावे चतुर्थांश अर्थात् १२ सेर, १२ छटाँक ४ तोला शेष रहने पर उतार ले। क्वाथ को छान ले। ठडा होने पर उसमे धाय का फूल ६४ तोले, शहद १५ सेर, सोठ-मरिच-पीपल का मिश्रित चूर्ण ८ तोला, दालचीनी-इलायची और तेजपात का मिश्रित चूर्ण १६ तोला, प्रियङ्गु का चूर्ण १६ तोले, नागकेशर ८ तोला मिलाकर सवको घृतलिप्त सुधूपित मिट्टी के भाण्ड मे भर कर सकोरे से उसका मुख

भली प्रकार वद कर कपडमिट्टी करके एक मास तक सुरक्षित स्थान पर रख दे। महीने भर के वाद खोलकर छानकर वोतलो में भर कर रख ले। मात्रा २½ तोला। भोजन के वाद दोनो वक्त। वरावर पानी मिलाकर। यह अश्वगंधारिष्ट भ्रम, मद, मूर्च्छा, अपस्मार, शोप और उन्माद में लाभप्रद और हृद्य होता है।

पथ्यापथ्य—इन रोगो में दूध, घी, मिश्री, नारिकेल, वेदाना, चावल, मूग, पेठा, पटोल और रोहू मछली प्राय. देना चाहिये। अपथ्यो में पान, पत्र शाक-शाक, दधि, वेगावरोध और स्वेदन, धूप का सेवन अनुकूल नही पडता है।

वीसवॉ अध्याय

मदात्यय प्रतिपेध

जो व्यक्ति विधिपूर्वक, मात्रानुसार, उचित समय मे ऋतु एवं वल के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक हितकारक खाद्यो के साथ (स्निग्ध अन्न और मास आदि का सेवन करके) मद्यपान करता है उसके लिए मद्य अमृत के तुल्य होता है। इस प्रकार के मद्य-सेवन से उसकी आयु, वल और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इसके विपरीत क्रोध, भय, प्यास, भूख तथा शोक की अवस्था में व्यायाम, भार तथा यात्रा की थकावट में, भोजन विना किये खाली पेट पर, वेगो को रोक कर; गर्मी से संतप्त रहने पर मद्य जो पीता है उसको मद्योत्थ नाना प्रकार की यकृत्, हृदय, मस्तिष्क तथा वृक्कसंवंधी विविध प्रकार के रोग हो जाते है। इन रोगो को **मदात्यय** (Alcoholism) कहते है।[1] मदात्यय दो प्रकार का हो सकता है। तीव्र (Acute) तथा जीर्ण (Chronic)।

तीव्र मदात्यय—मद्य पीने का तत्काल प्रभाव होता है, उसका नशा-मद कहलाता है, यह कई अवस्थाओ (Stages) का हो सकता है जो, प्रथम मद, द्वितीय मद, तृतीय मद तथा चतुर्थ मद के नाम से माधवनिदान में वर्णित है। मद्य का अधिक मात्रा में या अयुक्तियुक्त मात्रा में सेवन करने से तत्काल परिमाण के अनुसार कई रोग (Due to immediate after effects) हो जाते है, जैसे—पानात्यय, परम मद, पानाजीर्ण, पानविभ्रम आदि हो जाते है।

---

१ विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथावलम्। प्रहृष्टो यः पिवेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्॥ ये विषस्य गुणा प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिता। तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः॥ (मा० नि०)

इनमें वमन कराके या आमाशय के प्रक्षालन से और पूर्ण निद्रा लेने से स्वयमेव शान्ति मिलती है।[1]

जीर्ण मदात्यय—मदात्यय नाम से चरक संहिता मे इसका वर्णन पाया जाता है। इसके लक्षणो के भेद से चार प्रकार के वर्ग वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा त्रिदोपज का उल्लेख मिलता है। वास्तव मे मदात्यय (chronic Alcoholism) दीर्घ काल तक मद्य के विधिपूर्वक सेवन न करने से होने वाला एक रोग है। मदात्यय चिकित्सा से यही रोग अभिलक्षित है। जीर्ण मदात्यय के वर्ग में उपद्रव स्वरूप होने वाले दो और रोगो का वर्णन वाग्भट तथा चरक मे पाया जाता है। १. **ध्वंसक** तथा २. **विक्षेपक** या विक्षय। मद्यपान के अभ्यास का कुछ समय त्याग करने के पश्चात् मनुष्य सहसा अत्यधिक मद्य का पान करता है तो ध्वंसक तथा विक्षेपक नाम रोग होते हैं। ध्वंसक मे कफ का स्राव, कंठ और मुख कीशुष्कता, शब्द का सहन न कर सकना, तद्रा तथा निद्रा की अधिकता तथा विक्षेपक मे हृदय तथा कठ मे अवरोध की प्रतीति, मूर्च्छा, वमन, अग पीडा, ज्वर, तृपा तथा शिर शूल आदि लक्षण मिलते हैं।[2]

ये दोनो ही दुश्चिकित्स्य होते हैं।

जीर्णमदात्यय के रोगियो में जिनका ऊपर का ओठ नीचे लटक गया हो (Facial Paralysis), शरीर में अति शीत अथवा अतिदाह प्रतीत हो (Due to Polineuritis), जिसके मुँह की तेल से लिप्त के समान आभा हो (Due to damaged heart), जिसकी जिह्वा, दाँत, ओष्ठ, नाक काले या नीले (Due to dilated small veins or Cyauosis) हो, जिसके नेत्र पीले कामला युक्त (Due to Hepaticfailure) अथवा लाल रंग के से Conjuctivitis chronic due to none abosorption of vitamin A) हो असाध्य होते हैं।[3]

---

१. पानात्यय परमद पानाजीर्णमथापि वा।
पानविभ्रममुग्रञ्च तेपा वक्ष्यामि लक्षणम्॥ (सु०)

२ विच्छिन्नमद्य सहसा योऽतिमात्र निपेवते। ध्वसको विक्षयश्चैव रोगास्तस्योपजायते॥ श्लेष्मप्रसेक कण्ठास्यशोप शब्दासहिष्णुता। तन्द्रा निद्रातियोगश्च ज्ञेय ध्वसकलक्षणम्॥ हृत्कण्ठरोग सम्मोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वर। तृष्णा कास शिर:शूलमेतद्विक्षयलक्षणम्॥ (च०)

३ हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं तैलप्रभास्यमपि पानहत त्यजेत्तु।
जिह्वौष्ठदन्तमसित त्वथवापि नील पीतं च यस्य नयने रुधिरप्रभे च॥
(सु० ३.४७)

प्रायः सभी मदात्यय सान्निपातिक या त्रिदोपज होते हैं, इनमे रूप की विशेपता वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक प्रभृति भेद से करना होता है। मदात्यय में जिस दोप की विशेपता हो उसके अनुसार उपचार का प्रारंभ करना चाहिए। फिर भी श्लेष्माधिक्य में प्रथम श्लेष्म दोप के शमन के उपचार तदनन्तर पित्त तथा वात के शमन के लिए उपचार करना चाहिए।

मदात्यय नामक व्याधि मिथ्या, अति या हीन मात्रा में मद्य के पीने से पैदा होती है। अस्तु, मद्य के सम मात्रा में प्रयोग करने से वह ठीक होता है। मद्योत्थ रोग के शमन के लिए मद्य का ही प्रयोग पिलाने के लिये करना चाहिए।

फिर रोग के हल्का होने पर अन्न में रुचि पैदा होने पर हितकर आहार-विहार कराना चाहिए।

यदि मद्य का उपक्रम प्रारंभ मे अनुकूल न पडे तो मदात्यय के रोगी को प्रारंभ मे लघन कराके कफ के क्षीण हो जाने पर प्रचुर मात्रा में गाय के दूध का पान कराना चाहिए। क्योंकि दूध ओज के समान गुण वाला है और मद्य ओज के विपरीत गुण वाला होता है। अस्तु, दूध का प्रयोग करके जब रोगी का वल वढ जावे तो दूध को बंद करके अल्प मात्रा में मद्य पिलाना प्रारंभ करना चाहिए।[1]

क्रियाक्रम—

वातज मदात्यय में—काला नमक, शुण्ठी, मरिच, छोटी पीपल से युक्त मद्य का जल मिश्रित करके हल्का करके पिलाना।

पित्तज मदात्यय में—वट शुग के हिम, शर्करा से युक्त मद्य पिलाना चाहिए। आमला, खजूर, मुनक्का और फालसा का उपयोग हितकर होता है।

श्लेष्मज मदात्यय मे—वामक योगो के साथ मद्य पिलाकर वमन करावे। वल के अनुसार लघन तथा दीपन ओपधियो का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिदोपज में—त्रिदोप का मिलित उपचार करे। सामान्यतया खजूर

---

१ सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोपमधिकं तु यम्। दोप मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत् ॥ कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये। पित्तमारुतपर्यन्त प्रायेण हि मदात्यय ॥ मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते। समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥ जीर्णाममद्यदोपाय मद्यमेव प्रदापयेत्। प्रकाङ्क्षालाघवे जाते यद्यदस्मै प्रदापयेत् ॥ च० वि० २४ ॥ न चेन्मद्यक्रमं मुक्त्वा मद्यमस्य प्रयोजयेत्। लङ्घनाद्यै. कफे क्षीणे जातदौर्वल्यलाघवे ॥ ओजस्तुल्यगुण क्षीरं विपरीत च मद्यत। पयसा च हृते रोगे वले जाते निवर्त्तयेत्। क्षीरप्रयोग मद्यं वा क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ॥ च० द०

मुनक्का, बिजौरा नीबू, अम्लवेत, इमली का सत, अनार दाने, फालसा और आंवला इनके रस को मन्थ के साथ पीने से सर्व प्रकार के मदात्यय मे लाभ होता है। मन्थ–जौ के सत्तू को घी में मलकर चीनी और ठंडा पानी मिलाकर घोल लेना मंथ कहलाता है।

मद्य का हीनवीर्यकरणोपाय—यदि मनुष्य मद्य-पान करने के पश्चात् तुरन्त ही घी में चीनी मिलाकर पी लेवे तो उग्रवीर्ययुक्त मद्य भी उस मनुष्य को मदयुक्त नही करता है। अर्थात् नशा तेज नही होने पाता है। अस्तु, घी और शक्कर का प्रयोग मदात्यय मे लाभप्रद होता है।

अन्य मद—कई वार मद्य के अतिरिक्त मादक–कोदो, सुपारी या धतूरे के सेवन से भी नशा तेज हो जाता है। इन अवस्थाओ में सुपारी के नशे मे शीतल जल को पेट भर (आकठ) पिलाना, शख भस्म का सूंघना या जंगली कडे की राख का सूघना, नमक खिलाना तथा चीनी का शर्वत पिलाना लाभप्रद होता है। मादक कोदो के मद मे पेठे का रस (पूरे पेठे को मय छिल्का बीज पीसकर उसका स्वरस) गुड के साथ सेवन तथा धतूरे के मद में दूध और मिश्री का पिलाना लाभप्रद रहता है। वैंगन के फल या पत्र का स्वरस भी लाभप्रद है।

योग-अष्टाङ्ग लवण—कालानमक, काला जीरा, वृक्षाम्ल (विषाम्विल), अम्लवेत प्रत्येक १ तोला, दालचीनी, छोटी इलायची, मरिच प्रत्येक ½ तोला। इनको कूट पीस कर उसमे १ भाग चीनी डालकर शीशी मे भर ले। यह अष्टाङ्ग लवण कफप्राय मदात्यय तथा सर्व मदात्यय मे लाभप्रद होता है। यह अग्नि का संदीपन करता है और स्रोतो का विशोधन करता है। यह वडा स्वादिष्ट और रुचिकर योग है। मदात्यय के अतिरिक्त रुचिकर योग के रूप मे भी इसका उपयोग हो सकता है।

एलादि मोदक—छोटी इलायची, महुए का फूल, चित्रक मूल, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, लाल शालि चावल, छोटी पीपल, मुनक्का, खजूर, काली तिल, जौ, विदारीकद, गोखरू बीज, निशोथ की जड और शतावर का कद। प्रत्येक समभाग तथा समस्त द्रव्यो से दुगुनी खाड मिलाकर मोदक बनावे। सुबह-शाम गाय के दूध के अनुपान में लेने से सब प्रकार के मदात्यय मे लाभ होता है।

कज्जली—पारद और गधक की सम प्रमाण में बनी कज्जली का आँवले के रस और मिश्री के सेवन से सर्व प्रकार के मदात्यय मे लाभप्रद होता है। मात्रा १–२ रत्ती।

ध्वंसक तथा विक्षय–मे उपचार वातिक मदात्यय के सदृश करना चाहिये। क्योकि अत्यत दुर्वल और क्षीण धातु के रोगियो मे ये पाये जाते है। अस्तु, दूध

और घृत का प्रचुर प्रयोग, अनुवासन तथा आपन बस्ति का प्रयोग तथा वात-नाशक अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान और अन्नपान की व्यवस्था करनी चाहिये।

उपसंहार—मदात्यय के रोगी चिकित्सा में कम आते हैं। चरक चिकित्सा स्थान में मदात्यय चिकित्सा नामक अध्याय बड़ा ही विशद ढंग से लिखा मिलता है उसमें सुरा को भगवती करके सम्बोधन किया गया है। इसके सेवन की परम्परा का इतिहास वैदिक युग से आरम्भ करके आज के दिन तक का वर्णित है। इसके योनि, संस्कार तथा नाम से विविध भेदों का उल्लेख किया गया है। इनमें विविधता होते हुए भी मद (नशा होना) लक्षण की समानता पाई जाती है। विधिपूर्वक मद्य सेवन की विधि, मद्य के अमृत तुल्य विविध गुण, इसके निर्माण में व्यवहृत होनेवाले घटक, उसकी विविध चेष्टायें, उससे उत्पन्न होनेवाली मद की विविध अवस्थायें प्रभृति बातों का बृहद् आख्यान पाया जाता है।

तदनन्तर अयुक्तियुक्त विधि या मात्रा से न प्रयुक्त होने पर उस से उत्पन्न होने वाले दोष, उस से उत्पन्न मदात्यय प्रभृति रोगों का विशाल वर्णन, उनकी समुचित चिकित्सा की व्यवस्था प्रभृति बातों का उल्लेख पाया जाता है।

व्यवहार में मद्यजात रोग आज कल कम मिलते हैं। संभवत: प्राचीन युग में इस (मद्यपान) का प्रचार अधिक रहा हो फलतः तज्जन्य व्याधियाँ भी बहुत पैदा होती रही हों, उनका उपचार-ज्ञान चिकित्सकों के लिये आवश्यक रहा हो। विदेशों में मद्यपान की परम्परा अब भी पाई जाती है, परन्तु देश में उस परम्परा का लोप हो गया है जो कुछ शेष भी रहा उसका मद्य-निषेधक विधानों से मूलोच्छेद ही हो रहा है। फलत. इस अध्याय के लिखने में कुछ क्रियाक्रमों तथा कुछ गिनी चुनी औषधियों का उल्लेख कर देना ही उचित समझा गया। विस्तृत ज्ञान के लिये चरक संहिता का सहारा लेना अपेक्षित है।

अध्याय का उपसंहार करते हुए अंत में चरक ने अपना निष्पक्ष विचार मद्य-सेवननिषेधपरक ही व्यक्त किया है। मद्य सब गुणों के बावजूद भी उसके अविधि या अति सेवन से विविध दोष पैदा होते हैं। अस्तु "जो मनुष्य इंद्रियों को वश में नहीं रखता है अर्थात् जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्रकार की मादक (मद्यादि नशीली चीजें) द्रव्यों के सेवन से अपने को बचा लिया है उस को शारीरिक तथा मानसिक विकार (जो प्राय. मदकर द्रव्यों से होते हैं) नहीं होते हैं।" [1]

☆

---

१ निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः।
शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥ (चर. चि. २४)

एकीसवाँ अध्याय

दाह-प्रतिषेध

प्रावेशिक—वाह्य अग्नि या तैजस पदार्थ के सम्पर्क मे आने से जो अनुभव होता है उसको दाह या जलन कहते है। शरीरान्तर्गत कारणो से रोगी को होने वाली जलन की विशेष अनुभूति को दाह रोग (Burnring syndrome) कहते है। दाह शरीरान्तर्गत अग्नि स्वरूप का ही अन्यतम गुण है। इस प्रकार किसी भी कारण से शरीरगत सोम गुण—कफ का ह्रास तथा अग्नि गुण—पित्त की वृद्धि होने से दाह का अनुभव होता है। सामान्यतया दाह पित्त की वृद्धि से ही उत्पन्न होता है। अस्तु, उसमे पित्तनाशक उपचारो से शान्ति मिलती है। क्यो कि इस अवस्था मे पित्त और रक्त की ऊष्मा से दाह होता है। अस्तु, पित्त का ह्रासन यहाँ कर्त्तव्य रहता है।[1]

कई वार ऐसा भी होता है कि पित्त प्राकृत या स्वाभाविक रहता है, परन्तु कफ के अति मात्रा में सक्षय होने से वायु अधिक बढती है और वायु पित्त को शरीर के विभिन्न अवयवो मे त्वचा आदि मे खीच ले जाती है। उन अवयवो मे पित्त का सम्पर्क होने से दाह या जलन पैदा होती है। इस अवस्था मे पित्त की स्थानाकृष्टि—अपकर्षण से दाह पैदा होता है। चिकित्सा मे यहाँ पर पित्तशामक उपचारो द्वारा वायु को शान्त करके पित्त को स्वस्थान मे लाने की आवश्यकता होती है। अस्तु, यहाँ पित्त का ह्रासन न करके वायुशामक उपचार लाभप्रद होता है।[2]

सुश्रुत ने सात प्रकार के दाहो का उल्लेख किया है—१ मद्यज, २ पित्तज, ३ तृष्णानिरोधज, ४ रक्तपूर्ण कोष्ठज ५. क्षतज ६ धातुक्षयज तथा ७. मर्माभिघातज। इनमे मर्माभिघातज (Due to shock) असाध्य होता है शेष साध्य होते है। इनमे मद्यज, पित्तज, क्षतज, रक्तपूर्ण कोष्ठज और तृष्णा निरो-

---

१ त्वच प्राप्त स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छित ।
दाह प्रकुरुते घोर पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥

२ प्रकृतिस्थ यदा पित्तं मारुत श्लेष्मण क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थित । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्वल्यमेव च । (च सू १०)

धज (Dueto Alcohol Haemorhage & Dehydration) विशुद्ध पैत्तिक दाह है–इनमे पित्तशामक उपचारो से लाभ होता है—परन्तु धातुक्षयोत्थ दाह जिसमे वायुकोप प्रधान हेतु होता है वह वातनाशक उपायो से शान्त होता है।

क्रियाक्रम-सामान्य—पित्त ज्वर मे जो दाह की चिकित्सा मे आहार-विहार तथा उपचार बतलाये गये हैं। वही उपचार दाह के शमन के लिये करना चाहिये।[1] पित्त ज्वर, मदात्यय, रक्तपित्त तथा दाह रोग मे पित्त के शमन के लिए लगभग समान उपक्रम ही बरते जाते हैं। बरफ या शीतल जल बाह्य तथा पीने के लिए आभ्यन्तर प्रयोग, पूरे शरीर पर कस्तूरी, श्वेतचदन, कपूर और खस को ठडे पानी मे पीस कर लेप करना, धारागृह मे बैठना, सहज स्नेहयुक्त, मुग्ध और मजुल आलाप करने वाले बालको का समाश्लेप (आलिङ्गन), खसकी टट्टी लगे पानी के छिडकाव वाले कमरे और पखे की हवा मे बैठना (Air conditioned Rooms), कवियो का साहित्य-सरस वाणी या सुकुमारियो का गान सुनना, पीने के लिये अगूर का रस, ईख का रस, नारिकेल जल, आँवले का पानी, फलो के रस, फालसा का शर्वत, कोमल और मूत्रल फलो का सेवन, धनिया को रात्रि मे भिगोकर सवेरे उसका वासी पानी पीना, या जीरे का पानी, अगुरु, लोध्र, चदन आदि का उद्वर्त्तन, नदी-जलाशय के समीप का वास, ठंडे पर्वतो और निर्झर के समीप का वास, गाय का दूध-घृत-मक्खन का सेवन, ककडी, पेठा, केला-मुनक्का, खजूर, छुहारा, सिघाडा आदि फलो का सेवन। चौलाई और परवल का शाक, मूग या मसूर की दाल और साधारण चावल-रोटी का भोजन आदि।

गर्ममसाले—क्षार-कटु-तिक्त-उष्ण द्रव्यो का सेवन, विरुद्ध अन्न-पान, वेग-विधारण, हाथी-घोडे की सवारी, परिश्रम, व्यायाम, धूप का सेवन, हिंगु या ताम्बूल का खाना, स्त्रीसंग, दधि, मत्स्य आदि पित्तकर द्रव्यों का पूर्णत. परिहार दाह की अवस्था मे कर देना चाहिये।

१ कपूर, खस, श्वेत चन्दन का ठण्डे पानी मे पीसा लेप शरीर पर करना।[2]
भेषज

२ शतधौत या सहस्रधौत घृत का लेप। गोघृत को फूल या कासे के वर्त्तन मे रखकर सौ पानी या हजार बार पानी से धोया घृत पूरे शरीर मे लगाने से

---

१ यत् पित्तज्वरदाहोक्त दाहे तत्सर्वमिष्यते। (भै र)

२ अयि नितम्बिनि खेलनलालसे मधुरवाणि निकाममदालसे।
वपुषि दाहवता विहित हित हिमहिमाशुजलैरनुलेपनम्॥

दाह शान्त होता है। यदि अवयव विशेष में जैसे हाथ-पैर के तलवे में हो तो केवल वही पर लगाना चाहिये।[1]

प्रदेह या लेप

३. नीम की पत्ती को पीसकर एक मिट्टी के वर्त्तन में पानी डालकर मथकर उनके फेन से लेप करने से दाह शान्त होता है। विशेषतः विसूचिका के अनन्तर होने वाले उदर के दाहमें लाभप्रद पाया गया है।[2] इससे तृषा, दाह और मूर्छा मे भी आराम होता है।

४ जौ का सत्तू, आंवला, वेर की गुठली या मज्जा, आम का पन्ना (कच्चे आम को आग मे पकाकर उसका लेप) काजी के साथ पीस कर लेप करना भी दाहशामक होता है।

५. क्षीरी वृक्ष की छाल, श्वेत चदन को दूध मे पीस कर पूरे बदन में लेप करना।

६. प्रियगु, लोध्र, खस, नेत्रवाला, नागकेसर, तेजपात, मोथा और चन्दन का लेप।

शय्या—केले के पत्र अथवा कमल के पत्ते पर सोना।

आच्छादन-काजी से आर्द्र किये वस्त्र के द्वारा पूरे शरीर का आवृत करना।

परिषेक तथा अवगाहन—सुगन्धवाला, पद्माख, खस और सफेद चन्दन को पानी मे खौलाकर ठण्डा हो जाने पर उसे एक द्रोणी मे भरकर डुबकी लगाकर स्नान। केवल शीतल जल से स्नान भी लाभप्रद होता है।

क्वाथ-पर्पटादि कषाय—पित्तपापडा, खस और मोथा इनका सम भाग में लेकर बनाया क्वाथ मिश्री के साथ पीना दाहशामक होता है।

धान्यक हिम—धनिया को रात्रि मे मिट्टी के वर्त्तन मे भिगोकर उसको सुबह मसल कर छान कर मिश्री के साथ पीना सुन्दर दाहशामक होता है।

चूर्ण—चंदनादि चूर्ण—चदन, खस, कूठ, नागरमोथा, आंवला, नील कमल का फूल, मुलेठी, महुए का फूल, मुनक्का, खजूर, छोटी इलायची, ककडी का बीज, खीरे का बीज, धनिया समभाग और सब के बराबर मिश्री मिलाकर बनाया चूर्ण। **मात्रा** ३ माशे। **अनुपान** शीतल जल।

---

१ सहस्रधौतेन घृतेन वापि दिग्धस्य दाह कृशता विभर्त्ति।
अन्याङ्गनासगसमादरस्य स्वीयेषु दारेषु यथाभिलाषः॥

२ तृड्-दाह-मोहा. प्रशम प्रयान्ति निम्बप्रवालोत्थितफेनलेपात्।
यथा नराणा धनिना धनानि समागमाद्वारविलासिनीनाम्॥ (वै जी.)

घृत-तैल—कुशादि तैल या घृत—कुशादि पंचतृण, शालपर्णी तथा जीवनीय गण की औषधियो से सिद्ध तैल या घृत का सेवन।

उपसंहार

दाह रोग मे प्रयोज्य कुछ व्यवस्थापत्र

१	चंद्रकलारस	३ र०
	प्रवाल पिष्टि	३ र०
	गुडूचीसत्त्व	१॥ मा०
	मिलित	३ मात्रा

१ मात्रा दिन मे तीन वार घृत और चीनी के साथ या गुलकन्द के साथ।

(२) यष्ट्यादि चूर्ण या शतपत्र्यादि चूर्ण ६ माशे रोज रात्रि मे सोते वक्त दूध से।

वायु के कारण दाह हो तो

(१) गुग्गुलुवटी ६/३ मात्रा २, २ गोली दिन मे तीन वार गर्म जल से।

(२) यष्ट्यादि चूर्ण या शतपत्र्यादि चूर्ण पूर्ववत् रात्रि में।

(३) पंचगुण तैल का अभ्यंग।

आजकल दाह रोग अधिकतर धातुक्षयजन्य अर्थात् वातिक ही मिलते हैं। अस्तु, इनकी चिकित्सा मे धातुओ के वर्धन, पोषण की व्यवस्था, जीवतिक्तियुक्त द्रव्य आहार प्रचुर मात्रा मे देना उत्तम रहता है। प्रदर तथा योनि रोग से पीडित स्त्रियो में शुक्रक्षय की अधिकता से उत्पन्न पुरुषो तथा किसी दीर्घकालीन रोग के परिणाम स्वरूप उत्पन्न दाह का रोग प्राय मिलता है। नवीन वैज्ञानिको के शोध के अनुसार हस्त-पादादितल-दाह (Burnig Feet Syndrome) का उत्पादक कारण जीवतिक्ति वी की कमी (Vıt B, and Calcium Pantothenate) माना जाता है। इस अवस्था में मुख से प्रयुक्त होने वाली तथा सूचीवेध से देय वहुत सी औषधियाँ भी मिलती हैं। फिर भी इनसे स्थायी लाभ नहीं होता है।

स्थायी लाभ के लिये आयुर्वेदीय योगो का उपयोग श्रेयस्कर होता है। यहाँ पर एक योग, कविराज प० भूमित्र शर्मा वैद्य का, उद्धृत किया जा रहा है जो उत्तम लाभ करता है :—

कुंकुमादि वटी—केशर १ तोला, सिगरफ १ तोला, सोठ १ तोला, धतूरे का वीज १ तोला, जायफल १ तोला, लौंग १ तोला, जावित्री १ तोला तथा मिर्च १ तोला। सबको कूट-पीसकर महीन चूर्ण बनाकर खरलकर वटी वना लेनी चाहिये। मात्रा—२ रत्ती प्रातः सायं जल या दूध से।

पाद-दाह—का वर्णन वातरोगाध्याय मे भी पाया जाता है। वहाँ पर चिकित्सा रूप में नागकेशर के कांटो को पीसकर शतधौतघृत मे मिलाकर पैरो में लेप करना अथवा दशमूल के काढे से पैर के तलवे का धोना अथवा मक्खन का लेप कर[1] स्वेद करना बतलाया गया है। सिरावेध के द्वारा रक्त-निर्हरण तथा दाह कर्म का भी विधान पाया जाता है। विभीतक फल के चूर्ण का अवधूलन, चूर्ण को पानी मे पीसकर लेप या विभीतक फल की मज्जा का लेप हाथ-पैर के दाह का नाशक होता है।

बाइसवाँ अध्याय

भूत-विद्या

चिकित्सा शास्त्र मे पठित रोग दो वर्गों के मिलते है। एक वे जिनमे पैदा होने वाले लक्षणो की दोष-दूष्य-हेतु-पूर्वरूप-उपशय-तथा सम्प्राप्ति के अनुसार तथा शारीर एवं मानस दोषो के अनुसार उनकी तर्कसगत व्याख्या की जा सके और समझा जा सके। इसके विपरीत कुछ सीमित व्याधियो का एक दूसरा वर्ग भी होता है। जिसमें अद्‌भुत या विचित्र स्वरूप के लक्षण पैदा होते है। इनमें मिलने वाले लक्षणो या लक्षण-समुदाय की उपपत्ति त्रिदोषवाद के सिद्धान्त के अनुसार या सत्त्व, रज एवं तम प्रभृति मानस गुणो के आधार पर समझ मे नही आती है।

जैसे—कोई व्यक्ति जिसने कभी भी सस्कृत भाषा न पढी हो और वह, अचानक रोग के आवेश मे सस्कृत वाणी मे प्रवचन करने लगे। अथवा कोई ऐसा व्यक्ति जिसने कभी भी फारसी न पढी हो रोग की अवस्था मे सहसा फारसी मे बोलने या लिखने लगे। ऐसे रोगियो में अथवा उनमे उत्पन्न होने वाले लक्षणो का बोधगम्य एव तार्किक समाधान नही हो पाता है। इस प्रकार के असाधारण रोगो के लिये एक स्वतत्र वर्ग की ही कल्पना आयुर्वेद शास्त्रज्ञो ने

---

१ शिराव्यध. पाददाह पादकण्टकवत् क्रिया।
शतधौतघृतोन्मिश्रैर्नागकेसरकण्टकै. ॥
पिष्टै प्रलेप सेकश्च दशमूल्यम्बुनेष्यते।
आलिप्य नवनीतेन स्वेदो हस्तादिदाहहा ॥ (च द.)

की एवं आयुर्वेद ने एक स्वतंत्र अंग भूत-विद्या के अंतर्गत ऐसे रोगो का आख्यान किया है।

इस विशिष्ट अंग में पाये जाने वाले रोग अधिकतर सत्त्व या मन से सम्बन्ध रखने वाले हैं। अंग के प्रवर्तक आचार्यों ने इन में प्रकट होने वाले रोगो का सम्बन्ध आगन्तुक कारणो से जोडा तथा उन में होने वाले लक्षण-समुदाय की सज्ञा भी पूर्णतया भिन्न स्वरूप की दी तथा रोग को रोग न कहकर भूतावेश, सत्त्वावेश, ग्रहजुष्ट, ग्रहोपसर्ग, बाधाजुष्ट आदि शब्दो से आख्यान किया। इस अंग में वर्णित बाधावो की व्याख्या, विनिश्चय तथा उपचार भी भिन्न स्वरूप के बतलाये।

इस अग में व्यवहृत होने वाले शब्द सभी भिन्न स्वरूप के पारिभाषिक अर्थो में व्यवहृत होते हैं। रोगो का नाम, उत्पत्ति तथा उनके उपचार सभी रहस्यमय ही मिलते है। अस्तु, भूत-विद्या नामक इस तंत्र या अग को यदि रहस्यमय रोग तथा उनके उपचार का अध्याय (A chapter on Mysterious diseases & their treatment) कहा जाय तो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अब यहाँ शंका होती है कि भूतविद्यान्तर्गत वर्णित देव-असुर-पिशाच प्रभृति क्या वास्तव में मनुष्य शरीर में उपसृष्ट होकर कष्ट देते है या नहीं? विषय विवादास्पद है। बहुत कुछ खण्डन और मण्डनपरक युक्तियाँ दी जा सकती हैं। खण्डन या नास्तिपरक ही विचारो का ही आधिक्य पाया जाता है। अस्तु, विचारणीय यह है—भूत-प्रेत आदि स्वय अदृश्य हैं, चर्म चक्षु से दिखलाई नही पडते है तो फिर उनके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होवे। इसका सीधा उत्तर यह है कि उनके प्रभाव से। जैसे—ताप और शक्ति दृष्ट नही होते, परन्तु प्रभाव से ही उनकी विद्यमानता का ज्ञान संभव रहता है।

भूतादि का प्रभाव प्राय: अल्पसत्त्व (कमजोर मनोबल) के आदमियो मे दिखलाई पड़ता है। महासत्त्व (दृढ मनोबल) के व्यक्तियो अथवा पवित्र आचरण के व्यक्तियों में इनका कोई भी प्रभाव नही दिखाई पडता है। परन्तु कमजोर मन के एवं गन्दे रहनेवाले व्यक्तियो मे तथा असंस्कृत व्यक्तियों में (अशौच के कारण) आये दिन इन पर होनेवाले प्रभावो का प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

दूर के देहातो में जहाँ शिक्षा का अभाव है, औद्योगीकरण का कमी है एवं चिकित्सा की सुविधा सुलभ नहीं है—वहाँ पर प्रेत-बाधा आदि का रोगो मे सर्व प्रथम निदान और तंत्र-मंत्र एवं यंत्र का सर्व प्रथम उपचार देखने को मिलता है। देहातो को छोड़ शहरों या शहरो की समीप बस्तियो में रहने वाले निम्न आर्थिक स्तर के व्यक्तियो में भी इस भूत-विद्या के प्रति कम आस्था नहीं दिखलाई

पड़ती। इनमें भी विविध व्याधियो मे प्राय प्रेतावेश का निदान और तदनुकूल उपचारो की व्यवस्था देखी जाती है।

आवेग का एक अर्थ आग्रह या हठ भी है। इस प्रकार का आवेशयुक्त रोगी कई आग्रहो से युक्त होकर सभ्य चिकित्सको के समीप भी आ सकता है। मान लें कोई रोगी चिकित्सक के समीप आकर अपने रोगो का कारण प्रेतबाधा बतलाता है। और उसके प्रतिकार रूप मे किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए किसी विशेष प्रकार के पूजन का आग्रह करता है। अब चिकित्सक उसका अनुमोदन करेगा या विरोध। यदि अनुमोदन करता है तो वह आशिक रूप मे भूत-विद्या नामक कला का समर्थन करता है। यदि पूर्णतया विरोध करता है तो उसकी यशोहानि की सभावना रहती है।

रोगो के मानसिक उद्वेगो के शमन के लिये उसके मन को प्रौढ करने के लिये सफल चिकित्सक प्राय भूत-विद्यान्तर्गत कथित उपचार, साधनो या दैव-व्यपाश्रय उपायो को अपनाता है। रोगी के मानसिक शान्ति के लिये कभी अनुकूल या प्रतिकूल उपचारो का सहारा लेना परमावश्यक हो जाता है। बस इतने में ही भूतविद्या की सम्पूर्ण कला निहित है और इन साधनो का आश्रय लेते हुए उपचार करने में ही भूतविद्या नामक तंत्र की सार्थकता है।

तान्त्रिक व्याख्या—तन्त्र शास्त्र में ऐसा माना जाता है कि देव-ऋषि-यक्ष-गधर्व-प्रेत आदि की नाडियाँ सुषुम्ना के समीप में पाई जाती हैं। योगी लोग अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे इनमे किसी को भी जागृत या सुप्त कर सकते हैं। दूसरे के शरीर के इन नाडीतत्रो को भी जगा सकते है। यदि किसी आगन्तुक कारण से ये नाडियाँ उन्मुख हो जाँय तो विविध प्रकार के प्रेत-गन्धर्व आदि के आवेश के लक्षण सामान्य व्यक्ति मे भी होने लगते हैं, जिसे भूत-बाधा के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी विषय का वर्णन इस भूत-विद्या नामक अग में किया जाता है।

भूतविद्या—नाम देवासुरगंधर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसा शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्। (सु सू. १)

देवर्षिगंधर्वपिशाचयक्षरक्षःपितॄणामभिधर्षणानि आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादिमिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे॥ (च चि)

आयुर्वेद के अष्टाङ्गो मे एक अन्यतम अग भूतविद्या है। आयुर्वेद के इस अग का प्रयोजन देव (देवता), असुर (दैत्य), गधर्व (देवगायक), यक्ष (कुबेर आदि), राक्षस (ब्रह्मराक्षस), पितर (श्राद्ध मे दिया गया भोजन

ग्रहण करने वाले), पिशाच (पिशित खाने वाले), नाग (सर्प ग्रह), ग्रह (वाल ग्रह) से उपसृष्ट चेतस् (मन) वाले व्यक्तियो के शान्ति-वलिहरणादि उपचारो द्वारा ग्रहो का उपशमन करना है।

अव एकैकश इन शब्दो का विचार आवश्यक हो जाता है। देव ग्रह से क्या तात्पर्य है क्या देवता स्वय किमी मानव के शरीर मे प्रविष्ट होकर कष्ट देते है ? देव ग्रहो में तप, दान, व्रत, धर्म, नियम, सत्य तथा अष्टविध सिद्धियाँ उनमें नित्य रहती है। उत्कृष्ट गुण होने के कारण वे मनुष्यो के साथ नही वैठते और न तो वे मनुष्यो के शरीर में प्रविष्ट ही होते है। किन्तु जो लोग भी अज्ञानवश मानव शरीर मे इनका प्रवेश मानते है उनको भूतविद्या से अनभिज्ञ ही समझना चाहिये। वास्तव में ये देव स्वयं शरीर में प्रविष्ट नही करते अपितु इन ग्रहो के जो असख्य अनुचर है एवं रक्त और मास पर ही निर्भर रहते है वे भयङ्कर तथा रात्रि में भ्रमण करनेवाले देवो के परिचर ही मानव-शरीर मे प्रवेश करते और उन्माद प्रभृति रोगो को पैदा करते है।[1]

असुर—दैत्य ग्रह भी कहलाते है। गन्धर्व—देवताओ की सभा के गायक गन्धर्व कहलाते है। यक्ष—कुवेरादि देवता लोगो के कोषाध्यक्ष या अर्थपति होते है। राक्षस—से ब्रह्मराक्षस का ग्रहण करना चाहिये, ब्राह्मण की मृतात्मा। पितृग्रह—अपने वश के मृत पूर्व पुरुष जिनको पिण्डदान किया जाता है—यदि उनको पिण्डदान न किया जाय या अन्य किसी कारण से अप्रसन्न हो जायँ तो वे भी ग्रह रूप मे वाधक हो जाते है। नाग—सर्प लोक के ग्रह।

ग्रह—वालग्रह के अध्याय मे वर्णित विविध ग्रह जो वालको में उपसृष्ट होकर नाना प्रकार की व्याधियाँ पैदा करते है। पिशाच—पिशित या मास खानेवाले ग्रह या निम्नस्तर के या समाज के एक छोटे अग के रूप मे पाये जाने वाले प्रेत।

इन ग्रहोपसर्गो को समझने के लिये इनके प्राकृतिक रूप में पाये जाने वाले सत्त्वो का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसके लिये सत्त्वो का वर्णन अध्याय के अन्त मे चरक सहिता के अनुसार सत्त्व या रज अश की विशेषता के आधार पर

---

१ तपांसि तीव्राणि तथैव दानं व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम्।
गुणास्तथाष्टावपि तेपु नित्या व्यस्ता समस्ताश्च यथाप्रभावम्॥
न ते मनुष्यैः सह सविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः॥
तेषां ग्रहाणा परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसख्याः।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तथा विशन्ति॥
(सु. ३ ६०)

सात सात्विक अश से और छ राजस अश से युक्त व्यक्तित्वो का विविध नाम से आख्यान किया गया है। वैकारिक अवस्थावो मे इनके आधार पर ही किस सत्त्व का आवेश किसी व्यक्ति में हुआ है इसका विनिश्चय किया जा सकता है। ग्रहावेश या भूतावेश दो प्रकार के होते हैं—देव कोटि के या पिशाच कोटि के। अथवा महासत्त्व (बलवान्) तथा अल्पसत्त्व (कमजोर)।

आयुर्वेद अथर्ववेद का एक उपाङ्ग है। अथर्ववेद मे भूतविद्या तथा मन्त्र-चिकित्सा का प्रचुर वर्णन पाया जाता है। मंत्र-शास्त्र या मन्त्र-चिकित्सा को सर्वोपरि स्थान चिकित्सा-विद्या मे दिया जाता है। इस कला की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि सबसे सिद्ध वैद्य मान्त्रिक होता है। "सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिकः।"

तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो व्याधि या रोग दो प्रकार के हो सकते है। एक वे जिनका सम्बन्ध शरीर से हो, दूसरे वे जिनका सम्बन्ध मन से हो। शरीर मे होनेवाले रोगो को व्याधि तथा मन मे होने वाले रोगो को आधि की सज्ञा दी जाती है। यद्यपि व्याधि और आधि के रूपो मे पर्याप्त भेद होता है तथापि वे पूर्णतया स्वतन्त्र नही है बल्कि परस्पर मे अनुस्यूत है। शरीरगत व्याधियो के प्रभाव मन के ऊपर और मन मे होने वाले रोगो-आधियो का प्रभाव शरीर के ऊपर पडता है। कई बार तो ये आपस मे मिलकर ऐसा रूप धारण करते हैं कि उनका पार्थक्य करना भी कठिन हो जाता है।

उत्पादक हेतुओ की दृष्टि से विचार किया जावे तो व्याधि या शरीरगत व्याधियो के उत्पन्न करने मे वात-पित्त-कफ दोप भाग लेते है और उनके परिणाम स्वरूप शरीरगत धातुओ में वैकारिक परिवर्त्तन होते (Pathological changes) हैं और उनके कारण विविध लक्षण पैदा होते हैं। परन्तु मनोगत व्याधियो मे रज और तम दो दोप उत्पादक हेतु बनते है और इनके परिणाम स्वरूप शरीरगत धातुओ मे वैकारिक परिवर्त्तन (No signs of Patholohgical changes in Body tissues) के कोई चिह्न नही मिलते है फिर भी विविध प्रकार के लक्षण पैदा होते है। सम्भव है उनकी उत्पत्ति मे मस्तिष्क धातु मे कुछ वैकारिक परिवर्तन होते हो।

अब चिकित्सा या उपचार पर विचार करें तो व्याधि की चिकित्सा मे युक्तिव्यपाश्रय (Materialistic) साधन बतलाये जाते है और आधियो की चिकित्सा प्राय आधिदैविक या दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रसंग आता है।

आधियो का विचार किया जाय तो उनमे कुछ मद, मूर्च्छा, सन्यास, अपस्मार, उन्माद और अपतन्त्रक प्रभृति ऐसी व्याधियाँ है जिनका आधिभौतिक या युक्ति-

व्यपाश्रय चिकित्सा करते हुए और साथ में कुछ दैवव्यपाश्रय उपाय बतलाते हुए उपचार करना संभव रहता है। परन्तु कुछ ऐसे भी रोग चिकित्सकों के सम्मुख आते हैं जिनका रहस्य समझ में नहीं आ पाता है और उनमें आधिभौतिक उपचार कुछ भी लाभ नहीं करता है और विशिष्ट दैव-व्यपाश्रय उपक्रमों से उनका शमन करना संभव रहता है। इस प्रकार का रहस्यमय मानस रोग भूतविद्या के विषय हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आधि या मानसिक रोगों के दो वर्ग हैं—१. सामान्य आधियाँ २ विशिष्ट आधियाँ। सामान्य आधियों के रहस्य का तो भेद लग जाता है और कुछ सामान्य दैव-व्यपाश्रय उपक्रमों की सहायता से प्रधानतया युक्ति-व्यपाश्रय उपायों द्वारा उपचार सामान्य व्यक्ति भी कर लेता है। दूसरे वर्ग में विशिष्ट आधियों को समझना चाहिये—जो परमगूढ, रहस्यमय और अप्रतर्क्य होती हैं जिनका उपचार विशेषज्ञों का विषय रह जाता है। इस प्रकार की विशिष्ट रहस्यमय व्याधियाँ और उनका उपचार भूत-विद्या का विषय हो जाता है। इन व्याधियों की कोई तर्कसंगत व्याख्या या उपचार असंभव हो जाता है।

इस प्रकार की विशिष्ट व्याधियों के हेतु, लक्षण, संज्ञा एवं उपचार पूर्णतया स्वतंत्र ढंग के होते हैं, उनका आयुर्वेद के अन्य सात अंगों (शल्य-शालाक्य, अगदतंत्र, कौमार भृत्य, रसायन, कल्प तथा वाजीकरण) के साथ कोई पूर्वापर सम्बन्ध भी नहीं रहता है। इनके उपचार करने वालों के लिये भी कोई शेष अन्य अंगों की विशेष अपेक्षा नहीं रहती है। इस विषय का अधिक सम्बन्ध मन्त्र शास्त्र से हो जाता है। तन्त्र-मंत्र-यन्त्र के द्वारा उपचार करते हुए इन आधियों में शान्ति मिलती है। मंत्र शास्त्र के अनुसार चिकित्सा करनेवाले चिकित्सकों का एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है जिन्हें तान्त्रिक या ओझा-सोखा कहते हैं। विशिष्ट प्रकार की आधियों का उपचार करना उन विशेषज्ञों का ही विषय है। भूत-विद्या का विशेषज्ञ वास्तव में तांत्रिक या मंत्रशास्त्रज्ञ ही होता है। सामान्य चिकित्सक को कुछ सामान्य बातों का ज्ञान हो जाना ही पर्याप्त है—जिनके आधार पर वह विशिष्ट तंत्रज्ञों से सलाह लेने के लिये रोगी को भेज सके।

चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थी को बहुविध ऐसे विषय पढाये जाते हैं जिनका उनके परवर्त्ती कार्यक्षेत्र में काम नहीं पड़ता है। जैसे—प्रसूति तंत्र, स्त्रीरोग तथा शल्यतंत्र-सम्बन्धी बृहत् शस्त्र कर्म (Major operations)। एक सामान्य चिकित्सक के लिए कार्य क्षेत्र में आने पर विशेषत. काय-चिकित्सक के लिये इन कर्मों का व्यवहार अप्रासंगिक हो जाता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन विषयों का ज्ञान कराना उसके लिये निरुपयोगी या

अनावश्यक है। क्योकि इस ज्ञान के अभाव मे चिकित्सक रोग के निदान मे, उसके शस्त्रसाध्य या औषधसाध्य होने में, लघु शल्यकर्म साध्य या वृहत्कर्म साध्य तथा संभाव्य साध्यासाध्य विवेक में अनभिज्ञ ही रह जायगा और उस अवस्था के अनुसार वैसे रोगी को उचित सलाह देने मे चूक जायेगा। रोगी की स्थिति के अनुसार उसे किसी शल्यकर्म-विशेषज्ञ, प्रसूति-विशेषज्ञ के उपचार के लिये अथवा यथोचित छोटे या बडे चिकित्सालय मे जाने के लिये प्रेरित करने मे उसका पूर्व पठित ज्ञान सहायक बनता है।

इसी तरह भूत-विद्या के जहाँ तक सामान्य ज्ञान का प्रश्न है—सभी काय-चिकित्सक को जानना आवश्यक है। मान लें चिकित्सक को भूत-विद्या तन्त्र मे कुछ भी आस्था नही है वह उसको एक हास्यास्पद विषय या कपोलकल्पित अनावश्यक विवेचना समझता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति या रोगी भूत-प्रेत आदि बाधाओ से पीडित होकर उसकी चिकित्सा मे आता है तो क्या उसको मजाक कर टाल सकेगा। उसको बाध्य होकर आधिभौतिक उपचारो के साथ कुछ आधिदैविक उपक्रमो का भी शरण लेना पडेगा। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा वह या तो स्वयं करे अथवा उसके लिये किसी अन्य तंत्रज्ञ से सलाह लेने के लिये उपचार कराने के लिये भेज दे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक चिकित्सक को इन आध्यात्मिक या मानसिक विकारो तथा उनके उपचारो से अवगत होना वाछित है। इसी लिये सभवत आयुर्वेद के शास्त्रकारो ने भूत-विद्या की एक अन्यतम अंग के रूप मे व्याख्या की है।

जैसा कि ऊपर मे बतलाया जा चुका है कि आधियो मे सामान्य चिकित्सक को भी इन उपचारो का शरण लेना पडता है—जैसे आगन्तुक विषमज्वर, आगन्तुक या भूतोत्थ उन्माद, आगन्तुक अपस्मार या अपतंत्रक तथा बालरोगो की चिकित्सा मे बालग्रह आदि। अस्तु, एक सामान्य चिकित्सक (General Practitioner) को कुछ इस मंत्र शास्त्र के सामान्य बातो की जानकारी करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ रोगो का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

नव प्रसूत बालको में कई प्रकार के रोग या लक्षण-समुदाय (Syndrome) प्रकट होकर उसकी दशा को साघातिक बना देते हैं। बोलने और दवा-दारू के सेवन मे असमर्थ बालक व्याकुल हो जाता है। चिकित्सक का भौतिक उपचार (marterialistic Treatment) दुरूह हो जाता है और प्राय असफल ही पाया जाता है। बालक कुछ ही क्षणो मे अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर

देता है। बालक के माता-पिता तथा चिकित्सक की बुद्धि एवं युक्ति भी अकिंचित्कर होती है, वे किंकर्त्तव्य-विमूढ हो जाते है। जो कुछ भौतिक उपचार करता है वह भी प्राय. सफल नही होता। असफलतावो के कारण चिकित्सक हताश हो जाता है। इनमे न ठीक निदान हो हो पाता है और न समुचित चिकित्सा ही। छोटे रोगी का सहयोग (Co operation) भी चिकित्सक के लिए दुर्लभ हो जाता है। फलत चिकित्सा में असफलता हो अधिक मिलती है और सफलता कम।

इन रोगो में आयुर्वेद अपने भूत-विद्या नामक अग के शरण लेने का उपदेश देता है जिसमे कई प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उपायो से बालक रोगी के रोग-निर्हरण के लिए उपदेश पाया जाता है। रोग के निश्चय मे वह विशेष प्रकार के हेतु, रोग की भिन्न प्रकार की सज्ञा, विशिष्ट प्रकार के पूर्वरूप तथा उपचारो के अलौकिक रूपो का आख्यान करता है। इन अवस्थावो मे बालको के रोगो की सज्ञा बालग्रह हो जाती है। उपचार में युक्ति की अपेक्षा परम्परा या दैव की विशेषता बतलाता है। इसके लिए ग्रहबाधा-प्रकरण नामक विशेष अध्याय लिखा जाता है, जिसका सम्बन्ध उसके अन्य सात अगो से न करके, विशिष्ट अग भूत-विद्या से जोडता है। फलत बालग्रह के उपचार तथा आगन्तुक अनुबधो के उपचार कुछ दूसरे प्रकार के हो जाते है जो आयुर्वेद का अपना वैशिष्ट्य बन जाता है।

विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप मे इन ग्रहो के नाम, स्वरूप तथा उपचारो का एक व्यावहारिक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

बाल ग्रह-रोग कई स्वरूप के होते है। इनसे अत्यन्त तीव्र स्वरूप के (Acute) और कई बार जीर्णस्वरूप के (Chronic) लक्षण भी पैदा होते है, परन्तु घातक प्राय सभी होते है।

बालग्रह-सामान्य रूप—ग्रहोपसृष्ट बालक में सामान्यतया निम्नलिखित लक्षण समुदाय (Syndrome) पाये जाते है। जैसे—ज्वर, क्रन्दन, चौकना, चिल्लाना, आँख एव भ्रू का नचाना, मुख से फेनोद्गम, ऊपर की ओर स्थिर नेत्रो से देखना, दाँतो का कटकटाना, अनिद्रा, भयाकुल उद्विग्नता, माता का स्तन्य-त्याग (दूध न पीना), स्वर और चेष्टावो का विकृत होता, नख से माता या धात्री के शरीर का कुरेदना, निसंज्ञता (बेहोशी), विबध या अतिसार, उसके शरीर से मास-रक्त से मछली, खटमल या छुछुन्दर जैसी दुर्गंध का आना। इन लक्षणो के आधार पर बाल ग्रह से जुष्ट बालक का निदान करना सम्भव रहता है।

बालग्रहसंख्या—सुश्रुत तथा अष्टाङ्गहृदय मे कई वर्गों मे इन लक्षणो के विभजन तथा विभिन्न ग्रहो के अनुसार लक्षण तथा उपचार का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ सुश्रुत ने कुल ग्रहो की सख्या ९ बतलाई है जो आकाशीय नव-ग्रहो की सख्या के साथ साम्य रखता है। अष्टाङ्गहृदय मे सख्या बारह बतलाई गई है। रावण नामक किसी आचार्य ने बाल ग्रहो का वर्णन पूतना के नाम से किया है और कुल सख्या सोलह बतलाई है। यहाँ पर अष्टाङ्गहृदय के अनुसार १२ बालग्रहों का नाम दिया जा रहा है।

अपने पुत्र कात्तिकेय की रक्षा के लिए शूलपाणि भगवान् शकर ने ग्रहो की उत्पत्ति की है। ये बारह प्रकार के होते है। इनमे छ पुलिङ्गी और छ स्त्री-लिङ्गी होते हैं। १ स्कंद २ विशाख ३. मेष ४ श्वग्रह ५. प्रपितृ ६. शकुनि नामक छः पुलिङ्गवाचक तथा ७ पूतना, ८ शीतपूतना ९ हष्टिपूतना १० मुखमण्डलिका ११ रेवती, १२ शुष्करेवती ये छ स्त्रीलिङ्ग वाचक होते है।

रोगोत्पत्ति में ग्रहों की कारणता—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि "आप्त या शास्त्र-वचनो के अनुसार अर्थात् जो शास्त्र मे लिखा है उस को देख कर तदनुरूप रोगो की उत्पत्ति में इन ग्रहो की कारणता, लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख किया जावेगा।"

माता या धात्री के अपथ्य या अपचारो से जैसे, मास-सुरादि का सेवन, मूत्र-पुरीषादि की सफाई न रखना, मगल कर्म का अभाव तथा अपवित्रता से ग्रह कुपित हो जाते हैं तथा अपनी पूजा करने के निमित्त या हिंसा के लिए शिशु पर आक्रमण करते है। हिंसाकाक्षा या अर्चनाकाक्षा इन दो कारणो से ही बालक को ग्रह कष्ट देते है "हिंसारत्यर्चनाकाक्षा ग्रहग्रहणकारणम्।" वस्तुत गह बालक के रक्षक रूप मे रहते है क्योकि इसी निमित्त इनकी सृष्टि भगवान् शंकरने की थी परन्तु अपवित्रता या अपूजन से वे स्वयं बालक के भक्षक हो जाते हैं।

सामान्य उपचार—सामान्यतया सभी ग्रहो के उपचार मे निम्नलिखित कर्मों या उपक्रमो की आवश्यता होती है—१ परिषेक (Sponging) २ अभ्यंग (Massage)—महाबला तैल का अभ्यंग ३ घृत प्रयोग—अष्टमगल घृत (भै र) ४. क्षीर प्रयोग—जैसे विडङ्गपाक क्षीर ५ धूपन-सर्पनिर्मोक, रोम, केश, चर्म आदि का धूपन ६. प्रदेह—सर्वगधद्रव्य युक्त ७ औषधि धारण—गुडूची-पुनर्नव-शारिवा-आदि का धारण ८ बलिनिर्हरण—बहिर्बलि के लिये रगीन वस्त्र, भक्ष्य, द्रव्य, नैवेद्य देवता के नाम से निकाल कर बालक को स्पर्श कराके

घर से वाहर किसी चौराहे पर रख देना ९ रक्षामंत्र, १० स्नान—धात्री तथा वालक का विशेष विधियो से स्नान कराना।[1]

भूत-विद्या के अतर्गत वाल रोगो का समावेश सभवत: असमर्थतावश आचार्यों ने किया है। क्योकि—इस प्रकार के नवप्रसूत वालको के कोमल और मूक शरीर में रोग का निदान वडा ही कठिन होता है। निदान क्वचित् हो भी जाय आभ्यंतर मे प्रयुक्त होने वाली सामान्य एवं निरापद औषधियो से उपचार करना कठिन हो जाता है। अस्तु, अभ्यंग, उत्सादन प्रभृति वाह्य उपचारो के द्वारा तथा मंत्र-तंत्र और यंत्र द्वारा चिकित्सा करना युक्तिसगत प्रतीत होता है। अस्तु, वालग्रह सज्ञा से इस कालमर्यादा की होनेवाली व्याधियो का वर्णन आचार्यों ने किया तथा उसके उपचार में व्यवहृत होने वाले शान्ति कर्म, वलिहरणादि क्रियावो का उपदेश किया।

भूत-विद्या के अतर्गत दूसरा प्रमुख प्रसंग उन्माद रोग के अधिकार में आता है। मद-मूर्च्छा-सन्यास-अपतंत्रक-अपस्मार तथा उन्माद ये ऐसे रोग हैं—जिनमें शारीरिक दोष वात-पित्त-कफ तथा मानसिक दोष सत्त्व-रज और तम, दोनो का सतुलन विगड जाता है और शरीर तथा मन दोनो के दोषो मे वैषम्य पैदा होता है। विविध मानसिक या मस्तिष्कगत रोगो में मनमें विकार कैसे पैदा होता है, इस विषय को समझने के लिए थोडा मन के दोष, गुण और क्रिया का सक्षिप्त ज्ञान हो जाना आवश्यक है।

मनके गुण तथा दोष—प्रकृति के समान मन भी त्रिगुणात्मक होता है। प्राकृत अवस्था में इसमें सत्त्व गुण की ही प्रधानता रहती है। अस्तु, इसका दूसरा नाम ही सत्त्व पड गया है। रज और तम मन के दो दोष है—"रजस्तमश्च मनसा द्वौ दोषावुदाहृतौ।" इन दोनो की विषमता या प्रवलता से विविध मानसिक रोग पैदा होते हैं।

मन के कार्य और उसकी क्रिया की सम्पन्नता—कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प, इन्द्रियो का नियमन तथा अपना नियमन आदि मन के कर्म हैं—

> चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं संकल्पमेव च।
> यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्।
> इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः॥ (च शा)

---

1. विस्तार के लिए देखिये सुश्रुत उत्तरस्थान वालग्रह-प्रतिषेध।

अनुभव (Feeling), विवेचन (Thinking), तथा क्रिया (Action), इनसे मानसिक क्रियाये सम्पन्न होती है। मन की ही अवस्था विशेष का नाम अहकार और वुद्धि है। इन्द्रियो के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष मन के पास पहुँचता है, मन उसके हेयोपादेय (भले बुरे) का विचार करके अहकार को दे देता है। अहकार भी यह मेरा है समझकर उसका ग्रहण या त्याग करने के लिए वुद्धि को सौंप देता है। इस प्रकार वस्तु के ज्ञान मे इन्द्रियाँ अप्रधान तथा मन आदि तीनों अंत -करण प्रधान माने गये है।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ (सा. का)

ये सभी क्रियायें मन के सत्त्व गुण की प्रकृतावस्था पर ही निर्भर है। सत्त्व गुण की कमी एवं रज और तम की अधिकता से उपर्युक्त विविध मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती है। मानसिक व्याधियो मे उन्माद का महत्त्व सर्वाधिक है। अत यहाँ पर उसी का वर्णन किया जा रहा है।

वातादि दोप विकृत होकर जब मनोवह स्रोत (वातनाडी सस्थान) मे पहुचते है तो उसके सत्त्व गुण का ह्रास एवं रज तथा तमो गुण की वृद्धि कर के मनोविभ्रम या उन्माद रोग को उत्पन्न करते हैं। उन्माद किस को और क्यो होता है। इसका विवेचन यथास्थान आगे किया जायगा। सम्प्रति उन्माद की सक्षिप्त परिभापा के वारे मे विचार किया जा रहा है।

निष्प्रयोजन तथा उच्छृखल प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम उन्माद है। प्राकृतावस्था मे मनुष्य प्रत्येक कार्य किसी प्रयोजन मे ही करता है विना प्रयोजन के अल्प वुद्धि की भी प्रवृत्ति नही होती 'न प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।' प्राचीनो ने प्राणैषणा (जीवित रहने की इच्छा Instinct of Self Preservation), धनैषणा या कामैपणा (धन या कामना की पूर्ति की इच्छा Sexual), धर्मैंपणा या परलोकैषणा (समाज और धर्म की इच्छा Herd instinct), इन तीनो को ही प्रवृत्ति का कारण या प्रयोजन माना है—"सुत वित नारि ईपना तीनी। केहि के मति नहिं कीन मलीनी"। ये सभी एपणाये तथा प्रकृति एव तदनुकूल प्रवृत्तियाँ प्राय माता-पिता के गुणो के अनुसार सतान में आती है। वृत्त तथा सदाचार आदि गुण जातोत्तर काल मे शिक्षण के अनुसार आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त एपणावो से रहित होकर कार्य करने की अव्यवस्थित प्रवृत्ति को ही उन्माद कहते हैं। व्यर्थ ही तिनके तोड़ना, भूमि का कुरेदना प्रभृति

छोटे छोटे कार्य भी निष्प्रयोजन कर्म की श्रेणी मे आने से मानस रोग या उन्माद के द्योतक (Abnormal Psycosis) हैं। लोभ, क्रोध आदि के वेग का संवरण न कर सकना आदि भी सामयिक पागलपन ही है। विचार करने से ऐसा प्रतिभात होता है कि स्वस्थ की परिभाषा के अनुसार "समदोष समाग्निश्च: समधातुमलक्रिय:। प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: स्वस्थ इत्यभिधीयते।" जिस प्रकार पूर्ण स्वस्थ शरीर वाले मनुष्य, समाज में बहुत थोडे हैं उसी प्रकार समाज का बहुत कम भाग ऐसा है जो मानस रोगो से पूर्णत: मुक्त हो। इसका वर्णन प्राकृतिक सत्त्व-विवेचन मे आगे किया जायगा।

शारीरिक रोगो की अपेक्षा मानस रोगो का अनुपात अधिक ही पाया जाता है। देश के अधिकाधिक औद्योगीकरण से संभवत. यह अधिक बढ रहा है। ऐसा कुछ वैज्ञानिको का अनुमान है। किन्तु शारीर और मानस रोगो मे अंतर यह है— चिकित्सा-शास्त्र ग्रथो मे शारीरिक रोगो का वर्णन विशद रूप मे पाया जाता है फलत उनके पहचानने में सौकर्य भी होता है। इसके विपरीत साधारण अवस्था मे मानस रोगो का ज्ञान नही हो पाता अपितु जब वह उग्ररूप धारण करता है तब हम उसको उन्माद या पागलपन के रूप मे समझ पाते हैं। वास्तव में यह बहुत पूर्व ही प्रारंभ हो जाता है। मानसिक रोग शारीरिक रोगो की अपेक्षा बद्ध-मूल होकर असाध्य भी शीघ्रता से होते है। इसके अतिरिक्त मानस रोगो में शारीर रोगो की अपेक्षा वश-परम्परा मे चलने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

वैद्यक ग्रंथो मे वर्णित मानस रोग उन्माद में स्पष्टतया दो वर्ग के पाये जाते हैं—एक सामान्य वर्ग, जिनमे लक्षणो की उत्पत्ति होने पर शारीरिक दोषो के वैषम्य अथवा मानस दोष-रज-तम की घटा-बढी अवस्था के अनुसार उसकी उत्पत्ति मे उपपत्ति दी जा सके, जैसे-वातिक, पैत्तिक,श्लैष्मिक तथा त्रिदोषज उन्माद। दूसरा वर्ग-विशिष्ट उन्मादो का पाया जाता है। जिन अवस्थावो में लक्षणो के प्रकट होने पर त्रिदोषवाद के अनुसार सत्त्व दोषो (रज-तम) के अनुसार कोई उपपत्ति नही दी जा सकती। इस वर्ग के विशिष्ट उन्मादो का कारण उन्होने भूत-पिशाच प्रभृति इन्द्रियातीत तत्त्वो को स्वीकार किया है। यह आगन्तुक उन्मादो का वर्ग है।

भूत-पिशाच आदि की सत्ता का विषय आज भी विवादास्पद बना हुआ है। परन्तु कई बार इस प्रकार की घटनायें प्रत्यक्ष देखने को मिलती है, जिनके आधार पर इन्हे निरर्थक कह कर नही टाला जा सकता है। हाँ शका एक अवश्य यह हो सकती है कि इन भूत-प्रेतो का रोगोत्पत्ति मे साक्षात् कारण माना जाय या

परम्परया। इसके लिये महर्षि चरक ने कहा है कि देवता, राक्षस, गधर्व आदि किसी को भी रोगोत्पत्ति का साक्षात् कारण नही माना जा सकता है—क्यो कि सम्पूर्ण दु ख का कर्त्ता अपनी बुद्धि को ही समझना चाहिये। रोग की उत्पत्ति प्रज्ञापराध से ही होती है–देव, यक्ष आदि आगन्तुक या निमित्त कारण के रूप मे आते है। मनुष्य अच्छा कर्म करता हुआ सदा निर्भीक रह सकता है।

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्॥
ये त्वेनमनुवर्त्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा।
न स तद्धेतुकः क्लेशो नह्यस्ति कृतकृत्यता॥
प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान्॥
आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुख-दु खयोः।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्॥ (च)

कहने का तात्पर्य यह है मनुष्य अपनी गलतियो से यदि इन बाधक देवो को कष्ट देता है तब वे क्रुद्ध होकर उस मनुष्य को भी कष्ट देने लगते है–अन्यथा नही।

भूतोन्माद की विशेषता—ये उन्माद अधिकतर आगन्तुक स्वरूप के होते है। उनकी उत्पत्ति मे कोई तर्कसगत उपपत्ति नही दी जा सकती है। ऐसे उन्मत्त व्यक्तियो की वाणी, पराक्रम, शक्ति व चेष्टाये अमर्त्य या अनुमाषिक स्वरूप की अर्थात् मनुष्यो से अधिक तथा विचित्र स्वरूप की होती है। ऐसे उन्मत्त व्यक्तियो मे ज्ञान-विज्ञान एव बल भी अद्भुत स्वरूप का पाया जाता है। इन उन्मादो में दोषज उन्मादो के समान उन्माद का समय नियत न होकर अनिश्चित होता है। ऐसे उन्माद को भूतोत्थ उन्माद कहा जाता है। भूतोन्माद इस एक शब्द से चरकोक्त देवोन्माद, गंधर्वोन्माद आदि अष्टविध आगन्तुक उन्मादो का ग्रहण हो जाता है।

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः।
उन्मादकालोऽनियतश्च तस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरन्ति॥
(च चि ९)

आचार्य सुश्रुत ने इस भूतोन्माद की विशेषता बतलाते हुए लिखा है। गुप्त (गुह्य) बातो का भेद दे देना, भविष्य मे घटने वाली घटनाओ को पहले ही बतला देना, चित्त की अनवस्था, सहिष्णुता का अभाव (सहने की शक्ति का अभाव)

असहिष्णुता तथा अमानुषिक कार्य तथा चेष्टायें भूतोन्माद से युक्त व्यक्तियो मे पाई जाती हैं :—

गुह्या-नागत-विज्ञानमनवस्थाऽसहिष्णुता ।
क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ॥

आगन्तुक उन्माद ८ प्रकार के होते है—जैसे—(सुश्रुत से संगृहीत माधव-निदान के पाठानुसार)

१ देवजुष्टोन्माद—देवग्रह के कारण पागल मनुष्य सदा सतुष्ट रहता है। वह पवित्र रहता है और उसके शरीर से अकारण ही उत्तमोत्तम पुष्पो की गन्ध आती रहती है। उसे निद्रा और तन्द्रा नही आती। सत्य बोलता है तथा धारा-प्रवाह शुद्ध संस्कृत में भाषण करता है। रोगी तेजस्वी होता है, उसके नेत्र भी स्थिर रहते है। आस पास के लोगो को वरदान देता है और ब्राह्मणो की पूजा करता है।

संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तंद्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी ।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥

(सु ३ ६०)

२. देवशत्रुजुष्ट—(दानव या असुरजुष्ट)—असुर ग्रह से पीडित मनुष्य को पसीना बहुत आता है। वह ब्राह्मण, गुरु और देवताओं के दोष का वर्णन करता है। आँखें तिरछी रहती है और वह किसी से नही डरता। ऐसे रोगी की प्रवृत्ति सदा कुमार्ग पर चलने की रहती है। बहुत खाने पर भी उसकी तृप्ति नही होती तथा वह दुष्ट प्रकृति का होता है।

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।
संतुष्टो न भवति चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥

३ गन्धर्व ग्रह पीडित उन्मत्त—सदा प्रसन्न रहता है, नदी के किनारे या उपवनो मे घूमने में आनन्द का अनुभव करता है। जिसका आचरण शुद्ध हो, जिसको सगीत और गन्धमाल्यो से अधिक प्रेम हो एवं जो सुन्दरतम ढंग से नाचता हुआ मद मद मुसकराता हो उसे गन्धर्व ग्रह से पीड़ित समझना चाहिये।

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥

४ यक्षाविष्ट—जिस उन्मादी की आँखें लाल हो, जिसको सुन्दर, बारीक तथा लाल रग के वस्त्र-धारण का शौक हो, जो गम्भीर और शीघ्रगामी हो, जो कम बोले और सहनशील हो, देखने से तो तेजस्वी मालूम हो एवं जो

सर्वत्र कहता फिरे 'किसको क्या दूँ ?" ऐसे उन्मादी को यक्ष ग्रह से पीडित समझना चाहिये।

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपीडितो मनुष्यः॥

५ पितृजुष्ट—पितृ ग्रह से पीडित उन्मत्त व्यक्ति शान्त रहता है एवं दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत वस्त्र आदि रखकर, कुशा के बने आसन पर बैठकर, पितरो को पिण्डदान और जलदान करता रहता है। मास, तिल, गुड और क्षीर जैसे द्रव्यो में अधिक रुचि रखता है एव पितरो का भक्त भी होता है।

प्रेतानां दिशति स संस्तरेषु पिण्डान् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकामस्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः॥

६ सर्पग्रह जुष्ट—जो मनुष्य कभी कभी साँप के समान भूमि पर पेट के बल लेटकर सरकता है तथा जिह्वा से ओठो को चाटता रहता है, अत्यन्त क्रोधी होता है, जिसे गुड, शहद, दूध और खीर खाने की बहुत इच्छा रहती हो उसको सर्पग्रह से पीडित समझना चाहिये।

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत् कदाचित् सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः॥

७ राक्षस-ग्रह जुष्ट—राक्षस ग्रह जुष्ट उन्माद मे रोगी मांस-रक्त तथा अनेक प्रकार के मद्यो को चाहता है। वह निर्लज्ज, अत्यन्त कठोर स्वभाव का और शूर होता है। ऐसे रोगी को क्रोध भी बहुत आता है एवं उसमे शक्ति भी बहुत अधिक होती है। वह रात्रि में घूमता है और पवित्रता से द्वेष करता है।

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति च राक्षसैर्गृहीतः॥

८ पिशाच ग्रहजुष्ट उन्माद—जो मनुष्य भुजाये ऊपर उठाये हुए रहता हो, नग्न रहता हो, जिसका मास क्षीण हो गया हो, जिसका शरीर कृश हो, जिसके शरीर से दुर्गन्ध आती हो, जो बहुत गन्दा रहता हो तथा अति लोभी हो, जो अधिक भोजन करे और निर्जन वनो मे घूमता रहे, जो विरुद्ध चेष्टा करता हो एव रोता हुआ इतस्तत. घूमता रहता हो उसे पिशाच ग्रह से जुष्ट समझना चाहिये।

उद्धस्तः कृशपुरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोलः।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥

प्रेत ग्रहों के आवेश प्रकार—कुछ लोगों का कहना है यदि ग्रहो का शरीर में प्रवेश होता है तो एक शरीर में दूसरे का प्रवेश किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार दर्पण जैसे चमकीली वस्तु में प्रतिबिम्ब चला जाता है, अथवा प्राणियों के शरीर में जिस प्रकार उष्णता एवं शैत्य का प्रवेश हो जाता है अथवा जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्यकान्त में प्रविष्ट हो जाती है दिखाई नही पडती फिर भी अपना प्रभाव दिखलाती है अथवा जैसे अदृश्य आत्मा गर्भ शरीर में प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार मनुष्यो के शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है किन्तु चर्म चक्षु से दिखाई नही पड़ते परन्तु उनका प्रभाव दिखाई पड़ता है। जब ये शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं तो मनुष्य के शरीर में दुःसह पीड़ा पैदा करते हैं।

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक्॥
विशन्ति न च दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः।
प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम्॥ (सु उ ६०)
अदूपयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ।
(च. चि. ६)

देवादि का आक्रमण या आवेश कालः—

देव ग्रह पूर्णिमा के दिन आक्रमण करते हैं, अतः यदि किसी रोगी को पूर्णिमा के दिन दौरा आवे या रोग का आरंभ हो तो देव ग्रहों का उपसर्ग समझना चाहिये। यदि प्रातः या सायं काल में दौरा आवे या रोग का आक्रमण हुआ हो तो असुर ग्रह का प्रकोप समझे। यदि अष्टमी के दिन रोग प्रबल हो अथवा रोग का आक्रमण हो तो गन्धर्व ग्रह का और प्रतिपदा के दिन पागलपन का दौरा हो तो यक्षग्रह के प्रकोप का अनुमान करना चाहिये। अमावास्या के दिन दौरा आने पर पितृग्रह तथा पंचमी को दौरा आने पर सर्पग्रह के आक्रमण का अनुमान करे। इसी प्रकार रात्रि मे दौरा आने पर राक्षस ग्रह और चतुर्दशी को दौरा आने या रोग का आरम्भ होने पर पिशाच ग्रह का अनुमान करना चाहिये।

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥
पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि॥

चरकने लिखा है कि—

देवग्रह प्रायः शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा या त्रयोदशी को अवसर पाकर प्रवेश करते हैं। ऋषि ग्रह षष्ठी या नवमी (शुक्ल पक्ष) को, पितृ ग्रह दशमी को, गधर्व ग्रह द्वादशी या चतुर्दशी को, यक्ष ग्रह शुक्ल एकादशी या सप्तमी को, ब्रह्म राक्षस शुक्ल पचमी या पूर्णिमा को, पिशाच ग्रह द्वितीया, तृतीया या अष्टमी को प्राय आवेश या आक्रमण करते है।

अगन्तुक उन्माद मे व्यवह्रियमाण उपक्रम–रति(काम्य अर्थ की प्राप्ति) तथा अर्चना (पूजा लेने की इच्छा) इन दो प्रयोजनो से ही प्रेरित होकर ये बाधक ग्रह देव तथा प्रेत योनि के ग्रह-गण मनुष्य शरीर पर आक्रमण करते है—अस्तु, इनके उपचार में भी चिकित्सक को उनके अभिप्रायो को समझ कर उन उन ग्रहो के अभिलपित उपहार, वलि आदि देते हुए उनकी पूजा एवं मत्र का प्रयोग करते हुए साथ ही उपयुक्त भेपज द्वारा चिकित्सा करते हुए उनका उपशम करना चाहिये।

रत्यर्चनाकामोन्मादिनौ तु भिपगभिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारवलिमिश्रेण मंत्रभैपज्यविधिनोपक्रमेत । (च. चि.)

आगन्तुक उन्माद में स्पष्टतया दो प्रकार के बाघक ग्रह होते हैं एक देव कोटि के जैसे देव, ऋषि, पितृ, गधर्व तथा दूसरे पिशाच कोटि के इनमे महासत्त्व तथा अल्पसत्त्व ग्रहो का विचार कर लेना चाहिये। यदि ग्रहोपसर्ग बहुत वलवान् स्वरूप का हो तो उसके अनुकूल एव मृदु उपचारो से शमन का प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु यदि अल्पसत्त्व का ग्रह हो तो उसको दवाने या प्रतिकूल क्रिया करके शमन करना चाहिये।

सामान्य तया देव कोटि के उपसर्ग महासत्त्व के होते हैं। अस्तु, इनमे अनुकूल तथा मृदु उपचार करने का ही उपदेश पाया जाता है।

चरक सहिता मे लिखा है कि देवर्षि-पितृ-गधर्व से उन्मत्त व्यक्तियो में बुद्धिमान चिकित्सक अजनादि तीक्ष्ण और क्रूर कर्म न करे। उसके लिये घृत पान आदि मृदु उपचार करे।

इनका आवेश दूर करने के लिये पूजा, वलि, उपहार, मंत्र, अंजन, शान्ति कर्म, इष्टि, होम, जप, स्वस्त्ययन वेदोक्त नियम और प्रायश्चित्त करे। भूत-प्रेतो के अधिपति जगत् के प्रभु भगवान् शकर की नित्य नियमपूर्वक पूजा करते हुए मनुष्य उन्माद के भय से दूर हो सकता है।

रुद्र के प्रमथ नाम के गण लोक मे विचरते रहते है। इनकी पूजा करते हुए मनुष्य उन्माद के भय से मुक्त हो जाता है। अस्तु, इनकी भी पूजा करनी

चाहिये। इससे उन्माद दूर होता है। सत्य का आचरण, तपस्या, ज्ञान, दान, नियम, व्रत, देव-गो-ब्राह्मण-गुरु की पूजा, सिद्ध मंत्रादि के प्रयोग से आगन्तुक उन्माद शान्त होता है। (च चि. ९)

इस प्रकार आगन्तुक उन्माद में देश, आयु, सात्म्य, दोप, काल, बलाबल का विचार करते हुए, १ घृतपान, २ मंत्र तत्र का प्रयोग ३ देवादि का पूजन ४ वलि प्रदान ५. उपहार ६ यज्ञ कराना ७. मंत्र ८ जप ९. शुचि कर्म (पवित्रता) १०. मगल कर्म (स्वस्तिवाचन) ११ मृदु अंजन १२ रत्न एवं औपधि का धारण १३. दान १४ व्रत १५ नस्य।

इनका उपयोग यथा विधि करना चाहिये। इन उपायो से आगन्तुक बाधायें दूर होती है। इनमें देव कोटि के बाधावो में अजन तथा नस्य प्रभृति तीक्ष्ण कर्म या क्रूर कर्म (ताडना देना, मारना, पीटना, बाँधना) आदि नही करना चाहिये।

बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोपं कालं बलाबले।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोपजे॥
सर्पिष्पानादिनाऽऽगन्तौ मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः।
पूजावल्युपहारेष्टिहोममन्त्राञ्जनादिभिः॥
जयेदागन्तुमुन्मादं यथाविधि शुचिर्भिपक्।
देवर्पिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान्॥
वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च।
भूतानामधिपं देवमाश्वरं जगतः प्रभुम्।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम्॥
रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये।
तेपां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यः प्रमुच्यते॥
वलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोपध्यगदधारणैः।
सत्याचार-तपो ज्ञान-प्रदान-नियम-व्रतैः॥
देवगोब्राह्मणानाञ्च गुरूणां पूजनेन च।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौपधैस्तथा॥
(च चि ९)

कृष्णाद्यंजन—गोरोचन, छोटी पीपल, काली मिर्च, सैन्धव इन चारो को बराबर लेकर महीन चूर्ण करके करके मधु के साथ अजन।

मरिचाद्यंजन—काली मिर्च का चूर्ण और गोरोचन को एकत्र महीन पीसकर एक मास तक धूप में रखकर अंजन करने से भूतोत्थ उन्माद दूर होता है।

शिरीषपुष्पादि नस्य—

शिरीष पुष्प, लशुन, सोठ, पीली सरसो, वच, मजीठ, हल्दी, पिप्पली को वस्त-मूत्र मे पीसकर बनाये अंजन या नस्य का प्रयोग लाभप्रद होता है।

निम्बपत्रादि धूम—नीम की पत्ती, वच, हीग, सर्प की केचुल और सरसो को कूट कर अग्नि मे जलाकर धूप देने से डाकिनी आदि भूत-प्रेत दोष दूर होते है।

महाधूप—कपास के बीज, मोर की पाँख, बडी कटेरी पचाङ्ग, निर्माल्य, मैनफल, खस, वंशलोचन, बिडाल की विष्ठा, धान्य की भूसी, वच, भूतकेशी, सर्प की केचुली, गाय की सीग, हाथी के दाँत, हीग और काली मिरच। सब सम भाग लेकर मोटा चूर्ण कर ले। आग मे जलाकर उसका धूपन उन्मत्त रोगी को कराने से—स्कदापस्मार, उन्माद, पिशाचावेश, राक्षसावेश, देवावेश और ज्वर नष्ट होता है।

महापैशाच-घृत—जटामासी, हरीतकी, भूतकेशी, केवाछ के बीज, त्रायमाण, अरणी, पृश्निपर्णी, चोरक, कुटकी, गुरुच, वाराहीकद, सौफ, सोया बीज, शुद्ध गुग्गुल, शतावरी, ब्राह्मी, रासना, गध रास्ना, मालकगुनी, बिछुवा और शालपर्णी।

जटिला पूतना केशी मर्कटी चारटी वचा।
त्रायमाणा जया वीरा चोरकं कटुरोहिणी॥
कायस्था शूकरी छत्रा सातिच्छत्रा पलंकषा।
महापुरुषदन्ता च वयस्था नाकुलीद्वयम्॥
कटम्भरा वृश्चिकाली स्थिरा चैतैर्घृतं पचेत्।
तत्तु चातुर्थिकोन्माद - ग्रहापस्मारनाशनम्॥
महापैशाचकं नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम्।
बुद्धि-मेधा-स्मृतिकरं बालानां चाङ्गवर्धनम्॥

कल्याण घृत, चैतस घृत, नारायणतैल तथा महानारायण तैल का भी उपयोग प्रशस्त है। शिरीष, अमलतास के बीज को भी घृत और मधु से सेवन कराना चाहिये।

भूतभैरव रस—पारद, हरताल, शिलाजीत, लौह भस्म, स्रोतोञ्जन भस्म, ताम्र भस्म, शुद्ध गंधक। प्रथम पारद एवं गधक की कज्जली बनावे फिर शेष द्रव्यो को मिलाकर घोटे। फिर नरमूत्र की भावना देकर एक गोला बना ले। फिर इस गोले को द्विगुण गधक के साथ एक लौह पात्र मे रखकर अग्नि पर चढाकर पाक करे। पाक समाप्त होने पर चूर्ण बनाकर रख ले। मात्रा ५ रत्ती।

अनुपान हीग, त्रिकटु, कालानमक, घी और नरमूत्र के साथ। भूत-प्रेतजन्य उन्माद में यह योग उत्तम कार्य करता है।

भूतोत्थ ज्वर—मे सहदेवी की जड का विधिपूर्वक कंठ में धारण करने से लाभ होता है परन्तु दैव व्यपाश्रय उपक्रम सर्वत्र समान भाव से चलते है—जैसे—

पूजावल्युपहारशान्तिविपयो होमेष्टि-मन्त्रक्रिया
दानं स्वस्त्ययनं व्रतादितियमः सत्यं जपो मङ्गलम् ॥
प्रायश्चित्तविधानमञ्जलिरथो रत्नौपधीधारणम् ।
भूतानामधिपस्य विष्टपपतेर्गौरीपतेरर्चनम् ॥

भूत-विद्या का विपय उन्माद के अतिरिक्त अन्य रोगो में भी यत्र तत्र आता है। विपम ज्वर, भूतोत्थ ज्वर, मद, मूर्च्छा, संन्यास, अपस्मार और अपतंत्रक आदि विविध मानस रोगो में बाधक ग्रहो का प्रवेश या उपसर्ग होने पर भूतोन्माद के समान ही लक्षण पैदा होते है, फलत. चिकित्सा भी तदनुकूल ही करनी पड़ती है।

भूत—विद्या का एक दूसरा प्रयोजन स्वभाव मे स्थित पुरुपो के प्रकृति या स्वभाव के ज्ञान कराने में है। ऐसा देखा जाता है कि संसार में कुछ व्यक्ति सात्त्विक गुणो से युक्त कुछ राजस गुण युक्त और कुछ तामस गुणो से सम्पन्न मिलते है। ये सभी किसी न किसी सत्त्व से आविष्ट होकर कार्य करते है। शुद्ध सात्त्विक अंश से आविष्ट व्यक्तियो का व्यक्तित्व सात प्रकार का हो सकता है, राजस गुणो से युक्त व्यक्तियो के व्यक्तित्व छ. प्रकार तथा तामस गुणो से युक्त व्यक्तित्व तीन प्रकार के सत्त्वो से आविष्ट पाये जाते है। वास्तव में यह कोई रोग या वैकारिक स्थिति नही प्रत्युत पूर्णतया उनके प्राकृतिक गुण है फिर भी वे किसी न किसी सत्त्वावेश से ही कार्य किया करते हैं।

पारिभाषिक शब्दो में इन सत्त्वाविष्ट व्यक्तियो की व्याख्या चरक-मत का अनुसरण करते हुए की जा रही है। जब तक प्राकृतावस्था में इन सत्त्वाविष्टो को नही समझते तब तक वैकारिक अवस्था का ज्ञान सम्यक् प्रकार का नही हो सकता है। अस्तु, यह प्रसग नीचे दिया जा रहा है—सत्त्व-रज तथा तमके अशाश कल्पना के अनुसार व्यक्तित्व के अपरिसंख्य (असंख्य) भेद हो सकते है, फिर भी वर्ग के अनुसार भेद करते हुए शुद्ध सत्त्वावेश के सात ब्रह्म-ऋपि-शक्र-यम-वरुण-कुबेर-गंधर्व सत्त्वानुकरण भेद से, राजस के छ दैत्य-पिशाच-राक्षस-सर्प-प्रेत-शकुनि सत्त्वानुकरण भेद से, तथा तामसिक के तीन वर्ग पशु-मत्स्य एवं वनस्पति सत्त्वानुकरण भेद से हो जाते है। चिकित्सा में यथासत्त्व उपचार की व्यवस्था करने से बडा उपकार होता है।

सात्विकांश के सत्त्व भेद—(शुद्ध सत्त्व मे कल्याणाश कल्याण के भावो की अधिकता होती है।)

ब्राह्म सत्त्व—पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, सम्यक् विभाग करनेवाला, ज्ञान-वचन-प्रतिवचन सम्पन्न, स्मृतिमान्, काम-क्रोध-लोभ-मान-ईर्ष्या-अहर्ष आदि दुर्गुणो से रहित सभी जीवो को समान भाव से देखने वाला ब्राह्म सत्त्व का व्यक्ति होता है।

आर्ष सत्त्व—यज्ञ-अध्ययन-व्रत-होम-ब्रह्मचर्य पर, अतिथिसेवक एव मद-मान-राग-द्वेष-मोह-लोभ-रोष आदि से रहित तथा प्रतिभा-वचन-विज्ञान-अवधारण शक्ति से युक्त ऋषि सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

ऐन्द्र सत्त्व—ऐश्वर्यवान्, आचरण करने योग्य वचन बोलनेवाला, यज्ञ करनेवाला, शूर, ओजस्वी, तेजस्वी, प्रशस्त कार्य करनेवाला, दीर्घदर्शी, धर्म-अर्थ और काम की प्रवृत्ति मे अभिरत इन्द्र सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

याम्य सत्त्व—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचारक, अवसर के अनुसार कार्य करनेवाला, जिस पर प्रहार न हो सके (असप्रहार्य), सतत कार्य के लिये तत्पर, ऐश्वर्यवान्, राग-ईर्ष्या-मोह आदि से रहित याम्य सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

वारुण सत्त्व—शूर, धीर, पवित्र, अपवित्रता से द्वेष रखनेवाला, यज्ञ करने वाला, जल-विहार की रुचिवाला, प्रशस्त कार्य करनेवाला, समयानुसार और प्रसग के अनुसार कोप करने वाला या प्रसन्न होनेवाला वारुण सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

कौबेर सत्त्व—स्थान-मान-उपभोग और परिवार से सम्पन्न, धर्म-अर्थ-काम नित्य, पवित्र, सुख एव विहार करने वाला, स्पष्ट क्रोध तथा प्रसन्नता युक्त, कौबेर सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

गांधर्व सत्त्व—प्रिय लगनेवाले-नृत्य - गीत - वादित्र - उल्लापक - श्लोक आख्यायिका-इतिहास-पुराण आदि मे कुशल, गंध-माल्य-अनुलेपन-वस्त्र-स्त्री-विहार काम-नित्य, अनिन्दक या ईर्ष्या न करनेवाला व्यक्तित्व गाधर्व सत्त्व का होता है।

राजस अंश के सत्त्व-भेद—(इन व्यक्तित्वो मे रोषाश या क्रोधाश की अधिकता होती है।)

आसुर सत्त्व—शूर, प्रचण्ड, निन्दक, ईर्ष्यालु, ऐश्वर्यवान्, बहुत खानेवाला।

राक्षस सत्त्व—कोप करनेवाला, अवसर या छिद्र पाकर प्रहार करनेवाला, क्रूर, अतिमात्रा में आहार करनेवाला, मास की अतिशय चाह करनेवाला, ईर्ष्या करनेवाला, अधिक सोने तथा परिश्रम करनेवाला राक्षससत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

पैशाचसत्त्व—अधिक खानेवाला, स्त्री के वशी, स्त्री के रहस्य ज्ञान की प्रवृत्ति वाला, अपवित्र, पवित्रता से द्वेष करनेवाला, स्वयं भीरु होते हुए भी दूसरे को डराने वाला, विकृत आहार-विहार एवं शील वाला व्यक्तित्व पैशाचसत्त्व का होता है।

सार्पसत्त्व या नागसत्त्व—क्रुद्ध होने पर शूर परन्तु अक्रुद्धावस्था में भीरु (डरपोक), तीक्ष्ण, अधिक परिश्रम करनेवाला, डरे डरे सामने मिलने पर आहार-विहार करनेवाला सार्पसत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

प्रैतसत्त्व—आहार की कामना वाला, अति दुखदाई शील-आचार और उपचार से युक्त, परनिन्दक, बाँटकर न खानेवाला, अति लोलुप, दुराचार तथा अपकर्म (निंद्य कर्म) करनेवाला प्रैतसत्त्व का व्यक्तित्त्व होता है।

शाकुन सत्त्व—अनुपक्त काम (अतिकामुक), अनवरत आहार एवं विहार-करनेवाला, अनवस्थित चित्त तथा अमर्षयुक्त, संचय वाला व्यक्तित्व शाकुन सत्त्व का होता है।

तामस सत्त्व के भेद—(इन सत्त्वों में मोहांश या अज्ञान की अधिकता होती है।)

पाशव सत्त्व—अकर्मण्य–निराकरण या प्रतिवाद न करनेवाला, बुद्धिहीन, निन्दित आहार एवं आचार का, मैथुनशील, अधिक निद्रा लेनेवाला पाशवसत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

मात्स्य सत्त्व—भीरु, अज्ञानी, आहार पर लुब्ध, अनवस्थित (अस्थिर चित्त), काम-क्रोध से रहित, अधिक चलनेवाला (गमनशील) तथा जल की अधिक चाह वाला व्यक्तित्व मात्स्य सत्त्व व्यक्तियों का होता है।

वानस्पत्य सत्त्व—आलसी, केवल आहार में चित्त लगाया हुआ, सब प्रकार की बुद्धि और अंग से हीन वानस्पत्य सत्त्व का व्यक्तित्व होता है।

एकीयमत—कुछ विचारकों ने आयुर्वेद के अंग इस भूत-विद्या का सम्बन्ध अदृश्य अणु जीवों (PathoGenic Microbes & Viruses) से स्थापित किया है। जिनके उपसर्ग से विविध प्रकार के औपसर्गिक रोग उत्पन्न होते हैं। शल्यतन्त्रीय चिकित्सा में जहाँ पर भूतोपसर्ग (Sepsis due to microbes in Infection) के उपद्रव तथा उपचार का वर्णन है–भूतोपसर्ग इसी अर्थ का द्योतन करता है। परन्तु कायचिकित्सा में जहाँ पर औन्मादिक रोगों में आगन्तुक उपसर्ग के रूप में भूतोपसर्ग विशुद्ध रूप से प्रेतादि का आवेश ही ज्ञात होता है।

★

तेइसवाँ अध्याय

उन्माद रोग-प्रतिषेध

प्रावेशिक—प्रवृद्ध-दोष उन्मार्गगामी होकर चूँकि मनोविभ्रम उत्पन्न करते हैं अत इस मानस रोग को उन्माद कहते हैं। यह ५ पाँच प्रकार का होता है। १. वातिक २. पैत्तिक ३ श्लैष्मिक ४. सान्निपातिक तथा आगन्तुक। उन्माद की उत्पत्ति मे सामान्यतया विरुद्ध-दुष्ट एव अपवित्र भोजन, गुरु-माता-पिता तथा ब्राह्मणो का अपमान, अत्यधिक हर्ष या भय से मन का प्रभावित होना, शरीर की विषम चेष्टावो से अन्य प्रकार से मन पर आघात पहुँचना हेतु होता है। इन कारणो से प्रकुपित हुए वातादि दोष सत्त्व गुण की कमी वाले या दुर्बल मन वाले मनुष्य बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूपित करके तथा मस्तिष्क तथा मनोवाहि स्रोतसो मे व्याप्त होकर मनुष्य के चित्त को भ्रान्तियुक्त करके उन्मत्त कर देते हैं। फलस्वरूप बुद्धि मे भ्रम होना, मन की चचलता, आँखो का चुराना, व्यर्थ इतस्ततः देखना, चित्त की अस्थिरता, असम्बद्ध आलाप (वातचीत), हृदय की शून्यता तथा आत्मज्ञान का अभाव प्रभृति लक्षण सामान्यतया मिलते हैं।[1]

इनमे आगन्तु उन्मादो का वर्णन भूतविद्या नामक पूर्व के अध्याय मे हो चुका है। अब दोषो से चतुर्विध उन्मादो की चिकित्सा का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। उन्मादो मे Acute Delirious Mania or Melecholia प्रभृति Insanity के लक्षण पाये जाते हैं। इनमे जिस रोगी का बल क्षीण हो गया हो, तथा जिसका मुख सदा ऊपर या नीचे की ओर ही

---

१ मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमागता. ।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ (सु उ ६२)
पञ्चोन्मादा वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ता । (च सू १९.)
विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोविघातो विषमाश्च चेष्टा ॥
तैरल्पसत्त्वस्य मला. प्रदुष्टा बुद्धेर्निवास हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतास्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयत्याशु नरस्य चेत ॥
धीविभ्रम सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्व हृदयञ्च शून्य सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ (च चि १४)

रहे, जिसको निद्रा बिल्कुल ही न आवे ऐसा उन्माद का रोगी असाध्य हो जाता है और मर जाता है।[1]

क्रियाक्रम :—वातिक उन्माद में प्रथम स्नेहपान, पित्तज उन्माद में विरेचन और कफजन्य उन्माद में वमन कराना चाहिये। तदनन्तर सवो में निरूहण, अनुवासन वस्ति तथा शिरोविरेचन कराना चाहिये। निरूहण-स्नेहवस्ति (अनुवासन) तथा शिरोविरेचन का यथादोष यथाबल बार-बार प्रयोग करना चाहिये। सामान्यतया वातज मे स्नेह वस्ति, पित्तज में निरूह वस्ति और श्लैष्मिक मे शिरोविरेचन कराने का विधान है। परन्तु आवश्यकतानुसार सब का सर्वत्र प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार वमनादि शोधन कर्मों के द्वारा हृदय, इद्रिय, शिर तथा कोष्ठ सशुद्ध हो जाते हैं। उनके सशुद्ध हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। और उसमें चेतना शक्ति तथा स्मरण शक्ति का उदय होता है और उन्माद रोग जाता रहता है।[2]

आगे बतलाये जाने वाले अपस्मार-चिकित्साधिकार में जो यत्न बतलाये गये हैं उनका प्रयोग उन्माद रोग में करना चाहिए। क्योंकि अपस्मार एवं उन्माद में दोष और दूष्य दोनों की समानता होने से परस्पर की चिकित्सा भी हितकर होती है।

सशोधन के अनन्तर भी उन्मत्त रोगी मे आचार का सुधार न हो उसकी चेतना शुद्ध होकर उसमें विनम्रता न आवे तो उसमें तीव्र नस्य तथा अजन का प्रयोग करना चाहिये। मन, बुद्धि और देह को उद्वेजित करने के लिए ताडन के द्वारा उपचार करना चाहिए। यदि रोगी बहुत उद्धत (Voilent) हो तो उसको भयभीत करने के लिए किसी मजबूत पट्टी या रस्सी से ढीला बंधन करे (ताकि उसमे व्रण न बने), लकडी के खम्भे से बांधकर अँधेरे कमरे में डाल देना चाहिये। बहुत उद्धत हो तो उसे कोड़े से मार कर किसी विजन कमरे (जिसमें आदमी न

---

१. अवाची वाप्युदञ्ची वा क्षीणमासवलो नर.।
जागरूको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥ (सु सू. ३४)

२ उन्मादे वातिके पूर्वं स्नेहपानं विरेचनम्। पित्तजे कफजे वान्ति. परो वस्त्यादिक क्रम.॥ निरूहणस्नेहवस्ती शिरसश्च विरेचनम्। तत. कुर्याद्यथादोषं ततो भूयस्त्वमाचरेत् ॥ हृदिन्द्रियशिर कोष्ठे सशुद्धे वमनादिभि । मन. प्रसादमाप्नोति स्मृति सज्ञा च विन्दति ॥ यच्चोपदेक्ष्यते किंचिदपस्मारचिकित्सिते। उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्दोषदूष्ययो ॥ (भै र)

जाते हो) अँधेरे में डाल दे। इससे रोगी का विभ्रान्त चित्त शान्त होता है और रोगी का औद्धत्य भी शान्त हो जाता है। दाँत निकाले हुए निर्विष सर्प से कटाने का भय दिखलाना, भयङ्कर सिंह या हाथी के सामने खडाकर उनसे भयभीत करना। तेज शस्त्र को दिखलाकर उससे काट देने का भय देना अथवा सामने उसके शत्रु या चोर-डाकू को खडाकर उससे डराना। अथवा राजपुरुष (पुलिस) आदि से पकडाकर बँधवा कर घरसे वाहर निकलवाना अथवा अन्य प्रकार से उसे प्राण का भय दिखलाना। तप्त किया लाल लोहे से या उवलते जल से स्पर्श करा के भयभीत करना।

उन्मत्त रोगी के औद्धत्य को कम करने के लिए उसको सरसो के तेल की मालिश करके चारपाई से बांधकर धूप मे चित्त पीठ के वल लेटाकर रख देना चाहिए। कँवाछ की फली को लेकर उसके शरीर की त्वचा पर रगड देना। इससे तीव्र कण्डु होती है। रोगी चेतना मे आ जाता है।

इस देह के कष्ट तथा भय से प्राय रोगियो में सुधार होता है यदि सुधार न हो तो प्राण के भय से तो वह जरूर ही चेतना मे आ जाता है। सव प्रकार से रोगी का विभ्रान्त मन शान्त होता है। इस प्रकार तर्जन (वाणी से डांट डपट करना), त्रासन (राजपुरुष पुलिस आदि से डटवाना), दान (अभिलषित पदार्थ पथ्य हो तो देना), हर्षण (प्रसन्न करना), सान्त्वना (आश्वासन देना या तसल्ली देना), भय (भयभीत करना या डराना), विस्मय (आश्चर्य पैदा करने वाले विषय) प्रभृति उपचारो मे रोगी उन्माद के उत्पादक हेतुवो को विस्मृत कर देता है और उसका मन प्रकृति मे आ जाता है।[1]

जव रोगी का मन प्रकृतिस्थ हो जावे तो उसको विविध प्रकार के प्रदेह (लेप), उत्सादन (उवटन), अभ्यङ्ग (तैल की मालिश) धूमप्रयोग (धु वा

---

१. शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्ण नावनमञ्जनम् । ताडन वा मनोवुद्धिदेहसंवेजन हितम् ॥ य सक्तोऽविनये पट्टै. सयम्य सुदृढै. सुखै. । अपेतलोहकाष्ठाद्ये सरोध्यश्च तमोगृहे ॥ कशाभिस्ताडयित्वा वा सुवद्ध विजने गृहे । रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्त व्रजत्यस्य तथा शमम् ॥ सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तै सिंहैर्गजैश्च तम् । त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करै शत्रुभिस्तथा ॥ अथवा राजपुरुषा वहिर्नीत्वा सुसयतम् । त्रासयेयुर्वधेनैन तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ देहदु खभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम् । तेन याति शम तस्य सर्वतो विप्लुत मन. ॥ तर्जनं त्रासन दान हर्षणं सान्त्वन भयम् । विस्मय विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृति मन. ॥

देना) और औषधिसिद्ध घृतो का पान कराते हुए उसकी मन-बुद्धि-स्मृति और संज्ञा आदि को जागृत करके स्वस्थ करना चाहिये ।[1]

उन्माद के रोगियो में सब समय उनके प्रतिकूल ही आचरण करना प्रशस्त नही है। भय, तर्जन, त्रासन करने के अनन्तर उसको बीच-बीच मे अनुकूल आचरणो के द्वारा या धर्म-अर्थ से युक्त वचनो से प्रसन्न करना, मित्रो के सम्पर्क में लाना, मित्रो के द्वारा उसको सान्त्वना या आश्वासन दिलाना और उसको खुश रखना भी आवश्यक होता है।

यदि किसी इष्ट (वाछित) द्रव्य के नष्ट हो जाने से उसके मन को अभिघात पहुंचा हो और उन्मत्त हो गया हो तो उसको तत्सदृश द्रव्यो की प्राप्ति कराना या उसको शीघ्र प्राप्त होने का आश्वासन या सान्त्वना देना उचित है। इसी प्रकार काम-शोक-भय-क्रोध-हर्ष-ईर्ष्या और लोभ से उत्पन्न मनोविभ्रमजन्य उन्माद मे उनके आपस में प्रतिद्वन्द्वी भावो के प्रभाव से अच्छा करना हितकर होता है। जैसे कामजन्य उन्माद में हर्षण (प्रसन्न करना), भयज उन्माद में क्रोध, क्रोधज उन्माद में शोक पैदा करनेवाले समाचार, ईर्ष्याजन्य उन्माद मे प्रेम और शोकज उन्माद में इच्छित पदार्थ की प्राप्ति कराना। इन क्रियावो से उन्मत्त का विकृत मन प्रकृतिस्थ होता है। कई बार विस्मय के उत्पादन करने से भी लाभ होता है जैसे अद्भुत या आश्चर्यजनक वस्तुवो को दिखलाना उसके अभिलषित या प्रिय पदार्थ के नष्ट होने की सहसा सूचना देना।[2]

भेषज—१ ब्राह्मी या मण्डूकपर्णी का स्वरस २ कुष्माण्ड फल-मय बीज और मज्जा का स्वरस, ३ शखपुष्पी-स्वरस तथा ४. मीठी वच का स्वरस (स्वरस के अभाव में वच का चूर्ण १ माशा)। ये चारो स्वरस पृथक्-पृथक् सिद्ध उन्मादनाशक भेषज है। मात्रा २ तोला। अनुपान मीठाकूठ का चूर्ण १ माशा और मधु ८ माशे। यथावश्यक दिन में दो या तीन बार।[3]

---

१ प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानञ्च सर्पिषः।
प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम् ॥

२ इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते। तस्य तत्सदृशप्राप्तिशान्त्याश्वासैः शमं नयेत् ॥ आश्वासयेत् सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः। कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसंभवान्। परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत ॥ (च. चि. ९)

३. ब्राह्मीकुष्माण्डपड्ग्रन्थाशखिनीस्वरसाः पृथक्।
मधुकुष्ठयुताः पीताः सर्वोन्मादापहारिणः ॥ (शा० सं०)

५. कुष्माण्डबीज की भीतर की मीगी निकालकर उसको पीसकर ½ से १ तोला तक मधु के साथ सेवन से तीन दिनो तक प्रयोग करने से उग्र उन्माद मे भी लाभ होता है। कुष्माण्ड को पीस कर मिश्री के साथ शर्वत वनाकर पिलाना वडा उत्तम कार्य करता है। इससे उच्चरक्त-निपीड (Hypertension) कम होता है।

६ चटक मास—गौरैये के कच्चे माम को पीसकर गाय के दूध के साथ सेवन करने से उन्माद का शमन होता है। ७ कोकिल (कोयल या पिक) के मास को सिद्ध करके रोगी को सेवन करा के निर्वात स्थान मे रखने से स्मृति और वुद्धि का विभ्रंश दूर होकर रोगी चेतना मे आ जाता है। ८ ताड का रस (नीरा) ताजा मधु मिलाकर सेवन करना तथा ९ सरसो के तेल का नस्य और अभ्यग उन्माद में लाभप्रद होता है।

१० पुराने घृत को दूध मे मिलाकर प्रतिदिन पीने से उन्माद शान्त होता है।

११. रोगी मे चिडचिडापन हो तो उसमे अर्जुन के चूर्ण का प्रयोग घृत के साथ करे। १२ उन्माद मे वरुणत्वक् का चूर्ण, कषाय या घन सत्त्व भी उत्तम लाभ करता है। १३ सर्पगधामूल—इसका प्रयोग ताजा मिल सके तो २ माशा पीसकर मरिच और मिश्री के साथ शर्वत वनाकर पिलावे। ताजा न मिले तो मूल को सुखाकर चूर्ण वना कर रख ले। १ से २ माशा की मात्रा मे दिन मे दो वार गुलकद १ तोले साथ अथवा गुलाव के फूल की पखुडी और मिश्री के साथ करे। वडा उत्तम लाभ मिलता है। यह उच्च रक्तनिपीड के लिये अमोघ औषधि मानी जाती है। सम्पूर्ण विश्व मे इसका प्रयोग आज होने लगा है। १४ श्वेत फूल वाली वला का चूर्ण १ तोला दूध के साथ पीना। १५ लहसुन का घृत के साथ प्रयोग भी उत्तम रहता है।

सारस्वत चूर्ण—

योग—मीठा कूठ, अश्वगध, सैधव, अजवायन, जीरा, काला जीरा, सोठ, मरिच, पीपरि, पाठा और शखपुष्पी प्रत्येक १ तोला। इन सब के वरावर मीठी वच लेकर कूट-पीसकर छानकर महीन कर लेवे। फिर इसमे ब्राह्मी स्वरस की तीन भावना देकर सुखाकर रख ले। मात्रा १ से २ माशे। अनुपान घृत ६ माशे, मधु १ तोला। इससे उन्माद ठीक होता है, बुद्धि और स्मृति बढती है।

सर्पगंधा घनवटी—सर्पगधा १० सेर, खुरासानी अजवायन की पत्ती २ सेर, जटामासी २ सेर, भाग १ सेर। जौकुट करके अठगुने जल मे मदी आँच पर पकावे और हिलाता रहे। जब अष्टमाश वाकी रहे तव ठडा होने पर

दो वार कपडे से छानकर फिर मदी आँच पर पकावे। जव इतना गाढा हो जावे कि क्वाथ करछी या लकडी के हत्थे में लगने लगे, तव उसको नीचे उतार कर धूपमे सुखावे। जव गोली वनने लायक हो जाय तो उसमे १०-२० तोला पीपरा मूल का चूर्ण मिलाकर ३-३ रत्ती की गोलियाँ वना लें।

२ गोली रात में सोते वक्त लेने से निद्रा आती है। दिन में दो-तीन वार उन्माद में प्रयोग करे। (वैद्य यादवजी के सि. यो सं. से)

उन्माद-राजकेशरी रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, शुद्ध मन शिला, शुद्ध धस्तूर वीज। प्रथम पारद और गधक की कज्जली वनाकर शेष द्रव्यो को मिलाकर महीन चूर्ण करे। उसमें ब्राह्मी स्वरस तथा वचाके क्वाथ की सात-सात भावना देकर तैयार करे। मात्रा ४ रत्ती दिन में दो या तीन वार। अनुपान गोघृत १ तोले के साथ।

रसपर्पटी—शुद्ध किये धतूरे के पाच वीज के चूर्ण के साथ रसपर्पटी १-२ रत्ती का सेवन उन्माद में लाभप्रद रहता है।

चतुर्भुज रस—रससिन्दूर २ तोला, स्वर्णभस्म, मन शिला, कस्तूरी और शुद्ध हरताल प्रत्येक एक तोला। घृतकुमारी के स्वरस से भावित कर गोला वनावे। एरण्डपत्र से गोले को आवेष्टित कर धान की ढेर में गाड़कर तीन दिनो के अनन्तर निकाले। फिर एरण्डपत्र के आवेष्टन को पृथक् करके खरल में भावित करके चूर्ण रूपमें वनाकर रख ले। मात्रा २ रत्ती। अनुपान त्रिफला चूर्ण और मधु। वहुत प्रकार के मस्तिष्कगत रोगो में लाभप्रद।

क्षीरकल्याण घृत—इन्द्रायणमूल, त्रिफला, रेणुका, देवदारु, एलुवा, शालपर्णी, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, प्रियङ्गु, नील कमल, छोटी इलायची, मजीठ, दन्तीमूल, दाडिम के छिल्के या अनारदाना, नाग केसर, तालीशपत्र, वडी कंटकारी, मालती के नवीन पुष्प, वायविडङ्ग, पृश्निपर्णी, मीठाकूठ, सफेद चदन और पद्माख प्रत्येक १ तोला। सव को लेकर पत्थर पर जल से पीसकर कल्क वनावे। फिर एक कलईदार कडाही में इस कल्क को मूर्च्छित गोघृत १ प्रस्थ, जल दो प्रस्थ और गाय का दूध ४ प्रस्थ में छोडकर अग्नि पर चढाकर घृतपाक विधि से घृत को सिद्ध कर ले।

यह घृत उन्माद, अपस्मार में तथा अन्य वहुत से जीर्ण रोगो में मस्तिष्क-दौर्वल्यजन्य व्याधियो में लाभप्रद होता है।

चैतस घृत—गाम्भारी से रहित दशमूल की औषधियाँ, रास्ना, एरण्ड मूल की छाल, वला की जड, मूर्वा की जड़, शतावर प्रत्येक ८ तोले लेकर एक

द्रोण जल में क्वाथ बनावे, चतुर्थांश शेष रहने पर क्वाथ को छानकर रख ले। फिर एक कलईदार पात्र में यह क्वाथ, मूच्छित गोघृत एक प्रस्थ तथा कल्याण घृत में कथित कल्क को डाल कर अग्नि पर चढाकर पाक करे। इस प्रकार से सिद्ध घृत का उपयोग उन्माद, अपस्मार तथा विविध पित्तविकारो मे लाभप्रद होता है। मात्रा १ तोला। अनुपान दूध।

शिवा तैल—मुख, नख और आन्त्र को अलग करके पुरुष शृगाल (गीदड) का मास १ प्रस्थ, पोटली बाँधकर, दशमूल की औषधियाँ आधी तुला और जल एक द्रोण लेकर एक बडे भाण्ड मे रख कर अग्नि पर चढावे, जब चतुर्थांश जल शेष रहे तो उतारे। ठडा होने पर छानकर पृथक् कर ले। फिर एक बडे पात्र मे यह क्वाथ, मूच्छित तिल तैल १ प्रस्थ और निम्नलिखित कल्क द्रव्यो को पीस कर पका कर पाक करे। कल्क द्रव्य—बृहत् पचमूल, वच, कूट, भूरिछरीला, सफेद अनन्तमूल, काला अनन्तमूल, धतूर का बीज, वरुण की छाल, बैंगन, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, चित्रकमूल, पीपरामूल, मुलैठी, सेंधा नमक, खिरेटी, सोया, देवदारु, रास्ना, गजपीपल, नागरमोथा, कचूर, लाख, गधप्रसारणी और रक्त चंदन प्रत्येक एक तोला।

इस तैल की मालिश (अभ्यग) या पान सभी प्रकार के उन्माद मे लाभ प्रद होता है।

धूम, नस्य, अंजन—इनका उल्लेख भूतजन्य उन्माद मे हो चुका है। उन्ही योगो का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।

पथ्य—गेहूँ, चावल, मूंग, धारोष्ण गाय का दूध, शतधौत घृत, नवीन तथा पुराना गोघृत, कछुए का मास, पुराना कुष्माण्ड का फल, ब्राह्मी या मण्डूकपर्णी का शाक, बथुवा, चौलाई, मुनक्का, कैथ, कटहल, मडुवा (धान्य विशेष) पथ्य होता है।[1]

अपथ्य—मद्य, विरोधी आहार, अधिक मास-सेवन, भैस का दूध, उष्ण पेय तथा भोजन, निद्रा-क्षुधा तथा तृषा के वेगो का रोकना, अधिक लवण, तीक्ष्ण

---

१ गोधूममुद्गारुणशालयश्च धारोष्णदुग्ध शतधौतसर्पि.।
घृतं नवीनञ्च पुरातनञ्च कूर्मामिषं धन्वरसा रसाला॥
पुराणकुष्माण्डफल पटोल ब्राह्मीदल वास्तुकतण्डुलीयम्।
द्राक्षा कपित्थ पनस च वैद्यैर्विधेयमुन्मादगदेषु पथ्यम्॥ (यो र)
निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयत शुचि।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान्न स युज्यते॥ (च चि ९)

तथा तिक्त द्रव्यो का सेवन निन्द्य है। सम्पूर्ण प्रकार के मद्य और मास से निवृत्त, हिताहार-विहार करने वाला, सयमी और पवित्र आचरण का व्यक्ति सत्त्ववान् होता है।

अर्थात उसका सत्त्व या मन वडा दृढ होता है फलत' ऐसे व्यक्तियो को निज अथवा आगन्तुक उन्माद का रोग नही होता है।

उपसंहार—उपर्युक्त चिकित्सा-क्रम को यथावश्यक यथास्थान वरते। साथ मे इस प्रकार की व्यवस्था करे—

उन्माद गजकेशरी रस २-४ रत्ती की एक मात्रा गोघृत के साथ प्रात' सायम् दे। सारस्वतारिष्ट भोजन के बाद दे। वडे चम्मच से २ चम्मच पानी मिलाकर। रात्रि मे सोते वक्त सर्पगधा घनवटी २ गोली दे। यदि घनवटी तैयार न हो तो सर्पगधा चूर्ण २ माशा, गुलकद १ तोले के साथ खिलाकर गाय का दूध पिलावे। सिर पर लगाने के लिये हिमाशु तैल या शतधौत घृत की मालिश करावे। रोगी वलवान् हो तो नित्य हर दूसरे या तीसरे दिन एरण्ड तैल एक छटाक की मात्रा मे दूध में डालकर पिलावे। खाने में चावल का भात या गेहू की रोटी और दूध देना चाहिये। पीने के लिये शर्वत के रूप मे कई वार श्वेत कुष्माण्ड (पेंठे) के बीज और गूदा को निकाल कर पीस कर मिश्री मिला कर कई वार देना चाहिये। यदि रोगी वहुत उद्धत हो तो उसको एक निर्जन स्थान में वन्द कमरे मे रखना, डरवाना, नस्य (कायफर के चूर्ण का नस्य) या शिरीषाद्यजन का प्रयोग करते हुए अच्छा लाभ देखा जाता है। उन्मत्त रोगी को ठडे जल मे खूब स्नान कराना चाहिये। उसको सबसे उत्तम लाभ जल की धारा सिर पर नल की टोटी खोल कर देने से होता है—इतनी धार से स्नान करावे और तव तक स्नान करावे जब तक कि वह शीत से काँपने न लगे। उन्माद का रोगी किसी एक व्यक्ति से डरता है सब से नही, खास कर उस व्यक्ति से जिसने उने एक वार मार दिया है। वह दूसरे से दवा भी नही खाना चाहता जब तक कि वह व्यक्ति सामने न खड़ा हो। इसका भी ध्यान रखना चाहिये। उन्मत्तो मे दवा का खिलाना भी एक कला है। उन्मत्त विना भय न खाना खाता है और न औषधि। हर बात में उसके साथ जवर्दस्ती ही करनी पडती है।

चौबीसवाँ अध्याय

अपस्मार प्रतिषेध

अपस्मार—(मृगी) एक मानस रोग है, इसमे भी उन्माद के समान मस्तिष्क मे कोई प्रत्यक्ष विकृति दृष्टिगोचर नही होती है। ज्ञान के विनाश की दृष्टि से यह उन्माद सदृश ही है, भेद यह है कि उन्माद में बुद्धि-विभ्रम होता है जिससे रोगी देखता या सुनता हुआ भी उसके यथार्थ तत्त्व को ग्रहण करने मे असमर्थ रहता है। उन्मत्त व्यक्ति बातें करता है किन्तु सब असम्बद्ध, इसी प्रकार वह खाता भी है किन्तु उसके स्वाद का ज्ञान प्राय. उसको नही होता। अपस्मार का रोगी एकदम बेहोश हो जाता है उसको दौरे के काल मे कुछ भी ज्ञान नही रहता इसके अतिरिक्त वह किसी प्रकार की क्रिया भी नही कर पाता। इस तरह उन्माद मे बुद्धि-विभ्रम तथा अपस्मार मे बुद्धि-नाश पाया जाता है। अपस्मार रोग का दौरा होता है। यह दौरा आवस्थिक एव किंचित् काल स्थायी (या थोडे देर का होता है)। फिर वह चेतना मे आ जाता और सामान्य व्यक्ति जैसे दिखलाई पडता है—इनमे दौरे का समय भी प्राय निश्चित सा ही रहता है। यह बात उन्माद में नही होती उन्माद का आक्रमण अस्थायी न होकर स्थायी स्वरूप का होता है, रोगी अचेत या बेहोश प्राय कभी नही होता है।

अपस्मार–चिन्ता-काम-क्रोध-शोक तथा उद्वेग जैसे मानसिक कारण एवं शिरोभिघात तथा मस्तिष्कावरण शोथ (Menigitis), मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Apoplexy) तथा मस्तिष्कार्बुद (Cerrbral Tumour) के कारणो से सत्त्व के दुर्बल, रज तथा तम की प्रबलता होने पर उत्पन्न होता है। स्वभावत. दुर्बल मन (हीन सत्त्व) वाले व्यक्तियो मे यह अधिक पाया जाता है। उपर्युक्त कारणो से कुपित हुए दोष मनोवह स्रोत (मस्तिष्क, मस्तिष्कगत इन्द्रियाधिष्ठान तथा वात नाडियो) मे आश्रित होकर अपस्मार रोग को उत्पन्न करते हैं।[1]

---

१. चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिता ।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥
तम प्रवेश संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृते ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विध. ॥ (मा. नि)
स्मृतेरपगम प्राहुरपस्मारं भिषग्विद ।
तम प्रवेशं बीभत्सचेष्ट धीसत्त्वसम्प्लवात् ॥ (च चि १०)

आधुनिक ग्रंथो में अपस्मार के (Epilepsy) दो भेद प्रमुखतया मिलते हैं। औपद्रविक यह आघात, हृदय एवं रक्तवाहिनी के रोग, मस्तिष्कगत रोग तथा रोगों की विषमयता में पाया जाता है। २. अनैमित्तिक या अज्ञात कारणजन्य यही शुद्ध अपस्मार नामक मानस-रोग है। साधारणतया अपस्मार कहने से इसी का बोध होता है। इसमें मस्तिष्क में कोई अंगगत विकृति नहीं दिखाई पड़ती है। वैज्ञानिकों ने अब तक रोग के कारण का निश्चित कारण नहीं स्थिर किया है। उनका मत है कि समवर्त्त (Metobolism) के दोषों से शरीर में एक अतस्थ विष (Choline) बनता है जिसका प्रभाव मस्तिष्क पर होने से रोग का दौरा होता है और वह निःसंज्ञ होकर गिर पड़ता है। यदि प्रभाव थोड़ा हुआ तो लघु अपस्मार (Petit Mal) और प्रभाव के तीव्र होने पर तीव्र स्वरूप का बृहदपस्मार (Grand Mal) का रूप पाया जाता है। इस रोग में वंश-परम्परा की प्रवृत्ति पाई जाती है। रोग का प्रारम्भ बाल्यावस्था से हो जाता है।

प्राचीन निदान के अनुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक भेद से अपस्मार के चार प्रकार होते हैं। इस रोग का दौरा एक मास के बाद, पन्द्रह दिनों के अंतर या बारह दिनों के अन्तर पर अथवा सप्ताह के बाद आते रहते हैं। बहुत बढ़ जाने पर नित्य भी आ सकता है।

अपस्मार एक कष्टसाध्य रोग है—नवीन और एकदोषज तो कुछ साध्य भी होते हैं, परन्तु त्रिदोषज, और दुर्बल रोगी के अपस्मार असाध्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिस रोगी मे बार-बार आक्षेप आते हो, जो अत्यन्त क्षीण हो, जिसकी भृकुटियाँ ऊपर को चढ़ जायें और जिसकी आँखें भी विकृत हो जायें तो ये अपस्मार भी असाध्य हो जाते है [1]

क्रियाक्रम—वातज अपस्मार में वस्तिकर्म, पित्तज में रेचन तथा श्लैष्मिक में वमन कर्म के द्वारा शोधन करना चाहिये। अपस्मार में प्रथम वमन के द्वारा शोधन उत्तम रहता है। इन कर्मो से अच्छी तरह से शोधन हो जाने के अनन्तर रोग की निवृत्तिसम्बन्धी आश्वासन रोगी को देते हुए अपस्मार को दूर करने के लिये निम्न लिखित संशमन के उपचारों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।[2]

---

१ सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः। अपस्मार स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः॥ प्रतिस्फुरन्तं बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्। नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत्॥ (च० चि० १०)

२ वातिकं बस्तिभिः प्रायः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्॥ (च० चि०)

अंजन—१ मैनसिल, रसाञ्जन, कबूतर (जंगली) की विष्ठा, इन्हे मिला कर या पृथक्-पृथक् अंजन करने से उन्माद तथा अपस्मार मे लाभ होता है। २ मुलैठी, हीग, वच, तगर, शिरीष, लहसुन, कूठ को सम भाग मे लेकर बकरी के मूत्र मे पीसकर गोली बनाकर रख ले। और घिस कर आँखो में अजन करे। इसका चूर्ण नस्य के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। ३. **करंजादि**—करंज, देवदारु, सरसो, कटभी, हीग, वच, मजीठ, त्रिफला, त्रिकटु, प्रियङ्गु मम प्रमाण मे लेकर वस्तमूत्र (बकरे के मूत्र) में पीसकर बने योग का नस्य तथा अजन रूप मे प्रयोग। पुष्यनक्षत्र मे उद्धृत कुत्ते के पित्त (Bile) का अजन अपस्मारघ्न होता है। इसका घी के साथ धूपन में भी प्रयोग किया जा सकता है।

नस्य—१ निर्गुण्डी स्वरस और वन्दाक का स्वरस या चूर्ण -नस्य रूप मे नाक से देने से अपस्मार मे निश्चित रूप से लाभ होता है।

२ वचा, गिलोय, त्रिकटु, मधुयष्टि का सत, रुद्राक्ष, सेंधा नमक, समुद्रफल, लहसुन, इन द्रव्यो का समभाग मे बनाये नस्य का प्रयोग। ३. कुत्ता, शृगाल, विडाल और कपिल वर्ण की गाय के पित्त का नस्य अपस्मार को नष्ट करता है।

स्नान, लेप तथा उद्वर्त्तन—१ श्वेत तुलसी, कूठ, छोटी हर्रें, जटामासी और ग्रथिपर्णी को समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर उबटन लगाना और गोमूत्र से स्नान कराना।

२. चमगादड की विष्ठा और जलाये हुए बकरे के लोम, श्वेत सरसो और सहिजन की छाल को गोमूत्र मे पीस कर लेप करना। ३ सरसो के तेल मे चतुर्गुण बकरे का मूत्र और गाय का पुरीष और मूत्र डाल कर पका ले। इससे उबटन लगाना एव स्नान कराना उत्तम होता है।

धूपन—नकुल, उलूक, मार्जार, गीध, साँप और काक के तुण्ड, पुरीष और पख से अपस्मार रोगी का धूपन करने से दुश्चिकित्स्य अपस्मार भी अच्छा होता है।

भेषज—१ मधुयष्टि का कुष्माण्ड बीज के साथ पीसकर सेवन २. वचा[1] का चूर्ण १ माशा मधु के साथ सेवन—भोजन मे दूध और भात। इस योग के सेवन-काल में देना चाहिये। ३ लहसुन का तेल में पकाकर सेवन ४ ब्राह्मी-

---

१ य खादेत् क्षीरभक्ताशी माक्षिकेण वचारज ।
अपस्मार महाघोर सुचिरोत्थ जयेद् ध्रुवम् ॥
प्रयोज्य तैललशुन पयसा वा शतावरी ।
ब्राह्मीरसश्च मधुना सर्वापस्मारभेषजम् ॥ (भै र)

स्वरस या मण्डूकपर्णीस्वरस और मधु का सेवन ५. दूध के साथ शतावरी का सेवन सिद्ध प्रयोग है। ६. सद्य प्रसूता बकरी के बच्चे के नाल को हाथ से दबा कर निर्द्रव करके कांजी के साथ पका कर सेवन करने से अपस्मार दूर होता है। ७. जिस रस्सी के द्वारा फांसी लगाई गई हो उस रस्सी को जला कर उसकी राख को ठंडे जल से पीने से उद्धत अपस्मार भी अच्छा होता है। ८. खरमूत्र (गर्दभ या गर्दभी मूत्र) को परम अपस्मारनाशक कहा गया है। वास्तव में यह लाभ करता है। पुराने अपस्मार के रोगियो में भी इसके उपयोग से लाभ देखा गया है। मूर्च्छा, अपस्मार तथा अपतंत्रक में समान भाव से लाभप्रद रहता है। मात्रा २ तोले से ४ तोला। प्रात काल।[1]

योग—कल्याण चूर्ण—पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोठ, काली मिर्च, हरड, बहेरा, आँवला, विडलवण, सैंधव लवण, वायविडङ्ग, करंजबीज की मींगी, अजवायन, धनिया और जीरा प्रत्येक एक तोला। महीन कूट कर के चूर्ण बना ले। मात्रा—१-२ माशा। अनुपान उष्णोदक। वातश्लेष्मज विकारो मे लाभप्रद। उन्माद तथा अपस्मार में हितकर तथा अग्निवर्धक होता है।

ब्राह्मी घृत—[2] मूर्च्छित गोघृत १ सेर, ब्राह्मी स्वरस ४ सेर, कूठ और शंखपुष्पी का सम भाग में लिया कल्क १ पाव। अग्नि पर चढा कर पाक करे। अपस्मार, उन्माद दोनो में लाभप्रद। मात्रा—१-२ तोला गाय के दूध में मिलाकर।

स्वल्प—पंचगव्य घृत—[3] मूर्च्छित गोघृत १ सेर, गाय का गोबर १ पाव, गाय की खट्टी दही १ सेर, गाय का दूध १ सेर, गाय का मूत्र १ सेर। अग्नि पर चढाकर पाक। ग्रहबाधा तथा अपस्मार में लाभ। मात्रा तथा अनुपान पूर्ववत्।

कुष्माण्ड घृत—[4] गाय के घी से १८ गुना कुष्माण्ड स्वरस और मधुयष्टि

---

१ खरमूत्रमपस्मारोन्मादग्रहनाशनम्॥ (च सू १)

२ ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च।
पक्व पुरातनं सर्पिरपस्मारहरं ध्रुवम्॥ (भा प्र)

३. गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्।
सिद्ध चातुर्थिकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्॥ (च.)

४ कुष्माण्डस्वरसे सर्पिरष्टादशगुणे पचेत्।
यष्ट्याह्वकल्के तत्सिद्धमपस्मारहरं परम्॥ (वृन्द)

चूर्ण एक पाव का कल्क डाल कर पाक किया घृत। मात्रा और अनुपान पूर्ववत्।

वातकुलान्तक रस—श्रेष्ठ कस्तूरी, शुद्ध मनःशिला, नागकेसर का चूर्ण, बहेडे के छिल्के का चूर्ण, शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, जायफल, छोटी इलायची और लवङ्ग प्रत्येक एक तोला। प्रथम पारद-गधक की कज्जली बनावे। शेप चूर्णों को मिलावे। सब एकत्र महीन पीस कर २ रत्ती के परिमाण की गोली बना ले। यह अपस्मार मे बडा श्रेष्ठ योग है विशेपत. आक्षेपयुक्त अपस्मार मे। मात्रा दिन में तीन-चार गोली मण्डूकपर्णी के रस और मधु के योग से।

स्मृतिसागर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, हरताल, शुद्ध मन शिला, ताम्र भस्म। सम भाग मे लेकर प्रथम कज्जली बना कर शेप द्रव्यो को मिला कर, वचा के क्वाथ या स्वरस तथा ब्राह्मी स्वरस या कपाय से इक्कीस भावना दे। कटभी बीज के तैल की एक भावना दे। घृत और मिश्री के अनुपान से ४ रत्ती की मात्रा मे प्रयोग करे। अपस्मार मे एक परम उत्तम योग है।

उपसंहार—यह एक बडा हठी रोग है। इसमे रक्त एव पाखाने की परीक्षा करा लेनी चाहिये। यदि रक्त में फिरग या उपदंश आदि की उपस्थिति मिले तो फिरंगनाशक चिकित्सा करते हुए पर्याप्त लाभ होता है। यदि कृमियो की उपस्थिति मिले तो कृमिघ्न उपचार अथवा यदि अभिघात का वृत्त मिले तो तदनुकूल उपचार करते हुए लाभ हो जाता है। (Antbiotic penicillin Procaine Injection) अन्यथा विशुद्ध मानस अपस्मार मे, जो अनैमित्तिक स्वरूप का (Idiopathic) होता है, कोई बढिया फल नही दिखलाई पडता है। आज के युग मे जितने नवीन (anti convulsants) योग चलते हैं उनका लाभ भी स्थायी नही रहता, जितने दिनो तक औपधि चलती रहती है, रोग ठीक रहता है, औपधि के छोड देने पर रोग का पुनरावर्त्तन होने लगता है।

एक वृद्ध आचार्य कहा करते थे कि अपस्मार मे सफल चिकित्सा के लिए किसी सिद्ध पुरुप, महात्मा या तान्त्रिक की ही शरण लेना चाहिये। उन लोगो को आशीर्वाद या प्रयोगो से अपस्मार अच्छा हो जाय तो उत्तम अन्यथा आधिभौतिक चिकित्सा से कोई विशेप लाभ नही होता है। इस अधिकार मे कथित चिकित्साये भी, जैसा कि ऊपर मे देख चुके है, तान्त्रिक प्रयोग ही है। इनके प्रयोग भी अधिक दुर्लभ और दुरूह है, करने से लाभ अवश्य होता है।

अपस्मार में आगन्तुक उपसर्ग प्रतीत हो तो भूतोत्थ उन्मादवत् चिकित्सा करनी चाहिये। उन्माद रोगाधिकार में कथित यथायोग्य योगो का यथावसर प्रयोग अपस्मार रोग मे भी किया जा सकता है। साध्य अपस्मारो में निम्नलिखित व्यवस्था से पर्याप्त लाभ होता है—

स्मृति सागररस ४ रत्ती प्रात मण्डूकपर्णी के रस और मधु से। वात-कुलान्तक रस साय २ से ४ रत्ती गोघृत, मीठी वच का चूर्ण ४ रत्ती और मिश्री से। अश्वगन्धारिष्ट भोजन के बाद दोनो वक्त २ तोला समान जल मिलाकर। लशुनादि वटी भी भोजन के अनन्तर एक-दो गोली देना चाहिये। रसोन पिण्ड भी उत्तम योग है। अपस्मार और अपतंत्रक में लहसुन उत्तम कार्य करता है। सिद्ध घृतो में से किसी घृत का प्रयोग नित्य करना चाहिये, जैसे ब्राह्मी घृत १ तोले की मात्रा में गाय के १ पाव दूध में डाल कर रात्रि में सोते वक्त। कोष्ठशुद्धि का ध्यान रखना—बीच बीच में एनीमा देकर या किसी रेचक औषधि का प्रयोग कर के कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी चाहिये।

आक्रमण काल में किसी नस्य या अंजन के प्रयोग से अथवा मूर्च्छाधिकार में कथित उपायो से रोगी को होश मे लाना चाहिये। नस्य तथा अजनो का प्रयोग दौरे के अतिरिक्त समय में हर तीसरे दिन या सप्ताह में एक दिन या बीच बीच में यथावश्यक करते रहना चाहिये। पञ्चगव्य का उद्वर्त्तन और गोमूत्र का स्नान भी उत्तम रहता है।

पथ्यापथ्य—अपस्मारी को उन्माद सदृश रखना चाहिये। जल (जलाव-गाहन), अग्नि के समीप या भट्ठी के समीप काम करना, पेड़ पर चढना, पहाड़ या ऊँचे टीले आदि का चढना प्रभृति कार्यों से मृगी वाले रोगियो को बचाना चाहिये। क्यो कि इन पदार्थो से उसको रोग का दौरा होता है और उसके प्राणनाश का भय रहता है।[1]

अतत्त्वाभिनिवेश—[2] चरक ने अपस्मार रोग को दुश्चिकित्स्य, चिर काल तक चलने वाला और रोगी के क्षीण होने पर असाध्य माना है। इसको

१. जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा।
रक्षेदुन्मादिनञ्चैव सद्य. प्राणहरा हि ते॥

२. रजस्तमोभ्या वृद्धाभ्या बुद्धौ मनसि चावृते।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढोऽल्पचेतन॥
विषमा कुरुते बुद्धि नित्यानित्ये हिताहिते।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्॥

महागद (महारोग) की संज्ञा भी दी है। अपस्मार से मिलते हुए लक्षणो वाले एक दूसरे रोग का वर्णन अतत्त्वाभिनिवेश नाम से किया है। इस को भी महागद वतलाया है।

मलिन आहारशील, प्राप्त वेगो के रोकने वाले व्यक्तियो मे, शीत-उष्ण-रूक्षादि के अति सेवन से रज एवं तमो गुण की वृद्धि होकर हृदय, मस्तिष्क तथा मनोवह स्रोतो की दुष्टि होती है। मनुष्य मूढ या अल्प चैतन्य का हो जाता है, उसकी वुद्धि विषम (विपरीत या उल्टी) हो जाती है फलत वह हित को अहित, अहित को हित, भले को बुरा, बुरे को भला, नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य समझता है। इस रोग को महागद अतत्त्वाभिनिवेश कहते है। इसमे Fixed delusion, Amentia, Dementia जैसी अवस्था हो जाती है।

क्रिया-क्रम—[1]. इस रोग मे रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वमन-विरेचन प्रभृति पंचकर्मो के द्वारा शोधन करना उत्तम रहता है। शोधन के अनन्तर ससर्जन करते हुए रोगी को प्रकृताहार पर लाना चाहिए। मेध्य-मस्तिष्क शक्ति या वुद्धिवर्धक आहार (भोजन) रोगी को देना चाहिये। शखपुष्पी, ब्राह्मी-स्वरस, मण्डूकपर्णी स्वरस, पचगव्य घृत, रसायनाधिकार मे कथित मेध्य रसायन का उपयोग करना चाहिए। तैल और लहसुन का प्रयोग, दूध और शतावरी का प्रयोग तथा अन्य अपस्माराधिकार की औपधियो का योग अतत्त्वा-भिनिवेश युक्त रोगियो में भी करना चाहिये। अपस्मार तथा अतत्त्वाभिनिवेश ये दोनो ही महारोग एवं दुश्चिकित्स्य हैं, अस्तु, रसायनो के दीर्घकाल के उपयोग से जीते जा सकते है। साथ ही धर्म, अर्थ से सम्बद्ध, प्रियमित्रो के अनुकूल वचन, विज्ञान, धैर्य, धृति और समाधि का योग उत्तम रहता है।

●

---

१ सुहृदश्चानुकूलास्त स्वाप्ता धर्मार्थवादिन ।
सयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि ॥
दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पद ।
तस्माद्रसायनैरेन प्रायशः समुपाचरेत् ॥ (च० चि० १०)

पचीसवाँ अध्याय

वात-व्याधि प्रतिषेध

प्रावेशिक :-विकृत वातजन्य असाधारण व्याधि को वात व्याधि कहते है। चरक ने सामान्यज और नानात्मज भेद से दो प्रकार की व्याधियो का वर्णन किया है। जो व्याधियाँ वातादि प्रत्येक दोष व समस्त दोषो से होती है उन्हें सामान्यज कहते है। ज्वर, अतिसार, अर्श आदि व्याधियाँ इसके उदाहरण है। इसके विपरीत केवल एक ही दोष से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ नानात्मज कहलाती है। यथा-आक्षेपक, पङ्गुत्व, गृध्रसी आदि रोग केवल वायु से ही होते है, पित्त और कफ से नही। इसी प्रकार दाह, ओष, चोष, पाक आदि पित्त से ही होते है, वायु और कफ से नही। तृप्ति, तन्द्रा, निद्रा आदि रोग कफजन्य ही होते है, पित्त तथा वात से नहीं। इस प्रकार शास्त्र मे अस्सी वातात्मज, चालीस पित्तज तथा बीस कफ विकार से नानात्मज व्याधियो का उल्लेख मिलता है।

अब यहाँ शका होती है कि चरक और सुश्रुत ने पित्त नानात्मज और कफ नानात्मज व्याधियो का स्वतत्र अध्याय के रूप में वर्णन न करके केवल वात नानात्मज व्याधियो का ही स्वतत्र अध्याय क्यो लिखा ? इस शका के निराकरणार्थ कई उपपत्तियाँ शास्त्र में पाई जाती है जिसमे वात दोष को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। (देखिये चरक वातकलाकलीयाध्याय सूत्रस्थान मे)। वात को साक्षात् स्वयंभू भगवान् बतलाया गया है। इस प्रकार वायु को सर्व प्रेरक, अति बलवान्, आशुकारी उसके विकारो को दुःसाध्य होने से प्रधानतया वात-विकारो का ही विस्तार से वर्णन किया है, पित्त तथा कफ का नही। शार्ङ्गधर की उक्ति है कि पित्त और कफ पंगु है वे निष्क्रिय है, सक्रिय केवल वात ही है, वह जहाँ पर जिस धातु या दोष को ले जाना चाहता है ले जाता है, जिस प्रकार बादलो को हवा। "पित्त पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गवो मलधातव । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ।" चरकोक्त वात रोग चिकित्साधिकार मे लिखा है- वायु आयु है, वायु ही बल है, वायु ही शरीर का धारक है, वायु व्यापक और सम्पूर्ण क्रियाकलाप का अधिपति होता हुआ संसार का प्रभु है। जब तक यह स्थानस्थ (अपने स्थान मे स्थित) और स्वभावस्थ-उसकी गति में कोई रुकावट

नही पैदा हो रही है, वह मनुष्य को या जीवधारी को नीरोग रख कर सैकडो वर्ष तक जीवित रख सकता है, परन्तु विपरीत होने से प्राण को सकट मे डाल देता है। वह अपने प्राण-उदान-समान-अपान तथा व्यान भेद से पचधा विभक्त होकर शरीर का धारण करता है। इस प्रकार वायु के प्रधान धातु या दोष होने के कारण वात रोगाध्याय नामक स्वतत्र अध्याय लिखने की आवश्यकता शास्त्रकारो को प्रतीत हुई।[1] जो कुछ भी श्वास-प्रश्वास, आँखो के पलको का खुलना या वंद होना, आकुंचन, प्रसारण, प्रेरण, सधारण तथा संवेदन आदि क्रियायें होती है, वायु के कारण ही होती है।

अव पुन शंका उठती है कि वायु से आधुनिक परिभापा मे हम क्या समझें ? संक्षेप मे उपर्युक्त वर्णन से शरीरगत कोई भी तत्त्व जो सचालन (Motor Function) कराता है या संवेदन कराता है अर्थात् वेदनाओ की सूचना (Seusoryfurction) देता है उस शक्ति विशेष को वात कहते है। इन सम्पूर्ण शक्तियो का अधिपति वात सस्थान (Nevvous Lisshes or Brani & Neues) है। अस्तु, वात धातु से इन्ही का ग्रहण करना सगत प्रतीत होता है। अस्तु, वात रोगाध्याय कहने का तात्पर्य (Diseases or the Nervdussysteiu) वात नाडी सस्थान का रोग समझना समीचीन है।

वायु के कारण विविध प्रकार के रोग होते है, फलत इस अध्याय मे वहुत प्रकार के रोगो का प्रसग आयेगा। प्रसंगानुसार उनके क्रिया-क्रमो का भी एक-कश उल्लेख किया जावेगा। चिकित्सा मे कुछ सामान्य वातो का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। जैसे वायु का कोप दो प्रकार से होता है—धातुक्षय से या मार्ग के आवृत होने से। "वायोर्धातोः क्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन वा।" अधिकतर वायु के रोग प्रथम वर्ग के अर्थात् धातुक्षयजन्य ही पाये जाते है। अस्तु, सामान्यतया वृंहण उपक्रमो का ही ध्यान रखना चाहिये।

---

१. वायुरायुर्वलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्। वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्त्तित ॥ अव्याहता गतिर्यस्य स्थानस्थ प्रकृतौ स्थित। वायु स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समा. शतम् ॥ प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैं स पञ्चधा। देह तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतं चरन् ॥ विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः। शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च ॥

(च० चि० १६)

क्रियाक्रम-सामान्य—अभ्यंग, स्वेदन वस्ति, स्निग्ध नस्य, स्निग्ध विरेचन, स्निग्ध-अम्ल-लवण और मधुर रस पदार्थों का सेवन[१], पित्त के आवरण में शीत और उष्ण उपचार, कफ या मेद या आम के आवरण में रूक्ष-उष्ण भक्ष्य तथा भेषज देना चाहिये। यदि विशुद्ध वायु का ही कोप हो तो सर्वत्र स्निग्ध एवं उष्ण भक्ष्य एवं भेषज का उपयोग करना चाहिये। स्निग्ध, उष्ण-शीत-रूक्षादि उपक्रमों से यदि वायु का रोग न शान्त हो तो रोग में रक्त की दुष्टि समझनी चाहिए और वहाँ पर वायु की चिकित्सा के साथ ही रक्तशोधक उपचार भी करना उत्तम रहता है। विशुद्ध वात के रोगी में प्रायः बृंहण चिकित्सा का ही विधान जैसा कि चक्रदत्त मे लिखा है "घी-तैल-वसा-मज्जा का पान, अभ्यंग तथा वस्ति, स्निग्ध स्वेदन, वात के झोंको से रहित (निवात) स्थान, गर्म वस्त्रों से शरीर को आवृत रखना, मासरस, दूध, मधुर, खट्टे और नमकीन पदार्थ तथा शरीर के बृंहण करने वाले पदार्थों का उपयोग हितकर होता है।[२]

० वातघ्न लेप—कुन्दुरु का गोंद २० तोला, आमाहल्दी ४ तोला, सज्जीखार २ तोला, एलवा (मुसब्बर) ५ तोला, हीरा बोल २ तोला, आर्चा २ तोला, गेरू ५ तोला, सफेद सरसो १ तोला, हींग १ तोला, उशारे रेवन्द एक तोला, अञ्जरुत २ तोला, डीकामाली का गोंद २ तोला, मेदा लकडी २ तोला, चन्दसूर (चसूर हालीम) ४ तोला, मेथी २ तोला। इन सब का चूर्ण बना कर रख ले।

उपयोग—आवश्यकतानुसार जल में महीन पीस कर गर्म करके जहाँ पर चोट लगी हो या वेदना हो वहाँ पर मोटा लेप कर ऊपर से रूई रख कर बाँध दे। इससे पीडा और सूजन शान्त होती है।

प्रदेह—जंगली बेर, कुलथी, देवदारु, रास्ना, उडद, अतसी का बीज तथा तैल, त्रिफला, कूठ, वच, सोये का बीज और जौ का आटा। इन द्रव्यों को सम

---

१. अभ्यङ्ग-स्वेदनं वस्तिर्नस्यं स्नेहविरेचनम्। स्निग्धाम्ललवण स्वादु वृष्यं वातामयापहम् ॥ पित्तस्यावरणे वातेरोगे शीतोष्णभेषजम्। कफस्यावरणे वायौ रूक्षोष्ण भक्ष्यभेषजम् ॥ केवले पवने व्याधौ स्निग्धोष्णं भक्ष्यभेषजम्। स्निग्धोष्ण-शीतरूक्षाद्यैर्वातिनो यो न शाम्यति। विकारस्तत्र विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभव. ॥

२. सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनवस्तय.। स्वेदाः स्निग्धा निवातञ्च स्थानं प्रावरणानि च ॥ रसा पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च। बृंहणं यत्त तत्सर्व कर्त्तव्यं वातरोगिणाम् ॥

भाग मे लेकर काजी मे पीस कर गर्म करके सुहाता-सुहाता लेप कर वेदना और शोथ का शामक होता है।[1]

शाल्वण स्वेद—काकोल्यादि गण की ओषधिया, [2] भद्रदार्वादि गण की ओषधिया ([3] वातघ्न गण की वाग्भटोक्त ओषधिया) सर्व प्रकार के अम्ल द्रव्य[4], आनूपदेश के प्राणियो के मास, सब प्रकार के स्नेह और लवण—इनका यथोचित मात्रा मे यथालाभ लेकर अच्छी प्रकार से पीस के आग पर पानी मिलाकर चटाकर पकाले। वातरोगियो मे पीडा के स्थान पर इसका उपनाह या पुल्टिस बाधनी चाहिये। इनमें काकोल्यादि गण की ओषधिया १ भाग, भद्रदार्वादि गण की ओषधिया १ भाग, मास २ भाग। अम्ल वर्ग की ओषधिया उतनी हो जितने मे अम्लता आ जावे, जितने स्नेह से स्निग्धता आ जाये उतना स्नेह और जितने लवण से लेप में नमकीनपन आ जाये उतना लवण छोडना चाहिये। इस उपनाह को अग पर लगा कर रुई रख कर कपडे से वाध देना चाहिये।

गण की ओषधियो मे यथालाभ (जितनी मिल जाय उतनी) उपयोग करने का नियम सर्वत्र समझना चाहिये। फलत इस योग में भी वर्गोक्त समस्त, आधी या जितनी मिल सके, उतनी ही ओषधियो का प्रयोग करना चाहिये। यह एक उत्तम लाभप्रद प्रक्रिया वात रोग में प्रख्यात है।

वातहा पोटली—चक्रमर्द बीज, एरण्डमूल, महानिम्ब, निम्ब की छाल, बकुल की छाल, कटुकरज की छाल, नारिकेल के फल की मज्जा, पूतिकरज की छाल, कपास बीज, सहिजन की छाल, पोस्ता की डोड़ी, सुनिषण्णक (तिनपतिया), सर्षप, अकोल बीज (ढेरे का फल), रास्ना, कूठ, कुलथी, तिल (काली), वच, लहसुन, हीग, सफेद सरसो, सोठ इनका पानी में पिसा कल्क, घृत और तिल-तैल और सरसो का तेल मिलाकर कपडे मे बाधकर पोटली जैसे बनाकर सेंकना। वात रोगो मे परम वेदनाशामक उपनाह है।—(योगसार से उद्धृत)

---

१ कोल कुलत्थामरदारुरास्नामापातसीतैलफलानि कुष्ठम्।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिना प्रदेह.॥

२ काकोल्यादि गण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, मेदा, महामेदा, छिन्नरुहा, कर्कटशृङ्गी, तुगाक्षीरी, पद्मक, प्रपौण्डरीक, ऋद्धि, वृद्धि, जीवन्ती, मृद्वीका मधुकञ्च। (सु सू ३८)

३ भद्रदारुनिशे भार्ङ्गी वरुणो मेषशृंगिका। जटा झिण्टी चार्त्तगलो वरा गोक्षुरतण्डुला॥ अर्की श्वदंष्ट्रा राजिका धुस्तूरश्चाश्मभेदक। वरी स्थिरा पाटला रुग्वर्षाभूर्वसुको यव। भद्रदार्वादिरित्येष गणो वातविनाशनः॥ (वा सू १०)

४ अम्ल द्रव्य से यहा पर काजी का ग्रहण करना चाहिये।

तैल द्रोणी या कांजिक द्रोणी-अवगाहन—द्रोणी के आकार के पात्र अथवा नाद (Tub) मे तैल (तिल सर्पप कुसुम्भ आदि का यथालाभ मिश्रित तैल) भर कर या काजी भर कर उसमे रोगी को वैठाना और उसमे सिर के ऊपर तैल या कांजी से किसी पात्र से स्नान कराना या डुवकी लगा कर नहलाना वात रोगो मे लाभप्रद रहता है। इसका प्रयोग पक्षवध, अर्दित, मन्यस्तिंभ तथा अपतानक मे लाभप्रद पाया जाता है।

अभ्यंगार्थ-तैल—

माप तैल—(चक्रदत्त) पाकार्थ तिल तैल ४ सेर। उडद ४ सेर, वला ४ सेर, जल ६४ सेर क्वाथ वनाकर अवशेष १६ सेर। उडद, केवाछ के वीज, अतीस, एरण्ड की जड, रास्ना, सौंफ और सेधा नमक—सव का सम भाग में वना कर कल्क १ सेर। यथाविधि मद आँच पर पका कर सिद्ध करे। यह तैल–मालिश, नस्य और पीने से पक्षवध मे लाभप्रद होता है।[1]

महामाप तैल—उडद १२८ तोले, दशमूल की औपधियाँ २½ सेर, वकरे का मास १॥ सेर, जल १२ सेर १२ छटाक ४ तोले। सव को लेकर वडे भाण्ड मे अग्नि पर चढा कर क्वाथ करे, जव चतुर्थांश शेप रहे तो ठंडा होने पर छान ले। फिर एक वडे कडाही मे तिल तैल १ सेर, दूध ४ सेर तथा निम्न औपधियो का कल्क वना कर मद आँच पर पाक करे। कपिकच्छु का वीज, एरण्डमूल, सौंफ, सेंधानमक, कालानमक, विडनमक, जीवक, ऋपभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मुलेठी, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, मजिष्ठा, चव्य, चित्रक की जड, कायफल, सोठ, मरिच, पिप्पली, पिपरामूल, रास्ना, देवदारु, गिलोय, कूठ, असगध, वच, कचूर तथा कपूर प्रत्येक १ तोला। सव को जल के साथ पीस कर कल्क वना कर पाक करे।

इस तैल को उष्ण दूध में १-२ तोला मिलाकर पीना, वस्ति देना। मात्रा ४ तोला, अभ्यग करना, नस्य लेना और कानो में छोडना। पक्षाघात, अर्दित, खञ्ज और पंगुत्व में लाभप्रद।

निरामिप महामाप तैल—निरामिप भोजियो मे मास का प्रक्षेप न करते हुए तैल का पाक कर लेना चाहिये।

मापवलादि तैल–तिल तैल ४ सेर। क्वाथार्थ–उडद २ सेर, जल १६ सेर, शेप जल ४ सेर, दशमूल की सम भाग में गृहीत औपधियाँ २ सेर, जल १६ सेर,

---

१ मापात्मगुप्ताऽतिविपोरुवूक-रास्नाशताह्वालवणै· प्रपिष्टैः।
चतुर्गुणे मापवलाकपाये तैलं कृतं हन्ति च पक्षघातम्॥

शेष ४ सेर। प्रसारणी २ सेर, जल १६ सेर, शेष जल ४ सेर। सौफ २ सेर, जल १६ सेर, शेष जल ४ सेर। लाक्षा २ सेर, जल १६ सेर, शेष ४ सेर। काजी ४ सेर, शतावर का स्वरस २ सेर, पाताल कोहडा का स्वरस २ सेर, दही ४ सेर, गोदुग्ध ४ सेर। कल्क द्रव्य—सोया, सौफ, मेथी, रास्ना, गजपीपरि, रास्ना, नागरमोथा, असगंध, खस, मुलेठी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बला, भुई आँवला प्रत्येक १६ तोले। मंद आँच पर पाक करे। यह एक उत्तम बृंहण तैल बहुत प्रकार की वात व्याधियो मे लाभप्रद होता है।[1]

सिद्धार्थक तैल—शतावरी स्वरस १॥ सेर ८ तोले, मूर्च्छित तिल-तैल १ सेर, गाय का दूध ४ सेर। अदरक का रस ३ पाव। सौफ, देवदारु, बला-मूल, लाल चदन, तगर, कूठ, छोटी इलायची, शालपर्णी, रास्ना, असगध, मजीठ, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, पृश्निपर्णी, वच, एरण्डमूल, सैन्धव लवण इन को सम भाग मे लेकर पीस कर कल्क १६ तोले। यथाविधि-पाक करे। यह सम्पूर्ण वात रोगो मे लाभप्रद है। इसका विशेष लाभ पीने से होता है। मात्रा १ से २ तोला भोजन के बाद दूध मे छोड कर।[2]

महाराज प्रसारणी तैल—प्रसारणी तैल के नाम से कई तैलो के पाठ सग्रह ग्रंथो में पाये जाते है। जैसे—पुष्पराजप्रसारणी, कुब्जप्रसारणी, त्रिशती प्रसारणी, सप्तशतिक प्रसारणी, एकादशशतिक प्रसारणी, अष्टादश शतिक प्रसारणी आदि। इनमे महाराज प्रसारणी तैल एक परमोत्तम योग है। उसका योग यहाँ दिया जा रहा है। यह तैल बहुत मूल्यवान् पडता है, इसमे भल्लातक पडा हुआ है। अल्प मात्रा मे भी अभ्यग में प्रयुक्त होकर लाभ-प्रद होता है।

गंधप्रसारणी का पचाग १५ सेर, पीले फूल वाली कटसरैया (सैरेयक) १० सेर, असगंध, एरण्डमूल, बलापचाङ्ग, शतावर, रास्ना, पुनर्नवा-पचाङ्ग, केतकी की जड़ और पुष्प, दशमूल के प्रत्येक द्रव्य, नीम की छाल प्रत्येक ५ सेर,

---

१ वातरोग निहन्त्याशु मन्यास्तम्भं नियच्छति।
हनुस्तम्भविकारञ्च जिह्वादन्तगलग्रहान् ॥
प्रमेहान् विंशति हन्ति गात्रकम्पादिक जयेत्।
एतान् हरति रोगाश्च तैल माषबलादिकम् ॥ (भै र.)

२ मासमेकं पिबेद्यस्तु यौवनस्थ पुनर्भवेत्।
सिद्धार्थकमिदं ख्यात नरनारीहिताय वै ॥ भै० र० ॥

देवदारु का बुरादा और शिरीष की छाल प्रत्येक २॥ सेर, लाक्षाचूर्ण तथा लोध्र प्रत्येक १। सेर। इन सबो को जौकुट कर एक बडे भाण्ड में ४२ मन जल मिलाकर बडी भट्ठी पर चढाकर क्वाथ करे। शेष जल २५ सेर ४८ तोले रहने पर क्वाथ को नीचे उतार कर ठडा कर के छान ले।

फिर एक बडे कडाहे मे तिल-तैल १३ सेर ४८ तोले लेकर अग्नि पर चढाकर उसको मूच्छित करके उसमें उपर्युक्त क्वाथ, एवं उस क्वाथ को जो इस प्रकार का बना हो, गाय का दूध आठ सेर, गाय की दही ८ सेर, दही का पानी ८ सेर, गन्नो का रस १६ सेर, बकरे का मास १५ सेर, ३६ सेर जल मे क्वथित कर १३ सेर ४८ तोले शेष रहने पर उतार कर कडाहे में डाले। फिर उसमे मजीठ का काढा १३ सेर ४८ तोला डाले। पश्चात् निम्नलिखित विधि से बने काजी का १२ सेर १२ छटांक डाले।[1] अब तीन प्रकार के कल्को को डाल कर प्रत्येक से पृथक् पृथक् तेल का पाक करे।

प्रथम कल्क—भिलावे (भल्लातक) फल की मज्जा, पिप्पली, शुण्ठी, कालीमिर्च, प्रत्येक २४ तोले, हरड, बहेरा, आँवला, सरल काष्ठ, वच, सौंफ, काकडासीगी, चोरपुष्पी, कचूर, मोथा, नागरमोथा, कमल, नीलकमल, पिपरामूल, मजीठ, असगंध, पुनर्नवा पचाङ्ग, दशमूल, चक्रमर्द, रसाञ्जन, गधतृण, हरिद्रा तथा जीवनीय गण की ओषधियाँ पृथक् पृथक् प्रत्येक १२-१२ तोले। पत्थर पर पीस कर इस कल्क के साथ पाक करे यह प्रथम पाक हुआ। अब तेल को पक जाने पर छान ले और कडाही में लेकर अग्नि पर चढाकर द्वितीय कल्क के साथ द्वितीय पाक प्रारम्भ करे।

द्वितीय पाक प्रकार—फिर लौंग, बोल, तेजपात, राल, छैल छरीला, प्रियगु, खस, सौंफ, जटमासी, देवदारु, बलामूल, नलिका, खोटी, छोटी इलायची, कुन्दरु, मुरामासी, तीनो प्रकार की नखी (काकोदुम्बरपत्र, अश्वखुर, उत्पलपत्र), तेजपात, कपूरकचरी, खट्टाशी (पूति), चम्पे की कलिया, मैनफल, हरेणुका स्पृक्का (असवरग), मरुवे का फूल (मरुवक पुष्प) प्रत्येक १२ तोले। सब को जल

---

१. महाराजप्रसारणी तैल की काजी का निर्माण-प्रकार—चावल का माड ६४ तोले, काजी १६ सेर, दही ३२ तोले, पुराना गुड ६४ तोले, मूली ३२ तोले, छिली अदरक ६४ तोले, छोटी पीपल, श्वेतजीरा, सेंधानमक, हल्दी, कालीमिर्च प्रत्येक ८-८ तोला। सब को एक मृत्पात्र मे मुख को बंद करके रखे। ८ दिनो के पश्चात् शुक्त को निकाले। इस शुक्त में फिर इलायची, नागकेसर, दालचीनी, तेजपात प्रत्येक का चूर्ण ३-३ तोले छोड कर रखले।

के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बनाकर तेल मे डाल कर गधोदक मिलाकर पुनः पाक करे। गंधोदक-विधि—तेजपात, खस, मोथा, वला की जड प्रत्येक १०० तोले, कूठ १० छटाक, जल २० सेर, आग पर चढाकर पाक करे। आधा शेष रहने पर अर्थात् १० सेर शेष रहने पर छान ले। इस गधोदक को द्वितीय पाक मे कल्क के साथ डाले एवं पाक करे।

तृतीय पाक प्रकार—कल्क के लिये नागकेशर, कूठ, दालचीनी, तगर, केशर, सफेद चदन का बुरादा, लता कस्तूरी, ग्रथिपर्ण, लवङ्ग, अगर, शीतल-चीनी, जावित्री, जायफल, छोटी इलायची और लवङ्ग के वृक्ष की छाल प्रत्येक १२ तोले। पत्थर पर पीसे हुए इस कल्क को तेल मे छोडकर, फिर उपर्युक्त गंधोदक तथा चदनोदक (चंदन को खौलाकर बनाया जल) कुल १० सेर डाल कर पाक कर ले। फिर इस तेल को छानकर उसमे कस्तूरी २४ तोले और कपूर ६ तोले मिलाकर । सुरक्षित रख ले।

यह महागुणवान् प्रसारणी तैल अन्य प्रसारणी तैलो से अधिक गुणवान् है। अधिक व्यय तथा परिश्रम साध्य होने से श्रीमान् व्यक्तियो के लिये व्यवहार्य है। अस्तु, इसका नाम महाराज प्रसारणी तैल है। वात रोगो मे सिद्ध एव परमोत्तम योग है।

नारायण तैल—असगध, वलामूल, वेलमूल, पाढर के मूल, छोटी कटेरी (रेंगनी भटकटैया), वडी कटेरी (वनभटा), गोखरू, सभालू की पत्ती, सोनापाठा की छाल, गहदपूर्ना की जड, उडद, कटसरैया, रास्ना, एरण्डमूल, देवदारु, प्रसारणी, अरणी प्रत्येक ४० तोले। इन द्रव्यो को जौकुट करके ४ द्रोण (४०९६ तोले) जल में पकावे। जब चौथाई जल शेष रहे तो ठंडा होने पर छान कर रख ले। पीछे उसमें तिल का तैल २५६ तोले, शतावर का रस २५६ तोले, गाय का दूध २५६ तोले। एवं निम्न औषधियो का कल्क छोडकर अग्नि पर चढाकर पाक करे। कल्कद्रव्य—कूठ, छोटी इलायची, श्वेत चदन, बरियरा की जड, जटामासी, छरीला, सेंधा नमक, असगध, वच, रास्ना, सौफ, देवदारु, सरिवन, पिठवन, माषपर्णी, मुद्गपर्णी और तगर इनमे से प्रत्येक ८ तोले। तैल का पाक करे। पाक के सिद्ध होने पर तेल को छानकर शीशियो मे भरकर रख ले।

उपयोग—पक्षाघात, अर्दित, हनुस्तभ, मन्यास्तंभ, अवबाहुक, कटिशूल, पार्श्वशूल, कान का दर्द, गृध्रसी, किसी अवयव का सूखना, एकाङ्ग घात, अर्धाङ्ग घात तथा सर्वाङ्ग घात मे लाभप्रद। इसका उपयोग अभ्यग के लिये, पीने के लिये, वस्ति देने मे, नस्य में तथा कान मे छोडने मे किया जा सकता है।

यह सिद्ध वात रोग नाशक तैल है। नारायण तैल नामक कई पाठ मिलते हैं—नारायण तैल, मध्यम नारायण तैल तथा महा नारायण तैल। इनमे से एक पाठ शार्ङ्गधर के अनुसार यहा उद्धृत किया गया है। उत्तम कार्य करना है।

विष्णु तैल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वला, शतावरी, एरण्डमूल, वड़ी कटकारी मूल, छोटी कंटकारी मूल, करज की जड, अतिवला, या गोरखमुण्डी की जड, कटसरैया की जड प्रत्येक ४-४ तोले। सबको लेकर पत्थर पर पीसकर कल्क वनावे। फिर इस कल्क को मूर्च्छित तिल तैल ६४ तोले, वकरी या गाय का दूध २५६ तोले, जल १०२४ तोले यथाविधि मद आच पर पाक करे। पाक होने पर छान कर शीशियो में भर कर रख ले। फिर यथावश्यक पीने के लिये, नस्य के लिये और मालिश के लिये उपयोग करे।

विष्णु तैल नाम से भी स्वल्प, मध्यम और वृहत् नाम से तीन योग भैपज्य-रत्नावली मे सगृहीत है। यहा पर स्वल्प विष्णु तैल का एक योग उद्धृत किया गया है। जो वहुविध रोगो मे लाभप्रद होता है। विष्णु तैल, नारायण तैल, माप तैल या प्रसारणी तैल, सभी वडे सिद्ध एव परम वीर्यवान् योग है जो अनेक गुणो से युक्त होते है और वहुत प्रकार के रोगो में लाभ करते है।[1] क्लैव्य, हृच्छूल, पार्श्वशूल, अर्धावभेदक, पाण्डु, मूत्र के रोग, क्षीणता, वार्द्धक्य दोष, क्षयरोग, आन्त्रवृद्धि, गण्डमाला, वातरक्त, अर्दित तथा वध्या स्त्रियो के पुत्र जनन मे भी समर्थ होते है। पशुवो की चिकित्सा मे भी इन का व्यवहार आशु लाभप्रद होता है।

वात रोगाधिकार मे पठित तैलो के दो प्रकार पाये जाते है। एक वे जिनमे निर्विप और वृहण एवं पौष्टिक औषधियां पडी है। दूसरे वे जिनमे सविप द्रव्य धतूर, वत्सनाभ आदि पडे है। प्रथम वर्ग मे अव तक के वर्णित सभी तैलो का ग्रहण हो जाता है। दूसरे वर्ग के कुछ तैलो का उल्लेख नीचे किया जा रहा है। प्रथम वर्ग के तैलो का पीने, वस्ति तथा वाह्य मालिश आदि मे सव तरह का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु दूसरे वर्ग के तैलो का,

---

१. अस्य तैलस्य पक्वस्य शृणु वीर्यमत परम्। अश्वाना वातभग्नाना कुंजराणा तथैव च॥ अपुमाश्च नर पीत्वा निश्चयेन पुमान् भवेत्। हृच्छूले, पार्श्वशूले च तथैवार्द्धविभेदके॥ कामलापाण्डुरोगेपु कामलास्वश्मरीपु च। क्षीणेन्द्रिया नरा ये च जरया जर्जरीकृता॥ येपा चैव क्षयो व्याधिरन्त्रवृद्धिश्च दारुणा। अर्दित गलगण्डं च वातशोणितमेव च॥ स्त्रियो या न प्रसूयन्ते तासाञ्चैव प्रदापयेत्॥ भै र

जिनका नीचे उल्लेख किया जा रहा है, केवल वाह्य प्रयोग अर्थात् मालिश में ही व्यवहार करना चाहिये। प्रथम की अपेक्षा द्वितीय वर्ग वाले तेल अधिक पीडाशामक होते हैं।

विषगर्भ तैल—ताजे असगंध के मूल, कनेर की जड, आक की जड, धतूरे का पचाङ्ग, सभालू की पत्ती और कायफर की छाल प्रत्येक ६४-६४ तोले लेकर अठगुने जल मे क्वाथ करे, जब चौथाई जल बाकी रहे तो कपडे से छान कर उसमे तिलका तेल १२८ तोले, वछनाग, धतूरे के वीज, घुमची, अफीम, खुरासानी अजवायन, कलिहारी की जड, कूठ और वच प्रत्येक ४-४ तोला कल्क मिला कर मद आँच पर पकावे। तेल तैयार होने पर कपडे से छान कर कुछ गर्म हालत मे ही कपूर का चूर्ण एक छटाक मिलाकर शीशी मे भर कर रख ले।

उपयोग—सधिवात तथा शरीर के किसी भी अवयव मे दर्द होता हो उसकी हल्के हाथ से मालिश करे। पीडा को शान्त करने के लिये यह उत्तम योग है।

पंचगुण तैल—हर्रे, वहेरा, आँवला प्रत्येक ५ तोला, नीम और सभालू की पत्ती प्रत्येक १५-१५ तोले। जौकुट कर अठगुने जल मे पकावे। जब चौथाई शेप रहे तो उसमें तिल का तेल ८० तोला, मोम, गंधविरोजा, शिलारस, राल और गुग्गुलु प्रत्येक ४ तोले डाल कर मदी आच पर पकावे। पकते-पकते जब खर पाक होकर तेल अलग हो जाय तव कपडे से छान कर थोडी गर्म हालत में उसमें कपूर का मोटा चूर्ण ५ तोला चम्मच से चलाकर मिला दे। ठंडा होने पर उसमे तारपीन का तेल, यूकैलिप्टस का तेल, काजुपुट का तेल २॥-२॥ तोला मिला कर शीशी में भर ले।

उपयोग—सभी प्रकार की वेदना, सधिशोथ, शूल मे वेदनाशामक होता है। कान के दर्द मे कान मे छोडने पर वेदना का शमन करता है। व्रणोपचार में व्यवहृत होकर व्रण का शोधन एवं रोपण करता है। (सि. यो सग्रह से)

मिश्रक तैल—सरसो का तेल, तिल का तेल, नारियल का तेल, एरण्ड तेल, महुवे का तेल, कुसुम्भ (वर्रे) के तेलो का मिश्रण

छागलाद्य घृत—चर्म-खुर-लोम-सीग-आन्त्र से रहित वकरे का मास ~॥ सेर, दशमूल की समभाग में ली गई औपधियाँ ढाई सेर और जल २५ सेर ४८ तोले अग्नि पर चढाकर चतुर्थांश शेप रखे। कल्क द्रव्य—मधुयष्टी, जीवनीय गण की औपधियाँ पृथक्-पृथक् लेकर कुल मिलाकर ३२ तोले। फिर दुग्ध १२८ तोले। शतावरी का स्वरस १२८ तोले। गोघृत २ प्रस्थ (१२८ तोले)। मद आँच पर पाक करे। वात रोगो मे इसका सेवन लाभप्रद होता है। यह परम बृंहण

और धातुओं का पोषण करने वाला योग है। और एक बड़ा योग बृहत् छागलाद्य घृत के नाम से भी पाया जाता है जो बहुत से रोगों में लाभप्रद होता है।

वस्ति—अनेक प्रकार के वस्ति के योग पाये जाते हैं जिनमें एक सामान्य योग का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है। जिसका प्रयोग सर्वत्र वात रोगो मे किया जा सकता है। दशमूल का कषाय ऽ॥, नारायण तैल २ तोला, सेंधा नमक ३ माशे, मधु ६ माशे। पहले मधु और सेंधा नमक को खरल में मिलाकर एक कर ले, फिर उसमें नारायण तैल २ तोला मिलाकर एक करे पश्चात् दशमूल क्वाथ मिलाकर मथ ले। अब एक एनीमा पाट में भर कर रबर की नली और नोजल के सहारे गुदामार्ग से धीरे धीरे चढावे। जब सब द्रव चढ जाय किंचित् शेष रहे तो चढाना बंद करे।

इस वस्ति का प्रयोग प्रातःकाल मे रोगी के शौच (पाखाने) से लौटने के बाद करना चाहिये। यदि पाखाना साफ न हुआ रहे तो केवल आस्थापन (नमक जल की वस्ति) देकर कोष्ठशुद्धि कर ले और दूसरे दिन इस वस्ति का प्रयोग करे। इस वस्ति का लगातार या एकान्तर क्रम से बत्तीस तक प्रयोग किया जा सकता है। पक्षवध तथा अर्धाङ्गवात के रोगियों में लाभप्रद होता है। इस वस्ति के लगाने के अनन्तर थोड़ी देर तक कम से कम एक घंटे तक रोगी को लेटा रखना चाहिये। उसको तत्काल शौच के लिये नही जाने देना चाहिये। इस अवधि में औषधि के गुण का शोषण होता है।

षड्धरण योग—चित्रकमूल, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस, बड़ी हरड़ समभाग में बनाया चूर्ण। मात्रा २ माशा। उष्ण जल से। सभी प्रकार के वात रोगों में विशेषत. आमाशयगत वात रोग में लाभप्रद है।

महारास्नादि कषाय—रास्ना २ भाग, बलामूल, एरण्डमूल, देवदारु, कचूर, वच, अडूसे का मूल, सोंठ, हर्रे, चाव (चव्य), नागरमोथा, पुनर्नवा मूल, गुडूची, विधारा, सोया के बीज, गोखरू, असगंध, अतीस, अमलतास का गूदा, शतावर, छोटी पीपल, कटसरैया, धनिया, छोटी-बडी दोनो कटेरी, चोपचीनी, गोरखमुण्डी, बेल के मूल, नागबला (गंगेरन)। इन सबो को जौकुट करके रख ले। इसमें से एक तोला लेकर १६ तोले जल में खौलावे, ४ तोला शेष रहे तो एरण्ड तैल आधा तोला मिलाकर पी ले।

इस योग का उपयोग सभी प्रकार के वात रोगो में विशेषतः पक्षवध, गृध्रसी और सन्धिवात में या दीर्घ काल स्थित वात व्याधि मे हितकर होता है।

रसोन पिण्ड—अच्छे रसदार लहसुन लेकर उसके ऊपर के छिल्के भली प्रकार पृथक् कर के (यदि एक कली या पोती का लहसुन मिले तो अधिक उत्तम

है) उसको रात भर दही के मट्ठे मे भिगो कर रख दे। इससे लहसुन की दुर्गंध चली जाती है। सुवह में छाछ से निकाल कर धोकर उसको खरल मे महीन पीसे। इस पिसे हुए लहसुन का ६ तोला और उसमें घृतभर्जित हीग, जीरा सफेद, जीरा स्याह, अजवायन, सेंधा नमक, काला नमक, सोठ, काली मिर्च और छोटी पिप्पली का चूर्ण प्रत्येक १ माशे मिलावे और थोडा तिल का तेल मिलाकर एकत्र घोटकर शीशी मे भर लेवे।

उपयोग—अग्निवल एवं रोगो का वल, ऋतु तथा दूष्यादि का वल देख कर १ से २ तोला तक देकर ऊपर से एरण्डमूल का क्वाथ पिलावे। एकाग घात, अर्दित, अपतन्त्रक, अपस्मार, वातज उन्माद, गृध्रसी तथा विविध प्रकार की वातिक वेदनावो का शामक होता है।

त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु—वव्वूल की छाल या गोद, असगंध, हाऊवेर गिलोय का सत्त्व या गिलोय, शतावर कद, गोखरू, विधारे का शुद्ध वीज, रास्ना, सौफ, कपूर, अजवायन और सोठ वरावर वरावर लेकर महीन कूट पीस कर कपडे से छान लेवे। इस चूर्ण को खरल में डालकर चूर्ण के वरावर शुद्ध गुग्गुलु और गुग्गुलु का आधा गोघृत मिलाकर अच्छी तरह से घोटकर २ माशे की गोलियां वना ले और सुखाकर शीशी में भर ले। इस त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु का २, गोली दिन मे तीन वार सुरा, यूप, मद्य, मंदोष्ण जल, दुग्ध या मांसरस इनमें से किसी एक के अनुपान से प्रतिदिन सेवन करे। वहुत प्रकार के स्तंभ, शूल तथा घातजन्य वात रोगो में लाभप्रद होता है।

रसायन योगराज गुग्गुलु—सोठ, पीपरा मूल, पीपल, चव्य, चीता का मूल, भुनी हीग, अजमोदा, सरसो, स्याह जीरा, सफेद जीरा, रेणुका, इन्द्रजौ, पाठा, वायविडङ्ग, गजपीपल, कुटकी, अतीस, भारङ्गी, वच, मूर्वा, इन बीस औषधियो का चूर्ण ३-३ माशे मिलित ५ तोले। त्रिफला का चूर्ण दुगुना १० तोले, सबोके बराबर (१५ तोले) गुग्गुलु लेवे। वग भस्म, चांदी भस्म, सीसा भस्म, फौलाद भस्म (लोह भस्म), अभ्र भस्म, मण्डूर भस्म और रससिन्दूर प्रत्येक ४-४ तोले ले। घी डाल कर पहले गुग्गुलु को कूट ले फिर उसमे अन्यान्य चूर्ण तथा भस्मादि को देकर खूब कूटे। जब एक दिल होकर गोली बाँधने लायक हो जाय तो १–१ माशे की गोली बना ले।

मात्रा तथा उपयोग—१–१ गोली दिन मे दो वार महारास्नादि कषाय से सम्पूर्ण वात रोगो मे तथा अनुपानभेद से विविध रोगो मे लाभप्रद होता है। मंजिष्ठादि कपाय के साथ मेदो रोग और कुष्ट मे तथा निम्ब और निर्गुण्डी के क्वाथ से व्रण मे भी लाभप्रद रहता है।

गुग्गुलु एक रसायन औषधि है। वात रोगो के दूर करने में यह एक अव्यर्थ या रामबाण औषधि के रूप में प्रख्यात है। इसके कई योग विभिन्न संग्रह ग्रथो मे पाये जाते हैं। जैसे योगराज गुग्गुलु, द्वात्रिंशक गुग्गुलु, त्रयोदशाग गुग्गुलु, षडशीति गुग्गुलु, गुग्गुलु वटी आदि। योगराज गुग्गुलु के पुन कई योग मिलते है। जैसे योगराज गुग्गुलु, रसायन योगराज गुग्गुलु, बृहत् योगराज गुग्गुलु आदि।

यहाँ पर एक लाभप्रद और उत्तम योगराज गुग्गुलु का योग चिकित्सासार संग्रह नामक ग्रंथ मे उद्धृत किया जा रहा है।

योगराज गुग्गुलु—चित्रक, पिप्पलीमूल, अजवायन, काला जीरा, सफेद जीरा, वायविडङ्ग, अजमोदा, देवदारु, चव्य, बड़ी इलायची, सेंधा नमक, कूठ, रास्ना, गोखरू, धनिया, त्रिफला, नागरमोथा, त्रिकटु, दालचीनी, खस, यवक्षार, तालीशपत्र, लवङ्ग, सज्जीखार, शटी (कचूर), दन्ती, गिलोय, हाऊबेर, अश्वगंध, शतावरी प्रत्येक का चूर्ण १ तोला, लौह भस्म ४ तोला। इन द्रव्यो के कपड़छन महीन चूर्ण और कुल चूर्ण के बराबर शुद्ध गुग्गुलु लेकर घी मिलाकर खूब कूटकर एक कर ले और १ माशे की गोलियाँ बना कर घृतस्निग्ध भाण्ड में रख ले।

उपयोग—आमवात, वात रोग, दुष्ट व्रण, गुल्म, अर्श आदि पचन संस्थान के रोग तथा विविध प्रकार की वातिक वेदनाओ का शामक है। मात्रा एवं अनुपान ऊपर वाले योग के सदृश है।

गुग्गुलु वटी—शुद्ध गुग्गुल, नीम के गिरी की मज्जा, घी में भुनी हीग, सोठ तथा लहसुन सम भाग में लेकर पूर्वोक्त रीति से कूटकर वटी बनाना चाहिये।

एरण्ड पाक—सुपक्व एरण्डबीज को उसके ऊपर का छिल्का निकाल कर मज्जा को ६४ तोले लेकर ६ सेर ६ छटाक २ तोले गाय के दूध मे अग्नि पर चढाकर पाक करे। फिर उसी में घृत ३२ तोले और खाण्ड १२८ तोले मिलावे। पाक करता रहे जब गाढा होने लगे तो उसमें निम्न द्रव्यो का चूर्ण एक-एक तोले की मात्रा मे मिलाकर पकावे—त्रिकटु, चतुर्जात, ग्रंथिपर्ण, चित्रक, चव्य, सौंफ, सोया, बिल्व, जीरा सफेद और स्याह, हल्दी, दारुहल्दी, अश्वगंधा, बला, पाठा, हाऊबेर, मरिच, पुष्करमूल, गोखरू, आरग्वध, देवदारु, खीरे का बीज, ककड़ी का बीज, शतावरी।

पुराने आमवात, कटिशूल, गृध्रसी, आनाह, ऊरुस्तंभ आदि मे लाभप्रद। मात्रा २ तोला। गाय के दूध के साथ।

अमृत भल्लातक—अच्छे पके और पुष्ट भिलावे को एक दिन गोमूत्र में और तीन दिन गाय के दूध मे भिगो कर रखे। फिर कपड़छन किये हुए ईंट के

चूर्ण से मसल कर जल से धोकर सुखा लें। इस प्रकार शुद्ध किये भिलावे को खाने के काम में लावे। २५६ तोले भल्लातक के फलो को सरोते से काट कर दो टुकडे करके १०२४ तोले जल में पकावे। जब क्वाथ चतुर्थांश बाकी रहे तो कपडे से छान कर उसमे २५६ तोले गाय का दूध ६४, तोले गाय का घी मिलाकर मंदी आंच पर पकावे। पीछे नीचे उतार कर उसमे मिश्री कपडछान चूर्ण ६४ तोले मिलाकर मथनी से मथ कर काच के बरतन मे भर कर रख ले।

मात्रा—सवेरे-शाम १-१ तोले देकर ऊपर से गाय का धारोष्ण दूध या गर्म करके ठडा दूध पीने के लिये दे।

उपयोग—सब प्रकार के कफ और वात के पुराने रोग मे विशेषत कुष्ठ रोग, अर्श, पक्षाघात और कमर के दर्द मे इसका उपयोग करे। यह योग अच्छा पौष्टिक और वीर्यवर्धक एवं वाजीकरण है। इसके सेवन करने वालो को गर्म जल मे स्नान, धूप मे बैठना, अग्नि के पास बैठना निषिद्ध है। इसके सेवन-काल शरीर मे खाज उठे तो सेवन बद करा देना चाहिये। और नारियल का तेल तथा कपूर शरीर मे लगाना चाहिये।

नारसिंह चूर्ण—शतावरी ६४ तोले, गोखरू ६४ तोले, वाराहीकद ८० तोले, गिलोय १०० तोले, शुद्ध भिलावे १२८ तोले, चित्रक के मूल की छाल ४० तोले, धोई हुई तिल ६४ तोले, दालचीनी, इलायची और तेजपात प्रत्येक ११-११ तोले, मिश्री २८० तोले, विदारीकद ६४ तोले। सब का महीन चूर्ण बनाकर एकत्र करके शीशी मे भर लेवे।

मात्रा तथा अनुपान—३ माशे से ६ माशे। गाय का घी १ तो० और शहद १॥ तोले के साथ मिलाकर। सवेरे-शाम दे। ऊपर से गाय का दूध पिला दे।

पंचामृत लौह गुग्गुलु—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, रौप्य भस्म, अभ्रक भस्म और सुवर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक ४-४ तोले, लौह भस्म ८ तोले और साफ किया शुद्ध गुग्गुलु २८ तोले। प्रथम पारद और गधक की कज्जली करे। पीछे लोहे की खरल मे लोहे की मूसली से थोडे कडवे तैल का छीटा देकर कूटे। जब गुग्गुलु नर्म हो जावे तब उसमे कज्जली तथा अन्य भस्मे मिलाकर छै घटा तक मर्दन करके ४-४ रत्ती की गोलियाँ बना ले।

मात्रा एवं अनुपान—१-१ गोली सवेरे शाम दूध से। अथवा चोपचीनी, असगध, एरण्डमूल, उशवा, सोठ और कडवे सुरजान के समभाग मे लेकर बनाये काढे से।

इसके सेवन से अववाहुक, गृध्रसी, कमर और घुटने के दर्द मे तथा अन्य प्रकार के वातिक वेदना मे लाभ पहुँचता है। इसका उपयोग रक्तदुष्टि तथा कुष्ठ रोग मे भी हितकर होता है।

वातगजाङ्कुश—रससिन्दूर, लौह भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध गंधक, शुद्ध हरताल, हरीतकी, काकडासींगी, शुद्ध वत्सनाभ विप, सोंठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, अरणी मूल की छाल और शुद्ध सुहागा प्रत्येक १ तोला। सब को एकत्र महीन पीस कर गोरखमुण्डी के क्वाथ या स्वरस की एक भावना फिर निर्गुण्डीपत्र स्वरस या कषाय की एक भावना देकर २–२ रत्ती भर की वटिकायें वना ले। यह वातगजाङ्कुश रस है। इस रस की १-२ वटी दिन मे दो या तीन वार मजीठ के क्वाथ एव पिप्पली चूर्ण के साथ देने से वहुविध वात रोगो में लाभप्रद रहता है। गृध्रसी, अववाहुक तथा पक्षाघात मे लाभप्रद। वृहत् वातगजाङ्कुश नाम से भी एक पृथक् योग का पाठ मिलता है जिसमें सुवर्ण भस्म भी पडा हुआ है।

वृहद्वातचिन्तामणि रस—स्वर्ण भस्म १ भाग, रौप्य भस्म २ भाग, अभ्रक भस्म २ भाग, मोती की पिष्टि ३ भाग, प्रवाल पिष्टि ३ भाग, काकोली का चूर्ण १ भाग, अम्वर १ भाग, चंद्रोदय ७ भाग ले। प्रथम चंद्रोदय को महीन पीस कर उसमें काकोली का चूर्ण, अम्बर डाल कर उसे कुमारी के स्वरस में भावित करे। जब वे अच्छी तरह से मिल जायें तव अन्य भस्में मिलाकर पुनः घृतकुमारी के रस में मर्दन करके १–१ रत्ती की गोलियाँ वना ले और छाया मे सुखाकर शीशी में भर कर रख ले।

मात्रा—१ गोली दिन में दो या तीन वार।

गुण और उपयोग—यह रस हृदय एव मस्तिष्क के लिये परम वलकारक, वात और कफ का नाशक तथा वाजीकरण है। सव प्रकार के वात रोगों में मस्तिष्क तथा नाडी संस्थान के रोगो में इसका प्रयोग करे। आक्षेपक और अपतन्त्रक में मास्यादि क्वाथ के साथ दे। सन्निपात ज्वर में प्रलाप, मोह, नाडी की क्षीणता, हाथ-पांव का कांपना, पसीना अधिक होकर शरीर का ठंडा पडना आदि लक्षण हो तो इसके प्रयोग से लाभ होता है। इसमे अनुपान में अदरक का रस १० बूंद और मधु २० वूंद देना चाहिये।

रसराज—रससिन्दूर ४ तोला, अभ्रक भस्म १ तोला, सुवर्ण भस्म, मोती की पिष्टि, प्रवाल भस्म ½ आधा-आधा ½ तोला, लौह भस्म, रौप्य भस्म, वंग भस्म, असगंध, लौंग, जायपत्री, जायफल और काकोली प्रत्येक चौथाई-चौथाई तोला ले। प्रथम रससिन्दूर को महीन पीस कर उसमे अन्य भस्में तथा वनोषधियो का

कपडछान चूर्ण मिलाकर एक दिन घृतकुमारी के रस मे दूसरे दिन काकमाची के रस में मर्दन करके २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले।

मात्रा-अनुपान—१-१ गोली सुबह-शाम दूध और मिश्री के साथ। इससे पक्षाघात, अर्दित, आक्षेप, कान में आवाज आना, चक्कर आना तथा उच्च रक्त निपीडजन्य उपद्रव शान्त होते हैं।

वातकुलान्तक रस तथा कृष्ण चतुर्मुख रस—का उल्लेख अन्य अधिकारो में हो चुका है। इनका उपयोग भी वात रोगो में लाभप्रद होता है।

योगेन्द्र रस—रससिन्दूर २ तोला, स्वर्ण भस्म, कान्त लौह भस्म, अभ्रक भस्म, मुक्ता भस्म, वंग भस्म प्रत्येक १-१ तोला। सबको एकत्र महीन खरल करके घृतकुमारो के रस में भावित करके गोला जैसा बनाकर एरण्डपत्र से आवेष्टित करके तीन दिनो तक धान की राशि में दबाकर पाक के लिये रख देना चाहिये। चौथे दिन निकाल कर पुन घृतकुमारी के रस मे भावित करके १-१ रत्ती की गोली बना ले।

गुण तथा उपयोग—यह रस योगवाही है—अनुपान भेद से या विविध योगो के साथ संयुक्त होकर सर्व रोगो को दूर करता है। मूर्च्छा-उन्माद-अपतंत्रक तथा वात रोगो में विशेष हितकर होता है।

त्रैलोक्य चिन्तामणि रस

आदि कई योग वातरोगाधिकार में पठित ऐसे है जिसमें हीरक भस्म पडा हुआ है, जैसे वातनाशन रस, वातकंटक रस तथा त्रैलोक्य चिन्तामणि रस (रसेन्द्रसार संग्रह के योग)। इसमे त्रैलोक्य चिन्तामणि रस का योग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—असाध्य वात रोगो में इसका प्रयोग करके देखना चाहिये—हीरा भस्म, सुवर्ण भस्म, रौप्य भस्म, तीक्ष्ण लौह भस्म प्रत्येक का एक भाग। चारो के बराबर अभ्रक भस्म, अभ्रक के बराबर रस सिन्दूर एकत्र करे। फौलाद या मजबूत पत्थर के बने खरल मे इन द्रव्यो को खरल करके घी कुमारी के रस में भावित करके १ रत्ती के प्रमाण की गोलियाँ बना ले। सैकडो योगो से भी नष्ट नही होने वाली बीमारी को दूर करने के लिये ऋषियो ने इसको बनाया है। ऐसी प्रशंसा ग्रथो मे मिलती है।

कई बार वात रोगो में प्रायः फिरंग और उपदश के परिणाम स्वरूप होने वाले वात रोगो में सखिया युक्त योगो के देने की आवश्यकता होती है। इसके लिये कई योग बडे उत्तम हैं—जैसे —मल्ल सिन्दूर, नवग्रह रस, सुवर्ण समीर पन्नग रस आदि। इनके योग तथा निर्माण की बिधि नीचे दी जा रही है।

नवग्रह रस—(नवग्रही शिरोराज भूपण रस)—शुद्ध किया हुआ सखिया विप, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध गधक, शुद्ध पारद, शुद्ध खडिया मिट्टी (दुग्ध पापाण), शुद्ध नीला तूतिया, शुद्ध हरताल, शुद्ध मन शिला और शुद्ध खर्पर। इन सब द्रव्यो को सम प्रमाण मे लेकर वारीक चूर्ण करके करैला और नीम के रस में ६-६ घण्टे तक मर्दन करके, ६-७ कपडमिट्टी किये हुए आतशी शीशी मे भरकर मुख वन्द कर वालुका यंत्र में चढाकर एक दिन तक अग्नि जलाकर पाक करे। फिर स्वाङ्ग-शीतल होने पर निकाल कर प्रयोग करे। मात्रा १ चावल भर मक्खन के साथ दिन में दो वार। समस्त वात रोगो मे लाभप्रद।

मल्ल सिंदूर—शुद्ध पारद ९ भाग, शुद्ध रसकर्पूर ९ भाग, शुद्ध गधक ५॥ भाग, शुद्ध सखिया ४॥ भाग। प्रथम पारद-गधक की कज्जली करे। पीछे उसमे रस कर्पूर और सखिया मिलाकर घृतकुमारी के रस में दो दिनो तक मर्दन करे। ७ कपडमिट्टी की हुई शीशी मे भर कर दो दिनो तक वालुका यत्र मे पकावे। स्वाग-शीतल होने पर शीशी को तोडकर शीशी के गले मे जमे हुए मल्ल सिन्दूर को निकाल कर तीन दिनो तक खरल मे पीस कर खूब महीन होने पर शीशी में भर कर रख ले। मात्रा आधा से १ रत्ती दो वार सितोपलादि चूर्ण १॥ माशा और शहद के साथ। उपयोग—सब प्रकार के वात एवं कफ के रोग में विशेपत. अर्दित तथा पक्षाघात मे तथा तमक श्वास रोग मे अच्छा लाभ होता है[1]।

विशिष्ट क्रियाक्रम—जैसा कि ऊपर में वतलाया जा चुका है कि वात व्याधि का अध्याय एक वहुत वडा अध्याय है, इसमें अनेक रोगो का समावेश हो जाता है। ऊपर मे वताये गये सामान्य योगो का यथारोग, देश, काल, वल, ऋतु, आदि का विचार करते हुए उपयोग करने से सर्वत्र पर्याप्त लाभ होता है। अव सक्षेप में प्रमुख रोगो का पृथक्-पृथक् क्रिया-क्रमो का आख्यान किया जा रहा है।

कोष्ठगत वात—मे क्षारो का प्रयोग उत्तम रहता है। इसके लिये क्षार-राज २ माशा तथा हिंग्वादि वटी का मिश्रित प्रयोग उत्तम रहता है। हिंग्वादि वटी १ एवं क्षारराज २ माशा एक में मिलाकर। एक छटाँक जल में वनाये चीनी के शर्वत में छोटकर नीवू का रस मिला कर पीना। यदि दोप आमाशय तक ही सीमित हो तो वमन कराना, लंघन और उदर का स्वेदन सर्वत्र लाभप्रद

---

१ रसरसविषू नवाक्षी मार्वेपुनतु सुवर्णवलिमल्लौ।
कूप्यां दृयह्नं विपचेत् पवनकफौ हन्ति मल्लसिन्दूर.॥ सिद्धभेपजमणिमाला।

होता है। पद्धरण योग को ३ माशे की मात्रा मे गर्म जल से पीने के लिये देना उत्तम रहता है।

यदि दोष पक्वाशय मे हो तो स्निग्ध विरेचन (एरण्ड तैल ४-५ तोले गर्म दूध मे मिलाकर) देना, शोधन के वस्ति (Enema Saline or Soap) देना और घृत मिश्रित सैंधव लवण या भास्कर लवण या हिंग्वष्टक चूर्ण का प्रयोग उत्तम रहता है। इस अवस्था मे देने के लिये एक स्नेह लवण का उल्लेख चक्रदत्त ने किया है—जिसमे सेंहुड का दूध, पंच-लवण, वैगन और चतु स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) इन सब को सम मात्रा मे लेकर एक हण्डिका मे रख कर उसका मुख कपड़मिट्टी से बन्द करके जंगली कडो में अन्तर्धूम जला लेना चाहिये। मात्रा २ माशा। अनुपान उष्णोदक।[1]

सक्षेप मे उदर का स्वेदन (Hot water Bag, Terpentine stoup), आस्थापन वस्ति (Soap or Salte Enema), स्निग्ध रेचन (Casteroil), उपवास, उष्ण जल तथा वातानुलोमन के लिये क्षार, लवण, हिंगु, त्रिकटु युक्त योगो का उपयोग हितकर होता है।

त्वक्-मांस-रक्त एव सिरागत वात मे—स्नेहन, स्वेदन, बधन, मर्दन, उपनाह, रक्त-मोक्षण तथा दाह कर्म के द्वारा उपचार करे।

मास-मेद-अस्थि-मज्जागत वात मे—विरेचन, निरूहण, शमन के योग वाह्य तथा आभ्यतर स्नेह से उपचार करे।

स्नायुसंध्यस्थिगत वात—स्नेह, स्वेद, उपनाह आदि करना चाहिये।

शुक्रगत वायु मे—शुक्र-दोष की चिकित्सा करनी चाहिये।

स्रोतोगत वात मे—स्नेहन, स्वेदन, उपनाह, मर्दन, आलेप आदि करे।

पक्व-त्रिक और मन्या वात मे—वमन, मर्दन एव नस्य से उपचार करे।

वस्तिगत वात में—वस्ति का विशोधन करे।

अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला में—गुल्म और अतर्विद्रधि की चिकित्सा करनी चाहिये।

---

१ विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिवेन्नर ।
आमाशयगते वाते छर्दिताय यथाक्रमम् ॥
रूक्ष. स्वेदो लंघनञ्च कर्त्तव्य वह्निदीपनम् ।
पक्वाशयगते वाते हित स्नेहविरेचनम् ॥
वस्तय शोधनीया या. प्राशाश्च लवणोत्तरा: । (यो र)

हिंग्वादि चूर्ण या हिंग्वुग्रगधादि चूर्ण—हीग, वच, काला नमक, सोठ, जीरा, हरीतकी, चीते का मूल और कूठ। इन द्रव्यो का कपड़छान चूर्ण।

विडङ्गारिष्ट—वायविडङ्ग, पिप्पलीमूल, पाठा, आँवला, खीरे का बीज, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, रास्ना, भारङ्गी प्रत्येक २० तोले। सोलह गुने जल मे खौलाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनावे। इस क्वाथ के ठंडा हो जाने पर उसमें धातकी पुष्प १ सेर, त्रिकटु ३२ तोले, त्रिजात ८ तोले, फलिनी, हेम (सुवर्णक्षीरी), तोय (सुगववाला), लोध्र प्रत्येक का ४-४ तोले डाल कर घृतलिप्त भाण्ड में एक मास तक सधान करे। पश्चात् निकाल कर प्रयोग करे। यह योग प्रत्यष्ठीला, विद्रधि और भगंदर मे लाभप्रद होता है[1]।

आध्मान तथा प्रत्याध्मान में—आध्मान की अवस्था मे रोगी का लंघन, हाथ का तलवा आग पर गरम करके उससे उदर का सेंकना, फलवर्त्ति (गुदा-मार्ग से (Suppository) का लगाना, शोधन वस्ति (Enema) तथा दीपन एव पाचन योगो का उपयोग हितकर होता है।

प्रत्याध्मान मे वमन-लंघन तथा दीपन औषधियो का उपयोग करे। बृहत्पंच मूल का कषाय त्रिवृत् चूर्ण के साथ सेवन करावे। दोनो अवस्थाओ लाभप्रद[2]।

उदर पर दारुषट्क को पानी में पीसकर या काजी में पीस कर गुनगुना गर्म करके लेप करना भी उत्तम होता है।

दारुषट्क लेप—देवदारु, वच, कूठ, सौंफ (सोया), हिंगु, और सेंधानमक, इनका पीसकर उदर पर गर्म लेप आध्मान की अवस्था मे सद्यो लाभप्रद होता है।

तूनी तथा प्रतितूनी—पिप्पल्यादि गण की औषधियो का चूर्ण अथवा घृत २ माशे में घृतभर्जित हीग १ माशा तथा यवक्षार १ माशा मिलाकर गर्म पानी से सेवन करना हितकर होता[3] है।

पिप्पल्यादि गण (सुश्रुत)—पिप्पली वच, चव्य, चीता, अतीस, सोठ, जीरा, पाठा, हीग, रेणुका बीज, मुलैठी, सरसो, कुटकी, त्रिकटु, इंद्रयव, अज-

---

१. प्रत्यष्ठीलाष्ठीलिकयोर्गुल्मेऽभ्यन्तरविद्रधौ।
क्रिया हिंग्वादि चूर्णं च शस्यतेऽत्र विशेषत.॥ (यो. र,)

२ आध्माने लंघनं पाणितापश्च फलवर्त्तय.।
दीपन पाचनञ्चैव वस्तिश्चाप्यत्र शोधनः॥
प्रत्याध्माने तु वमनं लंघनं दीपनन्तथा॥

३. पिप्पल्यादिरजस्तूनी-प्रतितून्यो. सुखाम्बुना।
पिबेद्वा स्नेहलवण सघृत क्षारहिंगु वा॥

मोद, त्रुटि, अजवायन, भारङ्गी और वायविडङ्ग। यह गण कफ रोगो को नष्ट करता है।

गृध्रसी-प्रतिषेध—रोगी को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक होता है—चलना-फिरना छोडकर लकडी चौकी पर सोना उत्तम रहता है। गृध्रसी मे विबध प्राय पाया जाता है। अस्तु, एरण्ड तैल का विरेचन वीच-वीच मे देते रहना चाहिये। इसके लिये कई योग ग्रंथो मे पाये जाते है—जैसे १. दशमूल के द्रव्य पृथक्-पृथक्, वला, रास्ना, गुडूची या सोठ का काढा बनाकर उसमे एरण्ड तैल छोटी चम्मच से १-२ चम्मच मिलाकर एक मास तक पिलाना। यह गृध्रसी रोग, खञ्ज तथा पंगुत्व मे भी लाभप्रद रहता है। २ वृहत् पचमूल के द्रव्यो को २ तोला लेकर ३२ तोले जल में खौलाकर ८ तोला शेष रहने पर उसमे काली निशोथ का चूर्ण २ मा० घृत ½ तोला और एरण्ड तैल १ तोला मिला कर सेवन करना। ३. गोमूत्र १ छटाँक, पिप्पली चूर्ण २-४ रत्ती और एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर लेना। ४ एरण्ड तैल मे पकाये गये वैगन का सेवन। ५ एरण्ड के वीज की गूदी (गिरी) १ तोला से २ तोला तक लेकर दूध मे पकाकर खीर जैसे बना कर थोडा शुठी का चूण मिलाकर सेवन। ६ एक मास तक प्रतिदिन १ तोले भर एरण्ड तैल को गोमूत्र एक छटाँक मे मिलाकर सेवन।[1] रास्नासप्तक कषाय का एरण्ड तैल १ तोले मिश्रित करक नित्य सेवन गृध्रसी में लाभप्रद होता है।

अन्य घृत तैलादि के प्रयोग—वात रोगाधिकार मे बतलाये तैल-अथवा घृत अथवा केवल तिल तैल और घृत को आदी के स्वरस और बिजौरे नीबू का रस, चुक्र (चूक) और पुराने गुडको यथावश्यक मिलाकर सेवन करने से, कटि, ऊरु, पीठ, त्रिक के शूल, स्तंभ, गृध्रसी रोग तथा उदावर्त्त रोग मे लाभ होता है।

गुग्गुलु के योग—त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, योगराज गुग्गुलु अथवा गुग्गुलु वटी का १ माशे की मात्रा म दिन मे तीन बार गर्म जल से दे। एक योग **रास्ना गुग्गुलु** का यहाँ दिया जा रहा है—रास्ना १ पल (४ तोले), शुद्ध गुग्गुलु १० तोले। इन दोनो द्रव्यो को थोडा घी मिला कर कूटकर एक करके एक-एक माशा की गोलियाँ बनाये। मात्रा १–२ गोली। उष्णोदक से।

---

१. तैलमेरण्डजं वापि गोमूत्रेण पिबेन्नरः।
मासमेकं प्रयोगोऽयं गृध्रस्यूरुगदापहम्॥

तैलाभ्यंग—पंचगुण या विपगर्भ तैल की हलके हाथ से मालिश भी वेदना का शामक होता है।

वस्ति-प्रयोग—गृध्रसी से पीडित रोगी का प्रथम पाचनादि उपायों से अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये। पश्चात् अग्नि के दीप्त हो जाने पर नारायण तैल, विष्णु तैल या माष तैल का वस्ति (गुदा मार्ग मे देना) प्रारम्भ करना चाहिये। यदि रोगी की अग्नि दीप्त न हो, अथवा ऊर्ध्वशोधन न हुआ हो तो स्नेह वस्ति का प्रयोग निरर्थक होता है। इस की उपमा राख मे डाली गई घृत की आहुति मे शास्त्रकारों ने दी है। अविशुद्ध शरीर के व्यक्ति में प्रयुक्त स्नेह मन्दाग्नि के कारण पचता नही अपितु वैसा का वैसा ही मल के साथ निकल आता है।

शेफालिका प्रयोग—निर्गुण्डी की पत्ती का काढा पीने से चिरकालीन गृध्रसी रोग में उत्तम लाभ होता है।[1] महानिम्ब का कषाय या महानिम्ब के कल्क का लेप गृध्रसी को नष्ट करता है। गृध्रसी में शिरावेध भी लाभप्रद होता है।

वातकंटक—रक्तावसेचन करके अशुद्ध रक्त का निर्हरण करना चाहिये। एरंड तैल का प्रयोग कुछ दिनों तक कराना चाहिए। छोटी सूई को रक्त तप्त करके उससे दाह करना चाहिये।

पादहर्ष—(Numbness of the Feet)–अग्नि में प्रदीप्त किये हुए ईंट के टुकडों को कांजी में बुझाबुझा कर उसके वाष्प से पैर का स्वेदन करना हितकर होता है।

झिन्झिनीवात—(झुनझुनी मालूम होना)—दशमूल के काढे में हींग (घी मे भुनी) २ र० और पुष्करमूल ४ रत्ती मिलाकर पीने से लाभ होता है।[2]

पाददाह—दाहाधिकार में चिकित्सा देखें।

खल्ली—(हाथ-पैर की टांस या टटाना)—कूठ-सेंधानमक-चुक्र (चूक) को पानी में पीस कर सर्षप तैल में मिलाकर किंचित् गर्म करके लेप करना।[3]

---

१ शेफालिकादलक्वाथो मृद्वग्निपरिसाधित‌ः।
दुर्वारं गृध्रसीरोग पीतमात्रं नियच्छति ॥

२. कुष्ठसैन्धवयो कल्कश्चुक्रतैलसमन्वितः।
सुखोष्णो मर्दने योज्यः खल्लीशूलनिवारण‌ः ॥

३ दशमूलस्य निर्यूहो हिङ्गुपुष्करसंयुत‌ः।
शमयेत् परिपीतस्तु वातं झिन्झिनिसंज्ञितम् ॥

विश्वाची तथा अववाहुक—दशमूल-बला एवं माप का क्वाथ बनाकर तिल और घी मिलाकर पीना तथा इसी का नस्य लेना लाभ करता है। माप (उडद) और लहसुन से सिद्ध तैल का अभ्यंग बाहु पर करना भी लाभप्रद रहता है।[1]

बला के मूल किंवा नीम की पत्ती का स्वरस अथवा केवाच का स्वरस या क्वाथ बनाकर पीने या नस्य लेने से वज्र के समान बाहु हो जाता है।

त्रिकशूल, कटिशूल और संधिवात में—गृध्रसी के समान सम्पूर्ण उपचार करना चाहिये। स्वेदन के लिए बालुका को पोटली में बाँधकर गरम करके अथवा करीपाग्नि (कण्डेकी आग बनाकर) उससे सेंकना चाहिये। सर्वत्र कैशोर गुग्गुलु १ माशा और गोक्षुरादि गुग्गुलु १ माशा मिलाकर गर्म जल से दिन मे दो बार देना रात्रि मे सोते वक्त वैश्वानर चूर्ण ६ माशा देना और पंचगुण तैल की मालिश कराना लाभप्रद रहता है। इन रोगो में कोष्ठशुद्धि का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इस के लिए बीच-बीच मे आस्थापन वस्ति देकर कोष्ठ शुद्ध कर लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त त्रिफला और गुडूची का कषाय अनुपान रूप मे देकर अथवा दूध मे १ छटाँक एरण्ड तैल देकर सप्ताह मे एक बार रेचन करा देना चाहिये।[2] दूध के साथ वृद्धदारुक बीज का सेवन भी लाभप्रद रहता है।

पक्षाघात-प्रतिषेध—अगघात या अगवध चार प्रकार का हो सकता है। जैसे १ एकाङ्गघात (Monoplagia), पक्षवध या अर्धाङ्गघात (Hemiplegia) ३ सर्वाङ्गघात (Diplagia) ४ अधराङ्गघात (Paraplagia) इसमे खञ्जत्व और पङ्गुत्व दो आता है। इन चारो प्रकारो में चिकित्सा प्रायः एक सदृश ही होती है।[3]

---

१. मापतैलरसोनाभ्या बाह्वोश्च परिवर्त्तनात्।
दशाङ्घ्रिमापक्वाथेन जयेद् वैद्योऽवबाहुकम्॥
दशमूलीवलामाषक्वाथं तैलाज्यमिश्रितम्।
साय भुक्त्वा चरेन्नस्यं विश्वाच्या चावबाहुके॥ (भै र)

२ गुग्गुलु क्रोष्टुशीर्षञ्च गुडूचीत्रिफलाम्भसा।
क्षीरेणैरण्डतैलं वा पिबेद्वा वृद्धदारुकम्॥

३ हत्वैकं मारुतः पक्ष दक्षिण वाममेव वा। कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च॥ गृहीत्वार्धं शरीरस्य सिरास्नायू विशोष्य च। पादं संकोचयत्येकं हस्त वा तोदशूलकृत्॥ एकाङ्गरोग त विद्यात् सर्वाङ्गं सर्वदेहजम्॥

अंगघात की अवस्थायें कठिनाई से साध्य होती हैं। ये रोग दीर्घ काल तक चलते रहते हैं। आचार्य चरक ने लिखा है "संधिच्युति (संधि का वार-वार च्युत होना), हनुस्तंभ (Lock jaw), अंगसंकोच, कुब्जता, अर्दित (Facial paralyeis), पक्षाघात, अंगशोष, पंगुत्व, गुल्फ-संधि का वात (आमवात की एक अवस्थाविशेष), स्तंभ, आढ्यवात, मज्जा एवं अस्थि के रोग ये रोग वड़ी गहराई के धातुओं के विकार से पैदा होते हैं—इनको बड़े प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा की जाय तो सफलता मिलती और नहीं भी मिलती है। रोगी यदि बलवान् और रोग नया या निरुपद्रव हो तब तो सम्यक् उपचार से लाभ की आशा रहती है अन्यथा सफलता की आशा कम रहती है।"[1]

इन कठिन रोगों की चिकित्सा की दुरूहता और चिकित्सा की अल्प प्रतिक्रिया की दृष्टि से ही यह उक्ति वात रोगों में चलती है कि—'ये वातव्याधियाँ असाध्य हैं दैव-कृपा से अच्छी हो जाती हैं, इन का वैद्यक (चिकित्सा) अनुमान से की जाती है और प्रतिज्ञा करके नहीं' रोग के अच्छा होने की गारंटी पहले से ही नहीं दी जा सकती है।[2]

पक्षवध में क्रियाक्रम (Upper Motor Neurone ty peof Paralysis)—पक्षाघात के रोगी में तीक्ष्ण विरेचन तथा वस्ति क्रिया द्वारा शोधन कराने से रोग शान्त होता है।[3]

पक्षाघात के रोगियों में पौष्टिक आहार देना चाहिये। इस के लिये-वला की जड़ का क्वाथ या बृहत् पंचमूल या दशमूल के द्रव्यों के क्वाथ के साथ बकरे का सिर (Brain), जलीय प्राणियों (मत्स्यादि) के मांस अथवा आनूपदेश के प्राणियों के मांस अथवा मांसभक्षक प्राणियों के मांस पकाकर उस को छान कर रस निकाल कर देना चाहिये। इस मांसरस को घृत से छौंक कर दही, कांजी और त्रिकटु चूर्ण (सोंठ, मिर्च, पिप्पली) तथा नमक मिलाकर स्वादिष्ट

---

१. सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः। पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता॥ स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये। एते स्थानस्य गाम्भीर्याद् यत्नात्सिद्ध्यन्ति वा न वा। नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान्॥ (च. चि. २८)

२. वातरोगस्त्वसाध्योऽयं दैवयोगेन सिद्ध्यति।
अनुमानेन कुर्वन्ति वैद्यकं न प्रतिज्ञया॥ (यो. र)

३. पक्षाघातसमाक्रान्तं सुतीक्ष्णैश्च विरेचनैः।
शोधयेद्वस्तिभिश्चापि व्याधिरेवं प्रशाम्यति॥ (भा. प्र.)

करके खाने के लिये देना चाहिये। इस मासरस के साथ ही उसको गेहूँ की रोटी, उडद की दाल आदि पथ्य देना चाहिये।

लहसुन का प्रयोग भी रोगी को पर्याप्त मात्रा मे कराना चाहिये। लहसुन की चटनी वनाकर भोजन के साथ देना या लहसुन को मसाले के रूप मे देना अथवा लहसुन को तेल में पकाकर उस तेल और लहसुन को दाल मे छोड कर खाने के लिये देना चाहिये। ऊपर रसोन पिण्ड नामक योग का आख्यान हो चुका है। उस रसोन पिण्ड का प्रयोग प्रचुरता से किया जा सकता है। सामान्यतया सभी वात रोगो मे तैल के साथ लहसुन का प्रयोग करने को शास्त्र में वतलाया गया है, परन्तु पक्षवध, अर्दित आदि महारोगो मे तो वडा ही उत्तम लाभ दिखलाता है। लहसुन के वाद दूसरा स्थान प्याज का वात रोगो मे आता है। इसका भी प्रचुर प्रयोग करना चाहिये।[1]

लहसुन यदि एक गाँठ वाला मिले तो अधिक उत्तम रहता है। इस का उच्च रक्तनिपीड (Hyper tension) पर अच्छा प्रभाव दिखलाई पडता है। इस प्रकार लहसुन वात रोगो में एक महौषधि के रूप में प्रख्यात है।

माषवलादि पाचन--उडद, वला की जड़, शुद्ध केवाच के बीज, रोहिप घास, रासन, असगध, एरण्ड की छाल। इन्हे सम प्रमाण मे लेकर २ तोले को, ३२ तोले जल मे खौलाकर जव ८ तोला शेष रहे तव उतार कर छान ले। उसमे १ रत्ती भर घृत मे भुनी हीग का चूर्ण तथा १ माशा भर पिसा हुआ सेधानमक मिलाकर मन्दोष्ण नासिका द्वारा सात दिनो तक पीने से पक्षाघात, मन्यास्तभ, कान की पीडा और कर्णनाद तथा दुर्जय अर्दितवात अवश्य ही नष्ट हो जाता है।[2] यदि नाक से रोगी न पी सकता हो तो इस क्वाथ का थोडा नाक से नस्य देना और शेष मुख से पीने को देना चाहिये।

---

१ रसोनानन्तर वायो पलाण्डु परमौषधम्।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥ (अ. सं)
नान्यानि मान्यानि रसौषधानि परन्तु कान्ते ! न रसोनकल्कात्।
तैलेन युक्तो ह्यपर प्रयोगो महासमीरे विपमज्वरे च॥
(वै. जी.)

२ मापवलाशूकशिम्बीकत्तृणरास्नाश्वगंधोरुवूकाणाम्।
क्वाथो नस्यनिपीतो रामठलवणान्वित कोष्ण.॥
अपहरति पक्षघात मन्यास्तम्भ सकर्णनादरुजम्।
दुर्जयमर्दितवातं सप्ताहाज्जयति चावश्यम्॥ (वृन्द)

महारास्नादि कषाय—का पीना तथा नस्य लेना भी उत्तम होता है।

महामंजिष्ठादि कषाय—(वातरक्ताधिकार योगरत्नाकर) जिसका योग आगे वातरक्ताधिकार में उद्धृत किया जा रहा है—उसका प्रयोग भी पक्षवध की अवस्था में उत्तम पाया गया है। अस्तु, महारास्नादि अथवा महामंजिष्ठादि कषायो में से किसी एक का प्रयोग प्रात काल मे एक मात्रा अवश्य करना चाहिये।

सामान्यतया पक्षवध में—अधो लिखित प्रकार से व्यवस्था करना उत्तम रहता है। रसराज २-२ रत्ती, प्रात.—साय दूध और मिश्री से लेकर ऊपर से महारास्नादि या महामंजिष्ठादि कषाय प्रात एक मात्रा दे। सायकाल में माषबलादि कषाय या केवल एरण्डमूल के कषाय के साथ दे। भोजन के बाद दोनो वक्त रसोन पिण्ड के अभाव में लसुनादि वटी एक-दो गोली दे।

जिह्वास्तंभ-अर्धाङ्ग-घात मे—जिह्वा और गले की पेशियो के घात के कारण रोगी के बोलने मे कठिनाई होती है। उनमें जिह्वास्तंभ, मूकता, स्वरावसाद प्रभृति लक्षण पाये जाते है—इस अवस्था मे कल्याण चूर्ण या कल्याणावलेह का प्रयोग करना चाहिये। प्रयोग-विधि यह है—कल्याण चूर्ण १-२ माशा लेकर उसको छागलाद्य घृत में मिलाकर जीभ के ऊपर उंगली के सहारे हल्के हाथो से रगडना चाहिये। कुछ वैद्य-परम्परावो मे सिद्धार्थ तैल का उपयोग भी इस कार्य मे होता है।

कल्याण चूर्ण या कल्याणावलेह—हल्दी, वच, कूठ, पिप्पली, शुण्ठी, अजवायन, जीरा, और मधुयष्टी का सम भाग में बनाया चूर्ण।[1]

रसराज के स्थान पर बृहद्वातचिन्तामणि रस, वातकुलान्तक रस, योगेन्द्र रस, कृष्ण चतुर्मुख रस, वातविध्वंसन रस अथवा हीरक भस्म युक्त योग जैसे वातनाशन रस या त्रैलोक्य चिन्तामणि रस में से किसी एक का प्रयोग भी किया जाता है। रक्तनिपीड के व्यक्ति-क्रम से उत्पन्न अंगघातो में इन से उत्तम लाभ होता है।

यदि पक्षवध के रोगी में फिरंग रोग का वृत्त मिले अथवा रक्त-परीक्षा से फिरंग दोष की उपस्थिति मिले (कानकसौटी अस्त्यात्मक हो) तो सखिया तथा

---

१. तच्चूर्णं सर्पिषाऽलोड्य प्रत्यहं भक्षयेन्नर.।
एकविंशतिरात्रेण नर' श्रुतिवरो भवेत् ॥
मेघदुन्दुभिनिर्घोषो मत्तकोकिलनि स्वन.।
जडगद्गदमूकत्वं लेह. कल्याणको जयेत् ॥

हरताल योग अधिक उपयुक्त होते हैं—ऐसी अवस्था में मल्लसिन्दूर, सुवर्ण समीर पन्नग, वातगजाङ्कुश तथा नवग्रह रस में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिये। अनुपान रूप मे निर्गुण्डीपत्र स्वरस, मक्खन, मलाई या घी और मिश्री को देना उत्तम रहता है। शेष विधान उसी प्रकार रखना होता है।

पक्षवध के रोगियो मे विबंध प्रायः पाया जाता है—एतदर्थ नित्य कोष्ठशुद्धि होती रहे इस बात का ध्यान रखना चाहिये। नित्य थोडी मात्रा मे एरण्ड तैल, त्रिफला या षड्धरण चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण ६ माशे रात मे सोते वक्त गर्म जल से देना चाहिये।

गुग्गुलु के योगो मे रसायन योगराज गुग्गुलु या त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु का उपयोग उत्तम रहता है। घी के साथ इन गुग्गुलु योगो को खाकर ऊपर से गर्म जल या दूध का सेवन उत्तम होता है। चूर्णो मे प्रधान औषधि के रूप मे नारसिंह चूर्ण का उपयोग श्रेष्ठ रहता है। इसमें तिल और भल्लातक पडा हुआ है। कई रोगियो मे भल्लातक का उत्तम फल वात रोगो में विशेषत पक्षघात मे दिखलाई पडता है। भल्लातक के योगो मे अमृत भल्लातक नामक पाक भी इसी उद्देश्य से व्यवहृत होता है और उत्तम फल वात रोगो मे दिखलाता है।

अभ्यंग—वात रोगाधिकार मे विविध बृंहण तैलो का अभ्यंग पक्षवध के रोगियो में कराना चाहिये। विष्णु तैल, नारायण तैल, माष तैल अथवा महामाष तैल का अभ्यग पूरे शरीर में विशेष करके विकृत आधे अग पर करना चाहिये। अभ्यग के अनन्तर उन तैलो को नाक के छिद्रो से ३-४ बूंद का छोडना, कान मे डालना भी उत्तम होता है। महाराज प्रसारणी तैल बडा मूल्यवान होता है। इसलिये इसका अल्प मात्रा मे सीमित एव अधिक विकृत स्थान पर मालिश करनी चाहिये। हाथ की हथेली को आग पर गर्म करके उस पर थोड़ा सा लेकर धीरे-धीरे मलकर त्वचा मे सुखाना चाहिये। शेष अग पर किसी अन्य तैल की मालिश करनी चाहिये।

यदि रोगी नितान्त अर्थहीन हो तो उसके लिये लहसुन से पकाकर तैल बना लेना चाहिये। लहसुन ऽ।, सरसो के तेल १ सेर, पानी २ सेर। अग्नि पर चढाकर पाक कर लें। इस तेल मे कपूर मिलाकर मालिश करनी चाहिये। अथवा केवल शुद्ध सरसो के तेल मे कपूर मिलाकर अभ्यग करना चाहिये। अभ्यग क्रिया से निष्क्रिय व्यायाम होता रहता है और पेशियो का अपचय (Degeneration) नही होने पाता है। अस्तु, अभ्यग वात रोगो मे आवश्यक और उपयोगी उपक्रम के रूप मे माना जाता है।

वस्ति का वर्णन ऊपर में हो चुका है। वस्ति देने के दो उद्देश्य होते हैं— कोष्ठ की शुद्धि तथा वस्ति के वीर्य तैल आदि का शोषण कराना। कोष्ठशुद्धि की दृष्टि से तो साधारण 'साबुन के पानी' या 'नमक के जल' की वस्ति देना पर्याप्त होता है, परन्तु जहाँ पर विशेष गुणाधान के विचार से प्रयोग करना हो वहाँ पर उपर्युक्त वस्ति का उपयोग करना चाहिये। इस अवस्था में (पक्षवध में) विशेष लाभ होता है।

स्वेदन—पक्षवध रोग से विकृत शरीरार्ध का उपनाह, लेप, प्रदेह आदि भी उत्तम रहता है।

अर्दित—यह कई वार स्वतंत्र और आम तौर से अर्धाङ्गघात के साथ-साथ पाया जाता है। अर्धाङ्गघात के साथ होने पर उपर्युक्त उपचार से दोनो अवस्थाओ मे लाभ पहुंचता है। तथापि अर्दित रोग मे शास्त्र में कुछ विशिष्ट क्रियाक्रमो का उल्लेख पाया जाता है। इन क्रियाओ को स्वतंत्र रूप में पाये जाने वाले अर्दित रोग में वरतना चाहिये। अर्दित में नस्य कर्म (नावन), सिर पर तैलो का अभ्यग या शिरोवस्ति, तर्पण (बृंहण आहार), नाड़ी स्वेद, आनूप मांसो मे उपनाह, स्निग्ध स्वेद आदि उपचार करना चाहिये। आगे वतलाये जाने वाले धनुर्वात या अपतानक में भी इन क्रियाक्रमो को करना हितकर होता है।[1]

भेपज—१ रसोन कल्क पत्थर पर पिसे हुए ६ माशे लहसुन के कल्क १ तोला मक्खन के साथ मिलाकर खाने से अर्दित रोग नष्ट होता है।

२. अर्दित रोग में मक्खन के साथ उड़द का वडे खाकर तदनन्तर दुग्ध या मांसरस के साथ भोजन करना उत्तम रहता है। अपराह्ण में दशमूल का क्वाथ भी लाभप्रद रहता है।

३ इसके अतिरिक्त वात रोग के अन्य उपक्रमो को यथापूर्व रखना चाहिये। स्वेद, अभ्यंग, शिरोवस्ति, स्नेहपान, नस्य (वातघ्न तैल या घृतो से) तथा भोजन के पश्चात् घृत का पीना लाभप्रद रहता है।[2]

---

१. स्वेदाभ्यग-शिरोवस्तिपाननस्यपरायणः।
अर्दितं च जयेत् सर्पि. पिवेदौत्तरभक्तिकम्॥
अर्दिते नवनीतेन खादेद् मापेण्डरी नरः।
क्षीरमांसरसैर्भुक्त्वा दशमूलीरसं पिवेत्॥ (भै र)

२. उपाचरेदभिनव खञ्ज पङ्गुमथापि वा।
विरेकास्थापनस्वेदगुग्गुलुस्नेह-वस्तिभि.॥
क्रम' कलायखञ्जस्य खञ्जपङ्ग्वोरिव स्मृतः।
विशेषात्स्नेहनं कार्यं कर्म ह्यत्र विचक्षणैः॥ (भा. प्र.)

मन्या तथा ग्रीवा स्तंभ (Spasm of Sternocleido mastoid)—अभ्यंग, स्वेद, नस्य, पंचमूल अथवा दशमूल का क्वाथ पिलाना चाहिये । वरागंध, गोमूत्र और कडवे तैल का लेप ग्रीवा और मन्या मे करने से लाभ होता है । नस्य में 'अमोनियम कार्ब' का सुंघाना या कट्फल चूर्ण का नस्य देना भी अच्छा लाभ करता है ।

कलाय खंज—

खञ्ज तथा पङ्गुत्व (Paralysis of Spinalorigin)—इस अवस्था में भी चिकित्सा पक्ष-वध के सदृश ही करनी पडती है । कलायखंज, खञ्ज तथा पगुत्व मे समान उपचार की ही व्यवस्था करनी पडती है[1] कलाय खंज में विदीपन. स्नेहन एवं धातुओ के वर्धन का उपचार करना चाहिये । कलाय की दाल खाने का वृत्त, रूक्ष अन्न सेवन का वृत्त, हीन पोषण का वृत्त इन रोगो मे प्राय पाया जाता है । एतदर्थ उपचार काल मे सर्वप्रथम इन उत्पादक कारणो का वर्जन करना चाहिये । रोगी के लिये भोजन मे अधिकतर उडद की दाल का सेवन करने को वतलाना चाहिये । घृत, वसा, मज्जा, तैल, दूध, मांसरस, जीवतिक्ति युक्त आहारो की व्यवस्था रोगी के लिये करनी चाहिये ।

नये खञ्ज रोग तथा पङ्गुत्व का उपचार करने से लाभ भी शीघ्रता से होता है । पुराने रोगों में चिकित्सा का प्रभाव कम दिखलाई पडता है । उपचार में विरेचन (नित्यकोष्ठ शुद्धि), स्थापन वस्ति, स्निग्ध वस्ति, विविध प्रकार के बृंहण तैलो का विशेष कर माष तैल का अभ्यग, स्वेद, लहसुन और तैल का उपयोग तथा गुग्गुलु के उपयोग से लाभ होता है । गुग्गुलु के योगो मे त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु, रसायन योगराज गुग्गुलु अथवा गुग्गुलु वटी के प्रयोग, एरण्डमूल के कषाय, उष्ण क्षीर या उष्ण जल के साथ उत्तम रहता है ।

इन रोगो (अधराङ्गघात, खञ्ज एव पंगु) में शुद्ध कुपीलु का उपयोग उत्तम रहता है । शुद्ध कुपीलु २ रत्ती से ४ रत्ती तक घृत और चीनी के साथ अथवा किसी गुग्गुलु के योग के साथ मिलाकर दिया जा सकता है । निम्नलिखित योग वडा लाभप्रद पाया गया है—

खञ्जनकारि रस—शुद्ध कुचले का कपडछन चूर्ण, मल्ल सिन्दूर, रौप्य

---

१. अर्दित नावन मूर्ध्नि तैल तर्पणमेव च ।
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिता ।
स्वेदनं स्नेहसंयुक्तम् ॥ (च. चि. २८)

भस्म समभाग में ले, पहले मल्ल सिन्दूर का खरल में वारीक पीस ले, पीछे उसमें अन्य द्रव मिलाकर, अर्जुन वृक्ष की छाल की ७ भावनायें देकर १ रत्ती की गोली बना ले। मात्रा १-२ गोली दिन में दो बार दूध या दशमूल कषाय के साथ। अर्दित, खंजवात, पङ्गुत्व तथा पुराने पक्षाघात में इससे अच्छा लाभ होता है। (सि. यो. स)

मकरमुष्टि योग—मकरध्वज, स्वर्ण सिन्दूर या रस सिन्दूर मे से किसी एक का १ रत्ती, कान्त लौह भस्म १ रत्ती तथा शुद्ध कुपीलु १ रत्ती मिलाकर एक या दो मात्रा कर के। मलाई, मक्खन या घृत और चीनी से देने भी अच्छा लाभ पहुँचता है।

आक्षेपक - अपतानक-अन्तरायाम-बहिरायाम-दण्डापतानक-हनु-ग्रह-हनुस्तंभ—वातरोगाध्याय में पठित ये रोग बडे भयंकर एवं घातक होते है। आधुनिक ग्रंथो मे पठित धनुर्वात (Tetanus) की विविध अवस्थाओ में पाये जाते है। धनुर्वात का रोग यदि गर्भपात के अनन्तर हुआ हो या अति मात्रा में रोगी मे रक्तक्षय हो गया हो अथवा अभिघातज (Traumatic origin) का हो तो असाध्य हो जाता है। शेष साध्य होते है। ऐसा प्राचीन ग्रथकारो का अभिमत है। धनुर्वात के रोगी की मुखाकृति वदल जाय अर्थात् वह विवर्ण या विकटास्य युक्त हो जावे, अग शिथिल हो जावे और स्वेद अधिक मात्रा में निकलने लगे तो वह एक दारुण रोग है। दैवकृपा से अच्छा होता है। यदि रोगी की आयु शेष रहे और निम्नलिखित अरिष्ट लक्षण उपस्थित न हो तो उपचार करे--१. नेत्रों से जलस्राव, २ कम्प ३. चारपाई पकड़ लेना ४. तारों (Pupil) का विस्तृत होना। जब तक कि अपतानक के रोगी में ये लक्षण न पैदा हो गये हों उपचार करे।[1]

अरिष्ट लक्षण और उपद्रवो से युक्त रोगी प्रायः असाध्य होते है। अस्तु, उपर्युक्त चिह्नो के मिलने के पूर्व ही शीघ्रता से उपचार प्रारभ करे।

---

१ गर्भपात-निमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः।
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः॥
विवर्णवद्धवदन स्रस्ताङ्गो नष्टचेतन।
प्रस्विद्यंश्च धनुस्तम्भी दशरात्रं न जीवति॥ (यो. र.)
अथापतानकेनार्त्तमस्रुताक्षमवेपनम्।
अखट्वापातिनं चैव त्वरया समुपाचरेत्॥ (भा. प्र.)

उपचार—इन रोगो मे अर्दित सदृश उपचार करना चाहिये । पीने के लिये अष्टमांशावशिष्ट जल (जल को एक मिट्टी के नये वर्त्तन में खौलाकर जब उसका आठवाँ भाग शेष रहे) देना चाहिये । दशमूल का कषाय पिप्पली चूर्ण अथवा अश्वत्थ की छाल का कषाय अधिक मात्रा में पिलाना चाहिये । वात रोगो मे पठित वातघ्न तैलो का अभ्यग या तैल को द्रोणी मे भरकर अवगाहन कराना चाहिये । भैस का दूध मिश्री मिलाकर पर्याप्त मात्रा मे रोगी को देना चाहिये ।

रोगी को स्नेहन, नारायण तैलादि को पिलाकर, मालिश करके करना चाहिये । स्वेदन की प्रचुर व्यवस्था करनी चाहिये । इसके लिये भैस के गोबर के बने गोहरे की अग्नि बना कर उससे धूपन एव स्वेदन करना चाहिये । यदि व्रण रोगी के शरीर पर उपस्थित हो तो व्रण का शोधन-रोपण प्रभृति उपचार करना चाहिये । स्वेदन के लिये अन्य प्रकार के वातनाशक स्वेदनो का जैसे शाल्वण स्वेद का भी उपयोग किया जा सकता है ।

धनुर्वात के रोगी मे प्रथम लक्षण हनुस्तभ पैदा हो जाता है, जिसके कारण मुखसे औषधि का सेवन भी कठिन होता है । प्रयत्नपूर्वक वृहत् वातचिन्तामणि रस अथवा वातकुलान्तक या कस्तूरी भैरव रस का प्रयोग अदरक, तुलसी के रस, घी और मरिच के अनुपान से करना चाहिये । सभी उद्भव के आक्षेपो मे कस्तूरी के योगिको का विशेषकर के वातकुलान्तक रस का उपयोग उत्तम लाभ दिखलाता है । यदि एक, एक गोली की मात्रा से लाभ न दिखाई पडे, तो दो, दो या चार, चार गोली एक साथ दे ।

वस्ति प्रयोग—दशमूल, वला, रास्ना, अश्वगंध प्रभृति वातनाशक द्रव्यो के क्वाथ, वातघ्न तैल, सेंधानमक और मधुमिश्रित योग का गुदा से वस्ति देना लाभप्रद रहता है । अन्य वातनाशक योगो का प्रयोग किया जा सकता है ।[1]

आवृत वात प्रतिषेध—वायु अपने कारणो से स्वतन्त्र या विकृत होकर रोग उत्पन्न करता है और कभी कभी वृद्ध कफ और पित्त आदि से आवृत होकर भी विकारो को उत्पन्न करता है । आचार्य चरक ने कहा है कि "वायु का धातुक्षय के कारण कुपित होना तथा मार्ग के आवरण से कुपित होना पाया जाता है ।" इस आवरण के वहुत से भेद हो सकते है । सब मिलाकर

---

१. वाह्यायामेऽन्तरायामे विधेयाऽर्दितवत् क्रिया । (भा. प्र)

वाह्यायामान्तरायामपार्श्वशूलकटिग्रहान् ॥
खल्लीदण्डापतानौ च स्नेहस्वेदपुटैर्जयेत् ।
अपतानव्रणायामौ स्नेहैर्व्रणचिकित्सितैः ॥

४२ प्रकार के हो सकते हैं। इनमे कुछ महत्त्व के भेदो का उल्लेख किया जा रहा है। वात के पित्त से आवृत होने पर उन उन स्थानो में दाह-उष्णता आदि तथा मूर्च्छा जैसे सार्वदेहिक लक्षण उत्पन्न होते है। कफ से आवृत होने पर शीतता, अरुचि, वैरस्य तथा मलबद्धता आदि लक्षण पैदा होते हैं। अपान वायु के पित्तावृत होने पर गुदा, वस्ति, गर्भाशय, योनि तथा मेढ्र मे विकार पैदा होता है। गर्भाशय या वस्ति से रक्त की प्रवृत्ति पित्तावृत अपान का उदाहरण है। समान वायु भोजन का परिपाक कराता है, किन्तु कफ से आवृत हो जाने पर वह उक्त कार्य नही कर पाता जिससे आम दोष की उत्पत्ति होकर विविध वात रोग पैदा होते है।

इनके आवरणो के उपचार मे सर्वप्रथम आवरण को दूर करना चाहिये फिर आवरण के दूर हो जाने पर विशुद्ध वायु की चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे पित्तावृत मे प्रथम शीत क्रिया करके पश्चात् उष्णोपचार करे। अथवा मिश्रित क्रिया-शीत और उष्ण दोनो क्रियाओ को करे। जीवनीय घृत, धन्वमास (जागल मासरस), क्षीरवस्ति, विरेचन, लघु पचमूल-शृत क्षीर। कफावृत मे जौ, मूंग की दाल, जागल पशु-पक्षी का मांसरस, स्वेद, तीक्ष्ण द्रव्यो का प्रयोग, निरूहण, वमन और विरेचन, पुराण घृत, तिल और सर्षप का उपयोग उत्तम है। शोणितावृत वात में वात-शोणितनाशक उपचार करना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य आवृत वातों की चिकित्सा में प्रथम आवरण दोष जो प्राय वलवान् होता है उसे वमन, विरेचन, वस्ति अथवा शमन क्रिया के द्वारा दूर करके पश्चात् शुद्ध वात रोग की चिकित्सा वातरोगाधिकार में पठित योगो से करनी चाहिये।

आवृत वात चिकित्सा—का प्रकरण अधिक शास्त्रीय है, व्यावहारिक पक्ष उसका अधिक महत्त्व का नही है। अस्तु, संक्षेप में इसका वर्णन किया गया है—वृहत् क्रियाक्रम के लिये चरक चिकित्सा स्थान वातरोगाध्याय देखना उत्तम होगा।

कम्पवात या वेपथुवात प्रतिषेध

कम्पवात या वेपथुवात प्रतिषेध—कम्प के सर्वाङ्गकम्प (सब अंगो का कम्पन) अथवा एकाङ्गकम्प (एक अंग का कांपना) दो प्रकार पाये जाते है। कुछ विचारको के मत से हाथ-पैर या सब अंगो के कम्प को कम्पवात और शिरःकम्प को वेपथु वात कहा जाता है।

इस मे वात रोग की सामान्य चिकित्सा करते हुए तैलो के अभ्यग, गुग्गुलु, चूर्ण तथा रसायन औषधियो के सेवन से लाभ होता है। तीन वर्ष से अधिक पुराना कम्पवात प्राय. असाध्य हो जाता है। कम्पवात में एक विशेष तैल 'विजय भैरव' तैल का वर्णन पाया जाता है—इस तैल को १-२ बूँद की मात्रा से पीना तथा मालिश करना कम्पवात में लाभप्रद होता है। कम्पवात अनेक कारणो से पैदा हो सकता है—इस को अंग्रेजी मे Shaking Palsy या Tremors कहते हैं।

विजय-भैरव तैल—द्रव्य तथा निर्माण विधि—पारद, गंधक, मन -शिला, हरताल सब को शुद्ध करके सम भाग मे लेकर चूर्ण बना लेना चाहिये। फिर इसे काजी के साथ पीस कर इस कल्क से क्षौम वस्त्र (रेशमी कपडे) पर लेप चढा देना चाहिये। फिर इस वस्त्र को मोड कर एक वर्ति जैसे बना लेना चाहिये। फिर उसको घृत से लिप्त करके ऊपरी सिरे पर दियासलाई से जला देना चाहिये। उस के जलने पर तैल टपकने लगता है-उसके नीचे एक पात्र रख कर स्रवित होने वाले तैल का सग्रह कर लेना चाहिये। इस विधि से स्रुत तैल का थोडी मात्रा में लेकर उसको किसी अन्य तैल मे मिला कर मालिश करनी चाहिये। मुख से सेवन के लिये भी १-२ बूद दूध में डाल कर पिलाना चाहिये। कम्पवात रोग मे उत्तम लाभ दिखलाता है। यह तैल अन्य वात रोगो में भी लाभ दिखलाता है—विशेषत. कम्पवात मे फलप्रद होता है।[1]

---

१. सर्वाङ्गकम्प शिरसो वायुर्वेपथुसज्ञक: ।
नाशयेत् स्रुततैलं तद्वातरोगानशेषत. ।
बाहुकम्पं शिर'कम्प जघाकम्प ततः परम् ॥
एकाङ्गं च तथा घात हन्ति लेपान्न संशय. ।
रोगशान्त्यै सदा नस्यं तैल विजयभैरवम् ॥ (यो र.)

छब्बीसवाँ अध्याय

वातरक्त प्रतिषेध

प्रावेशिक—हाथी, ऊँट या घोड़े की अधिक सवारी (आधुनिक युग की साइकिल प्रभृति सवारियाँ जिसमें पैर को नीचे लटकाये रहना पड़ता हो या खड़ा रहने का व्यवसाय भी कारण रूप में ग्रहण किया जा सकता है) अधिक करने वाले व्यक्तियों में तथा विदाही अन्न का अधिक सेवन करने वाले व्यक्तियों में (विदाही अन्न, लवण, कटु, अम्ल, क्षार, स्निग्ध, उष्ण भोजन, अधिक मात्रा में रसेदार या सूखा अन्न, जल के जीवों के मांस, आनूपदेश के मांस, तिल, मूली, कुलथी, उड़द, शाक, इक्षुरस, गुड़, दधि, कांजी, शुक्त, सुरा, आसव, अध्यशन, विरोधी अन्नपान, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण प्रभृति अभिष्यंदी आहार-विहार) रक्त में विदाह पैदा होता है और वह पैरों में संचित होने लगता है फिर अपने कारणों से वायु कुपित होकर इस दूषित रक्त से मिलकर वातरक्त नामक रोग पैदा करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस रोग में वात की प्रधानता होती है साथ ही साथ रक्त भी दूषित रहता है। अस्तु, वातरक्त कहलाता है। इसके उपचार में वात की चिकित्सा के साथ ही साथ रक्तदुष्टि का भी उपचार करना अपेक्षित रहता है।

यह रोग अधिकतर सुकुमार प्रकृति के धनी व्यक्तियों में पाया जाता है। अस्तु, इसे आढ्यवात (धनी रोगियों का वात रोग) भी कहते हैं। इस रोग में अधिकतर छोटी सधियाँ प्रभावित होती हैं। उनमें शोथ और शूल होता है। अस्तु, खुड़ (छोटी संधि) वात भी कहा जाता है। इस रोग में शोणित के द्वारा आवृत पाई जाती है। अस्तु, वातबलास की भी संज्ञा दी गई है। इसमें शरीर की सभी सधियाँ विशेषत हाथ-पैर की छोटी संधियाँ शोथ तथा वेदना से युक्त हो जाती हैं।

शास्त्र में दो रोगों का वर्णन रक्तवात और वातरक्त नाम से पाया जाता है। दोनों में ही रक्तावरण पाया जाता है। रक्तवात में रक्त शुद्ध रहता है केवल वात मात्र की दुष्टि पाई जाती है, परन्तु वातरक्त नामक रोग में वात तथा रक्त दोनों की दुष्टि प्रारम्भ से ही पाई जाती है।

रक्त की दुष्टि होने से वातरक्त में कुष्ठ रोग के लक्षणों की समानता पाई जाती है—जैसे त्वचा की विवर्णता, स्वेद का अधिक होना, चकत्तों (मण्डलों) की उत्पत्ति, चकत्तों के स्थान पर स्वेदाभाव, चकत्तों में स्पर्श का ज्ञान न होना (Anaesthesia) या अति रुक् (Hyperesthesia), परन्तु वातरक्त रोग की अपनी विशेषता भी पाई जाती है—जैसे पादमूल की संधियों में शोथ, स्फुरण, शूल आदि। पिडिकोत्पत्ति (तरुणास्थि की वाताश्म Trophi), रोग का बार-बार आक्रमण होना, संधियों में विकृति का बार-बार होना और ठीक हो जाना। बार-बार आक्रमण होने से संधियों में स्थायी विकार भी पैदा हो जाता है। इस प्रकार रोग का पैरों के मूल से आरंभ होकर अथवा क्वचित् हाथों के मूल से आरंभ होकर चूहे के विष के समान (दूषीविष सदृश) धीरे धीरे शरीर के अन्य अंगों में भी पहुंचता है।

चरक में उत्तान (Superficial) तथा गम्भीर (Deep) भेद से दो प्रकार वातरक्त के बतलाये गये हैं। त्वचा और मांसगत उत्तान तथा संधि, अस्थि और मज्जाश्रित गंभीर होता है।[1]

इस रोग की बहुत कुछ समता आधुनिक युग के गाउट (Gout) रोग से पाई जाती है। द्विदोषज तथा एक साल से अधिक पुराना कृच्छ्र साध्य हो जाता है, परन्तु त्रिदोषज, उपद्रवयुक्त तथा अंगूठे से आरम्भ कर के जानु तक पहुँच गया हो, त्वचा विवर्ण, विदीर्ण और स्रावयुक्त हो रही हो तो असाध्य हो जाता है।[2]

क्रियाक्रम—वातरक्त उत्तान तथा गम्भीर भेद से दो प्रकार का होता है। त्वचा एवं मांस में आश्रित हो तो उत्तान और आभ्यंतर अवयवों में आश्रित हो तो गम्भीर कहलाता है। अधिक पुराना होने पर यह रोग दुर्जय हो जाता है।

---

१. हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं सविदाहोऽशनस्य। कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु॥ तत्सपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्॥ प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम्। स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम्॥ पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति॥ (सु) उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते। त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥ (च)

२ साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्। एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः॥ आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतञ्च यत्। उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः॥ (सु.)

लेप, अभ्यंग, परिषेक तथा अवगाहन प्रभृति उपचारो के द्वारा उत्तान मे तथा विरेचन, आस्थापन एवं स्नेहन प्रभृति उपचारो के द्वारा गम्भीर प्रकार में चिकित्सा करनी चाहिये।

दोषो के अनुबन्ध का विचार करते हुए वाताधिक्य में स्नेहन, रक्ताधिक्य में रक्तमोक्षण, पित्ताधिक्य में रेचन, कफ की अधिकता मे वमन कराके आगे वक्ष्यमाण औषधियो का प्रयोग कराना चाहिये। यदि विकार मे दो दोषो का संसर्ग या त्रिदोषो का सन्निपात पाया जावे तो मिश्रित उपचार की व्यवस्था करनी चाहिये।

वायु की रक्षा करते हुए, यथादोष-यथाबल सभी प्रकार के वातरक्त के दूषित रक्त के निर्हरण की व्यवस्था करनी चाहिये। प्रथम रोगी का स्नेहन करने के पश्चात् रक्त-विस्रावण करना चाहिये। रक्त के निर्हरण के लिये शृंग, जलौका, अलाबू अथवा शिरावेध का यथास्थान यथावश्यक उपयोग करना चाहिये।

शतधौत घृत का अभ्यंग, भेंड के दूध का लेप तथा रूक्ष एवं मृदु औषधियो के योग से बने वस्ति का उपयोग सर्वत्र किया जा सकता है। वस्ति के समान कोई भी दूसरा उपचार वातरक्त में लाभप्रद नही होता है। अस्तु, वस्ति कर्म का सर्वत्र प्रयोग करना चाहिये।[1]

वातरक्त में पथ्य—चावल, गेहूँ, जौ, अरहर, चना, मूंग, मसूर की दाल घृत मिलाकर, बकरी, भेंड, भैस या गाय का दूध, सूरण, गुडुची, पोई, मकोय, चौपतिया, वेत्राग्र, बथुवा, करेला, पटोल, चौलाई, पुराना पेठा, प्रसारणी प्रभृति शाक, लावा, तित्तिर, मुर्गा, मोर, तोता, कबूतर आदि पक्षियो के मास, आँवला, मुनक्का, चीनी, मक्खन, घी प्रभृति तिक्त-मधुर पदार्थ पथ्य होते हैं। श्वेत चंदन,

---

१. वातरक्तं द्विधा ज्ञेयं गम्भीरोत्तानभेदतः। त्वङ्मासाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥ कालातिक्रान्तमेतत्तु कष्टं भवति दुर्जरम्। विरेकास्थापनस्नेहैर्गम्भीरं तदुपाचरेत्॥ उत्तानं लेपनाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनैः। वाताधिकं वातरक्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत्॥ रक्ताढ्यं रक्तमोक्षाद्यैः पित्ताढ्य रेचनादिभि। कफाढ्यं वमनाद्यैश्च प्रोक्तैरत्रौषधैर्भिषक्॥ संसर्गे सन्निपाते च क्रियां मिश्रां समाचरेत्। वातरक्ते द्वित्रिलिङ्गे द्वित्रिहेतुसमुत्थिते॥ वातशोणितिनो रक्तं स्निग्धस्य बहुशो हरेत्। अल्पाल्पं रक्षता वायुं यथादोषं यथाबलम्॥ सर्वथासृक्स्रुतिः सूचीजलौकाशृङ्गयलाबुभि.। शतधौतघृताभ्यङ्गो मेषीदुग्धावसेचनम्॥ रूक्षैर्वा मृदुभि शस्तमसकृद्वस्तिकर्म च। नहि वस्तिसमं किंचिद् वातरक्ते चिकित्सितम्॥

शीशम, अगुरु, देवदारु एवं सरल वृक्ष से निकले तैलो का मर्दन भी पथ्य है।[1] एरण्ड तैल का भी उपयोग उत्तम रहता है।

अपथ्य-आहार-विहार—दिन में सोना, अग्नि का तापना, व्यायाम, कुश्ती आदि का लडना, धूप में रहना, स्त्रीप्रसंग, उडद, कुलत्थ, सेम, मटर और क्षार तथा लवण पदार्थों का सेवन। जलचर तथा आनूपदेश मे पैदा होने वाले प्राणियो के मास, परस्पर मे विरुद्ध अन्न, दही, ईख, मूली, मद्य, तिलपिण्याक, कांजी प्रभृति अम्ल पदार्थ, कटु, उष्ण, गुरु एवं अभिष्यदी पदार्थ, ताम्बूल, लवण तथा सत्तू का सेवन वातरक्त मे अपथ्य होता है।[2]

भेषज

१. हरीतकी—एक या दो हरीतकी को लेकर चूर्ण बना कर गुड मे मिलाकर सेवन करे और उसके पश्चात् गुडूची के क्वाथ का अनुपान करे तो जानुपर्यन्त स्फुटित हुआ वातरक्त शान्त होता है।

२ गुडूची–गुडूचो स्वरस, कल्क, चूर्ण या क्वाथ को अधिक काल तक सेवन करने से वातरक्त शान्त होता है। ३. एरण्ड तैल ४. आरग्वध-अमलताश के फल का गूदा, गिलोय एवं अडूसे का काढ़ा बनाकर उसमे एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर सेवन करने से वातरक्त मे लाभ होता है। ५. अश्वत्थ (पीपल) की छाल का क्वाथ बना कर उसमे मधु मिलाकर पीने से त्रिदोषज भयङ्कर भी वातरक्त रोग नष्ट होता है।[3] ६. त्रिवृत, विदारी एवं गोक्षुरु का सम प्रमाण मे बनाया कषाय पीने से वातरक्त नष्ट होता है। ७ शुद्ध शिलाजतु–मात्रा १ माशा प्रात.–सायं गुडूची से सेवन। ८. गोरखमुण्डी–गोरखमुण्डी का महीन चूर्ण ६ माशा, घी १ तोला, मधु १॥ तोला मिलाकर

---

१. आढक्यश्चणका मुद्गा मसूरा: समकुष्ठका.। यूषार्थे बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥ पुराणा यवगोधूमनीवारा. शालिषष्टिका:। भोजनार्थे हिता गव्य माहिषाजपयो हितम् ॥

२. दिवास्वप्नाग्निसताप व्यायामं मैथुनन्तथा।
कटूष्णगुर्वभिष्यन्दिलवणाम्लानि वर्जयेत् ॥

३. हरीनकी प्राश्य समं गुडेन एकोऽथवा द्वे च ततो गुडूच्या.। क्वाथोऽनुपीत: शमयत्यवश्यं प्रभिन्नमाजानुजवातरक्तम् ॥ शम्पाकामृतवासानामेरण्डस्नेहसंयुतम्। पीत्वा क्वाथमसृग्वातं क्रमात्सर्वांगजं जयेत् ॥ गुडूच्या स्वरसं चूर्णं कल्कं च क्वाथमेव वा। प्रभूतकालमासेव्य मुच्यते वातशोणितम् ॥ बोधिवृक्षकषायं तु पाययेन्मधुना सह। वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ॥ (भै. र)

सेवन करके ऊपर से गुडूची का काढा पीना। ९ पुराना गुड १ तोला गोघृत १ तोला मिलाकर सेवन करना। ये सभी भेपज सामान्यतया वातरक्त के शामक होते है।

वाह्य प्रयोग के भेपज—१. तिल को भून कर गो का दूध के साथ पीस कर लेप करना। २ गेहूँ का आटा घी और वकरी के दूध का लेप। ३. वकरी के दूध के साथ एरण्ड वीज की मज्जा निकाल कर पीस कर लेप करना। ४ केवल भेंड के दूध या घी का लेप अथवा ५. शतधौत घृत (सौ पानी धोये गाय के घी) का लेप करना। ६ वकरी के दूध एवं सौफ का लेप करना। ७ घी और सर्जरस (सफेद राल) का लेप। ८ गृहधूमादि लेप—रसोई घर का धुंवा, वच, कूठ, सौंफ, हल्दी, दारुहल्दी का वकरी के दूध में पीस कर लेप करना वेदनाशामक होता है। ९ वलादि प्रलेप—वला की ताजी जड, रेंडी के छिल्के रहित वीज, जीरा सफेद, गुडूची और सौंफ इनको वकरी के दूध मे पीस कर वातरक्त के कारण स्फुटित हुए स्थान पर लेप करने से वेदना और जलन शान्ति होती है।

गुडूची तैल—मूर्च्छित तिल तैल १२८ तोले, गुडूची का क्वाथ ५१२ तोले, गुडूची का पिसा हुआ कल्क ३२ तोले, गोदुग्ध ६४ तोले। इन द्रव्यो को कलईदार कडाही में लेकर अग्नि पर चढा कर मंद आँच से पका कर सिद्ध कर ले। इस तैल का वाह्य प्रयोग मालिश के लिये तथा आभ्यंतर प्रयोग दूध में १–२ तोला मिलाकर पीने के लिये भी किया जा सकता है।

गुडूची तैल नाम से कई और योग पाये जाते हैं। बृहत् गुडूची तैल, महारुद्र गुडूची तैल आदि सभी वातरक्त और कुष्ठ रोग में लाभप्रद पाये जाते हैं।

पिण्ड तैल—मूर्च्छित तिल तैल १ सेर, कल्कार्थ–मोम, मजीठ, राल तथा शारिवा प्रत्येक ५, ५ तोले। तैल से चतुर्गुण अर्थात् ५ सेर जल डालकर यथा-विधि मंद आँच पर पकाले। इस तैल के अभ्यंग से वातरक्तजन्य पीड़ा शान्त होती है।

इस अधिकार में महा पिण्ड तैल नाम से एक वृहद् योग का भी पाठ मिलता है। लाभप्रद रहता है।

सिरावेध—वातरक्त, रक्त-वात, कुष्ठ प्रभृति रक्तविकारो मे विकृत रक्त के निर्हरण से उत्तम लाभ देखा जाता है। इसके लिए पैर, वाहु अथवा ललाट की किसी वडी उपरितन शिरा से यथाविधि रक्त-विस्रावण का विधान ग्रन्थो मे पाया जाता है। यदि रोगी वलवान् हो तो रक्तमोचण विधि से २० से ३० तोले तक उसके शरीर से निकाला जा सकता है—इससे अधिक रक्त

निकालने पर उसको दारुण वात रोग अथवा मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है।[1]

अंतः प्रयोज्य योग—

लघुमंजिष्ठादि कषाय—मञ्जिष्ठा (मजीठ), हर्रे, वहेरा, आँवला, कुटकी, वच, दारुहल्दी, हल्दी और निम्ब को सम प्रमाण मे लेकर जौकुट करके २ तोले लेकर, ३२ तोले जल मे खौलाकर ८ तोले शेप रहने पर छान कर ठंडा कर मधु मिला कर पिलाना। कुष्ठ तथा वातरक्त मे उत्तम लाभप्रद योग है। बृहन्मजिष्ठादि कषाय का योग वातरोगाध्याय मे आ चुका है। यह लघु से अधिक लाभप्रद होता है।

निम्बादि चूर्ण—नीम की छाल, गिलोय, आँवला, हरड और वाकुची प्रत्येक ४ तोले, सोठ, वायविडङ्ग, चक्रमर्द के वीज, पिप्पली, अजवायन, वच, जीरा, कुटकी, खैर की छाल, सेंधा नमक, यवक्षार, हल्दी, दारुहल्दी, मोथा, देवदारु और कुष्ठ प्रत्येक १–१ तोला। सब को एकत्र कर महीन पीस कर कपडे से छान कर शीशी मे भर ले। मात्रा २ माशे। गुडूची क्वाथ के अनुपान से। वातरक्त, कुष्ठ तथा विविध प्रकार के रक्त दोप मे परम हितकर होता है। श्वित्र कुष्ठ मे विशेष लाभप्रद होता है।

कैशोर गुग्गुलु—रक्त वर्ण का गुग्गुलु १ प्रस्थ लेकर निर्मल वस्त्र की एक पोट्टली मे वाँध ले। हरड, वहेरा, आँवला प्रत्येक एक-एक प्रस्थ, गुडूची १२८ तोले, जल १९ सेर १६ तोले भर लेकर एक वडे पात्र मे भर कर उसमे गुग्गुलु की पोट्टली लटका दे। वर्त्तन को अग्नि पर चढा कर पकावे। आधा जल शेष रहने

---

१ अशुद्धौ वलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम्।
अतिस्रुतौ हि मृत्यु. स्याद्दारुणा वातजामया.॥ (वा शि व्य)

यहाँ पर प्रस्थ १३॥ तोले का रहता है, इस प्रकार कुल रक्त निकालने की मात्रा ५४ तोले ठहरती है। अर्थात् आवश्यकता पडने पर वलवान् एव जवान व्यक्तियो मे ५४ तोले तक रक्त निकाला जा सकता है। प्रत्येक रोगी मे या प्रत्येक कर्म मे उतना रक्त निकालने की आवश्यकता नही पडती है। किसी रोगी मे २ तोले से कही पर ४ तोले से अन्यत्र ८ तोले से काम चल जाता है। रक्त के निर्हरण की मात्रा रोगी के वलावल के अनुसार निर्धारित की जाती है। अस्तु, एक सामान्य मात्रा २० से ३० तोले की वातरक्त या कुष्ठ मे बताई गई है। आधुनिक युग में कई रोगो मे शिरावेध के द्वारा चिकित्सा की आवश्यकता पडती है, चिरकालीन हृद्रोग में २० से ३० औंस तक रक्त निकालने का विधान है।

पर वर्त्तन को आग से नीचे उतार कर ठडा करके छान ले। अब फिर एक लौह की कडाही मे गुग्गुलु और यह क्वाथ डाल कर पकावे। पकाते-पकाते जब वह गाढा हो जावे और दर्वी से चिपकने लगे तो कडाही को नीचे उतार कर ठंडा होने पर उसमे आँवला, हर्रे, वहेरा, सोठ, काली मिर्च, पिप्पली और वायविडङ्ग प्रत्येक दो दो तोला, त्रिवृत् और दन्तीमूल का चूर्ण १-१ तोला, गुर्च का चूर्ण २ तोला, गोघृत ३२ तोला मिलाकर एक दिल करके एक-एक माशे की गोलियाँ वना ले। सुखा कर शीशी मे भर रख दे। मात्रा प्रतिदिन २-२ गोली दिन में चार वार। अनुपान जल।

गोक्षुरादि गुग्गुलु—सोठ, छोटी पीपल, काली मिर्च, हर्रे का दल, वहेडे का दल, आँवला और नागरमोथा प्रत्येक ४ तोला। छोटे गोखरू के वीज का चूर्ण २८ तोले और अच्छा गुग्गुलु ५६ तोले ले। प्रथम गुग्गुलु को इमामदस्ते मे कूटे जव वह नर्म हो जावे तो उसमे अन्य चूर्णो को मिलावे। जब गोली वनने लायक कूटते-कूटते हो जावे तो १॥ माशे की मात्रा की गोलियाँ वना ले। मात्रा १-२ गोली। सुवह-शाम। गोखरू के काढे, दूध, जल या किसी कपाय से सेवन करे।

सर्वेश्वर रस—शुद्ध पारद १० तोला, शुद्ध गंधक, शुद्ध नील तुत्थ १०-१० तोले, पलाश वीज चूर्ण ५ तोला, छोटी कंटकारी की जड, कनेर की जड, धतूरे की जड या वीज, अकरकरा, नीलझिण्टी, जटामासी, दालचीनी, शुद्ध कुचिला, भिलावे का शुद्ध चूर्ण १०-१० तोले। प्रथम पारद और गधक की कज्जली वना कर शेप द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलाकर एकत्र महीन पीसकर शीशी में भर ले। मात्रा २ रत्ती, रोगी को सहन हो सके तो तीन रत्ती तक दे। अनुपान गोघृत। इससे वातरक्त, कुष्ठ, त्वचा की खरता, अग्निमाद्य आदि रोग नष्ट होते है। (र सार. सं)

उपसंहार—कुष्ठ एवं वातरक्त में चिकित्सा की वहुत समानता है। कुष्ठाधिकार के वहुत से योग वातरक्त मे भी लाभप्रद होते है। रसमाणिक्य १ रत्ती और गुडूची सत्त्व १ माशा मिलाकर एक मात्रा। ऐसी दो मात्रा प्रतिदिन घी और चीनी या मक्खन के साथ देना।

मारिवाद्यासव भोजन के वाद २ तोले समान जल मिलाकर देना तथा कैशोर गुग्गुलु २ माशे की मात्रा में रात में सोते वक्त जल से या दूध से देना उत्तम लाभप्रद रहता है। अमल्तास, निशोथ और गिलोय का काढा एरण्ड तैल १ तो मिलाकर देना भी उत्तम रहता है। रोगी को मालिश के लिये पिण्ड तैल, गुडूच्यादि अथवा मरिच्यादि तैल का अभ्यग कराना भी उत्तम है।

★

सत्ताईसवाँ अध्याय

ऊरुस्तंभ-प्रतिषेध

प्रावेशिक—ऊरुस्तभ एक विरलता से पाया जाने वाला रोग है। संभवतः प्राचीन युग में बहुत मिलता रहा हो, आधुनिक युग मे तो बहुत कम मिलता है। स्व० कविराज गणनाथ सेनजी सरस्वती ने लिखा है—"पुराणा विलय यान्ति नवीना· प्रादुरासते।" अर्थात् कुछ रोग पुराने जमाने मे मिलते थे आज वे दृष्टिगोचर नही होते, इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे नवीन रोग भी होने लगे है, जो पुराने जमाने मे नही मिलते थे।

शीत, उष्ण, द्रव, शुष्क, गुरु तथा स्निग्ध द्रव्यो के सेवन करने से, अजीर्ण मे ही भोजन (अध्यशन) करने से, सम्पन्न व्यक्तियो में यह रोग होता है। इसमे अधिक मात्रा मे आम-मेद-कफ से युक्त वायु पित्तको अभिभूत करके ऊरु (Thigh) मे आकर दोनो सक्थियो को एव उनकी अस्थियो को स्तिमित या श्लेष्मायुक्त कर देते है जिससे वे जकड जाते है।

इससे दोनो ऊरु (जाँघो) में जकडाहट, शीतता तथा अचेतनता आ जाती है। रोगी को अपने ऊरु पराये के समान भारी प्रतीत होते हैं वह उनको स्वतन्त्रतया हिलाने मे असमर्थ हो जाता है। टाँगो को उठा नही सकता तथा उनमें सुन्नता आ जाती है। उक्त लक्षणो से युक्त रोग को ऊरुस्तभ कहते हैं। कुछ लोग इसे आढ्यवात भी कहते है। यह एक ही प्रकार का होता है "एक एव ऊरुस्तभ"।[1]

क्रियाक्रम—स्नेहन, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म तथा रक्त-विस्रावण कोई भी शोधन कर्म ऊरुस्तभ मे नही करना चाहिये, क्योकि ये सभी कर्म रोग के विरोधी पडते है। अस्तु, स्वेदन, लघन, प्रभृति रूक्षण क्रिया जो आम और कफ को नष्ट करनेवाली हो, करनी चाहिये। यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि जो औषधि कफ एव आम का नाश करती हो, किन्तु वात का प्रकोप न करती हो, उसीका

---

१. सक्थ्यस्थीनि प्रपूर्यन्त श्लेष्मणा स्तिमितेन च। तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ॥ परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ। ध्यानाङ्गमर्द-स्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः॥ सयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभि। तमूरु-स्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे॥ (वा नि १५)

ऊरुस्तंभ मे प्रयोग करना चाहिये। ऊरुस्तंभ मे प्रारंभ मे कफनाशक आहार, विहार एवं भेपज देकर पश्चात् वातविनाशक सम्पूर्ण क्रिया करनी चाहिये।[१]

ऊरुस्तभ रोग अधिकतर मेदस्वी तथा सुकुमार व्यक्तियो में होता है—कफ को क्षीण-करने के लिए रोगी को कर सकने वाले व्यायामो को करने के लिए कहना चाहिये। प्रात काल में उठकर उसको विपम स्थान (ऊँची-नीची जमीन पर), वालू, धूल और कंकडीले स्थानो पर टहलने का व्यायाम कराना उत्तम रहता है। जल-संतरण—जिस नदी के अंदर नक्रादि हिंसक जल-जन्तु न हो, धार तेज न हो, स्वच्छ जल वहता हो, उसके प्रवाह के विरुद्ध दिशा में ऊरुस्तभी को तैराना चाहिये। यदि नदी न हो तो किसी नहर या जलाशय में रोगी को तैराना चाहिये। वार-वार तैरने से पानी में पैरो को चलाने से रोगी का कफ नष्ट होने से ऊरुस्तंभ भी दूर होता है।[२] यदि रोगी का अधिक रूक्षण हो जावे तो वायु के प्रकोप से निद्रानाश, वेदना की अधिकता प्रभृति उपद्रव होने लगते है—इस परिस्थिति मे रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वायु को शान्त करना चाहिये।

ऊरुस्तंभ मे प्रलेप—लहसुन, जीरा, सहिजन की छाल, कालीमिर्च, सरसों, जयन्ती पत्र, काले धतूर की जड, अफीम के फल के छिल्के, करंज के फल, अश्वगंध मूल, नीमकी छाल, अर्कमूल। इन द्रव्यो को सम भाग में लेकर गोमूत्र में पीस कर गर्म करके लेप करना।

तैल-अष्टकट्वर तैल—पिप्पलीमूल और सोठ दोनो का चार-चार तोला लेकर पानी में पीस कर कल्क वना ले। फिर सर्पप तैल (सरसो का तेल) ६४ तोले, दही ६४ तोले तथा माठीवाली दही (ससार दधि कट्वर कहलाती है) उस आठ प्रस्थ अर्थात् ६ सेर ३२ तोले, इसको मथकर तक्र वनाकर डाले। सव को कलईदार कडाही मे लेकर अग्नि पर चढाकर मंद आँच पर यथाविधि सिद्ध कर ले। इसके तेल की मालिश से गृध्रसी एवं ऊरुस्तभ में लाभ होता है।

---

१ स्नेहासृक्स्रावमन वस्तिकर्म च रेचनम्। वर्जयेदाढ्यवातेपु तैश्च तस्य विरोधत ॥ तस्मादत्र सदा कार्यं स्वेदलंघनरूक्षणम्। आममेव कफाधिक्याद् मारुतं परिरक्षता ॥ यत्स्यात् कफप्रशमनं न च मारुतकोपनम्। तत्सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेपजम् ॥ सर्वोपधक्रम कार्यस्तत्रादौ कफनाशन। पश्चाद्वातविनाशाय कृत्स्ना कार्या क्रिया यथा ॥ (यो. र.)

२ प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदी शीतजला शिवाम्।
नरश्च विमल शीतं स्थिरतोय पुन पुन. ॥

भेपज—१. शिलाजीत (शुद्ध) २ गुग्गुलु (शुद्ध) अथवा ३. पिप्पली चूर्ण मे से किसी एक का प्रयोग १ से २ माशा की मात्रा में दिन से तीन बार। अनुपान दशमूल क्वाथ तथा गोमूत्र।[1] ४. त्रिफला चूर्ण और कुटकी चूर्ण मिलाकर ६ माशे की मात्रा मे मधु से लेना।

५ षड्धरण या पट्चरण योग—(चित्रक, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, अतीस, हर्रे) इन द्रव्यो को सम प्रमाण मे लेकर बनाया योग षड्धरण योग कहलाता है। इसका वर्णन वातरोगाध्याय में भी हो चुका है। इसका उपयोग महावात रोगो मे लाभप्रद बतलाया गया है। ऊरुस्तम्भ मे भी हितकर होता है। ६ **गण्डीरारिष्ट**[2] ७ **पुनर्नवादि कषाय**—पुनर्नवा मूल, सोठ, देवदारु, हरीतकी, शुद्ध भल्लतिक, गुडूची। इन द्रव्यो का समभाग में लेकर तथा दशमूल की सभी ओपधियो को बराबर मात्रा मे लेकर कपाय बना कर पीने से ऊरुस्तम्भ मे लाभ होता है।

गुंजाभद्र रस—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गधक ४ तोला, शुद्ध गुंजा बीज २ तोला, जयन्ती, नीम तथा शुद्ध जयपाल के बीज प्रत्येक ४-४ माशा। प्रथम पारद और गधक की कज्जली बनाकर उसमें शेप द्रव्यो के चूर्ण मिलावे, फिर खरल करके उसमे भाग, जयन्ती, जम्बीरी नीबू का रस और धतूर के रस की एक-एक भावना पृथक्-पृथक् दे। फिर घृत के साथ भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलिया बना ले। कठिन ऊरुस्तभ के रोग मे भी लाभप्रद यह योग होता है। सेवन-विधि प्रतिदिन एक से दो गोली भुनी हीग का चूर्ण २ रत्ती और सेंधा नमक ४ रत्ती के साथ सेवन करे।

पथ्य—आहार-विहार मे इस रोग मे रूक्ष उपक्रम रखना चाहिये। एतदर्थ स्वेदन, जागरण, शक्ति के अनुसार व्यायाम, चक्रमण (टहलना), नदी या तालाब मे तैरना, आदि विहार ठीक पडते है। भोजन मे जौ, लाल चावल, कोदो, सावा, कुलथी, सहिजन की फलिया, करैला, परवल, लहसुन, चौपतिया, बथुवा, बैंगन, नीम के कोमल पत्ते, बेंत के अकुर, छाछ, आसव, अरिष्ट, शहद, कटु एवं तिक्त पदार्थ, कषाय रस प्रधान द्रव्य, क्षारद्रव्य (यवक्षारादि या पत्र शाक, गोमूत्र,) उष्ण जल का पीना या उष्ण जल से स्नान आदि श्लेष्महर द्रव्य पथ्य होते हैं।

---

१ शिलाजतु गुग्गुलु वा पिप्पलीमथ नागरम्।
ऊरुस्तम्भे पिबेन्मूत्रैर्दशमूलीरसेन वा॥

२ ऊरुस्तम्भे प्रशंसन्ति गण्डीरारिष्टमेव वा।

अपथ्य—गुरु-शीत-द्रव-अत्यन्त स्निग्ध, विरुद्ध एव असात्म्य भोजन, स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, रक्तनिर्हरण ये सब ऊरुस्तभ से पीड़ित मनुष्य के लिये अहितकर है।

एक समय अग्निवेश ने अपने गुरु आत्रेय से अपना सशय दूर करने के लिये पूछा कि-भगवन् आपने वतलाया है कि पंचकर्म सभी प्रकार के शरीर मे होने वाली व्याधियो को दूर करने में असमर्थ है तो फिर इस नियम के अपवाद रूप मे दोपज कोई ऐसा भी रोग है, जो साध्य होते हुए भी पचकर्म के उपचारो द्वारा ठीक नही हो सकता है ? गुरु ने संदेह का निराकरण करते हुए उत्तर दिया 'हाँ एक मात्र ऊरुस्तभ एक ऐसा रोग है।" जिसमे न स्नेहन करना चाहिये, न वस्ति और न विरेचन (वमन, रेचन एवं नस्य कर्म) कोई भी कर्म इसमे लाभप्रद नही होता है। प्रत्युत अपथ्य होते है[1]।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

आमवात-प्रतिषेध

प्रावेशिक—आमवात एक वडा कष्टप्रद रोग (Rheumatic and Rheumatoid Arthritis) है। इसमें रोगी के विभिन्न अगो मे विशेपत. संधियो मे पीडा होती है, अरुचि, प्यास, आलस्य, शरीर का भारीपन, ज्वर, भोजन का परिपाक न होना और अगो मे सूजन होना, ये आमवात के लक्षण है।

---

१ अग्निवेशो गुरुं काले सशय परिपृष्टवान्। भगवन् पंचकर्माणि समस्तानि पृथक् तथा ॥ निर्दिष्टान्यामयाना हि सर्वेपामेव भेपजम्। दोपजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्य तानि भिपग्वर ॥ न स्यु. शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सत.। अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम् ॥ तस्य न स्नेहन कार्यं न वस्तिर्न विरेचनम्। सर्वो रूक्षक्रम. कार्यस्तत्रादो कफनाशन ॥ पश्चाद् वातविनाशाय कृत्स्न कार्यः क्रियाक्रम. ॥ (भै. र.)

आमवात प्रवृद्धावस्था मे सब रोगो से अधिक कष्टप्रद एवं कष्टसाध्य हो जाता है। इसमे हाथ, पैर, सिर, गुल्फ (Ankle), त्रिक (Sacrum). जानु तथा ऊरु की संधियो मे पीडायुक्त शोथ पैदा होता है। इस रोग की उत्पत्ति में प्रधान भाग आम दोष का होता है, आम दोष से एक प्रकार का अन्त· विष समझना चाहिये। शरीर से बहुविध त्याज्य पदार्थ मल-मूत्र एव स्वेद के जरिये निकल जाया करता है। वह क्वचित् न निकले तो शरीर के रक्त में आम दोष सचरित होकर बहुत प्रकार के रोग पैदा होते हैं। आमवात भी एक ऐसा ही रोग है। जिसमे आम दोष के साथ वायु का कोप पाया जाता है। अस्तु, इस रोग की चिकित्सा मे आम के पाचन एव निर्हरण के साथ साथ वायु के शमन की चिकित्सा करनी पडती है।

आम वात में आम दोष जिन जिन स्थानो पर पहुचता है, उन-उन स्थानों पर अर्थात् विविध शरीर की वडी वडो सधियो मे वृश्चिकदश के समान वेदना होती है। साथ ही साथ अग्निमदता, शरीर की गुरुता, ज्वर, उत्साह की कमो, पेशाव की अधिकता, निद्रानाश, तृषाधिक्य, हृदय प्रदेश मे पीडा या हृद्रोग तथा विवंध भी रोगी में उत्पन्न होता है।

इनमे एकदोपज साध्य, द्विदोषज कृच्छ्र साध्य तथा त्रिदोषज या सर्वदेहज शोथ असाध्य होता है। यह रोग अधिकतर वाल्यावस्था मे या कम आयु के व्यक्तियो में होता है, वेदना भ्रमणशोल होती है—आज एक सधि प्रभावित है तो दो दिन के वाद दूसरी फिर दो दिनो के वाद तीसरी। पूर्व की प्रभावित सधि मे वेदना कुछ कम हो जातो है फिर नई संधि प्रभावित होती और उसमे वेदना, रक्ताधिक्य शोथ अधिक हो जाता है। इसमे शरीर के सभी वडी सधियाँ एक के वाद दूसरी शोथ और वेदना से युक्त होती चलती है। सधियो मे पूयोत्पत्ति प्राय नही होती है।[1]

क्रियाक्रम—प्रमेह, वात एवं मेदो रोग मे कफ एव आम के पाचन के लिये जो उपचार बतलाये है। उन सबका आमवात रोग में प्रयोग करना चाहिये।[2]

---

१ अगमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्य गौरव ज्वर। अपाक· शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ स कष्ट सर्वरोगाणा यदा प्रकुपितो भवेत्। हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसधिपु ॥ करोति सरुजं शोफो यत्र दोप. प्रपद्यते। स देशो रुजतेत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ मा. नि. ॥

२. प्रमेहवातमेदोघ्नीरामवाते प्रयोजयेत् ॥ (च. चि.)

आमवात मे रोगी तथा रोग के बलाबल के अनुसार लंघन, स्वेदन, तिक्त तथा कटु रस द्रव्यो का उपयोग करना चाहिये। विरेचन, स्नेहपान तथा वस्ति कर्म भी लाभप्रद रहता है। सैन्धवादि तैल से अनुवासन वस्ति या क्षार द्रव्यो की वस्ति (Soap water Enema) देकर कोष्ठशुद्धि करके आम का निर्हरण करना चाहिये। वालू की पोट्टली बनाकर उससे संधियो या शोथ एवं पीडायुक्त स्थानो का स्वेदन करना हितकर होता है। स्नेह-हीन उपनाह भी लाभप्रद रहता है।[1]

पथ्य—आमवात से पीडित मनुष्य यदि पिपासा से युक्त हो तो उसको पीने के लिये पचकोल-शृत जल (पंचकोल चूर्ण २ तोले, जल २५६ तोले खौला कर आधा शेष रहे तो उतार कर) देना चाहिये। आमवात के रोगी मे दूध भी एक उत्तम पथ्य है—इस दूध को भी पचकोल से शृत कर देना उत्तम रहता है। आमवात में वैगन भी एक उत्तम पथ्य है—इसका भर्ता या चोखा बनाकर देना या सौवीर नामक काजी मे उबाले वैगन का उपयोग उत्तम रहता है। वथुवे का शाक, पुनर्नवा का शाक, नीम के पत्तो का शाक, सहिजन, परवल, वरुण एव करैले का शाक ठीक पड़ता है। जौ, कोदो, साँवा, गेहूँ की रोटी या दलिया, कुलथी, चने और मटर की दाल, लवा पक्षी का मास इन रोगियो मे अनुकूल पडता है। आर्द्रक या शुण्ठी का उपयोग, पीने के लिये गर्म किया जल भी पथ्य रहता है। कई रोगियो में उडद के तेल में पकाया वडा भी उत्तम लाभ दिखलाता है, विशेषतः उस अवस्था में जब ज्वर का प्रशमन हो गया हो केवल सविशोथ और शूल शेष रहा हो। लहसुन का सेवन आमवात मे भी उत्तम रहता है।

अपथ्य–दधि, मछली, गुड, कच्चा दूध, उडद की दाल, दूषित जल, पुरवा हवा, असात्म्य एव विरोधी भोजन, वेगो का रोकना, रात्रि-जागरण, गुरु एवं अभिष्यंदी अन्य आहार-विहार आमवात मे प्रतिकूल पडते है, फलत अपथ्य है। अभिष्यदी, गुरु एव पिच्छिल पदार्थ वर्जित है।[2]

---

१. लघन स्वेदन तिक्तदीपनानि कटूनि च। विरेचन स्नेहपान वस्तयश्चाम मारुते॥ रूक्षः स्वेदो विधातव्यो वालुकापोट्टलैस्तथा। उपनाहाश्च कर्त्तव्यास्ते ऽपि स्नेहविवर्जिता.॥ विरेचनं स्नेहपान वस्तयश्चाममारुते। सैन्धवाद्येनानुवास्य क्षारवस्ति प्रशस्यते॥ आमवाताभिभूताय पीडिताय पिपासया। पचकोलेन ससिद्धं पानीयं हितमुच्यते॥

२ अभिष्यन्दिकरा ये च ये चान्ये गुरुपिच्छिलाः। वर्जनीया प्रयत्नेन आमवातार्दितैर्नरैः॥ (भै. र.)

भेषज—एरण्ड तैल–आम वात रोग में एरण्ड तैल एक रामावाण औषधि है। एरण्ड तैल में दो गुण होते हैं–रेचन क्रिया के द्वारा आम दोष का निकालना तथा स्निग्ध होने के कारण वायु का शमन करना। आमवात मे यही दो विकार रहते हैं––उन दोनो ही विकारो का शमन एरण्ड तैल से हो जाता है। अस्तु, आमवात में विशिष्ट औषधि के रूप मे यह व्यवहृत होता है। इसके प्रयोग के दो साधन हैं वडी मात्रा मे (एक छटाक) रेचन के लिये या थोडी-थोडी मात्रा मे १–२ चम्मच का प्रयोग करना। रेचन तो नित्य दिया नही जा सकता है–अस्तु, सप्ताह मे एक दिन या दो दिन, पक्ष मे एक दिन या मास में एक दिन रोगी तथा रोग के वल के अनुसार दिया जा सकता है। छोटी मात्रा मे किसी कषाय (दशमूल कषाय, शुंठी कषाय या रास्नासप्तक कषाय) के साथ मिलाकर मास, दो मास या अधिक लम्बे समय तक भी उपयोग मे लाया जा सकता है। इस प्रयोग-विधि से तेज रेचन नही केवल कोष्ठशुद्धि होती है, आम निकल जाया करता है, और रोगी को अच्छा लाभ प्रतीत होता है। सौंफ के अर्क एक छटाँक मे १ चम्मच मिलाकर भी लम्बे समय तक दिया जा सकता है। गोमूत्र एक छटांक की मात्रा मे उसमे १ चम्मच एरण्ड तैल मिलाकर भी लम्बे समय तक प्रयोग किया जा सकता है। एरण्ड वीज का प्रयोग भी आमवात में उत्तम रहता है, वीज को छिल्के से पृथक् करके उसकी गुद्दी का सेवन कराना अथवा वात रोगाधिकार मे पठित एरण्ड-पाक का प्रयोग भी उत्तम रहता है। एरण्ड का प्रयोग केवल रेचन के विचार से आमवात में नही कराया जाता है, क्योकि उसके लिये तो वहुत से रेचक योग है, प्रत्युत आमवात विशिष्ट लाभप्रद होने से कराया जाता है। भाव-प्रकाश ने एरण्ड तैल का आमवात मे प्राशस्त्य वतलाते हुए लिखा है। शरीररूपी वन में विचरण करने वाले आमवातरूपी मतवाले हाथी को नष्ट करने के लिए एरण्ड तैल रूपी सिंह अकेला पर्याप्त है।[1] एरण्ड के मूल का प्रयोग भी सभी वात रोगो मे विशेषत आमवात मे लाभप्रद रहता है। जैसे—एरण्डमूल, गोखरू, रास्ना, सौंफ, पुनर्नवा इनका विधिवत्

---

१. आमवातगजेन्द्राणा शरीरवनचारिणाम्। निहन्त्यसावेक एव एरडस्नेहकेशरी ॥ कटीतटनिकुञ्जेषु सचरन् वातकुञ्जर। एरण्डतैलसिंहस्य गन्धमाघ्राय गच्छति ॥ रास्नादिक्वाथसयुक्त तैल वातारिसज्ञकम्। प्रपिवन् वातरोगार्त्त सद्य. शूलाद्विमुच्यते ॥ दशमूलकषायेण पिवेद्वा नागराम्भसा। कुक्षिवस्तिकटीशूले तैलमेरण्डसभवम् ॥ एरण्डो गोक्षुर रास्ना शतपुष्पा पुनर्नवा। पान पाचनके शस्तं सामे वाते सुनिश्चितम् ॥ (यो)

स्निग्ध कषाय का सेवन आमवात में लाभप्रद रहता है। एरण्ड-पायस एरण्ड बीज की मज्जा को दूध में पकाकर लेना भी श्रेष्ठ है।

हरीतकी—हरीतकी चूर्ण ३ माशे भर लेकर १–२ तोले भर एरण्ड तैल में मिलाकर उष्ण जल से सेवन करने से, आमवात, गृध्रसी, वृद्धि तथा अर्दित रोग में लाभ होता है।

आरग्वध—अमलताश के पत्रों को कड़ाही में लेकर सरसों के तेल में भूनकर अथवा काजी में स्विन्न करके सेवन करने से आमवात में लाभ होता है।

शुंठी—आमवात में एक उत्तम और विशिष्ट औषधि है—इसका आभ्यंतर प्रयोग २ माशे की मात्रा में काजी के साथ या जल के साथ पीने से अथवा शुण्ठी का चूर्ण बना कर शोथ और शूल युक्त संधियों पर रगड़ने से लाभ करता है। इस प्रकार इस औषधि का बाह्य तथा आभ्यंतर दोनों प्रकार से उपयोग आमवात में उत्तम रहता है। कचूर एवं सोंठ सम मात्रा में लेकर ३ माशे की मात्रा में गन्धपूर्ना के क्वाथ से लेना श्रेष्ठ है।

त्रिवृच्चूर्ण—त्रिवृत् का महीन चूर्ण करके उस को त्रिवृत् के काढे से एक सप्ताह तक भावित करके सुखाकर चूर्ण बना कर शीशी में भर ले। मात्रा ३ माशा। अनुपान जल या कांजी के साथ।

रसोन—लहसुन की चटनी का सेवन या तेल में पकाकर सेवन या मसाले के रूप में दाल-तरकारी में डाल कर लेना उत्तम रहता है। रसोनादि कषाय—लहसुन की गिरी, सोंठ और निर्गुण्डी की जड़। इन्हें सम प्रमाण में लेकर २ तोले को ३२ तोले जल में खौलाकर ८ तोले शेष रहने पर पीने से आमवात में लाभ होता है। रसोन पिंड या महारसोन पिंड का (वात रोग में) सेवन भी लाभप्रद रहता है।

रसोन सुरा—विशुद्ध सुरा (Rectified spirit) ५ सेर, उसमें त्वचारहित लहसुन का कल्क २॥ सेर, पचकोल, जीरा, कूठ प्रत्येक १ तोला चूर्ण। एक सप्ताह तक संधान करके छान ले। मात्रा—२० से ३० बूंद पानी मिलाकर भोजन के बाद।

दशमूल—दशमूल की औषधियों का सममात्रा में ग्रहण कर बनाया कषाय उत्तम रहता है। रास्ना—रास्नापंचक, महारास्नादि कषाय अथवा रास्ना सप्तक या रास्ना द्वादशक कषाय का पीना भी उत्तम रहता है। इन कषायों में १ तोला एरंड तेल मिलाकर सेवन करना अधिक लाभप्रद रहता है। रास्ना सप्तक कषाय—रास्ना, गिलोय, अमलतास का गूदा, देवदारु, गोखरू, एरंडमूल और पुनर्नवा इन्हें समभाग में लेकर २ तोले को ३२ तोले पानी में उबालकर ८ तोले

शेष रहने पर उसमें शुंठी चूर्ण १ माशा मिलाकर सेवन करना जंघा, ऊरु, पार्श्व प्रदेश, त्रिक प्रदेश और पीठ के शूल में लाभप्रद रहता है।[1]

पंचसम चूर्ण—शुंठी, हरीतकी, पिप्पली, निशोथ तथा काला नमक सम-भाग में लेकर बनाया चूर्ण। मात्रा ३ माशे से ६ माशे। अनुपान उष्ण जल। यह चूर्ण-उदर विकार तथा आमवात मे लाभप्रद होता है।

वैश्वानर चूर्ण—सैन्धवलवण, अजवायन २. २ भाग, अजमोदा ३ भाग, सोठ ५ भाग, हरीतकी १२ भाग सब अच्छी तरह महीन कूट-पीसकर कपडछन चूर्ण बनाकर शीशी मे भर ले। मात्रा ३ माशे से ६ माशे। अनुपान-दही का पानी, मट्ठा, काजी, घृत या गर्म जल से।

अलम्बुषाद्य चूर्ण—मुण्डी १ भाग, गोखरू २ भाग, हरड ३ भाग, बहेडा ४ भाग, आँवला ५ भाग, सोठ ६ भाग, गिलोय ७ भाग तथा इन सबके बराबर विधारा की जड या काली निशोथ की जड। सबका महीन कपडछन चूर्ण। मात्रा ३ माशे से ६ माशा। अनुपान उपर्युक्त। यह चूर्ण आमवात तथा वात-रक्त दोनो में लाभप्रद होता है।

आमवातारि गुग्गुलु—एरण्ड तैल, शुद्ध गधक, शुद्ध गुग्गुलु, हरड, बहेरा एवं आँवला। इन सबो को सम प्रमाण मे लेकर। प्रथम चूर्ण बनाकर एरण्ड तैल से भावित करके १ माशे की मात्रा मे गोलियाँ बनाले। १-२ गोली दिन मे तीन बार। गर्म जल या दूध से।

योगराज गुग्गुलु—इसका योग वात रोग मे उद्धृत किया जा चुका है।

सिंहनाद गुग्गुलु—त्रिफला का क्वाथ ३ पल, शुद्ध गधक तथा शुद्ध गुग्गुलु १-१ पल, एरण्ड तैल ८ पल सबको लेकर एक कलईदार कडाही मे अग्निपर चढाकर पाक करे। फिर ठडा होने पर १-२ माशे की गोलियाँ बना ले। यह योग सभी प्रकार के वात रोगो मे विशेषत आमवात मे लाभप्रद रहता है। यह दण्डपाणि नामक आचार्य के द्वारा प्रोक्त, सिंह की गर्जना की भाँति रोग रूपी हाथियो को भगाने वाला है। अस्तु, इसे सिंहनाद गुग्गुलु की सज्ञा दी गई है। (च द)। शिवा गुग्गुलु नामक एक दूसरा योग पाया जाता है उसमे भी घटक लगभग यही है।

शुंठीघृत—सोठ का क्वाथ ८ पल, सोठ का कल्क ½ प्रस्थ, मूर्च्छित गोघृत २ प्रस्थ लेकर कलईदार कडाही मे पाक करे। फिर घृत को छान किसी शीशे के

---

१. रास्नाऽमृतारग्वधदेवदारुत्रिकटकैरण्डपुनर्नवानाम्।
क्वाथं पिबेन्नागरचूर्णमिश्र जघोरुपार्श्वत्रिकपृष्ठशूली ॥ (यो. र.)

बर्त्तन या मर्तबान में भर कर रख ले। मात्रा १-२ तोला। दूध में मिलाकर ले। अग्नि को दीप्त करता है। कटिशूल एवं आमवात में लाभप्रद।

आमवातारि रस—शुद्ध पारद १ भाग, गंधक २ भाग, समभाग मे गृहीत त्रिफला चूर्ण ३ भाग, चित्रक मूल चूर्ण ४ भाग। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाले। पश्चात् शेष चूर्णो को मिलाकर उसमें एरण्ड तैल की भावना देकर खरल कर सुखाकर शीशी में भरले। मात्रा १ माशा। दिन में दो या तीन बार। शुंठी चूर्ण एवं मधु के साथ।

आमवातिक ज्वर—आमवात रोग के प्रारंभ मे ज्वर होता है और यह संतत स्वरूप का तीन या चार सप्ताह तक चलता रहता है। इस अवस्था में रोगी को पञ्चकोल शृत क्षीर, पञ्चकोल शृत जल, मूंग की दाल और शाक पर रखना चाहिये। यदि अग्निबल अच्छा हो और रोगी को भूख लगे तो जौ की रोटी भी दी जा सकती है। वार्ली वाटर भी उत्तम रहता है। औषधियो मे ज्वराधिकार का हिंगुलेश्वर रस मात्रा २ र०, उपर्युक्त आमवातारि रस मात्रा १ माशा, दिन मे दो या तीन बार देना चाहिये। अनुपान रूप में निर्गुण्डी स्वरस, शेफाली स्वरस, आर्द्रक स्वरस मे से कोई एक और मधु मिलाकर देना चाहिये। रास्ना सप्तक कषाय का भी प्रयोग उत्तम रहता है। साथ में संधियो के शोथ तथा वेदना के शमन के लिए वालुका स्वेद, उपनाह, विषगर्भ तैल का अभ्यंग अथवा निम्नलिखित किसी लेप का प्रयोग वाह्योपचार के रूप मे करते रहना चाहिये।

ज्वर के समाप्त हो जाने पर पश्चात् गुग्गुलु, चूर्ण, कषाय, प्रभृति अन्य योगो का प्रयोग लम्बे समय तक करते रहना चाहिये।

विडङ्गादि लौह—लौह भस्म ५ पल, अभ्रक भस्म २॥ पल, शुद्ध पारद २॥ पल, शुद्धगंधक २॥ पल। त्रिफला चूर्ण १ से १० तोले लेकर सोलहगुने जल में क्वथित कर अष्टमागावशिष्ट अर्थात् सवा दो सेर शेष रहने पर उतार ले। फिर इस क्वाथ को एक लौह की कड़ाही में अग्नि पर चढाकर उसमें लौह, अभ्रक भस्म और कज्जली को डाल कर पाक करे। आसन्न पाकावस्था में उसमें गोघृत ३० तोले, शतावर का स्वरस ३० तोले और गाय का दूध ६० तोले छोड़कर पाक करता रहे। पाक मंद अग्नि पर करना चाहिये। जब पाक गाढा होने लगे तो उसमें निम्नलिखित औषधियों का प्रक्षेप करे। वायविडङ्ग, सोठ, धनिया, गिलोय का सत्त्व, जीरा, पलाश के बीज, काली मिर्च, पिप्पली, गजपिप्पली, त्रिवृत की जड, त्रिफला, दन्तीमूल, इलायची, एरण्डमूल, चव्य, पीपरामूल, चित्रकमूल, मोथा और विधारा प्रत्येक का चूर्ण सम भाग कुल

३० तोले होना चाहिये। अच्छी प्रकार से कलछी से चलाते हुए सबको मिला लेना चाहिये। फिर सुखा कर चूर्ण बना ले। मात्रा–४ रत्ती से १ माशा।

यह योग आमवात, शोथ, अग्निमाद्य, पाण्डु, कृमिज पाण्डु, कामला आदि अनुपान भेद से नष्ट करता है और उत्तम रसायन है।

जीर्ण आमवात मे जब रोगी मे रक्ताल्पता आ जाती है—उस अवस्था मे प्रयुक्त होकर विशेष लाभ करता है। आमवाताभ सधिशोथ (Rheumatoid Arthritis) मे महारास्नादि कषाय के साथ इस योग का प्रयोग अच्छा लाभ दिखलाता है। इसके सेवन वाले रोगी को पर्याप्त पौष्टिक आहार और दूध का प्रयोग करना अपेक्षित रहता है।

इसके साथ सुवर्ण के यौगिको का देना उत्तम रहता है। एतदर्थ स्वर्ण भस्म प्रति मात्रा मे $\frac{1}{2}$ रत्ती स्वतंत्रतया मिलाया जा सकता है। अथवा सुवर्ण के योगो मे से बृहद्वातचिन्तामणि रस या योगेन्द्र रस १ रत्ती की मात्रा मे मिलाकर दिया जा सकता है।

प्रसारणी संधान—गध प्रसारणी ८ सेर, जल ६४ सेर, शेष १६ सेर रखा कषाय। इस कषाय मे लहसुन का रस १ सेर, पुराना गुड १ सेर मिला कर एक पात्र मे भरकर उसका मुख बन्द करके एक सप्ताह तक सधान करे। इसमें प्रक्षेप रूप में पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता की जड और सोठ का चूर्ण कुल ३२ तोले भी डालना चाहिये। यह योग आमवात मे बडा लाभप्रद होता है। भोजनोत्तर २–४ तोले की मात्रा मे देना चाहिये।

बाह्य प्रयोग–विषगर्भ तैल (वातरोगाध्याय) अफीम मिलाकर या सैधवादि तैल का वेदना युक्त स्थान पर हल्के हाथ से मालिश करना।

सैन्धवाद्य तैल—सैधव, गजपीपल, रास्ना, सौफ, अजवायन, सज्जीखार, कालीमिर्च, कूठ, सोठ, सोचल नमक, विड लवण, वचा, अजमोद, मुलैठी, जीरा, पोहकर मूल और छोटी पिप्पली प्रत्येक २ तोला। इन द्रव्यो को कूट कर पानी से पीस कर कल्क बनावे। फिर एरण्ड तैल तथा सौफ का क्वाथ दो-दो प्रस्थ, काजी एव दही का पानी ४-४ प्रस्थ सबको कलईदार कडाही मे अग्नि पर चढाकर मंद आँच से पाक करे।

महाविषगर्भ तैल—धतूरे की जड, निर्गुण्डी की जड, कटुतुम्बी की जड, गदहपुर्ना, एरण्ड मूल, अश्वगध मूल, चक्रमर्दमूल, चित्रकमूल, सहिजन की छाल, मकोय, कलिहारी की जड, नीम की छाल, महानिम्ब की छाल, शिवलिङ्गी, दशमूल, शतावरी, करैला, अनन्तमूल, विदारीकद, स्नुही, अर्क, मेढाशृङ्गी मूल, पीत पुष्प कनेर मूल, वचा, काकजघा, अपामार्ग मूल, महाबला—बला-अति

बला-नागबला मूल, कंटकारी मूल, वासामूल, गुडूची एवं प्रसारणी। प्रत्येक ६ तोले १ द्रोण जल मे क्वथित करके चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छान ले। कल्कार्थ-सोंठ, मरिच, छोटी पीपल, कूठ, कुचला, रास्ना वत्सनाभ, मोथा, देवदारु, मीठाविष, जवाखार, सज्जीखार, तूतिया, कायफल, पाठा, भारंगी, नौसादर, त्रायमाण, धमासा, जीरा और इन्द्रायण प्रत्येक १६ तोले जल से पीस कर कल्क बनावे। फिर एक कलईदार पित्तल के बडे कटाह मे क्वाथ, कल्क और मूर्च्छित तिल तैल १ प्रस्थ (तीन पाव ४ तोले) लेकर पाक करे। मन्दाग्निपर यथाविधि पाक। यह तैल आमवात जन्य पीडायुक्त स्थान पर तथा सर्वाङ्ग वात एवं पक्षाघात मे मालिश के लिए परम लाभप्रद होता है।

वातहर उपनाह तथा वातघ्न लेप—वात रोगाधिकार का उत्तम रहता है।

हिंस्रादिलेप—हँस की जड, कंटकारी, केवुक, सहजन की छाल, वल्मीक मृत्तिका—इन्हें गोमूत्र मे पीसकर आमवात में पीडायुक्त स्थान पर लेप।

शताह्वादि लेप—सौंफ, वच, सहिजन की छाल, गोखरू, वरुण की छाल, वला की जड, गदहपुर्ना, कचूर, गंधप्रसारणी, जयन्ती, हीग इनको काजी या सिरके के साथ पीस कर गर्म करके लेप करना।

रास्नादि अवचूर्णन—रास्ना, सोंठ, सहिजन, कचूर प्रत्येक १ भाग, खडिया मिट्टी ४ भाग मिलाकर चूर्ण महीन बना कर आमवात के कारण उत्पन्न पीडायुक्त संधियो पर इस चूर्ण का घर्षण करना उत्तम लाभ दिखलाता है।

शूल प्रतिषेध (Colics)

उन्तीसवाँ अध्याय

प्रावेशिक—शूल का शाब्दिक अर्थ है शंक्वाकार कोई नुकीला अस्त्र। इस से चुभाने के समान के समान पीडा जिस रोग में हो उसे शूल रोग कहते हैं। शरीर के किसी भी भाग में इस प्रकार की तीव्र वेदना हो सकती है। स्थानानुसार उसकी विभिन्न संज्ञायें भी दी जा सकती है। यथा सिर का दर्द–शिर शूल, कान का दर्द-कर्णशूल, छाती का दर्द-उरःशूल या वक्षस्तोद, वृक्क की वेदना—वृक्क-

शूल तथा वस्ति की वेदना—वस्ति शूल आदि। परन्तु शूलाधिकार नामक प्राचीनोक्त अध्याय मे केवल उदर तथा वक्ष गुहास्थित अवयवो के विकार से उत्पन्न पीडाओ या शूलो का वर्णन करना अभिलषित रहता है। गुल्म रोग मे जिस प्रकार पॉच स्थानो मे होने वाले कष्टो का ही समावेश होता है उसी प्रकार शूल रोग का वर्णन भी दोनो पार्श्व, हृदय, नाभि तथा वस्ति इन पॉच स्थानो मे होने वाली तीव्र पीडाओ तक ही सीमित है—अन्य स्थान पर होने वाली तीव्र वेदनाओ का उल्लेख यथास्थान प्रसगानुसार अन्य अन्य स्थानो पर पाया जाता है। अस्तु, इस अध्याय मे इन पॉच स्थानो मे होने वाली तीव्र वेदनाओ का उल्लेख किया जावेगा।

गुल्म के समान इस अध्याय के अंदर उदर एवं वक्ष मे होने वाली वेदनाओ का ही वर्णन अपेक्षित है। दोनो पार्श्व, हृदय, नाभि तथा वस्ति ये गुल्म के पॉच[1] स्थान हैं। इन्ही स्थानो मे होने वाली सभी पीडाओ का इस अध्याय मे समावेश हो जाता है।

दोष भेद से शूल आठ प्रकार के होते है—वातज, पित्तज, श्लेष्मज, वात पित्तज, वात कफज, पित्त कफज, त्रिदोषज तथा आमज। किन्तु इन सभी प्रकार के शूलोमे वायु की प्रधानता रहती है। इनमे वातिकशूल प्राय. हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक तथा वस्ति प्रदेश मे विशेषतया होता है जैसे, हृच्छूल (Angina Pectoris) पार्श्व शूल (Pleurodyna, Inter Costal Neuralgia), त्रिकशूल (Lumbago), वस्तिशूल (Renal colicuterine colic etc), पैत्तिक शूल प्राय पित्ताशय (Biliarycolic), कुक्षिशूल (Appendicular) कुक्षि आदि मे होता है। श्लैष्मिक शूल प्राय आमाशय भाग मे (Acute-Gasteritis) विकृति आने से होता है। द्विदोषज एव त्रिदोषज शूल दोषानुबध के भेद से विविध लक्षणो से युक्त होते है, तथा सर्वत्र हो सकते है।[2]

आमज शूल, कफज शूल के समान लक्षण एव चिह्नो वाला होता है—इसका

---

१ शङ्कुस्फोटनवत् तस्य यस्मात्तीव्राश्च वेदना।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते॥ (सु)
दोषै पृथक्समस्ताभ्या द्वन्द्वै• शूलोऽष्टधा भवेत्।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवन. प्रभु॥ (मा नि)

२ वायु प्रवृद्धो जनयेद्धि शूल हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकवस्तिदेशे।
वातात्मकं वस्तिगत च शूल पित्तात्मक चापि वदन्ति नाभ्याम्॥
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टे सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्।

आमाशय या कुक्षि ही प्रधान अधिष्ठान होता है। इन शूलो के अतिरिक्त दो प्रकार के विशेष शूलो का वर्णन इस अधिकार मे और पाया जाता है जिनका त्रिदोषज शूल के भीतर ही समावेश समझना चाहिये। इनमे पित्तोल्वणता होती है। इन दो प्रकार के शूलो मे से एक परिणाम शूल दूसरा अन्नद्रव शूल कहलाता है। इन दोनो का आधुनिक युग के (Peptic ulcer) के वर्णनो के साथ पूर्ण साम्य है। परिणाम शूल (Duodenal ulcer) का तथा अन्न द्रव शूल (Gestric ulcer) के रूप मे स्पष्टतया प्रतीत होता है। भोजन के परिपाक काल मे या भोजन के पच जाने पर (भोजन के दो-तीन घटे वाद) होने वाले उदर शूल को परिणाम शूल और विना किसी नियम के होने वाले शूल को जो भोजन करने के साथ ही या भोजन के पच जाने पर या रिक्त आमाशय पर या भरे आमाशय पर कभी भी हो जाता है और वमन हो जाने पर शान्ति मिलती है, अन्नद्रव शूल कहते है।[1]

आधुनिक ग्रंथो मे शूल (Colics) पाँच प्रकार के वतलाये जाते है—वृक्क शूल (Renal Colics), पित्ताशय शूल (Biliarycolic), गर्भाशय शूल (uterine Colics), आन्त्रपुच्छ शूल (Appendiulear Colics) तथा आन्त्र शूल (Intestinal Colics), तथा प्राचीन ग्रथकारो ने इन शूलो के अतिरिक्त कुछ अन्य शूलो का भी इसी अध्याय मे समावेश कर रखा है। जैसे—हृच्छूल (Angina Pectoris), वक्षस्तोद (Pleurodyna) तथा परिणाम एव अन्नद्रव शूल (Peptic ulers)। इनमे पित्त शूल, वृक्क शूल, हृच्छूल, परिणाम शूल एवं अन्न द्रव शूल इन रोगो में पैत्तिक शूलवत् उपचार करने का विधान तथा अन्य शूलो मे कफ एव वात जन्य शूलोपचार करने का विधान वतलाया गया गया है।

सामान्य क्रियाक्रम—शूल के रोगी मे प्राथमिक उपचार के रूप में सर्वप्रथम लंघन (खाना वद करके उपवास), वमन (ऊपर से दोपो को निकालने के लिये), फलवर्त्ति (अधो भाग से दोपो के निर्हरण के लिये सपोजिटरी

---

१ भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम्।
जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च।
न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृत॥
अन्नद्रवाख्यशूलेपु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूल चाशु व्यपोहति॥ (मा. नि)

या नावुन के पानी या लवण जल की वस्ति गुदा से देना), स्वेदन (उदर तथा अन्य शूलयुक्त अङ्ग का स्वेदन), पाचन तथा वायु का अनुलोमन करने के लिये क्षारो, चूर्णो और गोलियो का उपयोग करना उत्तम रहता है। इन सामान्य उपायो से शूल का शमन होता है। वास्तव मे जैसा पूर्व में बताया जा चुका है कि शूल रोग में सर्वत्र वायु की ही प्रधानता होती है। अस्तु, सामान्य वात-शामक उपचार ही प्रशस्त माने गये हैं।[1]

विशिष्ट क्रियाक्रम—वातिक शूल में विशिष्ट रूप से स्नेहन तथा स्वेदन (पायस या कृशरा से सेंक, पिण्ड या पोट्टली बनाकर सेंक, स्निग्ध मास की पोट्टली बनाकर सेंक) विशिष्ट उपचार हैं। वायु का रोग आशुकारी होता है। अतः शीघ्रतापूर्वक उसका प्रतिकार करना चाहिए। शूलाभिपन्न व्यक्ति में स्वेदन (Fomentation) करना सद्य सुख पहुँचाता है।[2]

तिलकल्कादि स्वेद—कांजी के साथ काली तिल को पीसकर कड़ाही मे गर्म करके एक कपडे के टुकडे मे पोटली बनाकर गर्म-गर्म उदर के ऊपर बार-बार सेंकना शूल का शमन करता है।

गर्म जल का सेक—एक बोतल मे गर्म जल भर कर या रबर के थैला में गर्म जल भर कर सेकना (Hot water Bottle) गर्म जल में तारपीन का तेल छोडकर उसमें तौलिया भिगोकर निचोड कर उदर का सेंकना (Terpentine stoup) भी उसी प्रकार लाभप्रद रहता है।

---

१ वमनं लघनं स्वेदः पाचनं फलवर्त्तय।
क्षारश्चूर्णं च गुटिका शस्यते शूलशान्तये॥

२. ज्ञात्वा तु वातज शूल स्नेहै स्वेदैरुपाचरेत्।
पायसैः कृशरापिंडैः स्निग्धैर्वा पिशितोत्करैः॥
आशुकारी हि पवनस्तस्मात्तं त्वरया जयेत्।
तस्य शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावह॥
नाभिलेपाज्जयेच्छूल मदन काजिकान्वितम्।
विल्वैरण्डतिलैर्वापि पिष्टैरम्लेन पोट्टली॥
राजिकाशिग्रुकल्कं वा गोतक्रेण च पेषितम्।
तेन लेपेन हन्त्याशु शूल वातसमुद्भवम्॥
हिंगु तैल सलवण गोमूत्रेण विपाचितम्।
नाभिस्थाने प्रदातव्यं यस्य शूल सवेदनम्॥ (यो र)

विनौला, कुल्थी, तिल, जौ, एरण्डमूल, अतीस, पुनर्नवा, सन के बीज इन्हे काजी मे पीसकर पृथक्-पृथक् या मिलाकर गर्म करके उदर का सेंक करना ।

लेप सेक—मदनफल को काजी के साथ पीसकर गर्म करके उदर पर लेप करना । राई, सहिजन की छाल इनको सममात्रा मे गाय के मट्ठे के साथ पीसकर उदर पर गर्म गर्म लेप करने से सद्य. शूल का शमन होता है । हींग, सरसो का तेल, सेंधा नमक और गोमूत्र को गर्म करके उससे तौलिया भिगो कर निचोड कर उदर का सेंकना तथा नाभिछिद्र मे भरना शूलशामक होता है ।

दही के मट्ठे के साथ जौ का आटा गूंद कर उसमें जवाखार मिलाकर (जौ का आटा ऽ।, यवाक्षार ऽ– मिलाकर) गर्म करके उदर पर मोटा लेप करना उदर शूल का शामक होता है ।[1]

१. कुलत्थ यूष या लावक यूष—कुलथी ४ तोले अथवा वटेर का मांस ४ तोले ६४ तोले जल मे खौलाकर १६ तोले शेष रहने पर उतारे । उसमे हीग, सोठ, मरिच, पीपल (छोटी), सेंधा नमक, काला नमक प्रत्येक २ रत्ती मिलाकर घीसे छौक कर पिलाने से वातिक शूल का शमन होता है ।

२ बलादि क्वाथ—बला, पुनर्नवा, एरण्ड, छोटी कटेरी तथा गोखरु मूल का समभाग में बनाये कषाय मे घी मे भुनी हीग और काला नमक का प्रक्षेप करके पीना ।

३ दशमूल कषाय मे एरण्ड तैल, हीग और काला नमक का प्रक्षेप डाल कर पीना ।

४ करञ्ज के फल की मीगी (कंटक करंज), काला नमक, शुंठी, घृत में भर्जित हीग ।[2] इनका समभाग मे बना चूर्ण ३ माशे की मात्रा मे गर्म जल से सेवन । इस चूर्ण को करंजादि चूर्ण कहते हैं । एक योग कुबेराक्षादि वटी नामक आज कल प्राय चलता है । उसका योग इस प्रकार का है :—

५. कुबेराक्षादि वटी—बालू मे भुना करंज बीज, मट्ठे मे भिगो कर घी मे तला लहसुन और सोठ प्रत्येक एक एक तोला, घी में तली हीग और सुहागे की खील ६, ६ माशे । सहिजन के रस मे घोट कर ४–४ रत्ती गोली । अनुपान गर्म जल । सभी शूल में लाभप्रद ।

---

१. तक्रेण पिष्टं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमर्त्तौ जठरे निहन्यात् ॥ च. सू. ३

२ करञ्जसौवर्चलनागराणां सरामठाना समभागिकानाम् ।
चूर्णं कदुष्णेन जलेन पीत समीरशूलं विनिहन्ति सद्यः ॥

पैत्तिक शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—पुराना गुड, शालि चावल, जौ, दूध, घृतपान, विरेचन, जाङ्गल पशु-पक्षियो के मास ये द्रव्य पित्तशूल से पीडित रोगियो मे लाभप्रद होते है।

पैत्तिक शूल में परवल की पत्ती और नीम की पत्ती को दूध, पानी या ईख के रस मे पीसकर पिलाकर वमन कराना, शीतल जल मे अवगाहन, शीतल वायु युक्त स्थानो पर नदी के किनारे आवास, शीतल जल से भरे कास्यपात्र (कटोरे प्याले) को शूलयुक्त स्थान पर रखना उत्तम रहता है।[1]

यवयूप, मण्ड या पेय १—वमन रोग, ज्वर, ज्वरातिसार, पैत्तिकशूल, तीव्र संताप एव बार बार प्यास लगना (तृष्णा रोग) मे जौ का मण्ड बनाकर ठंडा होने पर उसमे मधु मिलाकर (Barly water) पीने को देना चाहिये। इससे इन सभी रोगो मे शान्ति मिलती है। धान के खील का मण्ड और मधु भी उत्तम पथ्य है। मांसरसो मे खरगोश (शश) तथा लावा (बटेर) का मास रस बनाकर दिया जा सकता है।

भेषज—[2] १ आमलकी स्वरस १ तोला या आमलकी चूर्ण ६ मारो से १ तोला मधु के साथ। २ विदारीकद स्वरस १ तोला। ३ त्रायमाणा का स्वरस या कषाय। ४ द्राक्षा का स्वरस या कल्क या कषाय। ५. त्रिवृत् (निशोथ काली) का चूर्ण मधु के साथ। ६ शतावरी का स्वरस मधु से ७ मधुयष्टि का कषाय एरण्ड तैल मिलाकर। ८ आरग्वध फल की मज्जा। या ९ त्रिफला का कषाय और मधु का प्रयोग पैत्तिक दाह तथा शूल मे परम लाभप्रद होता है।

त्रिफलादि कषाय—त्रिफला, निम्बपत्र, मधुयष्टि, कुटकी, अमलताश का गूदा, शतावरी, बला और गोक्षुर का कषाय यथाविधि बनाकर ठडा होने पर मधु मिलाकर सेवन करने से पित्त की अधिकता शान्त होती है। रेचन हो जाने से तज्जन्य दाह एव शूल दोनो का शमन होता है।

श्लेष्म शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—कफज शूल मे वमन, लंघन, ज्योतिष्मती (मालकगुनी) आदि द्रव्यो द्वारा शिरोविरेचन, मधु से बने सीधु या

---

१. गुड शालियवा क्षीर सर्पिष्पानं विरेचनम्।
जाङ्गलानि च मासानि भेषजं पित्तशूलिनाम्॥
पित्ते तु शूले वमनं पयोऽम्बुरसैस्तथेक्षोः सपटोलनिम्बैः।
शीतावगाहाः पुलिना सवाता कास्यादिपात्राणि जलप्लुतानि॥ (भै.)

२ प्रलिह्यात् पित्तशूलघ्नं धात्रीचूर्णं समाक्षिकम्॥

अरिष्टो का सेवन, शहद, गेहूँ एवं जौ की रोटी, एवं अन्य रूक्ष एवं कटु द्रव्यो का सेवन करना चाहिये।[1]

भेषज—१ पंचकोलादि चूर्ण—पंचकोल, सैंधव, सामुद्र तथा विडलवण घृतभर्जित हीग सम मात्रा मे लेकर चूर्ण बना ले। मात्रा १–३ माशे। अनुपान मदोष्ण जल। २. दशमूल कषाय बनाकर उसमे सेंधा नमक १ माशा, यवक्षार १ माशा मिलाकर पीना। ३. बिल्वादि क्वाथ—बिल्वमूल, एरण्ड, चित्रक इन की जड़ें और शुण्ठी इन को सम भाग में लेकर कषाय बना कर उस में घी में भुनी हीग २ रत्ती और सेंधा नमक १ माशा मिलाकर सेवन करने से कफज शूलो का शमन होता है।

त्रिदोषज शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—१ शंख भस्म, सेंधा नमक, सोंठ, मरिच, छोटी पीपल घी में भुनी हीग। सम भाग मे लेकर। गर्म जल से। मात्रा ३ माशे। सभी प्रकार शूलो मे विशेषत: त्रिदोषज शूल में लाभप्रद होता है।[2]

२ गोमूत्र में सिद्ध मण्डूर भस्म को त्रिफला चूर्ण और मधु के साथ सेवन त्रिदोषज शूल मे लाभप्रद रहता है।

आम शूल में विशिष्ट क्रियाक्रम—आम शूल में कफ शूल के विनाशक उपचारो को बरतना चाहिये। पुन. आम के नष्ट हो जाने पर अग्निवर्धक उपचारो मे अग्नि का दीपन करना चाहिये।

पंचसम चूर्ण—आमवाताधिकार का गर्म जल से सेवन।

द्विदोषज शूलों में विशिष्ट क्रियाक्रम—वात-पित्तज शूल में बृहत्यादि गण की ओषधियो का कषाय मधु के साथ लेना तथा मिश्रित क्रिया करनी चाहिये। बृहत्यादि गण की ओषधियो में छोटी-बडी कटकारी, इन्द्रजौ, पाठा, मुलेठी। ये ओषधिया वात-पित्त की शामक होती है और मूत्रकृच्छ्र में लाभप्रद होती है। पित्त-कफज शूल में पित्त और कफ शूल की जो चिकित्सा बतलायी गई है उन दोनो का मिश्रित उपचार करना चाहिये। पटोलादि कषाय—पटोल, आँवला, हर्रे, बहेरा, नीम का क्वाथ मधु के साथ देना उत्तम रहता है। वात श्लेष्मज शूल मे लहसुन के स्वरस का मद्य के साथ सेवन (१ तोला लहसुन का

---

१ श्लेष्मातके छर्दनलंघनानि, शिरोविरेकं मधुसीधुपानम्।
मधूनि गोधूमयवानरिष्टान् सेवेत रूक्षान् कटुकांश्च योगान्॥ भै. र.

२. शंखचूर्णं सलवणं सहिंगु व्योषसंयुतम्।
उष्णोदकेन तत्पीतं हन्ति शूलं त्रिदोषजम्॥

रस और ४ तोला मद्य के साथ पिलाना) उत्तम रहता है। लहसुन के रस को मधु मिलाकर सेवन भी उत्तम रहता है।[1]

श्रोणि तथा वृक्क-शूल (Renal or uterine colic)—

१ एरण्ड सप्तक कषाय—एरण्ड, बिल्व, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, एवं बिजौरे की नीबू की जड, पाषाण और गोखरू के बीज, पाठा एवं मुलेठी इन सब औषधियों का २ तोला लेकर, ३२ तोला जल में खौला कर शेष जल ८ तोला, इस में घी में भुनी हीग ४ रत्ती, यवक्षार १ माशा और एरण्ड तैल १ तोला मिलाकर पीने को देना चाहिये। इस क्वाथ से श्रोणि प्रदेश में होनेवाले (Pelvic region colic) शूल शान्त होते हैं।

२. अश्मरीहर कषाय—(मूत्रकृच्छ्राधिकार) वृक्कशूल में लाभप्रद होता है।

३. हिंग्वादि चूर्ण—घृतभर्जित हीग, सोचल नमक, हरड, बिडलवण, सैन्धवलवण, तुम्बुरु (नेपाली धनिया) तथा पुष्करमूल प्रत्येक एक-एक तोला लेकर कूट-छान कर महीन चूर्ण बना ले। मात्रा ३ माशे। अनुपान दशमूल कषाय। (चक्रदत्त)

४. कुन्दरु की पत्ती या मूल का स्वरस या कषाय वृक्कशूल शामक होता है। इस चूर्ण का उपयोग पार्श्वशूल, हृच्छूल (Angina Pectoris) वस्ति कटि-पृष्ठ शूल (Uterine or Renal colics or Lumbago) मे उत्तम कार्य करता है।

५ शुण्ठ्यादि योग—शुण्ठी चूर्ण १ तोला, छिल्का रहित काली तिलका चूर्ण १ तोला और पुराना गुड १ तोला मिश्रित दूध के साथ सेवन करने से योनि या गर्भाशय शूल (Unterine colic) मे उत्तम लाभ होता है।[2] किन्तु गर्भाशय के शूल मे विशेष उपयोगी है।

पित्ताशय यकृत्प्लीह शूल—(Biliary cotics) मे १ बिजौरे नीबू की जड का क्वाथ या सहिजन की छाल का काढ़ा बनाकर उसमें यवक्षार १ माशा

---

१. रसोनं मधुसम्मिश्रं पिबेत् प्रातः प्रकाङ्क्षितः।
वातश्लेष्मभवं शूलं निहन्ति वह्निदीपनम्॥

२. नागरार्द्धपलं पिष्टं द्वे पले लुञ्चितस्य च।
तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरोष्णेन तु पाययेत्॥
वातगुल्ममुदावर्त्तं योनिशूलञ्च नाशयेत्।

और १ तोला शहद मिलाकर देना। अथवा बिजौरे नीबू का रस १ छटाक लेकर उसमें यवक्षार १ माशा मिलाकर सेवन करना भी लाभप्रद रहता है।

२. वरुणादि कषाय—(अश्मरी अधिकार) उत्तम कार्यकर होता है।

३. पंचतृण कषाय—कुश, कास, शर, दर्भ, इक्षु-मूल, नरकट मूल, तालमखाने का मूल इनका सम प्रमाण में लेकर बनाया कषाय। मधु से उत्तम कार्य करता है।

४. पित्ताश्मरी या पित्ताशय शूल में—बाकुची बीज (गोलदाने की) और वरुण की छाल प्रत्येक २ तोला, जल ३ छटांक रात में भिगोकर सुबह मसल छान कर पीने से लाभप्रद रहता है।

५. वीरतरादिगण—(अश्मरीनाशक) ओषधियो का यथालाभ कषाय का सेवन भी उत्तम रहता है।

शूलहर धूप—कम्बल से शरीर को ढककर प्राणायाम करते हुए रोगी को कड़वा तेल से मिले हुए सत्तू से धूपन करने से शूल शान्त होता है।

आंत्र शूल (Intestinal Colic)—में शूलाविकार के बहुविध योग तथा पुरीषोदावर्त्त की चिकित्सा समुचित है।

आंत्रपुच्छ शूल (Appendicular Colic)—में अन्तर विद्रधि एवं गुल्म रोग की चिकित्सा समीचीन है।

परिणाम शूल तथा अन्न द्रव शूल में क्रिया क्रम—भोजनसम्बन्धी अनियमो के कारण अधिकतर इन शूलो की उत्पत्ति होती है। अस्तु, इन शूलो की चिकित्सा मे आहार का नियन्त्रण सर्वाधिक महत्त्व रखता है। रोगी को शारीरिक एवं मानसिक विश्राम देना भी आवश्यक होता है। कार्याधिक्य, चिन्ता, शोक, क्रोध, भोजन करके दौडना-घूमना आदि कार्य यदि उत्पादक हेतु रूप में मिल रहे हो तो इन कार्यो से रोगी को विरत करना चाहिये। व्यायाम, मैथुन, मद्य, दाल (मूंग, मसूर, अरहर, चना, उडद) आदि का अधिक सेवन, कटु पदार्थों का (तेल, मिर्च-मसाले का) सेवन बन्द करा देना चाहिये। मल-मूत्र, छीक, जम्भाई, निद्रा, वमन आदि वेगो को रोकना बन्द करा देना चाहिये। चिन्ता अधिक, शोक क्रोध आदि के वातावरण से रोगी को दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। परस्पर विरोधी अन्न-पान, रात्रि-जागरण, विषम-भोजन (समय-असमय का खाना), अधिक गरिष्ठ और शीतल अन्न का सेवन बन्द करना चाहिये। आहार-विहार सम्बन्धी इन नियमो का पालन सभी प्रकार के शूल रोगो में विशेषतः

परिणाम तथा अन्नद्रव शूलो में करना उत्तम रहता है।[1] काजी, अचार, चटनी-खटाई एवं तिल का वर्जन करना भी उत्तम रहता है।

परिणाम शूल तथा अन्नद्रव शूल के रोगी मे सर्वप्रथम केवल क्षीराहार (गर्म करके ठण्डा किये दूध) पर रखना चाहिये। दूध को मीठा एवं रुचिकारक बनाने के लिये उसमें मिश्री, बताशे या चीनी मिलाकर देना चाहिये। इस प्रकार दूध पर एक-दो सप्ताह तक रोगी को रखकर चिकित्सा करते हुए शीघ्रता से लाभ होने लगता है। पश्चात् शूल कम होने पर दूध के साथ ही साथ रोगी को जौ का मण्ड देना प्रारम्भ करे, जब पीडा और कम हो जावे तो जौ की रोटी या गेहूँ-जौ के मिश्रित आटे की रोटी और दूध पर रखकर औषधि द्वारा चिकित्सा करता रहे। इस रोग में चावल का प्रयोग रोगी को अनुकूल नही पडता है। नमक का सेवन भी उत्तम नही रहता है। अस्तु, जब रोग मे दो-तीन सप्ताह की चिकित्सा से पर्याप्त सुधार प्रतीत हो तब शाक-सब्जी का प्रयोग करना प्रारभ करना चाहिये। शाको में परवल, सहिजन, करैला, मूली, चौलाई, बथुआ, चने का शाक एव बैगन आदि अनुकूल पडते है। रोटी-शाक और दूध का सेवन लम्बे समय तक कराते रहना चाहिये। इन शूलो में फल बडे उत्तम पथ्य हैं—सर्वोत्ताम फल अनार या बेदाना पडता है। इसके अलावे आँवले का प्रचुर प्रयोग करना चाहिये। चटनी, अँचार, मुरब्बा अथवा चूर्ण के रूप मे आँवले का उपयोग उत्तम रहता है। पके आम, मुनक्का, कैथ, चिरौंजो, कागदी नीबू, बिजौरा नीबू, अमरूद, सेब आदि फल बडे उत्तम रहते हैं। इनका उपयोग रोगी को प्रारभ से हो कराना चाहिये। बेर का फल यदि लाल बेर या जंगली बेर हो तो और अच्छा रहता है इसका भी उपयोग परिणाम शूल, अम्लपित्त एवं वमन के रोगियो में हितकर होता है। क्षारो का सेवन शूलशामक होता है। अस्तु, सोडा का पानी, सज्जीखार (Sodii Bicarb), यवाखार आदि का भी पानी में घोलकर उपयोग करना लाभ दिखलाता है।

परिणाम शूल में स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग श्रेष्ठ रहता है। एतदर्थ घी का सेवन उत्तम रहता है। परिणाम शूल मे व्यवहृत होने वाली बहुत सी औषधियाँ आती है, जिनके अनुपान रूप मे घृत और मधु का प्रयोग होता है। घी और

---

१ व्यायाम मैथुन मद्य , वैदल लवण तिलान्। वेगरोध शुच क्रोध वर्जयेच्छूलवान्नर ॥ विरुद्धान्यन्नपानानि जागर विषमाशनम्। रूक्षतिक्तकषायाणि शीतलानि गुरूणि च ॥ माषादिशिम्बिधान्यानि मद्यानि वनिता हिमम्। आतपं जागरं क्रोध शुचं संधानमम्लकम् ॥ वर्जयेत्पित्तशूलार्त्तस्तथा जीर्णतिलानपि ॥ भै र.

गुड का उपयोग भी उत्तम रहता है। गेहू, जौ या पुराने चावल का मण्ड बना कर उसमें घी डालकर कई बार पिलाना उत्तम रहता है। पीने के लिये गर्म करके ठंडा किया जल अथवा नारिकेल जल (डाभ का पानी) देना चाहिये।

कई बार सत्तू का उपयोग भी परिणाम शूल मे लाभप्रद पाया जाता है। मलाई युक्त दही के साथ जौ या मटर का सत्तू केवल खाने को दिया जावे, साथ मे दूसरा भोजन न दिया जावे तो उत्तम लाभ दिखलाई पड़ता है। दालो मे मटर की दाल परिणाम शूल मे अनुकूल पडती है। मटर की पतली दाल बना कर उसमें जौ का सत्तू मिलाकर पीने से शीघ्र शूल में लाभ पहुँचता है।[1] पुराने तथा नवीन उभयविध परिणाम शूल में ही हितकर होता है।

औषध—मासरसो में जाङ्गल पशु-पक्षियो के मांसरस उत्तम रहते हैं। आज कल मासरसो के बहुत से योग (Protienous diet) अंग्रेजी दवाखानो में मिलते हैं। इनका उपयोग जाङ्गल मासरसो के अभाव में किया जा सकता है। रोगी के दोषो के संशोधन के लिये वमन, विरेचन तिक्त मधुर द्रव्यो से कराना चाहिये। आवश्यकतानुसार वस्ति (Enema) देकर भी कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये।[2]

भेषज योग—१. निर्मास शम्बूक (घोंघे) की भस्म १ माशा की मात्रा मे घृत के साथ चटाकर ऊपर से गर्म जल पिलाने से शूल में सद्यः शान्ति मिलती है। २. शख भस्म, सेंधानमक, सोठ, मरिच, छोटी पीपल और घी में भुनी हीग। समभाग मे लेकर। मात्रा २–४ माशा गर्म जल से देना सद्यः शूल शामक होता है। ३. शंख चूर्ण—शख भस्म, सेंधानमक, सोचलनमक, विडनमक, सामुद्रलवण, खनिजलवण, यवक्षार, शुद्ध सुहागा, जायफल, सौंफ, अजवायन, घी मे भुनी हीग, सोठ, कालामिर्च, छोटी पीपल। इन द्रव्यो को समभाग में लेकर महीन चूर्ण कर ले। मात्रा २ माशा गर्म जल के अनुपान से सेवन यह सभी प्रकार के शूलो में जैसे—यकृच्छूल, पित्ताशय शूल (Biliary colic), आन्त्रशूल (Intestinial colic), परिणाम शूल तथा अन्नद्रव शूल (Peptic ulcer), में

---

१. दध्नाऽनूनसरेणाद्यात् सतीनयवशक्तुकान्।
अचिरान्मुच्यते शूलान्नरोऽन्नपरिवर्जनात्॥
य. पिबति सप्तरात्र शक्तूनेकान् कलाययूषेण।
स जयति परिणामज शूल चिरजमपि किमुत नूतनजम्॥

२. वमनं तिक्तमधुरैर्विरेकश्चात्र शस्यते।
वस्तयश्च हिता. शूले परिणामसमुद्भवे॥

उत्तम लाभ दिखलाता है। ४ **शुंठी क्षीरपाक**—सोठ, कालीतिल और गुड समभाग मे लेकर कुल २ तोला, दूध १६ तोला, पानी ६४ तोला आग पर चढाकर दूध मात्र शेष रहने पर उतार लेना। इस विधि से बने क्षीर-पाक का प्रयोग एक सप्ताह तक करने से भयङ्कर परिणाम शूल भी शान्त होता है। ५ पटोल, त्रिफला, नीम का काढा मधु के साथ पीने से पित्त-श्लेष्म से उत्पन्न रोगो मे और अम्ल पित्त तथा परिणाम शूल मे लाभप्रद होता है।[1]

तिलादिगुटिका—तिल, सोठ, हरड और शबूक भस्म (घोघा भस्म) प्रत्येक १ तोला, पुराना गुड़ ८ तोला। सब को अच्छी तरह खरल करके ६, ६ माशे की गुटिका बना ले। शीतल जल के अनुपान से दिन मे एक या दो बार ले। इसके सेवन काल मे दूध-रोटी या मासरस और रोटी रोगी को खाने के लिये देना चाहिये।

विडङ्गादि मोदक—वायविडङ्ग के बीज, सोठ, मरिच, पिप्पली, त्रिवृत, दन्ती की जड, चित्रक की जड इन सबको समभाग मे लेकर पीस छानकर सबसे द्विगुण गुड़ मिलाकर रख दे। यह अग्निवर्धक, कृमिघ्न तथा शूलघ्न योग है।

लौह तथा मण्डूर के योग—आयुर्वेद के ग्रन्थो मे लौह तथा मण्डूर को परम शूलशामक माना गया है। इसके कई प्रसिद्ध एव आशु लाभप्रद योगो का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

नारिकेल लवण—अच्छी तरह से पके हुए नारियल को ले उसके ऊपर की जटा को पृथक् करे, फिर उसमे छेद करके, सेधानमक महीन चूर्ण भर दे फिर छिद्र को बन्द करके उसके ऊपर कपडमिट्टी कर उपले की आग मे पुट देकर जलावे। जब वह अपने आप बुझकर शीतल हो जाय तो आग से निकालकर मिट्टी को दूर करके भस्मीभूत नारियल का महीन चूर्ण मय नमक के कर लेना चाहिये। **मात्रा** २ माशा। **अनुपान** पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती और गर्मजल से। सभी प्रकार के शूलो मे विशेषत. परिणाम शूल मे लाभप्रद।

शूलवर्जिनी वटी—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म, शंख भस्म प्रत्येक २ तोला, शुद्ध सुहागा, घी में भुनी हीग, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हरड का दल, बहेरा का दल, आँवला, कचूर, दालचोनी, छोटी इलायची, तेजपात, तालीशपत्र, जायफल, लौग, अजवायन, जीरा, धनिया प्रत्येक १ तोला ले। प्रथम पारद एव गन्धक की कज्जली बनाकर शेष भस्म तथा काष्ठौषधियो के चूर्णो को

---

१. पटोलत्रिफलारिष्टक्वाथं मधुयुतं पिबेत्।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहशूलोपशान्तये ॥ भै. र.

मिलाकर खरल करे। फिर उसमें बकरी के दूध की एक भावना और आँवले के स्वरस की १ भावना देकर, ४-४ रत्ती की गोलियाँ बना सुखाकर शीशियो में भर कर रख ले। मात्रा १-२ गोली बकरी के दूध से या ठण्डे जल से दे। सभी प्रकार के शूलो में विशेषतः परिणाम शूल मे लाभप्रद रहता है।

त्रिगुणाख्य रस—सुहागे की खील, मृगशृङ्ग भस्म, स्वर्ण भस्म, शुद्ध गन्धक तथा रस सिन्दूर समभाग में लेकर अदरक के रस में एक दिन तक भावित करके सम्पुट करके गजपुट में एक बार फूंक दे। स्वाङ्ग-शीतल होनेपर निकाल कर प्रयोग करे। मात्रा २-८ रत्ती। अनुपान सेंधानमक, भुना जीरा, भुनी हीग प्रत्येक २ रत्ती, मधु ६ माशे और घृत १ तोले के साथ। परिणाम शूल में सद्य लाभप्रद होता है। पार्श्वशूल और छाती के दर्द में विशेष लाभप्रद।

धात्री लौह—अच्छे पके हुए आँवलो को तोड़कर उनकी गुठली पृथक् करे, फिर छाया में सुखाकर उसका कपड़छन चूर्ण करे। इस प्रकार तैयार किया हुआ आँवले का चूर्ण ३२ तोला, लौह भस्म १६ तोला, मधुयष्टि चूर्ण ८ तोले। सबको एकत्र कर ताजी गिलोय के रस मे मर्दन कर के कपड़छन चूर्ण बना लें। मात्रा ५-१० रत्ती। अनुपान घृत और मधु। भोजन के पूर्व, मध्य एवं अन्त में।

सप्तामृत लौह—मुलैठी, हरट, बहेरा, आँवला और लौहभस्म प्रत्येक १-१ तोला। खरल मे एकत्र महीन पीस कर रख ले। मात्रा १ माशा। अनुपान शहद ½ तोला और घी १ तोला के साथ। यह योग परिणाम शूल के अतिरिक्त तिमिर नामक नेत्र रोग में भी लाभप्रद है।

इन लौह योगो के अतिरिक्त भी कई लौह योग जैसे शूलराज लौह, वैश्वानर लौह, चतुःसम लौह, लौहामृत और लौह गुटिका आदि कई योगो का शूलाधिकार में वर्णन आया है। मण्डूर के भी कई योग पाये जाते हैं, जैसे—चतुःसम मण्डूर, भीमवटक मण्डूर, तारा मण्डूर, शतावरी मण्डूर, बृहत् शतावरी मण्डूर तथा गुड मण्डूर। ये सभी योग, पुराने परिणाम शूल मे जब पोषण की कमी से रक्ताल्पता हो जाती है, उत्तम कार्य करते हैं। इन लौह या मण्डूर के योगो को पाण्डुरोग की चिकित्सा मे भी व्यवहार किया जा सकता है। यहाँ पर एक मण्डूर का योग दिया जा रहा है—

तारा मण्डूर—वायविडङ्ग, चित्रक की जड़, चव्य, हरीतकी, बिभीतक, आँवला, सोठ, मरिच, छोटी पीपल प्रत्येक का चूर्ण १-१ तोला, मण्डूर भस्म ९ तोला, गोमूत्र १८ तोला और पुराना गुड ९ तोला। कलईदार कड़ाही में रख अग्नि पर चढ़ाकर पाक करे। जब पकते २ पिण्ड के रूप में हो जावे तो उतार घृत से स्निग्ध भाण्ड में रख ले। मात्रा १ माशा। दिन में तीन बार प्रातः एवं

भोजन के बाद घृत और मधु के साथ प्रयोग करे। यह योग भयंकर परिणाम शूल, कामला, कृमिजपाण्डु, कृमि रोग, गुल्म, उदर रोग, शोथ तथा स्थौल्य मे हितकर होता है।

अभ्रक भस्म के योगो का भी उल्लेख परिणाम शूल चिकित्सा मे आता है—विद्याधराभ्र तथा बृहत् विद्याधराभ्र रस के नाम से दो योग मिलते है। उनका उपयोग शूल रोग मे उत्तम लाभ करता है।

विद्याधराभ्र रस (बृहत्)—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, हरड, बहेरा, आँवला, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, वायविडङ्ग, मोथा, त्रिवृत्मूल, दन्तीमूल, चित्रकमूल, मूषाकर्णी और पीपरामूल प्रत्येक १-१ तोला, अभ्रक भस्म ४ तोला, लौह भस्म १६ तोला। प्रथम पारद-गन्धक की कज्जली करे, फिर शेष द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलाकर महीन पीसकर घृत और मधु से खरल करके २ रत्ती के परिमाण की गोलियाँ बना ले। **मात्रा** १-२ गोली। **अनुपान** गाय का दूध या नारिकेल जल (डाभ-का पानी)। सभी प्रकार के शूलो मे लाभप्रद।

नारिकेलखण्ड—आदि कई पाक का उपयोग परिणाम शूल मे होता है। जैसे हरीतकी खण्ड, पूग खण्ड (सुपारी पाक), खण्डामलकी, नारिकेल खण्ड आदि। यहा पर नारिकेल खण्ड (बृहत्) का योग उद्धृत किया जा रहा है। यह एक परिणाम शूल के रोगी मे उत्तम काम करने योग्य तथा बल्य एवं रसायन है।

सुन्दर पके हुए नारियल की गिरी को शिला पर पीसकर वस्त्र मे रख कर जलीयाश को निकाल कर पृथक् रख ले। फिर गिरी का कल्क १ सेर लेकर ४० तोले घी मे भूनकर उसमें कच्चे नारियल का जल १६ सेर, चीनी २ सेर, सोठ का चूर्ण ३२ तोला और गोदुग्ध २ सेर मिलाकर पाक करे। जब पाक तैयार हो जाय तो अग्नि से उतार कर उसमे निम्नलिखित द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलाकर एक कर ले। वशलोचन, सोठ, मरिच, पीपल, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची, नागकेशर, धनिया, जीरा, गजपीपल प्रत्येक ४ तोले। **मात्रा** ६ माशे। **अनुपान** दुग्ध या जल। इसका उपयोग सभी प्रकार के शूल विशेषत. परिणाम शूल, अन्नद्रव शूल, अम्लपित्त तथा छर्दि रोग मे लाभप्रद होता है।

शूल रोग मे कुछ व्यवस्था पत्र—

सामान्यतया शूल रोगो में वायु की अधिकता होती है, अस्तु; तीव्र उदर शूल से पीडित रोगी आवे तो उसको तत्काल उदर का स्वेदन करे। एतदर्थ वातिक शूल के जो उपचार बतलाये गये है उनका प्रयोग करे। जैसे गर्म पानी को रबर के थैले या बोतल मे भर कर सेकना, उदर पर जौ का आटा और जवाखार को

मट्ठे मे पीसकर मोटा लेप करना चाहिये।

क्षारराज—(यवक्षार, सज्जीखार, तालवृन्तक्षार तथा सोडाबाय कार्ब का मिश्रण) इसे एक छटाँक गर्म जल में २ माशा की मात्रा मे डालकर कागजी नीबू का रस डालकर पिलाना। साथ मे वने वताये योगो को मिलाना हो तो हिंग्वादि वटी (कुपीलुयुक्त) एक से दो गोली और क्षारराज १–२ माशा मिलाकर दो-दो घंटे के अंतर से गर्म पानी के शर्वत और नीबू के रस के साथ देता चले। शूलवर्जिनी वटी एक उत्तम योग है। इस की एक एक गोली एक दो घंटे के अंतर पर गर्म जल से देता चले।

कोष्ठशुद्धि के लिए आस्थापन (सोपवाटर, सेलाइन वाटर का एनीमा) देना चाहिये। यदि एक आस्थापन से कोष्ठशुद्धि न हो तो दूसरी-तीसरी वस्ति भी दी जा सकती है।

अन्नद्रव तथा परिणाम शूल में व्यवस्थापत्र—

सप्तामृत लौह या धात्री लौह ४ रत्ती से १ माशा, प्रतिमात्रा मे। दिन मे दो वार घी १ तो. और मधु १। तोले के साथ दे।

धात्र्यरिष्ट—भोजन के वाद २ चम्मच पीने को दे। यदि धात्र्यरिष्ट सुलभ न हो तो धात्री (आँवले) का चूर्ण ६ माशे भोजन के वाद दे। आँवले का प्रचुर प्रयोग परिणाम शूल में हितकर होता है। अविपत्तिकर चूर्ण (अम्लपित्ताधिकार) ६ माशे की मात्रा में रात मे सोते वक्त दूध के साथ देना चाहिये।

परिणाम शूल की वेदना को तत्काल शान्त करने के लिये शूलवर्जिनी वटी, शङ्खवटी, शवूक भस्म या क्षारराज या केवल सोडा वायकार्व–निम्बू के शर्वत के साथ देना चाहिये। अम्लपित्ताधिकार की औषधियो का भी उपयोग किया जा सकता है।

तीसवाँ अध्याय

उदावर्त्त तथा आनाह प्रतिषेध

प्रावेशिक—अधारणीय वेगो के धारण से (न रोकने वाले स्वाभाविक वेगो के रोकने से) आवृत वायु (रुद्ध हुई वायु) की विलोम (उल्टी) गति होने लगती है। वह इतस्ततः घूमती हुई विविध लक्षणो को पैदा करती है। इस रोग को उदावर्त्त कहते हैं। शरीर में स्वाभाविक वेग तेरह प्रकार के ऐसे पाये

जाते हैं जिन का रोकना उचित नही हैं जैसे—मल (पाखाने का), मूत्र, अपान वायु, उद्गार (डकार), छर्दि (वमन), छीक, जृम्भा (जभाई), क्षुधा, तृषा, निद्रा, अश्रु (आंसू), श्वास (परिश्रम से उत्पन्न श्वास) तथा शुक्र (काम वासना से उत्पन्न) के वेगो के रोकने से उदावर्त्त रोग होता है। इन वेगो की सख्या तेरह है और तेरहो के रोकने से तेरह प्रकार के उदावर्त्त भी हो सकते है, जैसे १ अपानोदावर्त्त २ पुरीषजोदावर्त्त (इनमे Pelvirectal staisis जैसे लक्षण पैदा होते हैं। ३ मूत्रोदावर्त्त (Disteh ded Bladderdue to Urethral Spasm), ४ जृम्भानिरोधज उदावर्त्त (ग्रीवास्तंभ Spasm of Sternocleidomstoid) ५ अश्रुज उदावर्त्त (Acute Dacrocystitis or Blepheritis सदृश लक्षण), ६. छिक्कानिरोधज उदावर्त्त (Rey Neck, Headache, Hemicrania सदृश लक्षण), ७. उद्गारनिरोधज उदावर्त्त (Hicolugh & chset pain), ८ छर्दिनिरोधज उदावर्त्त (Urticaria सदृश लक्षण), ९ क्षुधानिरोधज या १०. तृषानिरोधज उदावर्त्त (Emaciation & Gliddiness & Syn cope, Dehydration symptoms), परिश्रमजन्य श्वास के वेगो के रोकने से ११ श्वासनिग्रहजन्य उदावर्त्त (हृद्रोग, मूर्च्छा प्रभृति लक्षण), १२ निद्रानिरोधज उदावर्त्त (जृम्भा, अंगमर्द, शरीर का भारीपन) तथा १३. शुक्रनिरोधज उदावर्त्त इनमे वृषणग्रंथि, शुक्रप्रणाली-शुक्राशय तथा पौरुष ग्रंथि के विकार पैदा होते हैं।[1]

वेग-विधारण से वायु का कोप होता है। इस प्रकार सभी उदावर्त्तो मे वायु की विगुणता होती है। अस्तु, पीडा का होना एक प्रमुख लक्षण के रूप मे पाया जाता है, चिकित्सा में वायु का अनुलोमन करना ही प्रधान उद्देश्य चिकित्सक का रहता है। उदावर्त्त मे लक्षण तीव्र अथवा चिरकालीन दोनो प्रकार के स्वरूप ले सकते हैं।[2]

---

१ वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवथूद्गारवमीन्द्रिया ।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणा धृत्योदावर्त्तसंभवः ॥ (सु)
न वेगान् धारयेद्धीमान् जातान् मूत्रपुरुषयो ।
न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥ च.
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयो ।
न वाष्पस्य न निद्राया निश्वासस्य श्रमस्य च ॥

२ सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्त्तेषु कृत्स्नश ।
वायो क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥

उपर्युक्त ये सभी वेग शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है (Nature calls), शरीर को स्वस्थ रखने के लिये इन का रोकना हानिप्रद होता है । इन वेगो के अतिरिक्त कुछ मानसिक वेग भी होते हैं । जिनका धारण करना (रोकना) ही श्रेयस्कर होता है और स्वास्थ्य को ठीक रखता है । अस्तु, इन को रोकना चाहिये । उदाहरणार्थ--लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग (मोह) तथा अभिध्या आदि । इनके न धारण करने से विविध प्रकार के आकस्मिक (Accidental) या सद्योघातज रोगो के होने की संभावना रहती है ।[1]

आनाह—उदावर्त्त से सम्बद्ध एक रोग आनाह पाया जाता है जिस रोग मे पूर्णतया मल एव अपान वायु की प्रवृत्ति न हो, उदर में गुडगुड शब्द भी नही हो उसे आनाह कहते है । इस अवस्था मे पूर्णतया अवरोध रहता है । मल का नि सरण वन्द हो जाता है, अपान वायु अथवा डकार का निकलना भी सर्वथा बन्द हो जाता है । आनाह आम तथा पुरीप दोनो के संचय से हो सकता है । आधुनिकदृष्ट्या इस अवस्था को बृहदंत्रघात (Paralytic Ileas) के कारण होने वाला आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) कह सकते हैं ।

आनाह से मिलती हुई एक अवस्था आध्मान का उल्लेख वातरोगाधिकार मे आता है । इसमे भी वायु का निरोध पाया जाता है, पेट का फूलना, पेट मे गुडगुडाहट, तीव्र उदर शूल, उदर का फूला हुआ (तनाव या आध्मान Distension) पाया जाता है—परन्तु इसमें मल का संचय होना आवश्यक नही होता है, साथ मे गुडगुडाहट (आटोप या आन्त्रकूजन) पाई जाती है और उदर मे पीडा की अधिकता रहती है ।

सामान्य क्रियाक्रम--सभी प्रकार के उदावर्त्त रोग मे चिकित्सक को सम्पूर्णतया वायु को स्वमार्ग मे ले आने की क्रिया करनी चाहिये, जिससे स्वाभाविक वेग प्रवृत्त हो और अवरुद्ध मल या दोप निकल जावे ।[2] इसके लिये स्नेहन

---

१ लोभशोकभयक्रोधमनोवेगान् विधारयेत् ॥
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् । (चर)

२. सर्वेष्वेतेपु भिपजा चोदावर्त्तेपु कृत्स्नशः ।
वायो क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥
आस्थापन मारुतजे स्निग्धस्विन्ने विशेपतः ।
पुरीपजे तु कर्त्तव्यो विधिरानाहकोदित ॥ यो. र
त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाकग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम् ।
अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात् प्रसन्नागुडसीधुपायी ॥ भै. र.

स्वेदन, लेखन (Counter Irritants) तथा विरेचन, फलवर्ति (Irritants) तथा अभ्यग, अजन, नस्य आदि करना चाहिये। भोजन एव औषधि के रूप मे ऐसी कल्पना करनी चाहिये जिससे मल, मूत्र तथा वायु (अपान या डकार) पर्याप्त मात्रा में निकले। भोजन मे ग्राम्य (पालतू), आनूपदेशज तथा जलचर जीवो के मास तथा जौ का (बहुमूत्रशकृद्-यव) का बहुल प्रयोग करना चाहिये। बैंगन, मूली, गुड, अदरक, नीबू, यवाखार, हरीतकी, लवङ्ग, हीग, द्राक्षा, पच-लवण का अधिक प्रयोग करना चाहिये। औषधि के रूप मे विशेषत: वायु एवं पुरीषज उदावर्त्त मे मद्य, आसवारिष्ट, एरण्ड तैल, अमलताश का मज्जा, त्रिवृत् (काली निशोथ), सेहुण्ड, दन्ती बीज, गोमूत्र आदि का प्रयोग करना चाहिये।

वायु का अवरोध हो तो उदर पर तेल की मालिश और सेक करके आस्था-पन द्रव्यो से वस्ति देना और पुरीषज उदावर्त्त मे आनाह की वक्ष्यमाण चिकित्सा का क्रम रखना चाहिये।

आस्थापन द्रव्यों में—त्रिवृत्, विल्व, पिप्पली, कुष्ठ, सर्षप, वच, इन्द्रयव, शतपुष्पा, मुलैठी ये दश द्रव्य विशेष लाभप्रद होते हैं, अस्तु, इनके कषाय से वस्ति देना उत्तम रहता है। (च)

उदावर्त्त में सामान्य सप्तलादिगण की औषधियाँ—सप्तला, शखिनी श्वेता, आरग्वध, तिल्वक, श्यामा, दन्ती, द्रवन्ती, स्नुही, त्रिवृत्, अमृता, महाश्यामा, काम्पिल्लक, करंज, स्वर्णक्षीरी–ये सभी तीव्र क्षोभक और रेचक औषधियाँ हैं इनका उपयोग रेचन में करे।

मूत्रोदावर्त्त मे—मूत्र के वेग के अभिहत होने वाले उदावर्त्त मे मूत्रावरोध, होता है। एतदर्थ १ मद्य मे काला नमक मिलाकर पिलाना। २. मद्य मे छोटी इलायची का चूर्ण मिलाकर पिलाना। ३ दूध मे जल मिलाकर पिलाना। ४. जवासा अथवा अर्जुनकी छाल का काढा पिलाना। ५ ककडी के बीज को पानी मे पीसकर थोडा सेंधानमक मिलाकर पिलाना। ६ लघुपंचमूल कषाय या उससे सिद्ध क्षीर का पिलाना। ७ द्राक्षा का कषाय पिलाना। ८ मुनक्का के कषाय मे या अगूर के रस मे यवक्षार तथा शर्करा प्रत्येक १ माशा मिलाकर पिलाना। ९ शतावरी का स्वरस या कषाय शक्कर मिलाकर या १० कुष्माण्ड स्वरस या कषाय का शक्कर के साथ पिलाना भी उत्तम रहता है।

लेप—पेडू या वस्ति के ऊपर चूहे की मीगी, या चूहे के बिल की मिट्टी, किंशुक (पलाश पुष्प) को पीसकर किंचित् गर्म करके लेप करना। गोखरू के बीज, मदनफल, चूहे की, मीगी, ककडी के बीज, केले की जड को काजी के साथ पीसकर लेप करना। अन्य भी मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी मे प्रयुक्त होने वाली

औषधियों का उपयोग मूत्रावरोध (Retention of urine) को दूर करता है।

अन्य प्रकार के उदावर्त्तों में क्रियाक्रम—जृम्भा निरोधजन्य उदावर्त्त में स्नेहन और स्वेदन करे। अश्रुनिरोधज उदावर्त्त में नेत्र का स्वेदन कराके लेखन (मरिच आदि के योग से बने) अंजनों को लगाकर अश्रु की प्रवृत्ति कराना चाहिये। छींक के रुकावट से पैदा होने वाले उदावर्त्त में—नस्य लेकर, सूर्य की ओर देखकर या नाक को कुरेदकर छींक लाने का प्रयत्न करना चाहिये। डकार की रुकावट से पैदा हुए उदावर्त्त में—स्नैहिकधूम का उपयोग, अदरक एवं काला नमक का सेवन, मट्ठे के साथ खाड का सेवन कराना चाहिये। वमन विरोध से उत्पन्न उदावर्त्त में दोषानुसार वामक योग देकर वमन कराना। शुक्रोदावर्त्त में मैथुन का विधान है, साथ ही पौष्टिक एवं शुक्रवर्धक आहार-विहार जैसे अभ्यंग, अवगाहन, मदिरा, मुर्गे का अण्डा या मांस, दूध, चावल और निरूह वस्ति देना चाहिये। वस्तिशोधक द्रव्यों से सिद्ध क्षीर का प्रयोग उत्तम रहता है।

भूख के निरोध से उत्पन्न उदावर्त्त में—स्निग्ध, रुचिकर एवं स्वल्प भोजन दे। तृषा-विघात में उत्पन्न उदावर्त्त में स्वादु एवं शीतल यवागू तथा मद्य का पिलाना हितकर होता है। परिश्रमजन्य श्वास के अवरोध से उत्पन्न उदावर्त्त में—पूर्ण विश्राम और मांसरस के साथ भोजन देना हितकर होता है। निद्रा विघातज उदावर्त्त में—रात में सोते वक्त माहिष-क्षीर (भैंस का दूध) पीने के लिये देना चाहिये। साथ ही तिल तैल से अभ्यंग कराके रोगी को जमीन पर सोने के लिये प्रेरित करना चाहिये।

इस प्रकार सामान्यतया उदावर्त्त रोग में स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन वस्ति, विरेचन तथा गुदवर्त्ति का प्रयोग लाभप्रद क्रियाक्रमों में माने गये हैं।[1]

---

१. स्नेहस्वेदैरुदावर्त्तं जृम्भणं समुपाचरेत्। अश्रुमोक्षोऽक्षिजे कार्यः स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः॥ मरिचाद्यञ्जनैर्घर्मैरादित्याद्यवलोकनैः। क्षवथौ क्षवथुत्रेण घ्राणस्थेना-ऽऽनयेत्क्षवम्॥ उद्गारजं क्रमोपेतं स्नैहिकं धूममाचरेत्। भक्षयेद्रुचकं सार्द्रं खण्डं वा मथितान्वितम्॥ वम्यं वान्तं यथादोषं नस्यस्नेहादिभिर्जयेत्। वस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं चतुर्गुणजलं पयः॥ आवारितात्पयात् क्वथितं पीतवन्तं प्रशमनं। रमयेयुः प्रिया नार्यः शुक्रोदावर्त्तिनं नरम्॥ तस्याभ्यंगावगाहाश्च मदिराश्चरणायुधाः। शालिः पयो निरूहाश्च हितं मैथुनमेव च॥ क्षुद्विघाते हितं स्निग्धं रुच्यमल्पञ्च भोजनम्। तृषाघाते पिबेन्मद्यं यवागूं स्वादु शीतलम्॥ रसेनाद्यात्तु विश्रान्तः श्रमश्वासादितो नरः। निद्राघाते पिबेद् दुग्धं माहिषं रजनीमुखे॥ तिलतैलेन सम्मृज्य भूतले शयनं चरेत्। उदावर्त्तिनमभ्यक्तं-स्निग्धगात्रमुपाचरेत्॥ वर्त्तिकास्थापनस्वेदवस्तिरेचनकर्मणा। (यो. र.)

आनाह तथा उदावर्त्त रोग में सामान्यतया चलने वाले योग—उदावर्त्त रोगो में वायु तथा पुरीष के अवरोध तथा आनाह यही दो महत्त्व के रोग है। जिनमे चिकित्सा प्राय तत्परता से करने की आवश्यकता पडती है। मल-वायु का अवरोध आनाह में भी पाया जाता है। अस्तु, दोनो मे चिकित्सा क्रम सामान्य ही रहते है। अस्तु, यहाँ पर इन दोनो का विशेष उल्लेख किया जा रहा है। लिखा भी है "उदावर्त्त की क्रिया ही आनाह रोग मे करनी चाहिए। आनाह की आमावस्था हो तो प्रथम लंघन करा के फिर पाचन देना चाहिए।"[1]

वायु एवं पुरीष के उदावर्त्त तथा आनाह रोग मे अधो वायु का निरोध पाया जाता है–स्नेहपान (घृत का पिलाना या घृत के अनुपान से वातानुलोमक चूर्णों का प्रयोग), तेल का उदर पर मालिश, स्वेदन (उदर का सेक), उदर पर लेप, आस्थापन वस्ति (Enema) तथा गुडवर्त्ति (Suppositories) का प्रयोग हितकर होता है। गुदवर्त्ति के कई योग ग्रथो मे पाये जाते हैं। इनमे किसी एक का उपयोग गुदामार्ग से करने पर अद्भुत लाभ दिखलाई पडता है।

फलवर्ति—मैनफल, पिप्पली, कूठ, वच, सफेद सरसो, गुड और यवक्षार इन द्रव्यो को सममात्रा मे लेकर पीसकर वर्त्ति जैसी एक अगुली की मोटाई की वर्त्ति वनाकर गुदा मे रखने से मल और वायु की प्रवृत्ति होकर उदावर्त्त दूर होता है।[2]

हिंग्वादिवर्त्ति—हीग, शहद और सेधानमक सममात्रा मे लेकर वर्त्ति बनाकर घृत से अभ्यक्त करके गुदा मे प्रविष्ट करना। यह योग वडा ही उत्तम कार्य करता है।

अगार धूमादिवर्त्ति—रसोई घर का धुवा, सेंधानमक, पिप्पली, मैनफल, पीला सरसो–इन्हे समभाग मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर तिल का तेल मिलाकर वर्त्ति वनाकर गुदा मे प्रविष्ट करना।

---

१ अधोवातनिरोधोत्थे ह्युदावर्त्ते हितं मतम्।
स्नेहपान तथा स्वेदो वर्त्तिर्वस्तिर्हितो मतः॥
उदावर्त्तक्रियाऽऽनाहे सामे लघनपाचनम्।
आनाहेऽपि प्रयुञ्जीत उदावर्त्तहरी क्रियाम्॥

२ मदन पिप्पली कुष्ठ वचा गौराश्च सर्षपाः।
गुडक्षीरसमायुक्ता फलवर्त्तिः प्रशस्यते॥
हिंगुमाक्षिकसिन्धूत्थैः पक्त्वा वर्त्तिं सुवर्तिताम्।
गुडक्षीरसमायुक्ता फलवर्तिः प्रशस्यते॥

शठादिवर्त्ति—मन शिला, गृहधूम, काला नमक, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, निर्गुण्डीण्त्र, श्वेत सर्षप, कूठ और मैनफल। महीन पीसकर गोमूत्र मे पकाकर अंगूठे के बराबर मोटी वर्ति बनाकर घी में लिप्त करके धीरे-धीरे गुदा में प्रविष्ट करने से आनाह में अद्भुत लाभ दिखलाता है।

उदर का प्रलेप—वल्मीक (वाम्बी) की मिट्टी, करञ्जकी त्वचा, मूल, फल और पत्र तथा मरसो। इनको गोमूत्र में पीस कर उदर पर गुनगुना लेप करने से वायु का ठीक प्रकार से अनुलोमन होता है। इससे उदावर्त्त तथा आनाह का शमन होता है।

पुरीषोदावर्त्त तथा आनाह में प्रयुक्त होने वाले आभ्यंतर योग—

१ सप्तलादि गण (चक्रदत्तोक्त) की औषधियो का चूर्ण या कषाय रूप मे मुख से उपयोग लाभप्रद रहता है। इन्ही औषधियो का श्यामादि कषाय नाम से वृन्द ने उपयोग बतलाया है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

२. त्रिवृत्, हरीतकी और काली निशोथ इनका चूर्ण सममात्रा में लेकर स्नुही क्षीर मे भावित करके १–२ माशा की मात्रा में गर्म जल से देना।[1]

३. केवल स्नुही (सेहुण्ड मूल का चूर्ण) १–२ माशा गर्म जल से देने से आनाह में लाभ होता है।

४. हिंग्वादि चूर्ण—घी में भुनी हीग १ भाग, दूधिया वच २ भाग, कूठ ४ भाग, सज्जीखार ८ भाग, वायविडङ्ग १६ भाग। इनका कपड़छन चूर्ण। मात्रा १-२ माशा। अनुपान उष्णोदक। हृद्रोग, गुल्म, आनाह, डकार का अधिक आना मे इसके प्रयोग से लाभ होता है।

५ वचादि चूर्ण—दूधिया वच, बड़ी हरड, चित्रकमूल, यवक्षार, पिप्पली, अतीस तथा कूठ। इन द्रव्यो को समभाग में लेकर बनाया महीन चूर्ण। मात्रा २-३ माशे। उदावर्त्त एवं आनाह (वायु का रुकना और अफारा) में लाभप्रद।

६. नाराच रस—शुद्ध पारद एवं शुद्ध गंधक की कज्जली (प्रत्येक एक तोला), काली मिर्च १ तोला, शुद्ध सोहागा, पिप्पली चूर्ण प्रत्येक २-२ तोला, जयपाल (जमालगोटे) का शुद्ध चूर्ण ९ तोला। सब को मिलाकर थूहर के दूध के साथ तीन दिनो तक खरल करे। फिर इसको छिल्के रहित नारियल के फल के भीतर छोटा से छेदकर के उसमें भर तीव्र आँच के भीतर रख कर पाक करे। फिर स्वाङ्गशीतल होने पर चूर्ण को नारियल से बाहर करके पीस ले एव शीशी में

---

१ त्रिवृद्धरीतकी श्यामा स्नुहीक्षीरेण भावयेत्।
स्नुहीमूलस्य चूर्णं वा पिबेदुष्णेन वारिणा॥ (भै. र.)

भर कर रख ले। मृदु कोष्ठ के रोगियो मे केवल नाभि मे लेप कर देने से रेचन होने लगता है। इस चूर्ण का गध लेने से भी सुकुमार एव स्निग्ध कोष्ठ के व्यक्तियो मे रेचन होता है। क्रूर कोष्ठ के व्यक्तियो मे १ रत्ती की मात्रा मे शीतल जल से देने से तीव्र रेचन होता है, उदावर्त्त तथा आनाह का शमन होता है।

७ **इच्छाभेदी रस**—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, शुद्ध सोहागा, काली मिर्च, प्रत्येक १ तोला, त्रिवृत् की जड तथा सोठ का चूर्ण प्रत्येक २ तोला, शुद्ध जयपाल का चूर्ण ९ तोला। प्रथम पारद और गधक की कज्जली बनाकर उसमे शेष द्रव्यो को सयुक्त करके अर्कक्षीर या अर्कपत्र—स्वरस की भावना देकर, अर्कपत्र में लपेट कर उपले की मृदु आँच में पका ले। फिर चूर्ण करके शीशी मे भर ले। **मात्रा** १–३ रत्ती तक। **अनुपान** शीतल जल।[1]

यह एक तीव्र रेचक योग है। इच्छा के अनुसार रेचन कराता है, अस्तु, इसका नाम ही इच्छाभेदी कर दिया गया है। जब तक दस्त कराने की इच्छा हो दस्त से लौटने के बाद ठडा जल पीता रहे, जब दस्त बन्द करने की इच्छा हो तो उष्ण जल पीते दस्त बन्द हो जावेगा। यदि इस योग से दस्त बहुत होने लगे और बद न हो तो भिण्डी का रस पिलाना। भोजन मे दही-चावल खिलाना और उष्ण वस्त्र मे शरीर को आवृत कर सो जाने से तत्काल दस्त बन्द हो जाता है।

इस योग का अनेक रोगो मे विबन्ध दूर करने के लिये प्रयोग होता है, परतु उदर रोग, आनाह तथा उदावर्त्त में विशेष क्रिया होती है।

अपथ्य—वमन, वेगो का रोकना, शमीधान्य (विविध प्रकार की दाल), कोद्रव, शालूक (बिस-मृणाल), जामुन, ककडी का फल, तिल की खली, सभी प्रकार के आलू, करीर, पीठी के पदार्थ, विबन्धकारक, विरुद्ध, कषाय रस द्रव्य, गुरुपाकी पदार्थों का सेवन निषिद्ध है।

१ गुञ्जैकप्रमितो रसो हिमजलैः ससेवितो रेचयेद्,
यावन्नोष्णजल पिबेदपि वर पथ्यं च दध्योदनम्॥ भै र

इकतीसवाँ अध्याय

गुल्म प्रतिषेध

हृदय और नाभि के बीच उदरस्थ अंगो में विशेषतः आंत्रो मे होने वाले अर्बुद या उभार को गुल्म कहते है। इसकी उत्पत्ति में वायु प्रधान भाग लेता है, वह आन्त्रके किसी भाग मे भर कर उसका विस्फार पैदा करता है, जिससे उदर की दीवाल पर एक वृत्ताकार उभार सा दिखलाई पडता है अथवा स्पर्श द्वारा प्रतीत किया जा सकता है (Abdominal tumour due to Gaseous distension of Intestinal coil) यह उभार चल (संचारी) या स्थिर भी हो सकता है—वायु की विगुणता में वह स्थिर रहता है और वायु के अनुलोमन हो जाने पर वह अपचय को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। अर्थात् आंत मे कभी घटने और कभी बढने वाले उभार को गुल्म कहते है।[1]

आचार्य सुश्रुत ने इसको अर्बुद से पृथक् रोग माना है क्योकि अर्बुदो का स्वतंत्र अध्याय में वर्णन किया है। विद्रधि (Abscess) से भी इसको पृथक् माना है। विद्रधि से इसका पार्थक्य करते हुए उन्होने लिखा है—कि विद्रधि एक सीमित स्थान पर बाह्य या आभ्यंतर अवयवो में उत्पन्न होती है। वह स्थिर या अचल (Immovable) होती है और संचारी (Mobile) नही होती है। विद्रधि एक स्थायी विकार है जिसमे रक्त-मासादि धातुओ का आश्रय पाया जाता है, अस्तु, उनका मूल होता है और वास्तुपरिग्रहवान् (एक घेरायुक्त) होती है, इसमे पाक या पूयोत्पत्ति होती है। परन्तु, गुल्म में पाक नही होता है इसमें दोष ही स्वयं गुल्म का रूप धारण कर लेते है और उभार चल होता है उसका चलना आँखो से दिखाई पडता है अथवा स्पर्श के द्वारा प्रतीत किया जा सकता है।

चरक ने गुल्म में भी कई बार पाकोत्पत्ति होते बतलाया है। विद्रधि के भाँति इसमें पक्वापक्वावस्था का निदान, चिकित्सा में उपनाह तथा शस्त्रकर्म का

---

१ हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रंथिः संचारी यदि वाऽचल।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्त्तित॥
कुपितानिलमूलत्वात् संचितत्वान्मलस्य च।
गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते॥ (सु)

विधान बतलाया है। परन्तु, पाक की अवस्था मे गुल्म को गुल्म न कहकर विद्रधि कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। सहिताकार ने जो वर्णन किया है वह भी विद्रधि का ही है। पकने वाले गुल्म की तीन विशेषतायें दी गई है—१ कृतवास्तुपरिग्रह २ कृतमूल ३ रक्तमासाश्रयी।[1]

गुल्म के स्थान एवं भेद—मिथ्या आहार-विहार से कुपित हुए दोप कोष्ठ (उदर) में ग्रंथि के आकार के पाँच प्रकार के गुल्मो को पैदा करते हैं। गुल्म दोनो पार्श्व, हृदय, वस्ति तथा नाभि इन पाँच स्थानो मे होता है। वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त से उत्पन्न होने वाले पाँच प्रकार के गुल्म होते हैं। इनमे प्रथम चार पुरुप और स्त्री दोनो में किन्तु रक्तज गुल्म केवल स्त्रियो मे उनके गर्भाशय मे होता है।[2]

गुल्म का पूर्वरूप--डकारो का अधिक आना, कोष्ठबद्धता, भोजन मे अरुचि, शक्ति का ह्रास, आन्त्रकूजन (गुडगुड शब्द होना), पेट का फूलना या अफारा, उदरशूल तथा पचन शक्ति का कम होना ये लक्षण गुल्म के पूर्वरूप मे मिलते हैं।[3]

रूप—उपर्युक्त लक्षण अधिक व्यक्त हो जाते हैं। भोजन मे अरुचि, मल-मूत्र तथा अपान वायु के निकलने मे कठिनाई, आन्त्रो मे गुडगुड शब्द होना, आनाह तथा ऊर्ध्ववात—डकारो का अधिक आना, सभी गुल्मो मे सामान्य रूप से पाये जाते हैं। फिर दोपानुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक अथवा

---

१ विदाहलक्षणे गुल्मे वहिस्तुङ्गे समुन्नते।
श्यावे सरक्तपर्यन्ते सस्पर्शे वह्निसन्निभे॥
निपोडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात्।
तत्रैव पिण्डिते शूले सपक्व गुल्ममादिशेत्॥
तत्र धान्वन्तरेयाणामधिकार क्रियाविधौ।
रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च॥
यदि गुल्म विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम्॥ (च चि ५.)

२ कुर्वन्ति पचधा गुल्म कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम्।
तस्य पचविध स्थान पार्श्वहृन्नाभिवस्तय.॥ (मा नि.)
स व्यस्तैर्जायते दोपै समस्तैरपि चोच्छ्रितै।
पुरुषाणा तथा स्त्रीणा ज्ञेयो रक्तेन चापर॥ (सु)

३ उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम्॥

स्त्रियो मे पाया जाने वाला रक्तज गुल्म अपने विशिष्ट लक्षणो से युक्त मिलते है।[1] रक्तज गुल्म का वर्णन स्त्री रोग विज्ञान मे विस्तार से तथा पक्व गुल्मो का शल्यतन्त्र मे विद्रधि के अधिकार मे विस्तार के साथ लिखा गया है। यहाँ पर काय-चिकित्सा से सम्बद्ध चतुर्विध (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक) गुल्मो की चिकित्सा का लिखना अभिलषित है। अस्तु, इन्ही चारो की चिकित्सा का आख्यान नीचे किया जा रहा है।

गुल्म रोग मे सामान्य क्रियाक्रम—

हारीत संहिता मे गुल्म-चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाले ग्यारह क्रियाक्रमों का उल्लेख किया है। जैसे—स्नेहन, स्वेदन, निरूहण, अनुवासन, विरेचन, वमन, बृंहण, शमन, शोणितमोक्षण तथा अग्निकर्म। इस प्रकार इन एकादश प्रकार के क्रियाक्रमो मे से दोष, दूष्य तथा रोगी के बलाबल का विचार करते हुए प्रयोग करना चाहिये।[2]

जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है गुल्म रोग मे वायु की ही प्रधानता पाई जाती है। अस्तु, गुल्मरोगियो मे सर्वप्रथम वात शामक ही चिकित्सा करनी चाहिये। क्योकि वायु के स्वभावस्थ हो जाने पर स्वल्प चिकित्सा से भी अन्य उदीर्ण दोषो का स्वयमेव शमन हो जाता है।[3] अस्तु, गुल्म रोग मे स्नेह तथा स्वेदन प्रधान उपक्रमो के रूप मे बरते जाते है। स्नेहन के अनन्तर स्वेदन करने से स्रोतस् मृदु हो जाते है, विबद्ध (रुद्ध) वात का संशमन होता है तथा रूक्षता के कारण आन्त्र में संचित मल का भेदन होकर गुल्म का विनाश होता है।

गुल्म को नष्ट करने के लिये रोगी के उदर पर तेल की मालिश करके सेंकना उत्तम रहता है। इसके लिये १. वातहर औषधियो के क्वाथ के वाष्प से सेंक करना (कुम्भीस्वेद), २. उड़द कुलथी, जौ प्रभृति द्रव्यो के चूर्ण को पानी मे

---

१. अरुचि कृच्छ्रविण्मूत्र वातान्त्रप्रतिकूजनम्।
आनाह चोर्ध्ववातत्व सर्वगुल्मेषु लक्षयेत्॥ (सु)

२ सिद्धमेकादशविध शृणु मे गुल्मभेषजम्।
स्नेहनं स्वेदनञ्चैव निरूहमनुवासनम्॥
विरेकवमने चोभे लघनं वृंहण तथा।
शमनञ्चावसेकञ्च शोणितस्याग्निकर्म च॥
कारयेदिति गुल्माना यथारम्भ चिकित्सितम्॥ (हा)

३ गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥ (भै र.)

उबाल कर उसका पिण्ड बनाकर कपडे मे पोट्टली बनाकर सेकना, ३. ईंट को गर्म करके ऊपर वातहर क्वाथ का छीटा देकर उसके वाष्प से सेंकना अथवा गर्म ईंटे को वातहर क्वाथ मे वुझा कर उससे सेंकना। ४ वातहर औषधियो को पीसकर कल्क बनाकर गर्म करके उदर को सेंकना या लेप करना। ५ वात रोगाधिकार में पठित।[1] शाल्वण स्वेद से उदर का स्वेदन करना भी हितकर होता है। ६ तिलादिस्वेद-तिल, एरण्ड बीज, अतसीबीज, सरसो पीसकर गर्म करके पोटली बनाकर सेंकना।

गुल्म के स्थान से रक्त-विस्रावण, वाहु की शिरा के वेध (Cubitalvein), स्वेदन तथा वातानुलोमन सदैव हितकर रहता है। लघन (उपवास या लघु भोजन), अग्नि को प्रदीप्त करने वाले एव स्निग्ध उष्ण तथा वात के अनुलोमक पदार्थ तथा वीर्य को बढ़ाने वाले सभी प्रकार के खाद्य एव पेय द्रव्यो का सेवन गुल्म रोग मे हितकर होता है।[2]

पथ्य—वातनाशक दशमूलादि द्रव्यो से सिद्ध की हुई पेया, कुलथी का यूष, जगली पशु-पक्षियो के मासरस, तथा वृहत् पचमूलादि से सिद्ध यूप गुल्मरोगियो मे हितकर होते है। पुराना चावल, गाय या वकरी का दूध, मुनक्का, फालसा, खजूर, दाडिम, आँवला, नारगी, नीवू, अम्लवेत, तक्र, एरण्ड तैल, लहसुन, छोटी मूली, वथुवा, सहिजन की फली, जवाखार, हर्रे, हीग, विजौरा नीवू, त्रिकटु, गोमूत्र आदि पथ्य होते हैं।

अपथ्य—विरोधी भोजन, गरिष्ठ अन्न, मछली, वडो मूली, मीठे फल, शुष्क शाक, आलू का अधिक सेवन, शमी धान्य (दाल आदि), वेगो का रोकना, वमन, अधिक जल पीना गुल्म रोगी को छोड देना चाहिये।

विशिष्ट क्रियाक्रम—वात गुल्म मे स्नेहन, स्वेदन, स्निग्ध विरेचन, निरूहण तथा अनुवासन, श्लैष्मिक गुल्म में लघन, लेखन, स्वेदन, अग्नि का दीपन, कटु एव क्षार द्रव्यो से सिद्ध घृत। तथा स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यो से उत्पन्न पित्त गुल्म में स्रंसन एवं रूक्षोष्ण सेवन से उत्पन्न पित्त गुल्म मे घृतका प्रयोग उत्तम रहता है।

---

१ स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्त्तव्यो गुल्मशान्तये।
कुम्भीपिण्डेष्टकास्वेदान् कारयेन् कुशलो भिषक्॥
उपनाहाश्च कर्त्तव्याः सुखोष्णा शाल्वणादय।

२ स्थानावसेको रक्तस्य वाहुमध्ये शिराव्यध।
स्वेदोऽनुलोमनञ्चैव प्रशस्त सर्वगुल्मिनाम्॥
पेया वातहरैः सिद्धा कौलत्था धान्वजा रसाः।
खडा. सपचमूलाश्च गुल्मिना भोजने हिता॥

वात गुल्म में भेपज—१. विजौरे नीवू का रस एक छटाँक मे भुनी हीग २ रत्ती, दाडिम बीज का चूर्ण १ माशा या स्वरस १ तोला, काला नमक ४ र०, सेंधा नमक ४ रत्ती मिलाकर सेवन।

२ सोंठ का चूर्ण १ तोला छिल्का रहित तिल १ तोला, और पुराना गुड १ तोला मिलाकर दूध के साथ सेवन करने से वातिक गुल्म, उदावर्त्त तथा गर्भाशय के शूल में उत्तम लाभ होता है।

३ वारुणीमण्ड सुरा (Alcoholic drinks) में एरण्ड तैल ४ तोला या उष्ण दुग्ध में एरण्ड तैल ४ तोला मिलाकर पीने से वातिक गुल्म में उत्तम लाभ होता है।

४. लशुन क्षीर—छिल्को से रहित करके सुखाया हुआ लहसुन ४ तोला लेकर उसको अष्टगुण क्षीर अर्थात् ३२ तोले में डालकर अग्नि पर पका कर जब दूध मात्रा शेप रह जावे, तो पिलाने से लाभ होता है। इस योग का प्रयोग राजयक्ष्मा, हृद्रोग, विद्रधि, उदावर्त्त, गुल्म, गृध्रसी, श्लीपद तथा विपम ज्वर में लाभप्रद होता है।

पित्त गुल्म में—मृदु रेचन अथवा स्रंसन के लिये १. कवीले का चूर्ण १ माशा, ३ माशे मधु के साथ २ द्राक्षा का रस या द्राक्षा (मुनक्का) का गुड के साथ सेवन। ३ त्रिवृत् चूर्ण ३ माशे त्रिफला के कपाय के साथ। ४. हरीतकी चूर्ण और पुराना गुड के साथ सेवन। ५. आमलकी-कपाय का मधु के साथ सेवन। ६ द्राक्षा, विदारी, मधुयष्टि, श्वेत और पद्माख का समभाग में लेकर बनाया चूर्ण। मात्रा ३ माशा मधु एवं चावल के पानी से।

पित्त गुल्म मे पाक होने लगे तो उपनाह (पुल्टिश) बाँधना उत्तम होता है। पक जावे तो भेदन, शोधन तथा रोपण आदि व्रणवत् उपचार करना चाहिये।

वज्रक्षार—पंच लवण (सामुद्र, सैंधव, विड, रुचक, सोचल), यवक्षार, सज्जीखार, शुद्ध सुहागा। प्रत्येक को समभाग मे लेकर तीन दिनो तक अर्क-क्षीर में भावित करे। पश्चात् स्नुहीक्षीर (थूहर के दूध) में तीन दिनो तक भावना दे। सुखाकर इस कुल चूर्ण को अर्क के पत्र में लपेट कर सकोरे मे कपडमिट्टी करके बदकर लघु पुट मे पुट देना चाहिये। फिर उसको पुट से निकालकर चूर्ण कर लें। फिर इस कुल चूर्ण की आधी मात्रा में निम्नलिखित द्रव्यो का समभाग में लिया महीन चूर्ण डालकर मिला ले। सोंठ, मरिच, पीपरि, हरड, बहेरा, आँवला, जीरा, हल्दी और चित्रक मूल। मात्रा २ माशे। अनुपान—उष्ण जल या काजी के साथ।

काङ्कायन गुटिका—कचूर, पोहकरमूल, दन्ती की जड, चित्रक की जड, अरहर की जड, सोठ, वच, निशोथ की जड प्रत्येक ४ तोला, शुद्धहीग १२ तोला, यवक्षार, अम्लवेत ८-८ तोला, अजवायन, धनिया, जीरा, काली मिर्च, कालाजीरा, अजमोद प्रत्येक १-१ कर्ष। सब द्रव्यो का महीन कपडछन चूर्ण बनाकर विजौरे नीबू के रस के साथ एक सप्ताह तक भावना दे। पश्चात् ४-४ रत्ती की गोली बना ले। **मात्रा** १-२ गोली दिन मे तीन बार। **अनुपान**—उष्णोदक। यह गुटिका अर्श, हृद्रोग, उदावर्त्त तथा गुल्म रोग मे लाभप्रद होती है। अनुपान भेद से विविध प्रकार के गुल्मो मे इसका उपयोग प्रशस्त है। जैसे, श्लेष्मगुल्म मे गोमूत्र के अनुपान से। पित्तज गुल्म मे दूध के अनुपान से। मद्य तथा अम्ल से वातिक गुल्म में। त्रिफला कषाय, गोमूत्र के साथ त्रिदोषज गुल्म मे। ऊँटनी के दूध के साथ स्त्रियो के रक्त गुल्म मे लाभप्रद होती है।

गुल्मकालानल रस—इस योग के नाम से तीन पाठ भैषज्यरत्नावली मे मिलते है। गुल्मकालानल रस के दो तथा बृहत् गुल्मकालानल रस नाम से। यहाँ पर एक उत्तम योग का पाठ दिया जा रहा है।

शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, शुद्ध हरताल, ताम्रभस्म, शुद्ध टकण एव यवक्षार प्रत्येक २ तोला, नागरमोथा, पिप्पली, शु ठी, कालीमिर्च, गजपीपल, हरीतकी, वच और कूठ प्रत्येक का चूर्ण १ तोला। प्रथम पारद और गधक की कज्जली बनाकर शेप द्रव्यो को संयुक्त करके, पित्तपापडा, मोथा, सोठ, अपामार्ग, पाठा, भृ गराज,धतूर के पत्र के स्वरस या कपाय की पृथक्-पृथक् एक एक भावना देकर घोटकर सुखाकर शीशी मे भर लेवे। **मात्रा** ४ रत्ती। **अनुपान** हरीतकी चूर्ण २ माशा और मधु से दिन मे दो बार। गुल्म रोग मे उत्तम कार्य करना है।

नागेश्वर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, नागभस्म, वगभस्म, शुद्धमन.-शिला, शुद्ध नवसादर, यवक्षार, सर्ज्जिका क्षार, शुद्धटकण, लोहभस्म, ताम्रभस्म और अभ्रक भस्म १-१ तोला। सर्वप्रथम पारद एवं गधक की कज्जली बनाकर शेप द्रव्यो को सयुक्त करे। फिर थूहर के दूध (स्नुहीक्षीर) को एक भावना दे। पश्चात् चित्रक-अडूसा अथवा दन्ती स्वरस को एक एक भावना दे। फिर सुखाकर शीशी मे भर ले। **मात्रा** १-२ रत्ती। **अनुपान**—ताम्बूलपत्र-स्वरस और मधु। इसके प्रयोग से शोथ, आध्मान, प्लीहावृद्धि, यकृत् वृद्धि तथा गुल्म ठीक होता है।

प्रवाल पंचामृत—प्रवाल भस्म २ तोला, मुक्ता पिष्टि, शखभस्म, शुक्ति भस्म, वराट भस्म (कौडी का भस्म)। अर्कक्षीर ६ तोला। अर्कक्षीर से सभी द्रव्यो को भावित करके शराव-सम्पुट मे रखकर एक-दो पुट दे। इसमे

अर्कक्षीर की भावना मारित मृगशृंग भस्म भी १ तोला मिलाकर योग बनाया जाय तो अधिक उत्तम कार्य करता है। यह प्रवाल पंचामृत एक उत्तम योग है जो बहुत प्रकार के रोगो में अनुपान भेद से व्यवहृत होता है। शरीर में खटिक लवणो (Calcium Deficiency) की कमी से होने वाले रोगो में इसका उपयोग उत्तम रहता है। इसका प्रयोग हृद्रोग, आनाह, गुल्मरोग, अग्निमांद्य, ग्रहणी, मूत्रसंस्थान के रोग, उदर के रोग आदि में होता है। इन योगो के अतिरिक्त—योगराज गुग्गुलु (वातरोगाधिकार), क्रव्यादरस, हिंग्वष्टक चूर्ण (अग्निमांद्याधिकार), हिंग्वादि वटी, लशुनादि वटी, रसोन पिण्ड, अभयारिष्ट, कुमार्यासव (यो. र) आदि का उपयोग भी उत्तम रहता है।

हिंग्वादि चूर्ण या वटिका—शुद्धहींग, सोंठ, मरिच, पिप्पली, पाठा, हपुषा, हरड, कचूर, अजमोदा, अजवायन, तिन्तिडीक, अम्लवेत, दाडिम के बीज, पुष्करमूल, धनिया, जीरा, चित्रकमूल, यवाखार, सज्जीखार, सैंधव, सोंचल नमक, वच, हरीतकी और चव्य। इन द्रव्यो का महीन चूर्ण बनाकर आर्द्रक स्वरस की एक भावना तथा नीबू (बिजौरे) के रस की ७ भावना देकर सुखा कर चूर्ण रूप में रख ले अथवा गोली बनाकर १ माशे की रख ले। यह योग परम वातानुलोमक एवं अग्नि को दीप्त करने वाला है। उष्ण जल या मद्य के अनुपान से देने पर इससे हृच्छूल, पार्श्वशूल, आध्मान, अफारा, उदावर्त्त, गुल्म, तीव्र उदर शूल आदि में लाभ होता है।

क्षीरषट्पल घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक की जड़, सोंठ तथा यवक्षार प्रत्येक १-१ पल (४-४ तोले) लेकर पीसकर कल्क बनावे। उसको एक एक प्रस्थ घृत और दुग्ध (६४ तोले प्रत्येक) तथा सम्यक् पाकार्थ जल ४ प्रस्थ लेकर मंद आँच पर पाक करे। इस घृत का १ तोले की मात्रा में प्रयोग करने से गुल्म रोग में उत्तम लाभ होता है।

वरुणादि कषाय—वरुण की छाल, अगस्त्य का पुष्प, बिल्व की छाल, अपामार्ग, चित्रक की छाल, दोनों अरणी की छाल, दोनो शिग्रु की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी की छाल, तीनो कटसरैया, मेढाशृङ्गी, चिरायता, अजशृङ्गी, बिम्बी, करंज तथा शतावर। इन द्रव्यों का सममात्रा में योग करके २ तोले द्रव्य को ३२ तोले पानी में उबाल कर चौथाई शेष रहने पर मधु मिलाकर सेवन। यह वरुणादि गण की औषधियो का क्वाथ कफ रोग, मेदोवृद्धि, गुल्म, शिरःशूल तथा आभ्यंतर विद्रधियों में लाभप्रद होता है।

उपसंहार—गुल्म एक दीर्घ काल तक चलने वाला रोग है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। वायुगोला नाम से लोक में इस

रोग का व्यवहार होता है। इसके निदान मे कठिनाई नही होती है क्योकि स्वयं रोगी इस रोग का निदान अपने मुख से इस रोग को तकलीफ रूप मे बतलाता है। इस रोग के दौरे होते है। कुछ दिनो तक रोगी खाता-पीता हुआ स्वस्थ रहता है अचानक एक मास या पद्रह या आठ दिनो के अतर पर रोग का दौरा आता है, रोगी वेचैन हो जाता है, उस के उदर मे तीव्र शूल होता है, डकारो की अधिकता, उदर के ऊपर आत्र मे वायु भर जाने से आत्र की गति एक तरफ से दूसरे तरफ को दिखलाई पडती है। इन आत्र गतियो को स्पश द्वारा भी प्रतीत किया जा सकता है। उदर के ऊपर गोला जैसे उभार दिखलाई पडता है। दबाने से वह आत्र के अधोभाग में जाकर विलीन हो जाता है और पुन उठता है। रोगी को इस दौरे के काल मे वमन होता है, फिर पतले दस्त होते है। उदरशूल शान्त हो जाता है, दौरा निकल जाता है। फिर कुछ दिनो तक रोगी ठीक रहता है। बार बार रोग का दौरा होता है।

गुल्म रोग स्वयं एक याप्य व्याधि है। इसमे जब तक रोगी पथ्य से रहता है ठीक रहता है—अपथ्य होने से पुन. उपस्थित हो जाता है। यदि रोगी क्षीण हो तो उसका रोग असाध्य हो जाता है। चिकित्सा मे कोष्ठ की शुद्धि का ध्यान सदा रखना चाहिये। उसे नित्य वातानुलोमक अथवा मृदु विरेचक औषधियो का उपयोग करना चाहिये। हरीतकी, त्रिवृत् या द्राक्षा आदि सारक या स्र सन योगो का नित्य व्यवहार करना चाहिये। दौरे के काल में वेदना के शमन के लिये तीव्र उदर शूल या उदावर्त्त के समान चिकित्सा करनी चाहिये। दौरे के अवान्तर काल मे निम्नलिखित योगो के उपयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

१. गुल्मकालानल रस अथवा नागेश्वर रस २–४ रत्ती की मात्रा मे, हरीतकी चूर्ण २ माशे और मधु से दिन मे दो बार प्रात -सायम्।

२ हिंग्वादि चूर्ण अथवा हिंग्वष्टक चूर्ण ३ माशे को मात्रा मे घी के साथ भोजन के पूर्व।

३ कुमार्यासव भोजन के बाद २ चम्मच समान जल मिलाकर।

४ वैश्वानर चूर्ण ६ माशा (आमवाताधिकार) रात मे सोते वक्त गर्म जल से।

गुल्मकालानल रस के स्थान पर प्रवालपचामृत तथा शृ ग भस्म का प्रयोग भी १ माशे की मात्रा में उत्तम रहता है। वज्रक्षार का प्रयोग भी भोजन के बाद उत्तम रहता है।

बत्तीसवाँ अध्याय

हृद्रोग प्रतिषेध

प्रावेशिक—अति व्यायाम, परिश्रम, दुःसाहस, अत्युष्ण-गुरु-कटु-तीक्ष्ण भोजन का सेवन, अध्यशन-चिन्ता-भय-त्रास आदि मानसिक कारण, वेगविधारण, लंघन-वमन-विरेचन तथा वस्ति आदि के प्रयोग से अतिकर्षण, आमवात, फिरङ्गादि रोगो के उपद्रव रूप मे तथा अभिघातादि कारणो से पाच प्रकार के हृद्रोग होते है—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, त्रिदोषज तथा कृमिज । इन सभी हृद्रोगो मे विकार पैदा होता है, जिसके परिणाम स्वरूप वैवर्ण्य (Pallor, Cyanosis, Malar Flush) मूर्च्छा (Syncope), ज्वर (Inflam matory diseases of the heart), कास-हिक्का-श्वास (Pressure in Mitral regurgitation or stenosis), वमन, अरुचि, श्वास-कृच्छ्रता, छर्दि, कफोत्क्लेश, आस्यवैरस्य (Due to coronary insufficiency), तृषाधिक्य, चक्कर आना (Giddiness), हृद्द्रव (Heart Palpitation), हृच्छून्यभाव (हृदय के स्थान पर शून्यता का भाव का होना) प्रभृति लक्षण सामान्य होते है ।[1]

वातिक हृद्रोगमे—सूचिकावेधनवत् पीडा, मन्थवत् पीडा, फाडने वा चीरने जैसी पीडा अथवा आरे कुल्हाडी से काटने जैसी पीडा, हृदय में खिचावट तथा हृद्द्रव (धडकन) आदि लक्षण पैदा होते हैं । इस प्रकार की हृदय प्रदेश (बायें ओर के वक्ष) मे पीडा आधुनिक निदान के अनुसार Angina Pectoris (हृच्छूल) मे होती है । हृच्छूल हृद्वाहिनी की घनास्रता (Coronary thrombosis मे भी पाया जाता है, परन्तु इसमे कफाधिक्य के भी चिह्न पाये जाते है । अस्तु, श्लेष्मानुबन्धी हृद्रोग रोग या श्लेष्मज हृद्रोग मे इसका समावेश समझना चाहिये । पैत्तिक हृद्रोग में पित्ताधिक्य के तृष्णा, ऊष्मा,

---

१ व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्ति-चिन्ताभयत्रासगदातिचाराः ।
छर्द्यामसधारणकर्शनानि हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघात ॥
वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्का-श्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहा ।
छर्दि कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजा स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥
हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहा. पवनाद्विशेष. ॥ (च. चि २६)

दाह, स्वेद और मूर्च्छा प्रभृति लक्षण विशेषतया मिलते है। त्रिदोषज हृद्रोग में मिश्रित लक्षण उपस्थित रहते है। कृमिज हृद्रोग मे कृमियो की आत्र मे उपस्थिति तथा तज्जन्य रक्ताल्पता होकर हृदय-प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) का दोष आजाता है, जिससे श्रवण यत्र से हृत् प्रदेश पर एक विशेष प्रकार की मर्मर ध्वनि (Haemic Marmur) सुनाई पडती है।

हृद्रोग प्रतिषेध—हृद्रोग मे रोगी को विश्राम का कार्य करना चाहिये। अधिक परिश्रम, कार्य भार बद कर देना चाहिये। अधिक दौडना-धूपना, धूप मे कार्य करना भी रोग के प्रतिकूल पडता है, अस्तु, विश्राम का जीवन, ब्रह्मचर्य का पालन, स्त्रीसग प्रभृति काम-वासनावो से पृथक् हृद्रोगी को रखना चाहिये। क्रोध, रोष, चिन्ता आदि मानसिक उद्वेगो से भी रोगी को दूर रखने का ध्यान रखना चाहिये। अधिक बोलना, भाषण-प्रवचन आदि भी रोगी को अनुकूल नही होता है। तैल, खट्टा तक्र (मट्ठा), काजी आदि अम्ल, गरिष्ठ अन्न का सेवन, अध्यशन (अधिक मात्रा मे भोजन), कषाय द्रव्यो का सेवन भी ठीक नही रहता है। अस्तु, इनका भी परित्याग करना चाहिये। वेगो का सधारण, नदी-जल, दूषित जल, भेड का दूध, महुवेका उपयोग, पत्र शाक भी ठीक नही होते है।

रोगी को खाने में जौ, गेहूँ, मूग, पुराना चावल, जाङ्गल पशु-पक्षियो के मासरस, मरिच (गोल या कालीमिर्च) से युक्त करके देना चाहिये। परवल, करैला आदि फलशाक देना चाहिये। केले का फल, पेठा, नई मूली, मुनक्का, पुराना गुड, ताल या खजूर का गुड़, मिश्री, सोठ, अजवायन, लहसुन, हरीतकी, अदरक, कस्तूरी, चदन प्रकृति द्रव्य अनुकूल पडते है।[1]

हृद्रोग मे वायु की अधिकता हो तो रोगी का स्नेहन कराके वमन करावे। शोधन के अनन्तर पुष्करमूल, बिजौरे नीबू की जड की छाल, सोठ, कचूर, हरड, वच। इन द्रव्यो से निर्मित कषाय मे यवक्षार, घृत, सेंधानमक और काँजी मिला कर पीना। पित्त की अधिकता होने पर मधुर द्रव्यो से सिद्ध क्षीर या घृत का उपयोग करे। जैसे—गाम्भारी का फल, मुनक्का, मधुयष्टि। इन द्रव्यो का कषाय बनाकर इसमे घृत-मधु और पुराने गुड या चीनी का प्रक्षेप डालकर पिलाना। कफाधिक्य युक्त हृद्रोग मे वमन द्वारा शोधन करके त्रिवृत् मूल, बला, रास्ना, शुठी,

---

१ शालिमुद्गयवा मास जाङ्गल मरिचान्वितम्।
पटोल कारवेल्लञ्च पथ्य प्रोक्त हृदामये॥
तैलाम्लतक्रगुर्वन्नकषायश्रममातपम्।
रोष स्त्रीनर्म चिन्ता वा भाष्यं हृद्रोगवास्त्यजेत्॥ (यो. र)

हरीतकी, पुष्करमूल, छोटी इलायची, पीपरामूल। इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर गोमूत्र या उष्ण जल से सेवन। मात्रा ३ माशे। त्रिदोषज हृद्रोग में मिश्रितक्रम रखे। कृमिज हृद्रोग में—रोगी को सर्वप्रथम स्नेहयुक्त मांस, दही और तिल के साथ चावल का भात तीन दिनों तक खिलाकर पश्चात् तीव्र रेचन देना चाहिये, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर, सैंधव, श्वेत जीरे के चूर्ण के साथ किसी एक रेचन औषधियोग को दे। इस क्रियाक्रम से हृदय को बाधा पहुँचानेवाले कृमि निकल जाते हैं। कृमिजन्य हृद्रोग में गोमूत्र एक छटाँक लेकर उसमें वायविडङ्ग २ माशा और कूठ का चूर्ण १ माशा डालकर पिलाना भी हितकर होता है। रेचन हो जाने के बाद रोगी को विडङ्ग के क्वाथ में बना यवागू खाने को देना चाहिये।[1]

सामान्य-चिकित्सा

१. एरण्डमूल ८ तोले, जल ६४ तोले खौलाकर बनाया क्वाथ १ छटाँक में यवक्षार छोडकर पिलाना।

२. दशमूल का कषाय बनाकर उसमें सेंधानमक और यवक्षार मिलाकर सेवन।

३. अर्जुन-सिद्धक्षीर—अर्जुन की छाल २ तोला, दूध १६ तोला, जल ६४ तोले दूध मात्र शेष रहने पर उतार कर पिलाना। इसी विधि से शालपर्णी-सिद्धक्षीर, बलासिद्ध क्षीर, मधु-यष्टी से सिद्ध क्षीर अथवा पंचमूल से सिद्ध क्षीर का सेवन भी हृद्रोग में उत्तम रहता है।

४. अर्जुन का पत्रस्वरस मधु के साथ देना अथवा अर्जुन चूर्ण ३ माशा १ तोले घृत के साथ देकर ऊपर से दूध देना भी उत्तम रहता है।

५. पुष्करमूल का चूर्ण ४ रत्ती से १ माशा मधु के साथ देने से हृच्छूल, वक्षस्तोद, श्वास तथा कास में लाभप्रद रहता है।

६. गोधूम प्रयोग—गेहूँ का काटा बनाकर देना भी हृद्रोग में उत्तम रहता है। गेहूँ का आटा लेकर घृत और तिल-तैल में भूनकर पुराना गुड़ डालकर मीठा बनाकर उसमें अर्जुन चूर्ण मिलाकर, इस लप्सिका (हलुवा) का सेवन आम

---

१ कृमिहृद्रोगिणं स्निग्धं भोजयेत् पिशितौदनम्।
दध्ना च पललोपेतं त्र्यहं पश्चाद् विरेचयेत्॥
कृमिजे च पिबेन्मूत्रं विडङ्गामयसंयुतम्।
हृदि स्थिता पतन्त्येव ह्यधस्तात् कृमयो नृणाम्॥
यवान्नं विनरेच्चास्मै सविडङ्गमतः परम्।

रहता है। इस हलवे मे पानी की जगह वकरी का दूध और गुड की जगह मिश्री का चूर्ण या चीनी भी मिला सकते है। शीतल होने पर मधु भी मिलाया जा सकता है।[1]

७ नागवला—का चूर्ण ३ माशे मे ६ माशे दूध के साथ सेवन।

८ हिंगूग्रगंधादि वटी—(उदावर्त्त)—कई वार इस गोली का सेवन-चूसना या जौ के क्वाथ के साथ सेवन हृच्छूल तथा वेचैनी को शान्त करता है।

९ पाठाद्य चूर्ण—पाठा, वच, यवाखार, हरड, अम्लवेंत, यवासा, चित्रक की छाल, सोठ, कालो मिर्च, छोटी पीपल, हरड, वहेरा, आँवला, कचूर, पोहकर-मूल, वृक्षाम्ल, दाडिम की छाल, अनारदाना, विजौरा नीवू के जड की छाल। सम मात्रा मे कूटकर चूर्ण वना ले। मात्रा २-४ माशे। मद्य या जल के साथ।

१० मृगशृंग भस्म—वारहसींगे के सीग को (अच्छे पुष्ट भरे) ले। उसको काटकर छोटे-छोटे टुकडे कर ले। गजपुट में फूक दे। स्वागशीतल होनेपर दूसरे दिन निकाल कर उसको चूर्ण करके अर्कक्षीर से भावित करे। टिकिया वना ले। शराव-सम्पुट में वदकर पुन उपले की अग्नि में एक पुट दे। शहद और गाय के घी के साथ २ रत्ती से १ माशा तक दे। हृच्छूल, पार्श्वशूल, विविध प्रकार के हृद्रोग तथा कफ कास मे प्रयोग करे। वृहद् धमनी-विस्कार (Fusiform Dilatation of Arota) मे इसका उत्तम लाभ एक वार देखने को मिला था। अर्कक्षीर से भस्मीकृत शृंग का ही प्रयोग हृद्रोग मे लाभप्रद रहता है।[2]

११ नागार्जुनाभ्र रस (श्वासरोगाधिकार)—परम वल्य, वृष्य एवं हृद्य रसायन है। हृद्रोग मे उत्तम कार्य करता है।

१२ हृदयार्णव रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक ताम्र भस्म प्रत्येक एक तोला। त्रिफला कपाय की एक भावना, काकमाची (मकोय) के स्वरस या कपाय की एक भावना दे पश्चात् २–२ रत्ती की गोलियाँ वना ले। अर्जुन चूर्ण आँवले के चूर्ण-घृत और मिश्री के साथ दे। शोथ युक्त पुराने हृद्रोग मे उत्तम लाभ करता है।

१२ प्रभाकर वटी—स्वर्णमाक्षिक भस्म, लौह भस्म, अभ्रक भस्म,

---

१. गोधूमककुभचूर्णं छागपयोगव्यसर्पिषा पक्वम्।
मधुशर्करासमेतं हृद्रोगं वहुसमुद्धतं पुसाम्॥ (भै र)

२ पुटदग्धमश्मपिष्टं हरिणविषाण च सर्पिपा पिवत।
हृत्पृष्ठशूलमुपशममुपयात्यचिरेण वहु कष्टम्॥

वंशलोचन, शुद्ध शिलाजीत प्रत्येक एक तोला। खरल में मिलाकर अर्जुन के छाल के क्वाथ की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनाकर सुखाकर रख ले। सभी प्रकार के हृद्रोग में उत्तम लाभ करता है।

१३. चिन्तामणि रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्र भस्म, लौह भस्म, वंग भस्म। शुद्ध शिलाजीत १-१ तोला, स्वर्ण भस्म ½ तोला तथा चांदी भस्म ½ तोला। प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनाकर शेष भस्मों को मिलावे। फिर चित्रक क्वाथ, भृङ्गराज स्वरस, अर्जुन का क्वाथ इनमें प्रत्येक में पृथक्-पृथक् सात-सात भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाकर शीशी में भर कर रख ले। मात्रा—१-२ वटी दिन में दो बार। अनुपान—गेहूँ का कषाय। यह बलवर्द्धक एवं हृदय के लिये हितकारी रसायन है। विविध प्रकार के हृद्रोगों में लाभप्रद है।

१४ विश्वेश्वर रस—सुवर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक तथा वैक्रान्त भस्म १-१ तोला ले। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर शेष भस्मों को मिलावे। फिर अर्जुन के स्वरस से भावित करके २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावे। मात्रा १-२ गोली प्रातः-सायम्। अनुपान—अर्जुन पत्र-स्वरस और मधु।

१५ अर्जुन घृत—गोघृत १ प्रस्थ, अर्जुन कषाय ४ प्रस्थ (अर्जुन की छाल २ प्रस्थ जल १६ प्रस्थ, अवशिष्ट ४ प्रस्थ), अर्जुन की छाल कल्कार्थ ½ प्रस्थ, मन्द अग्नि में घृत का पाक करे। मात्रा १-२ तोला अनुपान गाय का दूध।

१६ पार्थाद्यरिष्ट या अर्जुनारिष्ट—अर्जुन की छाल ४०० तोले, मुनक्का २०० तोले, महुए का फूल ८० तोले, जल ६४ सेर। चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बना ले। फिर छानकर एक भाण्ड में इस जल को लेकर उसमें धाय के फूल का चूर्ण ८० तोले और पुराना गुड़ ४०० तोले मिलाकर संधिबंधन करके रख दे। १ मास के अनन्तर छानकर फिर शीशियों में भर कर रख ले। मात्रा—२ तोला। अनुपान समान जल। दोनों समय भोजन के बाद।

१७. रत्न एवं मणियों का धारण अथवा उनकी बनी पिष्टियों का मुख से सेवन करना परम हृद्य है। एतदर्थ कई योग व्यवहृत होते हैं। यहाँ जवाहर मोहरा नामक एक प्रसिद्ध योग का उद्धरण दिया जा रहा है। यूनानी वैद्यक में मणियों की पिष्टिका का प्रचलन विशेष रूप से है। जवाहर मोहरा माणिक्य पिष्टि २ तोला, पन्ना की पिष्टि २ तोला मुक्तापिष्टि २ तोला, प्रवाल पिष्टि ४ तोला, कहरवा की पिष्टि २ तोला, चांदी का वरक आधा तोला, सोने का वरक आधा तोला, दरियाई नारियल का चूर्ण ४ तोला, आबरेशम कतरा हुआ २ तोला,

मृगश्रृङ्ग भस्म ४ तोला, जद्वार (निर्विषी) का चूर्ण २ तोला, कस्तूरी १ तोला, अम्बर २ तोला ले। अच्छे न घिसने वाले खरल मे प्रथम सब पिष्टियो को डालकर उसमे सोने और चादी के वरको को एक-एक कर मिलावे और मर्दन करता रहे। जब सब वरक मिल जावे तब उसमे अर्क गुलाब थोडा डाल कर १४ दिनो तक मर्दन करे। १५ वें दिन उसमे कस्तूरी और अम्बर डाल कर एक दिन तक गुलाब के अर्क मे मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया मे सुखाकर शीशी मे भर लेवे।

मात्रा एवं अनुपान—१-१ गोली सुबह-शाम खमीरोगाव जवान से या मधु से सेवन करे।

उपयोग—यह हृदय को बल देने वाला उत्तम योग है। हृद्द्रव (दिल का धड़कना), थोडा परिश्रम से दम भरना प्रभृति हृदय की दुर्बलता से पैदा होने वाले लक्षणो में अच्छा कार्य करता है। (सिद्धयोग संग्रह से)

उपसहार-व्यवस्थापत्र—

(१) अर्जुन क्षीर प्रात।

(२) रस-सिन्दूर या स्वर्ण सिन्दूर या चन्द्रोदय या मकरध्वज १ र०

प्रवाल पिष्टि २ र०

चिन्तामणि विश्वेश्वर, हृदयार्णव रस या प्रभाकर वटी २ र०

मृगश्रृङ्ग भस्म ४ र०

इन तीन मे से कोई, एक दो या तीनो { व्योमाश्म पिष्टि १ र०, रक्ताश्म पिष्टि १ र०, हरिताश्म पिष्टि १ र० }

मिश्र २ मात्रा

प्रातः-सायं अर्जुन चूर्ण + घी + चीनी से या

दिन मे दो बार गेहूँ के काढे से।

(३) हिग्वादि वटी (उदावर्त्त) भोजन के बाद १ गोली खिलाकर ऊपर से

(४) अर्जुनारिष्ट या धात्र्यरिष्ट या अश्वगधारिष्ट बडे चम्मच से २ चम्मच बराबर पानी मिलाकर।

(५) चन्द्रप्रभा वटी (अर्शोधिकार)

१-२ गोली रात मे सोते वक्त दूध से।

(६) जब कभी बेचैनी, घबराहट, तनाव आदि प्रतीत हो तो अर्क बेद-मुश्क (लताकस्तूरी), अर्क अजवायन, अर्क सौफ, अर्क पुदीना और गुलाब जल मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये।

(७) नारायण तैल का शरीर एवं शिर मे अभ्यंग ।

(८) रेचन के लिये एरण्ड तैल 'शतपत्र्यादि चूर्ण' गुलकंद आदि का उपयोग करे, शुद्धि के लिये वस्ति का उपयोग भी ठीक रहता है ।

सक्षेपत हृदय मे दो प्रकार के रोग होते है—१ हृदय का अंगसम्बन्धी विकार (organic disorders) २ क्रियासम्बन्धी विकार (Functional disorders) इनमे क्रियासम्बन्धी विकारो का शमन शीघ्र हो जाता है, परन्तु आङ्गिक विकारो का सुधार विलम्ब से होता है, क्वचित् नही भी होता है । हृद्रोग में रसायन एव बल्य दोनो का उपयोग श्रेष्ठ रहता है । आँवले का सेवन, च्यवनप्राश का सेवन, अश्वगंध का सेवन—वातानुलोमक एवं मृदु रेचन की व्यवस्था भी ठीक रहती है । चेतस, हृदय, मानस और मन ये शब्द पर्यायरूप मे व्यवहृत होते है । अस्तु, मन को प्रौढ बनाने के लिये तथा चित्त को प्रसन्न रखने के लिये उपाय करना चाहिये । हृद्रोगो में प्रमुखतया हृच्छूल तथा व्यतिरिक्त अन्य लक्षण दो प्रकार के होते हैं । इन उभयविध लक्षणो के होने पर चिकित्सा मे उपयुक्त योगो से चिकित्सा करते हुए लाभ की संभावना रहती है । तथापि हृदय एक सर्वाधिक महत्त्व का मर्माङ्ग है । इसमे अभिघात या विकार का होना प्राय: घातक होता है । अस्तु, इस मर्माङ्ग की सुरक्षा तथा तद्गत रोगो के प्रतिकारो में सदैव तत्परता रखनी चाहिए ।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रथो में हृदय की रचना-शारीर का वर्णन विस्तार से नही पाया जाता, तथापि इस अग मे होने वाले विकारो तथा चिकित्सा का वर्णन पश्चात्कालीन ग्रथो मे पर्याप्त मिलता है । इन ग्रंथो के आधार पर चिकित्सा करते हुए सफलता भी मिलती है । क्योकि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जावे तो वस्तुत हृदय मे आम तौर से मिलने वाली पाँच प्रकार की व्याधियाँ दिखाई पड़ती है—

१ चेतना-विकारजन्य मानस रोग (Cardiac Nurosis)—इनमें चेतनास्थान हृदय तथा मन को प्रौढ बनाना चिकित्सा है । २. सहज हृद्रोग (Congenital Heart disease)—जन्मजात व्याधियो में किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नही पडती है । रसायन औषधियो का सेवन, विश्राम का जीवन, कोष्ठ की शुद्धि आदि, आहार-विहार एवं पथ्य के द्वारा ही उपचार पर्याप्त होता है । ३. उच्च रक्तनिपीडजन्य हृद्रोग (Hypertensive), इनमें वायु की अधिकता होती है । अस्तु, वात रोग (रक्तवात) की चिकित्सा करने से ही रोगी में उपकार की आशा रहती है । ४ आमवातज हृद्रोग (Rheumatic Heart Disease)—इसमें आम का पाचन, अग्निदीपन, एरण्ड तैल के

प्रयोग प्रभृति आमवातघ्न उपचारो से शमन प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है। ५ हृदय का रक्त द्वारा सम्यक् रीति से पोषण न होने के कारण होने वाले रोग (Ischaemic Diseases of the Heart)—वास्तव मे हृच्छूल शब्द से उसी रोग का वर्णन हृद्रोगाधिकार के वैद्यक-ग्रंथो मे पाया जाता है। हृच्छूल दो कारणो से Angina Pectoris तथा Coronary Thrombosis से हो सकता है। हृद्रोग-चिकित्साधिकार मे इसके प्रतिषेध एवं क्रियाओ का ऊपर मे वर्णन हो चुका है।

तैंतीसवॉ अध्याय

मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात तथा अश्मरी एवं शर्करा प्रतिषेध

मूत्रकृच्छ्र—कष्ट या पीडा के साथ मूत्र-त्याग होना मूत्रकृच्छ्र कहलाता है। "मूत्रस्य महता कष्टेन दु खेन प्रवृत्ति ।" इस अवस्था मे मूत्र पर्याप्त बनता है, वस्ति मूत्र से भरी रहती है, रोगी मूत्र-त्याग की इच्छा भी करता है। परन्तु, मार्ग मे किसी प्रकार का अवरोध होने से मूत्र-त्याग कष्ट के साथ होता है। मूत्र-त्याग मे रोगी को जलन एवं पीडा होती है। इस अवस्था को अंग्रेजी मे Painful Micturation or Dysurea कहते है।[1] इसकी उत्पत्ति मे आधुनिक ग्रंथकारो के अनुसार त्रिविध कारण भाग ले सकते है—१. वस्तिगत कारण—तीव्र या जीर्ण वस्तिशोथ (Acute or chronic cystitis), २. मूत्रपरमाम्लता (Hyperacidity), ३ फिरगी खञ्जता (Tabes Dorsalis), अपतंत्रक (Hysteria) आदि।

मूत्र-प्रणालीगत कारण—शिश्नकला शोथ (urethritis), पूयमेह (Gonorr hoea), मूत्र-मार्गगत सौत्र संकोच (urethral stricture),

---

१ स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणा तथाष्टौ ।
पृथङ्मला स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ ॥
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥
(च. चि २६)

कई बार अष्ठीलावृद्धि (Enlarged Prostate), अर्श तथा सूत्रकृमि (Threadworms) में भी मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो सकता है।

चरक के अनुसार मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार का हो सकता है। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शल्याभिघातज (आघात या विजातीय वस्तु की मूत्रमार्ग मे उपस्थिति), पुरीषोदावर्त्त (पुरीष के वेग को रोकने से), मूत्रमार्ग स्थित अश्मरी के कारण अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र (Bladder stone) तथा शुक्रोदावर्त्तज (शुक्र के वेग को रोकने से)।

मूत्राघात—इस अवस्था में मूत्र का पूर्णतया अवरोध हो जाता है (Retention of urine), मूत्र का त्याग बूँद बूँद करके बिना पीडा के हो जाता है, वस्ति, मूत्र से पूर्णतया भर जाती है, परन्तु, रिक्त नही होती है। मूत्रकृच्छ्र में मूत्र का अवरोध नही होता है वल्कि मूत्रस्राव होता है–किन्तु पीड़ा, वेदना और जलन के साथ। मूत्राघात में वेदना मूत्र के अवरोध या रुकावट के कारण होती है। कईवार मूत्रावसाद की भी एक अवस्था पाई जाती है। जब शरीर से जलीयांश बहुत निकल गया हो, हृदय की पेशियाँ कमजोर हो गई हो, मूत्र का वनना ही कम हो जाता है (Suppression of urine) जैसा विसूचिका के उपद्रव में होता है। मूत्राघात रोग में इस अवस्था का भी समावेश हो सकता है। (इसके ज्ञान के लिये विसूचिका अध्याय देखें)।

मूत्राघात तेरह प्रकार के होते है—१ वातकुण्डलिका (Spasm of urethra), २ वातवस्ति एवं ३ मूत्रजठर (Distended Bladder), ४. अष्ठीला (Enlarged Prostate), ५. मूत्रातीत (Incontinence of urine), ६ मूत्रोत्सग (stricture of urethra). ७. मूत्रक्षय (पूर्वोक्त मूत्रावसाद Anurea or suppression of urine), ८. मूत्रग्रंथि (Enlarged prostate or Tumour of the Bladder), ९ मूत्रशुक्र, १० उष्णवात (Chronic cystitis or urethritis of Gonorrhoeal or other origin), ११. मूत्रसाद (Suppression or Scanty urine), १२ विड्विघात (Recto vesical Fistula, १३. वस्तिकुण्डल (Atonic state of the Bladder) ।[१]

अश्मरी या शर्करा (Stone or Calculus)—पथरी शरीर में विविध प्रकार की विभिन्न स्थानो में पाई जाती है। जैसे क–मूत्राश्मरी (Urinary

---

१ जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादय ॥ (मा नि.)

Calculus) १ वृक्कगत (Renal) २ गवीनीगत (Ureteric), ३ वस्तिगत (Bladder), ४. अष्ठीलागत (Prostatic), ५. प्रसेकगत या मूत्रमार्गगत (Urethral), ६ शिश्नचर्मगत (Prepusal), ख–पित्ताश्मरी (Biliary Calculus), ७ पित्ताशयगत (Gall Bladder), एवं पित्तनलिकागत (Bileduct) ग––अग्नयश्मरी (Pancreatic Calculus), घ–लालाश्मरी (Salivary Calculus), ङ––नाभिगत (Umbelical), च––पुरीषाश्मरी (Fecolith), छ––शुक्राश्मरी (Prostatic or Spermolith), ज––रक्ताश्मरी (Calcilied thrombus),

प्राचीन ग्रथो मे अश्मरी से केवल मूत्राश्मरी का ही वर्णन पाया जाता है। इसके तीन स्थानो का भी उल्लेख स्पष्टतया पाया जाता है। १. वस्तिगत (Vesical), २. गवीनीगत (Urethral), ३ शुक्राश्मरी (Spermolith or Prostatic Calculus), वस्तिगत अश्मरियो के तीन भेदो का भी उल्लेख वाताश्मरी (Oxalic), पित्ताश्मरी (Uricacid), श्लेष्माश्मरी (Phosphatic)। अन्य अश्मरियो का उल्लेख नामत प्राचीन ग्रथो मे नही हुआ है, तथापि लाक्षणिक दृष्टि से रोग का प्रसग अवश्य पाया जाता है। जैसे–गवीनो-प्रसक्त अश्मरी का वात व्याधि में तूनी एव प्रतितूनी नाम से तथा शूलाधिकार में पठित विविध शूलो में पित्ताश्मरियो का पाठ पाया जाता है। यहाँ पर केवल मूत्राश्मरी तक अपने विषय को सीमित रखना उद्देश्य है।

वात पित्त, तथा कफ भेद से तीन एवं शुक्राश्मरी ये चार प्रकार की मूत्रगत अश्मरियाँ होती है–इनकी उत्पत्ति मे कफ दोष की प्रधानता रहती है।

समवर्त्त की विकृति से मूत्र मे १ तरलता की कमी एव घनता की वृद्धि २. मिहिक अम्ल तथा फास्फेट (Uric acid, oxalate, Phosphate) जैसे पदार्थों की प्रचुरता होने पर उनके कण धीरे धीरे सचित होकर अन्ततोगत्वा अश्मरी का रूप धारण करते है। अश्मरियाँ अधिकतर बाल्यावस्था मे पाई जाती है। परन्तु युवावस्था मे भी वृक्काश्मरियाँ या शुक्राश्मरियाँ पैदा होती है।[1]

शर्करा—अश्मरी छोटे छोटे टुकडे या कण के रूप मे बाहर निकलती है तो उसको शर्करा (Passing of Gravels) कहते है। इस तरह अश्मरी और

---

१. वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा।
प्रायः श्लेष्माश्रया सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमा ॥

शर्करा में परिमाण के अतिरिक्त और कोई भेद नही है। इन दोनो की उत्पत्ति समान कारणो से होती है, लक्षण और चिह्न भी तुल्य स्वरूप के ही होते हैं और चिकित्सा भी समान ही है। मूत्रवेग के साथ शर्करा के निकलने से मूत्र-कृच्छ्र तथा वेदना होती है-और निकल जाने पर वेदना शान्त हो जाती है-जब तक अन्य शर्करा मूत्रस्रोत को फिर से अवरुद्ध न कर दे।[1]

अश्मरी मे सामान्य लक्षण—नाभि, सेवनी, अण्ड एवं गुदा के मध्य मे, वस्ति के ऊपरी भाग पेडू में वेदना होती है। अश्मरी के द्वारा मूत्रमार्ग के अवरुद्ध हो जाने पर मूत्र कई धाराओ मे निकलता है। मूत्रमार्ग से अश्मरी के हट जाने पर रोगी स्वच्छ या गोमेद के समान कुछ रक्त वर्ण का मूत्रत्याग करता है। यदि अश्मरी के रगड से वस्ति में क्षत हो जाय तो मूत्र मे रक्त भी आने लगता है। मार्ग में अश्मरी के रहने पर प्रयत्नपूर्वक मूत्र-त्याग किया जाय तो भयङ्कर पीडा होती है।[2]

मूत्रकृच्छ्र-मूत्राघात तथा अश्मरी प्रतिषेध—इनमे बहुत सी अवस्थायें है जिनमें रोग शल्यकर्म साध्य रहता है। अस्तु, यदि औषधियो के सेवन से कोई परिवर्तन रोगी में न दिखाई पडे तो किसी शल्यतंत्रविद् की सलाह लेनी चाहिये और आवश्यक हो तो शल्यतंत्रीय उपचार के लिये रोगी को प्रेषित करना चाहिये।

इन सभी रोगो में परस्पर में सामजस्य है। मूत्रकष्ट, वस्ति को उपरी भाग में वेदना, मूत्र की धारा का दोष प्रभृति लक्षण इन तीनो रोगो मे समान भाव से पाये जाते हैं। अस्तु, चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले योगो मे भी पर्याप्त साम्य है। यहाँ पर पृथक् पृथक् क्रियाक्रम तथा भेषजो का उल्लेख किया जा रहा है। भेषजो में अदल-बदल कर तीनो अवस्थाओ में प्रयोग किया जा सकता है।

मूत्रकृच्छ्र—में वातिक लक्षणो की प्रबलता हो तो अभ्यग, स्नेहन, स्वेदन, उपनाह, वातघ्न औषधियो से परिषेक, निरूह वस्ति तथा उत्तर वस्ति का उपयोग किया जा सकता है। पैत्तिक लक्षणो की प्रबलता हो तो शीतल उपचार, विरेचन, परिषेक, अवगाहन, शीतल औषधियो का लेप (चदन, कमलनाल, कपूर प्रभृति),

---

१ अश्मर्येव च शर्करा। सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते। मूत्रवेग-निरस्ताभि प्रशमं याति वेदना। यावदस्या पुनर्नेति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥

२ आदौ शूल कुक्षिदेशे कटौ स्यात् पश्चाद्रोधो जायते मूत्ररक्तम्। एतैर्लिङ्गैरश्मरीरोगचिह्न ज्ञात्वा कुर्याद् भेषजाद्यैश्चिकित्साम् ॥ यो. र.

दूध, द्राक्षा, विदारी कंद, इक्षुरस, घृत, शीतल पेय (Cold drinks) प्रभृति स्वादु-स्निग्ध एव शीतल उपचारो से ठीक करना चाहिये। श्लैष्मिक लक्षणो की प्रवलता मूत्रकृच्छ्र में दिखलाई पडे तो भोजन एवं औषध के रूप मे क्षारो का उपयोग उष्ण एव तीक्ष्ण अन्नपान, स्वेदन, जौ का प्रयोग, वमन, निरूहण, मट्ठा, तिक्त औषधियो से सिद्ध तैल का अभ्यंग एव पान करे। त्रिदोषज लक्षण मिलें तो व्यामिश्र क्रियाओ को वरते।[1]

भेषज–१. कूष्माण्ड रस—पेंठे का स्वरस ४ तोला उसमे यवक्षार ६ माशे मिलाकर चार मात्रा में विभाजित करके दिन मे कई वार पीना।

२ आमलकी स्वरस या कषाय—आमलकी २ तोला, जल १६ तोला अग्नि पर चढाकर अवशिष्ट जल ४ तोला, उसमे पुराना गुड २ तोला मिलाकर सेवन करने से रक्तपित्त, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा मूत्रकृच्छ्र दूर होता है। थकावट दूर होती है और चित्त प्रसन्न होता है।

३ एर्वारु बीज—खीरे या ककडी का बीज भी अच्छा मूत्रल और मूत्र-कृच्छ्रशामक होता है। इसका स्वतत्र अथवा अन्य औषधियो का योग करके सेवन उत्तम रहता है। जैसे ककडी का बीज ६ माशा, मधुयष्टी ३ माशा, दारुहरिद्रा चूर्ण ३ माशा। मिलाकर एक मात्रा, चावल के पानी और मधु के साथ सेवन।

४. यवक्षार—यवक्षार १ माशा और खांड या देशी चीनी के शर्बत का सेवन। ५. कटकारी स्वरस २ तोला, मधु ६ माशा का सेवन। ६. सूर्यावर्त्त (सूरजमुखी) अथवा सुवर्चला (हुरहुर) के बीजो को पत्थर पर पीस कर ताम्र घट मे रखे हुए वासी जल के साथ सेवन। ७ **शुद्ध गंधक**—शुद्ध गंधक ४ रत्ती, यवक्षार १ माशा, चीनी ६ माशे तक मे मिला कर सेवन करने से पूयमेहज मूत्रकृच्छ्र मे लाभ होता है। ८ **नारिकेल पुष्प**—नारियल के फल के भीतर की पुष्पाकृतिरचना को निकाल कर चावल के धोवन के साथ पीस कर पीने से रक्तस्राव के साथ होने वाले मूत्रकृच्छ्र मे लाभ होता है।

९ गोक्षुर—गोक्षुर बीज का कषाय यवक्षार मिलाकर पीना सरवत मूत्र-कृच्छ्र में लाभ करता है। १० **पंच-तृण कषाय**—कुश, कास, शर, दर्भ और ईख के

---

१ नस्याञ्जनस्नेहनिरूहवस्तिस्वेदोपनाहोत्तरवस्तिसेकान्। स्थिरादिभिर्वात-हरैश्च सिद्धा दद्यात्प्रसाश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे॥ सेकावगाहा शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्वस्तिपयोविकारा। द्राक्षाविदारीक्षुरसैघृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्या॥ क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपान स्वेदो यवान्न वमन निरूहा.। तक्र सतिक्तौषधसिद्ध-तैलमभ्यगपान कफमूत्रकृच्छ्रे॥

मूल का कषाय परम पित्त-शामक, मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाला और वस्ति का विशोधक होता है। इसका उपयोग मूत्रसंस्थान के रोगो के अतिरिक्त पित्ताश्मरीजन्य शूल मे भी किया जा सकता है। ११. पंच-तृण सिद्ध क्षीर—इन्ही औषधियो के योग से पकाया दूध भी उत्तम कार्य करता है।[1] इस योग मे शतावरी, तालमखाना, गोखरू, विदारीकद, नरकट, धान का मूल इन औषधियो के मूलो का भी यथालाभ समिश्रण करके उपयोग उत्तम रहता है। १३. इक्षुरस—गन्ने के रस। १३. तक्र—मक्खन युक्त मट्ठे का चीनी के साथ १४ क्षीर—गर्म करके ठडा किया दूध मिश्री खाड मिलाकर प्रचुर मात्रा मे सेवन करना भी लाभप्रद रहता है।[2] १५. करज की छाल (१ तोला) को गाय के दूध (ऽ।) के साथ पीस कर पीना। १६ आखुविट्-चूहे की मीगी का गन्ने के रस के साथ सेवन सद्य मूत्रकृच्छ्र का शामक होता है।[3] १७. त्रिफला ३ माशा पानी के साथ पीस कर सेंधानमक मिलाकर सेवन करना।

१८. सूक्ष्मैला—छोटी इलायची का चूर्ण २ माशा, गोमूत्र, केले के मूल के रस या मद्य के साथ पीना मूत्र की पीडा को शान्त करता है।[4]

१९ हरीतक्यादि कषाय—हरीतकी, गोखरू का बीज, अमल्ताश की गुद्दी, पाषाणभेद के मूल या पत्ती तथा यवासा समान भाग में लेकर जौकुट करके २ तोले को १६ गुने जल मे क्वथित करके चौथाई शेष रहने पर उतार कर ठंडा करके उस मे शहद ३ माशे मिलाकर सेवन करने से वेदनायुक्त मूत्र कृच्छ्र भी शान्त होता है। यह एक सिद्ध योग है बहुत प्रकार के मूत्रकृच्छ्र में उत्तम लाभप्रद पाया गया है।

२० पाषाणभेदादिक्वाथ—पाषाणभेद, मुलैठी, छोटी इलायची, एरण्डमूल, अडूसा, गोखरू बीज, अमल्ताश, हरड, छोटी कंटकारी मूल, सम-भाग मे लेकर २ तोले द्रव्य को अष्टगुण जल मे खौलाकर चतुर्थांश शेष रहने

---

१ कुश. काम शरो दर्भ इक्षुश्चेति तृणोद्भवम्।
पित्तकृच्छ्रहर पचमूल वस्तिविशोधनम्॥

२. भृष्टेक्षुस्वरसं ग्राह्यमाखुविट्सहितं पिबेत्।
नाशयेन्मूत्रकृच्छ्राणि सद्य एव न सशय॥

३ गुडेन मिश्रितं दुग्ध कदुष्ण कामत. पिबेत्।
मूत्रकृच्छ्रेषु सर्वेषु शर्करा वातरोगनुत्॥

४ मूत्रेण सुरया वापि कदलीस्वरसेन वा।
मूत्रकृच्छ्रविनाशाय सूक्ष्मां पिष्ट्वा त्रुटिं पिबेत्॥

पर छान कर उसमे सुवर्चला (हुरहुर या सूरजमुखी) के बीज का चूर्ण ४ रत्ती और मधु ६ माशे मिलाकर पिलाना भी उत्तम रहता है।

२१ एलादि चूर्ण—छोटी इलायची के दाने, पाषाणभेद, शुद्ध शिलाजीत, छोटी पिप्पली। सम भाग में बना चूर्ण। मात्रा २ माशा। अनुपान चावल का पानी।

२२. श्वेत पर्पटी, क्षार पर्पटी या सित चूर्ण—अच्छा कलमी शोरा ४० तोला, फिटकरी ५ तोला और नौसादर २॥ तोला। सब का मोटा चूर्ण करके मिट्टी की हाड़ी मे पकावे। जब सब द्रव हो जाय तो जमीन पर गोबर बिछाकर ऊपर केले का अखण्ड पत्ता रख कर उस पर डाल दे और तुरन्त उसके ऊपर दूसरा केले का पत्र रख कर दबा दे। ठंडा होने पर निकाल कर कपड छान करके चूर्ण बना कर शीशी मे भर ले। इस योग का कई नामो से वैद्य-परम्पराओ मे व्यवहार पाया जाता है—जैसे सितचूर्ण, वज्रक्षार, क्षार पर्पटी, शीतल पर्पटी और श्वेत पर्पटी। मात्रा १ से २ माशा। शीतल जल मे घोल चीनी के शर्बत मे मिलाकर या कर्पूरोदक मे मिलाकर या कच्चें नारियल के पानी के घोलकर।

उपयोग—यह अच्छा मूत्रल, स्वेदल और वातानुलोमक योग है। अम्ल-पित्त, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी तथा पेट का अफारा मे प्रयोग करे। इसका स्वतंत्र या किसी क्वाथ मे मिलाकर अथवा यवक्षार के साथ मिलाकर (श्वेत पर्पटी २ माशा और यवक्षार १ माशा मिश्र १ मात्रा। चीनी के शर्बत में घोल कर पिलाना उत्तम रहता है।

त्रिकट्वादि या गोक्षुरादि गुग्गुलु (प्रमेहाधिकारोक्त)—इस वटी का प्रमेह, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में दूध या जल के अनुपान से प्रयोग करे।

तारकेश्वर रस—शुद्धपारद, शुद्ध गधक, लौहभस्म, वंग भस्म, अभ्रभस्म, जवासा, यवक्षार, गोक्षुरबीज चूर्ण, हरीतकी चूर्ण प्रत्येक १ तोला। प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यो को मिलाकर कुष्माण्ड फल स्वरस, पचतृण कपाय तथा गोखरू के क्वाथ की पृथक् पृथक् भावना देकर २ रत्ती के प्रमाण की गोलियाँ बनाले। मात्रा १-२ गोली दिन मे २ वार। उदुम्बर फल चूर्ण $\frac{1}{2}$ तोला और मधु के साथ सेवन करावे। इस औषध के सेवन काल में हल्का पथ्य रखे। बकरी का दूध, गन्ना का रस या खाँड का शर्बत पीने को दे। सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात में लाभप्रद होता है।

चंद्रकला रस—शुद्ध पारद, ताम्रभस्म, अभ्र भस्म प्रत्येक १ तोला, शुद्ध गधक २ तोला। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर शेष द्रव्यों को मिलाकर अच्छी प्रकार घोटले। फिर उसमे कुटकी, गिलोय का सत्त्व, पित्त-पापडा, खश, माधवी लता का चूर्ण, अनन्तमूल, श्वेत चन्दन प्रत्येक का चूर्ण १ तोला भर मिलाले। पश्चात् नागरमोथा, मीठा अनार, दूर्वा, केवडे का फूल, सहदेवी, घृतकुमारी, पर्पट, रामशीतलिका, शतावरी इनका यथालाभ क्वाथ या स्वरस से पृथक्-पृथक् एक एक दिन तक यथाविधि भावित करके सुखाकर रख ले। इसको द्राक्षादि गण की औषधियो के क्वाथ (द्राक्षा, सन्तरा, केला, ताडफलगिरी, जामुन एवं आम) से भावित करके या द्राक्षा के काढे या अगूर के रस मे ७ दिनो तक भावित करके औषधि का गोला बनाकर पत्तो में लपेट कर एक सप्ताह तक धान्यराशि मे रख दे। धान्यराशि मे पाक हो जाने पर एक सप्ताह के पश्चात् औषधि को निकाले। पश्चात् गोलियाँ चने के बराबर की बनाकर छाया मे सुखाकर रखले। यह चन्द्रकला रस शरीर के दाह, चक्कर आना, मूर्च्छा, खासी से रक्त आना, रक्त का वमन, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, रक्तार्श, जीर्णज्वर तथा मूत्रकृच्छ्र मे परम लाभप्रद होता है। यह परम पित्तशामक औषधि है। मात्रा १-२ गोली दिन मे तीन बार, पेठे के काढे या रस के साथ। (बृहत् निघटु रत्नाकर)।

सुकुमारकुमारक घृत—पुनर्नवा की जड़ १ तोला लेकर २ द्रोण जल मे खौलाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनावे एवं छानकर रखले। फिर दशमूल, शतावर, बला की जड, असगध, तृणपचमूल, गोखरू, विदारीकद, शालपर्णी, नागबलामूल, गिलोय और अतिबला प्रत्येक ४०-४० तोले लेकर दो द्रोण (३२ सेर) जल मे खौलाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर छान कर रखले। फिर गोघृत १२८ तोले तथा मधुयष्टी, अदरक, द्राक्षा, सैधव, छोटी पीपल ८-८ तोले, अजवायन १६ तोले, गुड १२० तोले, एरण्डतैल ६४ तोले का कल्क एवं दोनो क्वाथो को अग्नि पर चढाकर यथाविधि पाक करे। यह सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियो के लिये, राजा अथवा राजा के समान या श्रीमन्त मनुष्यो के लिये हितकर, बलकारक एवं शीतवीर्य रसायन औषधि है। अनेक रोगो मे विशेषत मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात में लाभप्रद रहता है। मात्रा १ तोला गर्म दूध मे डाल कर दिन दो या तीन बार। (चक्रदत्त)

मूत्राघात प्रतिषेध—मूत्राघात की चिकित्सा मे दोषानुसार मूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाली औषधि योगो का प्रयोग करना चाहिये तथा वस्ति, उत्तरवस्ति एव एरण्डतैल से विरेचन देना चाहिये।

मूत्राघात (Retention of urine or Distended Bladder)—मे पेडू के ऊपर (वस्ति के उपरितन प्रदेश पर) कई लेप करने से लाभ होता है। जैसे—१ सेमल के फूल को एरण्ड तैल मे पीस कर गर्म करके लेप करना। २—चूहे की मीगी को केले के रस मे पीस कर लेप करना।

४. धारा चिकित्सा—१. किंशुक (पलाश के फूल) का काढा वनाकर पेडू के ऊपर गुनगुना छोडना २ मेघनाद (वन चौलाई) का गर्म गर्म लेप या काढा वना कर धारा रूप मे पेडू पर छोडना। ३ कर्कोटक (खेखसा) को गर्म करके सेकना या लेप करना या उसका काढा वनाकर पेडू के ऊपर छोडना ४ केवल गर्म जल या गर्म तैल की धारा छोडना उत्तम रहता है। ५ बिम्बी, कुन्दरू की लता की जड को काजी मे पीस कर गर्म करके पेडू पर लेप करना या उसका पानी वनाकर धारा के रूप मे छोडना।

अन्य उपाय—लिङ्ग के छिद्र मे कपूर का चूर्ण २ रत्ती महीन पीस कर लिङ्ग मे छोडना। यदि इन उपायो से मूत्राशय रिक्त न हो तो मूत्रसारिणी रवर की नाडी (Rubber catheter) को मूत्रमार्ग मे लगाकर मूत्र को निकाले। यदि इससे भी मूत्र न निकले तो लौहनिर्मित मूत्र नाडी (Metal catheter) अथवा लोह शलाका (Metal sounds) का प्रवेश करा के मूत्र का निकालना उत्तम रहता है।[1]

अंत प्रयोज्य औषधियो मे मूत्रकृच्छ्रहर पूर्वोक्त औषधि योगो का प्रयोग हितकर होता है, जैसे—ककडी या खीरा के वीज, कुष्माण्ड स्वरस, गोक्षुर क्वाथ, तृण पंचमूल, श्वेत चदन आदि।

कुछ विशेष योगो में—१. अशोक के बीजो का चूर्ण २ माशे शीतल जल पीसकर पीना। २. रुद्रजटा के मूल का मट्ठे के साथ पीसकर सेवन। ३ वटपत्री या पाषाणभेद के पत्र को मट्ठे, तेल या घी के साथ पीसकर पीना। ४. मद्य मे इलायची का चूर्ण ४रत्ती, नागरमोथा का चूर्ण ४ रत्ती, सेंधा या कालानमक, अनार का रस और मधु मिलाकर सेवन करना। ५ शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती से १ माशा, शहद ½ तोला, शक्कर १ तोला, मिलाकर सेवन। ६ शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती, शक्कर ६ माशा, दशमूल कषाय के साथ। इनसे मूत्रकृच्छ्र मूत्रजठर, मूत्रातीत, वातवस्ति, अष्ठीला प्रभृति अवस्थावो मे रुका हुआ मूत्र स्रवित होता है।[2]

---

१ क्षतशल्यसमुद्भूतमूत्राघातनिवृत्तये।
प्रवेशयेन्मूत्रमार्गे शलाका मूत्रसारिणीम् ॥ (भै र)

२ सशर्करं च ससित लीढ सिद्धं शिलाजतु।
निहन्ति मूत्रजठर मूत्रातीतं च देहिनः ॥

अश्मरी प्रतिषेध—अश्मरी रोग में श्लेष्म दोष की प्रधानता है। यह वृक्क में पैदा होकर कई स्थानो पर पडी शरीर में मिल सकती है, जैसे—वृक्क, गवीनी अथवा मूत्राशय। अश्मरी रोग अधिकतर शस्त्रकर्म-साध्य है तथापि कुछ अवस्थावो मे औषधि के प्रयोग से लाभ की आशा रहती है। ऐसे योगो का उल्लेख नीचे दिया जारहा है। अश्मरी मे वातिक लक्षणो की प्रमुखता हो तो घृतपान कराने से लाभ होता है, ओषधियो में वरुणादि गण का उपयोग, पित्तसदृश लक्षण मिलें तो पाषाणभेद का उपयोग और श्लेष्माधिक्य का चिह्न मिले तो क्षार का उपयोग करना चाहिये।

सामान्य योग—१. **वरुणादि कषाय**—वरुण की छाल, सोठ, गोखरू बीज, मुसली, कुलथी, कुश-कास-शर–दर्भ एवं इक्षुमूल। इनको सम प्रमाण में लेकर २ तोले को ३२ तोले जल में खौलाकर चौथाई शेष रखकर २ तोले देशी चीनी और यवक्षार १ माशा मिलाकर पिलाना। २ वरुण अथवा शिग्रु का कषाय गुड के साथ मिलाकर सेवन।

३ **एलादि क्वाथ**—छोटी इलायची, पिप्पली, मुलैठी, पाषाणभेद, रेणुका, गोखरू, अडूसा, एरण्डमूल। इनको समभाग में लेकर २ तोले को ३२ तोले जल मे खौलाकर चौथाई शेष रहने पर छानकर शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती, ६ माशे मधु और १ तोला शक्कर मिलाकर सेवन।

४. **गोखरू बीज**—गोखरू बीज का चूर्ण ६ माशे और मधु १ तोला मिलाकर बकरी या भेंड के दूध के साथ सेवन करना। एक सप्ताह तक इसके प्रयोग से अश्मरी का भेदन होता है।[1]

५. वाकुची बीज ३ माशे, वरुण की छाल ३ माशे रात में किसी मिट्टी के पात्र में भिगो कर सुबह मसल कर पानी को छान कर पीने से अश्मरी का भेदन होता है। इस योग का उपयोग पित्ताश्मरी में भी लाभप्रद रहता है।

६ **वीरतरादि गण**—शर की जड, नील तथा पीत पुष्प वाला सैरेयक (पियावासा), दर्भ, वृक्षादनी (वादा), नरसल, गिलोय, कुश, कास, पाषाण-भेद, ईख की जड, सोनापाठा, कटसरैया, सूर्यमुखी या हुरहुर, अगस्त्य की छाल, अरणी, नीलोत्पल, गोखरू तथा कपोतवक्त्रा (इलायची या काकमाची)

दशमूलीशृतं पीत्वा सशिलाजतु शर्करम्।
वातकुण्डलिकाष्ठीलावातवस्तौ प्रमुच्यते॥ (यो. र.)

१. त्रिकण्टकस्य बीजाना चूर्णं माक्षिकसंयुतम्।
अजाक्षीरेण सप्ताह पेयमश्मरिभेदनम्॥ (सु)

इस गण की औपधियाँ मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी मे लाभप्रद, शीतवीर्य एवं पित्तशामक होती है।

७ ऊपकादि गण—क्षारयुक्त मृत्तिका, सेधा नमक, हीग, धातु काशीस, पुष्प काशीस, शुद्ध गुग्गुलु, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध तुत्थ। इन औषधियो के सम भाग मे बने योग को ऊपकादि गण कहते है। इन औषधियो का क्वाथ या चूर्ण के रूप मे सेवन करना कफ रोग, मेदो वृद्धि, अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र मे लाभप्रद रहता है।

८ ताम्रघट मे रखे हुए वासी पानी के साथ मुसली का कल्क ३ माशे अथवा इन्द्रायण की जड का चूर्ण १ माशा पीस कर लेने से भी अश्मरी का भेदन होता है।

९ अश्मरीभेदक अन्य योग—गोखरू, तालमखाना, छोटी कटेरी, वड़ी कटेरी, एरण्ड मूल। सम भाग मे लेकर ६ माशे चूर्ण मीठे दही के साथ सेवन करना। इसका एक सप्ताह तक प्रयोग करने से अश्मरी का भेदन होता है।[1]

१० कुलत्थ यूष भी अश्मरीभेदक होता है।

११. कुन्दरू का स्वरस—विम्बी पत्र या मूल का स्वरस या कषाय अश्मरी शूल मे लाभप्रद होता है।

१२ हरिद्रा और गुड प्रत्येक १ तोला काजी के साथ पीस कर सेवन अश्मरीभेदक होता है। १३ वन्ध्या कर्कोटिका कन्द मधु के साथ अश्मरीभेदक होता है।

१४. वरुणाद्य लौह—वरुण की छाल और आँवले का चूर्ण ८-८ तोला, धाय का फूल ४ तोला, हरड का चूर्ण २ तोला, पृश्निपर्णी का चूर्ण—लौह भस्म और अभ्रक भस्म प्रत्येक १ तोला। सब औषधियो को घोट पीस करके शीशी मे भर ले। इस योग को २ माशा की मात्रा मे तृण पंचमूल के क्वाथ के साथ, शहद से या केवल जल से सेवन करने से भयंकर मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी रोग मे लाभ होता है।

अश्मरीहर कपाय—पाषाणभेद, सागौन के फल, पपीते की जड, शतावर, गोखरू वीज, वरुण की छाल, कुशमूल, कासमूल, धान का मूल, पुनर्नवामूल, गिलोय, अपामार्गमूल, खीरा का वीज प्रत्येक समभाग। जटामासी

---

१ मूलं श्वद्रंष्ट्रेक्षुरकोरुवूकात् चीरेण पिष्ट वृहतीद्वयाच्च।
आलोड्यय दध्ना मधुरेण पेय दिनानि सप्ताश्मरिभेदनार्थम्॥

और खुरासानी अजवायन की पत्ती या बीज प्रत्येक दो भाग ले। सब को जौ कुट करके रख ले। इसमें से एक तोला लेकर १६ गुने जल में खौलाकर ४ तोला शेष रहे तो उतार कर छान कर उसमें ५ से १० रत्ती शुद्ध शिलाजीत, श्वेत पर्पटी १० रत्ती और यवक्षार ५ से १० रत्ती तक मिलाकर दे। इस प्रकार रोगी को दिन में तीन-चार बार पिलावे। इसके साथ हजरत जहूद की भस्म देने से विशेष लाभ होता है।

अश्मरी या शर्करा तथा उससे होने वाले गुर्दे (वृक्कशूल Renal Colic) में विशेष उपयोगी है। (सि. यो संग्रह)

हजरु जूहूद की भस्म—एक लम्ब गोल ऊपर से रेखा वाला पत्थर है। यूनानी दवा वेचने वालो के पास इसी नाम से मिलता है। यूनानी वैद्यक मे यह मूत्रल और पथरी को तोडकर निकालने वाला माना गया है।

भस्म-निर्माण विधि—पहले पत्थर को जल से धो कर कपडे से पोछ कर साफ कर ले फिर लौह के इमामदस्ते मे कूटकर कपडछन चूर्ण बनावे। फिर पत्थर के खरल में तीन दिनो तक मूली के स्वरस मे मर्दन करके टिकिया बनाकर सुखा ले। पश्चात् मिट्टी के दो कसोरो में टिकियो को रखकर अर्धगजपुट में अग्नि दे। स्वाङ्गशीतल होने पर टिकिया को निकाल कर पीसकर शीशी मे भर ले। ४–८ रत्ती की मात्रा मे दिन मे तीन वार अश्मरीहर कषाय के अनुपान से सेवन के लिए रोगी को दे।

यदि अश्मरी छोटी हो तो कुछ दिनो तक इसके सेवन करने से पेशाब के रास्ते निकल जाती है। (सि यो. सग्रह)

उपसंहार—जैसा कि ऊपर मे वतलाया जा चुका है, उपर्युक्त रोगो मे प्राय. ये रोग शल्यकर्म से साध्य होते हैं–फिर भी कई अवस्थायें है जो औषध-साध्य है। इन अवस्थाओ में इन औषधियो के प्रयोग से उत्तम लाभ होता है। अश्मरी–भेदक औषधियो का पर्याप्त ज्ञान आधुनिक विज्ञान में नही है। अस्तु, इन औषधियो को शस्त्र कर्म के पूर्व एक वार परीक्षा करके अवश्य देखना चाहिये। वृक्क अथवा मूत्र-वह स्रोत तक अश्मरियो का भेदन हो जाना तो युक्त प्रतीत होता है, परन्तु वस्तिगत अश्मरी में औषधियो से लाभ पहुँचना कठिन रहता है। अस्तु, शस्त्र क्रिया की ही शरण लेना उत्तम रहता है। एक और वडी विचित्रता इन योगो की है कि जो अश्मरीभेदक योग हैं वे केवल मूत्राश्मरी पर ही सीमित नही है शरीर के अन्य भागो में होने वाली अश्मरियो पर भी उनके भेदन में इनकी क्षमता देखी जाती है।

मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, मूत्राघात से पीडित रोगियो मे आहार-विहार के सम्बन्ध का विशेप ध्यान रखना चाहिये। एतदर्थ रोगी को जौ का मण्ड (२ तोले को ६४ तोले जल मे उवाल कर चौथाई शेप रखकर कपडे से छान कर), कच्चे नारियल का पानी, नारियल की गिरी, गन्ने का रस, लौकी, पेठा, ककडी, खीरा, पुनर्नवा की पत्ती, कासनी की पत्ती, कुन्दरू, कुन्दरू की पत्ती, मकोय, पत्र शाक, उवाला हुआ जल का अधिक मात्रा मे सेवन प्रभृति मूत्रल द्रव्यो का प्रयोग हितकर होता है।

द्विदल धान्य (विविध प्रकार के दालो का उपयोग), मास, कंदशाक तथा स्नेह पक्व (घृत या तैल–पक्वान्न) अपथ्य है। अवगाहन स्वेद (गरम जल मे कमर का भाग डूवा रहे) मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी मे हितकर होता है। रोग का दौरा शान्त हो जाने पर भी उपर्युक्त पथ्यो का ध्यान रखना चाहिये और भोजन मे पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूँग या कुलथी की दाल, तक्र (मट्ठा) या गाय का दूध, पेठा आदि मूत्रल आहार रोगी को सेवन के लिए देना चाहिये।

पीड़ा के साथ मूत्रत्याग का वृत्त—वाल्यावस्था मे प्राय अश्मरी के कारण युवावस्था मे प्राय पूयमेह (Gonorrhoea) के कारण तथा वृद्धावस्था मे प्राय अष्ठीला ग्रथि की वृद्धि के कारण पाया जाता है। ऊपर लिखे मूत्रल कपाय एव योगो के प्रयोग से सभी अवस्थाओ मे कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। अश्मरियो के प्रतिषेध के सम्बन्ध मे तो वहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ पर पूयमेह तथा अष्ठीला वृद्धि के सम्बन्ध मे विशेप कथन अभिप्रेत है।

पूय-मेह प्रतिषेध—

इस रोग की तीव्रावस्था मे रोगी को पूर्णतया शारीरिक विश्राम देना चाहिए। मानसिक उत्तेजनाओ से विरत करना चाहिए, विशेपत कामवासनो-त्तेजक भावो से। भोजन मे केवल दूध (गाय का) रोटी या चावल खाने को देना चाहिए। मद्य, मास, गर्म मसालो का त्याग करना चाहिए। रोगी को पर्याप्त मात्रा मे शीतल जल पिलाना चाहिए।

वास्तव मे पूयमेह (Gonorrhea) आधुनिक सभ्यता का रोग है और कुप्रसग से पैदा होता है, प्राचीन ग्रथो मे इसका यथार्थत वर्णन नही पाया जाता है। फलत चिकित्सा में भी आधुनिक विज्ञान सम्मत ओपधियोग (Sulpha drugs, Penicillin, Streptomycine) तथा अन्य (Anti biotic) सद्य चमत्कारक लाभ दिखलाते हैं। परन्तु, इनके प्रयोग से लाभ तो शीघ्र हो जाता है, किन्तु रोग का पुनरावर्त्तन प्राय. होता रहता है। अस्तु, आयुर्वेदीय पद्धति से चिकित्सा करना भी आवश्यक हो जाता है।

रोग की तीव्रावस्था में—शुद्ध गंधक १ माशा की मात्रा में घी और चीनी मे सुवह-शाम देकर तक्र (छाछ) पिलाना चाहिये। अनुपान रूप में शिग्रु का कषाय, अथवा हरीतक्यादि कषाय का भी उपयोग किया जा सकता है।

श्वेत पर्पटी—२ माशा और यवक्षार १ माशा मिलाकर एक छटांक पानी मे वने चीनी के शर्वत मे घोलकर दोनो वक्त भोजन के वाद पिलाना चाहिये।

चंदन का तेल—५ वूद वताशे मे रख कर पिलाने से भी उत्तम लाभ होता है। पूयको रोकने में इसका विशेष प्रभाव होता है।

चंदनादि वटी—श्वेत चंदन का बुरादा, छोटी इलायची के वीज, कवाव चीनी, सफेद राल, गंधा विरोजे का सत, कत्था और आँवला प्रत्येक चार-चार तोला। कपूर १ तोला उत्तम चदन का तेल (इत्र) ५ तोला, रसोत (दारुहरिद्रा का घनसत्त्व) इतनी मात्रा मे जितने मे गोली वन सके। ५-५ रत्ती की गोलियाँ वनाले। मात्रा-२-४ गोली दिन में तीन वार ठंडे जल से। पूय (मवाद) मेह में पेशाव की जलन होने पर विशेष लाभ करता है। (सिद्ध योग संग्रह)

पूयमेह की जीर्णावस्था में—उष्णवात की चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये तिन्तिडी चूर्ण-इमली के वीज का कपडछान चूर्ण ६ माशे की मात्रा में जल या मधु के साथ अथवा हरिद्रा योग-हरिद्रा, आमाहल्दी, दारुहरिद्रा तथा आमलकी का सम भाग मे लेकर वनाया चूर्ण ३ माशे की मात्रा में घी या गाय के दूध से देना उत्तम रहता है। संधिवात (Gonorrhoeal Arthritis) से उपद्रुत जीर्ण पूयमेह में गोक्षुरादि गुग्गुलु २ गोली दिन में तीन वार, हरीतक्यादि कषाय से देना चाहिए। शेष लाक्षणिक उपचार करना चाहिये। जीर्ण पूयमेह मे प्रमेहाधिकार के योग, जैसे—चंद्रकला वटी, वसन्ततिलक रस, शिवा गुटिका आदि भी लाभप्रद रहते हैं। वग के योगो में विशेषत सुवर्णवग का उपयोग करना चाहिये।

अष्ठीला वृद्धि (Enlarged Prostate)—वृद्धावस्था मे होने वाला शस्त्रसाध्य रोग है। निम्न लिखित योगो के प्रयोग से लाभ प्राप्त होता है—

गोमूत्र स्विन्न हरीतकी—हरीतकी १ पाव लेकर पानी से धोकर मिट्टी के वर्त्तन में गोमूत्र में भिगो दे। चौवीस घंटे के पश्चात् उसे निकाल ले और एरण्ड तैल ५= में भूनकर पकाकर रख ले। १-२ हरीतकी दिन में दो वार सेवन करे।

तारकेश्वर रस अथवा शिवा गुटिका अथवा अश्मरीहर कषाय का भी उपयोग यथावसर करना चाहिये।

चौंतीसवाँ अध्याय

प्रमेह प्रतिषेध

प्रावेशिक—अश्मरी, मूत्राघात एवं मूत्रकृच्छ्र के पश्चात् मूत्र रोगो मे दूसरा अध्याय प्रमेह का पाया जाता है। प्रमेह शब्द की शाब्दिक व्याख्या—प्रकर्षेण-प्रभूत-प्रचुर वारंवार-मेहति मूत्रत्याग करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेह । अर्थात् जिस रोग मे अत्यधिक या वार वार मूत्रत्याग (Frequeny, of micturation or Total out put of urine increased) होता है अथवा मूत्र मे आविलता—गँदलापन (Turbidity) पाया जाता है, उस रोग को प्रमेह कहते है। इन सभी प्रमेहो मे मूत्र-सस्थान की विकृति पाई जाती है। विकृति की विभिन्नता के अनुसार प्रमेह के लक्षणो मे भी भेद पाये जाते है और विशिष्ट लक्षण मिलते है।

आचार्य वाग्भट ने लिखा है कि वस्तुत 'मूत्र की अधिकता और गदलापन सभी प्रमेहो का सामान्य लक्षण है। सभी प्रमेहो मे दोष एव दूष्य के समान रहने पर भी उनके सयोग विशेष के कारण मूत्र के वर्ण, गध, स्पर्श आदि भेदो से प्रमेहो के अनेक भेद हो जाते हैं।'[1]

सामान्य दोष, दूष्य तथा मेहों के भेद—[2]प्रमेह एक त्रिदोषज व्याधि है। दोषो की उल्वणता या अधिकता के अनुसार वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक भेद किये जाते है। प्रमेह की उत्पत्ति मे दूष्यो की समानता पाई जाती है। दूष्यो मे मेद, रक्त, शुक्र, जल, वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज तथा मास शरीर के धातु, दूष्य वनते हैं। इन दोष एव दूष्यो की विकृति के प्रभाव से दोष-भेदो के अनुसार कफज दश (उदकमेह, इक्षुमेह, सान्द्रमेह, सुरामेह, पिष्टमेह, शुक्र-

---

१ सामान्य लक्षण तेषा प्रभूताविलमूत्रता।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्सयोगविशेषत ॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते।
मूत्राघाता प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च ॥
मूत्रदोषाश्च ये वापि वस्तौ चैव भवन्ति हि।

२. कफ सपित्त. पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीका ।
मज्जारसौज पिशित च दूष्या प्रमेहिणा विंशतिरेव मेहा ॥

मेह, शीतमेह, सिकतामेह, शनैर्मेह, लालामेह) पित्तज छ (क्षार-काल-नील-रक्त-माजिष्ठ-हारिद्रमेह) तथा वातज चार (वसा-मज्जा-हस्ति-मधुमेह) एवं कुल मिलाकर बीस प्रकार के प्रमेह होते हैं।

प्रमेह रोग मे विशिष्ट हेतुओ के अनुसार ये भेद वतलाये गये है। सामान्यतया भी कुछ हेतु प्रमेहो की उत्पत्ति मे भाग लेते हैं। ये सामान्य हेतु कफ दोष तथा कफ दोष से समता रखने वाले दूष्यो को विकृत करके रोग की उत्पत्ति कराते है--जैसे गुदगुदे विस्तर पर निश्चेष्ट शारीरिक परिश्रम से विमुख होकर आराम से पडे रहना, अधिक बैठे रहने का व्यवसाय, निश्चिन्त होकर अधिक सोना, दही का अधिक सेवन, ग्राम्य (पालतू जीवो के मास), मछली आदि जल-मास तथा भैसा, शूकर प्रभृति आनूपदेशज प्राणियो के मासो का सेवन, दूध तथा दूध से वने रवडी, मलाई आदि का अधिक उपयोग, गुड तथा गुड के वने पदार्थ मिश्री, चीनी, खाड आदि का सेवन, नवीन पैदा हुआ अन्न और पान का सेवन सभी कफवर्धक आहार प्रमेह के उत्पादक होते हैं।[1] (Rich & fatty diet & Sedatary life).

साध्यासाध्यता—इन वीस प्रकार के मेहो मे कफज मेह साध्य, पित्तज मेह याप्य तथा वातज मेह असाध्य होते हैं। साध्यासाध्यता की उपपत्ति मे प्राचीन ग्रथकारो ने यह वतलाया ह कि कफज मेहो मे दोष (कफ) एव दूष्य (मेदादि) की समानता है दोनो के प्रतिकार मे कटु, तिक्त आदि रसो का प्रयोग हितकर होता है। अस्तु, समान क्रिया से दोष एव दूष्य दोनो का शमन करना सभव रहता है। अस्तु, सभी साध्य होते हैं। पित्तज मेहो मे पित्त दोष एव दूष्य पूर्ववत् मेदादि होते है। इस प्रकार दोष और दूष्यो को एक ही क्रिया शामक नही होती है। प्रत्युत विपरीत पडती है।—जैसे पित्तहर जो मधुरादि रसवाले द्रव्य है वे मेद के वर्द्धक होते है—और मेदोहर कटुकादि उपचार पित्त के वढाने वाले पडते है। अस्तु, क्रिया की विषमता उत्पन्न हो जाती है फलतः पित्तज मेह सुखसाध्य न रहकर याप्य हो जाते हैं। वातज मेहो मे मज्जादि गम्भीर धातुओ का नाश होने से वहुत से उपद्रव खडे हो जाते है। रोग भी शीघ्र विनाशकारी हो जाता है अतएव वातज मेह असाध्य होते हैं।[2]

---

१. आस्यासुख स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसा पयासि।
नवान्नपान गुडवैकृतञ्च प्रमेहहेतु. कफकृच्च सर्वम्॥ (वा. नि.१०)

२. साध्याः कफोत्था दश पित्तजा षट् याप्या न साध्य पवनाच्चतुष्क.।
समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वाद् महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते॥ (च चि. ६.)

कुलज सभी रोग असाध्य—प्रमेह भी यदि कुलज हो तो असाध्य होता है। प्रमेही से उत्पन्न संतान भी प्राय प्रमेही पैदा होती है और उसका रोग भी असाध्य ही होता है। इन दोनो अवस्थाओ मे असाध्यता पैदा करने वाला कारण गर्भारंभक बीजदोष (शुक्रकीट, डिम्बगत क्रोमोजोम्स) होता है। यदि प्रमेही का बल-मास बहुत क्षीण हो गया हो तब भी वह असाध्य हो जाता है।[1] सभी प्रमेह सम्यक् रीति से उपचार न होने से अत मे मधुमेहत्व को प्राप्त करते है और तब वे असाध्य भी हो जाते है।

मधुमेह—समय पर उचित उपचार न करने से सभी प्रमेह मधुमेह मे परिणत होकर असाध्य कोटि मे पहुँच जाते है। चूँकि मधुमेह मे रोगी मधु के समान मधुर मूत्र का त्याग करता है और शरीर मे भी माधुर्य रहता है अत इस रोग को मधुमेह कहते हैं। मधुमेह कारणभेद से दो प्रकार का होता है-एक धातुक्षय से कुपित वायु से तथा दूसरा पित्त और कफ से आवृत वायु के द्वारा। इनमें आवरण-दोषजनित या उपेक्षित प्रमेहजन्य मधुमेह कष्ट-साध्य किन्तु स्वतत्र वातकोपजन्य मे मधुमेह असाध्य होता है।

मधुमेह आधुनिक विद्वानो के अनुसार प्राङ्गोदीयो (Carbohydrates) के समवर्त्त (Metabolism) की विकृति का परिणाम होता है। मधुमेह प्रमेह रोग अन्तिम परिणाम (Seqnellai) के रूप मे पैदा होता है—इसमे मूत्र की मधुरता के साथ-साथ शरीर की भी मधुरता पाई जाती है। शरीर की मधुरता से रक्तगत शर्करा की वृद्धि समझनी चाहिये। अर्थात् मधुमेह मे रक्तगत शर्करा की वृद्धि के साथ-साथ मूत्र द्वारा भी शर्करा का उत्सर्ग होता है। इसे मधुमेह युक्त परम मधुमयता (Hyper Glycaemia with Glycosuria or Diabetes Mellitus) कहते है। श्लैष्मिक प्रमेहो मे पाये जाने वाले रोग इक्षुमेह से इसका यही भेद है—इक्षुमेह मे केवल मूत्र मे माधुर्य (Glycosuria) पाई जाती है, परन्तु Diabetes Mellitus मे शरीर का मधुर होना या रक्त-गत शर्करा का वृक्क देहली (Renal Threshhold) से अधिक होना आवश्यक है जब कि इक्षुमेह मे रक्तगत शर्करा की वृद्धि नही होती है।[2]

---

१ जात प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्त स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तास्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥(च)

२ सर्व एव प्रमेहास्ते कालेनाप्रतिकारिण.।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ (सु)

प्रमेह में सामान्य क्रियाक्रम—प्रमेहपीडित रोगी दो प्रकार के मिलते हैं—एक स्थूल (मोटे) एव बलवान् दूसरे कृश एव दुर्बल। इनमे स्थूल एव बलवान रोगी मे बढे हुए दोषो को दूर करने के लिये वमन एव विरेचन प्रभृति कर्मो के द्वारा संशोधन करना उचित रहता है—कृश एवं दुर्बल रोगियो मे बल-मासादि को बढाने के लिये बृंहण करना अपेक्षित रहता है।

स्थूल एवं बलवान् प्रमेह के रोगियो की वमन एवं विरेचन कर्म के द्वारा ऊर्ध्व और अधो मार्ग मे लीन हुए मल के दूर हो जाने के पश्चात् संतर्पण क्रम से ही चिकित्सा करनी चाहिये। जो रोगी अत्यन्त क्षीण या दुर्बल होने के कारण सशोधन के योग्य नही है उनकी सशमन क्रिया के द्वारा चिकित्सा प्रारंभ से ही करनी चाहिये।

सामान्यतया मूत्र-संस्थान के रोगो मे अपतर्पण पथ्य होता है—परन्तु प्रमेह रोग में संशोधन के अनन्तर अग्निका बल देखते हुए संतर्पण की भी व्यवस्था करनी चाहिये। प्रमेह मे सामान्यतया कफ-पित्तनाशक उपचार पथ्य होता है। अस्तु, अपतर्पण की ही क्रिया अधिक प्रशस्त है।[1]

प्रमेह रोग मे सशमन के लिये निम्न लिखित आहार-विहार की व्यवस्था करनी चाहिये। रोगी को बल के अनुसार शारीरिक श्रम कराना, भोजन मे लघु भोजन जैसे—जौ, कोदो, साँवा, गेहूँ (रोटी, दलिया, भात या सत्तू बनाकर यथा-योग्य) का प्रयोग करना चाहिये। पुराने चावल का सेवन भी कराया जा सकता है, परन्तु सब से उत्तम अन्न जौ है। इसका बहुलता के साथ उपयोग

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा। क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायुर्दोषावृतपथेऽथवा॥ आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन्। क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्र-साध्यताम्। मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विह मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरत॥ (वा नि. १०)

१. स्थूल प्रमेही बलवानिहैक कृशस्तथैक परिदुर्बलश्च। सबृंहण तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥ ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु संतर्पण-मेव कार्यम्। सशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या॥ यवस्य-भक्ष्यान् विविधांस्तथाद्यात् कफप्रमेही मधुसंप्रयुक्तान्। भृष्टान् यवान् भक्षयत प्रयो-गान् शुष्कांश्च सक्तून्न भवन्ति मेहाः॥ व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नान-जलावसेकैः॥ विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धा प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्या। क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्। वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि॥

कराना चाहिये। जौ के बने विविध प्रकार के भोजन जैसे—दलिया, रोटी, हलुवा, अपूपा (पूवा), बाटी आदि बनाकर भी दिया जा सकता है—"यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही।" दालो मे मूग, चना एव अरहर, कुलथी का और विशेप कर मूंग का उपयोग करना चाहिये। शाक-तरकारी मे तिक्त और कपाय कटु रस युक्त पत्र, पुष्प, फल वाले शाको का जैसे—नीम की पत्ती, परवल, करेला, केला, गूलर आदि का सेवन कराना चाहिये। मूल और कदो का शाक रूप मे उपयोग कम करना चाहिये।

मासरसो में प्रतुद (चोच से निकालकर मासादि खाने वाले गीध, बाज, काकादि) एव विष्किर (जमीन को कुरेदकर या नख से विखेर कर खानेवाले—मुर्गे वत्तक, तितिर, लावा आदि) पक्षियो के मास या अन्य जाङ्गल पशुओ के मास प्रमेह मे उत्तम रहते हैं। प्रमेह मे मट्ठे का सेवन तथा मधु का उपयोग उत्तम रहता है—फलो मे आँवला, जामुन, आम, केला, अगूर मुनक्का, सेव, अमरूद, तथा अन्य ऋतु-फलो का सेवन पथ्य रहता है। फलो के माधुर्य से मधुमेह मे भी हानि नही होती है। जौ के सत्तू का सेवन भी हितकर है। तैलो मे सर्षप, अतसी एव इगुदी तैल का उपयोग खाद्य रूप मे करना उत्ताम रहता है।

रूक्ष पदार्थ जैसे—निम्ब-हरिद्रादि द्रव्यो के चूर्ण के द्वारा या महीन मिट्टी के द्वारा शरीर के ऊपर गाढा उद्वर्त्तन करना, स्नान करना, व्यायाम करना, रात्रि मे जागरण, पथ्य है। दिन मे न सोना, अधिक वैठना या सोना, आराम-तलबी का जीवन तथा स्निग्ध, गुरु एवं अभिष्यदी आहार प्रमेह में अनुकूल नही पडते है—। अस्तु, इन आहार-विहार एव औषधियो का वाह्य तथा आभ्यतर प्रयोग प्रमेह रोग मे हितकर होता है। निदान या कारण का परिहार सभी रोगो मे चिकित्सा सूत्र है—फलत. प्रमेह के उत्पादक सामान्य हेतुवो का–जिनका ऊपर मे कथन हो चुका है–पूर्णतया परित्याग करना आवश्यक होता है।[1] जैसे दधि, आनूपदेशज मास, उडद, घी, रवडी, मलाई, कुष्माण्ड, इक्षुरस, गुड, स्वादु, अम्ल एव लवण का उपयोग सर्वथा वद कर देना चाहिये।

गाय का दूध पानी मिलाकर सेवन करना उत्ताम रहता है। धारोष्ण हो एवं वरावर पानी मिलाकर लिया जावे तो अधिक उत्तम रहता है।[2]

---

१ यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेपु प्रमेहेपु न ते निपेव्या। हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा॥ (च चि ६)

२ आमदुग्ध समजल य पिवेत् प्रातरुत्थित। नि सशय शुक्रमेह पुराणस्तस्य नश्यति॥ सर्वमेहहरो धात्र्या रस क्षौद्रनिशायुतः। लीढ. सारो गुडूच्यास्तु मधुना तत्प्रमेहनुत्॥ पीतो रसो गुडूच्या वाम धुना मेहनाशन। पलाशपुष्पतोलैक सितायाश्चार्धतोलकम्। पिष्ट पीताम्भसा पीत मेह हन्ति न सशय.॥ (भै. र.)

प्रमेहघ्न सामान्य औषधियाँ—१. हरिद्रा (हल्दी का चूर्ण ३ माशा मधु ६ माशा)। २. आमलकी मधु के साथ। ३. गुडूची क्वाथ या स्वरस मधु के साथ। गुडूचीसत्त्व १-२ माशा मधु के साथ। ४ खदिर का क्वाथ या जल। ५. कुश का क्वाथ या जल। ६ मधु का शर्बत (पानी मे घोल कर बनाया जल)। ७. त्रिफला चूर्ण ३ माशा ६ माशा या त्रिफला क्वाथ का मधु से सेवन। ८. दारुहरिद्रा का चूर्ण २ माशा मधु से। ९ शतावरी-मूल का स्वरस १ तोला लेकर उसे १ पाव दूध मे मिलाकर सेवन। १०. पलाश पुष्प १ तोला मिश्री ½ तोला जल से पीसकर शर्बत बना कर लेना प्रमेह रोग मे लाभप्रद रहता है। ११ शुद्ध स्फटिका चूर्ण-१ माशा की मात्रा मे नारिकेल जल के साथ सेवन विशेषत जीर्ण पूयमेह (Gleet) मे उपयोगी है।

१२. शुद्ध शिलाजीत १ माशा की मात्रा मे दूध में घोल कर सेवन। १३. लौह भस्म १ र० की मात्रा में त्रिफला चूर्ण एवं मधु के साथ लेना। १४. त्रिवंग (नाग-वग-यशद) में से किसी एक का भस्म १-२ रत्ती की मात्रा में हरिद्रा चूर्ण १ माशा और आँवले का स्वरस ६ माशा एव मधु ६ माशा के साथ सेवन।

१५ भूम्यामलकी का स्वरस १ तोला, मरिच २० दाने के साथ सेवन करना।

१६ कतकबीज (निर्मली बीज) का चूर्ण १ तोला तक्र के साथ पीसकर मधु मिला कर सेवन।

१७. गुडमार की पत्ती का कल्क या स्वरस कालीमिर्च के साथ पिलाने से बहुमूत्र तथा मधुमेह और इक्षुमेह मे लाभप्रद रहता है।

१८. गुञ्जामूल चूर्ण ३ माशे मधु से।

१९ बकायन की मीगी या पूतिकरज की मीगी का चूर्ण १-२ माशे मधु मे सेवन।

दोषानुसार तथा प्रमेहभेदानुसार विशिष्ट क्रिया क्रम—

श्लेष्म प्रमेह—कफज प्रमेह दश प्रकार होते है। इनमें सामान्य उपचार के रूप में लंघन, लेखन तथा सशोधन क्रियाओ को यथासमय करना हितकर होता है। विशिष्ट औषधियो का एकैकश. वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. **उदक मेह**—(Diabetes Insipidus) पारिजात का कषाय (२ तोले पारिजातपत्र ३२ तोले जल मे उबाल कर ८ तोले शेष रहने पर पिलावे।) (सु) हरड, कायफल, नागरमोथा और लोध्र सम भाग मे लेकर २ तोले द्रव्य का कषाय बनाकर मधु मिलाकर सेवन। (यो. र)

२ इक्षुमेह (Glycosuria Alimentry)—निम्ब के पत्र या छाल का काढा (सु) पाठा, वायविडङ्ग, अर्जुन की छाल और धमासा-समभाग लेकर जौकुट कर २ तोले द्रव्य का यथाविधि क्वाथ बनाकर मधु के साथ। (यो. रत्नाकर मे कदम्ब के पाठ से उद्धृत) जयन्ती कषाय भी उत्तम रहता है।

३ सान्द्रमेह (Phosphaturia)—सप्तपर्ण का कषाय। (सु) हरिद्रा, दारु हरिद्रा, नागरमोथा और वायविडङ्ग समभाग मे लेकर २ तोले द्रव्य का यथाविधि बनाया कषाय मधु के साथ।

४ पिष्ट मेह (Chyluria)—हरिद्रा एवं दारु हरिद्रा का कषाय (सु) दारु हरिद्रा, वाय विडङ्ग, खदिर की छाल और धव की छाल का सम भाग मे गृहीत का कषाय मधु के साथ।

वस्तुत पिष्टमेह और सान्द्रमेह दोनो मे लक्षण एव चिकित्सा का बहुत साम्य है—। अस्तु, एक मे प्रयुक्त औषधि दूसरे मे भी व्यवहृत हो सकती है। इन दोनो अवस्थावो में मण्डूर भस्म ४ रत्ती की मधु से दिन मे दो बार देकर त्रिफला का कषाय पिलाने से अद्भुत लाभ होता है।

५ सुरामेह (Acetonuria)—सुरातुल्य गध का मूत्र। यह भी एक प्रकार का सान्द्रमेह ही है। मधुमेह (Diabetes Mellitus) का एक विशिष्ट लक्षण है। शालमली (सेमलमूल) का कषाय उत्तम रहता है (सु)। कदम्ब की छाल अथवा फूल, शाल की छाल, अर्जुन की छाल और अजवायन समभाग मे लेकर २ तोला द्रव्य का यथाविधि बना। कषाय मधु के साथ।

(योग र.)

६ शुक्रमेह (Spermatorrhea)—दूर्वा, शैवाल, पूति करञ्ज, कशेरुक, केवटी मोथा, सेवार, जलकुभी कषाय का (सु) देवदारु, मीठा कूठ, अगुरु और लाल चदन इन द्रव्यो को सम भाग मे लेकर यथाविधि निर्मित कषाय मधु के साथ। (यो र) न्यग्रोधादि गण की औषधियाँ मधु मे।

७ सिकतामेह (Lithuria or Passing of Gravels)—अश्मरी तथा शर्करा अधिकार की चिकित्सा करे। निम्ब का कषाय पान (सु) दारुहल्दी, अरणी की छाल, त्रिफला और वच का कषाय मधु के साथ (यो र) चित्रक का क्वाथ भी उत्तम है।

८ शीतमेह—स्वभावत मूत्र शरीर के रक्त-ताप के समान उष्ण होता है, पर जिन अवस्थावो में (Nitrogenous) पदार्थों की अमोनिया आदि की उत्पत्ति अधिक होती है, मूत्र शीतल होता है। सभवत इसी अवस्था को ध्यान

मे रखकर आचार्यो ने इस अवस्था का वर्णन किया है। उपचार मे व्यवहृत होने वाली औषधियाँ—पाठा एव गोक्षुर कषाय (सु.) अथवा पाठा, मूर्वा और गोखरु का कषाय मधु से पिलावे। (यो. र)

९ शनैर्मेह—धीरे-धीरे मद वेग से मूत्र का स्राव होना। त्रिफला और गुडूची का कषाय। (सु) वच, खस, हरड, गिलोय इनका समभाग मे लेकर २ तोले द्रव्य का कषाय लाभप्रद होता है। (यो. र.)

१० लालामेह—स्निग्ध एवं पिच्छिल वस्तु का मूत्र से स्रवित होना। यकृत् दोष से शुक्रकीट ही शुक्र द्रव (Spermatic Fluid Prostatic or Seminal vesical Secretion) का स्राव। त्रिफला और अमलताश का कषाय (सुश्रुत)। अडूसा, हरीतकी, चित्रक की छाल और सप्तपर्ण की छाल का कषाय लालामेह को दूर करता है। (यो र.) बकायन के बीज की मीगी २ माशा का चूर्ण मधु से।

सुश्रुत ने लवणमेह (जिसमे क्लोराइड्स की मात्रा अधिक आवे इस प्रकार का मूत्र) तथा फेनमेह (मूत्र मे फेन या वायु की उपस्थिति होना– Pneumaturia) का वर्णन शीतमेह तथा लालामेह के स्थान पर किया है। फेनमेह मे त्रिफला, आरग्वध और द्राक्षा कषाय मधु के साथ पिलाने को बतलाया है। अगुरु तथा पाठा का क्वाथ लवणमेह मे उत्तम बताया है।

पित्तप्रमेह—पित्त प्रमेह छ. प्रकार के होते है। इनमे सामान्यतया विरेचन, सतर्पण तथा सशमन के द्वारा उपचार करना होता है। एकैकशः इनकी चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. क्षारमेह (Alkalineurine)—त्रिफला कषाय (सु.)। खस, लोध्र, अर्जुन की छाल और चदन का सम भाग मे लेकर जौ कुटकर २ तोले द्रव्य का कषाय मधु से।

२. नीलमेह (Indicanuria)—शालसारादि कषाय, अश्वत्थ कषाय (सु.)। खस, मोथा, आँवला एव हरड का कषाय।

३ अम्लमेह (Highly acidic urine)—का वर्णन केवल सुश्रुत मे आता है। इसमें क्षारीय द्रव्यो का उपयोग करना चाहिये। शेष हारिद्र, माजिष्ठ, रक्त और काल मेह वास्तव मे रक्तपित्त या रक्तमेह के ही विविध प्रकार है–'रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोप. (चरक)।

३. हारिद्रमेह (Haemoglobinuria)—आरग्वध कषाय (सु.) मोथा, हरड, पुष्करमूल, श्वेत कुटज की छाल इनका क्वाथ।

४ मांजिष्ठ मेह (Haemoglobinuria or urobilinuria)—मजिष्ठा एव चदन का कषाय (सु) लोध्र, नेत्रवाला, दारुहरिद्रा और धाय के फूल का कषाय।

५ रक्तमेह या शोणितमेह (Haematuria)—गुडूची, तिन्दुकास्थि, गाम्भारी और खजूर के फल का कषाय मधु मिलाकर लेना। सोठ, अर्जुन की छाल, शिरीष की छाल, छोटी इलायची और नील कमल का कषाय। रक्त चदन, मधुयष्टि, मुनक्का—से सिद्ध क्षीर का प्रयोग। वृक्काश्मरी, अर्बुद, अभिघात-क्षय, वस्तिगत अश्मरी तथा रक्तपित्त आदि विविध कारणो से यह अवस्था उत्पन्न होती है। कारणानुरूप चिकित्सा करनी चाहिये। तथापि उपर्युक्त योगो से अथवा के शुद्ध स्फटिका १ माशा की मात्रा मे गूलर के कषाय से देने से लाभ उत्तम दिखलाई पडता है।

६ कालमेह (Melanuria)—यह भी रक्तमेह का एक प्रकार है। न्यग्रोधादि कषाय। पटोलपत्र, निम्ब की छाल, आँवला और गिलोय इनका क्वाथ मधु मिलाकर।

वातिक प्रमेह—वातिक प्रमेहो मे अत्यधिक मात्रा मे धातुक्षय हो जाता है जिससे वायु कुपित होकर प्रमेह रोग को पैदा करता है। ये सभी प्रमेह असाध्य हो जाते हैं। अस्तु, इनकी चिकित्सा की विशेष चिन्ता की आवश्यकता नही रहती है। वातघ्न ओषधियो से सिद्ध तैल या घृत का सेवन रोगी को कराना चाहिये।[1] भेदानुसार यहाँ एकैकश चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है। इन रोगो के असाध्य होते हुए भी यापनार्थ कुछ औषधि योगो का व्यवहार अपेक्षित रहता है।

१ वसामेह (Lipuria)—मूत्र मे अत्यधिक मात्रा मे वसा आती है। अग्निमथ (अरणी) का अथवा शिशपा (शीसम) का कषाय मधु से। (सु)

२ मज्जामेह—इसे सुश्रुत ने सर्पिर्मेह की सज्ञा दी है। यह वसामेह का ही एक प्रकार है। इसमे वसा के साथ रक्त का भी मिश्रण पाया जाता है। ऐसी अवस्था वृक्क-विद्रधि, पुराना पूयमेह तथा मूत्र-सस्थान के राजयक्ष्मा मे मिलती है। चिकित्सा मे कूठ, कुटज, पाठा, हिङ्गु, कटुरोहिणी (कुटकी), गुडूची और चित्रक का कषाय। (सु)। त्रिफला, मूर्वा की जड, सहिजन की छाल, नीम की छाल, मुनक्का और सेमल के जडकी छाल, इनका कषाय बना कर

१. या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्तावातोल्वणाना विहिता क्रिया या।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शिताना कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता॥ (च चि ६)

मधु के साथ। मम प्रमाण में इन औषधियों को जौकुट कर के २ तोले को ३२ तोले जल में उबाल कर ८ तोले शेप रहने और ठडा होने पर मधु मिला कर लेना। शीघ्र लाभ पहुँचाता है।

हस्तिमेह—मतवाले हाथी के समान वेगरहित अजस्र मूत्र का स्राव होता है। मूत्र लसीका युक्त और विवद्ध रहता है। संभवत. जीर्ण वृक्क शोथ का यह वर्णन है, जिस में शुक्ली (Albumin), निर्मोक (Casts) और पौरुप बहुमूत्रता (Poliuria) आदि लक्षण मिलते हैं।

कुछ विद्वानों के मत मे यह एक प्रकार का मिथ्या मूत्रकृच्छ्र (False in Continence of urine)—जो सुषुम्ना स्थित मूत्र केन्द्र के घात अथवा ग्रथिकी वृद्धि मे पाया जाता है।

चिकित्सा मे तिन्दुक, कपित्थ, शिरीष, पलाश, पाठा, मूर्वा, धमासा का कषाय मधु मिश्रित कर के पिलाना अथवा—हाथी, अश्व, शूकर, खर (गर्दभ) और ऊँट की हड्डी की भस्म का उपयोग करना उत्तम बतलाया है।

४ क्षौद्रमेह या मधुमेह या ओजोमेह—आधुनिक परिभाषा के अनुसार इस रोग को 'डायबेटीज मेलाइटस (Diabetes Mellitus) कहा जाता है। यह एक याप्य रोग है, इस मे मूत्र मे शर्करा का उत्सर्जन होता है। रक्तगत शर्करा की भी मात्रा बढ जाती है। इस रोग की चिकित्सा मे आहार-विहार का सम्यक् रीति से अनुपालन करना आवश्यक होता है। जब तक रोगी पथ्य मे रहता है, ठीक रहता है अन्यथा रोग पुन हो जाता है। प्रमेह रोगो में बतलाये गये सभी पथ्यों का इस अवस्था में उपयोग करना चाहिये।

यह रोग प्राय समाज के उस वर्ग मे पाया जाता है जो शारीरिक श्रम से विमुख होकर सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हैं। दैनिक कार्यक्रम मे जिनको शारीरिक श्रम बहुत ही कम करना पड़ता है, अधिकाश बैठे रहना पडता है। आहार भी अत्यधिक पौष्टिक, स्निग्ध, कफ-मेदोवर्धक पदार्थों की बहुलता रहता है। अस्तु, चिकित्सा करते समय सर्वप्रथम इन कारणो को दूर करना आवश्यक होता है। एतदर्थ मधुमेह मे पीडित व्यक्तियो के लिए व्यायाम या शारीरिक परिश्रम जो उनके शक्य हो अवश्य कराना चाहिये। सभी प्रकार के व्यायाम—टहलना, दौडना, खेल-कूद मे भाग लेना, दण्ड-बैठक करना, दण्ड, मुद्गर-कुश्ती पादाघात आदि यथायोग्य कराना चाहिये। आरामतलबी का जीवन छोडकर मुनियो की तरह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराना आवश्यक होता है। प्रतिदिन बिना जूते और छाते के धारण किये मार्ग मे भ्रमण करते हुए, गृहस्थो के घर मे

माँगी हुई भिक्षा से उदर पालन करते हुए तथा मुनियो की तरह ब्रह्मचर्यादि का पालन करते हुए सौ योजन (८०० मील) या इससे भी अधिक योजनो तक निरन्तर भ्रमण करने से मधुमेह रोग नष्ट होता है। अथवा केवल जगल मे रहकर नीवार और आँवले के फलो मे भोजन-वृत्ति का निर्वाह करते रहने से सर्व प्रकार के प्रमेह नष्ट होते हैं। सक्षेप मे आढ्य-वृत्ति का परित्याग और दरिद्र-वृत्ति का अनुपालन श्रेयस्कर रहता है।[1]

सवारियो मे गद्देदार और आरामदेह सवारियो के स्थान पर हाथी और घोडे की सवारी मधुमेह मे अच्छी मानी गई है। उपर्युक्त पथ्य सभी प्रकार के प्रमेह रोग में विपत मधुमेह में हितकर होते है। सूर्य-प्रकाश या धूप मे भ्रमण करना या काम करना भी उत्तम रहता है।[2]

मधुमेह पीडित रोगी को अपने भोजन मे मधुर-अम्ल एवं लवण रस पदार्थो का सेवन अथवा स्निग्ध (घी मलाई-रवडी और खोये का वना पदार्थ या मिष्टान्न) जो कफ एव मेद के वर्धक होते है पूर्णतया छोड देना चाहिए। रूक्ष, कटु, तिक्त एव कषाय रस युक्त पदार्थो का सेवन रखना चाहिये।

इस प्रकार के पथ्यो मे उत्तम आहार जौ की रोटी या दलिया, मूँग की दाल और मट्ठे का पर्याप्त सेवन उत्तम रहता है। शाको मे परवल एव करैले का सेवन उत्तम रहता है। गूलर एव केले के शाक का सेवन या अन्य प्रकार के पत्रशाको का जैसे मूली, चौलाई, सोआ एव पालक का उपयोग ठीक रहता है। कद शाको मे आलू, शलजम आदि अनुकूल नही पडते है। फलो का सेवन उत्तम रहता है। दूध एव फलाहार अनुकूल पडता है।

औषधि-कषाय-स्वरस—करैले के ताजे फल का स्वरस १ तोला प्रातः काल में खाली पेट पर लेना। निम्बपत्र-स्वरस ६ माशा मधु के साथ। **विल्वपत्र स्वरस** व वेल की पत्ती का रस या वेल की छाल का काढा वना कर लेना। विम्बी पचाङ्ग का स्वरस मधु के साथ १ तोला। **आमलकी स्वरस**। **कच्ची हल्दी** का स्वरस या अभाव मे हरिद्रा का चूर्ण २ माशा। **जामुन** का फल, जामुन के मूल की छाल का कषाय या जामुन की गुठली का चूर्ण १-३ माशे मधु के साथ सेवन। **विजयसार**-इसकी लकडी को ताम्रघट मे रखे जल मे

---

१ व्यायामजातमखिल भजन्मेहान् व्यपोहति। पादातपच्छत्ररहितो भिक्षाशी मुनिवद्यत ॥ योजनाना शत गच्छेदधिक वा निरन्तरम्। मेह जेतु वने वापि नीवारामलकाशन ॥

२ हस्त्यश्ववाहनमतिभ्रमण रवित्विट् ॥ (भै र)

छोड़ देना चाहिये—इसमें पानी का वर्ण किंचित् लाल रंग का हो जाता है। इस जल को पीने के उपयोग में लाना चाहिये।

त्रिफला चूर्ण २ से ४ माशा मधु के साथ प्रातः-सायम्। आम या जामुन (बिना फल लगे) के त्वक् चूर्ण या कषाय का मधु से सेवन। पूतिकरंज के बीज की मींगी का उपयोग भी उत्तम है। गुड़मार के पत्र के चूर्ण या कषाय का उपयोग।

शालसारादि गण (सुश्रुतोक्त) औषधियों का यथालाभ कषाय बनाकर मधु मिलाकर दिन में दोबार सेवन करना उत्तम रहता है। बहुमूत्रता को कम करने के त्रिफलादि कषाय-त्रिफला, बांसकी पत्ती, नागरमोथा और पाठा का सममात्रा में बनाया कषाय मधु के साथ देना चाहिये।[1]

शालसारादि गण—साल वृक्ष, साल के भेद (अजकर्ण), खदिर, तिन्दुक वृक्ष, सुपारी, भूर्जपत्र, मेषशृंगी, तिनिश, श्वेत चंदन, रक्त चंदन, शीसम, शिरीष, अर्जुन, धव, असन (विजयसार), ताड़ का मूल, शाक वृक्ष, करंज एवं पूतिकरंज, अश्वकर्ण, अगर तथा पीत चंदन।

रसौषधियों में शिलाजीत, त्रिवंग (वंग-नाग-यशदभस्म), लौह तथा गुग्गुलु के योग उत्तम रहते हैं जैसे—शिवा गुटिका १ माशा दूध में घोल कर प्रात-सायं अथवा चंद्रप्रभावटी १-२ गोली दूध से प्रातः-सायम्। स्वर्ण और मुक्ता के यौगिकों में वसन्तकुसुमाकर रस का सेवन कराना १-२ रत्ती-आँवले और हल्दी के रस और मधु के साथ उत्तम कार्य करता है। त्रिवंग भस्म या नवायस लौह का गुडूची सत्त्व एवं मधु से सेवन भी उत्तम रहता है।

कई औषधि योगों का नीचे संग्रह किया जा रहा है, इनका उपयोग प्रमेह तथा मधुमेह की विभिन्न अवस्थाओं में करने से लाभ प्राप्त होता है।

न्यग्रोधादि चूर्ण—वट-गूलर-पीपल और सोनापाठा की छाल, अमलतास का गूदा, असन (विजयसार) की छाल, आमकी गुठली, जामुन की गुठली, कैथफल की मज्जा, चिरोंजी, अर्जुन की छाल, धव की छाल, महुए की छाल, मधुयष्टी, पठानी लोध, अरहर के पौदे की जड़, करंज फल की गिरी और त्रिफला पृथक्-पृथक्, इन्द्रयव और शुद्ध भल्लातक ४-४ तोले चूर्ण करले। मात्रा ३ माशा। प्रात-सायं त्रिफला के क्वाथ से।

---

१. त्रिफलावेणुपत्राब्दपाठामधुयुतं. कृत.।
कुम्भयोनिरिवाम्भोधिं बहुमूत्रं तु शोषयेत् (यो. र.)

कुशावलेह—कुशा-कास-खस-इक्षु-एव रामशर की जड प्रत्येक का १०-१० पल लेकर २ द्रोण जल मे क्वथित कर अष्टमाश शेष रहने पर छान ले। फिर इसको कडाही मे लेकर अग्नि पर चढाकर १ प्रस्थ खाँड डालकर दो तार की चाशनी बनावे, जब वह किंचित् गाढा होने लगे तो उसमे निम्नलिखित द्रव्यो का चूर्ण डाले—मधुयष्टि, खीरा-कुष्माण्ड एवं ककडी के बीज-गिरी, वशलोचन, आँवला, तेजपात, दालचीनी, इलायची नागकेशर, वरुण की छाल, गिलोय का सत्त्व, प्रियगु प्रत्येक एक तोला। फिर अच्छी तरह से आलोडित करके मिलावे। और पाक बना ले। मात्रा १ तोला। दूध के साथ प्रातः-सायम् ले। सभी प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात मे लाभप्रद।

गोक्षुरादि गुग्गुलु (वातरक्ताधिकार)—मधुमहेज वातिक वेदना एव संधि-शोथ एवं पूयमेहज संधिवात मे लाभप्रद।

चंद्रकला वटी—छोटी इलायची के बीज, कपूर, शिलाजीत, आँवला, जायफल, केशर, सेमल के मूल, रस सिन्दूर, वग भस्म और अभ्रक भस्म समभाग में ले। प्रथम रस सिन्दूर को खरल मे महीन पीसे। पीछे उसमे शिलाजीत, भस्मो तथा अन्य द्रव्यो के कपडछान चूर्ण को मिलावे। फिर हरी गिलोय और सेमल के मूल के रस से तीन-तीन दिनो तक मर्दन करके ३-३ रत्ती की गोलियाँ बना ले। छाया मे सुखा कर शीशी में भर ले। मात्रा २ गोली सुबह-शाम मधु से चाट कर ऊपर से गाय का दूध ले। सर्व प्रमेहो मे लाभप्रद। विशेषत शुक्रमेह एवं स्वप्नदोष में हितकर है।

चंद्रप्रभा वटी—कपूर, वच, मोथा, चिरायता, देवदारु, हल्दी, कडवी अतीस, दारुहल्दी, पीपरामूल, चित्रक की छाल, निशोथ, दन्ती की जड, तेजपात, दालचीनी, इलायची, वंशलोचन, गिलोय, प्रत्येक १-१ तोला, धनिया, हरड, बहेरा, आँवला, चव्य, वायविडङ्ग, गजपीपल, स्वर्णमाक्षिक भस्म, सोठ, मरिच, पीपल (छोटी), सर्जिक्षार, यवक्षार, सैंधव, सोचल तथा विडलवण प्रत्येक का चूर्ण ४-४ माशे, लौह भस्म २ तोला, चीनी ४ तोला, शुद्ध शिलाजीत तथा शुद्ध गुग्गुलु ८-८ तोले।

प्रथम गुग्गुलु को साफ करके लोहे के इमामदस्ते मे कूटे जब गुग्गुलु नर्म हो जाय तो उसमे अन्य भस्म तथा द्रव्यो के कपडछन चूर्ण मिलावे। जब गोली बनने लायक हो जावे तो उसमे त्रिफला क्वाथ की भावना देकर ५-५ रत्ती की गोलियाँ बनाकर शीशी मे भर ले। मात्रा १-२ गोली। अनुपान गाय के दूध से।

उपयोग—सभी प्रकार के मूत्र-संस्थान के विकारो मे तथा यकृद् दोप मे लाभप्रद। चंद्रप्रभा गुटिका (अर्शोविकारोक्त) भी प्रमेह रोग में लाभप्रद होती है।

वसन्ततिलक रस—लौह भस्म, वंग भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म, सुवर्ण भस्म, अभ्रभस्म, प्रवाल भस्म, रजत (चादी) भस्म, मुक्ता भस्म, जावित्री, जायफल, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर प्रत्येक एक एक तोला। एकत्र महीन पीसकर त्रिफला के स्वरस की भावना देकर २–२ रत्ती की गोली बनावे। यह एक उत्तम वल्य रसायन योग है। अनुपान भेद से नाना प्रकार के वातविकार, अपस्मार, मूर्च्छा, उन्माद, सन्यास (Coma), क्षय, विविध प्रकार के मेह रोग विशेपतः मधुमेह मे लाभप्रद है।

वसन्तकुसुमाकर रस—सुवर्ण भस्म, रजत भस्म २–२ माशे, सीसक (नाग) तथा कान्त लौह भस्म ३–३ माशे, अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म प्रत्येक ४–४ माशे। प्रथम इन द्रव्यो को खरल मे लेकर महीन कर उसमें निम्नलिखित द्रव्यो की एक एक भावना दे। गाय के दूध, गन्ने के रस, अडूसे का क्वाथ, लाक्षा स्वरस, सुगन्ध वाला का क्वाथ, कदलीकद का स्वरस, कमल पुष्पो का स्वरस, मालती पुष्प का स्वरस। पश्चात् १ तोले कस्तूरी को गुलाव जल मे पीसकर उसमे मिला दे। फिर दो-दो रत्ती की गोलिया वनाकर छाया मे सुखाकर रखले। मात्रा १ गोली दिन मे दो वार घृत ६ माशा, मधु १० माशा, चीनी ६ माशे के साथ सेवन। यह उत्तम रसायन एव वल्य योग मेधा शक्ति और कामशक्ति बढाती है—शरीर पुष्ट होता है प्रमेह नष्ट होते है। मधुमेह रोग मे परम वल्य रसायन है। वसन्त कुसुमाकर मधुमेह (Diabetes) की विख्यात औषधि है। मधुमेह के विविध उपद्रवो मे लाभप्रद होता है। वसन्ततिलक अथवा वसन्त कुसुमाकर में से किसी एक का प्रयोग हरिद्रा स्वरस ३ माशा आमलकी स्वरस ३ माशा और मधु ६ माशे के साथ मधुमेह (Diabetes) मे उत्तम रहता है।

बृहद् वंगेश्वर रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, सुवर्ण भस्म, वग भस्म, मुक्ता भस्म तथा सुवर्ण माक्षिक भस्म प्रत्येक एक तोला। प्रथम पारद और गंधक की कज्जली वनावे फिर शेप भस्मो को मिलावे और घोट लेवे। पश्चात् घृतकुमारी स्वरस से भावना देकर २–२ रत्ती की गोली वनावे। पुराने मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात (Gleet) तथा विविध प्रकार के मेहो मे लाभप्रद।

सुवर्ण वंग—शुद्ध वग २० तोले लेकर उसे लोहे या मिट्टी के पात्र मे डालकर, पात्र को चूल्हे पर चढाकर मद-मद आँच पर वग को पिघलावे। फिर इस पिघले वग को एक पत्थर के खरल मे जिसमे २० तोले शुद्ध पारद हो तुरन्त उसमे छोडे और अच्छी प्रकार से घोटे। फिर दोनो की पिष्टि हो जाने पर उसमे ५ तोला सैधव लवण डालकर घोटे। आधे घटे तक घोटने के पश्चात् उसको जल मे प्रक्षालित करे। इस प्रकार २१ वार लवण के साथ मर्दन कर उसको २१ वार प्रक्षालित करे। फिर उसमे पारद के वरावर शुद्ध गधक (२० तोला) मिलाकर कज्जली वनावे, पश्चात् २० तोला नवसादर मिलाकर मर्दन करे फिर पारद से चौथाई कलमी शोरा (५ तोला) डालकर खूव घोटकर रखे। अब इस द्रव्य को सात वार कपडमिट्टी की हुई आतशी शीशी मे उसके चतुर्थांश तक भर कर आतशी शीशी को वालुका यत्र मे चढाकर १२ घटे तक पाक करे। अग्नि की आँच देना प्रारभ करे। थोडी देर मे कज्जली उबल कर ऊपर आने लगे तो आँच को मद कर दे। वीच वीच मे लोहे की शलाका को शीशी के मुख के भीतर प्रविष्ट करके गधक के जलने का ज्ञान होता चलता है। जब शीशी पर श्वेत धूम न दिखलाई पडे और जव शलाका प्रविष्ट करने पर उसके अग्रपर लाल चमकते पीले रग के कण लगने लगे तो आँच देना कम कर देना चाहिये। यह गधक के जीर्ण हो जाने का चिह्न है। इस प्रकार खुले मुख से ही सुवर्ण वग का पाक होता है।

इस प्रकार पाक करने से सुवर्ण के समान चमकता हुआ अत्यन्त सुन्दर 'सुवर्ण वग' नामक रसायन सिद्ध होता है। यह सुवर्ण वग वलवर्धक, प्रमेह-नाशक, जीर्ण पूयमेहादि मे लाभप्रद, शरीर की कान्ति, मेधा, वीर्य एव अग्नि का वढाने वाला होता है।

अपूर्वमालिनी वसन्त—वैक्रान्त भस्म, अभ्र भस्म, ताम्र भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म, चादी भस्म, वग भस्म, प्रवाल भस्म, रस सिन्दूर, लौह भस्म, शुद्ध टकण, क्षुद्र शख भस्म (शम्बूक या घोघा की भस्म, प्रत्येक १—१ तोला लेकर सव को महीन पीस कर खस, हरिद्रा तथा शतावर के क्वाथ की पृथक्-पृथक् सात-सात भावना दे। फिर उसमें कस्तूरी तथा कपूर प्रत्येक १—१ तोला मिलाकर २—२ रत्ती की गोलियाँ वना ले। पिप्पली चूर्ण और मधु के अनुपान से एक-एक गोली प्रात-सायम् देने से सभी प्रकार के जीर्ण ज्वरो मे लाभ होता है। गुडूचीसत्त्व और मिश्री के अनुपान से सभी प्रमेहो मे प्रशस्त है। नीवू के जड के क्वाथ के साथ मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी मे प्रयोग करना चाहिये।

शिवागुटिका—उत्तम शुद्ध शिलाजीत १ सेर ले। इसे त्रिफला के क्वाथ मे आप्लुत करके रात भर रहने दे। दूसरे दिन खरल को धूप मे रखकर घोटे इस प्रकार तीन भावना दे। इसी प्रकार दशमूल, गिलोय, बला, पटोलपत्र और मधुयष्टि के स्वरस या कषाय मे यथालाभ भावना दे। प्रत्येक से तीन तीन बार भावना पश्चात् गोदुग्ध की भावना देकर सुखाकर रख ले। पश्चात् काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, विदारी, क्षीरविदारी, शतावर, द्राक्षा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, जटामासी, गोरखमुण्डी, श्वेत जीरक, कृष्ण जीरक, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, रास्ना, पुष्करमूल, चित्रकमूल दन्तीमूल, गजपीपल, इन्द्र जौ, चव्य, नागरमोथा, कुटकी, शृङ्गी और पाठा इनमे प्रत्येक औषधि को ४–४ तोले लेकर षोडश गुण जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनावे। इस क्वाथ से पूर्वोक्त शिला-जीत की सात भावना देकर सुखा ले।

इस प्रकार से बने शिलाजीत में अब निम्नलिखित द्रव्यो का महीन चूर्ण मिलावे—सोठ, पिप्पली, कुटकी, काकडासीगी और काली मरिच का चूर्ण ८–८ तोले, विदारी कद का चूर्ण ४ तोला, तालीशपत्र का चूर्ण १६ तोला, मिश्री ६४ तोले, गोघृत १६ तोले, शहद ३२ तोले, तिल तैल ८ तोले एवं वंश-लोचन, तेजपात, दालचीनी, नागकेशर और छोटी इलायची प्रत्येक २ तोले। सब द्रव्यो को अच्छी प्रकार से मिलाकर १–२ माशे की गोलियाँ बना ले। मात्रा १–२ माशा दिन मे दो बार। अनुपान दूध, मासरस, अनार का रस, सुरा, आसव, शहद या केवल शीतल जल मे घोलकर सेवन। यह एक परमोत्तम रसायन योग है। इसके सेवन से सम्पूर्ण रोगो का नाश हो, नव-यौवन की प्राप्ति होती है। मधुमेह रोग मे यह अमृत तुल्य औषधि है।

लोध्रासव—लोध, कचूर, पुष्कर मूल, छोटी इलायची, मूर्वा, वायविडङ्ग, त्रिफला, अजवायन, चव्य, प्रियगु का फूल, सुपारी, विशाला (?), चिरायता, कुटकी, भारङ्गी, नत, चीता, पिप्पलीमूल, कूठ, अतीस, पाठा, इन्द्रयव, नागकेशर, नख, तेजपात, काली मिर्च, प्लव—प्रत्येक एक-एक कर्ष लेकर १२ सेर १२ छटाँक ४ तोले जल मे उबाल कर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनावे। इस क्वाथ मे आधा मधु मिलाकर एक घृतलिप्त भाण्ड मे मुख बद कर एक पक्ष तक संधान करे। पश्चात् छानकर बोतलो मे भर कर रख ले और औषधि रूप मे उपयोग में लावे। सेवनविधि २ तोला समान जल मिला कर भोजन के बाद।

शारिवाद्यासव—कृष्ण सारिवा, नागरमोथा, लोध, वट की छाल, पीपर की छाल, कचूर, अनन्तमूल, पद्माख, नेत्रबाला, पाठा, आँवला, गिलोय, खस, श्वेत चंदन, रक्त चदन, अजवायन, कुटकी, तेजपात, छोटी इलायची, बडी इला-

यची, कूठ, सनाय, हरड प्रत्येक २०-२० तोले लेकर ३२ सेर जल मे डाल कर तीन तुला (१५ सेर) पुराना गुड, धाय के फूलो का चूर्ण २॥ सेर, मुनक्का पौने चार सेर मिलाकर घृत सुगधित भाण्ड मे भर कर सधिवधन करके १ मास के लिये एकान्त स्थान में सुरक्षित रख दे। एक मास के अनन्तर छानकर मर्त्त-बान मे भर कर रख ले। इसके सेवन से वातरक्त, रक्तदुष्टि प्रमेह-पिडिका एव विविध प्रमेह रोगो मे लाभ होता है। सेवनविधि-भोजन के वाद २ चम्मच समान जल के साथ मिलाकर।

प्रमेहमिहिर तैल—सौफ, नागरमोथा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मूर्वामूल, कूठ, अश्वगधा, श्वेत चदन, लाल चन्दन, हरेणुका, कुटकी, मुलैठी, रास्ना, दाल-चीनी, इलायची, ब्रह्मदण्डी (भारगी), चव्य, धनिया, इन्द्रयव, करंजबीज, तगर, तेजपात, त्रिफला, नालुका, गधवाला, वला एव अतिवला की जड, मजीठ, सरल काठ, पद्मकाठ, लोध, छोटी सौफ, वचा, जीरा, खस, जायफल, अडूसा, तगर प्रत्येक १-१ तोला लेकर पानी से पीस कर कल्क बना ले। पश्चात् तिल-तैल तथा शतावरी का कषाय प्रत्येक १२८ तोले (या १-१ सेर), लाक्षा क्वाथ तथा दही का पानी ४-४ सेर और दूध १ सेर। यथाविधि कडाही में अग्नि पर चढाकर पाक करे। विविध प्रकार के जीर्ण ज्वर, हस्त-पादादि-दाह, क्षीणेन्द्रियता, ध्वजभग आदि उपद्रवो मे अभ्यग से लाभ होता है।

स्वाप्निक शुक्रक्षय या स्वप्नदोप—युवावस्था मे अविवाहित व्यक्तियो मे निद्रा मे शुक्र-क्षय होना वहुलता से पाया जाता ह। सोलह वर्ष की आयु के अनन्तर पुरुषो मे प्रजननसम्बन्धी अवयवो का जैसे अण्ड, शुक्रग्रंथि, पौरुप-ग्रथि आदि की क्रिया प्रारभ हो जाती है—फलत पुरुषत्व का आगमन, कामवास-नावो की वृद्धि, प्रजनन अगो के विकास के साथ शुक्रक्षय की प्रवृत्ति भी जागृत होती है। इसके परिणामस्वरूप निद्राकाल मे शुक्रक्षय का होना भी स्वाभाविक रहता है। इस अवस्था को स्वप्नदोष या स्वाप्निक शुक्रक्षय कहते है।

इस आयु मे शुक्र-सरक्षण या ब्रह्मचर्य का पालन प्राय कठिन होता है। प्राचीन युग मे ऋपियो ने ब्रह्मचर्य के पालन के लिये वहुविध साधन वतलाये है, जैसे—गुरुकुल मे वास, तपोवन, सध्योपासन, परिश्रम का जीवन, सीमित रूक्ष सात्त्विक आहार, स्वल्प निद्रा, शृगार-साधनो का जैसे, तैलाभ्यग, केशप्रसाधन, सुखासन-सुखशय्या आदि का परिहार, स्त्री के सभापण-दर्शन आदि से दूर रहना, इन नियमो के अनुसार रहते हुए ब्रह्मचर्य भी सभव है। परन्तु, आज के युग मे इसके ठीक विपरीत वातावरण से होकर युवक को गुजरना पडता है। फलत. वीर्य की रक्षा करना अथवा ब्रह्मचर्य का पालन वडा दुर्घट हो जाता है।

प्राचीन ग्रंथो में स्वप्नदोप या स्वाप्निक शुक्रक्षय नामक किसी रोग विशेप का उल्लेख नही पाया जाता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—१ इसको कोई रोग या वैकारिक स्थिति (Pathological condition) न समझा गया हो—बल्कि एक स्वाभाविक क्रिया (Physiological functions of Puberty in males) माना गया, जिसमें किसी उपचार की आवश्यकता न समझी गई हो। २ संभवत: प्राचीन युग मे यह विकार होता ही कम होवे, फलस्वरूप आचार्यो को इसका स्वतत्र रोग के रूप में उल्लेख करने की या चिकित्सा बतलाने की आवश्यकता ही न प्रतीत हुई हो। दोनो पक्ष ही युक्तियुक्त है तथापि प्रथम पक्ष अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है।

वास्तव में स्वप्न में वीर्य का क्षय होना कोई रोग नही है—प्रत्युत एक प्राकृतिक क्रिया है—जो दो कारणो से उत्पन्न होती है—१. प्रजनन अगो के स्वाभाविक विकास २ तथा कामवासनावो की उत्तेजना तथा उसको अतृप्ति (Dissatisfaction of the Sexual Hunger) से। क्योकि ऐसा बहुधा देखा जाता है कि स्वाप्निक शुक्रक्षय मे ग्रस्त व्यक्तियो का वैवाहिक सम्बन्ध या गार्हस्थ्य स्थापित हो जाने पर निद्रा से वीर्य-क्षय होने का विकार स्वत. शान्त हो जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि एक सीमित मात्रा तक मास में १ से ४ दिनो तक स्वप्न में शुक्र-क्षय का होना कोई चिन्त्य विषय नही है, परन्तु, इससे अधिक होना कुछ मानसिक उत्तेजनावो का द्योतक होता है। इसके लिये कुछ सशामक योगो का देना आवश्यक हो जाता है।

प्रतिपेध—१ **स्वप्न-दोप**—शब्द के शाब्दिक अर्थ का विचार करने से स्पष्ट हो जाता है स्वप्न का दोप। स्वप्न कहते है निद्रा को, अस्तु, निद्रा का दोष ही प्रधान हेतु शुक्रक्षय मे कारण बनता है। स्वाभाविक निद्रा में दो प्रकार की अवस्थायें पाई जाती है—१ पहली अवस्था—स्वप्न—जिसमे निद्रा एवं जागरण का मिश्रण पाया जाता है दूसरे शब्दो में अप्रगाढ निद्रा इसे कहते है। २ **दूसरी अवस्था** सुषुप्ति जिसमें प्रगाढ (गाढी) निद्रा रहती है। प्रथमावस्था में कई प्रकार के दिन में देखे गये विचार निद्रा में आते रहते है और उसके फलस्वरूप शुक्रक्षय भी हो जाया करता है। अस्तु, प्रगाढ निद्रा का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये मस्तिष्क का सशमन एव मृदु निद्राकर औपधियो का उपयोग करने से पर्याप्त लाभ पहुँचता है। शुक्रक्षय की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाले सभी योग शीतवीर्य एवं मस्तिष्क-तन्तुवो के सशमन करने वाले हो तो उनका प्रयोग करते हुए व्यक्ति को लाभ पहुँचता है। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि व्यक्ति को सीमित समय तक चारपाई पर पडे

रहने दे। दिन मे सोना या एक साथ मे ६ घटे से अधिक सोना भी अनुकूल नही पडता है। आलस्य को त्याग कर सोना, ब्राह्म मुहूर्त्त मे उठना, जब मूत्र का वेग प्रतीत हो मूत्रत्याग, शौच का वेग आने पर शौचत्याग करने का अभ्यास करना चाहिये। औषधि रूप मे निम्नलिखित औषधियोगो का व्यवहार करते हुए पर्याप्त लाभ होता है।

गुडूची, वशलोचन, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, आँवला, मजीठ, अगर, कूठ, नागरमोथा, देवदारु, श्वेत चदन, त्रिफला, कशेरु, अर्जुन की छाल, सेमल की मुसली, वलामूल, शीतलचीनी, कर्पूर प्रभृति औषधियो का उपयोग उत्तम रहता है। यदि रोगी मे विवध का वृत्त मिले तो वस्ति या मृदु रेचन से कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिये।

१ हरिद्रादि योग—हरिद्रा चूर्ण २ माशा, आमलकी चूर्ण २ माशा और मधु ६ माशा का जल के साथ सेवन।

२. समुद्रशोपादि चूर्ण—समुद्रशोष १ भाग, साफ राल २ भाग और मिश्री ८ भाग इस अनुपात मे वना चूर्ण। मात्रा ६ माशे ठडे जल से। पुरुषो के शुक्रक्षय तथा स्त्रियो के श्वेत प्रदर दोनो रोगो मे लाभप्रद होता है।

३ शीतलचीनी का चूर्ण २ मा० मधु ६ माशे के साथ मिलाकर सेवन।

४ सुवर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती, शहद ६ माशे के साथ अथवा प्रवालपिष्टि २ रत्ती और गुडूची सत्त्व १ माशा मिलाकर मधु के साथ दिन मे दो वार। रस सिन्दूर १ रत्ती, शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती इस योग मे मिला दिया जावे तो उत्तम लाभ होता है। चद्रकला वटी-१–२ गोली सुवह-शाम मधु के साथ सेवन उत्तम है।

५. चद्रकला वटी २ रत्ती, प्रवालपिष्टि १ रत्ती, सुवर्ण माक्षिक भस्म १ रत्ती, गुडूची सत्त्व १ माशा मिला कर एक मात्रा-ऐसी दो मात्रा सुवह-शाम लेने से उत्तम होता है। साथ मे चदनासव—भोजन के बाद २ चम्मच समान जल मिलाकर देना भी उत्तम रहता है।

६ यदि रोग वडा ही हठी हो तो कुछ दिनो तक निद्राकर योगो का प्रयोग करना भी उत्तम रहता है—जैसे जटामास्यादि कषाय अथवा शुद्ध कपूर १ रत्ती और शुद्ध अहिफेन $\frac{1}{2}$ रत्ती मिश्रित १ मात्रा।

७ चंदनासव—श्वेत चदन, नागरमोथा, नेत्रवाला, गम्भारी की छाल, नील कमल, प्रियगु, पद्माख, पठानी लोध, मजीठ, लाल चंदन, पाठा, चिरायता, वट की छाल, पिप्पली, कचूर, पित्तपापडा, मुलैठी, रासना, पटोलपत्र, कचनार की छाल, आम की छाल, और मोचरस प्रत्येक चार-चार तोला। धाय का फूल

१ सेर, मुनक्का १। सेर, जल ३२ सेर, शर्करा ६। सेर, गुड ३ सेर २ छटाँक। चूर्ण करने लायक औषधियों का महीन चूर्ण करके घृतलिप्त भाण्ड में संधान करना चाहिये। १ मास तक भाण्ड का मुख बंद करके रखना चाहिये। एक मास के अनन्तर छान कर शीशी में भर कर रख ले। मात्रा २ तोला भोजन के बाद।

८ बल्य चूर्ण—बबूल की फली, समुद्रशोष, अष्टवर्ग की औषधियाँ या उनके शास्त्रोक्त प्रतिनिधि द्रव्य, मालिब मिश्री, सेमर का मुसला, तृणकान्त (कहरवासमई), छोटी इलायची के बीज, कतीरा, सफेद मुसली प्रत्येक १ भाग, इसबगोल की भूसी ४ भाग। सब का चूर्ण बनाकर कुल के बराबर मिश्री मिला कर रख ले। मात्रा २ माशा। अनुपान जल या दूध से। (श्री पं० राजेश्वर दत्त शास्त्री हि वि. वि काशी)

पैंतीसवाँ अध्याय

मेदोरोग प्रतिषेध

प्रावेशिक-मेदो रोग या स्थौल्य—वह रोग जिसमे शरीर मे अत्यधिक वसा (मेद या चरबी) का संचय हो जावे। व्यायाम का अभाव, अधिक सोना, निश्चिन्तता का जीवन, दिवास्वप्न, श्लेष्मा-वर्धक आहार का सेवन, मधुरतायुक्त अन्न-रस स्निग्ध होने से मेद को उत्पन्न करता है। मेद के द्वारा स्रोतो का अवरोध होने से अन्य धातुओं का पोषण नही होता केवल मेद की ही वृद्धि निरन्तर होती रहती है। इससे रोगी कोई काम नही कर पाता। उसको थोडे श्रम से ही साँस फूलने लगती है। मेदस्वी को भूख, प्यास एवं निद्रा अधिक होती है। अग शिथिल हो जाता है, पसीना अधिक आता है, पसीने में बदबू पाई जाती है। रोगी की जीवनी शक्ति, मैथुनशक्ति एवं प्रजननशक्ति भी कम हो जाती है। उदर मे मेद का संचय होने से उस का आकार विशेष बढ़ जाता है।

स्थौल्य मे ग्रस्त व्यक्ति या मेदस्वी व्यक्ति की स्फूर्ति या गति-शीलता कम हो जाती है, शरीर का गठन बिगड जाता है, विचर्चिका या कच्छु रोग (Eczyma) अथवा मधुमेह होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

उपद्रव रूप में हृदय का वसामय अपजनन (Fatty degenation of the heart)—रोगी का हृदयातिपात होकर अल्प आयु मे मृत्यु भी हो सकती है।

मेदो रोग मे कुछ कुलज प्रवृत्ति भी पाई जाती है, कुछ वशो के लोगो मे स्थूलता प्राय: दिखलाई पडती है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे यह रोग अधिक मिलता है। यद्यपि यह रोग किसी भी आयु मे पैदा हो सकता है तथापि चालीस वर्ष की आयु के बाद अधिक पाया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिको ने स्थौल्य की उत्पत्ति मे उपर्युक्त कारणो (व्यायामाभाव, दिवास्वाप एव अत्यधिक पौष्टिक आहार) के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणो का भी भाग लेने की चर्चा की है। जैसे, अवटुका (Thyroid), पीयूष (Pitutary) एव अधिवृक्क (Suprarenal) तथा वृषण (Testes) ग्रथि के अत स्रावो की कमी। इससे मौलिक समवर्त्त (Basic Metabolism) की क्रिया बिगड जाती है, जिससे सेवन किये गये सम्पूर्ण वसा का भंजन नही हो पाता और वह वसा शरीर के विभिन्न धातुवो मे सचित होने लगती है, व्यक्ति मेदस्वी हो जाता है।

मेद की अस्वाभाविक वृद्धि के कारण जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर एवं स्तन हिलने लगते हैं तथा जिस के शरीर का विकास एवं उत्साह यथायोग्य नही हैं उसे अतिस्थूल कहते है।[1]

मेदोरोग में क्रिया सूत्र--

निदान-परिवर्जन—जिन कारणो से स्थौल्य होता है उन कारणो का परित्याग करना परमावश्यक है। अस्तु, आहार-विहार सम्बन्धी उपचारो पर ही विशेष ध्यान देना चाहिये। स्थौल्य का प्रधान कारण अल्प परिश्रम एव अधिक पौष्टिक भोजन (Highcaloricdict) होता है। अस्तु, स्थूल व्यक्ति के लिये—परिश्रम का कार्य, शारीरिक व्यायाम (खेल, कूद, दौड, घोडे की सवारी आदि), चिन्ता का कार्य, स्त्रीसग, अल्प निद्रा का अभ्यास, अर्थोपार्जन, शास्त्रचिन्तन आदि मानसिक परिश्रम अधिक करने का उपदेश देना चाहिये। सक्षेप मे अधिक सतर्पण से यह रोग पैदा होता है। अस्तु रोगी का अपतर्पण करना चाहिये।

---

१ मेदोमासातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तन ।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ (च सू २१)
स्थूले स्युर्दुस्तरा रोगा विसर्पा सभगन्दरा ।
ज्वरातिसारमेहार्श श्लीपदापचिकामला ॥

अपतर्पण के लिये—अधिक जागरण, लघन (उपवास), चिन्ता, श्रम, सायकिल, हाथी या घोडे की सवारी, धूप में चलना या काम करना, भ्रमण करना, उबटन लगाना, शरीर की मालिश करना, वमन एवं विरेचनादि शोधन कर्म करना उत्तम रहता है। भोजन में इन रोगियो को पुराना अन्न विशेषत. रूक्ष अन्न जैसे जौ, साँवा, कोदो, नीवार, कङ्गु धान्य तथा अन्य तृण धान्य या मुन्यन्न का सेवन करना चाहिये। दालो मे कुलथी, मूग, मसूर, चना, तुवरी, लाज (खील), मधु, मट्ठा (मक्खन निकाला दूध या मट्ठा), आसव, अरिष्ट, सुरा, सर्षप तैल, पत्र शाक (पत्ती वाले शाक), वैगन का भत्ता, चिंगट मछली (छोटी जाति की मछली) प्रभृति कटु-तिक्त-कषाय रस वाले द्रव्य एव रूक्ष गुण भूयिष्ठ पदार्थो का सेवन रोगी को कराना चाहियें।[1]

औषधियों में—त्रिफला, गुग्गुल, लोह के योग, गोमूत्र, विडङ्गादि कृमिघ्न द्रव्यो के योग, त्रिकटु, शिलाजीत, पीने के लिये उष्ण किया जल, उष्ण जल से स्नान, जल का कम सेवन और भोजन के पूर्व जल का पीना उत्तम रहता है। लेखन वस्तियो का भी उपयोग करना चाहिये।

अपथ्य—शीतल जल से स्नान, नवीन अन्न (चावल, गेहूँ), सुखपूर्वक सदा गद्दी और तकिये के सहारे वैठना, दूध, मलाई, रवडी, मावा या खाड-राव का खाना, अधिक स्निग्ध एव पौष्टिक आहार, मछली, मासादि का अधिक सेवन, दिन का सोना, भोजन के वाद का जल पीना इन कार्यो को मेदस्वी व्यक्तियो को समभाव मे लाने के लिये अर्थात् नातिस्थूल नातिकृश वनने केलिये छोड देना चाहिये।

भेषज—१ शहद १ तोला एव जल ४ तोला मिलाकर प्रात काल मे सेवन। २ चावल का गर्म मण्ड पीना।[2] ३. दधि-मस्तु (दही का पानी), अथवा मथी हुई दधि का मक्खन निकाला छाछ तथा पचकोल भी कर्षक होता है। ४. अरणी की छाल का क्वाथ वनाकर उसमे शुद्ध शिलाजीत १ माशा मिलाकर पिलाना। ५. एक तोले भर वेर की पत्ती को काजी मे पीस कर सेवन करना। ६ एरण्डपत्र को जलाकर उसका क्षार वनाकर २ माशा की मात्रा ४ रत्ती घृत भर्जित हीग मिलाकर गर्म जल में घोल कर सेवन।

---

१ श्रमचिन्ताव्यवायाध्वक्षौद्रजागरणप्रिय ।
हन्त्यवश्यमतिस्थौल्य यवश्यामाकभोजनः ॥
अस्वप्नञ्च व्यवायञ्च व्यायामं चिन्तनानि च ।
स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तु क्रमेणातिप्रवर्द्धयेत् ॥

२ प्रातर्मधुयुत वारि सेवित स्थौल्यनाशनम् ।
उष्णमन्नस्य मण्ड वा पिवन् कृशतनुर्भवेत् ॥ (भै र)

योग-शक्तु प्रयोग-चव्यादिशक्तुक-चव्य, जीरा, सोठ, मरिच, पिप्पली, घृतभर्जित हीग, सोचल नमक, चित्रक की छाल, इन्हे सम प्रमाण मे लेकर महीन चूर्ण कर ले। यह चूर्ण २ माशा, जौ का सत्तू एक छटाँक, दधि का पानी घोलकर सेवन करने से स्थौल्य दूर होता है।

व्योषाद्यशक्तुक—सोठ, मरिच, पिप्पली, वायविडङ्ग, सहिजन की छाल, हरड, बहेडा, आँवला, कुटकी, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, हरिद्रा, दारु हरिद्रा, पाठा, अतीस, शालपर्णी, घृतभर्जित हीग, केवुक की जड, अजवायन, धनिया, चित्रक की छाल, सोचल नमक, श्वेत जीरा, हाऊवेर, इन द्रव्यो को सम भाग मे लेकर चूर्ण कर शीशी मे भर दे। फिर यह चूर्ण, तैल, घृत और शहद प्रत्येक ४-४ माशे और जौ का सत्तू १६ गुना २१ तोले ४ माशे जल मे घोलकर पीना। इस प्रयाग से अग्नि दीप्त होती है, प्रमेह, कुष्ठ, कामला, प्लीहावृद्धि, कृमिरोग तथा मेदो रोग मे लाभ होता है।

नवक-गुग्गुलु—त्रिकटु, त्रिफला, चित्रक की छाल, नागरमोथा, वाय विडङ्ग तथा गुग्गुलु। सबको बराबर भाग लेकर प्रथम गूगल को कूटकर उसमे शेष द्रव्यो का चूर्ण मिश्रित करके गोली बनाले। मात्रा १ माशा। अनुपान मधु। दिन मे तीन बार।

अमृताद्य गुग्गुलु—गिलोय १ तोला, छोटी इलायची २ तोला, वाय-विडङ्ग ३ तोला, कुटज की छाल ४ तोला, बहेडा ५ तोला, हरड ६ तोला, आँवला ७ तोला, शुद्ध गुग्गुलु ८ तोला। मात्रा २ माशा। अनुपान मधु। दिन मे तीन बार। प्रमेहपिडिका, भगदर तथा स्थौल्यरोग में इससे लाभ होता है।

त्रिफलाद्य तैल—तिल तैल ऽ१, सुरसादि गण की औषधियो का क्वाथ ४ सेर, काली तुलसी, सफेद तुलसी, मरुवा, आजवल, रोहिस तृण, गध तृण, वन तुलसी, कृष्णार्जक, कासमर्द, नकछिकनी, खरपुष्पा, वायविडङ्ग, जायफल, सफेद, एव नीले फूल को निर्गुण्डी, मूषाकर्णी, भारगी, काकजघा, काकमाची एव कुचेला-सम भाग मे लेकर १ सेर द्रव्य को १६ सेर जल मे क्वथित करके ४ सेर शेष करे। एव हरड, बहेरा, आँवला, अतीस, मूर्वामूल, त्रिवृत् मूल, चित्रक मूल, अडूसा, नीम की छाल, सप्तपर्ण की छाल, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, गिलोय, निर्गुण्डी, पिप्पली, कूठ, सरसो, सोठ इन्हे सम प्रमाण मे लेकर कुल एक पाव लेकर जल के साथ पीस कर कल्क के रूप मे डाले। यथाविधि मद अग्नि पर चढाकर तैल का पाक करे। इस तैल का पान, अभ्यग, गण्डूष, नस्य तथा वस्ति के रूप मे प्रयोग करने से स्थूलता, आलस्य, कण्डु तथा कफ एव मेदो दोष से उत्पन्न विकार शान्त होते है।

लौहारिष्ट—शालसारादि गण की औषधियो के क्वाथ (प्रमेहाधिकारोक्त) बनाकर छान ले। फिर इस क्वाथ मे ठंडा हो जाने पर मधु मिलाकर मीठा करे। फिर गुड की चाशनी तथा पिप्पल्यादि गण की औषधियो का प्रक्षेप मिलावे। फिर घृत-पिप्पली चूर्ण एव मधु से अंदर से लिप्त साफ घडे के भीतर रखे। इस घडे मे तीक्ष्ण लौह के पतले पत्रो को खदिर की अग्नि मे डालकर बुझावे, लौह पत्रो को उसी मे पडा रहने दे। फिर घडे के मुख को भलीभाँति बद करके ३-४ मास तक जौ की राशि के भीतर रख कर पडा रहने दे। पश्चात् उसको छान कर शीशियो में भर कर रख ले। यह सुश्रुतोक्त लौहारिष्ट है। इसके उपयोग से मधुमेह, मेदो रोग, प्रमेह पिडिका, पाण्डु रोग, प्लीहा, एव उदर रोग में लाभ होता है। मात्रा २ तोला। समान जल मिलाकर भोजन के बाद।

विडङ्गाद्यलौह—वायविडङ्ग, हरड, बहेरा, आँवला, नागरमोथा, पिप्पली, सोठ, वेल की छाल, पके वेल का गूदा, श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला, पाठा, खस तथा बला की जड प्रत्येक एक तोला सब के बराबर लौह भस्म १३ तोले। पानी मे पीस कर घृतलिप्त अंगुली से १ माशे प्रमाण की गोलियाँ बनाले। मात्रा १–२ वटी दिन मे दो बार। अनुपान गर्म दूध।

वडवाग्नि लौह—रससिन्दूर, शुद्ध हरताल, लौह भस्म, ताम्र भस्म सभी समान भाग। अर्कपत्र-स्वरस की भावना। मात्रा १ रत्ती। अनुपान मधु या घृत और मधु से। दिन में दो बार।

स्वेदहर तथा दुर्गंधनाशक लेप—१. अडूसे का रस, विल्व पत्र का रस प्रत्येक एक एक तोला उसमें शंख भस्म २ माशा मिलाकर लेप करने से शरीर के पसीने की बदबू दूर होती है।

२. हरड, लोध, नीम की पत्ती, आम की अंतर छाल, अनार का छिलका इनका समभाग मे लेकर महीन कूट पीसकर—१ तोले से २ तोले पानी के साथ पीसकर लेप करने से दुर्गंध दूर होती है। स्त्रियो के मुख की विवर्णता दूर होती है, हाथी–घोडे पर चलने वाले श्रीमन्त व्यक्तियो के जांघ तथा नितम्ब प्रदेश की त्वचा की विवर्णता भी दूर होती है। यह स्त्रियो के लिये अगराग तथा नराधिपो के लिये जघा कषाय है।[1]

१ हरीतकी लोध्रमरिष्टपत्रं चूतत्वचो दाडिमवल्कलञ्च।
एषोऽङ्गराग कथितोऽङ्गनाना जंघाकषायश्च नराधिपानाम्॥

छत्तीसवाँ अध्याय

उदर रोग प्रतिषेध

प्रावेशिक—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, सन्निपातोदर, यकृत्-प्लीहोदर, वद्धगुदोदर, क्षतोदर तथा जलोदर भेद से उदर रोग आठ प्रकार के होते है। उदर रोगो मे उत्सेधयुक्त सम्पूर्ण उदरगुहागत रोगो का समावेश हो जाता है, जिसमें कारण औदरिक वृद्धि (Genralised Abdominal Enlargement) पाई जाती है। प्राचीन ग्रथो मे उदररोगो के उत्पादक तीन कारण वतलाये गये है—१. मन्दाग्नि २ मलसंचय ३. पाप कर्म। उदर रोगो की सामान्य सम्प्राप्ति के सम्वन्ध मे यह वतलाया गया है कि संचित हुए दोष स्वेद-वाही तथा जलवाही स्रोतसो में अवरोध उत्पन्न करके प्राण-अपान एव जठराग्नि को दूषित कर उदररोगो को उत्पन्न करते है। सव प्रकार के उदर रोगो मे आध्मान (पेट का तनाव), चलने-फिरने मे असमर्थता, दुर्वलता, पाचन करने वाली अग्नि की मदता, शरीर मे सूजन, अगो मे शिथिलता, वायु एवं मल का अवरोध, दाह एवं तद्रा ये सामान्य लक्षण पाये जाते है।[1] चरक सहिता मे इन प्रत्येक उदर रोगो का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। वातोदर मे मलका अवरोध, आध्मान, शूल आदि के साथ "आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च" अर्थात् आध्मानयुक्त उदर मे स्पर्शन अथवा अगुलिताडन करने से, भरी हुई मशक के ठोकने पर जैसा शब्द मिलता है वैसे ही शब्द पाया (Tympanitic node) जाता है, यह विशिष्ट लक्षण है जो आधुनिक दृष्टि से (Tympanitis) के वर्णन से सादृश्य रखता है। इसी प्रकार पित्तोदर का वर्णन अर्वाचीन, शास्त्रो मे वर्णित उदरावृतिशोफ (Peritonitis) के साथ साम्य रखता है। कफोदर मे आमाजीर्ण कफज ग्रहणी आदि आमप्राय विकारो के साथ या उनके वाद होता है, उदर मे शोथ होता है। अर्वाचीन दृष्टि से इसका सामञ्जस्य (Amoebiasis) या तत्सदृश विकारो से कर सकते है। कालान्तर मे ये

---

१ पृथग्दोपै समस्तैश्च प्लीहवद्धक्षतोदकै । सभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषा लिङ्ग पृथक् शृणु ॥ रोगा. सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च । अजीर्णान्मलिनैश्चान्नै-र्जायन्ते मलसचयात् ॥ आध्मान गमनेऽशक्तिर्दौर्वल्य दुर्बलाग्निता । शोथ सदन-मङ्गाना सङ्गो वातपुरीषयो ॥ दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥

सभी सन्निपातोदर या दूष्योदर का रूप धारण करके असाध्य हो जाते हैं। बद्धगुदोदर, तीव्र आन्त्रावरोध (Acute Intestinal obstruction) के रूप में स्पष्टतया प्रतिभात है और क्षतोदर भी एक तीव्रावस्था का ही वर्णन प्रतीत होता है जब कि किसी रोग के उपद्रव रूप में आन्त्र-छिद्र (Perforation of the Intestine) हो जाय।

इस प्रकार उदर रोग में अधिकतर तीव्र रोगो (Acute Abdomen) का ही वर्णन पाया जाता है। इनमे अधिक शल्यतंत्रीय चिकित्सा ही लाभप्रद भी होती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी रोगो का वर्णन उदर रोगो के अध्याय में पाया जाता है, जिनमे उत्पादक कारणों की मन्दता, दोषो की अल्पता आदि से जीर्ण स्वरूप की व्याधियाँ हो जाती हैं। जैसे, प्लीहोदर (Spleenomegaly), यकृद्दाल्युदर (Cirhosis of the liver), तथा जलोदर (Ascitis), आदि। ये सभी अनुतीव्र या चिरकालीन स्वरूप (Sub-acute or chronic type) की व्याधियाँ हैं। वस्तुत., कायचिकित्सक को अपने को यहाँ तक सीमित रखना श्रेयस्कर होता है। अन्य रोगो में उदावर्त्त सदृश उपचार करते हुए सफलता मिल जावे तो ठीक है, अन्यथा किसी शल्यतंत्रीय चिकित्सक को रोगी को देना उत्तम रहता है। "सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपक्रमेत्। तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्य। उत्तर शस्त्रसाध्य। कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि भवन्ति वर्जयितव्यानि वा।" (सु)

संक्षेप में कहना हो तो उदररोगो में बहुत से तीव्र (Acute), अनुतीव्र (Subacute) तथा जीर्ण (Chronic) स्वरूप की व्याधियो का उल्लेख प्राचीन शास्त्रकारो ने किया है जिनके कारण उदर की दीवाल उभरी हुई प्रतीत हो (All acute or subacute conditions of Abdomen causing enlargement of the Abdominal wall)

इन अष्ट उदर रोगो में काय-चिकित्सक के लिये दो बडे महत्त्व के रोग है—१ यकृत्प्लीहोदर तथा २ जलोदर। इन्ही दोनो के प्रतिषेध का वर्णन इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है। १ यकृत्प्लीहोदर या प्लीहयकृद्दाल्युदर अथवा प्लीहोदर एव यकृद्दाल्युदर—विदाही तथा अभिष्यदी पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने से मनुष्य का रक्त और कफ अधिक कुपित हो जाता है। फलत. प्लीहा की निरन्तर वृद्धि होती जाती है। प्लीहा बढकर उदर का उभार पैदा कर देती है। इस अवस्था को प्लीहोदर कहते हैं। प्लीहा की वृद्धि उदर में बाईं ओर होती है। इस अवस्था में रोगी मंद ज्वर एवं मन्दाग्नि से विशेष रूप से पीडित रहता

है। उनमे कफ एव पित्त के लक्षण और उपद्रव मिलते है। रोगी का बल क्षीण एव वर्ण पीला हो जाता है।

निदान लक्षण तथा चिकित्सा की समानता के कारण प्राचीन ग्रंथकारो ने यकृद्दाल्युदर का पाठ भी प्लीहोदर के साथ ही किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्लीहोदर उदर के बाई ओर तथा यकृद्दाल्युदर दायी ओर होता है। कुछ रोगो में इन दोनो की एक साथ भी वृद्धि होती है। प्लीहा की वृद्धि करने वाले कालाजार, मलेरिया, राजयक्ष्मा, फिरग, फक्करोग, ल्युकीमियाँ आदि रोगो की किसी अवस्था मे यकृद्-वृद्धि भी अवश्य होती है। साथ ही यकृत् की वृद्धि के कारण भी प्लीहा की वृद्धि करते है। अस्तु, दोनो रोगो के हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा मे पर्याप्त साम्य है। अस्तु, दोनो रोगो का एक साथ ही वर्णन प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है। उक्ति भी पाई जाती है—'प्लीहोदरस्यैव भेदो यकृद्दाल्युदर तथा।'(भा प्रा)। 'तदेव प्लीहोदर यकृद्दाल्युदर ज्ञेयम्।' (डल्हण)। 'तुल्यहेतु-लिङ्गौपधत्वात् तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरम्।' (चरक)। रोग के प्रसार की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी प्लीहावृद्धि के रोगी यकृत्-वृद्धि की अपेक्षा अधिक सख्या मे पाये जाते है। इस प्रकार प्लीहोदर नामक प्रधान व्याधि के अन्दर यकृत्-वृद्धि नामक गौण व्याधि अन्तर्विष्ट हो जाती है।[1]

जलोदर या दकोदर—उदरगुहा में जलसचय को जलोदर कहते है। प्राचीनो ने जलवाही स्रोतो की दुष्टि को जलोदर का कारण माना है। आधुनिक विद्वान इसके निम्नलिखित कारण मानते है—१ हृद्रोग २ वृक्क रोग ३ यकृद्रोग (प्रतिहारिणी सिरा का अवरोध Portal obstruction) तथा ४ क्षयजन्य उदरवृतिशोथ (T B Peritonitis) ५ प्लीहोदर के परिणाम स्वरूप। सामान्य लक्षणो मे उदर मे उत्सेध, नाभि का उल्टा होना (Everted umbelicus), मशक के समान क्षोभ या कम्प (Thrill), हतिवत् शब्द (Percussion Dullness), हृद्द्रव (Palpitation), श्वासकृच्छ्र, कास, बुभुक्षानाश, अग्निमांद्य, विवन्ध, चलने में असमर्थता, पैरो पर सूत्र, मूत्र की कमी आदि लक्षण मिलते है।[2]

---

१ विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तो प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च। प्लीहाभिवृद्धि कुरुत प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठर वदन्ति॥ तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेपत सीदति चातुरोऽत्र। मन्दज्वराग्नि कफपित्तलिंगैरुपद्रुत क्षीणवलोऽतिपाण्डु। सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेय यकृद्दाल्युदर तथैव॥ (सु नि ७)

२ य स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोप्यथवा निरूढ। पिवेज्जलं

साध्यासाध्यता—सामान्यतया उत्पत्ति-काल से ही सर्व प्रकार के उदर रोग कृच्छ्रसाध्य होते है। उदरावरण की गुहा मे जल का संचय (जलोदर) रोगो का अतिम परिणाम है। उदर रोगो का परिपाक होकर जलोदर होता है। अस्तु, प्रायः सभी असाध्य हो जाते है तथापि रोगी यदि बलवान् हो और रोग नवीन हो तो यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से लाभ की आशा रहती है और रोग याप्य या कृच्छ्रसाध्य रहता है।[1]

उदर रोगों में सामान्य प्रतिषेध—उदर रोगो मे मल की अधिकता पाई जाती है। अस्तु, विरेचन के द्वारा उसका शोधन सदैव हितकर होता है।[2] इसके लिये दूध, एरण्ड तैल, त्रिवृत्, त्रिफला, दशमूल कषाय, दन्ती, स्नुहीक्षीर, इंद्रायण मूल, गोमूत्र अथवा अष्ट-मूत्र, काम्पिल्लक, पिप्पली, हरीतकी, गुग्गुलु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पटोल, पुनर्नवा तथा देवदारु, शिलाजीत आदि ओषधियाँ उत्तम रहती है।[3]

पुनर्नवाष्टक कषाय—पुनर्नवा, नीम की छाल, पटोलपत्र, शुंठी, कुटकी, गिलोय, देवदारु, हरीतकी इन द्रव्यो का समभाग लेकर २ तोले को ३२ तोले जल मे उबाल कर ८ तोले शेष रहे तो छानकर शहद मिलाकर पिलाना। सर्वाङ्ग-शोथ, जलोदर एव पाण्डु मे लाभप्रद।[4]

शीतलमाशु सम्यक् स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥ स्नेहोपलिप्तेष्व-थवाऽपि तेषूदकोदरं पूर्ववदभ्युपैति। स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्णमिवाम्बुना च ॥ यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्। (सु)

१ जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥ (च. चि. १३)
अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु।
सर्वाण्येव परीपाकात्तदासाध्या भवन्ति हि ॥ (सु)

२ दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात्।
सम्भवन्त्युदरं तस्मान्नित्यमेतं विरेचयेत् ॥
पाययेत्तैलमैरण्डं समूत्रं सपयोऽपि वा।

३. शिलाजतूनां मूत्राणां गुग्गुलोस्त्रैफलस्य च ॥
स्नुहीक्षीरप्रयोगाश्च शमयन्त्युदरामयम्। (भै.)

४ पुनर्नवानिम्बपटोलशुण्ठीतिक्तामृतादार्व्यभयाकषायः।
सर्वाङ्गशोथोदरकासशूलश्वासान्वितं पाण्डुगदं निहन्ति ॥

नारायणचूर्ण—अजवायन, हाउवेर, धनिया, त्रिफला, काला जीरा, सौफ, पिप्पली मूल, अजमोद, कचूर, बच, सोया बीज, श्वेत जीरा, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, स्वर्णक्षीरी मूल, चित्रक, यवक्षार, सज्जीखार, पुष्करमूल, कूठ, सेंधव, सामुद्र लवण, मोचल लवण, विड लवण, उद्‌भिद् लवण और वायविडङ्ग प्रत्येक १ तोला। दन्ती की जड ३ तोले, निशोथ तथा इन्द्रायण की जड २–२ तोले, सातला की जड ४ तोले। सबका महीन कपडछन चूर्ण। यह नारायण चूर्ण अनेक रोगो मे अनुपान भेद से लाभप्रद होता है। मात्रा २–४ माशे। उदर रोगो में मट्ठे के साथ, गुल्म रोग मे वेर के क्वाथ के साथ, अर्श एवं विबन्ध रोग मे दही के पानी या अनार के रस के साथ और अजीर्ण मे गर्म जल के साथ देने से उत्तम लाभ होता है। पाण्डु, हृद्रोग, कास-श्वास तथा ग्रहणी एव विष चिकित्सा मे भी उपयोगी है।

देवदार्वादि लेप—देवदारु, पलाश के वीज या मूल, आक के पत्र या जड, गजपिप्पली, सहिजन की छाल, असगंध और काकमाची इन्हे सम प्रमाण मे लेकर गोमूत्र मे पीसकर उदर पर गर्म गर्म लेप करने से आध्मान कम होता है। यकृत् एव प्लीहा की वृद्धि भी कम होती है।[1]

सहस्रपिप्पली प्रयोग—थूहर के दूध मे सात वार या इक्कीस वार भिगोयी और सुखाई पिप्पली का सेवन एक सहस्र की संख्या मे करने से और केवल क्षीराहार पर रोगी के रहने से उदर रोग नष्ट होता है। इसमे वर्धमान पिप्पली के क्रम से प्रयोग करना उत्तम रहता है। १० पिप्पली से प्रारंभ करे प्रथम दिन दूध मे पीसकर तीन हिस्से मे बाँटकर प्रात, मध्याह्न एव साय काल मे दूध के साथ १० छोटी पीपल का प्रयोग दूसरे दिन २० और तीसरे दिन ३० तथा इस प्रकार वढाते हुए दसवें दिन १०० पिप्पली का सेवन करावे फिर दस के क्रम से घटाते हुए १० पिप्पली प्रतिदिन पर लेकर क्रम को वद कर दे। इस प्रकार पूरे कल्प मे १००० पिप्पली लगती है—रोगी को क्षीराहार पर रखकर इस प्रयोग से यकृद्दाल्युदर (Cirhosis of the liver) एव तज्जन्य उपद्रवो मे जलोदर आदि में उत्तम लाभ होता है। रोगी और रोग के बल के अनुसार तीन, पाँच या सात के क्रम से भी वृद्धि की जा सकती है। और पिप्पली कुल सख्या कम की जा सकती है—यह सहस्र पिप्पली प्रयोग बडा उग्र है और वलवान रोगियो मे ही करना सभव है। इसकी एक तृतीयाश अर्थात् ३३० पिप्पली का कुल

---

१ देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः।
साश्वगंधैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं शनैः॥

प्रयोग अधिक अनुकूल पड़ता है। यह क्रम २-२ पिप्पली के वर्द्धमान प्रयोग से पूर्ण हो जाता है। कुछ वैद्य १-१ के क्रम से बढाते हुए उपयोग करते हुए लाभ उठाते हैं। बिना स्नुही से भावित पिप्पली के उपयोग से भी पर्याप्त लाभ होता है। इस वर्धमान पिप्पली प्रयोग से बढकर उदर रोग मे कोई चिकित्सा जगत् में नही है।[1]

वर्धमान पिप्पली प्रयोग—इस प्रयोग मे पिप्पली (छोटी पीपल) दो प्रकार की हो सकती है—केवल पिप्पली या भावित पिप्पली या सस्कारित पिप्पली। संस्कारित पिप्पलियो में १ किंशुक (पलाश) के क्षार जल में भिगोयी पिप्पली या पिप्पली को सात दिन तक मट्ठे में भिगोकर पश्चात् निकाल कर प्रयुक्त अथवा स्नुहीक्षीर मे भावना देकर बनायी पिप्पली। इनमें केवल पिप्पली या पलाश क्षार जल मे भिगोयी, मट्ठे मे भिगोयी-पिप्पली का प्रयोग जब केवल यकृत् एवं प्लीहा की वृद्धि (Enlargement of spleen or Cirhosis of liver) मात्र हो, उपद्रव रूप मे जलोदर साथ मे न हो (अजातोदक) तब करना उत्तम रहता है, परन्तु जब इनके उपद्रव रूप में जलोदर (जातोदक) हो जावे तो स्नुही क्षीर से भावित पिप्पली अधिक उत्तम रहती है।

रोगी के बल, काल, सहन-शक्ति का विचार करते हुए वर्धमान पिप्पली का प्रयोग करना चाहिये। सब से उत्तम क्रम १० पिप्पली से प्रारंभ करके प्रथम दिन दस, दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन तीस करके देना है, इस प्रकार दसवें दिन सौ पिप्पली का उपयोग प्रतिदिन प्रयोग करने से हो जाता है। इस वर्धमान पिप्पली के उपयोग काल मे रोगी को केवल दूध (गरम करके ठंडा किये दूध) पर रखना चाहिए। और दूध मे पीसकर ही पिप्पली का सेवन करने को देना चाहिये। दिन मे दो या तीन हिस्से में विभाजित कर प्रतिदिन की पिप्पली की सख्या को देना चाहिये। जैसे जैसे पिप्पली बढती चले दूध की भी मात्रा एक नियमित क्रम से बढानी चाहिये। जैसे रोगी के प्रारंभिक दूध की मात्रा १ सेर रही हो तो प्रत्यह १ पाव या आधा सेर बढाते जाना चाहिये। दसवें दिन

---

१ स्नुहीपयोभाविताना पिप्पलीना पयोगन।
सहस्र चेह भुञ्जीत शक्तितो जठरामयी॥
पिप्पलीवर्धमान वा कल्पदृष्टं प्रयोजयेत्।
जठराणा विनाशाय नास्ति तेन समं भुवि॥ (भै. र.)
त्रिभिरथ परिवृद्ध पञ्चभि सप्तभिर्वा दशभिरथ विवृद्ध पिप्पलीवर्धमानम्।
इति पिबति युवा यस्तस्य न श्वासकासज्वरजठरगुदार्शोवातरक्तक्षया. स्युः॥
(यो र.)

दूध एव पिप्पली की मात्रा पूरी हो जाती है। फिर ग्यारहवे दिन से पिप्पली की संख्या प्रत्यह दस कम करता चले साथ ही दूध की मात्रा भी १ पाव प्रतिदिन कम करता चले। इस प्रकार उन्नीसवे बीसवें दिन रोगी पिप्पली तथा दूध की प्रारम्भिक मात्रा पर आ जाता है एव कल्प पूरा हो जाता है। पूरे कल्प से एक सहस्र पिप्पली का उपयोग हो जाता है।

कल्प के पूरा हो जाने पर, पिप्पली और दूध के जीर्ण हो जाने पर रोगी की क्षुधा जागृत होती है, उसको साठो के चावल का भात और दूध खाने को देना चाहिये।

इस सहस्र पिप्पली कल्प में १० के क्रम से वृद्धि उत्तम, ६ पिप्पली के क्रम से वृद्धि मध्यम तथा ३ पिप्पली के क्रम से वृद्धि करके पूर्ण करना अवर माना गया है।[1]

यह वर्धमान पिप्पली कल्प रसायन है, बृहण, वृष्य तथा आयु के लिये हितकर है। कहीं-कहीं ग्रथो में पाँच पिप्पली का प्रयोग प्रारभ करके प्रतिदिन पाँच बढाते हुए पाँच सौ (अर्ध सहस्र) तक बढाकर फिर पाँच घटाते हुए सहस्र पिप्पली का भी प्रयोग पाया जाता है। रोगी की आयु, बल, काल आदि का विचार करते हुए किसी एक क्रम का निर्णय करना चाहिये।

आज यकृत् और प्लीहा रोगो मे कई जटिल रोग पाये जाते हैं। इनका सम्यक् उपचार भी ज्ञात नही है। जैसे यकृद्‌वृद्धि (Cirhosis of liver), प्लीहोदर (Spleeno medulary Leukaemia), बालयकृद्दाल्युदर, यकृत् कैन्सर आदि। इन रोगो में इन प्रयोगो को करके देखना चाहिये, सभव है—इन में इस कल्प की कुछ उपयोगिता सिद्ध हो।

देवद्रुमादि योग—देवदारु, सहिजन की छाल, अपामार्ग पचाङ्ग-सम मात्रा मे लेकर चूर्ण बनाकर गोमूत्र के साथ सेवन। मात्रा–३ माशा चूर्ण एक छटाँक गोमूत्र से।

---

१ क्रमवृद्धया दशाहानि दशपिप्पलिक दिनम्।
वर्द्धयेत्पयसा सार्द्धं तथैवापनयेत्पुन:॥
जीर्णाजीर्णं च भुञ्जीत षष्टिक क्षीरसर्पिषा।
पिप्पलीना सहस्रस्य प्रयोगोऽय रसायन.॥
दशपिप्पलिक. श्रेष्ठो मध्यमः षट्प्रकीर्त्तित।
यस्त्रिपिप्पलिपर्यन्त प्रयोग सोऽवर. स्मृत॥

अश्वगंध—केवल अश्वगंध का चूर्ण ६ माशा का गोमूत्र के साथ सेवन।

अष्ट-मूत्र—के द्वारा उदर का सेंक करने अथवा मुख से पिलाने से उदर रोगो मे लाभ होता है।

गवाक्ष्यादि—इन्द्रायण (गवाक्षी की जड), स्नुहीमूल, दन्तीमूल एवं नीलिनी के पत्ते सम भाग मे लेकर २ माशा की मात्रा मे गोमूत्र के साथ पीस कर लेने से सभी प्रकार के उदर रोगों में लाभ होता है।

त्रियोग—१ भैंस के दूध मे गोमूत्र (१ पाव दूध में २½ तोला) मिलाकर पीना २ त्रिफला का चूर्ण (३ माशा) गाय के दूध (१ पाव) में मिलाकर पीना ३ दुग्धाहार पर रहकर गोमूत्र का सेवन।

यकृत्प्लीह प्रतिषेध—यकृत् एवं प्लीहा की वृद्धि मे यदि मूल रोग का निदान हो जाय जैसे जीर्ण प्रवाहिका, रक्ताल्पता, विषम ज्वर या कालज्वर तो मूल व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा करने से स्वयमेव यकृत् अथवा प्लीहा भी ठीक हो जाती है। परन्तु यदि विशिष्ट कारण का पता न लग सके तो कुछ सामान्य सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे स्नेहन, स्वेदन, प्लीहा एवं यकृत् का मर्दन तथा सिरावेध। प्लीहा—यकृत् के क्षेत्र पर तैल का मर्दन करना, अष्टमूत्रों को गर्म करके उसमे कपडा या रूई भिगोकर सेंक करना उत्तम रहता है।

सुश्रुत ने यकृत् एवं प्लीहा वृद्धि की चिकित्सा मे सिरावेध तथा दाह कर्म का विधान बतलाया है—इस क्रिया का प्रयोग करके देखना चाहिये। इस पर लेखक का अपना कुछ भी अनुभव नही है, परन्तु ग्रंथों मे उल्लेख पाया जाता है—बहुत से प्रयोगो के अनन्तर ही इस पर कोई सिद्धान्त दिया जा सकता है। विधान यह है कि रोगी को दही के साथ अन्न खिलाकर उसके बाहु के मध्य वाली सिरा या वाम कूर्पर सधिगत सिरा (Cabital vein) का तथा यकृत् रोग मे दक्षिण बाँह की सिरा का वेध करना चाहिये। इस में सिद्धान्त यह है—प्लीहा एवं यकृत् में इस क्रिया से आकुचन होता है और दुष्ट रक्त निकल जाता है और और रोग शान्त हो जाता है।[1]

---

[1] स्नेहस्वेदप्रकाशादि विधेय प्लीहरोगिणि। दध्ना भुक्तवतो वामबाहुमध्ये सिरा भिषक्। विध्येत्प्लीहविनाशाय यकृन्नाशाय दक्षिणे। प्लीहानं मर्दयेद् गाढं दुष्टरक्तप्रशान्तये॥ (सु.)

प्लीहानं यकृतं वृद्धं मूत्रस्वेदैरुपाचरेत्।
प्लीहजिच्छरपुंखाया। कल्कस्तक्रेण सेवितः॥ (भै र)

दाह—वामबाहु मे मणिवध के आगे वामाङ्गुष्ठ के समीपवर्त्ती शिरा को क्षार मे या शर मे (तप्त करके) जलाना चाहिए ।[1]

प्लीहोदर मे ओषधि—१ शरपुंखा मूल के कल्क का तक्र के साथ सेवन अथवा शरपुखा-स्वरस ६ माशे से १ तोला की मात्रा मे मधु से अथवा शरपुङ्खा का क्षार बनाकर उसका सेवन १ माशा की मात्रा मे ।

२. रोहीतक—रोहीतक की छाल तथा अभया प्रत्येक १-१ तोला लेकर क्वाथ बनाकर उसमें पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती और यवक्षार या शरपुंखा क्षार १ माशा मिलाकर सेवन । रोहीतक का स्वतन्त्र चूर्ण, कषाय या अरिष्ट घृत के रूप मे सेवन भी लाभप्रद रहता है ।

३ शिग्रु—(१) सहिजन की छाल का कषाय बनाकर उसमे पिप्पली, कालीमिच, अम्लवेत एव सेंधव लवण प्रत्येक ४-४ रत्ती का प्रक्षेप छोडकर सेवन ।

(२) सहिजन के क्वाथ मे सैन्धव लवण, चित्रक की छाल तथा पिप्पली-चूर्ण प्रत्येक ४-४ रत्ती का प्रक्षेप छोडकर सेवन ।

(३) सहिजन के क्वाथ मे पलाश क्षार तथा यवक्षार प्रत्येक ४-४ रत्ती की मात्रा मे प्रक्षेप देकर पिलाना यकृच्छोथ तथा प्लीहशोथ (Hepatitis or spleenic congestion) मे लाभप्रद होता है ।

४. शाल्मलिपुष्प क्वाथ—सेमल के फूल को पानी मे खौलाकर स्विन्न कर ले, फिर उसे रातभर रख कर दूसरे दिन प्रात काल में (मात्रा २ तोला) हरिद्रा का चूर्ण २ माशा मिलाकर सेवन ।

५ तालपुष्प—ताड के फूलो को जलाकर उसका क्षारविधि से क्षार बनाकर २ माशे पुराने गुड के साथ सेवन ।

६ चित्रकमूल—चित्रकमूल का चूर्ण १-२ माशे पुराना गुड २ तोले के साथ सेवन ।

७ हरिद्रा—हरिद्रा का चूर्ण ३ माशे का गुड के साथ सेवन ।

८. अर्कपत्र—मदार के कोमलपत्र २-४ लेकर पुराना गुड के साथ सेवन ।

९ धाय के फूल—धाय के फूल का चूर्ण २ माशा, पुराना गुड १ तोले के साथ सेवन ।

१० लशुन-लहसुन—पिप्पलीमूल एव हरीतकी प्रत्येक समान मात्रा मे लेकर चूर्ण बनाकर ६ माशे की मात्रा मे एक छटाँक गोमूत्र के साथ सेवन ।

---

१ मणिवन्धसमुत्पन्नवामाङ्गुष्ठसमीरिताम् ।
दहेच्छिरा शरेणाशु वैद्य प्लीह्न प्रशान्तये ॥ (सु)

११ पिप्पली—पलाश के रस या पलाशक्षार के जल में पिप्पली को २१ बार भावित करके घृत में भूनकर सामान्य या वर्द्धमान क्रम से दूध के साथ उपयोग करने से यकृत् एवं प्लीहा रोग दोनो में लाभ होता है।

१२. पूतिकरंज—पूतिकरज के मूल के क्षार को कांजी में भावित करके उसमें विडलवण और पिप्पली चूर्ण ४-४ रत्ती मिलाकर सेवन करने से यकृत्प्लीहा-वृद्धि का शमन होता है।

१३ शार्ङ्गेष्टा निर्यूह—काकजघा या काकमाची या लता करज या गुञ्जा का कषाय बनाकर उसमें सेंधा नमक और इमली का क्षार मिलाकर (प्रत्येक ४-४ रत्ती) सेवन करने से प्लीहरोग मे लाभ पहुँचता है।

१४. शखनाभि की भस्म—मात्रा–२ माशे जम्बीरी निम्बू का रस २ तोले मिलाकर दिन मे दो-तीन बार सेवन करना—इस योग से दीर्घकालीन प्लीहावृद्धि में भी लाभ होता है।

१५ शुक्तिभस्म—समुद्र-शुक्ति भस्म १-२ माशा की मात्रा मे दूध मे डालकर सेवन।

१६ काली तिल—काली तिल ६ माशा और सेन्धा नमक २ माशा मिला कर सेवन करने से यकृत् की वृद्धि (Cirhosis) मे लाभ होता है।

१७ पके आम के फल के रस—पके आम के फल के रस का मधु मिलाकर सेवन या अमावट का बहुल प्रयोग या पके आम का सेवन यकृत् के रोगो में उत्तम औषधि है।

१८ भल्लातक—शुद्ध भल्लातक, हरड और जीरा (भुना) सम भाग मे लेकर पुराने गुड के साथ लड्डू बनाकर रख ले। १-२ माशे की मात्रा में दूध या जल के अनुपान से सेवन करने से यकृत् एव प्लीह रोगो में उत्तम लाभ होता है। एक सप्ताह के उपयोग से दारुण प्लीहा-वृद्धि में भी पर्याप्त लाभ पहुँचता है।

योग १ रोहितकाद्य चूर्ण—रोहीतक की छाल, यवक्षार, चिरायता, कुटकी, नवसादर, अतीस और सोठ। सम प्रमाण में लेकर बनाया चूर्ण। मात्रा–१ से ३ माशा प्रातः-सायम्। अनुपान–जल, मट्ठा या आसवारिष्टो में मिलाकर। यकृद्रोग (Cirhosis of liver) मे लाभप्रद।

२. गुडूच्यादि चूर्ण—नीम गिलोय, अतीस, सोठ, चिरायता, कालमेघ या यवतिक्ता, नागरमोथा, पिप्पली, यवक्षार, शुद्ध कासीस, चम्पे की जड की छाल। समभाग में लेकर बनाया चूर्ण। मात्रा–२ माशा। अनुपान–उष्ण जल प्लीहा वृद्धि मे लाभप्रद।

३ अर्क लवण—अर्क या मदार के पत्र पर तह करके दो पत्तो के बीच मे सेन्धा नमक रखकर एक मिट्टी की हडिका मे कई तहे लगाकर रख दे। हडिका का मुख ढक्कन देकर कपडमिट्टी कर बन्द करके गजपुट मे एक पुट दे। स्वाग-शीतल होने पर उसको निकाल और सबको पीस ले। यह अर्क लवण नमक योग है। इसके उपयोग से उदरशूल विशेषत यकृच्छूल का सद्य शमन होता है। पुरानी बढी प्लीहा या यकृत्-वृद्धि मे भी लाभ होता है। रोगी को कब्ज विशेष रहता हो, पाखाना साफ न होता हो तो भोजन के पश्चात् इसके उपयोग से लाभ होता है। मात्रा–२ माशा। भोजनोत्तर गर्मजल के अनुपान से।

४ रोहितकादि वटी—रोहेडे की छाल, चित्रकमूल की छाल, अजवायन, तालमखाना प्रत्येक १०-१० तोला, सेंधानमक २ तोला तथा नवसादर १ तोला। सबको कूटकर महीन चूर्ण बना ले। फिर करज-स्वरस की भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनाले। मात्रा–१-२ गोली दिन मे तीन वार। अनुपान–उष्ण, जल।

५ रोहीतक लौह—हरड, वहेडा, आँवला, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, चित्रकमूल की छाल, नागरमोथा, वायविडङ्ग प्रत्येक १-१ भाग, रोहेडे वृक्ष की अन्तर्छाल ९ भाग—सबका कपडछन चूर्ण कर उसमे लौह भस्म या मण्डूर भस्म ९ भाग मिलाकर उसमे रोहितक के अन्तर्छाल की सात भावनाएँ देकर छाया मे सुखाकर रख ले। मात्रा–३ रत्ती। अनुपान–दूध या छाछ।

उपयोग—यकृत् प्लीहा की वृद्धि, पाण्डु रोग, जीर्ण विषम ज्वर मे यह अच्छा लाभ देने वाला योग है।

बृहल्लोकनाथ रस—लोकनाथ रस नाम से भैषज्य रत्नावली मे तीन पाठ मिलते हैं, इनमे द्रव्य प्राय तीनो मे समान है—कुछ भावनाओ का भेद है। यहाँ पर बृहल्लोकनाथ रस नामक पाठ का योग उद्धृत किया जा रहा है —

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला लेकर खरल में कज्जली बनावे, पश्चात् उसमे अभ्रक भस्म १ तोला, लौह भस्म २ तोला, ताम्र भस्म २ तोला, कपर्द (वराट) भस्म ९ तोला मिलावे। पश्चात् घृतकुमारी स्वरस, एव मकोय के रस को एक एक भावना देकर शराव-सम्पुट मे बन्द करके लघुपुट मे रखकर अग्नि मे पकावे। पश्चात् स्वाङ्ग-शीतल होने पर खरल करके शीशी मे भर लेवे। मात्रा–१-२ रत्ती। अनुपान–भुने जीरे का चूर्ण और मधु, हरीतकी और गुड, अजवायन का चूर्ण एव शहद, पिप्पली चूर्ण एवं गुड या मधु, केवल मधु या खदिर के काढे से।

यह योग सभी प्रकार की यकृत्-प्लीहा की वृद्धि, विषमज्वरजन्य प्लीहा वृद्धि तथा बाल यकृद्दाल्युदर (Infantile Cirhosis) में विशेषतः लाभप्रद है।

प्लीहारिवटी—मुसब्बर, अभ्रक भस्म, शुद्ध हीरा कासीस और लहसुन इन्हें सम भाग में लेकर द्रोणपुष्पी (गूमा के रस में तीन प्रहर (९ घंटे) तक भावित कर के २ रत्ती के प्रमाण में गोलियां बनाकर रख ले। १-१ वटी सुबह-शाम जल से।

यकृत्प्लीहारि लौह—शुद्ध पारद, शुद्धगंधक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म प्रत्येक १ तोला, ताम्र भस्म २ तोला, शुद्ध मन शिला, हरिद्रा चूर्ण, शुद्ध जयपाल, शुद्ध, टंकण, शुद्ध शिलाजीत प्रत्येक खरल करे। फिर दन्तीमूल, निशोथ, चित्रकमूल, निर्गुण्डी, शुंठी, मरिच, पिप्पली, अदरक और भृंगराज प्रत्येक के क्वाथ से एक एक भावना पृथक् पृथक् दे कर दो रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा १—२ गोली दिन में दो बार अनुपान शरपुंखा के स्वरस और मधु से।

यकृदरि लौह—लौह भस्म, अभ्रक भस्म प्रत्येक २—२ तोले, ताम्र भस्म १ तोला, निम्बू के जड़ की छाल का चूर्ण तथा मृगचर्म भस्म प्रत्येक ५—५ तोला। सबको एकत्र महीन चूर्ण कर। जल मे घोटकर १ माशा की मात्रा मे गोलियाँ बना ले। १—१ गोली प्रातः-सायम् मधु से।

शंखद्रावक—शंख द्राव, महाशंखद्राव, द्रावक रस, महाद्रावक रस नाम से कई योग भैषज्यरत्नावली मे उल्लिखित है। ये सभी द्राव बड़े तीव्र पाचक, क्षारीय गुण के, तीव्र उदर शूलशामक, प्लीहा एवं यकृद्वृद्धि में लाभप्रद होते हैं। ये सभी द्रावक द्रव रूप मे होते है—चिकित्सा मे इनका उपयोग भोजन के पश्चात् कुछ बूंद की मात्रा (२ से १० बूंद तक) से काँच के बर्त्तन में पानी में घोल कर हल्का कर के देना होता है। निर्माणविधि सबकी समान है—उनमें पड़ने वाले द्रव्यों में भेद हो जाता है। यहाँ पर एक शंख द्रावक का योग दिया जा रहा है —

शंख भस्म, यवक्षार, सर्जिका क्षार, टंकण, पाँचो लवण पृथक्-पृथक्, फिटकिरी तथा नौसादर, शुक्ति भस्म, वराट भस्म प्रत्येक ४-४ तोला लेकर काचकूपी में रखकर अग्नि पर चढाकर वकयंत्र से उठाकर द्रव को रख कर काच पात्र में रख लेना चाहिये।

रोहितकारिष्ट—रोहेडे की छाल ६। सेर, ६४ सेर जल मे क्वथित कर चौथाई १६ सेर शेष रखे। शीतल होने पर उसे छान ले फिर उसमें गुड १२॥

सेर, धाय का फूल १ सेर तथा पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक की जड, सोठ, दालचीनी, इलायची, तेजपात, हरड, बहेरा, आँवला प्रत्येक ५-५ तोला डाल कर घृत से स्निग्ध मिट्टी के भाण्ड मे भर कर भाण्ड के मुख पर ढक्कन रखकर कपडमिट्टी कर १ मास तक सुरक्षित स्थान पर रख दे। फिर छान कर बोतलो मे भर दे। मात्रा २ तोला। अनुपान समान जल मिलाकर भोजन के पश्चात्।

कदल्यादि क्षार तैल—केला, तिलनाल और तालमखाना इनका क्षार बना कर उस क्षार से तिल तैल को सिद्ध कर सेवन करने से कफवातज प्लीहा मे लाभ होता है।

बालयकृद्दाल्युदर प्रतिषेध (Infantile Cirhosis)—बाल्यावस्था मे होने वाली यकृद्वृद्धि एक असाध्य स्वरूप की व्याधि है। चिकित्सा मे सफलता कम एव असफलता ही अधिक मिलती है। रोग से पीडित होने पर बालक दिन-पतिदिन सूखता जाता है, शरीर मे मेद का भाग शुष्क हो जाता है, कोष्ठबद्धता प्राय पाई जाती है—शुष्क, गाठदार एव श्वेत वर्ण पुरीष त्याग करता है, चिर्डाचडा बहुत हो जाता है। रोग के प्रारंभ मे चिकित्सा की जाय तो लाभ की आशा रहती है। अन्यथा कामला और जलोदर का उपद्रव हो जाने पर पूर्णतया असाध्य हो जाता है। (विस्तृत वर्णन के लिये लेखक की बालरोग-चिकित्सा देखे)।

रोग की चिकित्सा के लिये यकृत् एव प्लीहा के प्रतिषेध मे बताये योगो का उपयोग करना चाहिये। विशेष चिकित्सा के लिये—बालक को माता का दूध बद कराके डिब्बे के दूध पर (Glaxo) रखना चाहिये। साथ मे बार्लीवाटर (जौ का यूष) पीने के लिये देना चाहिये। फलो मे अनार बेदाना, मोसम्मी, सतरा, अगूर, मुनक्का, केला, टमाटर का यूष आदि देना चाहिये। खाली पेट पर प्रात. काल मे गोमूत्र छोटी चम्मच से १-२ चम्मच पिलाना चाहिये। कालमेघ या यवतिक्ता का ताजा स्वरस मिल जाय अथवा "लिक्विड एक्सट्रैक्ट कालमेघ" छोटी चम्मच १ चम्मच दिन मे तीन बार देना चाहिये। मासरस मे यकृत् का कीमा बनाकर या उसका कच्चा रस टमाटर के रस मे मिलाकर पिलाना चाहिये। प्याज का स्वरस भी उत्तम पाया गया है। अस्तु, इसका भी दिन मे दो बार छोटी चम्मच से १-२ चम्मच देना चाहिये। रस के योगो मे यकृदरि लौह, यकृत्-प्लीहारि लौह का ½ रत्ती की मात्रा, शरपुखा स्वरस ३ माशा और मधु के साथ देना चाहिये। लोकनाथ रस या बृहल्लोकनाथ रस इस रोग मे चलने वाला एक उत्तम योग है। इसका उपयोग ½—१ रत्ती की मात्रा मे दिन मे दो-तीन बार हरीतकी चूर्ण एवं

मधु (१ माशा चूर्ण और ३ माशा मधु) के साथ करना चाहिये। उदर के ऊपर विशेषत यकृत् प्रदेश पर गोमूत्र या अष्टमूत्र को गर्म करके उसमे रुई भिगो कर उसमे सेंकना भी उत्तम रहता है। देवदार्वादि लेप का लेप भी यकृत्-प्रदेश पर करना उत्तम रहता है। आरोग्यवर्धिनी वटी का उपयोग भी उत्तम रहता है, रात में सोते वक्त रोगी को २ रत्ती की मात्रा मे दूध के साथ देना चाहिये। रोग से पीड़ित वालक को आरारोट का विस्कुट अनुकूल नही पडता है। अस्तु, उसका निषेध करना चाहिये। इस रोग मे वालक मीठी चीजें वहुत पसद करता है, एतदर्थ उसे मिश्री, वतासा या मधु दिया जा सकता है—दूसरी खोवे से वनी मिठाइयो पर पूर्णतया प्रतिवंध रखना चाहिये।

अजातोदक अवस्था मे जव तक कि उदर मे जल संचय न हुआ हो तो इस प्रकार के पथ्य एव उपचार पर रोगी को रखना चाहिये। जव जातोदक की अवस्था आ जावे अर्थात् उदर में जल सचय हो जावे तो जलोदर की चिकित्सा प्रारभ कर देनी चाहिये।

जलोदर प्रतिपेध—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है, उदर रोगो का परिपाक हो जाने पर अतिम परिणाम जलोदर होता है—उदर अत मे सलिल भाव (जल भाव) को प्राप्त होकर असाध्य हो जाता है। फलत. इस मे रोग का निमूलन तो होता नही है, परन्तु समुचित पथ्य और औषधि आदि की व्यवस्था से रोगी का यापन मात्र करते हुए कुछ स्वस्थ रखा जा सकता है।

सुश्रुत ने जलोदर की चिकित्सा में जल-विस्रावण (Tapping Abdomen) का विधान वतलाया है। पश्चात् रोगी को पूर्ण विश्राम देते हुए एक वर्ष तक पथ्य पर रहने की व्यवस्था की है। रोगी को निरन्न (विना अन्न) तथा निर्जल (विना जल पिलाये) तथा निर्लवण (विना नमक के) रखना चाहिये। प्रारम्भिक छ मास तक उसे केवल दूध अथवा मासरस (जाङ्गल अर्थात् हल्के पशु-पक्षियो के मासरस-शोरवे) पर रखना चाहिए। उसके वाद तीन मास तक दूध मे आधा जल मिला कर देना चाहिये—फलो के रस तथा मासरस देना चाहिये। अवशिष्ट अन्त के तीन महीनो में लघु एवं हित अन्न का सेवन, जैसे—मण्ड, पेया, विलेपी, कृशरा, ओदन आदि का सेवन करना चाहिये। नमक का अब भी परिहार रखना चाहिये। एक वर्ष के अनन्तर रोगी को प्राकृत आहार पर ले आना चाहिये। इस प्रकार जलोदर की चिकित्सा में पूरे एक वर्ष का समय लगता है, पश्चात् रोगी रोगमुक्त होता है।

आधुनिक युग में भी उदर वेध कर के जल-विस्रावण की प्रक्रिया जलोदर में

चलनी है, परन्तु, यह क्रिया अल्पकालीन आराम के लिये होती है। इस का रोगी नीरोग नही हो पाता है। यदि चरक या सुश्रुत मत से उसको एक वर्ष तक कडे पथ्य (Ristricted diet) पर रखा जाय तो लाभ स्थायी होता है।[1]

केवल ओषधि प्रयोग से जलोदर प्रतिषेध—व्यवहार मे यह देखा गया है कि विस्रावण (Tapping) के अनन्तर आये रोगियो की चिकित्सा में यश नहीं मिलता। सभवत उन में पथ्य की ठीक व्यवस्था न होने से या सहसा जल के निकलने से हृदय दुर्बल हो जाता है, फलत चिकित्साकाल मे उनकी मृत्यु हो जाती है। अस्तु, चिकित्सा मे ऐसे रोगियो का लेना जिन मे जल-विस्रावण की क्रिया न की गई हो, उत्तम रहता है।

जलोदर के रोगी को निर्जल, निर्लवण एव निरन्न रख कर केवल दूध का पथ्य देते हुए उपचार प्रारभ करना चाहिए और यह क्रम तब तक रखना चाहिये जब तक कि उदर प्राकृतावस्था मे न आ जावे। पश्चात् ससर्जन करते हुए क्रमश मण्ड, पेया, विलेपी आदि देते हुए दूध और भात अथवा दूध एवं रोटी पर रोगी को ले आना चाहिये। पुन इस आहार पर उसको एक वर्ष तक रखना चाहिये अन्यथा जलोदर के अच्छे हो जाने के पश्चात् भी उस मे अपथ्य सेवन से पुनरुद्भव की आशंका रहती है।

चिकित्सोपक्रम—रोगी को स्वेदल, मूत्रल एव रेचक औषधियो का प्रयोग करते हुए उदरगत जल के निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी का हृदय कमजोर न होने पावे, एतदर्थ हृद्य योगो का सेवन भी कराते रहना चाहिये। रोगी को जल का परित्याग चिकित्सा-काल मे करना चाहिये। क्षुधा एव तृषा दोनो के शमन के लिये गर्म कर के ठडा किया दूध (शृतशीतक्षीर)[2] ही पथ्य होता है, परन्तु यदि ऋतु अनुकूल न हो, अथवा रोगी की तृषा (प्यास) बहुत तीव्र हो तो जल के स्थान पर किसी अर्क का उपयोग पीने के लिये किया जा सकता है। अर्कों मे काकमाची, पुनर्नवा, शतपुष्पा (सौंफ) या अजवायन का अर्क दिया जा सकता है–नारिकेलजल (डाभ का पानी) भी उत्तम रहता है।

---

१ षण्मासाश्च पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा। ततस्त्रीन्मासानर्द्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा। अवशिष्ट मासत्रयमन्न लघु हित वा सेवेत। एव सवत्सरेणागदो भवति॥ (सु चि १४)

२ सर्वोदरिभ्य कुशलै प्रयोज्य क्षीर शृत जाङ्गलजो रसो वा। (सु) प्रयोगाणा च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत्। दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च॥ प्रयोगापचिताङ्गाना हित चोदरिणा पय। सर्वधातुक्षयार्ताना देवानाममृत यथा॥(च)

औषधि-योगो मे जलोदरारि रस का प्रयोग उत्तम रहता है, सुबह-शाम दो-दो रत्ती की मात्रा में पुनर्नवास्वरस ३ माशा और मधु ६ माशे के साथ। हृद्य योग के लिये रससिन्दूर १ रत्ती, हृदयार्णव २ रत्ती, प्रवालपिष्टि २ रत्ती, जहरमुहरा २ रत्ती, अर्जुन चूर्ण ४ माशा मिला कर दो मात्रा मे बाट कर दिन मे दो बार देना चाहिए। रोगी को रात मे सोते वक्त आरोग्यवर्धिनी ४ रत्ती—८रत्ती तक एक मात्रा दूध के साथ देना चाहिए। यदि पैरो पर शोथ एवं रक्ताल्पता हो तो नवायस अथवा पुनर्नवा मण्डूर का मिश्रण भी यथावश्यक दिया जा सकता है। इस व्यवस्था मे रोगी का रेचन एवं वातानुलोमन होता चलता है। इस व्यवस्था के बावजूद भी रोगी का रेचन करना आवश्यक रहता है। एतदर्थ एक एक दिन के अन्तर से प्रातःकाल मे इच्छाभेदी रस २-४ रत्ती नाराच रस १-२ रत्ती, जलापा चूर्ण २—४ माशा अथवा मग्रेचन (मैगसल्फ) एवं सोडा सल्फ १ औंस ठंडे जल या चीनी के शर्बत के साथ देने की आवश्यकता पड़ती है। इस क्रिया मे तीव्र रेचन होकर रोगी के उदर का आयाम घटता है।

इन औषधि योगो के अतिरिक्त भी बहुत से उन औषधियो का प्रयोग किया जा सकता है जिनका ऊपर मे नामोल्लेख हो चुका है। जैसे—अष्टमूत्र या गोमूत्र का १ छटाक की मात्रा मे प्रातःकाल मे उपयोग, हरीतकी चूर्ण ६ माशा की मात्रा मे गोमूत्र के अनुपान से।

जलोदर प्रतिषेध में सर्पविष का प्रयोग[१]—आचार्य चरक ने लिखा है कि जब सम्पूर्ण प्रकार की चिकित्सा करने पर कोई लाभ न हो, न दोषो का ही शमन हो पावे और न जलोदर का ही, तो अंतिम उपचार के रूप में इस भयंकर एवं खतरनाक उपचार का भी प्रयोग किया जा सकता है। यह एक दारुण कर्म

---

१. क्रियानिवृत्ते जठरे त्रिदोषे चाप्रशाम्यति।
ज्ञातीन् ससुहृदो दारान् ब्राह्मणान्नृपतीन् गुरून्॥
अनुज्ञाप्य भिषक् कर्म विदध्यात् संशयं ब्रुवन्।
अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्॥
एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः।
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रयोजयेत्॥
यस्मिन् वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम्।
भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः॥
तेनास्य दोषसंघातः स्थिरो लीनो विमार्गगः।
विषेणाशु प्रमाथित्वाद् आशु भिन्नः प्रवर्तते॥

है-शोध अनुसंधान का विषय है। सब से बडी कठिनाई इस मे मात्रा-निर्धारण और उपयोग की विधि की उपस्थित होती है।

चरकाचार्य ने लिखा है कि इस दारुण कर्म करने के पूर्व रोगी के ज्ञाति, कुटुम्बी, मित्र, स्त्री, ब्राह्मण, गुरु तथा राजा को सूचित किया जावे और उन की अनुज्ञा या अनुमति ले ली जावे, चिकित्सक भी स्वय अपना सदेहात्मक अभिमत प्रकट कर दे "कि उपचार नही किया जायगा तो रोगी की मृत्यु ध्रुव है, इस उपचार मे भी सशय है कि रोगी रोग से बच जावेगा और स्वस्थ हो ही जावेगा।" पश्चात् विष का प्रयोग रोगी के भोजन या पेय के साथ सयुक्त करके करे अथवा सर्प से किसी फल को कटवा के--जिसे सर्प ने अपने विष से युक्त कर दिया हो—खिलाया जावे। उत्तम चिकित्सक को चाहिये कि विचार करके उसकी मात्रा का निर्धारण कर के प्रयोग करे। इस क्रिया से रोगी का विमार्गस्थित दोपसंघात जो शरीर मे स्थिर एव लीन हो गया है उसका विघात होकर शीघ्रता से निकल जाता है क्योकि विष तीव्र आशुकारी एव प्रमाथी होता है। दोषो के निर्हरण हो जाने के अनन्तर रोगी का शीतल जल से परिषेक करके उसको बल के अनुसार पर्याप्त मात्रा मे गाय का दूध अथवा यवागू का प्रयोग भोजन के रूप मे करना चाहिये। पश्चात् त्रिवृत् पत्र, मण्डूकपर्णी का पत्र, बथुवा का शाक, या काल शाक को स्विन्न कर के बिना खटाई, मसाला, नमक और स्नेह (तेल या घी) के या यवयूप खाने के लिये देना चाहिये। एक मास तक रोगी को निरन्न ही रखना, पर्याप्त मात्रा मे दूध एव उपर्युक्त शाको को स्विन्न करके या बिना स्विन्न किये देना चाहिये। रोगी को जल भी नही देना चाहिये। प्यास लगने पर उपर्युक्त शाको का स्वरस ही पीने के लिये देना चाहिये। इस प्रकार एक मास के अनन्तर दोषो के सम्पूर्णतया निकल जाने पर दुर्बल रोगियो मे बल के वर्धन के लिये ऊटनी का दूध (कारभ पय) पिलाना चाहिये। पश्चात् यवयूप आदि देते हुए क्रमश ससर्जन क्रम से रोगी को धीरे धीरे प्राकृत आहार पर ले आना चाहिये।[1]

---

१. विषेण हृतदोष त शीताम्बुपरिषेचितम्। पाययेत भिषग् दुग्ध यवागू वा यथाबलम्॥ त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाक सयववास्तुकम्। भक्षयेत् कालशाक वा स्वरसोदकसाधितम्॥ निरम्ललवणस्नेह स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्। मासमेकं ततश्चैव तृषित स्वरस पिबेत्॥ एव विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात् पर तत। दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत् कारभ पय॥ (च चि १३)

सैंतीसवाँ अध्याय

शोथरोग प्रतिषेध

रोग परिचय—श्वयथु, शोथ एव शोफ ये तीनो शब्द सूजन के बोधक होते हैं एव प्राय पर्याय रूप में व्यवहृत होते हैं। शोथ रोग कहने का तात्पर्य होता है देह के सूजन की बीमारी। शोथ रोग मे कई प्रकार के वर्गीकरण प्राचीन ग्रन्थो मे पाये जाते हैं। जैसे—कारणभेद से सूजन के दो प्रकार किये जा सकते हैं—निज तथा आगन्तुक। निज वे शोथ हैं जो विविध प्रकार के मिथ्या आहार-विहार के कारण दोषो के शरीर मे कुपित होने से होते हैं। दूसरा वर्ग आगन्तुक कारणो का होता है जिसमे आघात, अग्नि या अग्नितप्त पदार्थो मे जलना, रासायनिक पदार्थ या तीव्र अम्ल या क्षारो से जलाना, विविध विकारी अणुजीव, विष-सम्पर्क तथा विद्युत् आदि से त्वचा, मास आदि मे शोथ हो जाता है। इन दो भेदो मे नव प्रकार के शोथो का समावेश हो जाता है—यथा-वातज-पित्तज कफज-वातपित्तज, पित्तकफज, वातकफज, सन्निपातज (निज प्रकार में) तथा अभिघातज एव विषज (आगन्तुक प्रकार मे)। आधुनिक ग्रन्थो में भी शोथ के दो प्रकार पाये जाते हैं। निष्क्रियशोथ (Passive Oedems) तथा सक्रिय शोथ (Active oedema or Inflammatary oedema) सक्रिय शोथ को प्राचीन परिभाषा में व्रण शोथ कहते हैं। दूसरे शब्दो में निष्क्रिय शोथ वा 'ईडिमा' को प्राचीनोक्त निजवर्ग में तथा व्रण-शोथ (Inflammatary oedema) को आगन्तुकवर्ग मे रखा जा सकता है।

चरक के अनुसार शोफ के तीन भेद किये जा सकते हैं—१ सर्वाङ्गशोफ (Generalised oedma)—जब शोफ सम्पूर्ण शरीर मे हो। २ अर्धाङ्ग-शोफ-आधे अङ्ग मे शोफ का होना—ऐसा शोफ हृदय एव यकृत् की विकृति मे अधराङ्गशोफ अथवा वृक्क के विकारो में ऊर्ध्वांगशोफ अधिकतर होता है। ३ एकाङ्गशोफ या एकदशोत्थित शोफ (Localised oedema)। आगन्तुक कारणो से प्राय. एकदेशोत्थित शोफ होता है। इस प्रकार का शोफ व्रणशोथ मे तथा श्लीपद में पाया जाता है।

वाग्भट ने आकृतिभेद से भी शोथो के पृथु, उन्नत एव ग्रथित भेद से तीन प्रकार किये है। साध्यासाध्यता एव चिकित्सा भेद की दृष्टि से भी शोथो का एक वर्गीकरण पाया जाता है। जैसे पादज शोथ—पैरो से शोथ का प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण या आधे शरीर मे फैल गया हो अथवा मुखज शोथ-मुख से शोथ का प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण या आधे शरीर मे व्याप्त हो गया हो अथवा गुह्यज या उदरज शोथ, जो गुह्य स्थान या उदर से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण या आधे शरीर मे व्याप्त हो। इन शोफो में उपद्रव होने पर पादज शोथ, जो प्राय हृदय के विकारो मे होता है। पुरुषो के लिये घातक होता है, मुखज शोथ, जो प्राय वृक्क विकारो मे पाया जाता है, स्त्रियो मे घातक होता है। गुह्यज शोथ अर्थात् गुह्य अङ्गो से शोफ का प्रारम्भ हुआ हो और उपद्रव युक्त हो, तो स्त्री-पुरुष दोनो को समान भाव से घातक सिद्ध होता है।[1] इसका कारण मर्माङ्गो का विकार ग्रस्त होना ही है। पुरुषो मे हृद्रोग असाध्य होता है जिसमें पादज शोथ पाया जाता है। स्त्रियो मे वृक्क रोग होने से उसके उपसर्ग का प्रभाव श्रोणिगुहा के विविध अङ्गो को शोथयुक्त करके श्रोणिगुहागत पाक प्रभृति साघातिक उपद्रव पैदा करके स्त्रियो के लिये विशेष रूप से घातक होता है। इनमे मुखज शोथ ही प्रारम्भिक लक्षण के रूप मे पैदा होता है। गुह्यज या उदरजशोथ क्षयज आन्त्रावृति शोफ (T B Peritonitis) या यकृद्दाल्युदरज जलोदर (Hepatic cirhosis) मे पाया जाता है जो दोनो लिङ्गो के व्यक्तियो मे समान भाव से घातक सिद्ध हो सकता है।

शोफ की सम्प्राप्ति—रक्तवह सिरा की दुष्टि होने मे रक्ताभिसरण क्रिया में बाधा होने से शोथ रोग की उत्पत्ति मानी जाती है। प्राकृताऽवस्था मे रक्तवह सूक्ष्म केशिकावो (Arterial capillaries) को दीवाल से पोषक पदार्थयुक्त रक्त रस स्रवित होकर तत्स्थानगत धातुवो का पोषण करता है, फिर वहाँ से त्याज्यपदार्थयुक्त वही रक्तरस सिरा सूक्ष्म केशिकावो (Venous capillaries) के द्वारा शोषित होकर उससे लेकर लौटता है और विविध विसर्जन के अंगो द्वारा उसका निर्हरण करता है। इस प्रकार की क्रिया प्राकृतावस्था मे चलती रहती है। जब किसी भी कारण से इस धातुगत रस के शोषण मे बाधा उत्पन्न होती है या स्रुत रक्त रस अधिक होने लगता

---

१. अनन्योपद्रवकृत शोथः पादसमुत्थितः।
पुरुष हन्ति नारीञ्च मुखजो गुह्यजो द्वयम्॥ (वा. नि १३)

है, तब धातुवों के संयोजक धातुवों में अधिक तरल का सचय होने लगता है और वहाँ उत्सेध या उभार पैदा होता है—इसी को शोथ कहा जाता है।[1]

इस प्रकार के परिवर्त्तन सामान्यतया निम्नलिखित कारणों से होते हैं जिनके परिणामस्वरूप शोथ रोग पैदा होता है।

१ धातुगत परिवर्त्तन—धातुवों में लवण जसे कतिपय पदार्थों के सचय हो जाने पर उनको घोलने के लिए अधिक जल की आवश्यकता पडती है—और अधिक जल-सचय से शोथ की उत्पत्ति होती है।

२ रक्तगत विभिन्न संघटकों का प्रभाव—इसमे जल और नमक (Sodium chloride) का अधिक महत्त्व है। शोथ की चिकित्सा मे जल और नमक का निषेध कर देने से शोथ में निश्चित लाभ देखा जाता है। रक्त मे जल और लवण की अधिकता से शोथ अधिक बढता है।

३ रक्त रसगत 'प्रोटीन' की कमी—जैसा कि वृक्क विकारों में शुक्लीमेह (Albumainuria) के कारण हीन पोषण से भोजन में प्रोटीन या जीवतिक्तियों (Vit A & B) की पर्याप्त मात्रा में न मिलना (Femine oedema) अथवा पाण्डुरोग में रक्तगत 'प्रोटीन' शोणित वर्त्तुलि (Haemoglobin) का अत्यधिक मात्रा में कम हो जाना (अकुश कृमिजन्य पाण्डुता या रक्ताल्पता मे) शोथ की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानते हैं कि रक्त मे 'प्रोटीन' की मात्रा स्वाभाविक ७ प्रतिशत होनी चाहिए, जब यह मात्रा ५-५% से कम हो जाती है, आस्तृतीय सम्पीडन (Osmotic pressure) कम हो जाता है और धातुगत तरल का शोषण रक्तरस के द्वारा पूर्णतया नहीं हो पाता है, फलत धातुओं मे तरल या द्रव का सचय अधिक होने लगता है। जिसके परिणाम स्वरूप त्वचा और मास में उभार पैदा होकर शोथ की उत्पत्ति होती है।

४ रक्तवह स्रोतगत भारवृद्धि—हृदय रोग में रक्तसंचारगत बाधा होने से सिराओं में रक्तभार स्वाभाविक से बहुत अधिक हो जाता है। उससे शोषण कार्य में बाधा होने से तरल सचय होकर शोथ पैदा होता है।

५ स्रवणक्षमता की वृद्धि—कई बार आगन्तुक कारणों से अभिघातज व्रणशोथ मे या कई रोगों मे रक्तवाहिनियों की स्रवण क्षमता (Permeability

---

१ रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहि सिरा।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम्।
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादत ॥ (मा नि)

of capillary epithelium) बट जाती है। सामान्यतया सिरास्रोतो की भित्ति से केवल जारक (O_2) और जल या उसमे घुले हुए कुछ सीमित द्रव्य ही स्रोत मे वाहर आते है और तत्रस्थ धातुओ का पोषण करते है, परन्तु जव 'प्रोटीन' भी रक्तरस के साथ वाहर आ जाती है, तव इस तरल के शोषण मे वाधा उत्पन्न होकर शोथ पैदा होता है।

शोथ रोग मे सामान्य लक्षण—गुरुता (भारीपन), अस्थिरता (शोफ का एक स्थान पर सीमित न रहकर फैलना), उत्सेध (उभार), उष्णता (यह केवल व्रणशोथ मे मिलता है—सामान्य शोथो मे नही), रक्तवाहिनियो का विस्फार, रोमाञ्च (रोगटे का खडा होना) तथा वर्ण की विकृति ये सामान्य लक्षण एव चिह्न शोथ रोग मे पाये जाते है।[1]

सामान्य क्रिया-क्रम—आमज शोथ में लघन एव पाचन करे, अति वढे हुए दोप मे शोधन से उपचार करे। अर्थात् शिरोगत शोथ मे नस्य के द्वारा शिरोविरेचन, ऊर्ध्वगशोथ मे वमन तथा अधोग शोथ मे रेचन के द्वारा उपचार करे। यदि शोथ का उत्पादक हेतु अति स्नेहन हो तो रोगी का रूक्षण करे और यदि उत्पादक हेतु अति रूक्षण ज्ञात हो तो स्निग्ध क्रिया करनी चाहिए।[2]

इस प्रकार शोथ रोग की चिकित्सा मे लघन, पाचन, वमन, विरेचन, आस्थापन तथा शिरोविरेचन प्रभृति क्रियाओ के द्वारा यथादोष एव यथावल उपचार करना उत्तम रहता है।[3]

विशिष्ट क्रियाक्रम—दोषानुसार विचार कर वातिक शोथ मे स्नेहपान एव कोष्ठवद्ध हो तो निरूहण (आस्थापन वस्ति), पैत्तिक शोथ मे दूध एव घृत का उपयोग तथा श्लैष्मिक शोथो मे विरूक्षण की क्रिया करनी चाहिए।[4]

---

१ सगौरव स्यादनवस्थितत्व सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्ग श्वयथो प्रदिष्टम्॥

(च चि १२)

२ अथामज लघनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्वणदोपमादितः।
शिरोगत शीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वगम्॥
उपाचरेत् स्नेहभव विरूक्षणै. प्रकल्पयेत्स्नेहविधिञ्च रूक्षणे॥

३. स्नेहोऽथ वातिके शोथे वद्धविट्के निरूहणम्।
पयो घृत पैत्तिके तु कफजे रूक्षणक्रमः॥

४ लघन पाचन शोथे शिर कायविरेचनम्।
वमनञ्च यथासत्त्व यथादोप विकल्पयेत्॥

वातिकशोथ में दशमूल क्वाथ का सेवन या विबन्ध होने पर दूध में एरण्ड तैल छोडकर पिलाना उत्तम रहता है। पैत्तिक शोथ मे दूध का उपयोग उत्तम रहता है, त्रिवृत्, गुडूची एव त्रिफला का सेवन उचित रहता है, शीतल उपचार अनुकूल पडते है। श्लैष्मिक शोथ मे उष्ण एव रूक्षोपचार विशेषत. पटोल, त्रिफला, निम्ब, दारुहल्दी और गुग्गुलु का सेवन उत्तम रहता है। त्रिदोषज शोथ मे मिश्र उपक्रमो को वरतना चाहिए। रोगी को भोजन दूध के साथ देना चाहिए और औषधियो मे अदरक, सोठ, शिलाजीत या त्रिफला का प्रयोग करना चाहिए।

पथ्यापथ्य—शोथ के उत्पादक कारणो का परित्याग करना चाहिये। एतदर्थ उडद, गेहूँ, नया अन्न, आनूपदेशज पशु-पक्षियो के मास, गुड, दधि प्रभृति गुरु पदार्थो का सेवन नही करना चाहिये। शोथ रोग मे अधिक जल का पीना या नमक का सेवन भी अनुकूल नही पडता है। अस्तु, इनका भी परिहार रोगी के लिये आवश्यक होता है। कई उष्ण एव तीक्ष्ण द्रव्य जैसे—मद्य का सेवन, गर्म ममाले या खटाई का सेवन, मिट्टी का खाना, तैल एव सूखे लाल मिर्च का सेवन भी शोथ रोगीको अनुकूल नही पडता है। इसी प्रकार सूखे मास या शाक, विरुद्ध आहार, दाहकारक भोजन, वेगावरोध, दिवास्त्राप (दिन का सोना) तथा मैथुन भी शोथरोगी को प्रतिकूल पडता है।

अस्तु, रोगी को पूर्ण विश्राम के साथ रखना चाहिये। परिश्रम मे शोथ वढता है और विश्राम करने से शमन होता है। भोजन मे हल्के एव सुपाच्य आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। सव से उत्तम आहार गर्म करके ठडा किया दूध रहता है। जब तक शोथ अधिक हो रोगी को दूध के अतिरिक्त कुछ भी न दे। भूख लगे तो दूध, प्यास लगे तव भी दूध ही देना चाहिये। लवण एव जल का पूर्णतया निषेध रखना चाहिये। यदि तृषा की अधिकता हो तो सौंफ, काकमाची, पुनर्नवा या जेवायन का अर्क पीने को देना चाहिये। नारियल का जल या डाव का पानी भी ठीक रहता है। जब शोफ का शमन हो जावे तो रोगी को दूध के साथ हल्का भोजन देना चाहिये। जल को खौलाकर ठडा करके या पुनर्नवा मे शृत कर के देना चाहिये, भोजन मे पुराना चावल, जौ, कुलथी, मूग, मट्ठा, शहद, आसव, सेम की फली, करैला, सहजन, परवल, खेखसा, गाजर, मानकंद, वैगन, मूली, पुनर्नवा, नीम आदि द्रव्यो का सेवन उत्तम है। मांसाहारी व्यक्तियो मे प्रारभ मे ही दूध के साथ या वाद मे भोजन के साथ मासरसो का उपयोग शोथ रोग मे उत्तम रहता है। इसके लिये हल्के मासरस अर्थात् जाङ्गल पशु पक्षियो के मासरस जैसे—गोह, सेह, तीतर, मुर्गा, वटेर, छोटी जाति की मछली या कच्छप मासरस या जाङ्गल पशु पक्षियो के मासरस दिये जा सकते है।

शोथ रोग में दोषनिरपेक्ष सामान्य औषधियाँ—

पुनर्नवा—शोथ रोग मे यह एक रामबाण महौषधि है। इसका स्वतंत्र तथा योगो के रूप मे शोथ रोग मे भूरिश प्रयोग होता है। जैसे—पुनर्नवाष्टक कषाय, पुनर्नवादशक कषाय, पुनर्नवादि चूर्ण, पुनर्नवारिष्ट, पुनर्नवासव, पुनर्नवादि तैल तथा पुनर्नवामण्डूर आदि।

गोमूत्र—सर्व प्रकार के शोथ मे चाहे वह यकृत् विकार या हृद्विकार, वृक्कविकार से उत्पन्न हुआ हो सब मे लाभप्रद रहता है। इसको स्वतंत्र खाली पेट पर एक छटाक की मात्रा मे प्रात काल मे रोगी को पीने को देना चाहिये अथवा त्रिफला कषाय मे मिलाकर देना उत्तम कार्य करता है।

गुग्गुलु—पुनर्नवा, देवदारु और शुंठी के काढे के साथ १-२ माशा की मात्रा में गुग्गुलु का सेवन अथवा गोमूत्र के साथ गुग्गुलु का सेवन शोथ मे उत्तम रहता है।

पुनर्नवादि गुग्गुलु—पुनर्नवा, देवदारु, हर्रे, गुडूची इनको समभाग लेकर २ तोले को ३२ तोले जल मे खौलाकर ८ तोले शेष रहने पर उसमे गोमूत्र २ तोले और शुद्धगुग्गुलु २ माशा मिला कर सेवन।

मानकंद—मानकद का स्वरस या दूध मे पकाकर मानकद का प्रयोग अथवा मानकद सिद्ध घृत का उपयोग भी शोथ रोग मे लाभप्रद होता है।

माणक घृत—मानकद २ सेर लेकर १६ सेर पानी मे खौलाकर ४ सेर रहे तो उतार कर छान ले फिर इस स्वरस मे १ पाव मानकद कल्क, घृत १ सेर मिला कर यथाविधि अग्नि पर चढा कर मंद आच से पकावे। यह सान्निपातिक शोथमे भी लाभप्रद है। मात्रा १ तोला गाय का दूध डाल कर पिलावे।

अदरक, सोंठ, हरड़ एवं पिप्पली—

गुडार्द्रक, गुडशुण्ठी, गुडाभया अथवा गुडपिप्पली योग शोथ रोग मे स्वनामख्यात है।

अदरक का रस ६ माशे से १ तोला लेकर उस मे पुराना गुड २ तोला मिला कर सेवन करने से और आहार मे केवल बकरी का दूध पीने से थोडे दिनो मे ही शोथ रोग से मुक्ति हो जाती है।

गुड और अदरक या गुड और हरड का चूर्ण या गुड और पिप्पली का चूर्ण इन चारो योगो मे से किसी एक का एक एक तोले का मोदक बना लेना चाहिये। "मोदके द्विगुणो गुड" अर्थात् चूर्ण से द्विगुण पुराना गुड इस मोदक मे रखना चाहिये। एक मोदक से प्रारभ कर के प्रतिदिन एक एक बढाते हुए तीन पल या १५ तोले तक बढावे, फिर एक एक क्रमश कम करते हुए एक

मोदक पर आ जाना चाहिये। इस प्रकार एक पक्ष अथवा एक मास तक इस योग के सेवन करने से शोथ, प्रतिश्याय, गले के रोग, श्वास, कास, अरुचि, पीनस, जीर्णज्वर, अर्श, संग्रहणी तथा अन्य कफ एवं वायु के रोग शान्त होते हैं।[1]

बिल्व पत्र स्वरस-या निम्ब पत्रस्वरस—नीम की पत्ती का रस या बेल की पत्ती का रस १ तोला उसमें काली मिर्च का चूर्ण १ माशा मिला कर सेवन करने से शोथ, विबंध, अर्श एवं कामला में लाभ होता है।[2]

देवदारु—केवल देवदारु से सिद्ध क्षीर का सेवन अथवा देवदारु और त्रिकटु के योग से पकाया दूध अथवा देवदारु, गुग्गुलु, सोंठ, चित्रक की छाल और पुनर्नवा के योग से पकाया या शृत दूध शोथशामक होता है।

भूनिम्ब—चिरायता और शुण्ठी का चूर्ण प्रत्येक २ माशे भर लेकर खाकर ऊपर से पुनर्नवा का क्वाथ पीने से सर्वाङ्ग शोफ के रोग में उत्तम लाभ होता है।

स्थलपद्म—केवल स्थलपद्म के कल्क को दूध के साथ सेवन करने से शोथ रोग में लाभ होता है। स्थलपद्म से निम्नलिखित द्रव्यो में से किसी एक का ग्रहण किया जा सकता है-जैसे- सेवती, गुल्दाउदी, नेपाली, वकुल या कदम्ब का फूल। स्थलपद्म से 'ओलट कम्बल' का भी ग्रहण होता है। प्रयोग करके देखना चाहिए। स्थलपद्म घृत का भी योग भैषज्य रत्नावली में पठित है।

कोकिलाक्ष—तालमखाना का उपयोग भी शोथ रोग में उत्तम रहता है। इसका कषाय या पौदे को जलाकर उसकी राख बनाकर २ माशे की मात्रा में गोमूत्र या दूध के साथ देना चाहिये।

अपामार्ग—क्षारीय द्रव्य शोथ में उपयोगी होते हैं। फलतः अपामार्ग स्वरस या कल्क का उपयोग भी शोथ में लाभप्रद रहता है। अपामार्ग के अतिरिक्त तालमखाना, मूली, निर्गुण्डी आदि का भी प्रयोग शोथ में होता है।

मण्डूर तथा लौह—मण्डूर अथवा भस्म का उपयोग स्वतंत्रतया या किसी योग के रूप में करना शोथ रोग में लाभप्रद होता है। इसके कई योग बड़े उत्तम हैं जैसे—पुनर्नवामण्डूर, शोथारिमण्डूर, तारामण्डूर, रसाभ्रमण्डूर, शोथारि लौह, त्रिकट्वादि लौह एवं नवायस आदि।

---

१ गुडार्द्रकं वा गुडनागरं वा गुडाभया वा गुडपिप्पली वा।
कर्षाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाणं खादेन्नरः पक्षमथापि मासम्॥
शोथप्रतिश्यायगलास्यरोगान् सश्वासकासारुचिपीनसादीन्।
जीर्णज्वरार्शोग्रहणीविकारान् हन्यात्तथान्यान् कफवातरोगान्॥ (च द)

२ निम्बपत्ररसं पातुं (बिल्वपत्ररसं पातु) सोषणं श्वयथौ त्रिजे।
विड्भङ्गे चैव दुर्नाम्नि विदध्यात् कामलासु च॥

विष प्रयोग—शोथ रोग मे धतूर, अहिफेन या विजया का भी उपयोग उत्तम रहता है—इसके कई योग दुग्धवटी, क्षोरवटी, तक्रवटी आदि के उपयोग बडे उत्तम प्रमाणित होते है।

योग-कषाय—

१ पुनर्नवाष्टक कषाय—पुनर्नवा मूल, नीम की छाल, परवल के पत्ते, सोठ, कुटका, गुडूची, देवदारु और हरीतकी—समभाग मे लेकर जौकुट कर २ तोले द्रव्य को ३२ तोले जल मे खौलाकर ८ तोले शेष रखकर मधु के साथ पिलाना। यह एक अत्यन्त उपयोगी योग है जिसका सर्वाङ्ग शोफ, जलोदर, हृद्रोग, श्वासकृच्छ्र एव रक्ताल्पत्व मे विश्वास के साथ उपयोग किया जा सकता है।[1] इस कषाय मे गोमूत्र-मिलाकर पीने से अधिक लाभ होता है।

चूर्ण-पुनर्नवादि चूर्ण—पुनर्नवा, देवदारु, हरड, पाठा, पक्व बिल्वफलमज्जा, गोखरु, छोटी कटकारी की जड, बडी कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी पीपल, गज-पीपल, चित्रक की छाल, अडूसा की जड। समभाग मे लेकर बना चूर्ण। मात्रा ३–६ माशे। अनुपान गोमूत्र एक छटाक।

मूत्रल कषाय—शोथ रोग मे मूत्र का साफ न होना प्राय पाया जाता है। इस अवस्था मे मूत्र को साफ ले आने के लिये मूत्रल कषाय की आवश्यकता पडती है। मूत्रल कषाय का वर्णन मूत्रकृच्छ्राधिकार में किया जा चुका है, उस का उपयोग इस अवस्था मे करना उत्तम रहता है। स्थल पद्म, तालमखाना और अपामार्ग शोथघ्न एवं मूत्रल है।

आसव-पुनर्नवासव—त्रिकटु, त्रिफला पृथक् पृथक्, दारु हरिद्रा, गोखरु, छोटी बडी दोनो कटेरी पृथक् पृथक्, अडूसा, एरण्ड मूल, कुटकी, गजपीपल, पुनर्नवा, नीम की छाल, गिलोय, सूखी मूली, जवासा, पटोलपत्र प्रत्येक का जौकुट चूर्ण पाँच-पाँच तोले, धाय का फूल १ सेर, मुनक्का १। सेर, शर्करा ६। सेर, उत्तम शहद ३ सेर २ छटाँक, जल ३२ सेर लेकर सबको एक घृत से स्निग्ध भाण्ड मे भरकर सधिबधन करके एक मास तक जौ के भूसे के ढेर मे रख देवे। १ महीने के पश्चात् छानकर मर्त्तवान मे भर देवे। पुनर्नवासव—शोथ, उदर रोग, प्लीहावृद्धि, यकृद्वृद्धि, गुल्म आदि को नष्ट करता है। मात्रा २ तोला बराबर पानी मिला कर भोजन के बाद दोनो वक्त।

---

१ पुनर्नवानिम्बपटोलशुठीतिक्तामृतादार्वभयाकषाय।
सर्वाङ्गशोथोदरपार्श्वशूलश्वासान्वितं पाण्डुगद निहन्ति॥

रस के योग

त्रिनेत्र रस—शुद्ध सुहागा, ताम्र भस्म, लौह भस्म, शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक। प्रथम शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक की कज्जली बनावे। पश्चात् शेष द्रव्यों को मिलाकर अदरक के रस की भावना देकर टिकिया बनाकर शराव-सपुट में बन्दकर के लघुपुट में एक आँच दे। मात्रा ४ रत्ती से एक माशा। अनुपान मधु से चटाकर ऊपर से एरण्डमूल और अपामार्ग का काढ़ा बनाकर पिलावे।

दुग्धवटी—वटी के कई योग भैषज्यरत्नावली के शोथाधिकार में पाये जाते हैं—जैसे–कल्पलता वटी, दुग्ध वटी, क्षार वटी, तक्र वटी, वैद्य वटी या दधि वटी। यथानाम दुग्ध या तक्र पर रोगी को रखकर इन वटियों का प्रयोग किया जाता है। रोगी के लिए जल और नमक प्रयोगकाल में पूर्णतया निषिद्ध रहता है। बालकों के शोथ रोग में दुग्ध वटी अनुपम लाभ दिखलाती है। अतिसार के बाद होनेवाले शोफ में यह वटी उत्तम कार्य करती है। वृक्क विकार-जन्य शोफों में इसका उपयोग श्रेष्ठ रहता है। यहाँ पर एक क्षीर वटी का पाठ उद्धृत किया जा रहा है। इसके घटकों में धतूर, अहिफेन एवं विजया भी है।

शुद्ध हिंगुल १ तोला, लवङ्ग चूर्ण, शुद्ध अफीम, शुद्ध वत्सनाभ, जायफल और धतूरे का शुद्ध बीज प्रत्येक ½-½ तोला लेकर खरल में डालकर अत्यन्त महीन चूर्ण करले। फिर भाँग के क्वाथ के साथ भावना देकर मूँग के बराबर की गोलियाँ बनाले और छाया में सुखाकर शीशी में भर ले। दूध के अनुपान से वटी का एक एक कर के दिन में चार बार उपयोग करे, भोजन में दूध ही रोगी को पिलावे। यदि भूख बहुत लगे तो पुराना चावल या जौ अथवा गेहूँ की दलिया दूध के साथ दे। शोथ रोग में यही प्रयोग विधि है। यदि ग्रहणी के रोगी को देना हो तो विजया क्वाथ के अनुपान से देना चाहिए। मात्रा १-२ रत्ती।

पुनर्नवा मण्डूर—इसका योग पाण्डुरोगाधिकार में दिया जा चुका है। शोथ रोग में भी यह एक उत्तम औषधि है।

रसाभ्र मण्डूर—शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म तथा पारद दो-दो तोला, मण्डूर भस्म एवं हरड का चूर्ण आठ-आठ तोले, शिलाजीत १ तोला, कान्त लौह भस्म १ तोला। प्रथम पारद और गन्धक को खरल में मिलाकर कज्जली करे फिर शेष द्रव्यों को मिलाकर खरल करे। पश्चात् भृङ्गराज, केशराज, निर्गुण्डी, मानकन्द का यथालाभ क्वाथ या स्वरस १-१ सेर लेकर पृथक्-पृथक् सूर्यताप में घोटते हुए सुखावे। फिर उसमें त्रिकटु, त्रिफला, चव्य और नागर-मोथे का चूर्ण पृथक्-पृथक् सवा-सवा तोले मिलाकर ४ तोले शहद और २ तोले

गोघृत मिलाकर मर्दन करके मृतबान में भर दे। मात्रा-१ से २ माशा। यह शोथ मे एक उत्तम योग है।

शोथारि लौह—लौह भस्म ४ तोला, सोठ, मरिच, पीपरि तथा यवक्षार एक-एक तोला भर लेकर परस्पर मे मिश्रित करके खरल करके रख ले। मात्रा-२-४ रत्ती। अनुपान-त्रिफला क्वाथ।

शोथ में बाह्यप्रयोग

शोफघ्नलेप—पुनर्नवा, देवदारु, सोठ, सफेद सरसो और सहिजन की छाल इनका कपडछन चूर्ण करके मकोय के रस मे पीस करके लेप करना शोफ का शामक होता है।

शुष्कमूल्याद्य तैल—सूखी मूली, दशमूल, पिपरामूल तथा पुनर्नवा एक एक सेर लेकर जौकुट करके ३२ सेर जल मे खौलाकर आठ सेर शेष रखे। फिर इमे छानकर उनमे तिलतैल २ सेर, गोमूत्र २ सेर लेवे और सूखी मूली, गिलोय, सोठ, पटोलपत्र, पिप्पली, बलामूल, पाठा, पुनर्नवा, नेत्रवाला, खस, सहिजनपत्र, निर्गुण्डीपत्र, भाग, श्यामलता, करज की छाल, अडूसे की पत्ती, हरड, पिप्पली, वच, पुष्करमूल, रास्ना, वायविडङ्ग, चव्य, हल्दी, दारुहल्दी, धनिया, स्वर्जिका क्षार, यवक्षार, सैधव, देवदारु, पद्मकाष्ठ, कचूर, गजपीपल, पक्व बिल्वमज्जा, मजीठ इनमे प्रत्येक २ तोला लेकर पत्थर पर पीसकर कल्क बना ले। अग्नि पर तैल का पाक करे। इस तैल का अभ्यग शोथ मे लाभप्रद रहता है।

पुनर्नवादि तैल—पाण्डु रोगाधिकार मे इस योग का उल्लेख हो चुका है। शोथ रोग मे इस तैल का अभ्यग भी लाभप्रद रहता है।

अड़तीसवाँ अध्याय

श्लीपद प्रतिषेध

परिचय—जिस रोग मे पैर शिला के समान स्थूल एव कठोर हो जाय उसको श्लीपद कहते है। अथवा धीरे-धीरे होने वाले घने शोथ को श्लीपद कहते हैं। वस्तुत लसीकावाहिनियो का अवरोध होकर किसी भी स्थान की त्वचा मे शोथ होकर श्लीपद हो सकता है। किन्तु मुख्यतया या सर्वाधिक पैरो मे इसकी उत्पत्ति होती है अत श्लीपद कहलाता है। अन्यथा हाथ, कान, नाक, ओष्ठ, पुरुष जननेन्द्रिय, वृषण या स्त्रियो के भगोष्ठ आदि मे भी श्लीपदकृत शोथ हो सकता है।

इस रोग की समता आधुनिक दृष्टि से Filariasis or Elephantiasis रोग से है। इसकी उत्पत्ति रूप में आधुनिक विद्वान श्लीपदाणु कृमि (Microfilaria Bancrofty) को हेतु मानते हैं। ये कृमि एक विशिष्ट जाति के मच्छरी (Culex Falgans) के काटने से मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में प्रविष्ट होकर लसीका-वाहिनी, रसकुल्या एवं लसीका-ग्रथियों में अपनी वृद्धि करके लसीका वाहिनियों में अवरोध पैदा करते हैं। इस प्रकार स्थानीय लसिका-संचय से क्रमश सूजन प्रारंभ हो जाती है। जो आगे चलकर शिला या पत्थर के समान कठोर हो जाती है। सर्वप्रथम लसीका-ग्रंथि में सूजन होती है—शोथ का परिणाम स्वरूप ज्वर होता है जो प्राय शीत के साथ होता है और दो-चार दिनों तक बना रहता है फिर क्रमश पूरे अग मे सूजन हो जाती है। फिर रोग का दौरा चला जाता है, सूजन भी कम हो जाती है, परन्तु कुछ सूजन शेष रह जाती है। रोग का पुनः पुन आक्रमण होता रहता है—ज्वर, लसीका ग्रथियों का फूलना और अंग का सूजन बार-बार होता रहना है। हर दौरे में कुछ न कुछ सूजन शेष रहती चलती है। इस तरह वर्ष में कई दौरे आने के फल स्वरूप उस अग विशेष मे पत्थर जैसी घनी सूजन होकर श्लीपद नामक रोग का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

पैर के श्लीपद में सर्वप्रथम वक्षण प्रदेश की लसीका ग्रथियाँ सूज जाती है, रोगी को ज्वर आता है, इसमें पीड़ा भी रहती है। पुन. यह सूजन ऊरु, जानु, जंघा मे होते हुए नीचे को उतर कर पैर मे पहुँच जाती है। रोग की यही सम्प्राप्ति प्राचीन ग्रथकारों ने बतलाई है।[1] श्लीपद रोग मे दो विशेषतायें प्राचीनों ने बतलायी है, प्रथम यह है कि यह देशज अर्थात् आनूपदेशज रोग (Endemic Disease) है—अस्तु यह रोग सर्वत्र नही प्राप्त होता बल्कि "पुराने जल से सदा भरे रहने वाले तथा सब ऋतुओ मे शीतल रहने वाले देशों में श्लीपद रोग विशेषतया उत्पन्न होता है।" दूसरी विशेषता यह है कि "सभी प्रकार के श्लीपद कफ की अधिकता से होते है, क्यों कि मोटापन और भारीपन तथा अवरोध कफ के बिना नही होता है।" इन दोनो विशेषताओ का ध्यान रखते हुए कफघ्न उपचार श्लीपद में लाभप्रद रहता है।[2]

---

१. यः सज्वरो वक्षणजो भृशार्त्ति. शोफो नृणा पादगत. क्रमेण।
तच्छ्लीपद स्यात्करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहु ॥

२. त्रीण्येतानि विजानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वञ्च यस्मान्नास्ति कफाद्विना ॥ (मा नि)

साध्यासाध्यता—श्लीपद एक कृच्छ्र साध्य रोग है, नया रोग जो एक वर्ष कम का हो ठीक हो जाता है। पुराना रोग, जो एक वर्ष से अधिक समय का हो, अथवा जिसमे सूजन अत्यधिक कडी हो गई हो और अंग अतिशय मोटा पड गया हो, अथवा सूजन मे वल्मीक के समान उभार या गाँठे पड गई हो प्राय असाध्य हो जाते हैं।

क्रिया क्रम—श्लीपद रोग की चिकित्सा मे लंघन, वमन, आलेपन, स्वेद, रेचन, शोणितमोक्षण (रक्तावसेचन) तथा कफघ्न अन्य उपचारो की आवश्यकता पडती है।[1]

लंघन—श्लीपद कफज व्याधि होती है फलत उपवास या लघु भोजन करना श्रेष्ठ रहता है। उपवास की विशेष विधि वैद्य-परम्परावो मे इस रोग मे वरती जाती है। जब रोग के आक्रमण का काल हो तब तो रोगी को पूर्ण लघन करना ही चाहिये, परन्तु आक्रमण के अनन्तर या अवान्तर काल मे उपवास कुछ विशेप तिथियो पर ही करना चाहिये। इन तिथियो में महत्त्व की—मास की दोनो एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा दोनो प्रतिपद एव दोनो अष्टमी तिथिया है। ऐसा देखा जाता है कि इन तिथियो मे कफाधिक्य प्रकृति मे पाया जाता है। अस्तु, रोग के दौरा होने की भी सभावना भी इन तिथियो मे अधिक रहती है। अमावास्या अथवा पूर्णिमा की तिथियो के समीप की तिथियो मे रोग का दौरा होना प्राय पाया जाता है। अस्तु, एकादशी, अमावस्या और पूर्णिमा तिथियो का ध्यान रखते हुए रोगी को उपवास कराने से रोग के दौरे से रोगी को बचाया जा सकता है। यदि व्यक्ति पूर्णतया उपवास न कर सके तो दिन मे एक बार भोजन करे, रात्रि मे विलकुल भोजन न करे, भोजन मे चावल, दही आदि का सेवन न कर के हल्का भोजन— दूध, फल या शाक पर रहे। पूर्णिमा के दिन चद्रमा पूर्ण रूप से उदय लेते हैं—समुद्र मे जल का वेग प्रवल होता है, ज्वार का वेग रहता है, सभवत इसका प्रभाव सम्पूर्ण प्रकृति पर होकर कफाधिक्य स्वभावतः पाया जाता है फलत कफवर्धक उपक्रम आहारादि का सेवन रोगी के लिए प्रतिकूल पडता है। इस रोगी की एक विशेषता रात्रि के सम्बन्ध का होता है–रोग का दौरा सायकाल के पश्चात् रात्रि मे प्राय होता है—क्योकि दिन की अपेक्षा रात्रि मे कफ की अधिकता प्राय पाई जाती है, रात्रि के कफाधिक्य से बचने के लिए रोगी को अधिक रात्रि मे भोजन न देना (Late night's

---

१ लघनालेपनस्वेदरेचनैं रक्तसेचनैं । प्राय श्लेष्महरैरुष्णैं श्लीपदं समुपाचरेत् ॥
प्रच्छर्दन लघनमस्रमोक्ष स्वेदो विरेक परिलेपनञ्च ॥ (भै र.)

meals) भी प्रशस्त रहता है अस्तु, श्लीपद रोगियो मे सूर्यास्त के पूर्व तक ही, सायाह्न भोजन की व्यवस्था करनी उत्तम रहती है। क्वचित् सायाह्न भोजन समय से न मिल सके और निशीथ हो जावे तो रोगी को दूध पीकर ही रह जाना अनुकूल पड़ता है। इस प्रकार श्लीपद में लंघन अर्थात् विधिपूर्वक उपवास व्रत तथा लघु भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। कहा भी है "लंघनं लघुभोजनम् ।"

आधुनिक वैज्ञानिको के विचार से श्लीपद रोग एक विशेष प्रकार के अणु-कृमियो के कारण पैदा होता है। प्राचीन ग्रथकार कृमियो की उत्पत्ति में कारण श्लेष्मा दोष, श्लैष्मिक आहार-विहार को मानते हैं। अस्तु, कफनाशक आहार-विहार श्लीपद रोग में सदैव अनुकूल पड़ता है। एतदर्थ रोगी को नया अन्न, अधिक चावल, दही, गुड, उड़द, अम्ल पदार्थ, मछली, बैगन, तिल, गुड, कुष्माण्ड, मलाई, रबडी, मिष्टान्न, आनूप देशज मास, आनूप देश का वास, नदी जल या कच्चे जल का सेवन, अन्य पिच्छिल, गुरु एव अभिष्यंदी आहारो का त्याग करना चाहिये।

श्लीपदी को भोजन मे पुराना अन्न, जौ, गेहूँ, कुलथी, मूंग, चने एवं रहर की दाल, परवल, सहिजन, करैला, वास्तूक, पुनर्नवा प्रभृति--कटु, तिक्त और दीपन द्रव्यो का भोजन में प्रयोग करना चाहिये। शाक भाजी कडवे तैल (सर्पप तैल) में मिर्च एवं गरम मसालेदार भोजन एवं लहसुन और प्याज का प्रचुर मात्रा में उपयोग करना चाहिये। श्लीपद रोग में लहसुन एक उत्तम द्रव्य है। गोमूत्र का सेवन भी उत्तम माना जाता है। एरण्ड तैल का प्रयोग रोगी मे बीच बीच मे कराते रहना चाहिये जिससे विबध न रहे और रोगी की कोष्ठशुद्धि होती रहे।[१] श्लीपद रोग में जल के दोषो से बचाने के लिये पंचकोल चूर्ण का उपयोग १-२ माशा की मात्रा में भोजन मे छिडक कर करना चाहिये।

श्लीपद रोग आनूप देशज व्याधि है—अर्थात् एक विशेष प्रकार के भूखण्ड मे पाई जानेवाली व्याधि है, अस्तु, इसमे जल-वायु या देश के परिवर्त्तन से पर्याप्त लाभ की आशा रहती है। यदि देश-परिवर्त्तन संभव न हो तो रोगी की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे जल दोष रोगी को न होने पावे इसलिये पंचकोल चूर्ण थोड़ी मात्रा मे भोजन और पेय के साथ मिलाकर देने से जल दोष नहीं होने

---

१ पुरातना. षष्टिकशालयश्च यवाः कुलत्थ लशुन पटोलम् ।
एरण्डतैलं सुरभीजलञ्च कटूनि तिक्तानि च दीपनानि ॥
एतानि पथ्यानि भवन्ति पुंसा रोगे सति श्लीपदनामधेये । (यो. र)
पिबेत्सर्षपतैलं वा श्लीपदाना निवृत्तये ॥ (सु)

पाता है। लहसुन, प्याज, गोमूत्र आदि का सेवन भी ऐसा ही कार्य करता है। वमन—श्लीपद कफज व्याधि होने से बीच बीच मे रोगी का वमन (मास मे एक या दो वार) कराने से उत्तम लाभ होता है। इसके लिये सोये का वीज, मूली का वीज पानी से पीसकर तीन-तीन माशे की मात्रा मे देना चाहिये। अथवा पटोलपत्र, निम्वपत्र, मदनफल और सैंधव प्रत्येक तीन माशे पानी से पीसकर पानी मे घोल बनाकर पिलाना चाहिये अथवा कषाय बनाकर मधु के साथ पिलाना चाहिये। वमन कराने से कफ दोप का निर्हरण होकर रोग मे लाभ की सभावना रहती है।

लेप एवं स्वेद—श्लीपद रोग मे हाथ, पैर आदि अगो की सूजन को दूर करने के लिये कई लेप बडे प्रशस्त है।

धस्तूरादि लेप—धतूरे की पत्ती या जड, एरण्ड मूल, निर्गुण्डी, पुनर्नवा की जड, सहिजन की छाल, समान भाग मे लेकर काजी के साथ पीसकर, जलसे पीसकर या गोमूत्र से पीसकर उसमे सरसो का तेल मिलाकर गर्म करके मोटा लेप शोथयुक्त अग पर करन से सूजन शीघ्रता से कम हो जाती है। यह एक सिद्ध योग है।[1]

२ श्वेत अर्क की मूल की छाल को लेकर काजी के साथ पीसकर लेप करना चाहिये।

३ चित्रक, देवदारु, श्वेत सर्पप एव सहिजन की छाल का समभाग लेकर काजी से पीसकर लेप करना भी उत्तम है। काजी के स्थान पर गोमूत्र मे भी पीसकर गर्म करके लेप किया जा सकता है।

४ मदनादि लेप—मदनफल और समुद्रलवण दोनो को एक एक तोले लेकर १ तोले मोम और तोन तोले भैस के घी के साथ मिश्रित कर के अग्नि पर सतप्त कर के लेप करने से पुराने श्लीपदजन्य त्वक्-वैवर्ण्य एव विदार एक सप्ताह के उपयोग से ठीक हो जाते हैं।

५ विडङ्गादि तैल—वायविडङ्ग, काली मिर्च, अर्क मूल, सोठ, चीते की जड की छाल, देवदारु, एलुवा तथा पाचो नमक प्रत्येक एक-एक तोला लेकर पानी से पीस कर कल्क बना ले। इस कल्क से चतुर्गुण तिल या सर्पप तैल अर्थात् ४८ तोले और तैल से चतुर्गुण जल अर्थात् १९२ तोले पानी मिला कर अग्नि पर चढाकर मद आच से पकावे। इस तैल का श्लोपद रोग मे अभ्यग

---

१ धस्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिग्रुसर्पपै।
प्रलेप श्लोपद हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम्॥

उत्तम रहता है। पीने मे भी इस तैल का उपयोग हो सकता है। मात्रा १-१ तोला।

६. श्लीपदगत खुजली को शान्त करने के लिये मक्खन और मधु का लेप उत्तम रहता है। कांजी एव सरसो के तेल का लेप वात-कफज वेदना को कम करता है। श्लीपद में पित्ताधिक्य होने पर दाह के शमन के लिये—

मंजिष्ठादि लेप—मजीठ, मुलैठी, रास्ना, हँस की जड और पुनर्नवामूल इनको समभाग में लेकर कांजी के साथ पीस कर लेप करना चाहिए। विविध प्रकार के श्लीपदो मे भी इस लेप का उपयोग किया जा सकता है।

रेचन—श्लीपद रोग मे कोष्ठशुद्धि होती रहे। रोगी में विबध न हो इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। एतदर्थ त्रिफला, हरीतकी चूर्ण, मधुयष्टी-चूर्ण, अमलतास, गोमूत्र तथा एरण्ड तैल का प्रयोग रोगी मे करना चाहिये।

१. श्लीपद के दौरे मे त्रिफला कषाय बनाकर उसमें २॥ तोला गोमूत्र मिलाकर दिन में एक-दो बार देना उत्तम होता है। श्लीपदजन्य अण्डवृद्धि म यह एक उपयोगी योग है।[1]

२ गोमूत्र में भिगोयी हुई या पकाई हुई हरीतकी को एरण्ड तैल में भूनकर चूर्ण बनाकर ३ माशे की मात्रा मे स्वतंत्र या सेंधा नमक मिला कर चूर्ण बना कर मिश्रित ४ माशे की मात्रा मे जल के साथ या गोमूत्र के अनुपान के साथ नित्य सेवन करने से श्लीपद रोग में बडा ही उत्तम लाभ देखने को मिलता है। इस योग का उपयोग विविध प्रकार की अण्डवृद्धि, आन्त्रवृद्धि तथा श्लीपद में दृढता पूर्वक किया जा सकता है। पौरुष वृद्धि (Enlarged Prostate) मे जो प्राय वृद्धावस्था में पाया जाता है इस हरीतकी योग मे उत्तम लाभ होता है।[2]

रक्तावसेचन या शोणित मोक्षण—श्लीपद में सिरावेध का बडा माहात्म्य चिकित्सा मे बतलाया गया है। वातिक श्लीपद मे यदि पैर का हो तो गुल्फसंधि के ऊपर वाली सिरा का वेध, पैत्तिक श्लीपद में गुल्फ की अध सिरा का वेध और श्लैष्मिक श्लीपद मे क्षिप्रमर्म को बचाते हुए अंगुष्ठ के समीप की सिरावेध करने की विधि बतलाई गई है।

---

१ त्रिफलाक्वाथगोमूत्रं पिबेत्प्रातरतन्द्रित।
कफवातोद्भवं हन्ति श्वयथुं वृषणोत्थितम्॥

२ गोमूत्रसिद्धा रुबुतैलभृष्टा हरीतकी सैन्धवचूर्णयुक्ताम्।
खादेन्नरः कोष्णजलानुपाना निहन्ति वृद्धिं चिरजा प्रवृद्धाम्॥
गंधर्वतैलभृष्टा हरीतकी गोजलेन यस्तु।
पिबति श्लीपदबन्धनमुक्तो भवति हि स सप्तरात्रेण॥

आज कल शिरावेध का कार्य प्रचलित नहीं है–यह एक शोध का विषय है। इस दिशा मे इगित मात्र करना ही लक्ष्य है।

ओषधि—श्लीपद रोग मे सशमनार्थ बहुत प्रकार की ओपधियो का व्यवहार होता है और ये सभी दृष्टफल भी है।

१ दारु हरिद्रा एवं रक्त चंदन—इन दोनो औषधियो मे से किसी एक का या दोनो को समभाग मे लेकर कपाय बना कर २ तोले द्रव्य, ३२ तोले जल मे खौलाकर ८ तोला शेप रख कर मधु के साथ सेवन। यह परम उत्तम योग है।

२ सर्षप तैल—का स्वतत्र १ तोले की मात्रा मे पीना। लम्बे समय तक प्रयोग करने से श्लीपद रोग से निवृत्ति होती है। सर्षप तैल का वाह्य प्रयोग अभ्यग के रूप मे या सर्पप वीज का लेप भी उत्तम रहता है।

३. पूतिकरंज–डिठउरी की पत्ती का रस ६ माशे से १ तोला स्वतन्त्र या सर्पप तैल मे मिला कर सेवन।

४. पुत्रजीवक–स्वरस का भी उपर्युक्त प्रकार से सेवन लाभप्रद रहता है।

वृद्धदारुक—विधारे के वीज या छाल का चूर्ण ३ माशे की मात्रा मे १६ छटाक गोमूत्र के अनुपान से, सर्पप तैल के अनुपान से सेवन उत्तम रहता है।

६ हरिद्रा—हरिद्रा चूर्ण या हरिद्रा स्वरस ३ माशे, पुराने गुड १ तोले के साथ सेवन करके गोमूत्र का अनुपान करना उत्तम रहता है।

७ गुडूची—गिलोय का स्वरस १ तोला, कटु तैल (सर्षप तैल) १ तोला मिलाकर प्रात काल मे लेना।

८ पिण्डारक—नामक वृक्ष के ऊपर लगे हुए वन्दाक (वादे) के चूर्ण का १–२ माशे घृत के साथ सेवन अथवा पिण्डारक की जड को सूत्र मे वाध कर पैर मे वाधना उग्र श्लीपद मे भी लाभप्रद रहता है।

९. गोधावती—मूल और उडद की पिष्टि बनाकर सरसो के तेल मे पका कर सेवन करने से श्लीपद ज्वर मे लाभ होता है।

१० शाखोटक—सिहोर की छाल का २ तोले की मात्रा मे कपाय वना कर सेवन करना, इस क्वाथ से प्रारभ मे वमन हो सकता है। इसका स्वतत्र या गोमूत्र मिला कर उपयोग करे। इसके ४० दिनो के सेवन से पुराने श्लीपद मे भी लाभ होता है।

११ खदिर और नीम की छाल का चूर्ण बनाकर ३ माशे की मात्रा में गोमूत्र के अनुपान से सेवन।

वृद्धदारक समचूर्ण—त्रिकटु एवं त्रिफला पृथक् पृथक्, चव्य,

दारुहरिद्रा, वरुण की छाल, गोखरू बीज, मुण्डी और गिलोय इन्हें प्रत्येक एक एक तोला लेकर महीन चूर्ण करे फिर इस चूर्ण के बराबर अर्थात् १२ तोले विधारा के मूल का या बीज का चूर्ण मिलावे। मात्रा ३–६ माशे। अनुपान– काञ्जी या गोमूत्र।

पंचकोल चूर्ण—पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक और शुंठी का सम प्रमाण मे लेकर बनाया चूर्ण। मात्रा १–२ माशा। भोजन के साथ मिलाकर सेवन।

नित्यानन्द रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, ताम्र भस्म, कास्य भस्म, वग भस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध तुत्थ, शंख भस्म, कपर्दिका भस्म, लौह भस्म, त्रिकटु, त्रिफला, विडङ्ग, पच लवण, चव्य, पिपरामूल, हाउबेर, बच, कचूर, पाठा, देवदारु, इलायची, विधारा, निशोथ, चित्रकमूल तथा दन्तीमूल प्रत्येक का चूर्ण १–१ तोला। प्रथम पारद-गंधक की कज्जली बनावे फिर अन्य भस्मो तथा चूर्णों को खरल कर मिलावे। फिर हरीतकी के रस की भावना देकर पाँच-पाँच रत्ती की गोलियाँ बना ले। मात्रा १–२ गोली प्रात. साय शीतल जल या दूध से। बहुत से रोगो मे विशेषत श्लीपद में यह एक उत्कृष्ट योग तथा एक सिद्ध एवं प्रसिद्ध वैद्यकीय योग है जिसका श्लीपद मे उपयोग परम लाभप्रद होता है।

श्लीपद गज केशरी रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, त्रिकटु, शुद्ध वत्सनाभ, अजवायन, चित्रक मूल, शुद्ध जयपाल बीज, शुद्ध टकण और शुद्ध मनःशिला। प्रत्येक १–१ तोला। प्रथम पारद एवं गंधक को खरल कर कज्जली बनावे पश्चात् अन्य द्रव्यो का सम्मिश्रण करके खरल करे। फिर भृंगराज स्वरस, गोखरू क्वाथ, अदरक के रस और जम्बीरी नीबू के रस की पृथक्-पृथक् एक-एक दिन तक भावना देकर २–२ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया मे सुखाकर रख ले। मात्रा १–२ गोली। अनुपान उष्ण जल। विबध कोष्ठ से युक्त श्लीपद रोगो मे उत्तम एव श्रेष्ठ योग है।

मण्डूर—केवल मण्डूर भस्म ४ रत्ती की मात्रा में या पुनर्नवा मण्डूर ४ रत्ती–१ माशा मधु के साथ दिन मे दो बार देना श्लीपद में हितकर होता है।

उपसंहार—श्लीपद के रोगी को विश्राम देना चाहिये। अधिक पैदल चलना या बायसिकल चलाना भी अच्छा नही पडता है। सोते समय उसको शोथ युक्त शाखा को तकिये के सहारे ऊँचा उठा कर रखना अच्छा रहता है। कृमि रोग तथा शोथविकार में प्रयुक्त मण्डूर, लौह के योग अथवा कृमिघ्न योगों का सेवन भी श्लीपद में लाभप्रद रहता है।

श्लीपद के आक्रमण काल मे ज्वर प्राय आता है। इस ज्वर मे विषम ज्वर वाला उपचार करना चाहिये। नित्यानन्द रस का तुलसी, निर्गुण्डो, पारिजात अथवा अदरक के रस और मधु से उपयोग उत्तम रहता है। चन्दन और दारु हल्दी का कपाय श्लीपद के आक्रमण काल मे उत्तम रहता है। त्रिफला कषाय मे गोमूत्र मिला कर देना भी उत्तम रहता है।

दौरे के बीच मे नित्यानन्द रस या श्लीपद गजकेशरी रस का प्रयोग कई मास तक करने की आवश्यकता रहती है। तीन से छ. मास तक उपयोग करने पर बडा ही उत्तम लाभ देखने को मिलता है। इस अधिकार मे अन्य औषधियो और योगो का उपयोग भी हितावह रहता है।

उन्तालीसवाँ अध्याय

कुष्ठरोग प्रतिषेध

परिचय—"कुष्णातीति कुष्ठम्" शरीर की त्वचा आदि धातुवो का नाश करने के कारण उस रोग को कुष्ठ कहते हैं। आयुर्वेद में कुष्ठ शब्द से दाद, खुजली जैसे साधारण त्वचा के रोगो से लेकर वडे-वडे रोग जैसे कोढ, कुष्ठ आदि का भी ग्रहण किया जाता है। इन दोनो मे भेद-प्रदर्शन के लिये क्षुद्र कुष्ठ तथा महाकुष्ठ ये दो प्रकार कुष्ठ रोग के वतलाये गये है। पुन क्षुद्र कुष्ठ ग्यारह प्रकार के और महाकुष्ठो के सात प्रकार वतलाये गये है। आधुनिक-दृष्टचा विचार करने पर क्षुद्र कुष्ठो को त्वचा के रोग (Skin Diseases) और महाकुष्ठो को वास्तविक कुष्ठ या Leprosy कहते हैं।

हेतु तथा सम्प्राप्ति—विरुद्ध अन्न-पान, अपक्व एव गरिष्ठ अन्न का सेवन, अध्यशन, अधारणीय वेगो का रोकना, भोजन के अनन्तर व्यायाम करना, अधिक सन्ताप या धूप का सेवन, परिश्रम के अनन्तर सहसा शीतल जल के सेवन, नवीन अन्न, अधिक दही-मत्स्य-लवण-उडद-आलू-पिष्टद्रव्य-तिल-गुड-अम्ल का सेवन, दिवास्वाप, माता-पिता-गुरु ब्राह्मण एव आचार्य का तिरस्कार करना तथा अन्य

नीच कर्मो के प्रभाव से तीनो दोष कुपित होकर त्वचा-रक्त-माम और शरीर के जलीय धातु को दूषित कर देते हैं। इस से अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार सात द्रव्य अर्थात् तीन दोष एवं चार दूष्य मिल कर कुष्ठ के उत्पादक होते है। आचार्य सुश्रुत का मत है कि त्रिदोष कुपित होकर प्रथम त्वचा में लक्षण उत्पन्न करता है--और उपेक्षा करने पर पश्चात् रक्तादि धातुओ को प्रभावित करता और अन्दर मे प्रविष्ट कर जाता है।

आधुनिक ग्रथो में कुष्ठ में उत्पादक हेतु के रूप में दो वर्ग पाये जाते हैं। प्रधान हेतु कुष्ठ दण्डाणु (Bascillus leprae) का उपसर्ग तथा सहायक हेतु इसके अनर्गत आहार-विहार सम्बन्धी अनियम, दुर्बलता उत्पन्न करने वाले रोग जैसे विषम ज्वर-कालाजार-फिरंग-अकुश कृमि प्रभृति रोग। इस रोग का संचय काल २ साल से दस साल तक या अधिक भी हो सकता है।

कुष्ठ के प्रकार--सभी कुष्ठ त्रिदोपज होते हैं; फिर भी दोपो की उल्वणता के विचार से उनके कई भेद हो जाते हैं। महा कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं उनके नाम १. कापाल कुष्ठ (वाताधिक्य से), २. औदुम्बर कुष्ठ (पित्ताधिक्य से), ३ मण्डल कुष्ठ (श्लेष्माधिक्य से), ४ ऋष्यजिह्व (वात-पित्ताधिक्य से) ५. पुण्डरीक कुष्ठ (पित्तकफाधिक्य से) ६. सिध्म कुष्ठ (वातकफाधिक्य से) तथा ७ काकण कुष्ठ (त्रिदोष से) क्रमश पाये जाते है।

ग्यारह क्षुद्र कुष्ठो में १ एक कुष्ठ (Psoriasis), २. गजचर्म या हस्तिचर्म, ३ किटिभ ४ वैपादिक (Rhagades) ५ अलस या अलसक (Linchen), ६. चर्मदल (Excoriation) ७. पामा (Scabies) ८ कच्छु (Dry Eczyma) ९ विस्फोट (Bullae), १० विचर्चिका (Weeping Eczyma), ११ शतारु (Erythemas) गिनाये गये है।

कुष्ठो के नामकरण मे चरक तथा सुश्रुत के मन्तव्य में थोडा अन्तर है। सुश्रुत ने चर्मकुष्ठ, वैपादिक, अलसक, कच्छु, विस्फोट तथा शतारु का वर्णन क्षुद्र कुष्ठो मे नही किया है अपितु इनके स्थान पर स्थूलारुष्क, परिसर्प, रकसा, विसर्प, महा-कुष्ठ और सिध्म का वर्णन किया है। दद्रु का वर्णन सुश्रुत ने महाकुष्ठ में और चरक ने सिध्म का वर्णन महाकुष्ठो मे किया है।

क्षुद्र कुष्ठो मे दोषो का विचार करें तो चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलस और विपादिका वात और कफ की अधिकता से पैदा होते है। दद्रु, शतारु, विस्फोट, पामा तथा चर्मदल नामक कुष्ठ कफ-पित्तजन्य होते हैं।

सामान्य लक्षण—लक्षण और निवृत के अनुसार आधुनिक ग्रन्थो में कुष्ठ के तीन प्रकार बतलाये गये है ।

१. **ग्रन्थि कुष्ठ** (Nodular or lempromatous type) रोग मे प्रथम कई आकार-प्रकार की लालरग की गाठे उत्पन्न होती हैं । कभी-कभी कई ग्रथिया मिल कर एक बडा धव्वा बना लेती है। सज्ञावाही नाडचग्रा (Nerve endings) के नष्ट होने पर ये स्वापयुक्त (anaesthetic) एव लोमरहित हो जाती है । ये गाठें अधिकतर चेहरे पर मस्तक, भ्रू, कपोल और कर्णपाली मे पाई जाती है । इसके अतिरिक्त इस तरह की गाठें रोगी के हाथ, कलाई, बाहु, ऊरु तथा कटि प्रदेश के वाह्य तल पर भी पैदा होती है । इस से रोगी का चमडा बहुत मोटा और चेहरे की आकृति बहुत खराब सिंह सम (Lion face) हो जाती है । ग्रथियो के फूटने से व्रण बनते है । रोग का प्रभाव मुख, गला, नासिका और नेत्रो मे पाया जाता है । गले मे होने पर स्वरभग, नासा मे होने से नासाभग और आखो के प्रभावित होने पर आंखें लाल हो जाती है ।

२ **नाड़ी कुष्ट** (Nervous variety)–इस मे कुष्ठ के जीवाणुवो का नाडो के ऊपर प्रभाव पडता है । जिससे स्वाप, स्वेदाभाव, सरसराहट, चुनचुनाहट आदि लक्षण पैदा होते है । जो प्राचीन दृष्टि से कुष्ट के वातिक प्रकार मे मिलते है ।

३. **मिश्र प्रकार** (Mixed type)–इस मे कुष्ट के दोनो प्रकार के लक्षण मिलते रहते है । इस प्रकार के रोगी ही अधिक मिलते है । इसमे ग्रथिया भी उत्पन्न होती है और वात नाडिया मोटी पड जाती है ।

इन्ही लक्षणो का वर्णन प्राचीन ग्रथकारो ने सप्त महाकुष्ठो मे किया है ।

कुष्ठ के त्वचागत होने से वर्ण मे परिवर्त्तन, त्वचा मे रूक्षता, सुन्नता, रोमहर्ष तथा स्वेद की अत्यधिक प्रवृत्ति होती है । रक्तगत कुष्ठ के होने पर खुजली तथा दुर्गंधित पूयस्राव होता है, कुष्ठ मासाश्रित होने पर त्वचा का मोटा होना, मुख का सूखना, कर्कशता, पिडिकावो की उत्पत्ति, सुई की चुभोने जैसी पीडा, फोडो की उत्पत्ति इत्यादि लक्षण पाये जाते है । जब कुष्ठ का प्रभाव मेदधातु तक पहुँच जाता है, तो अंगुलि का गलकर गिरना, गति करने मे असमर्थता, अगो मे पीडा, घावो का फैलना आदि पाया जाता है । अस्थि और मज्जा तक कुष्ठ के पहुँचने पर नासिका का गलकर बैठ जाना, आखो मे लाली, घावो मे फोडो का पडना तथा स्वरावसाद आदि लक्षण होने लगते है ।

साध्यासाध्यता—त्वचा, रक्त एव वात-कफजन्य कुष्ठ साध्य होता है ।

मेद धातु में प्रविष्ट एवं द्विदोषज कृच्छ्रसाध्य होता है। मज्जाश्रित, क्रिमि-तृषा-दाह-मदाग्नि युक्त एवं त्रिदोषज कुष्ठ असाध्य होता है। कुष्ठपीड़ित व्यक्ति का शरीर जब फट गया हो, अंग सड़ने लगे हों, जिसके नेत्र लाल हो, जिसकी बोलने की शक्ति नष्ट हो गई हो और जो पंचकर्म गुणातीत (अर्थात् जिस में पचकर्म न किया जा सकता हो) असाध्य हो जाते हैं।[1]

श्वित्र[2]—कुष्ठ के अध्याय में श्वित्र नामक एक रोग का भी उल्लेख पाया जाता है। कुष्ठ के जो उत्पादक कारण बतलाये गये है वे ही कारण श्वित्र के भी उत्पादक होते हैं। श्वित्र रोग के कई पर्याय ग्रंथो मे पाये जाते है चरक ने लिखा है "दारुणं वारुण श्वित्रं किलास नाम भिस्त्रिभि." अर्थात् श्वित्र के तीन प्रकार दारुण, वारुण तथा किलास हैं। इस रोग को साधारण बोल चाल में श्वेत कुष्ठ या सफेद दाग (Leucoderma) कहते है। श्वित्र में किसी प्रकार का स्राव नही होता है—यह वातादि तीनो दोषो से रक्त-मास और मेद धातु में आश्रित रह कर उत्पन्न होते हैं। वातिक किलास रूक्ष एवं लाल रग का, पैत्तिक कमल या ताम्र वर्ण का, और लोमो को नष्ट करनेवाला होता है। कफज श्वेतवर्ण का भारी और खुजली युक्त होता है।

श्वित्र के उत्पत्ति भेद से दो प्रकार होते हैं—व्रणज और दोषज। व्रणज किसी व्रण या अग्नि दाह के परिणाम स्वरूप और दोषज वैसे ही होते हैं। श्वित्र मे केवल त्वचा की ही विकृति पाई जाती है। जैसा कि सुश्रुत के वचनो से सिद्ध है "त्वग्गतमेव किलासम्"। इस प्रकार श्वित्र रोग में कृमि का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, फलत संक्रामक नही होता है। यह एक दोषज व्याधि है दूसरे कुष्ठो जैसा त्रिदोषज नही है। इसमें शरीरगत धातुओं का नाश भी नही होता है।

ऐसे श्वित्र, जिनमें बाल सफेद न हुए हो, जिसका विस्तार कम हो, जो एक दूसरे मे मिले हुए न हो, नवीन और आग से जलने के बाद उत्पन्न हुआ न हो साध्य होते हैं। इसके विपरीत लक्षणो से युक्त होने पर असाध्य हो जाता है।

---

१. साध्य त्वग्रक्तमासस्थं वातश्लेष्माधिकञ्च यत्।
मेदसि द्वन्द्वजं याप्य वर्ज्यं मज्जास्थिसश्रितम्॥
क्रिमितृड्दाहमन्दाग्निसयुक्त यत्त्रिदोषजम्।
प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम्।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम्॥ (मा. नि)

२ वचास्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणा गुरुधर्षणञ्च।
पापक्रिया पूर्वकृतञ्च कर्म हेतु किलासस्य विरोधि चान्नम्॥ (चर)

गुह्य स्थान, हाथ-पैर के तलवे और ओष्ठ मे पाये जाने वाले श्वित्र तथा दीर्घकाल का पुराना श्वित्र भी असाध्य होता है।[1]

क्रियाक्रम–सामान्यतया सभी रोगो मे सर्वप्रथम उपचार 'निदान परिवर्जन' या 'हेतोरसेवा' अर्थात् रोगोत्पादक हेतुओ का परिवर्जन करना होता है। कुष्ठ के उत्पादक हेतुओ मे बहुविध आहार-विहार सम्बन्धी विषमताओ के अतिरिक्त अधर्म या पापाचरण को भी रोगोत्पादक बतलाया गया है। अस्तु, आहार-विहार सम्बन्धी दोपो के दूर करने के साथ ही साथ पाप कर्म का भी पुण्यकर्मो के अनुष्ठान के द्वारा दूरीकरण का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए कई सदाचरणो का उपदेश आचाय वाग्भटने किया है। इनके सम्यक् आचरण से कुष्ठ रोग से मुक्त होना सभव रहता है। जैसे—व्रत-दम-यम-सेवा-त्याग-शील का अभियोग, द्विज-देवता-गुरु की पूजा, सभी जीवो मे मैत्री रखना, शिव-गणेश-जिन-जिन-पुत्र-तारा तथा सूर्य देव की आराधना पाप के फलस्वरूप पैदा होने वाले कुष्ठ रोग का उन्मूलन करती है। सूर्य की आराधना से सभी रोग दूर हो सकते है। शरीर सदैव स्वस्थ रखा जा सकता है। सूर्य की आराधना या पूजन विशेपत. कठिन नेत्र रोग और कुष्ठ रोग मे लाभप्रद रहता है। सूर्य की आराधना मे अर्घ्य पूजन एव सूर्य स्तव (आदित्य हृदय स्तोत्र आदि) का पाठ उत्तम रहता है।[2] सूर्यव्रतो मे रविवार का व्रत उत्तम रहता है, इस दिन उपवास, लवणवर्ज्य आहार और एक समय का भोजन उत्तम रहता है।

रोगी को नया अन्न, दधि, दूध, मद्य, तिल, मछली, नमक, उडद, मूली, गुड, अभिष्यदी आहार एवं विरोधी भोजन तथा शुक्र-क्षय का होना समुचित नही रहता है, अस्तु, ब्रह्मचर्य के साथ जीवन-यापन करते करते हुए उपर्युक्त आहार का वर्जन करना चाहिये। अधिक धूप मे काम करना या भट्ठी प्रभृति अग्नि के

---

१. अशुक्लरोमाऽबहुलमसश्लिष्टमथो नवम्।
अनग्निदग्धज साध्य श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा॥
गुह्यपाणितलौष्ठेपु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्जनीय विशेषेण किलास सिद्धिमिच्छता॥

२ व्रतदमयमसेवात्यागशीलाभियोगो द्विजसुरगुरुपूजा सर्वसत्त्वेपु मैत्री।
शिवशिवसुततारा (जिनजिनसुततारा) भास्कराराधनानि प्रकटितमलपाप कुष्ठमुन्मूलयन्ति। (अ. हृ चि १९)

समीप कार्य करना भी अनुकूल नही पडता। अस्तु, ऐसे व्यवसायो को या दिन का सोना, आग का तापना भी रोगी को छोड देना चाहिये।[१]

पथ्य—कुष्ठ रोगियो में घृत (विशेष करके गोघृत) का उपयोग बडा ही उत्तम पाया गया है। पुराने अन्नो मे जौ, गेहूँ, चावल, मूंग, अरहर, चना, मसूर का सेवन अनुकूल पडता है। चना गेहूँ की रोटी और घी का सेवन पथ्य रूप मे उत्तम रहता है। शहद, जाङ्गल पशु-पक्षियो के मास, आषाढ मे पैदा होने वाले फल जैसे ककडी, खरबूजे, तरबूज, बेंत की कोपल, परवल, तरोई, मकोय, नीम की पत्ती, लहसुन आदि का उपयोग ठीक रहता है। हुरहुर, पुनर्नवा, मेढासिगी, चक्रमर्द की पत्ती, ताल के पके फल, जायफल, नाग केसर, केशर पथ्य होते है। तेलो मे-तिल-सरसो-नीम-हिंगोट-सरल-देवदारु-सीसम-अगुरु-चदन तुवरक (चालमोगरा) आदि कुष्ठ मे हित रहते है। गोमूत्र तथा गधा-ऊँट-घोडा-या भैस का मूत्र तथा तिक्त पदार्थों का सेवन पथ्य है। इन पथ्यापथ्यो का विचार सभी प्रकार के कुष्ठ रोगो मे विशेषत महाकुष्ठो के सम्बन्ध में करना चाहिये।

पंचकर्म या संशोधन—कुष्ठ रोग में संशोधन की चिकित्सा एक आवश्यक एवं उत्तम उपक्रम माना गया है। इसके द्वारा दोषो के निर्हरण हो जाने के अनन्तर पथ्य एवं औषधि का उपयोग करते हुए रोगी को रोगमुक्त किया जा सकता है। अस्तु, एक एक पक्ष (पन्द्रह-पन्द्रह दिनो) के अन्तर मे रोगी का वमन कराना, एक-एक मास के अन्तर से विरेचन देना, प्रति तीसरे-तीसरे महीने पर शिरोरेचन या नस्य कर्म कराना तथा छठे-छठे महीने पर रक्त विस्रावण (शिरावेध के द्वारा रक्त का निकालना) कुष्ठ रोग में हितकर रहता है—ऐसा आचार्यों का मत है।[२] इन कर्मो का सामान्यतया विधान होते हुए भी कुष्ठ मे वाताधिक्य होने पर अर्थात् वातोल्वण कुष्ठ में घृतपान, कफोल्वण कुष्ठ मे वमन

---

१ पापानि कर्माणि कृतघ्नभावं निन्दा गुरूणा गुरुधर्षणञ्च। विरुद्धपानाशनमह्नि निद्रा चण्डांशुतापं विषमाशनञ्च॥ स्वेद रत वेगनिरोधमिक्षुं व्यायाममम्लानि तिलाश्च माषान्। द्रवान्नगुर्वन्ननवान्नमुक्त विदाहि विष्टम्भि च मूलकानि॥ सह्याद्रिविध्याद्रिसमुद्भवाना तरङ्गिणीनामुदकानि चापि। आनूपमासं दधिदुग्धमद्य गुड च कुष्ठामयिनस्त्यजेयु.॥ अन्नपानं हितं कुष्ठे न त्वम्ललवणोषणम्। दधिदुग्धगुडानूपतिलमाषास्त्यजेत्तराम्॥ (यो. र.)

२. षष्ठे मासे शिरामोक्षं प्रतिमासं विरेचनम्। प्रतिपक्षं च वमनं कुष्ठे लेपं त्र्यहाच्चरेत्॥ (यो. र.)

तथा पित्तोल्वण कुष्ठ मे विरेचन तथा रक्त-विस्रावण कराना श्रेष्ठ रहता है।[1] रक्त-विस्रावण के सम्बन्ध मे यह ध्यान में रखना चाहिये कि यदि कुष्ठ का प्रसार रक्त धातु मे न हुआ हो और त्वचा के ऊपर एक-दो स्थानो मे सीमित हो तो उसका प्रच्छान करके शृङ्ग के द्वारा रक्त निकाले, परन्तु जब कुष्ठ का दोप सर्व-शरीर में व्याप्त हो तो उस अवस्था मे रोगी का सशोधन शिरावेध करके (फस्त खोलकर) करना चाहिये।

वमन कराने के लिये—वासा, अडूसा, परवल की जड, नीम तथा प्रियंगु की छाल, मैनफल का काढा बनाकर मधु मिलाकर वमन कराना तथा—विरेचन के लिये त्रिवृत् (निशोथ), दन्तीबीज (जयपाल) तथा त्रिफला का चूर्ण या काढा बनाकर दस्त कराना कुष्ठ रोगियो मे हितकर होता है।

अंतःप्रयोज्य रक्त-शोधक या कुष्ठशामक ओषधियाँ—कुष्ठ के रोगियो मे बहुत सी रक्तशोधक औपधियाँ व्यवहृत होती हैं—जिनके द्वारा कुष्ठ के लक्षणो का सशमन होकर रोग दूर होता है। जैसे,

१ **धात्री और खदिर का क्वाथ**—खदिर की छाल १ तोला, आँवला १ तोला लेकर ३२ तोले जल में खौलाकर ८ तोले शेप रहने पर मधु मिलाकर पिलाना। २. धात्री और खदिर के बने क्वाथ मे बाकुची का चूर्ण १ माशा प्रक्षिप्त करके पीना। ३ भयङ्कर कुष्ठ से पीडित व्यक्ति भी यदि एक वर्ष तक बाकुची का चूर्ण २ माशे और काली तिल का चूर्ण ३ माशे मिलाकर एक मात्रा प्रात-सायम् सेवन करे तो कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है।[2] ४ अथवा केवल बाकुची का २ माशे से ३ माशे प्रतिदिन जल या दूध के साथ सेवन करे तो कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है।

इन योगो का उपयोग सभी प्रकार के कुष्ठ रोगो मे लाभप्रद होता है, परन्तु विशिष्ट रूप से श्वित्रकुष्ठ (श्वेतदाग) में लाभदायक होता है। इन योगो के सेवन काल में श्वित्र कुष्ठ के रोगी मे गाय के दूध की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में करनी चाहिये—रोगी को आहार में रोटी और दूध या पुराना चावल और दूध ही पथ्य कर देना चाहिये। श्वित्र के अतिरिक्त दूसरे कुष्ठ रोगो में बाकुची का प्रयोग करना हो तो घृत या गोघृत की पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिये क्योकि दूध अन्य

---

१ वातोत्तरेपु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेपु कुष्ठेपु।
पित्तोत्तरेपु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं श्रेष्ठम्॥

२ तीव्रेण कुष्ठेन परीतदेहो य सोमराजी नियमेन खादेत्।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीया स सोमराजी वपुपाऽतिशेते॥

कुष्ठो में उतना उपयोगी नही रहता है। रोगी को गोघृत के साथ ही भोजन देना चाहिये। वाकुची को सोमराजी कहते है—सोमराजी का अर्थ होता है चंद्रमा की कान्ति अर्थात् जो कुष्ठ से विरूप हुए व्यक्ति को चद्रमा की कान्ति जैसे कान्तिवान् वना दे। सोमराजी के प्रयोगो मे कई घृत और तैलो का भी पाठ मिलता है जैसे सोमराजी तैल तथा सोमराजी घृत इनका पाठ घृतो के प्रसंग में आगे दिया जावेगा। वाकुची वीज चूर्ण के अतः प्रयोग मे मात्रा का ध्यान रखना चाहिये, ग्रन्थो में १ तोले तक की प्रतिदिन की मात्रा वतलाई गई है, परन्तु रोगी को प्रारंभ मे १–२ माशा तक दे।[1] जैसे-जैसे रोगी को सह्य होता चले वढावे। घृत के अनुपान से देना चाहिये—वाकुची के प्रयोग-काल मे रोगी के लिये पर्याप्त गोघृत की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। वाकुची का वाह्य प्रयोग श्वित्र कुष्ठ मे भूरिशः हुआ है इसका वर्णन लेपो के प्रसंग मे आगे किया जावेगा। श्वित्र में वाकुची की एक और भी प्रयोगविधि है। प्रथम दिन पाँच वीज वाकुची के ठंडे जल से निगलावे। प्रतिदिन १–१ दाना वढाता चले। इस प्रकार २१ तक वढाकर फिर १–१ दाना घटा कर पाँच पर लावे। इस प्रकार का वर्धमान वाकुची का प्रयोग जव तक रोग अच्छा न हो जावे कई वार करे। साथ में शुद्ध वाकुची का तेल उस मे वरावर तुवरक का तेल मिलाकर श्वित्र पर लगावे। इस प्रकार खाने एव लगाने के वाकुची के उपयोग से श्वित्र में उत्तम लाभ होता है।

५. 'खदिरः कुष्ठघ्नानाम्' कुष्ठघ्न औषधियो मे खदिर का उपयोग भी वहुलता से हुआ है—कुष्ठघ्न योगो मे खदिर वहुश. प्रयोग आया है। खदिर का स्वतंत्र प्रयोग करना हो तो खदिर की छाल का क्वाथ वनाकर देना चाहिये। अथवा कत्थे को २ माशा पानी में घोलाकर पीना चाहिये। श्वित्र कुष्ठ मे कत्थे का घोल उत्तम लाभ दिखलाता है। खदिर के योगो में खदिरारिष्ट का उपयोग उत्तम रहता है —इसके योग का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

६. गुडूची—गुडूची का स्वरस २ तोले या यथावल मात्रा में नित्य लेकर सेवन करने से तथा आहार में मूंग की दाल और पुराने चावल का भात खाने से कुष्ठ रोग से मुक्ति होती है।[2]

---

१ अवल्गुजावीजकर्षं पीत्वा कोष्णेन वारिणा।
भोजनं सर्पिषा कार्यं सर्वकुष्ठविनाशनम्॥

२ छिन्नाया स्वरसो वापि सेव्यमानं यथावलम्।
जीर्णे घृतेन भुञ्जीत मुद्गयूषौदनेन च॥
अपि पूतिशरीरोऽपि दिव्यरूपी भवेन्नर।

७. निम्ब—निम्ब एक उत्तम रक्तशोधक औषधि है। इसके पंचाङ्ग का चूर्ण बना लेना चाहिये। इस चूर्ण के ६ माशे का ६ माशे हरीतकी चूर्ण या ६ माशे आँवले के चूर्ण के साथ सेवन करने से उत्तम लाभ होता है। कुष्ठ के प्रारंभिक अवस्था मे एक मास के प्रयोग से रोगी को बहुत लाभ होता है। निम्ब के कई योग पंचनिम्बचूर्ण, निम्बादिचूर्ण, बृहत् पंचनिम्बादिचूर्ण प्रभृति योगो का उल्लेख आगे किया जा रहा है—इनका प्रयोग भी किया जा सकता है

८. गोमूत्र—सर्व प्रकार के कुष्ठ रोगो मे गोमूत्र एक परमौषधि है। इस का उपयोग प्रात काल मे खाली पेट पर एक छटाँक की मात्रा मे कुष्टी को प्रतिदिन करना उत्तम रहता है। इस गोमूत्र के साथ हरीतकी चूर्ण ६ माशे का उपयोग किया जाय तो सफलता और उत्तम मिलती है। अर्थात् उससे निश्चय ही कुष्ठ अच्छा होता है। लम्बे समय तक प्रयोग की आवश्यकता होती है। कुष्ठ रोग मे गोमूत्र से स्नान और प्रक्षालन भी उत्तम रहता है।[1]

९ तुवरक—(चालमोगरा) इसका दूसरा नाम कुष्ठवैरी भी है, जिसका अर्थ होता है कुष्ठ रोग का शत्रु। इसके चूर्ण एव तैल का अन्त. प्रयोग तथा बाह्य प्रयोग कुष्ठ मे उत्तम कार्य करता है। आधुनिक चिकित्सा मे भी कुष्ठ रोग मे 'चालमोगरा तथा 'हिडनोकार्पस' के तेल का सूचीवेध के द्वारा उपयोग उत्तम लाभप्रद प्रमाणित हुआ है। तुवरकाद्य तैल नामक एक योग का, बहुलता से विभिन्न त्वक् रोग तथा कुष्ठ मे व्यवहार वैद्यक मे होता है—इसमे तुवरक तैल २ भाग, वाकुची तैल २ भाग तथा चदन का तैल १ भाग की मात्रा मे मिश्रित रहता है—इसका स्थानिक प्रयोग अभ्यग रूप मे होता है। तुवरक तैल मे गधक एवं मोम मिलाकर त्वचा पर लेप करने से कुष्ठजन्य चर्म दोप मे सुधार होता है।

तुवरक तैल का मुख से प्रयोग की विधि—शुद्ध तुवरक तैल का ५ बूँद की मात्रा मे १ तोला मक्खन या दूध की साढी मे रखकर दिन मे दो बार देना प्रारंभ करना चाहिये। प्रति चौथे दिन ५ बूद की मात्रा बढावे। रोगी जितनी मात्रा सहन कर सके, उतनी बढावे। जब मात्रा सहन नही होती, तो जी मिचलाने लगता है और वमन भी हो जाता है। जब ऐसा लक्षण होने लगे तो मात्रा घटा देनी चाहिए। रोगी को स्नान करा के इस तैल का अभ्यंग भी कराना चाहिये। अधिक से अधिक मात्रा, जिसे रोगी सहन कर सके उतनी मात्रा, छ मास तक या जब तक रोगी रोगमुक्त न हो जाय तब तक देता रहे।

---

१ कुष्ठाना विनिवृत्तौ च गोमूत्रं परमौषधम्।
अभयासहितं तद्धि ध्रुव सिद्धिप्रदं मतम्॥

तैल के सेवन-काल में पथ्य—यदि रोगी केवल गाय के दूध, मोसम्मी, मीठा नीबू, अनार, सेव, केला, मीठा अंगूर आदि मीठे फलों पर रहकर उपयोग करे तो लाभ विशेष एवं शीघ्र होता है। यदि इस पथ्य पर न रह सके तो उसे पुराने चावल का भात, जौ-गेहूँ की रोटी, घृत और दूध के साथ खावे। अम्ल,-लवण, चटपटे और गरम मसालेदार भोजनों का वर्जन करे।

सब प्रकार के महाकुष्ठों में इसके लगाने और खाने से बड़ा लाभ होता है। इस तैल मे कपडा भिगोकर व्रण पर बांधने से व्रण शीघ्र भरते हैं।

१० भल्लातक—शुद्ध भिलावे का उपयोग भी कुष्ट मे उत्तम पाया गया है। इसके कई योग जैसे 'अमृत भल्लातक'; 'भल्लातक गुड' आदि बडे प्रसिद्ध और उत्तम योग है, जिनके प्रयोग से कठिन रोगियो में लाभ पहुँचता है। चक्रदत्त का—

समसमयोग—काली तिल, त्रिफला, त्रिकटु, घृत, मधु, एव शर्करा प्रत्येक १ भाग। मात्रा ३-६ माशे। इसके सेवन काल में किसी पथ्य की आवश्यकता नही रहती है। यह रसायन है, कुष्ठ में उत्तम लाभ करता है।

११. सुधोदक—चूने के पानी का ३० से ६० बूंद तक पिलाना भी उत्तम रहता है विशेषत. कुष्ठ प्रतिक्रिया (Lepra reactions) में। आधुनिक चिकित्सा में कुष्ठ प्रतिक्रिया 'कैल्शियम्' का मुख या सूचीवेध के द्वारा प्रयोग उत्तम पाया गया है।[1]

१२ किरात—चिरायते का पानी या काढा भी रक्तशोधक होता है।

१३ गोरख मुण्डी—का उपयोग भी रक्तशोधन में हिम या अर्क के रूप में करना श्रेष्ठ है।

१४ पाताल गरुडी का स्वरस पीना तथा पत्तियो का वाह्य लेप।

१५ काष्ठोदुम्बर—शास्त्र में कठगूलर को भी कुष्ठघ्न बताया गया है। इसके कई छोटे योग उत्तम लाभप्रद होते है जैसे—गूलर तथा बहेरे की जड की छाल समभाग मे लेकर कुल २ तोले का क्वाथ बनाकर उसमे वाकुची का चूर्ण ४ रत्ती मिलाकर पिलाना। विशेषत: श्वित्रकुष्ट में लाभप्रद रहता है।

कुष्ठारि योग—कठगूलर, भार्गी, वला, नागवला और अतिवला सवको सम प्रमाण लेकर चूर्ण बना ले। मात्रा ३-६ माशे। मधु से सेवन। गलित, पूय एवं कीट युक्त कुष्ठ में एक मास के उपयोग से पर्याप्त लाभ होता है।[2]

---

१. सुधोदकञ्च कुष्ठघ्नं त्रिंशद्विन्दुमितेन हि। (भै. र.)

२. काष्ठोदुम्बरिकाचूर्णं ब्रह्मदण्डी बलात्रयम्।
प्रत्यहं मधुना लीढं वातरक्तापहं नृणाम्॥
स्वरद्रवत् चलन्मासं मासमात्रेण सर्वथा।
गलत्पूय पतत्कीटं त्रिदष्टं सेव्यमीरितम्॥

कुष्ठनाशक रस—कठगूलर, करंज के पत्र, हरड, शिरीष की छाल और बहेडा, सम प्रमाण मे लेकर चूर्ण बना ले। इसका चूर्ण ३ माशे, मुनक्का १ तोला, शुद्ध टंकण १ माशा और गोमूत्र २½ तोला। आलोडित कर (मथकर) फेन उठने पर पीये। एक सप्ताह के उपयोग से सप्त धातु तक प्रविष्ट महाकुष्ठो मे भी पर्याप्त लाभ होता है।[1]

१६ शुद्ध गंधक—दूध मे या मट्ठे में शुद्ध किये गधक का ४ रत्ती से एक माशा की मात्रा मे घी और चीनी के साथ प्रयोग उत्तम रहता है। इसके दो योग उत्तम है।

१ सौगंधिक चूर्ण—शुद्ध गधक १ भाग, काली मरिच १ भाग, त्रिफला ६ भाग और अमलताश की गुद्दी ६ भाग मिश्रित करके बनाया चूर्ण ३ माशे। अनुपान जल से।

२ गंधक रसायन-निर्माण-विधि—गाय के दूध से तीन वार शुद्ध किया गंधक ६४ तोले ले, उसको पत्थर के खरल मे डालकर, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची और नागकेसर इनमें प्रत्येक के कपड़छन चूर्ण को रात मे द्विगुण जल मे भिगो सवेरे हाथ से मसलकर कपडे से छाने हुए जल से, ताजी गिलोय के स्वरस से, हर्रे और वहेडे के क्वाथ से, आँवला, भँगरा और अदरक इनमें प्रत्येक के स्वरस से आठ आठ दिनो तक मर्दन करे। अर्थात् प्रत्येक के जल, क्वाथ या स्वरस मे आठ-आठ दिनो तक भावना दे। कुल ८० भावना दे। प्रत्येक भावना मे ३-६ घटा तक मर्दन करके छाया मे सुखाने के वाद दूसरी भावना दे। अन्त मे सुखाकर समान भाग मिश्री मिलाकर सुखाकर शीशी मे भर ले।

मात्रा और अनुपान—४-८ रत्ती की मात्रा मे सुवह-शाम घृत के साथ, दूध से, मजिष्ठादि कषाय से या सारिवादि हिम के साथ सेवन करावे। सभी प्रकार के कुष्ठ रोग मे लाभप्रद।

१७ हरताल—शुद्ध हरताल, रसमाणिक्य, तालकेश्वर, महातालकेश्वर आदि का उपयोग भी जिसमे हरताल प्रमुख भाग मे पाया जाता है, उत्तम रहता है।

---

१ चिरविल्वपत्रपथ्याशिरीषञ्च विभीतकम्।
काष्ठोदुम्बरिकामूल मूत्रैरालोड्य फेनितम्॥
कर्पमात्र पिवेद्रोगी गोस्तन्या सह टंकणम्।
सप्तसप्तकपर्यन्त सर्वकुष्ठविनाशनम्। (र. सा. सं.)

योग :-

० मदयन्त्यादि चूर्ण—छाया मे सुखाये मेंहदी के वीज या पत्ती का चूर्ण २ भाग और भृंगराज के स्वरस में शुद्ध किये गन्धक का १ भाग। दोनो को तीन घण्टे तक मर्दन करके शीशी में भर ले। मात्रा १-२ माशे, जल या सारिवादिहिम के अनुपान से। कण्डु, पामा, फोडे-फुन्सी मे इसका उपयोग उत्तम रहता है।

सारिवादि हिम—अनन्तमूल, उशवा, चोपचीनी, मजीठ, गिलोय, धमासा, रक्तचंदन, गुलवनप्सा, खस, गोरखमुण्डी, शाहतरा, कमल के फूल, गुलाव के फूल, गलाहुली प्रत्येक समभाग में लेकर चूर्ण करके रख ले। इसमें १ तोले चूर्ण को रात में छ तोले गर्म जल में मिट्टी या काँच के पात्र में भिगो दे। सवेरे हाथ से मसलकर कपडे से छानकर पीने को दे। फिर उसी वर्त्तन मे सुवह ५ तोला गर्म जल डालकर रख छोड़े। उसको शाम को मसलकर कपड़े से छान कर पीने को दे।

उपयोग—सब प्रकार के रक्तविकार, कण्डु, पामा, हाथ-पाँव के जलन, जीर्ण ज्वर, अम्लपित्त, रक्त एवं पित्त के विकारो में लाभप्रद रहता है। (नि यो सं.)

मंजिष्ठादि क्वाथ (लघु)[1]—मजीठ, हरड, वहेरा, आँवला, कुटकी, वच, देवदारु, हरिद्रा और निम्ब की छाल इनमे प्रत्येक १ तोला, लेकिन हरीतकी २ तोला ले। जौकुट करके २ तोले द्रव्य को ३२ तोले पानी मे खौलाकर ४ तोले शेष रहने पर मधु मिलाकर सेवन करे। मंजिष्ठादि क्वाथ नाम से कई पाठो का सग्रह पाया जाता है जैसे लघु, मध्यम तथा महा। यहाँ पर लघु एव महा मजिष्ठादि क्वाथ का वर्णन दिया जा रहा है।

महामंजिष्ठादि या वृहद् मंजिष्ठादि कषाय—मजीठ, नागरमोथा, कुटज, गिलोय, कूठ, सोठ, भारंगी, छोटी कटेरी, वच, नीम को छाल, हल्दी, दारुहल्दी, पटोल, कुटकी, मूर्वा, वायविडङ्ग, विजयसार, शाल, शतावर, त्रायमाण, गोरखमुण्डी, इन्द्रजौ, अडूसा, भृंगराज, देवदारु, पाढल, खैर, रक्तचंदन, निशोथ, वरुण की छाल, चिरायता, वावची, अमलतास, वकायन की छाल, करज, अतीस, खस, इन्द्रायण की जड़, धमासा, अनन्तमूल, पित्तपापडा सब समभाग। उपर्युक्त के अनुसार मात्रा निर्माण एवं सेवन विधि।

---

१. मजिष्ठा त्रिफला तिक्ता वचा दारु निशाऽभया।
निम्बश्चैव कृत. क्वाथ सर्वकुष्ठं विनाशयेत्॥

पंचनिम्ब चूर्ण—निम्ब के पत्र, जड, छाल, पुष्प और फल इन्हे सम प्रमाण मे लेकर महीन कपडछान चूर्ण बनावे। मात्रा ३ माशे। अनुपान–घृत, गाय का दूध, आवले का स्वरस या जल के साथ।

खदिरारिष्ट–खैर की लकडी का बुरादा २०० तोले, देवदारु २०० तोले, बावची ४८ तोले, दारुहल्दी १०० तोले, हर्रे, बहेरा और आवला मिलाकर ८० तोले। इन सब को जौकुट कर ८१९२ तोले जल मे पका कर १०२४ तोले जल शेष रहने पर कपडे से छान ले। पीछे उसमे शहद ४०० तोले, चीनी ४०० तोले, धाय के फूल अस्सी तोले, कबाबचीनी, नागकेशर, जायफल, लौग, छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपात प्रत्येक ४-४ तोले और अनन्तमूल ३२ तोले इनका कपडछान चूर्ण मिला कर किसी पेचदार चीनी मिट्टी के बर्तन या मिट्टी के भाण्ड मे या सागौन की लकडी के पीपे मे मुँह बन्द करके एक मास तक पडा रहने दे। १ मास के बाद छानकर शीशियो मे भर ले। मात्रा २ तोले से ४ तोले बराबर पानी मिलाकर।

कुष्ठ मे घृत-प्रयोग—कुष्ठ रोग मे घृतो के प्रयोग से उत्तम लाभ होता है। तिक्त घृत, महातिक्त घृत, पचतिक्त घृत, महाखदिर घृत आदि श्रेष्ठ योग है। इनमे कुछ, पर उत्तम घृतो का योग नीचे दिया जा रहा है—

महातिक्त घृत (चरक)—छतिवन, अतीस, अमलताश, कुटकी, पाढ, नागरमोथा, खस, हर्रे, बहेरा, आवला, परवल की पत्ती, नीम, पित्तपापड़ा, धमासा, चन्दन, छोटीपीपल, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी, वच, इन्द्रायण की जड, शतावर, अनन्तमूल, अडूसा, कुटज की छाल, जवासा, मूर्वा, गिलोय, चिरायता, मुलैठी, और त्रायमाण प्रत्येक १-१ तोला लेकर कपडछान चूर्ण बनाकर पानी से पीस कर कल्क बनावे पश्चात् उसमें घी १२८ तोले, जल १०२४ तोले और आवले का रस २५६ तोले मिलाकर घृत का मद आच पर पाक करे। तैयार होने पर कपडे से छानकर काच के बरतन में भर ले। मात्रा १ तोला, प्रातः समय।

पंचतिक्त घृत—निम्ब की छाल, पटोलपत्र, कटकारी पंचाङ्ग, गिलोय, एव अडूसे को प्रत्येक ४० तोले लेकर १६ सेर जल मे पकावे। ४ सेर क्वाथ के शेप रहने पर उसमे घी १ सेर और त्रिफला कल्क २० तोले भर मिला कर पकावे।

सोमराजी घृत—खदिर ८ पल, वाकुची २ पल, त्रिफला, नीम, देवदारु, दारुहरिद्रा, पित्तपापडा १-१ पल, कटकारी २ पल। इन द्रव्यो को जो कुट कर के चतुर्गुण जल मे पका कर चौथाई शेप रहने पर उतार कर छानले। फिर बाकुची ४ पल, खदिर की छाल १ पल, परवल की जड, हरड, वहेरा, आवला,

त्रायमाणा, जवासा, कुटकी १-१ तोला और शुद्ध गुग्गुल का चूर्ण ८ तोला लेकर पानी मे पीस कर कल्क बनावे। इस कल्क से चतुर्गुण (२। सेर) गोघृत लेकर घृतपाक विधि से पाक करे। यह योग कुष्ठ की परमौषधि है। मात्रा ६ माशे से १ तोला।

पंचतिक्त घृत गुग्गुलु—नीम की छाल, गिलोय, अडूसा पचाङ्ग, पटोल पत्र और कंटकारी की जड प्रत्येक ८ तोला लेकर ३२ सेर जल मे क्वथित करे ४ सेर शेष रहने पर उतारे। फिर उसमें शुद्ध गुग्गुलु २४ तोले और गोघृत १ सेर लेकर मंद आच पर पकावे। जब पाक समीप आवे तो निम्नलिखित द्रव्यो का कल्क छोड़े और पाक करता चले। कल्क द्रव्य—पाठा वायविडङ्ग देवदारु, गजपीपल, सज्जीखार, यवक्षार, सोठ, हल्दी, सौफ, कूट, तेजबल, काली मिर्च, इन्द्रजौ, जीरा, चित्रक की छाल, कुटकी, शुद्ध भल्लातक, वचा, पीपरामूल, मंजिष्ठा, अतीस, हरड, बहेरा, आवला और अजवायन प्रत्येक १-१ तोला पाक के सिद्ध हो जाने पर कपडे से छान कर रख ले। मात्रा ६ माशे से १ तोला।

यह योग परम रक्तशोधक है। बहुविध रोगो में व्यवहृत होता है। उत्तम रक्त-शोधक है। कुष्ठ रोगो मे लाभप्रद है। गुग्गुलु के और कई योग जैसे एकविंशतिक गुग्गुलु तथा अमृताद्य गुग्गुलु भी कुष्ठ रोग मे उपयोगी है।

अमृतभल्लातक—इस योग का पाठ वातरोगाधिकार में हो चुका है। यह एक उत्तम रसायन है। वात रोगो तथा कुष्ठ रोगो म इस प्रयोग से उत्तम लाभ होता है। कुष्ट रोग की चिकित्सा मे अमृत भल्लातक की प्रशसा करते हुए ग्रथकार ने लिखा है 'कि जिस मनुष्य के कान, अंगुलियाँ, नासिका ये कुष्ठ के कारण गलकर गिर गये हो, सारा शरीर कुष्ठ कृमियो से व्याप्त हो रहा हो, गला विकृत हो गया हो, वह मनुष्य भी इस औषध-सेवन के प्रभाव से क्रमशः धीरे-धीरे जलवृष्टि से जैसे अंकुर और शाखायें निकलकर धीरे-धीरे पूरा वृक्ष बन जाता है, उसी तरह नष्ट हुए अग-प्रत्यग पुन विकसित होकर पूर्ण शरीर युक्त हो जाते है।[1]

धातवीय योग :-

तालकेश्वर रस—शुद्ध पत्र हरताल ४ तोले लेकर खरल में पीसकर चक्रमर्द स्वरस और सरफुंका के क्वाथ के साथ तीन-तीन घण्टे तक घोटकर चक्रिकायें बनावे, उन्हें सुखाकर एक हडिया में रखकर ऊपर-नीचे पलाश की राख

१. विशीर्णकर्णाङ्गुलिनासिकोऽपि क्रिम्यर्दितो भिन्नगलोऽपि कुष्ठी।
सोऽपि क्रमादङ्कुरिताग्रशाखस्तरुर्यथा भाति नभोऽम्बुसिक्त'॥ (भै. र.)

भरकर अग्नि पर चढाकर चौबीस घण्टे तक पाक करे। फिर इन टिकियो को निकालकर चक्रमर्द तथा शरपुंखा क्वाथ से घोटकर पुटपाक देना चाहिये। जब भस्म श्वेतवर्ण की हो जावे तथा उसके थोडे से भाग को प्रदीप्त अंगार पर रखने से धुँवा न निकले तब अच्छी प्रकार से मृत भस्म जान कर पुट देना बन्द कर देना चाहिये। मात्रा ⅛ रत्ती से ½ रत्ती तक। अनुपान घी एवं मिश्री। उपयोग बहुत प्रकार के कुष्ठ, रक्तदुष्टि, शीतपित्त और गलत् कुष्ठ मे लाभप्रद।

रसमाणिक्य—पत्रताल हरताल को लेकर उसे कुष्माण्ड स्वरस, दही के पानी और काजी मे पृथक्-पृथक् दोलायत्र विधि से नौ-नौ घण्टे तक, तीन-तीन दिनो तक स्वेदन करे। फिर उसको सुखाकर चावल के बराबर के टुकडे कर ले। अब इन टुकडो को एक मिट्टी के पात्र मे या शराव-सम्पुट मे एक श्वेतपत्र अभ्रक पत्र रखे, उस पर उन हरताल के टुकडो को रखकर ऊपर से दूसरे श्वेत अभ्रक पत्र से ढँककर पात्र के मुखपर एक सकोरा रखकर दोनो का मुख बन्द कर ले। बेर की पत्ती के कल्क से दोनो सकोरो के संधिस्थल के मुख को पूर्णतया बन्द कर देना चाहिये। फिर अग्नि मे रख कर पाक करे। जब पात्र के नीचे का भाग लाल रंग का हो जाय तो अग्नि देना बन्द करके, शीतल हो जाने पर माणिक्य के समान आभावाले रस को बाहर निकाल कर शीशी मे रख ले। मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती। गुडूची सत्व १ माशा, घी और मिश्री के अनुपान से दिन मे दो बार सुबह-शाम।

हरताल के योगो के, लम्बे समय तक, १ वर्ष या दो वर्ष तक भी, उपयोग की आवश्यकता महाकुष्ठो मे पडती है। कई बार इनके प्रयोग-काल मे रोगी मे रोग की प्रतिक्रिया होकर चकत्ते अधिक लाल रग के और स्पष्ट हो जाते है। ऐसी दशा मे कुछ दिनो तक औषधि का सेवन बन्द कराके प्रवाल पिष्टि ४ रत्ती प्रतिदिन देना चाहिये। फिर रसमाणिक्य का प्रयोग चालू करना चाहिये।

ब्रह्मरस—रस सिन्दूर १ तोला, शुद्ध गंधक, चित्रक मूल की छाल, बाकुची बीज, ढाक बीज प्रत्येक १२-१२ तोले तथा पुराना गुड ३० तोला, एकत्र शहद के साथ खरल करके ४–४ रत्ती की गोलियाँ बना ले। १-१ गोली दिन मे तीन बार पातालगरुडी के काढे के साथ सेवन।

गलत्कुष्ठारिरस—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, ताम्र भस्म, लौह भस्म, शुद्ध गुग्गुलु, चित्रक मूल, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध कुपीलु और त्रिफला प्रत्येक १-१ तोला, अभ्रक भस्म एव करंज बीज का चूर्ण प्रत्येक ४-४ तोले। घृत और मधु से घोट कर १ माशे की गोलियाँ बनावे। मंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से

औषधि का प्रयोग करे, चावल के भात और दूध का पथ्य रखे। इस प्रयोग से गलत्कुष्ठ ऐसे कोढी, जिनके आँख, कान, नाक और अंगुलि गल रहे हो, उनमे भी लाभ होता है।

सर्वेश्वर रस—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गंधक ४ भाग। एक प्रहर तक मर्दन करके कज्जली करे। फिर उसमे ताम्र भस्म, लौह भस्म, अभ्रभस्म, शुद्ध-हिंगुल ४-४ तोले, स्वर्ण-भस्म, रजत भस्म २॥-२॥ तोले, हीरक भस्म १ माशा, शुद्ध हरताल १० तोले। जम्बीरी नीवू, धतूर की पत्तो, थूहर की पत्ती, अर्क-पत्र प्रत्येक के स्वरस तथा शुद्ध कुचिला और कनेर के क्वाथ से पृथक्-पृथक् एक-एक दिन तक खरल करे। इस तरह एक सप्ताह तक घोटने के वाद गोली बनाकर चौपहे वस्त्र मे आवेष्टित करके कपड़मिट्टी कर वालुका यत्र मे रख मृदु अग्नि से तीन दिनो तक पाक करे। पश्चात् शीतल होने पर खूब महीन खरल करके उसमे शुद्ध वत्सनाभ विष का चूर्ण ५ तोला तथा पिप्पली चूर्ण १० तोला मिलाकर महीन पीस कर शीशी में भर दे। मात्रा २ रत्ती। अनुपान वाकुची और देवदारु चूर्ण १॥-१॥ माशे और एरण्ड तैल १ तोला। इसके प्रयोग से सुप्त और मण्डल कुष्ठ में लाभ होता है।

आरोग्यवर्धिनी—शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गधक १ भाग, लौह भस्म १ भाग, अभ्र भस्म १ भाग, ताम्र भस्म १ भाग, वड़ी हरड़ का दल २ भाग, आँवला २ भाग, वहेडा २ भाग, शिलाजीत ३ भाग, शुद्ध गुग्गुलु ४ भाग, चित्रक मूल की छाल ४ भाग और कुटकी २२ भाग ले। प्रथम पारद और गधक की कज्जली करके उसमें शेष द्रव्यो का कपडछान चूर्ण मिलावे। पीछे गुग्गुलु को नीम की ताजी पत्ती के स्वरस में ६ घटा तक भिगो कर मसलकर कपडे से छान कर उसमे अन्य द्रव्यो को मिला ले। फिर नीम की ताजी पत्ती के रस में तीन दिनो तक मर्दन करके तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ वना ले।

मात्रा १ से ३ गोली।

अनुपान—रोगानुसार जल, दूध, पुनर्नवा कषाय, दशमूल कषाय अथवा मूत्रल कषाय से।

गुण तथा उपयोग—वहुत प्रकार के रोगो मे इस योग का व्यवहार होता है। जैसे, जीर्ण विवध (पुरानी कब्ज), यकृत् दोष, उदर, यकृत्-प्लीहा-वृद्धि, सर्वांग शोफ, जलोदर, मेदो रोग आदि। यह उत्तम रक्तशोधक औषधि है। अस्तु, कुष्ठ रोग में या त्वग्गत रोगो में इसका व्यवहार होता है। हृद्य होने से हृद्-विकारो में भी लाभप्रद होती है। यह एक मूत्रल औषधि के रूप में सर्वांग शोफ एव जलोदर मे भी उपकारक है।

कुष्ठ में बाह्य प्रयोग--जैसा कि पूर्व मे उल्लेख हो चुका है-कुष्ठ रोग मे बहुत से त्वग्गत रोगो का समावेश हो जाता है--इन त्वचा के विकारो में कई प्रकार के लेप एवं तैलो का उपयोग किया जाता है। कुष्ठ मे त्वचागत दोषो को लेपो के द्वारा दूर करने के पूर्व दूषित रक्त का निर्हरण तथा आशयो का संशोधन भी अपेक्षित रहता है। तो भी जल्दी सफलता मिलती है।[1]

लेप :-

दद्रु-रकसा-विचर्चिका-कच्छु आदि में व्यवहृत होने वाले लेप-(Ringworm & Eczyma) मे—

कठजामुन की छाल दही के साथ पीसकर लेप।

मनःशिलादिलेप--मैनशिल, हरताल, काली मिर्च, इनमे प्रत्येक का १-१ तोला लेकर चूर्णित करके सरसो का तेल ४ तोला और अर्क क्षीर २ तोला मिलाकर खरल करके लेप बना ले। इस लेप से पुराने त्वक् रोगो में भी उत्ताम लाभ होता है।[2]

करञ्जादि लेप—करंज के बीज, चक्रमर्द के बीज तथा कूठ इनको पीसकर गोमूत्र मिलाकर लेप।[3]

आरग्वधादि लेप--रोगी के शरीर पर प्रथम सरसो के तेल का अभ्यंग करावे पश्चात् अमलताश, मकोय और कनेर के पत्तो को छाछ के साथ पीसकर उवटन लगावे। विविध प्रकार के त्वक् विकारो मे उत्ताम लाभ करता है।[4]

भल्लातकादि लेप--भिलावे का फल, चित्रक मूल, थूहर की जड, आक की जड, गुञ्जा का मूल या फल, सोठ, मरिच, पिप्पली, शख भस्म, नीला थोथा, कूठ, पाचो लवण, सज्जिक्षार, यवक्षार तथा कलिहारी इन सब द्रव्यो को सम मात्रा मे लेकर महीन चूर्ण बना कर कडाही मे चढाकर चौगुने थूहर या अर्क-क्षीर के साथ पाक कर लेना चाहिये। यह तीव्र क्षणन क्रिया करने वाला योग (Causticaction) है। इसका उपयोग लोहे की शलाका से सीमित स्थान पर करना चाहिए। इसका प्रयोग कुष्ठ के मण्डल (मोटे चकत्ते), अर्श के मस्से या चर्मकील पर करना चाहिये।

---

१ ये लेपा कुष्ठाना युज्यन्ते निर्गतास्रदोषाणाम्।
संशोधिताशयाना सद्य सिद्धिर्भवेत्तेषाम्॥

२ मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पय कुष्ठहर प्रदेह।

३ करजबीजैडगज. सकुष्ठ गोमूत्रपिष्टश्च वर. प्रदेह.।

४ पर्णानि पिष्ट्वा चतुरगुलस्य तक्रेण पर्ण्यान्यथ काकमाच्याः।
तैलाक्तगात्रस्य नरस्य कुष्ठान्युद्वर्तयेदश्वहनच्छदैश्च॥ (च)

कुकरौंधा १ भाग, सरसों का तेल ४ भाग, जल ८ भाग। तैल पाक विधि से पका ले। इसका अभ्यंग विचर्चिका में सिद्धयोग है।

दद्रु में लेप—चक्रमर्दादि लेप—चक्रमर्द का बीज, कासमर्द बीज या मूल, तुलसी पत्र, वायविडंग, कूठ, हरिद्रा, हरीतकी, श्वेत सरसों, सहजन की छाल, दूर्वा, शाल की गोंद और कपूर सम मात्रा में लेकर काजी में पीसकर गोली बनावे। नीबू के रस के साथ गोली को लगावे। प्राचीन ग्रन्थों में चक्रमर्द बीज का दाद में बहुत उपयोग पाया जाता है—इसका दूसरा नाम ही दद्रुघ्न बतलाया गया है।

दद्रुघ्नवटी—पारसीकयवानी (खुरासानी अजवायन), गन्धक, टंकण, राल एवं कपूर समान भाग लेकर काजी से पीस कर गोली बना ले। नीबू के रस में घिस कर दद्रुमण्डल पर लगावे।

पामा में लेप--

रसादि लेप—पारा, जीरा (सफेद एवं काला दोनों), हल्दी, आमाहल्दी, काली मिर्च, सिन्दूर, गंधक और मैनशिल सम भाग। प्रथम पारद एवं गंधक की कज्जली बना ले पश्चात् अन्य द्रव्यों के महीन चूर्णों को मिलाकर भली प्रकार से खरल कर ले। इस चूर्ण को घृत में मिलाकर पूरे शरीर में यदि खुजली हो तो मालिश करे। पश्चात् साबुन से स्नान कर ले। घी के अभाव में नारिकेल तैल में भी मिलाकर लेप किया जा सकता है। यह एक पामा में व्यवहृत होने वाला उत्तम और सिद्ध योग है। इससे सूखी और गीली दोनों प्रकार की खुजली या खारिशों में लाभ होता है। तीन दिनों के उपयोग से खुजली दूर हो जाती है।[1] इस योग में यदि दद्रुघ्न बीज का चूर्ण भी १ भाग मिला लिया जावे तो सभी प्रकार के कण्डुयुक्त त्वचा के रोगों में जैसे दद्रु, विचर्चिका प्रभृति रोगों में भी उत्तम लाभ देखा जाता है।

गंधक द्रव—गंधक १ भाग, चूने की कली १ भाग और जल १६ भाग।

सिध्म या सेहुंआ में लेप—१ अपामार्ग के स्वरस, गोमूत्र, मट्ठे या काजी के साथ मूली के बीज को पीसकर लेप करना, २. हल्दी को केले के रस से भिगो कर एक सप्ताह तक पड़ने दे, फिर उसे केले के रस में पीसे और लेप करे। ३ कासमर्द बीज, मूली के बीज, गंधक, यवक्षार, इन द्रव्यों को चूर्ण करके कड़वे

---

१. रसद्विजीरद्विनिशामरीचसिन्दूरदैत्येन्द्रमनःशिलानाम्।
चूर्णीकृताना घृतमिश्रिताना त्रिभिः प्रलेपैरपयाति पामा। (वै. जी.)

तेल मे मिलाकर लेप करना। ४ कूठ, मूली के बीज, प्रियङ्गु, सरसो, हल्दी इन द्रव्यो को समभाग मे लेकर चूर्ण करे, उसमे छठाँ भाग केशर मिलावे, फिर काजी, गोमूत्र या तक्र के साथ पीस कर लेप करने से बहुत वर्ष के सिध्म मे भी लाभ होता है। ५ आँवला, राल और यवक्षार को काजी मे पीस कर उबटन करना। ६. अमल्ताश की पत्ती को काजी के साथ पीसकर लगाना। ७. मूली का बीज, सफेद सरसो, नीम की पत्ती और गृहधूम समभाग मे लेकर पानी से पीसकर मक्खन मिलाकर पूरे शरीर पर लगावे फिर गर्म जल से स्नान करे तो तीन दिनो मे सिध्म (सेंहुवा) दूर होता है।[1]

८. कपास की पत्ती, काकजघा और मूली के बीज को मट्ठे से पीसकर मगल के दिन उबटन लगाने से सिध्म शीघ्र दूर होता है।[2]

कच्छु—काछ—एक प्रकार की दद्रु या विचर्चिका जो अधिकतर गुह्यागो पर चूतड, वृषण एवं गुदा प्रभृति उपागो मे होता है। वृषणकच्छु (Scaotol Ecrsyma) एक प्रसिद्ध रोग है—जो प्राय. हठी स्वरूप का होता है। है। इसमें दो लेपो का उपयोग उत्तम रहता है—१ बाकुचों, कासमर्द के बीज, चक्रमर्द बीज, हल्दी, आमाहल्दी, सेंधानमक। समभाग मे लेकर चूर्ण बनाकर। मट्ठे या काजी से पीसकर लेप करना। २ अडूसे के कोमल पत्ते और हल्दी को लेकर गोमूत्र में पीस कर लेप करना।

कुष्ठ रोग मे व्यवहृत होनेवाले तैल—

० अर्क तैल—सरसो का तेल १ सेर, अर्कपत्रस्वरस ४ सेर, मन शिला तथा हल्दी को सम मात्रा मे लेकर पीसकर ऽ। कल्क से यथाविधि तैल सिद्ध कर ले। यह खुजली मे लाभप्रद रहता है।

करवीर तैल—श्वेत करवीर (श्वेत कनेर) की जड का क्वाथ तथा गोमूत्र ४-४ सेर, वायविडङ्ग और चित्रक की छाल २-२ छटाँक, तिल तैल १ सेर। यथाविधि पाक करके अभ्यग। सभी प्रकार त्वक् रोगो मे उपयोग।

कृष्ण सर्प तैल—कृष्ण सर्प वसा को सोमराजी तैल में मिलाकर लगाने से गलत् कुष्ठ में लाभप्रद होता है।

---

१ बीज मूलकज निम्बपत्राणि सितसर्पपान्।
गृहधूमं च सम्पिष्य जलेनागं प्रलेपयेत्॥
उद्वर्त्य नवनीतेन क्षालयेदुष्णवारिणा।
त्र्यहादनेन सिध्मानि शाम्यन्त्याशु शरीरिणाम्॥

२. कार्पासिकापत्रविमिश्रकाकजघाकृतो मूलकबीजयुक्त.।
तक्रेण लेप क्षितिपुत्रवारे सिध्मानि सद्यो नयति प्रणाशम्॥ (यो. र.)

मरिचादि तैल—काली मिर्च, हरताल, मनःशिला, नागरमोथा, आक का दूध, कनेर की जड, जटामासी, निशोथ, गोबर का स्वरस, इन्द्रायण की जड, कूठ, हरिद्रा, देवदारु, श्वेतचंदन प्रत्येक २-२ तोले लेकर कल्क बनावे। फिर सरसो का तेल १ सेर और गोमूत्र ४ सेर लेकर यथाविधि पाक कर ले। सभी प्रकार के कुष्ठो में इसके अभ्यंग से लाभ होता है।

मरिचादि तैल नाम से दो पाठ मिलते है। एक लघु जिसका ऊपर में योग दिया गया है। एक बृहत् मरिचादि तैल-जिसमे अधिक औषधियों का योग है। यह वैद्य-परम्परा में व्यवहृत होनेवाला एक व्यापक योग है।

सोमराजी तैल—दो योग इस तैल के भी हैं लघु तथा बृहत्। तैल का पाठ दिया जा रहा है। बाकुची बीज, चक्रमर्द बीज ६।-६। सेर लेकर जल ३२ सेर शेष ८ सेर पृथक्-पृथक् दोनो का क्वाथ बनाकर गोमूत्र ४ सेर, सरसो का तेल १ सेर। कल्कार्थ द्रव्य-चित्रक एवं कलिहारी मूल, सोंठ, कूठ, हल्दी, करंजबीज, हरताल, मन शिला, अपराजिता, आक की जड, कनेर का जड़, सप्तपर्ण की छाल, गोबर, खदिर की छाल, निम्बपत्र, काली मिर्च और कासमर्द के बीज या मूल का चूर्ण १-१ कर्ष लेकर कल्क बनाकर तैल पाक विधि से पाक कर ले। सभी प्रकार के त्वग्गत रोग तथा कुष्ठ में लाभप्रद।

तुवरकाद्य तैल—केवल चावल मोगरा का तैल अथवा—बाकुची और चन्दन का तेल मिलाकर शरीर पर लगाना उत्तम कुष्ठनाशक उपाय है।[1]

श्वेत कुष्ट चिकित्सा—सफेद कोढ को दूर करने के लिये बाह्य तथा आभ्यंतर दोनो प्रकार के प्रयोगो की आवश्यकता रहती है। बाह्य प्रयोग में व्यवहृत होने वाले कुछ उत्तम योगो का नीचे संग्रह दिया जा रहा है। श्वित्र की चिकित्सा में[2] बाकुची एक महत्त्व का स्थान रखती है। इसके बाह्य तथा आभ्यंतर प्रयोग का विधान ऊपर में बाकुची योग के नाम से बताया जा चुका है। यहाँ कुछ अन्य योगों का उल्लेख किया जा रहा है।

१. **गुंजाफलचित्रक लेप**—गुंजा के फल और लाल चीते की छाल को समभाग मे लेकर गोमूत्र में पीसकर लगाना। २. मन.शिला और अपामार्ग को

---

१ वैवस्वतद्रुमसमुद्भवबीजतैलं कुष्ठापहं निखिलचर्मरुजापहञ्च।
अभ्यञ्जनं निगदितं ननु वैद्यवर्य्यैर्भूयोऽनुभूय भुवि रोगिजनेष्वजस्रम्॥
(भै. र.)

२. कुर्व बाकुचीबीजं (१६ तोला) हरितालपलान्वितम् (४ तोला)।
गवां मूत्रेण सम्पिष्य लेपनाच्छ्वित्रनाशनम्॥

जलाकर उसकी राख को गोमूत्र मे भिगोकर लगाना। ३. सफेद जयन्ती के मूल की छाल को गोमूत्र में पीसकर लगाना। ४. वाकुची वीज और हरताल का महीन चूर्ण वनाकर गोमूत्र से पीसकर लेप करना। ५ **गजादि चर्म मसी**—हाथी, चीता और शेर के चमडे को जलाकर काजल वनाकर लेप करना। ६ पूतिकीट को सरसो के तेल मे पीसकर लगाना। ७ **श्वित्रहर लेप**—अर्क मूलत्वक्, हल्दी, आमा हल्दी, वाकुची, हरताल समभाग चूर्ण वनाकर गोमूत्र के साथ श्वित्र पर लेप करना। ८ काकनासा की पत्ती के कल्क या स्वरस का लेप। ९ **गजलिण्ड योग**—हाथी के मल को अच्छी तरह सूखने पर जलाकर उसकी राख को जल में घोलकर सात बार निथारकर प्राप्त क्षार जल मे जल से दशमाश वाकुची वीज का चूर्ण डालकर अग्नि पर पकावे। चिक्कन होने पर गुटिका वना ले। इस गुटिका को पानी मे घिसकर श्वित्र पर लगाने पर श्वित्र नष्ट होता है। और त्वचा सवर्ण हो जाती है। १०. **वाकुची तैल**—शुद्ध वाकुची के तैल का श्वित्र पर लगाना भी उत्तम लाभ करता है। ११ सोमराजी, पचानन या आरग्ववादि तैल का लेप भी उत्तम रहता है।

ओष्ठ-श्वित्रहरलेप—ओष्ठश्वित्र कष्टसाध्य होता है। इसके लिये गधक, चित्रक, कासीस, हरताल, वहेरा और आँवले को जल मे पीसकर ओष्ठ के श्वित्र पर लगाने से लाभ होता है।

श्वित्र मे लेप प्राय तीक्ष्ण होते हैं। फलतः इनके लगाने से कई बार त्वचा पर छाले पड जाते हैं। छाले हो जायँ तो औषध प्रयोग कुछ दिनो के लिये वन्द कर देना चाहिये। छालो को सूई से विद्ध करके जल को स्रवित करके पुनः लेप का उपयोग करना चाहिये।

पंचानन तैल—अंकोठ (ढेरा), कडवी तरोई, एरण्ड, तुलसी, वाकुची एवं चक्रमर्द के वीज, पिप्पली, मन.शिला, कासीस, हरड, कूठ, वायविडङ्ग को दो-दो तोले लेकर कल्क करे, सरसो का तेल, गोमूत्र, गोदधि, गोदुग्ध, वकरी का मूत्र प्रत्येक १ सेर और जल ४ सेर मिलाकर कडाही मे अग्नि पर चढाकर पाक करे। इस सिद्ध तैल का श्वित्र मे लेप करे। प्रथम श्वित्र स्थान को ताम्र के पैसे मे रगड ले पश्चात् तैल को लगावे।

आरग्वधाद्य तैल—अमलताश तथा धव की छाल, कूठ, हरताल, मन.शिला, हरिद्रा, दारुहरिद्रा प्रत्येक तीन-तीन तोले भर कल्क वनावे फिर १ सेर तैल और ४ सेर पानी मिलाकर तैल का पाक कर ले। उपयोग पूर्वोक्त तैलवत्।

श्वित्रकुष्ठ मे अन्तः प्रयोग की औषध

१ शुद्ध गन्धक या गन्धक रसायन ४ रत्ती–१ माशा तक घृत और शकरा के साथ ऊपर से आँवला और खैर का काढा पिलावे । सुबह और शाम दिन मे दो बार । अथवा केवल धात्री और खदिर (आँवले और कत्थे) का काढ़ा में वाकुची बीज १ माशा मिलाकर पिलाना भी श्वित्र में हितकर होता है ।[1]

२ वाकुची बीज का खाने में उपयोग—प्रतिदिन १-२ माशा चूर्ण का जल, दूध या गोघृत के साथ लगातार एक पक्ष या मास तक सेवन करना । दूसरे वर्धमान वाकुची सेवन का ऊपर मे उल्लेख हो चुका है । दोनो में जो रोगी को अनुकूल प्रतीत हो उस विधि का प्रयोग करे । इसके प्रयोगकाल में घृत का सेवन रोगी को कराना चाहिये और भोजन में सात्त्विक आहार देना चाहिये ।

२. विभीतक और काष्ठोदुम्बर की छाल का काढा कर उसमें वाकुची बीज का प्रक्षेप करके सेवन ।

श्वेतारिरस—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, हरड़, बहेरा, आँवला, भृङ्गराज, वाकुची, शुद्ध भल्लातक, काली तिल, निम्ब बीज का चूर्ण १-१ तोले । भृङ्गराज स्वरस की भावना देकर ४ रत्ती की गोलियाँ बना ले । मात्रा १-२ गोली दिन मे दो बार । अनुपान ६ माशा घृत एवं ८ माशा मधु ।

४. पंचनिम्ब चूर्ण प्रभृति अन्य भी कुष्ठाधिकार के योगों का सेवन रक्त-शोधन के निमित्त श्वित्र में किया जा सकता है ।

उपसंहार—कुष्ठ एक दीर्घ काल तक चलनेवाला रोग है । इसमें चिकित्सा लम्बे समय तक ६ मास, एक वर्ष, दो वर्ष या अधिक अवधि तक करनी होती है । लम्बी अवधि तक पथ्य एवं औषधि सेवन करते हुए रोगी घबडा जाता है । कुष्ठ के रोगियो मे एक विचित्रता और पाई जाती है कि उनके लिये जो पथ्य कर आहार-विहार आदि का उपदेश वैद्य करता है—उसके विपरीत रोगी छिपाकर आचरण करना चाहता है । अस्तु, दृढता-पूर्वक उपचार करने की आवश्यकता रहती है । इसके अतिरिक्त रोगी को सात्त्विक आहार, उदार विचार, परोपकार की प्रवृत्ति तथा देवोपासना को भी आवश्यकता रहती है । कुष्ठाधिकार में वर्णित चिकित्सा का सम्यक्तया अनुपालन करने से कुष्ठ रोग में लाभ निश्चित होता है ।

विपादिका कुष्ठ—इसको पाददारी (Rhagades) भी कहते हैं । इस रोग में वायु की अधिकता या रूक्षता से हाथ एवं पैर या केवल पैर फट जाता है ।

---

१. धात्रीखदिरयो: क्वाथं पीत्वा च मधुसंयुतम् ।
शंखकुन्देन्दुधवलं जयेच्छ्वित्रं न संशय ॥

यह रोग कई वार सामान्य रूप का और कई वार कुष्ट के उपद्रव रूप मे पाया जाता है। इस अवस्था मे निम्नलिखित योगो का लेप उत्तम लाभ दिखलाता है।

सर्जरसादिलेप—राल, सेंधानमक, गुग्गुलु, गेरु, गुड, घृत, मोम, शहद प्रत्येक एक-एक तोला लेकर कडाही मे सबको एकत्रित करके पका लेना चाहिये। इस लेप से परो का फटना निश्चित रूप से अच्छा हो जाता है। (भै. र)

जीवन्त्यादि लेप—जीवन्तीमूल, मजीठ, दारुहल्दी और कबीला प्रत्येक का कपडछान चूर्ण ४-४ तोला और नीलाथोथा का चूर्ण १ तोला इन को जल मे पीसकर कल्क करे। पीछे उसमे तिल का तेल ३२ तोले, गाय का घी ३२ तोले, गाय का दूध ६४ तोले और पानी २५६ तोले मिलाकर स्नेहपाक-विधि से पकावे। जब स्नेह सिद्ध हो जाय तो उसे उतार—छानकर थोडा गर्म करके उसमे राल का चूर्ण ८ तोला और मोम ८ तोला मिला कर कपडे से छानकर कॉच के वरतन मे भर ले। अथवा उसको एक सौ वार पानी से धोकर कॉच या चीनी मिट्टी के पात्र मे भर कर और ऊपर चार अगुल तक ठंडा जल डालकर रख छोड़े। ४-४ दिनो पर ऊपरका जल बदलता रहे। उपयोग—विना धोये मल्हम को हाथ-पांव के तलो के फटने और पाँव की अंगुलियो के बीच के हिस्से मे पकने या सडने में लगावे। धोये हुए मल्हम को अग्निदग्ध व्रणो, पामा, कण्डु और अर्श के मस्सो पर लगावे। (सि. यो. सं०)

मधूच्छिष्टादि लेप—मोम, मुलैठी, लोध, राल, मजीठ, श्वेत चंदन और मूर्वा प्रत्येक ४-४ तोले तथा घी ६४ तोले लेवे। प्रथम मुलैठी, लोध, मजीठ, चदन, राल और मूर्वा इनका कपडछान चूर्ण कर पानी मे पीस कर फिर उसमे घी और मोम मिलाकर घृतपाकविधि से पकावे। घृत तैयार होने पर कपडे से छान कर शीशी में भर ले। उपयोग—त्वचा के विदार, कुष्ठ, व्रण एव अग्निदग्ध व्रणो मे लेप रूप मे उपयोग करे।

●

चालीसवां अध्याय

शीतपित्त-प्रतिपेध

रोग परिचय—त्वचा पर ततैयो के काटने (वरटीदश) के समान सूजन जो छोटी-छोटी फुन्सी या चकत्ते के रूप मे एव बहुसख्यक पैदा होती है तथा जिसमे खुजली, सूई चुभाने कीसी पीडा, जलन एव कई वार वमन और ज्वर भी

होता है, उसे शीतपित्त कहते है । इसी को कुछ विद्वान उदर्द भी कहते है । शीतपित्त मे कुछ वायु की अधिकता और उदर्द मे कफाधिक्य पाया जाता है ।[1]

इसी से मिलता हुआ एक कोठ रोग भी होता है जो हेतु एवं लक्षण की दृष्टि से शीतपित्त या उदर्द से कुछ भिन्न स्वरूप का होता है । वमन के हीन योग या मिथ्या योग या अति योग से अथवा निकलते हुए कफ एवं अन्न के वेग को धारण करने से इनकी उत्पत्ति होती है । इनमे लाल रंग के बडे-बड़े अनेक चकत्ते निकलते हैं । ये अल्प काल तक रहते हैं– इनमे पुनरुद्भव की प्रवृत्ति नही रहती है । शीतपित्त एवं उदर्द मे बार-बार होने की प्रवृत्ति पाई जाती है ।[2]

शीतपित्त एव उदर्द का आधुनिक ग्रंथो में (urticaria) नाम से और कोठ रोग का (Angioneurotic) नाम से वर्णन पाया जाता है । ये सभी त्रिदोष रोग है । परन्तु जैसा कि नाम से स्पष्ट है ये शीत और पित्त अर्थात् दोनों के प्रभाव से पैदा हो सकते हैं । फलतः इनमे पित्त और श्लेष्म दोषो की प्रधानता रहती है । आधुनिक विद्वान इनकी उत्पत्ति मे एक प्रकार की अनूर्जता (Allergy) को कारण मानते हैं, जो किसी असात्म्य द्रव्य के सम्पर्क मे आने से या भोजन मे सेवन किये जाने (Unsuitable protien or Histamin producing substances) से उत्पन्न होती है । इसमे कई प्रकार के विषो के जैसे संखिया, क्विनीन आदि के सेवन काल मे, अथवा कृमिदंश के प्रभाव से या आन्त्रगत कृमियो की उपस्थिति से अथवा विकृत मत्स्य, मास, अण्डा, कई प्रकार के शाक के सेवन से अथवा विविध प्रकार के तृणो के पराग के नाक के सम्पर्क में आने से (Hay fever) शीतपित्त की उत्पत्ति मुख्यतया पाई जाती हैं ।

क्रियाक्रम[3]—शीतपित्तादि रोगो मे कडवे तैल का अभ्यंग, उष्ण जल से

---

१ वरटीदंशसंस्थान शोफः संजायते बहिः ।
सकण्डुतोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान् ॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥

२ मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।
उत्कोठ सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥

३. अभ्यंगकटुतैलेन सेकश्चोष्णेन वारिणा ।
ततस्तु वमनं कार्यं पटोलारिष्टवासकैः ॥
त्रिफलापुरकृष्णाभिर्विरेकश्चात्र शस्यते ।
सर्पिः पीत्वा महातिक्तं कार्यं शोणितमोक्षणम् ॥

स्नान, वमन एवं विरेचन तथा शोणितमोक्षण कराना प्रशस्त है। रोग की क्रिया-क्रमों में वमन एवं विरेचन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वमन के लिये-पटोल, निम्बपत्र और मदन फल का उपयोग तथा विरेचन के लिये त्रिफला चूर्ण का मधु के साथ सेवन उत्तम रहता है। शीतपित्त मे संशोधन के पश्चात् निम्न लिखित संशमन योगो को देना चाहिये। ये सभी द्रव्य क्रिया मे Anti allergic or anti histaminic प्रतीत होते हैं।

१. **मधुयष्टि एवं शर्करा योग**—मुलैठी ६ माशा और मिश्री १ तोला मिलाकर जल से सेवन। प्रात.-सायम्।
२ **आमलकी एवं गुड योग**—आँवले का चूर्ण ६ मा०, पुराना गुड १ तोला मिलाकर जल से सेवन। प्रातः-सायम्।
३. **अजवायन एवं गुड योग**—अजवायन ३ माशे, पुराना गुड १ तोला मिला कर लेना। प्रात –सायम्।
४ **घृत-मरिच योग**—काली मिर्च ३ माशे, घृत १ नोला मिला कर सेवन। प्रात सायम्।
५. **अरणीमूल-घृत योग**—अरणोमूल का चूर्ण ६ माशे १ तोला घृत के माथ नेवन। प्रात.-सायम्।
६ **आर्द्रक गुड योग**—अदरक ३ माशे, पुराना गुड १ तोला मिलाकर सेवन। प्रातः सायम्।
७ **हरिद्रा चूर्ण**—३ माशे मिश्री या मधु १ तोला के साथ सेवन। प्रात -सायम्।
८ **गुडूची**—का क्वाथ वनाकर मधु के साथ सेवन। प्रात –सायम्।
९ **गाम्भारी फल**—पके गाम्भारी फल का दूध के साथ सेवन करना। प्रात -सायम्।
१० **निम्व पत्र**—निम्वपत्र एवं आँवले का चूर्ण समभाग मे लेकर ३-६ माशे घृत के साथ सेवन। प्रातः-सायम्।
११. **पिप्पली**—पिप्पली चूर्ण १ माशा घृत के साथ सेवन। प्रात·-सायम्।
१२ **लशुन**—का घृत के साथ सेवन। प्रात -सायम्।
१३ **पुनर्नवा**—पुनर्नवा मूल ६ माशे, हरीतकी बडी २, मरिच ७ अदे और मिश्री २ तोले का शर्वत वनाकर लेना। प्रात -सायम्।
१४ **त्रिफला**—त्रिफला चूर्ण ३ माशे की मात्रा में मधु के साथ सेवन। प्रात.-सायम्।

नवकार्षिक क्वाथ—हरड, विभीतक, आँवला, नीम की छाल, मजीठ, वच, कुटकी, गिलोय और दारु हरिद्रा इन नौ द्रव्यो मे से प्रत्येक को एक एक कर्ष लेकर अष्टगुण जल मे पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर मधु

मिला कर पिलाना चाहिये । एक कर्ष का आधुनिक मान से १ तोला होता है । फलत: इस क्वाथ को बना कर नौ हिस्से में बाँट लेना चाहिये । एक बार बना लेने पर तीन दिनो तक दिन मे तीन मात्रा देकर पिलाया जा सकता है । इस कपाय के पीने से वातरक्त, कुष्ठ, शीतपित्त, कोठ प्रभृति रोगो मे उत्तम लाभ होता है । शीतपित्त मे यह एक सिद्ध कषाय है ।

अमृतादि कषाय—गिलोय, अडूसा, परवल की पत्ती, नागरमोथा, छतिवन की छाल, खैर की छाल, काला बेंत, निम्बपत्र, हरिद्रा, दारु हरिद्रा । प्रत्येक सम-भाग । इन ओपधियो को जौकुट कर एकत्र करके २ तोले की मात्रा मे लेकर अष्टगुण जल मे पकाकर चतुर्थांश शेप रखकर मधु के साथ पिलाना चाहिये । यह विसर्पाधिकार का कपाय है, शीतपित्त और मसूरिका रोग में उत्तम लाभप्रद है ।

मधुयष्ट्यादि कपाय—मुलैठी, महुवे का फूल, रास्ना, रक्तचंदन, श्वेत-चंदन, निर्गुण्डी और पिप्पली को समभाग मे लेकर २ तोला का कषाय बनाकर सेवन शीतपित्तघ्न होता है ।

हरिद्रा खण्ड—घी में किंचित् भुनी हरिद्रा चूर्ण ½ सेर, गोघृत ६ छटाँक, गोदुग्ध ४ सेर, शक्कर ३ सेर २ छटाँक । अग्नि पर चढाकर यथाविधि पकावे । जब पाक गाढा होने लगे तो उसमे सोठ, मरिच, छोटी पीपल, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, वायविडङ्ग, निशोथ, आँवला, हरड, बहेरा, नागकेशर, मोथा और लौह भस्म पाँच पाँच तोले लेकर महीन कपडछान चूर्ण बनाकर मिलावे और करछी से पाक को चलाता रहे । मात्रा ½ से १ तोला । अनुपान उष्ण जल । यह जीर्ण और हठी शीतपित्त मे लाभप्रद परमौषधि योग है ।

विश्वेश्वर रस—रससिन्दूर, ताम्रभस्म, तीक्ष्ण लौहभस्म, प्रवालभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गधक, कायफल, मेषश्रृङ्गी, वच, सोठ, भारंगी, हरड़, नेत्रवाला तथा धनिया का चूर्ण प्रत्येक १-१ तोला भर लेकर पटोलपत्र का स्वरस या क्वाथ से एक दिन तक खरल करे । पश्चात् १ माशे की गोली बनाकर सुखाकर शीशी में भर लेवे । मात्रा १ गोली सुबह-शाम । अनुपान—मधु । सहपान-मकोय का स्वरस और सेंधा नमक ।

इन योगो के अतिरिक्त बृहद् योगराज गुग्गुलु या कैशोर गुग्गुलु या आरोग्य-वर्धिनी या मारिवाद्यासव या अमृतारिष्ट या कनकासव का भी उपयोग शीतपित्त रोग में आवश्यक और यथालाभ किया जा सकता है । शीतपित्तादि रोगो में कई बार १ रत्ती रससिन्दूर के साथ प्रवाल भस्म १-२ रत्ती और गुडूचीसत्त्व १ माशा मिलाकर घी-चीनी के अनुपान से देना भी उत्तम रहता है । कई बार गैरिक का बाह्य तथा आभ्यतर प्रयोग भी लाभप्रद रहता है । इसके लिये

कामदुघा चूर्ण (शुद्ध सुवर्ण गैरिक मे आमलकी स्वरस की ७ भावना देकर निर्मित) २-४ माशे की मात्रा मे उष्ण जल के अनुपान से देना अथवा सद्धामृत योग (शुद्ध सुवर्ण गैरिक १ भाग, गोदन्ती २ भाग, शुद्ध स्फटिका ३ भाग और गुडूची सत्त्व ४ भाग मिश्रण से निर्मित) १-२ माशा की मात्रा मे घी और शक्कर के अनुपान से दिये जा सकते है।

वाह्य प्रयोग—उदर्दादि रोग मे जव चकत्ते वहुत निकल गये हो उनमें खुजली एव जलन वहुत हो तो निम्नलिखित लेपो मे से किसी एक का व्यवहार करना चाहिये।

सिद्धार्थ लेप—श्वेत सरसो, हरिद्रा, कुष्ठ, चक्रमर्द वीज और तिल सम भाग मे लेकर महीन चूर्ण वनाकर या पानी से पीसकर उसमें सरसो का तेल मिलाकर उवटन जैसे लगाना।

दूर्वादि लेप—हरी दूव, हल्दी को जल में पीसकर गुनगुना करके लगाना। या क्षार जल में या चूर्ण के पानी मे पीसकर लगाना।

क्षारजल—सज्जीखार, यवाखार या सोडा वाई कार्व को पानी में घोल कर सरसो का तैल मिलाकर लगाना।

दार्वी तैल—दारु हरिद्रा, तुलसी, मुलैठी, गृहधूम (रसोई घर का कज्जल), और हरिद्रा प्रत्येक १, १, भाग लेकर कल्क करे उसमे सरसो का तेल कल्क से चतुर्गुण और तैल से चतुर्गुण जल डालकर मद अग्नि पर तैल का पाक कर ले। इस तैल के लेप से शीतपित्त का शीघ्रता से शमन होता है।

कोठ-रोग मे क्रियाक्रम—शीतपित्त एव उदर्द रोग में जो चिकित्सा-क्रम बतलाया गया है, उसी क्रम से कोठ रोग में भी चिकित्सा रखनी चाहिये। कुष्ठ रोग तथा अम्लपित्त रोग में भी जो चिकित्सा वतलाई गई है वह भी शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ रोग मे लाभप्रद रहती है। विशेषत रक्तशोधन के विचार से महातिक्त घृत का सेवन कोठ रोग मे करना चाहिये और रोगी का सिरावेध करके रक्तविस्रावण कराना हितकर होता है।[1]

शीतपित्तादि मे पथ्यापथ्य—गरिष्ठ अन्न-पेय, दूध के विकार जैसे-खोआ, रबडी, मलाई, दही प्रभृति, ईख के विकार जैसे—गुड, राव आदि, शूकर, मछली आदि आनूपदेशज मास या जलजीवो के मास, नवीन मद्य, पूर्व तथा दक्षिण दिशा की

---

१. कुष्ठोक्त च क्रम कुर्यादम्लपित्तघ्नमेव च।
उदर्दोक्ता क्रियाञ्चापि कोठरोगे समासत.॥
सर्पि· पीत्वा महातिक्त कार्यं रक्तस्य मोक्षणम्।

ठंडी हवा का सेवन, शीतल जल से स्नान, धूप का अधिक सेवन, दिन का सोना, वेगो का रोकना, स्निग्ध एवं अम्ल पदार्थो का अधिक उपयोग, मैथुनकर्म शीतपित्त के रोगियो मे विषवत् होते हैं—अस्तु इन आहार-विहारो का रोगी को पूर्णतया परित्याग करना उचित है।

रोगी को पथ्य रूप में हल्का एवं सुपच्य आहार देना चाहिये। जैसे पुराना अन्न, मूग, कुल्थी आदि की दाल, जागल पशु-पक्षियो के मासरस, खेखसा, करैला, मूली, पोई का शाक, वेंत की कोपल, अनार, त्रिफला, मधु आदि का सेवन लाभप्रद रहता है। संक्षेप मे श्लेष्मा और पित्त को नष्ट करने वाले कटु-तिक्त एवं कषाय रस द्रव्य रोगी के लिये अनुकूल पडते हैं।

उपसंहार—शीतपित्त एव उदर्द एक हठी स्वरूप के रोग होते हैं। वर्षों तक चलते रहते हैं। अल्प काल तक चलने वाले रोगो मे तो स्वल्प उपचार से ही लाभ हो जाता है। परन्तु जीर्णकालीन रोगो मे पूर्ण पथ्य-व्यवस्था के साथ उपचार करने की आवश्यकता पडती है। अध्यायोक्त क्रियाक्रम, एकौषधि योग तथा बड़े योगो का यथावसर उपयोग करते हुए रोग का निर्मूलन संभव रहता है।

●

इकतालीसवां अध्याय

अम्लपित्त प्रतिषेध

रोग परिचय—विरुद्ध भोजन, दूषित भोजन, अत्यधिक अम्ल, विदाह पैदा करने वाला तथा पित्तप्रकोपक भोजन एवं पेय से अथवा पित्त को कुपित करने वाले कारणो से व्यक्ति का पित्त विदग्ध हो जाता है—जब विदग्ध पित्त की वृद्धि हो जाती है तो उस रोग को अम्लपित्त कहते हैं। सुश्रुत मे पित्त का स्वाभाविक या प्राकृतिक रस कटु बतलाया है और विकृत हो जाने पर पित्त विदग्ध कहलाता है और उसका रस अम्ल हो जाता है। अम्लपित्त रोग मे यही अवस्था उत्पन्न हो जाती है "अम्लं विदग्ध च तत् पित्तम् अम्लपित्तम्।"[1]

आधुनिक दृष्टया इस रोग को आमाशय शोथ (Gasteritis) कहते हैं। प्राङ्गोदीय (Carbohydrates) का पाचन ठीक न होने से, आमाशय की

---

१ विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः॥

श्लेष्मलकला के शोथ युक्त होने से या अत्यन्त क्षोभक पदार्थों जैसे गर्म मिर्च-मसाले, धूम्रपानादि से यह रोग होता है। इस रोग मे प्राय अम्लातिशय (Hyperacidity) पाई जाती है क्वचित् इसके विपरीत स्थिति अर्थात् अम्लाल्पता (Hypo acidity) से भी अम्लपित्त सदृश लक्षण पैदा हो सकते हैं। अस्तु, अम्लपित्त मे अम्लातिशय, अल्पता या अभाव भी हो सकता है।

लक्षण—अम्लपित्त मे सामान्यतया भोजन का न पचना, विना परिश्रम के थकावट, मिचली, कड़वी या खट्टी डकारें, शरीर मे भारीपन, उदर मे भारीपन, हृदय प्रदेश तथा गले में जलन, भोजन मे अरुचि प्रभृति लक्षण पाये जाते हैं। अम्लपित्त के दो प्रकार है—ऊर्ध्वग तथा अधोग।[1]

साध्यासाध्यता—यह अम्लपित्त रोग नवीन होने पर यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से भी ठीक हो जाता है, पुराना होने पर यह याप्य और किसी किसी मे कृच्छ्रसाध्य भी होता है।[2]

क्रियाक्रम—अम्लपित्त रोग मे संशोधन आवश्यक होता है। एतदर्थ सर्वप्रथम पटोलपत्र, निम्बपत्र, मदनफल सम भाग मे लेकर कषाय बनाकर मधु मिलाकर वमन कराने के लिये देना चाहिए। वमन से ऊर्ध्वग दोषो के अथवा श्लेष्म दोष के निर्हरण के अनन्तर पित्त दोष के निर्हरण के लिये मृदु विरेचन देना चाहिए। अम्लपित्त मे रेचनार्थ त्रिवृत् (निशोथ) का चूर्ण ४ माशा मधु से अथवा त्रिफला चूर्ण ६ माशे या कषाय एक छटाँक की मात्रा मे पिलाना चाहिये। नये अम्लपित्त में वमन-विरेचन कराना ही पर्याप्त होता है, परन्तु यदि रोग पुराना हो तो वमन, विरेचन के अतिरिक्त स्थापन एवं अनुवासन वस्ति कर्म भी आवश्यक होता है।

अम्लपित्त रोग मे शीतपित्त एव उदर्द की भाति ही कफ तथा पित्त दोषो की प्रबलता पाई जाती है। अस्तु, वमन एव विरेचन आदि संशोधनो से इनके निर्हरण हो जाने के पश्चात् संशामक पथ्य, आहार एव औषधि की व्यवस्था

---

१. अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद् भिषक्॥

२ रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् संसाध्यते नव। चिरोत्थितो भवेद्याप्य. कृच्छ्रसाध्यश्च कस्यचित्॥ तस्य संशोधनं पूर्वं कार्यं पश्चाच्च भेषजम्। पूर्वं तु वमनं कार्यं पश्चान्मृदु विरेचनम्॥ कृतवान्तिविरेकस्य सुस्निग्धस्यानुवासनम्। स्थापनं च चिरोत्थेऽस्मिन् देयं दोषाद्यपेक्षया॥ अम्लपित्ते प्रयोक्तव्यः कफपित्तहरो विधि। पाचनं तिक्तबहुलं पथ्यं च परिकल्पयेत्॥

करनी चाहिये । तिक्त रस द्रव्यो का पाचन एवं पथ्य रूप में अम्लपित्त में उपयोग करना चाहिये ।

पथ्यापथ्य—अम्लपित्त के रोगी को तिक्तभूयिष्ठ आहार एवं पेय देना उत्तम है । तीक्ष्ण द्रव्य जैसे मिर्च, गर्म मसालो से रहित भोजन देना चाहिये । जौ, गेहूँ और धान के लाज का सत्तू मीठा बना कर देना चाहिये । चावल एवं दाल का व्यवहार–भोजन पूर्णतया बन्द कर देना चाहिये । अम्लपित्त मे कोई भी दाल प्रशस्त नही है, वैसे मूग की दाल का सेवन किया जा सकता है । जाङ्गल पशु-पक्षियो के मासरस, चीनी, मिश्री, बताशे, मधु, खौलाकर ठंडा किया जल प्रशस्त है । शाक-सब्जियो में अम्लपित्ती को परवल, करैला, खेखसा, मूली, लौकी, तरोई, नेनुवा, हिलमोचिका, सोआ, पालक, बथुवा, चौलाई, चने का शाक, वेत्र के कोपल, पका कुष्माण्ड, केले के फूल प्रशस्त है । फलो में कैथ, नारियल, केला, पका आम, मोसम्मी, आँवला, अनार वेदाना, मुनक्का, गुलकद, आँवले का मुरब्बा, वेर तथा अन्य कफपित्तशामक तिक्त, कषाय एवं मधुर रस प्रधान द्रव्य प्रशस्त है । गाय या भैंस का दूध भी अम्लपित्त में अनुकूल पडता है ।[1] ताजा मक्खन या घी भी दिया जा सकता है । मसालो में धनिया, जीरा, हल्दी, अदरक, कागदी नीवू, सेंधा नमक, आदि का उपयोग उत्तम है ।

नया अन्न विशेषत. चावल, विरोधी अन्न, पित्तप्रकोपक भोजन, तिल, उडद, की दाल, वेगन, मछली, कुलथी, तैल, मिर्च-मसाले, दही, भेंड का दूध, काजी, लवण, अम्ल एव कटु रस द्रव्य, गरिष्ठ भोजन और मद्य आदि द्रव्य अम्ल पित्त मे अनुकूल नही पडते है । अस्तु, अम्लपित्ती को इन पदार्थो का परित्याग करना चाहिये । तेल में तली पूडी, पकौडी, आदि अपथ्य है ।

अम्लपित्त मे सामान्यतया गेहूँ, जौ की रोटी, मूंग की दाल या साबूत मूग का जूस और ऊपर में कथित शाक-सब्जियो का व्यवहार रखना चाहिये । रोटी, शाक और दूध पर्याप्त मात्रा मे रोगी को दिया जा सकता है । स्नेहो में थोडे घी या मक्खन का सेवन रखा जा सकता है । अम्लपित्त रोग मे पथ्यकर आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिये । पथ्य आहार के अभाव मे यह रोग अच्छा नही होता है । अम्लपित्त एक हठी रोग है, वर्षो तक चलता हुआ रोगी के लिये रोग न रहकर भोग स्वरूप बन जाता है—इस लिये पथ्य को अनुकूल

---

१. तिक्तभूयिष्ठमाहारं पानञ्चापि प्रकल्पयेत् ।
यवगोधूमविकृतीस्तीक्ष्णसंस्कारवर्जिताः ।
यथास्वं लाजशक्तून् वा सितामधुयुतान् पिवेत् ।

रखना परमावश्यक है। अच्छा हो जाने पर भी अपथ्य होने से इसके पुनरुद्भव की संभावना रहती है। पुराने अम्लपित्त को याप्य व्याधि शास्त्रकारों ने बतलाई है। अस्तु, इस रोग में पथ्यकर आहार-विहार की विशेष महत्ता दी गई है।

आँवला—आँवले का उपयोग अम्लपित्त में श्रेष्ठ है। आँवले के स्वरस ६ माशे से १ तोला का १ तोला मिश्री के साथ सेवन या आँवले का चूर्ण ६ माशा का मिश्री या मधु से सेवन उत्तम लाभ करता है।

पिप्पली—पिप्पली चूर्ण १–२ माशा का मधु ६ माशे के साथ सेवन।

कुष्माण्ड—स्वरस १ तोला दूध मे मिलाकर लेना अथवा कुष्माण्ड स्वरस में गुड मिलाकर लेना।

जम्बीरी नीबू—स्वरस १ तोला की मात्रा मे सायंकाल मे पीना। कागजी नीबू का रस भी पानी मे डालकर साय काल मे ३ बजे पीना लाभप्रद रहता है।[1]

हरीतकी चूर्ण या त्रिफला चूर्ण—३ माशे की मात्रा मे मधु से दिन में दो बार। त्रिफला सेवन का एक और भी विधान है। त्रिफला चूर्ण ६ माशे लेकर कान्त लौह पात्र पर लेप कर दे। रात भर व्युषित होने पर दूसरे दिन उसको निकालकर मधु के साथ सेवन करना।[2]

भृंगराज—भृंगराज का चूर्ण ३ माशा, हरीतकी चूर्ण ३ माशा मिश्रित कर १ तोला पुराने गुड के साथ सेवन।

आर्द्रक या शुण्ठी—सोठ ४ माशा, पटोलपत्र ८ माशे भर लेकर १६ तोले जल में खौलाकर ४ तोले शेष रख क्वाथ मे मधु मिलाकर सेवन।

मधुयष्टी—चूर्ण ५ माशा मधु के साथ सेवन।

त्रिवृत् चूर्ण—६ माशा मधु से सेवन।

जौ—जौमण्ड (बार्ली वाटर) का सेवन अम्लपित्तघ्न होता है। यदि तुषरहित जौ, पिप्पली और पटोलपत्र का क्वाथ बनाकर मधु के साथ दिया जाय तो अधिक लाभ होता है।

अंगूर या द्राक्षा—का मिश्री के साथ मिश्रित करके सेवन उत्तम रहता है।

---

१. पिप्पली मधुसयुक्ता अम्लपित्तविनाशिनी।
जम्बीरस्वरस पीत साय हन्त्यम्लपित्तकम्॥

२ कान्तपात्रे वराकल्को व्युषितोऽभ्यासयोगत.।
सिताक्षौद्रसमायुक्तः कफपित्तहर स्मृतः॥

कपित्थ या बदर—पकी लाल बेर या कैथ को चटनी जैसी बनाकर उसमें अदरक, मिश्री और सेंधानमक मिलाकर भोजन के साथ सेवन करना अम्लपित्त में लाभप्रद रहता है।

सर्जिकाक्षार—सोडा बाय कार्ब—२ माशे की मात्रा में लेकर एक शीशे के ग्लास में रख तीन छटाँक जल मे घोलकर एक कागजी नीबू का रस छोडकर दिन में एक बार सायंकाल में तीन बजे लेना उत्तम लाभ दिखलाता है। 'सोडावाटर' का पानी भी उत्तम है।

नारिकेल—नारिकेल की गिरी या जल-डाब का पानी अम्लपित्त में उत्तम लाभ करता है।

वासादशाङ्ग कषाय—अडूसा, गिलोय, पित्तपापडा, नीम की छाल, चिरायता, भृङ्गराज, आँवला, हरड, बहेरा और पटोलपत्र को समभाग मे ग्रहण करे। फिर उन्हें जौकुट करके २ तोले द्रव्य का ३२ तोले जल में क्वथित करके ८ तोले शेष रहे तो उतार-छान कर ठंडा होने पर शहद मिलाकर सेवन करना अम्लपित्त में अद्भुत लाभप्रद पाया गया है।[1]

द्राक्षादि चूर्ण—मुनक्का, धान का लावा, श्वेत कमल, मुलेठी, गुठली निकालकर छुहारा, अनन्तमूल, वंशलोचन, खस, आँवला, नागरमोथा, सफेद चदन, तगर, कबाबचीनी (शीतल मिर्च), जायफल, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची, नागकेशर, छोटी पीपल और धनिया सब समभाग तथा मिश्री सब के बराबर लेकर कपडछान चूर्ण करे। मात्रा १–३ माशे। अनुपान शीतल जल दिन मे तीन-चार बार चार-चार घटे के अन्तर से दे। उत्तम पित्तशामक योग है।

अविपत्तिकर चूर्ण—सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, हर्रे, बहेरा, आँवला, नागरमोथा, नौसादर, वायविडङ्ग, छोटी इलायची और तेजपात प्रत्येक १–१ तोला, लवङ्ग ११ तोला, निशोथ का मूल २२ तोला, मिश्री ४४ तोले लेकर महीन कपडछान चूर्ण बना कर रख ले। मात्रा ३–६ माशे अनुपान दूध, जल या नारिकेल जल। यह अम्लपित्त की एक सिद्ध औषधि है।

द्राक्षादि गुटिका—धोकर बीज निकाली हुई मुनक्का १ भाग, गुठली निकाली बडी हर्रे एक भाग, मिश्री २ भाग। प्रथम मुनक्के को महीन पीसे।

---

१ वासाऽमृतापर्पटकनिम्बभूनिम्बमार्कवैः।
त्रिफलाकुलकैः क्वाथः सक्षौद्रश्चाम्लपित्तहा। (भै. र.)
भूनिम्बनिम्बत्रिफलापटोलवासामृतापर्पटमार्कवाणाम्।
क्वाथो हरेत् क्षौद्रयुतोऽम्लपित्तं चित्तं यथा वारवधूकटाक्ष ॥ (वै. जी.)

पीछे उसमें हरें और मिश्री का कपडछान चूर्ण मिलाकर १ तोले के गोले बना ले। १–२ गोले रात मे सोते वक्त कुनकुने जल से सेवन करे। इसके सेवन से कब्जियत दूर होती है, छाती और कंठ की जलन जो अम्लपित्त मे प्राय. पाई जाती है, दूर होती है। (सि. यो मं.)

नारिकेल खण्ड—नारिकेल की ताजी गिरी १६ तोले लेकर भली प्रकार से पीसले फिर उसमे ४ तोला घी छोडकर अग्नि पर चढा हलका भुने। पश्चात् उसमें नारिकेलजल ६४ तोले और मिश्री का चूर्ण १६ तोले डाल कर पाक करे। आसन्न पाक होने पर उसमें निम्नलिखित द्रव्यो का महीन चूर्ण बनाकर डाले। प्रक्षेप द्रव्य—धनिया, पिप्पली, नागरमोथा, वशलोचन, जीरा सफेद, जीरा स्याह, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र और केशर प्रत्येक ३ माशे। अम्लपित्त, छर्दि तथा परिणाम शूल में यह उत्तम योग हैं। **मात्रा** १–२ तोला। **अनुपान**-दूध।

खण्डकुष्माण्डावलेह्—पके पेठे का रस ४०० तोले, गाय का दूध ४०० तोले, आमलकी चूर्ण ३२ तोले, मिश्री या चीनी ३२ तोले। मंदाग्नि से पाक करे। पाक के सिद्ध होने पर अम्लपित्त मे प्रयोग करे। **मात्रा** २ तोले से ४ तोला प्रतिदिन। **अनुपान** जल या दूध।

सौभाग्य शुंठी—सोठ, मरिच, पिप्पली, हरड, बहेडा, आँवला, भृङ्गराज, श्वेत जीरा, स्याह जीरा, धनिया, कूठ, अजवाइन, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, काकडाश्रृङ्गी, कायफल, मोथा, छोटी इलायची, जायफल, जटामासी, तेजपात, तालीसपत्र, नागकेशर, गधमातृका, कचूर, मुलेठी, लवङ्ग, लालचन्दन १–१ तोला तथा सोठ २८ तोला (सभी चूर्ण के बराबर) चीनी ११२ तोला, गोदुग्ध २२४ तोला लेकर यथाविधि पाक करले। **मात्रा** १ तोला। **अनुपान** गोदुग्ध या शीतल जल।

गुण—यह औषधि बहुत से रोगो मे लाभप्रद होती है। इसका विशेप प्रयोग प्रसवकाल में, सूतिका रोग मे तथा अम्लपित्त के पौष्टिक योग के रूप मे होता है। इस योग का ताजा प्रयोग करना ही लाभप्रद रहता है।

नारायण घृत—पिप्पली १ सेर लेकर १० सेर जल मे क्वथित कर २॥ सेर शेप रखे। इस क्वाथ को ले उसमें २॥ सेर गोघृत, गिलोय का स्वरस १ सेर, आँवले का स्वरस पौने चार सेर। कल्कार्थ—मुनक्का, आँवला, पटोलपत्र, सोठ एवं वच प्रत्येक ४ तोले। घृतपाकविधि से घृत को बनाले। **मात्रा** १–२ तोला। **अनुपान**—१ पाव दूध मे घोल कर ले।

धात्र्यरिष्ट--पाण्डुरोगाधिकार का भोजन के बाद २ तोला समान मात्रा में जल मिलाकर लेना। अम्लपित्त में उत्तम लाभ दिखलाता है।

रस के योग--

सूतशेखररस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, सुवर्ण भस्म, रौप्य भस्म, ताम्र भस्म, शख भस्म, शुद्ध टंकण, सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, दालचीनी, तेजपात छोटी इलायची, नागकेशर, शुद्ध धतूरे का वीज, पके वेल की मज्जा और कचूर प्रत्येक सम भाग। प्रथम पारद एव गधक की कज्जली करे पश्चात् अन्य द्रव्यो का कपडछान चूर्ण मिलाकर, भृङ्गराज स्वरस की २१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ वनाकर छाया में सुखाकर रख ले। मात्रा—१ गोली दिन में चार वार। अनुपान—१॥ माशा शहद और ३ माशा घी के साथ। पश्चात् मीठे वेदाना का रम या शर्वत पिलावे। उपयोग—अम्लपित्त, छाती का जलन, चक्कर आना, मूर्च्छा, वमन, पेट का शूल आदि पित्तदोषज विकारो में लाभप्रद रहता है।

लीलाविलास रस—शुद्ध पारद, शुद्ध गंधक, अभ्र भस्म, ताम्र भस्म, लोह भस्म प्रत्येक का ४-४ तोले लेकर उसमें आमलकी स्वरस या क्वाथ, विभीतक कषाय, भृङ्गराज स्वरस या कषाय की पृथक् पृथक् तीन-तीन भावनायें देकर २ रत्ती की गोलियां वनाले। मात्रा—१-२ गोली दिन में दो वार। अनुपान—आमलकी स्वरस, कुष्माण्ड स्वरस और मिश्री के साथ।

अम्लपित्तान्तक लौह—रससिन्दूर, ताम्र भस्म, लौह भस्म प्रत्येक १-१ तोला, हरीतकी चूर्ण ३ तोला एकत्र मिला लें। मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती दिन में दो वार मधु से।

सितामण्डूर—अच्छी वनी मण्डूर भस्म ४ तोला, मिश्री २० तोला, पुराना गोघृत ३२ तो०, गोदुग्ध ६४ तोला लेकर या लोहे की कडाही में डालकर यथाविधि पका कर कुछ उष्ण रहते ही उसमें सोठ, मरिच, पीपर, छोटी इलायची, दुरालभा (यवासा), वायविडग, आँवरा, हर्रा, वहेडा, कूठ, लौंग एक-एक तोला मिलावे। पुन. शीतल होने पर शहद ८ तोला मिला लेवे। सेवन-विधि—शुभ मुहूर्त के दिन भोजन के पूर्व प्रथम दिन १॥ माशे की मात्रा में प्रारम्भ कर प्रति दिन थोडा थोडा वढाकर एक एक तोले सेवन करें। तथा चन्द्रमा के किरणो से शीतल हुये दुग्ध का अनुपान करें। गुण—यह दिव्य 'सितामडूर' अम्लपित्त तथा तज्जन्य शूल, वमन, आनाह, मूर्च्छा, प्रमेह तथा अनेक प्रकार के रक्तजन्य विकारो को नष्ट करता है।

श्रीविल्वतैल—कच्चे विल्व फल की मज्जा ४०० तोला तथा जल २ द्रोण

(३२ सेर) लेकर क्वाथ करे अष्टमाशावशेष अर्थात् आठ सेर शेष रहने पर छान ले तथा उसमें १ सेर तिल का तेल, १ सेर आँवले का स्वरस, बकरी का दूध १ सेर एवं कल्कार्थ-आँवला, लाक्षा, हरड़, मोथा, लाल चन्दन, गन्धवाला, सरल काष्ठ, देवदारु, मजिष्ठा, श्वेत चन्दन, कूठ, इलायची छोटी, तगर, जटामासी, शैलेयक (छैल छरीला), तेजपात, प्रियगु, अनन्तमूल, वच, शतावर, असगन्ध, सौफ, पुनर्नवा का मिलित कल्क १ पाव भर लेकर, यथाविधि तैल सिद्ध कर लेवे और बोतलो मे भर कर मुखबन्द करके १ मास तक रख दे। उसके वाद इसे अभ्यग एव नस्यादि रूप मे प्रयुक्त करें।

इस तैल का मुख से सेवन १ तोले की मात्रा मे १ पाव दूध मे मिलाकर या नस्य रूप में नासाछिद्रो से ४–६ बूद या अभ्यङ्ग के रूप मे करने से अम्लपित्त मे लाभ होता है।

बयालीसवां अध्याय

वाजीकरण

निरुक्ति :—महाफलवती रसायन ओषधियो के सेवन के अनन्तर उनकी अपेक्षा अल्पफलवान् वाजीकरण योगो की चाह मनुष्य को करनी चाहिये। वाजीकरण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है 'वाज शुक्रम् (वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य, सोऽस्यास्तीति वाजी।' वह जिसको है वह हुआ वाजी), अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति-वाजीकरणम् अर्थात् अवाजी को वाजी जिस क्रिया के द्वारा किया जाता है उस क्रिया को वाजीकरण कहते है। वाजीकरण शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति भी है। वाजी कहते है घोडे को, जिस क्रिया से घोडे के समान अप्रतिहत सामर्थ्य होकर युवक पुरुष युवती के पास जाता है उसको वाजीकरण कहा जाता है। वाजीकरण के फलस्वरूप पुरुष स्त्रियो के लिए अतिप्रिय होता है, उसका शरीर पुष्ट होता है क्योकि वह शरीर को वल एव कान्ति विशेष रूप से देता है।

वाजीकरण का उपयोग नित्य करना चाहिये। रसायन औषधियो का प्रयोग एक वार किया जाता है, परन्तु, इसका सेवन आत्मवान् पुरुष को नित्य करना होता है। जिस प्रकार शरीर की वृद्धि एवं पुष्टि के लिए आहार की नित्य

आवश्यकता होती है उसी प्रकार शुक्र की पुष्टि एवं वृद्धि के लिये और शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिये वाजीकरण की सदा आवश्यकता रहती है।

वाजीकरण शब्द की एक तीसरी व्युत्पत्ति भी ग्रंथो में पाई जाती है। वाज शब्द से मैथुन कर्म का अर्थ ग्रहण करने से वाजी का अर्थ होगा मैथुन-शक्ति-सम्पन्न। फिर वाजीकरण का समूह में अर्थ हुआ अवाजी अर्थात मैथुन-शक्ति-रहित पुरुष, मैथुन शक्ति से समर्थ जिस क्रिया द्वारा बनाया जावे उसको वाजीकरण कहते हैं। अस्तु, वाजीकरण संज्ञा से पुंस्त्व का ही बोध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुंस्त्व को बढानेवाली क्रिया को वाजीकरण कहते हैं।

अंग्रेजी में इस प्रकार की क्रिया वाली औषधियो को Aphorodiasic or Sexstimulent कहा जाता है।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति से स्पष्टतया यह ज्ञात हो रहा है कि वाजीकरण पद मे दो शब्द है वाजी तथा करण। वाजी शब्द का तीन अर्थों मे व्यवहार होता है वाजी एक अर्थ शुक्रवान्, दूसरा अर्थ घोडा और तीसरा अर्थ पुंस्त्व या पुरुषत्व है और करण का एक ही अर्थ है करना या बनाना। अस्तु, वाजीकरण का अर्थ होगा आदमी को Potent बनाना-अर्थात् क्षीणबल पुरुष Impotent man को जिस क्रिया द्वारा आजीवन बलवान् (Potent man) बनाया जावे उस चिकित्सा-पद्धति को वाजीकरण कहा जाता है। जैसा निम्नलिखित सूत्रों मे स्पष्ट है :—

१ वाजः—शुक्रम् तदस्यातीति वाजी अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्।

२. वाजी नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसंज्ञितम्।
वाजीकरणसञ्ज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते॥

३ येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
येन वाऽप्यधिकं वीर्यं वाजीकरणमेव तत्॥

४ चिन्तया जरया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात्।
क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां याति निषेवणात्॥ (भै० र०)

५ सेवमानो यदौचित्याद् वाजीवात्यर्थवेगवान्।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते॥ (सु० चि० ३६)

६. वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गनाः।
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते॥
तद्वाजीकरणं तद्धि देहस्योर्जस्करं परम्।

७. वाजीकरणमन्विच्छेत् सततं विषयी पुमान्॥ (वा० ३-४०)

८. येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिक येन वाजीकरणमेव तत्॥ (चरक-चि० २)
वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्।
९ यद् द्रव्यं पुरुषं कुर्याद् वाजिवत् सुरतक्षमम्।
तद् वाजीकरण ख्यातं मुनिभिर्भिषजा वरैः॥ (यो० र०)

अर्थात् विविध प्रकार की चिन्ता, वृद्धावस्था, व्यायामादिक कर्म, पंचकर्म, अनशन तथा अतिस्त्रीसेवन से शुक्र का क्षय होता है। जिस औषध, आहार एवं विहार के द्वारा वीर्यहीन मनुष्य स्त्रियो के साथ सम्भोग करने मे अश्व के समान शक्ति प्राप्त करले उसे वाजीकरण कहते है। अथवा जिस क्रिया के द्वारा वीर्य की अति वृद्धि होती हो उसे वाजीकरण कहते हैं। वाजपद से मैथुन का अर्थ ग्रहण करने से वाजी शब्द का अर्थ मैथुन-शक्ति वाला हुआ, अत जिस औषध से मैथुन-शक्ति रहित पुरुष मैथुन-शक्ति सम्पन्न बनाया जाता है, वह वाजीकरण कहलाता है।

अत वाजीकरण शब्द से पुंस्त्व का ही बोध किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुंस्त्व को बढानेवाली औषधि को वाजीकरण कहते है।

जिन औषधियो का उचित मात्रा मे उपयोग करने से घोडे के समान अत्यधिक वेगवान होकर स्त्री को तृप्त करने का सामर्थ्य मनुष्य मे प्राप्त होता है, उसे वाजीकरण कहा जाता है। इसके उपयोग से पुरुष स्त्रियो के लिये अति प्रिय हो जाता है और स्त्री तथा पुरुष दोनो का शरीर अधिक शक्तिशाली हो जाता है। फलत विषयी पुरुष को नित्य वाजीकरण का सेवन करना चाहिये अर्थात् वाजीकरण प्रक्रिया का नित्य उपयोग करना चाहिये।

वाजीकरण शब्द की परिभाषा बनाते हुए आचार्य सुश्रुत ने लिखा है :— वाजीकरण तत्र उस तत्र को कहते हैं—जिसमे स्वभाव से अल्पवीर्य वाले व्यक्ति का आप्यायन (पूरण), दुष्ट वातादि दोषो से दूषित वीर्यवाले व्यक्ति का प्रसादन, अत्यधिक क्षय को प्राप्त हुए क्षीण वीर्य व्यक्ति का उपचय या वृद्धि करना, वृद्धावस्था या प्रौढावस्था मे शुष्क वीर्य वाले व्यक्ति का शुक्रोत्पादन तथा स्वस्थ व्यक्ति मे शुक्र की वृद्धि एवं स्राव करने के निमित्त उपचार बतलाये जावें।

वाजीकरणतन्त्र नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसाम् आप्यायनप्रसादोपचय-जननिमित्त प्रहर्षजननार्थञ्च। (सु० सू० १)

वाजीकरण का माहात्म्य—आयुर्वेद के आठ प्रधान अग या विभाग बतलाये गये है उसमे एक अन्यतम अग वाजीकरण माना जाता है। रसायन

तन्त्र के पश्चात् दूसरा महत्त्व का तन्त्र यह वाजीकरण तन्त्र है । रसायन तन्त्र का मुख्य लक्ष्य आरोग्य एव दीर्घ जीवन की प्राप्ति है । इस दीर्घ जीवन की प्राप्ति के अनन्तर प्राण का परिपालन, धनार्जन (धन का कमाना), धर्मार्जन (धर्म का संग्रह करना), पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है । इन कर्त्तव्यो का तीन एपणावो या इच्छावो के नाम से या पुरुषार्थों के नाम से प्राचीन ग्रथो मे वर्णन पाया जाता है साथ ही इनके प्राप्त करने की महत्ता भी वतलाई गई है । इतना ही नही पुरुष को पुरुष तभी कहा जाता है जव वह तीनो एपणावो की प्राप्ति में सदैव तत्पर रहता है । इसीलिये इन्हें पुरुषार्थ भी कहते हैं— पुरुपार्थ चार होते है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । एपणायें वहुविध होती हुई भी तीन वडे वर्गों में समाविष्ट है—प्राणैपणा, धनैपणा तथा परलोकैपणा । पुरुप का पौरुप (शारीरिक वल) तथा पराक्रम (मानसिक वल) का सर्वोत्कृष्ट फल इसी में निहित है कि वह सदैव त्रिविध एपणावो या पुरुपार्थों की प्राप्ति में तत्पर रहे । पुरुपार्थयुक्त पुरुप को पुरुप कहा जाता है, दूसरे को नही । पुरुपार्थ के अभाव में वह पशुतुल्य ही रहता है ।

आचार्य चरकने भी लिखा है कि मनुष्य को अपने शरीर, मन, वुद्धि, पौरुष तथा पराक्रम से इसलोक तथा पर लोक मे हित का विचार करते हुए तीनो प्रकार की एपणावो की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये । उदाहरण के लिए प्राणैपणा, धनैपणा तथा परलोकैपणा के प्रति ।

"इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्ववुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एपणाः पर्येष्टव्या भवन्ति । तद्यथा प्राणैपणा, धनैपणा, परलोकैपणेति ।" (चर० सू० ११)

मनुष्य को इच्छावो में से सर्वप्रथम इच्छा प्राण (जीने) की होती है क्योकि प्राण के त्याग से सव कुछ चला जाता है । इसके पालन के लिये स्वस्थ को स्वस्थवृत्त के सूत्रो का आचरण, रोग हो जाने पर रोग के सद्यः प्रशमन के उपाय करते हुए दीर्घायुष्य को प्राप्त करना प्रथम इच्छा होनी चाहिये । प्राण के अनुपालन के अनन्तर दूसरी इच्छा धन के साधन की होनी चाहिये । कृपि, व्यवसाय या नौकरी करके धन का संग्रह करना चाहिये । प्राणैपणा एव धनैपणा मे कामनामक पुरुपार्थ-चतुष्टय का अन्तर्भाव हो जाता है क्योकि शरीर सम्पत्ति और धन-सम्पत्ति से काम का ही पोषण होता है । यह कामैपणा स्वतः उत्पन्न होती है । फलत इसके सम्बन्ध में अधिक उपदेश की अपेक्षा नही रहती यह प्रकृति से स्वयमेव उत्पन्न होती है । परलोकैपणा से धर्म और मोक्ष प्रभृति अन्तिम पुरुपार्थों का ग्रहण हो जाता है ।

अब इस कामैषणा की तृप्ति के लिये बहुविध कामशास्त्र के ग्रंथ उपलब्ध होते है जिनमे काम केलियो के विविध उपाख्यानो का वितृस्त वर्णन पाया जाता है। इस कामशास्त्र के सहायभूत अग वाजीकरण तत्र है। यह विशुद्ध वैद्यक का विषय है। इसका सीधा सम्बन्ध एक प्रधान पुरुषार्थ या एषणा अर्थात् काम वासना के साथ है—अस्तु, वैद्यक शास्त्र मे एक पृथक् तत्र रूप मे या अग रूप इसका वर्णन पाया जाना युक्तियुक्त है।

वस्तुत. ऐहिक सुखो में तीन ही सुख प्रधान माने गये है—"सुत वित नारि ईषना तीनी, केहि के मति नहि कीन मलीनी" ससार मे सुख की लिप्सा से मनुष्य धनार्जन करना, अधिक से अधिक स्त्री-सेवन तथा पुत्र को उत्पत्ति करना इन तीन ही इच्छाओ से प्रेरित होकर व्याकुल रहता है। इन तीनो एषणावो को सम्यक् रीति से प्राप्ति का साधन वाजीकरण तन्त्र के द्वारा ही सभव है अतएव इस तन्त्र का बडा महत्त्व है। चरकाचार्य ने इसी लिये लिखा है—वाजीकरण के अधीन हा धर्म, अर्थ, काम, यश तथा श्रेष्ठ पुत्र की उत्पत्ति रहती है :—

तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च।
पुत्रस्यायतन ह्येतद्गुणाश्चैते सुताश्रयाः। (च० चि० २)

आज के युग में इस विषय का महत्त्व कम नही है। कामवासना कारक, कामोत्तेजक, वीर्योत्पादक, सन्तानोत्पादक तथा वीर्यस्तम्भक योगो के सेवन की चाह दिनो दिन लोक मे बढती जा रही है। ऐसे समय मे वाजीकरणाध्याय की चर्चा अधिक उपयुक्त सिद्ध हो रही है।

वाजीकरण के गुण या फल—वाजीकरण के सेवन से पुरुष को तुष्टि (प्रसन्नता), पुष्टि (बल), गुणवान् सतान, अबाधित रूप से सतान-प्रवाह (वश-परम्परा का अक्षुण्ण बना रहना) तथा तुरन्त तात्कालिक प्रहर्षण प्रभृति लाभ होते हैं। इसके सेवन से शरीर को विशेष रूप से बल एव कान्ति की प्राप्ति होती है।

अल्पसत्त्व व्यक्ति के लिये, रोग से दुर्बल शरीर वाले कामी व्यक्ति के लिये, शरीर की क्षय से रक्षा के लिये मुख्यरूप से वाजीकरण तन्त्र का उपदेश किया गया है।

नीरोगी, युवा एव वाजीकरण सेवन करने वाले पुरुष के लिये सब ऋतुओ मे प्रतिदिन भी मैथुन निषिद्ध नही है।

तुष्टिः पुष्टिरपत्य च गुणवत्तात्र सश्रितम्।
अपत्यसन्तानकर यत्सद्यः सम्प्रहर्षणम्॥
तद् वाजीकरण तद्धि देहस्योर्जस्कर परम्॥ (वा० उ० स्था० ४०)

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि वाजीकरण के मुख्यतया तीन ही लक्ष्य हैं। १ स्त्री मे प्रीति पैदा करना २. संतानोत्पादन तथा ३ सद्यः कामतृप्ति के लिये बल या हर्ष का पैदा करना। देश-बल-काल-व्यक्ति का विचार करते हुए यथावश्यक एवं यथालभ्य इन वाजीकरण के साधनो का सेवन करना चाहिये। सेवन के पूर्व व्यक्ति के मल का शोधन करके तदनन्तर वृष्य योगो का अनुष्ठान करना चाहिये।

एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः।
सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया॥ (सु. चि. २६)

वाजीकरण के विषय—अधिक कामी या विषयी पुरुष को नित्य वाजीकरण योगो का सेवन करना चाहिये। पुरुष ही वाजीकरण के सेवन का अधिकारी है। उसी को आवश्यकता भी है। स्त्री और नपुसक को नही। क्योकि पुरुष सक्रिय होता है स्त्री निष्क्रिय (Active & Passive)। दूसरा कारण यह है कि स्त्रियो मे प्रकृति से पुरुपो को अपेक्षा आठ गुना रति को शक्ति होती है.—

'पुग्रहण स्त्रीपण्ढादिनिवृत्त्यर्थम्। पुरुषग्रहण बालात्यन्तवृद्धनिरसनार्थम्। न पुनः स्त्रीपण्ढव्युदासार्थम्, तेषा तु वाजीकरणप्राप्तेः इति जेज्जटः।'

पुरुष शब्द के कहने से तरुण पुरुष (युवक पुरुष) समझना चाहिये। क्योकि बालको में अर्थात् सोलह वर्ष की आयु के पूर्व अथवा वृद्धो मे अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् वाजीकरण का सेवन व्यर्थ या अकिंचित्कर होता है। उक्ति भी पाई जाती है कि अत्यन्त बाल्यावस्था मे मनुष्य के धातु, सम्पूर्णतया बने नही रहते है ऐसी आयु में स्त्रीगमन से वह उसी प्रकार सूख जाता है जिस प्रकार तालाब का स्वल्प जल ग्रीष्म ऋतु में सूख जाता है। अस्तु बाल्यावस्था मे मैथुन निषिद्ध है। इसी प्रकार रूखा, सूखा, घुन लगा और जर्जर पेड जिस प्रकार छूने मात्र से ही गिर जाता है उसी तरह अत्यन्त वृद्ध पुरुष स्त्रीसंग से।

अतिबालो ह्यसपूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्।
उपशुष्येत सहसा ताडागमिव काजलम्॥
शुष्कं रूक्ष तथा काष्ठ जन्तुजग्धं विजर्जरम्।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धस्त्रियो व्रजन्॥ (च चि. २)

योगरत्नाकर ने वाजीकर योगो के सेवन की आयु बतलाते हुए स्पष्टतया लिखा है कि सोलह वर्ष की आयु के पूर्व या सत्तर वर्ष की उमर के पश्चात् वाजीकर योगो का उपयोग नही करना चाहिये। क्योंकि आयु की चाह रखने वाले व्यक्ति को सोलह के पूर्व या सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् मैथुन कर्म का पूर्णतया परित्याग कर देना चाहिये—अन्यथा, करने मे अकाल-मृत्यु का भय

रहता है। इस प्रकार सोलह वर्ष से लेकर सत्तर वर्ष की आयु तक वाजीकरण या वृष्य योगो के सेवन करने की काल-मर्यादा बताई गई है :—

सप्तत्यन्त प्रकुर्वीत वर्षादूर्ध्वं तु षोडशात् ।
न चैव षोडशादर्वाक् सप्तत्या. परतो न च ॥
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः सयोग कर्तुमर्हति ।
अकालमरणञ्च स्याद् भजतः स्त्रियमन्यथा ॥ (यो० र०)

आत्मवान् या सदाचारी पुरुषो को ही वाजीकरण सेवन के लिये देना चाहिये। दुरात्मा या दुष्ट व्यक्तियो को नही। क्योकि दुरात्मा व्यक्ति वृष्य योगो के सेवन से धातुओ की वृद्धि के कारण कामातुर होकर अगम्या स्त्री के साथ भी गमन करने लगता है—जिसमे लोक मे, समाज में या धर्म की दृष्टि से हानि होती है। अस्तु, पूर्ण विचारवान् व्यक्तियो मे ही वाजीकरण योगो के प्रयोग को सीमित रखना चाहिये।

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि वाजीकरण के उपयोग की आवश्यकता निम्नलिखित व्यक्तियो मे होती है। नीरोग व्यक्ति, तरुणावस्था के व्यक्ति, प्रौढावस्था मे रमण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति, स्त्रियो मे प्रीति या वाल्लभ्य की चाह वाले व्यक्ति, अति स्त्री प्रसग से शुक्रक्षययुक्त व्यक्ति, क्लीव व्यक्ति (Impotent), अल्पशुक्र व्यक्ति, विलासी व्यक्ति, धनी व्यक्ति, रूप एवं युवावस्था से युक्त व्यक्ति तथा बहुत स्त्री वाले व्यक्ति। इन पुरुषो मे वाजीकरण योगो का सेवन हितकर होता है।

कल्पस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेस्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ॥
स्थविराणा रिरसूना स्त्रीणा वाल्लभ्यमिच्छताम् ।
योषित्प्रसगात् क्षीणाना क्लीबानामल्परेतसाम् ॥
विलासिनामर्थवता रूपयौवनशालिनाम् ।
नृणा च बहुभार्याणा योगा वाजीकरा हिता. ॥ (सु चि २६)
हिता वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदा ॥

सुश्रुत ने क्लैब्य के ६ प्रकार बतलाये है—१ मानस (Psychtological) २ आहारज (कटु-उष्ण-अम्ल-लवण रस के अधिक खाने से) ३ वाजीकररहित होकर अतिव्यवायज (शुक्रक्षय की अधिकता से ध्वजभग) ४ मेढ्ररोगज शस्त्रच्छेदज (Traumatic) ५ सहज क्लैब्य-जन्म से ही क्लीब होना तथा ६ स्थिर शुक्रनिमित्तज-ब्रह्मचर्य व्रत मे क्षुब्ध मन के निरोध से। उनमे

सहज और मर्म च्छेदज क्लैब्य असाध्य है; किन्तु शेष चार प्रकार के क्लैब्य हेतु-विपरीत चिकित्सा तथा वाजीकर योगों के प्रयोगों से ठीक हो जाते हैं। अस्तु, इन चतुर्विध क्लैब्यों में भी वाजीकरण की सतत आवश्यकता पड़ती है।

"योषित्प्रसंगात्क्षीणानां क्लीवानामल्परेतसाम्।
हिता वाजीकरा योगाः प्रीणयन्ति बहुप्रदाः॥ (भा. प्र.)

वाजीकरण के अभाव में दोष—वाजीकरण के अभाव में स्त्री के वशीभूत होकर मैथुन करने से ग्लानि, कम्प, अवसाद (शिथिलता), कृशता, इन्द्रियों की क्षीणता, शोष, श्वास, उपदंश, ज्वर, अर्श, भगन्दरादिक गुदा के रोग, रस-रक्तादि धातुओं की क्षीणता, भयङ्कर वात रोग, क्लीवता और लिङ्गभंग (ध्वज भंग) आदि उपद्रव होते हैं। इसलिये कामी पुरुषों को नित्य वाजीकरण योगों का सेवन करना चाहिये।

ग्लानिः कम्पोऽवसादस्तदनु कृशता क्षीणता चेन्द्रियाणां
शोषोऽच्छ्वासोपदंशज्वर गुदजगदा क्षीणता सर्वधातौ॥
जायन्ते दुर्निवाराः पवनपरिभवाः क्लीवता लिङ्गभंगो
वामाऽव्यत्यतियोगाद् भजत इह सदा वाजिकर्माच्युतस्य॥ (भै र.)

ब्रह्मचर्य तथा वाजीकरण—अब यहाँ शंका पैदा होती है कि आयुर्वेद जहाँ पर ब्रह्मचर्य तथा शुक्रसंरक्षण की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है-आहार, स्वप्न तथा ब्रह्मचर्य को तीन जीवन स्तंभ मानता है वहाँ पर कामैषणा की तृप्ति के लिए वाजीकरण तन्त्र का इसका उपदेश कहाँ तक युक्तिसंगत है। इसका समाधान यह है कि वस्तुतः इन दोनों विचारों में कोई विरोध नहीं है। विधिपूर्वक गम्य स्त्रियों में और ऋतु काल में किया गया मैथुनविहित कर्म है और वह निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार का विहित मैथुन कर्म ब्रह्मचर्य या शुक्र संरक्षण का सहायभूत अंग होता है। इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्मचर्य एक अत्यधिक महत्त्व का आचरण है। यह धर्म के अनुकूल आचरण है। इसके द्वारा यश की प्राप्ति, आयु की वृद्धि, इहलोक तथा परलोक में रसायन (उपकारक) गुणों की प्राप्ति होती है। सर्वथा निर्मल ब्रह्मचर्य का शास्त्र सदैव अनुमोदन करता है। परन्तु ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान सब के लिये सरल नहीं होता है। यह बड़ी ही कठिन तपस्या है। फलतः ब्रह्मचर्य का स्खलन होना ही स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार से हम अपने कामैषणाओं की तृप्ति करते हुए स्वस्थ रहकर दीर्घायुष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। एतदर्थ ही वाजीकरण विद्या का आचार्यों ने उपदेश किया है। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य का धारण तो निर्विवाद

सर्वाधिक आयु देने वाला है "ब्रह्मचर्यमायुष्कराणा श्रेष्ठतमम्" (चरक) परन्तु इसका यदि पालन सभव न हो सके तो गृहस्थी में रहकर स्वास्थ्य-सरक्षण का दूसरा उत्कृष्ट मार्ग वाजीकरण सेवन का है । कारण यह है कि वाजीकरण या वृष्य योगो के सेवन से शुक्र की उत्पत्ति और वृद्धि होती रहती है और शुक्र के क्षय होने पर भी पुरुष मे किसी प्रकार की दुर्बलता नही आने पाती प्रत्युत उसका स्वास्थ्य अधिकाधिक बढता चलता है ।

वाजीकरण तथा सन्तानोत्पत्ति—वाजीकरण योग वृष्य होते है—उनसे शुक्र जनन की क्रिया अधिक हो जाती है । इनसे शुक्र कीट (Sperms) भी दृढ हो जाते है । परिणाम स्वरूप सन्तानोत्पत्ति भी अवश्यम्भावी हो जाती है । प्राचीन काल मे पुत्रोत्पादन या सन्तानोत्पादन को बडी महत्ता दी जाती थी । पुत्र पद की व्याख्या करते हुए शास्त्रो मे लिखा है—पुंनाम नरक से जो रक्षा करता है उसे पुत्र कहते है । फलतः पुत्रोत्पादन एक धर्म कार्य है । इसके विपरीत नि सन्तान व्यक्ति की निन्दा समाज मे होती थी, लिखा है—छाया-रहित, दुर्गंधित पुष्पो वाले, फलरहित और एक शाखा वाले अकेले वृक्ष की भाँति सन्तानहीन पुरुप होता है । सन्तानरहित व्यक्ति की उपमा चित्र मे खीचे दीपक से, सूखे तालाव से, सुवर्ण की आभा वाले असुवर्ण से, तृण के बने पुतले से, दी गई है । समाज मे उसकी प्रतिष्ठा नही होती है । उसे नग्न के समान, एकेन्द्रियवाला तथा निष्क्रिय व्यक्ति माना जाता है ।

एतद्विपरीत सन्तानयुक्त पुरुष की प्रशसा करते हुए भी बचन पाये जाते है—जैसे बहुत सन्तानयुक्त व्यक्ति को बहुत मूर्तिवाला, बहुत मुख वाला, बहुत व्यूह (बहुत रूप का) वाला, बहुत नेत्रो वाला, बहुत ज्ञान वाला, बहुत आत्मा-वाला तथा बहुक्रिय व्यक्ति कहा गया है । बहुत सन्तान वाले व्यक्ति को मगल-मय दर्शन वाला, प्रशसित, धन्यवाद का पात्र, वीर्यवान् एव बहुत शाखाओ से युक्त वृक्ष की भाँति स्तुत्य कहा गया है । अपत्य या सन्तान के अधीन प्रीति, बल, सुख, वृत्ति, कुल का विस्तार, लोक में यश तथा सुख की प्रीति सभव रहती है । इसलिये गुणवान् एवं सच्चरित्र सन्तान पैदा करने के लिये मनुष्य को सतत प्रयत्नशील रहने का भी उपदेश पाया जाता है । इस प्रकार कामैषणा की तृप्ति के लिये कामसुखो को प्राप्त करने के लिये, ससार के सम्पूर्ण सुखो के उपभोग के लिये वीर्य तथा सन्तानोत्पादन क्रिया के बढाने वाले वाजीकरण साधनो का पुरुष को नित्य उपयोग करना अपेक्षित है । वाजीकरण तन्त्र की महत्ता इस दृष्टि से भी स्वीकार की गई है ।

अच्छायश्चैक शाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥
बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः ।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बहात्मा च बहुप्रजः ॥

\+ \+ \+

वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् काममुखानि च ।
उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान् ॥ (च. चि. २)

आज युग बदल गया है। देश मे दरिद्रता के साथ ही साथ जनसंख्या भी बढ़ती जा रही है। आज बह्वपत्यता या बहुत सन्तान पैदा करना एक अभिशाप हो गया है। नियोजित पितृत्व, सन्तति-निरोध या परिवार-नियोजन (Family Plannig or Birth control) की चर्चा चारो ओर सुनाई पड़ती है। ऐसे युग में सन्तति-नियमन ही (कम सन्तानो का पैदा करना ही) सद्गुण हो गया है और बहुप्रज होना एक महान् अमगल कर्म हो गया है। फिर भी सन्तानोत्पादन का महत्त्व कम नही हुआ है—अप्रज (बिना सन्तान वाले व्यक्ति) की आज भी निन्दा ही है। सन्तानें जरूर पैदा होवें, परन्तु बहुत सख्या मे नही होनी चाहिये। नीति का भी वचन यही है––"एक भी गुणी पुत्र का होना सौ मूर्ख एवं दरिद्र सन्तानो के पैदा होने से अच्छा है।" अथवा "बहुत सी सन्तानो का होना दरिद्रता का प्रतीक है।" "वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि। एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि।" "बह्वपत्यं दरिद्रता।"

आज के युग में कम सन्तानो का पैदा होना यद्यपि एक श्रेष्ठ गुण है तथापि हम ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय-दमन के द्वारा इस कार्य का सम्पादन नही कर सकते। क्योंकि कामुक वासनाओ का नियमन करना असभव है। यह वासना आज के युग में पूर्व की अपेक्षा किसी कदर कम नही हो सकी है। यदि यह कही सभव रहता तो हमे आज सततिनिरोध के लिये बडी-बड़ी औषधियो की खोज की योजना या संतति-नियामक विविध प्रबन्धो, प्रचारो, शिक्षण तथा शस्त्र कर्म के अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं पड़ती केवल पति-पत्नी के सयम से ही काम चल जाता। चूँकि इनकी कामवासनाओ का दमन करना सर्वथा असभव है। अस्तु, हमे सतान नियमन के लिए नाना प्रकार के कृत्रिम साधनो का (Contraceptive Methods) ईजाद करना पड रहा है।

फलत आज समाज को ऐसी औषधियो की जरूरत है जो कामुकवासनाओ को जागरूक रखें, परन्तु गर्भाधान या सन्तानोत्पत्ति कम हो या बिल्कुल न हो। कामुकवासनाओ या कामैषणा की पूर्ति का होना आज भी उतना ही आवश्यक

है जितना पहले किमी युग मे रहा होगा। एतदर्थ वाजीकरण तन्त्र की सार्थकता तथा उमकी उपयोगिता आज भी कम नही हो पाई है। आज भी उसकी उपादेयता अक्षुण्ण बनी हुई है केवल एक प्रतिबन्ध के साथ कि सतति की औसत वृद्धि न होवे। एतदर्थ सतति-नियामक विधियो के साथ-साथ वाजीकरण का विधान सर्वथा और सर्वदा युक्तियुक्त है।

सामान्य वाजीकर द्रव्य—बहुत प्रकार के आहार-विहार, आचार एवं परिस्थितियाँ वाजीकरण के रूप मे होती है। उदाहरणार्थ, अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र भोजन, विविध प्रकार के पीने के पदार्थ, सगीत, कान को प्रिय लगने वाले मधुर वचन, त्वचा को स्पर्श से प्रिय लगने वाले वस्त्र-स्पर्श, आभूषणादि, चन्द्रमायुक्त रात्रि, नवयौवना स्त्री, कान-मन को हरने वाले गाना-बजाना आदि, ताम्बूल (पान की बीडा), मद्य (मदिरा), माला (सुगधित पुष्पो की माला), सेण्ट, इतर तैल आदि खुशबूदार या सुगधित द्रव्य, सुन्दर मनोहर चित्र-विचित्र पुष्पो वाला उद्यान और मन को प्रसन्न रखने वाले कर्म मनुष्य को मैथुन-शक्ति प्रदान करने वाले है।

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च।
गीत श्रोत्राभिरामाश्च वाचः स्पर्शसुखास्तथा॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना।
गीत श्रोत्रमनोहारि ताम्बूल मदिरा स्रजः॥
गधा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च।
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम्॥
(सु चि २६ तथा भा प्र)

सम्पूर्ण प्रकार के वाजीकर द्रव्यो से सर्वाधिक वाजीकरण स्त्री को माना गया है। कामवासनाओ के जागृत करने वाले एक-एक विषय जैसे मनोहर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गध पुरुष को बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करने वाले होते हैं—और इनसे एक-एक के द्वारा भी प्रीति उत्पन्न हो सकती है। जब ये सभी विषय एकत्र होकर सघात के रूप मे स्त्री मे व्यवस्थित रहते हैं तब उससे बढकर और क्या वाजीकरण हो हो सकता है। स्त्री मे प्रकृति से ही (उनकी मधुमय वाणी), रूप (उनका लावण्यमय रूप), स्पर्श (उनके शरीर का कोमल स्पर्श), रस (उनके अधरगत रस) तथा गध (उनके शरीर की गंध) का आकर्षक सामंजस्य सघात रूप मे स्थापित रहता है जो पुरुष के लिये परम आकर्षण, प्रीति तथा वाजीकरण का प्रत्यक्ष हेतु बनता है। इस प्रकार का सघात अन्यत्र कही

भी नही पाया जाता है। इसलिये स्त्री को श्रेष्ठ वाजीकरण, प्रहर्षिणी-वृष्य तथा श्रेष्ठतम वाजीकर माना गया है। वृष्यतम स्त्री के लक्षणो को बतलाते हुए आचार्य ने लिखा है—"जो स्त्री रूपवती, युवती, कामशास्त्रोक्त शुभ लक्षणों से युक्त, मन को प्रिय लगने वाली तथा काम शास्त्र में शिक्षित हो—वृष्यतमा स्त्री कहलाती है। स्वभाव से ही युवती स्त्री वृष्य होती है और पुरुष के आकर्षण का कारण बनती है।

स्त्रियो में धर्म, अर्थ, काम प्रतिष्ठित है। वह लक्ष्मीस्वरूपा होती है। उसमें सम्पूर्ण लौकिक यश एवं कीर्ति निहित है। सन्तान की उत्पत्ति भी स्त्री पर ही आश्रित है। इसीलिये इनमें पुरुष की विशेष प्रीति का होना स्वाभाविक है। अपने चरित्र, संतान, कुल-मर्यादा, वंशपरम्परा तथा अपनी अपनी रक्षा स्त्री की रक्षा करने से ही संभव है। अस्तु, जाया या स्त्री की रक्षा सदैव करनी चाहिये ऐसा स्मृति भी कहती है।

> वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी।
> इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः॥
> किं पुनः स्त्रीशरीरे ये संघातेन व्यवस्थिताः।
> स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्॥
> धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
> सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता॥
> या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता। (च. चि २)

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥ (मनु.)

वृष्य स्त्री का वर्णन चरक तथा वाग्भट में उत्कृष्ट कोटि का पाया जाता है। संक्षेप मे वाग्भट के अनुसार यहाँ पर उद्धरण दिया जा रहा है। जिसका नाम भी हृदय को आनन्द देने वाला हो, जिसके देखने से कभी तृप्ति नही होती हो, जो सब इन्द्रियो को खीचने के लिये पाशरूप हो, जो पति के अनुकूल व्रत में दीक्षित हो, कला विलास के अगों तथा वय से विभूषित हो, पवित्र, लज्जाशील, एकान्त मे प्रगल्भ एवं प्रिय बोलनेवाली हो, जिसकी कामवासना पति के समान हो, ऐसी स्त्री पुरुष के लिये परम वृष्य या वाजीकर होती है।

इसके अतिरिक्त कामसूत्र मे वर्णित निर्दोष, पापरहित ऐसी रतिचर्या को जानने वाली स्त्री जो देश-काल-बल और शक्ति के अनुरूप एवं आयुर्वेद शास्त्र के सम्पूर्ण रतिचर्या के अनुकूल हो, ऐसी स्त्री भी उत्तम वृष्य होती है।

इस प्रकार के गुणो से युक्त स्त्री पुरुष के हृदय मे प्रविष्ट हो जाती है इससे वियुक्त होकर आदमी संसार को स्त्री से हीन मानता है, इससे रहित होकर अपने को पुरुष इन्द्रियो से शून्य अनुभव करता है और उसके शरीर का धारण करना या जीवित रहना भी दुर्भर हो जाता है। पुरुष ऐसी स्त्री के समीप अत्यधिक हर्ष और वेग से जाता है। वार-वार जाने पर भी उससे उसकी तृप्ति नही होती है। ऐसी स्त्री पुरुष के लिए सदैव अपूर्व या नित्य नवीन बनी रहती है। ऐसी स्त्री वृष्यतमा होती है। गम्य स्त्री को निम्नलिखित वि॰षताओ से युक्त होना चाहिए। जैसे अतुल्य गोत्र (असमान गोत्र) की, वृष्य स्त्री के गुणो से युक्त, नित्य प्रसन्न, नीरोग या उपद्रवो से रहित तथा रज स्रावकाल के अनन्तर स्नान करके शुद्ध हुई स्त्री पुरुष को भी नीरोग एव स्वस्थ, सन्तान से युक्त होकर स्त्री-सग धर्म के अनुसार करना चाहिये।

वाजीकर या वृष्य द्रव्य—जो भी द्रव्य मधुर, स्निग्ध, वृंहणकारक, वलवर्धक और मन को प्रसन्न करने वाला है, वह वृष्य कहलाता है। इस प्रकार के द्रव्यो का सेवन करके, आत्मवेग से दर्पित होकर तथा लावण्य, हाव-भाव आदि स्त्री गुणो से प्रहर्षित होकर पुरुष को स्त्रियो के पास जाना चाहिये। इस प्रकार शुक्रजनन, जीवनीय वृंहण, वलवर्धन तथा क्षीरजनन द्रव्य सभी वृष्य योगो मे प्रयुक्त होते हैं।

यत्किंचिन्मधुर स्निग्ध वृंहण बलवर्धनम्।
मनसो हर्पण यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥
द्रव्यैरेवविधैस्तस्मादर्चितः प्रमदा व्रजेत्।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥ (वा ३. ४०)

नाना वृष्य ओषधियाँ—वृष्य औषधियो मे निम्नलिखित औषधियाँ प्रायः ग्रहण की जाती है। सरकण्डा, गन्ना, कुश, कास, विदारी, उशीर, कटेरी के मूल, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि, वला, अतिवला, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, शतावर, असगंध, केवाछ, पुनर्नवा, विदारी, क्षीर विदारी, जीवन्ती, रास्ना, गोखरू, मधुयष्टी, कठगूलर, पका आम, पिप्पली, द्राक्षा, खजूर, वंशलोचन, दालचीनी, इलायची, नागकेशर, आमलकी, तालमखाना, कसेरू, चिरौंजी, रत्ती (घुमची), सिंघाडा, मुनक्का, कमलगट्टा प्रभृति औषधियाँ वृंहण योग वहुलता से व्यवहृत होते है। मिश्री, घृत, मलाई, मक्खन, दूध प्रभृति निरामिष भोजन तथा मछली, सूअर, मगर, कबूतर, तित्तिर, मुर्गी, चटक (गौरैया) प्रभृति पशु-पक्षियो के मास अथवा विविध प्रकार के पक्षियो के अण्डे जैसे केकडा,

चटक, हंस, मोर, मुर्गा अथवा गोह, कच्छप एवं मगर के अण्डे तथा शूकर, शेर आदि के वसाओं का तथा भैंसे, साड तथा बकरे का वीर्य पीना प्रभृति आमिष प्रयोग वाजीकरण एवं वृष्य होते हैं। घी और दूध का सेवन, नैरुज्य, अभ्यंग, उवटन, स्नान, गंध द्रव्यों का लगाना आदि कर्म भी वृष्य होते हैं।

कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत्।
माहिषर्षभवस्तानां पिवेच्छुक्राणि वा नरः॥ (सु० चि० २६)

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि वृष्य आहार की दृष्टि से कई दूध प्रशंसित हैं। जैसे गृष्टिक्षीर-प्रथम प्रसूता गाय या भैंस, वृद्धवत्साक्षीर-वकेना का दूध अर्थात् दूध देने वाले पशु जिनके बछडे लगभग एक वर्ष के हो गये हैं। माषपर्ण भृत-जो-गाय को उडद की पत्ती खिलाकर ग्रहण किया दूध, इन दूधों की वृष्य योगों में प्रशंसा पाई जाती है।

वाजीकरण कार्य में क्षीर वर्ग, मांस वर्ग तथा काकोल्यादिगण की औषधियाँ श्रेष्ठ मानी गई हैं—अस्तु, इनका वृष्य योगों में बहुलता से उपयोग करना चाहिये।

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां माषपर्णभृतां गवाम्।
यत्क्षीरं तत्प्रशंसन्ति बलकामेषु जन्तुषु॥
क्षीरमांसगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पूजितः।
वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत्॥ (सु चि २६)

वृष्य वातावरण—मन को प्रिय लगने वाले स्थान तथा परिस्थितियाँ जैसे मनोरम गृह, सुन्दर शय्या, आसन, स्त्री, सवाहन, निर्झर, मनोरम दृश्य युक्त एकान्त स्थान, आभूषण, सुगंध, माला, इच्छित स्त्री, प्रिय हमजोली, कोकिल कूजन, कुसुमित वन, संगीत-गोष्ठी, नई जवानी ये परम हर्षोत्पादक परिस्थितियाँ होती हैं।

एतैर्प्रयोगैर्विविधैर्वपुष्मान् वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत्समर्थश्च वराङ्गनासु॥
यत्किंचिन्मनसः प्रियः स्याद् रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगंधमाल्यं प्रिया वयस्याश्च तदत्रयोज्याः॥
रम्याः सहर्म्याः परिपुष्टवृष्टा फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगंधयोग्याः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवञ्च॥
सिद्धार्थता चाभिनवं च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य।
वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम्॥
(च० चि० २)

वाजीकर औषधि की प्रयोग विधि—जैसे मलिन वस्त्र पर बढिया रग नही चढता है उसके लिये सर्वप्रथम उसका खूब साफ धुला होना आवश्यक होता है—उसी प्रकार मलयुक्त शरीर मे वृष्य योगो का भी प्रभाव उत्तम नही दिखलाई पडता है—अस्तु वृष्य योगो या वाजीकरण औषधियो के सेवन कराने के पूर्व व्यक्ति का सशोधन अपेक्षित रहता है। सशोधन के लिये व्यक्ति का विरेचन तथा निरूहण कराके कोष्ठ (Pusgatives-anemata) शुद्धि करानी चाहिये। स्रोतस के शुद्ध हो जाने पर व्यक्ति का शरीर शुद्ध हो जाता है—ऐसी स्थिति मे सीमित मात्रा मे भी यथाकाल प्रयुक्त वृंहण योग परम वृंहण करता है और व्यक्ति को बल देता है। व्यक्ति का सशोधन उसके बल के अनुसार मृदु, मध्यम या तीव्र कर लेना चाहिये पश्चात् वाजीकरण योग का उपयोग करना चाहिये।

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्य यदा नामितमत्ति काले।
वृषायते तेन पर मनुष्यस्तद् वृहण चैव बलप्रदञ्च॥
तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं वलानुरूप नहि वृष्ययोगा.।
सिद्ध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रक्तयोगाः॥
(च चि २)

वाजीकरण में अपथ्य—जो मनुष्य कामी, रति करने वाला या स्त्रियो का चाहने वाला हो वह अत्यन्त उष्ण, कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, अम्ल, क्षार द्रव्यो का पत्र-शाक का तथा अधिक लवणयुक्त पदार्थों का सेवन न करे। ऐसी लोक तथा समाज मे प्रसिद्धि है :—

अत्यन्तमुष्णकटुतिक्तकषायमम्लं क्षारञ्च शाकमथवा लवणाधिकञ्च।
कामी सदैव रतिमान् वनिताभिलाषी नो भक्षयेदिति समस्तजनप्रसिद्धिः॥
(भै० र०)

वाजीकरण योग—१ घृत मे भुनी हुई उडद की दाल प्रत्येक १-२ छटाँक आधा सेर दूध में पकाकर खीर जैसे बनाकर उसमे मिश्री १ छटाँक मिलाकर सेवन। घृतभृष्टमाषदुग्धपायसो वृष्य उत्तम। अथवा साठी के चावल का भात घृत और उडद की दाल के साथ सेवन करना भी उत्तम वृष्य होता है।

२ शतावरी १ छटाँक दूध आधा सेर, पानी आधा सेर डालकर पकावे जब दूध मात्र शेष रहे तो मिश्री डालकर सेवन करे।

३ पुरानी सेमल के मूल को लेकर उसका स्वरस निकालकर या क्वाथ बनाकर मिश्री मिलाकर एक सप्ताह तक सेवन करने से शुक्र की वृद्धि होती है।

४ दो-तीन वर्ष पुराने सेमल के मूल का चूर्ण ६ माशे तथा मुसली का चूर्ण ६ माशे मिश्रित करके घृत और मिश्री के साथ मिलाकर सेवन करे और ऊपर से दूध पिये तो उत्तम वीर्यवर्धक होता है।

५. विदारी कंद के चूर्ण ६ माशे से १ तोला को घी और चीनी से चाटकर ऊपर से दूध पीने से या गूलर की छाल का काढा या स्वरस पीने से वृद्ध मनुष्य भी कामसम्पन्न हो जाता है। अथवा विदारीकद के चूर्ण को विदारीकंद स्वरस में भावित करके उपर्युक्त अनुपान से ले। मात्रा १ तोला।

६ आमलकी चूर्ण को आमलकी स्वरस मे सात भावना देकर छाया में सुखाकर रख ले। इस चूर्ण को घृत और मधु मिलाकर सेवन करे और साथ में दूध पिये तो वृष्य क्रिया होती है।

७. केवाछ और तालमखाने के बीज का चूर्ण ६ माशे उसमे १ तोला मिश्री चूर्ण मिलाकर दूध के अनुपान से सेवन।

८ गुञ्जा की जड या बीज का चूर्ण ६ माशे अथवा गुंजामूल और शतावरी प्रत्येक का चूर्ण ४–४ माशे लेकर मिलाकर प्रतिदिन दूध के अनुपान से लेने से उत्तम वाजीकर होता है।

९ उच्चटादियोग–गुंजा, केंवाछ तथा गोक्षुर बीज का चूर्ण बनाकर तीनो को मिलाकर ६ माशे–१ तोला। दूध में पकाकर मिश्री डालकर पीने से वृद्धावस्था में काम का वर्द्धक होता है, तो युवावस्था में इसका पूछना ही क्या है ?

१०. मधुयष्टि चूर्ण १ तोला, घृत १। तोला मधु १ तोला, मिश्रित करके दूध साथ नित्य दिन एक वार लेने से नित्य सम्भोग के लिये पुरुष उत्सुक रहता है।

११ गोक्षुरादि चूर्ण–गोखरू, तालमखाने के बीज, शतावर, शुद्ध केंवाछ के बीज, नागवला तथा अतिवला के मूल का चूर्ण बनाकर ६ माशे से १ तोले की मात्रा में दूध के अनुपान से लेने से अतिवृष्य होता है—

गोक्षुरकः क्षुरकः शतमूली वानरि नागबलातिबला च।
चूर्णमिद पयसा निशि पेयं यस्य गृहे प्रमदाशतमस्ति॥

१२ गेहूँ और केंवाछ के बीज को दूध में पकावे अथवा केंवाछ और उडद की दाल को दूध मे पकावे, ठंडा होने पर उसमें घी और मधु मिलाकर सेवन करे।

१३ अश्वत्थ (पीपल) के फल, मूल, त्वक् और शुङ्ग से सिद्ध किये क्षीर पाक विधि से पकावे, दूध में मिश्री और मधु मिलाकर सेवन करने से चटक पक्षी के समान व्यक्ति कामुक हो जाता है।

अश्वत्थामलमूलत्वक्शुङ्गासिद्धपयो नरः।
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति॥ (च० चि० २६)

१४. कामदीपक चाण्डालिनी योग—श्वेत पुनर्नवा का चूर्ण बनाकर सेमल के कद के स्वरस के साथ सात बार भावित कर सुखाकर चूर्ण बना ले। फिर उसमे उतना ही सेमल का गोद मिला ले। अब चूर्ण के बराबर शुद्ध गंधक चूर्ण पीसकर मिला दे। इस चूर्ण की ४ रत्ती से १ माशा की मात्रा मे मधु के अनुपान से दे। औषधि के खाने के बाद १ पाव गाढा दूध व्यक्ति को पिलावे। यह योग बडा तीव्र उत्तेजक होता है।

आमिष प्रयोग—

१ बकरे के अण्ड ग्रथियो को प्रथम थोडे पानी मे उबाल ले। फिर बढिया घी मे उसको लाल होने तक भुने फिर उसमे पिप्पली चूर्ण और सेधा नमक मिलाकर यथायोग्य मात्रा मे सेवन करने से उत्तम वाजीकरण होता है।

२ बकरे की अण्ड ग्रंथि २ तोले लेकर १६ तोले दूध मे ६४ तोले पानी छोडकर पकावें। जब दूध मात्र शेष रहे तो काले तिल का चूर्ण २ तोले पीसकर मिलावे और सम्पूर्ण का सेवन करे। यह उत्तम वृष्य योग है।

३ ताजा मछली या शफरी मछली का मास घृत मे भूनकर सेवन करने से उत्तम वृष्य होता है।

४ कच्छप मास या कच्छप का अण्डा भी घृत में भूनकर सेवन करने से वृष्य होता है।

५ भैसे के मास मे बकरे के अण्ड ग्रथि और उडद को पकाकर नये घृत मे भून ले फिर उसमे ताजे फलो के रस, धनिया, जीरा, सोठ और नमक मिलाकर सेवन करे तो उत्तम वृष्य होता है।

६ गौरेये को तित्तिर के मासरस मे पकावे या तित्तिर मास को मुर्गे के मासरस मे पकावे या मुर्गे के मास को मोर के मासरस मे पकावे या हस के मासरस मे 'मोर के मांस को पकावे। नवीन देशी घी मे तलकर फलो के रस और गध द्रव्यो से संयुक्त करके सेवन करने से उत्तम वृष्य होता है।

७ चटक (गौरेये) का मास पकाकर खाकर ऊपर से दूध उत्तम वाजीकरण होता है।

८ घडियाल के शुक्र मे भुने हुए मुर्गे के मास का सेवन या घडियाल के अण्डो और मुर्गे के मास के साथ पकाकर खाना उत्तम वृष्य योग है।

९ मछली के अण्डो को घी में तलकर सेवन। अथवा हंस-मोर-तित्तिर और मुर्गे के अण्डे का सेवन उत्तम वाजीकरण होता है।

१० भैसा, साढ या बकरे को उत्तेजित करके उसके शुक्र का सेवन भी उत्तम वाजीकरण होता है।

आज विविध पशुवो के अण्डकोषो के सत्वो का (Testicularextract) तथा शुक्र सत्व (Male Hormones) का व्यवहार चिकित्सा मे बहुलता के साथ हो रहा है। विविध प्रकार के भाव से सेवन योग्य तथा सूचीवेध के द्वारा मांस मार्ग से दिये जाने वाले योग वने वनाये वाजार मे विकते है। उपर्युक्त संहितोक्त मूल-द्रव्य यदि सुलभ न हो अथवा इनका सेवन न कराया जा सकता हो तो उसके प्रतिनिधि द्रव्यो के रूप मे प्राप्त होने वाले इन योगो का उपयोग किया जा सकता है।

अपत्यकर स्वरस—केवाछ के वीज, उडद, खजूर, शतावरी, सिघाडा के फल और मुनक्का प्रत्येक दो दो तोला लेकर उसमें दूध १६ तोले और १६ तोले जल लेकर पकावे जब दूध १६ तोले शेष रह जाये तो मसल कर कपडे से छान कर दूध को रख ले। उसमे मिश्री २ तोला, वशलोचन ३ माशे और नवीन घृत २ तोला और मधु १ तोला मिलाकर पीले। इस योग के सेवन काल मे पथ्य में साठी का चावल, उडद की दाल और दूध देना चाहिए। इस योग के उपयोग से दुर्वल एवं वृद्ध व्यक्ति को भी युवक के समान हर्ष होता है और विपुल सन्ताने पैदा होती है। यह एक सिद्ध योग है, आचार्य श्री प० सत्यनारायण जी शास्त्री का भी वहुश. अनुभूत है। पुत्रप्रद यह योग है।

कमलाक्षादि चूर्ण—कमलगट्टा ७ तोला, जायफल २ तोला, केशर १ तोला, तेजपात १ तोला, सालमपजा २ तोला, छोटी इलायची के वीज १ तोला सोठ १ तो०, शतावर २ तोला, असगंध २ तोला, वंशलोचन १ तोला, रूमी मस्तगी १ तोला, पीपरामूल १ तोला, कवाव चीनी १ तोला। सवको कपडछान चूर्ण वना शीशी मे भर ले।

मात्रा एव अनुपान—३-६ माशे चूर्ण को १ तोला गाय के घी मे जरा सा भुनकर उसमे आधासेर दूध और यथारुचि मिश्री डालकर ५-७ उफान आने-तक उवाले फिर नीचे उतार कर ठडा कर ले और पी जावे।

उपयोग—इसके सेवन से शरीर पुष्ट होता है, वीर्य वढता है तथा कामोत्तेजना पैदा होती है।

(सि० यो० स०)

वानरी गुटिका—केवाछ के वीज १६ तोले लेकर ६४ तोले दूध में दोला यत्र विधि से तीन घटे तक स्वेदन करे। फिर पोटली से वीज निकाले और उनको छिलके से रहित करे। फिर उसे सील पर पीसकर छोटे छोटे वडे के सदृश ६-६ माशे की वटिकायें वना ले। अव इस वडे को गोघृत मे पकावे। फिर इस द्रव्य से दुगुनी मात्रा में चीनी लेकर गाढी चासनी अलग से वना ले। इस चासनी

मे वटिकाओ को डुबो दे। एक दो घण्टे बाद इन वटिकावो को निकालकर एक मृतवान या कांच के बर्तन मे शहद भरकर उसमे इन गुटिकावो को डुबो कर रख दे। एक बडा सुवह और शाम दूध के अनुपान से ले यह एक उत्कृष्ट वाजीकरण योग है, क्लैव्य, ध्वजभग, वीर्यपतन आदि विकारो को ठीक करता है।

श्री मदनानन्द मोदक—शुद्ध पारद, शुद्ध गधक, लौह भस्म १-१ तोला, अभ्रक ३ तोले, भीमसेनी कपूर, सैधव, जटामासी, आँवला, छोटी इलायची, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, जावित्री, जायफल, तेजपत्र, लवङ्ग, श्वेत जीरा, काला जीरा मुलैठी, वच, कूठ, हरिद्रा, देवदारु, हिज्जल बीज, शुद्ध टकण, भारगी, सोठ, नागकेसर, काकडासीगी, तालीसपत्र, मुनक्का, चित्रक, दन्ती, वला-अतिवला की जडे पृथक्, दालचीनी, धनिया, गजपीपल, कचूर, नेत्रवाला, नागरमोथा, गंधप्रसारणी' विदारीकंद, शतावर, आक की जड, कॅवाछ के बीज, गोखरु के बीज, विधारा के वीज तथा भाग के वीज प्रत्येक १-१ तोला। प्रथम पारद-गधक की कज्जली करे फिर लौह भस्म एव अभ्रक भस्म को मिलावे फिर शतावरी क्वाथ की भावना देकर सुखा ले पीछे शेष द्रव्यो के कपडछान चूर्णों को मिलावे। फिर समस्त चूर्ण मे चौथाई प्रमाण मे सेमल की मुसली का चूर्ण तथा उस मिश्रित चूर्ण से आधा विजया का चूर्ण डालकर बकरी के दूध से भावित कर एक दिनतक खाल करके सुखा ले। पश्चात् सम्पूण चूर्ण से दुगुनी खाड को उससे चौगुने दूध मे डालकर पाक करे। गाढा होवे पर दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेसर, भीमसेनी कपूर, सेधानमक तथा त्रिकटु का मिश्रित चूर्ण २ तोला मिलाकर चलाता रहे। फिर उसमे यथावश्यक घी और मधु डालकर आलोडित करके चार-चार माशे का मोदक बना ले। फिर इस योग को मत्र से अभिमन्त्रित करके सुवर्ण, रजत, काच या मृतवान मे रख देवे।

मात्रा—१-१ मोदक सायकाल में रुद्राक्ष चूर्ण १ माशा, काली तिल ३ माशा और गोघृत १ तोले के साथ खाकर ऊपर से दूध पीना।

गुण—तीन सप्ताह के सेवन से हो पर्याप्त काम शक्ति बढती है। यह एक श्रेष्ठ वृष्य एव वाजीकर योग है।

महाचंदनादि तैल—मूर्च्छित तिल तैल १ सेर, कल्कार्थ श्वेत चन्दन, लाल चन्दन, पतग, अगर, तगर, देवदारु, सरल वृक्ष, पदमाख, तून की लकडी, कपूर, कस्तूरी, लता कस्तूरी, शिलारस, केसर, जायफल, चमेली की पत्ती, लौग, छोटी इलायची, वडी इलायची, दालचीनी, मुरा, कपूर, छैलछरीला, नागरमोथा रेणुका, प्रियगु, गधा विरोजा, गुग्गुलु, लाख, नखी, राल, धाय के फूल, गठिवन, मजीठ, मोम प्रत्येक ३-३ माशे सम्यक् पाकार्थ जल ४ सेर।

गुण—इस तैल के अभ्यंग से ८० वर्ष का वृद्ध मनुष्य भी बलवीर्यादि सम्पन्न हो जाता है, वंध्या स्त्री गर्भ धारण करती है, नपुंसक मनुष्य पुंस्त्व प्राप्त करता है तथा संतानहीन संतान प्राप्त करता है।

भल्लातक तैल—भिलावा, बड़ी कटेरी का फल तथा अनार के फल का छिलका इनको समभाग में लेकर १ सेर कल्क बनावे, ४ सेर सरसो का तेल और १६ सेर जल डालकर तैल का पाक करे। तैलमात्र शेष रहने पर उतार कर छान ले। यह एक तिला है जिसका जननेन्द्रिय पर मालिश करने से उसमें दृढता एवं स्थूलता आती है।

वसायोग—केवल शूकर की चर्बी का जननेन्द्रिय पर मालिश कर पान के पत्तो मे आवृत कर रखे। इससे भी लाभ होता है।

करभवारुणी मूल—ऊँटकटेला की जड़ को एक सप्ताह तक बकरी के दूध में भिगो कर एवं पीस कर जननेन्द्रिय पर लेप करने से शैथिल्य नही आता है।

दशमूलारिष्ट—क्वाथ्य द्रव्य दशमूल की प्रत्येक औषधि २०-२० तोले चित्रक की जड की छाल और पुष्कर मूल १००-१०० तोले, पठानी लोध तथा गिलोय ८०-८० तोले, आँवले ६४ तोले, जवासा ४८ तोले, खैर की छाल, विजय-सार, गुठली रहित बडी हरड प्रत्येक ३२ तोले, कूठ, मजीठ, देवदारु, वायविडङ्ग, मुलेठी, भारगी, कैथ के फल की मज्जा, बहेरा, पुनर्नवा की जड, चव्य, जटामांसी, फूलप्रियङ्गु, सारिवा, काला जीरा, निशोथ, सम्भालू के बीज, रास्ना पिप्पली, सुपारी, कचूर, हरिद्रा, सौफ, पदुमकाठ, नागकेसर, नागरमोथा, इन्दजौ, काकडा-सीगी, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि-वृद्धि प्रत्येक ८-८ तोले लेकर जौ कुट करे। फिर आठ गुने जल मे डालकर क्वाथ चौथाई शेष रखे। फिर इस क्वाथ में मुनक्के का क्वाथ अलग बनाकर मिलावे एतदर्थ ३ सेर मुनक्का लेकर पीसकर उसको चौगुने जल में खौलावे, तृतीयांश शेष रहने पर उतार कर छान ले। इन दोनो क्वाथो के मिलाने के अनन्तर उसमे १२८ तोले शहद और २५ सेर गुड का चूर्ण कर मिलावे। फिर उनमे धाय के फूल १२० तोले, शीतल चीनी, नेत्रवाला, श्वेत चदन, जायफल, लवङ्ग, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेसर और छोटी पिप्पल प्रत्येक का चूर्ण ८-८ तोले और कस्तूरी ३ माशा प्रक्षिप्त करे। फिर स्निग्ध एवं धूपित भाड में सम्पूर्ण को भर भाण्ड के मुख पर ढक्कन रखकर कपडमिट्टी करके जमीन के भीतर गाडकर एक मास तक सधान करे। पश्चात् सिद्ध औषधि को छान कर उसमे ४ तोले

निर्मली का कल्क डालकर एक रात के लिए ढककर रखे फिर नितरे हुए अरिष्ट को शीशियो मे भर कर डाट लगाकर सुरक्षित रख ले।

मात्रा—२ तोला समान जल के साथ मिलाकर भोजन के उपरान्त।

गुण—यह योग बहुत प्रकार के रोगो में विशेषत सूतिका रोग मे लाभप्रद है। यह धातु को पुष्ट करता है, वंध्या स्त्री के लिए पुत्रप्रद होता है-पुरुष के लिए वाजीकर भी होता है।

मृतसंजीवनी सुरा—नवीन गुड ४०० तोले, बब्बूल की छाल, बेर की छाल तथा सुपारी प्रत्येक ६४-६४ तोले, पठानी लोध १६ तोले, अदरक ८ तोले। इन सब द्रव्यो से आठ गुणा जल ग्रहण करे। इस जल में प्रथम गुड को घोले पश्चात् उसमे पीसा हुआ अदरक डाले, फिर बबूल की छाल या चूर्ण पश्चात् बेर की छाल या चूर्ण डाले। फिर शेष अन्य द्रव्यो को भी चूर्णित कर मिलावे। सब को अच्छी तरह से मथकर घृतस्निग्ध एव धूपित नये भाण्ड मे भर कर उसके मुख को यथाविधि बन्द कर बीस दिनो तक पडा रहने दे। २१ वे दिन उसको मयूर यन्त्र मे रख कर मन्द मन्द आँच पर गर्म करे। पश्चात् सुपारी, एलुवा, देवदारु, लौग, पद्माख, खस, लाल चन्दन, सोया, अजवायन, काली मिर्च, श्वेत जीरा, कालाजीरा, कचूर, जटामासी, दालचीनी, छोटी इलायची, जायफल, मोथा, गठिवन, सोठ, सौफ, मेथीबीज, सफेद प्रत्येक २-२ तोला लेकर कपडछान चूर्ण बनाकर उसमे मिलावे। फिर भबके मे चढाकर इनका अर्क खीच ले फिर शीशियो मे भरकर रख ले।

उपयोग—यह सुरा धातुवर्धक, बल्य एव पुष्टिकर होता है। अग्नि को दीप्त करता है। वायु विकारो का शमन करता है। परम उत्साहवर्धक तथा वाजीकर योग है।

नारसिंह चूर्ण (वातरोग) या अमृत भल्लातक (कुष्ठ रोग)—ये दोनो भिलावे के योग भी अतिवृष्य होते है।

आम्रपाक या खण्डाम्रक—बीजू आम के पके हुए फलो का रस १६ सेर, स्वच्छ दानेदार चीनी ४ सेर। गो घृत २ सेर, सोठ का चूर्ण आधा सेर, काली मिर्च का चूर्ण १ पाव, पिप्पली का चूर्ण दो छटाँक, पाकार्थ जल ४ सेर। सबको एकत्र कर अग्नि पर चढावे जब गाढा होने लगे तो उसमे तेजपात का चूर्ण १६ तोला तथा पिपरामूल, चित्रकमूल, नागरमोथा, धनिया, श्वेत जीरा, काला जीरा, सोठ, मरिच, छोटी पीपल, जायफल, तालीश पत्र, दाल चीनी, छोटी इलायची और नागकेशर का चूर्ण ४-४ तोले मिलावे। फिर अग्नि से नीचे उतार करके ठडा होने पर उसमे मधु १ पाव मिलाकर रख ले। मात्रा २ तोला

प्रात एवं सन्ध्या समय अनुपान दूध। यह एक उत्तम वृष्य योग है। यह पुरुप तथा स्त्री दोनो के लिये उपयोगी है। पाण्डुरोग, प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में भी लाभ प्रद होता है। स्त्रियो में सन्तानोत्पादक होता है।

वीर्य स्तंभकर योग—

१ शुद्ध किया सूरण का कंद तथा तुलसी की जड का चूर्ण बनाकर एवं मिश्रित कर १-२ माशे की मात्रा में पान के बीडे मे रखकर खाने से वीर्य च्युति शीघ्र नही होती है। इन दोनो ओपधियो का एकैकश. स्वतन्त्र उपयोग भी लाभप्रद रहता है।

२. चटक पक्षी के अण्डो को मक्खन में पीसकर सम्भोग काल में पैर के तलवो में लेप करने से जब तक पैर पृथ्वी से न छुवे तब तक वीयपात नही होता।

३ नील कमल तथा सफेद कमल के केसर को चीनी और मधु में मिलाकर नाभि मे लेप करने से शीघ्र वीर्य का स्खलन सम्भोग काल में नही होता।

४ भूमिलता (केचुवे) को वर्रे के तैल में पीसकर पैरो पर लेप करने से भी रति काल में वीर्य स्खलन शीघ्रता से नही होता है।

५ **कामिनी विद्रावण रस**—अकरकरा, सोठ, लवङ्ग, केशर, पिप्पली, जायफल, जावित्री, श्वेत चन्दन। इनमें से प्रत्येक १–१ तोला, शुद्ध हिंगुल और शुद्ध गधक ४–४ माशे, शुद्ध अफीम ४ तोले। हिंगुल और गंधक को खरल कर कज्जली बनावे। फिर शेप औपधियो को चूर्ण करके मिलावे। पीछे पान के स्वरस मे खरल कर ३–३ रत्ती की गोलियाँ बना ले छाया में सुखाकर शीशो मे भरकर रक्खे। मात्रा १ गोली दिन में दो या तीन बार दूध के साथ सेवन करे। यह उत्तम वीर्य स्तंभक अहिफेन का योग है।

वीर्य स्तंभ वटी—जायफल, लवङ्ग, जावित्री, केशर, छोटी इलायची, अहिफेन, अकरकरा प्रत्येक १–१ तोला, कपूर ३ माशा पान की पत्ती के रस मे घोटकर चने के बराबर की गोली बना ले। शरीर के बल वर्णादि को बढाती है तथा वीर्य स्तभन करती है।

वृष्य रसौपधि योग--

पुष्पधन्वा रस—रस सिन्दूर, नाग भस्म, लोह भस्म, अभ्र भस्म, वग भस्म। प्रत्येक १-१ तोला। इन्हें एकत्र पीसकर धतूर की पत्ती के स्वरस, भाग के क्वाथ, मुलेठी के क्वाथ, सेमल की जड के क्वाथ और पान के पत्र स्वरस से पृथक्-पृथक एक-एक भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले। घी ६ माशा और मधु ८ माशा के साथ गोली को खाकर ऊपर से मिश्री मिश्रित दूध पिये। प्रात -सायम्। उत्तम वाजीकरण है। बल एवं आयु का वर्धक है।

हरजभुजगलोहं चाभ्रकं वंगचूर्णं
कनकविजययष्टी शाल्मली नागवल्ली।
घृतमधुसितदुग्धं पुष्पधन्वा रसेन्द्रो।
रमयति शतरामा दीर्घमायुर्बलञ्च ॥ (भै० र०)

कामिनी दर्पघ्न रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक दोनो की कज्जली करे दोनो के बराबर धतूर बीज (शुद्ध) का चूर्ण मिलावे। फिर धतूर बीज से निकाले तैल की भावना देकर छाया मे सुखाकर शीशी मे भरकर रख ले। मात्रा आधी रत्ती। अनुपान घी, चीनी तथा दूध। इसके उपयोग से प्रमेह रोग दूर होता है, मनुष्य को अधिक वीर्यशाली और कामक्षम बनाता है।

मन्मथाभ्र रस—शुद्ध पारद तथा गधक समभाग लेकर कज्जली ४ तोला, निश्चन्द्र अभ्रक भस्म २ तोला, भीमसेनी कपूर १ तोला, वग भस्म एवं ताम्र भस्म ½-½ तोला, लौह भस्म १ तोला, विधारे की जड या बीज, श्वेत जीरा, विदारीकद, शतावर, तालमखाना बीज, खिरेंटी बीज, केवाछ बीज अतीस, जावित्री, जायफल, लवङ्ग, भाग के बीज, श्वेतराल, अजवायन प्रत्येक का चूर्ण ६-६ माशे। सबको जल के साथ घोटकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले। मन्दोष्ण दुग्ध के अनुपान के साथ १-१ गोली दिन मे दो या तीन बार ले। यह श्रेष्ठ बलवर्धक एव उत्तम वाजीकरण योग है। यह तीव्र अग्निवर्धक है, ध्वजभंग की चिकित्सा मे प्राय व्यवहृत होता है।

चन्द्रोदय रस—कूपीपक्व रसायनो मे रस सिन्दूर, स्वर्ण सिन्दूर, चन्द्रोदय मकरध्वज, सिद्ध मकरध्वज सभी वृष्य एव वाजीकरण होते है। इनका स्वतन्त्र अथवा अन्य औषधियो के साथ मिलाकर भी उपयोग किया जा सकता है। एक दो उत्तम योग नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं।

चन्द्रोदय मकरध्वज (स्वल्प)—जायफल, लवङ्ग, भीमसेनी कपूर, काली मिर्च का चूर्ण प्रत्येक एक-एक तोला, स्वर्ण भस्म तथा कस्तूरी १-१ माशा तथा रस सिन्दूर ४ तोले २ माशा। सबको एकत्र खरल कर पान के रस मे घोटकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना ले, छाया मे सुखा कर शीशी मे भर ले। यह योग बल, वीर्य एव अग्नि का वर्धक तथा अत्यन्त वाजीकर है।

मकरमुष्टि योग—मकरध्वज, कान्तलौह भस्म तथा शुद्ध कुपीलु सब समभाग। पीसकर शीशी मे भर कर रख ले। मात्रा १-२ रत्ती। अनुपान पान के बीडे मे रख कर भोजन के बाद। घृत, मलाई या मक्खन के साथ सुबह शाम।

अश्वगंधा घृत या कामदेव घृत—अश्वगध ४०० तोला, गोखरू २०० तोला, बरियारा, गिलोय, सखिन, विदारीकद, शतावरी, शुंठी, पुनर्नवा,

पीपल के कोपल, गामारी के फूल कमलगट्टा और उडद प्रत्येक ४० तोला सबको जौकुट कर ४०९६ तोले जल मे पकावे। जब चौथाई जल बाकी रहे तो कपडे से छान ले और उसमें गाय का घी २५६ तोले मेदा-महामेदा, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली, ऋद्धि, वृद्धि, कूठ, पद्माख, रक्त चंदन, तेजपात, पिप्पली, द्राक्षा, कँवाछ, नील कमल, नागकेसर, शारिवा, बला, अतिबला प्रत्येक १-१ तोला और मिश्री ८ तोले इनके कपडछान चूर्ण का जल में बनाया हुआ कल्क का योग करके घृत पाक विधि से मद आँच पर पाक कर ले। घृत तैयार होने पर कपडे से छानकर शीशी मे भर ले। मात्रा १-२ तोले उतनी ही मिश्री का चूर्ण मिला कर दे और ऊपर से दूध पिलावे।

यह योग उत्तम पौष्टिक तथा वाजीकर है। वीर्य क्षय, शरीर की कृशता और नपुसकता मे इसका प्रयोग करे। (सि. यो स.)

इन योगो के अतिरिक्त वसन्त कुसुमाकर, शिलाजत्वादि वटी, जयमगल रस, पूर्णचन्द्र रस, अपूर्वमालिनी वसन्त, वसन्त तिलक रस आदि का प्रयोग भी यथायोग्य अनुपान से वाजीकरण के रूप मे किया जा सकता है।

तैंतालीसवाँ अध्याय

रसायन (Geriatrics)

शाब्दिक-व्युत्पत्ति—रस + अयन इन दो शब्दो से रसायन शब्द की निष्पत्ति होती है। रस शब्द के बहुत से अर्थ प्रसङ्गानुसार संस्कृत वाङ्मय मे पाए जाते है। विशुद्ध वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से विचारें तो भी रस शब्द के कई अर्थ हो सकते है, जैसे रस शास्त्र मे रस पारद के अर्थ में, द्रव्य गुण विषय मे षड्रसो के अर्थ मे और शरीर शास्त्र मे रस अन्नो के परिपाक होने के अनन्तर बनने वाले रस के अर्थ मे व्यवहृत होते है। शास्त्रकारो ने रसायन शब्द मे व्यवहृत होने वाले रस को इसी अन्तिम अर्थ में ग्रहण किया है। भोजन के सेवन के अनन्तर शरीर की पाचकाग्नि से पच जाने के पश्चात् जो अन्न रस बनता है, उसको रस शब्द से अभिहित किया गया है। इस रस के द्वारा सम्पूर्ण धातुओं का पोषण होता है। यह दिन रात शरीर मे भ्रमण करता रहता है और यथावश्यक, यथास्थान रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र प्रभृति धातुओं का पोषण करता हुआ सतत गमनशील है। एतदर्थ ही इसे रस की संज्ञा दी गयी है, अहरहः

गच्छतीति रस'। यह रस सम्पूर्ण धातुओ का आदि धातु है इसी के परिणाम से रक्त मासादि धातुओ का पोषण होकर शरीर स्वस्थ एव प्रभावान् रहता है। जबतक शरीर मे यह भ्रमणशील धातु रहता है, तब तक शरीर जीवित है। जब यह रस अपनी गति बन्द कर देता है तो जीवन भी समाप्त हो जाता है। रस को दार्शनिको ने ब्रह्म माना है, "रसो वै स" अर्थात् वह ब्रह्म या आत्म-तत्व या जीवन-तत्व रस ही है। इस रस की महत्ता दर्शन कराने के लिए इतना कथन ही पर्याप्त है।

रस की महत्त्व सूचक एक दूसरी दृष्टि भी है। रस को आदि धातु माना है अर्थात् इसके स्वस्थ या विकृत होने का प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य एवं दु:स्वास्थ्य पर अवश्यभावि है। अस्तु, रस शुद्ध स्वरूप का बने और उससे स्वस्थ एव अविकृत धातुओ का निर्माण होकर शरीर का स्वास्थ्य चिरन्तन बना रहे इस प्रकार की विचारधारा का उदय भी स्वतः होता है "प्रीणन जीवन लेप: स्नेहो-धारण पूरणम्। गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातुना क्रमश स्मृतम्।" रसायन शब्द मे दूसरा उपशब्द अयन है। अयन का प्रयोग मार्ग, आवास या प्राप्ति के अर्थ मे पाया जाता है। यहाँ पर अयन शब्द प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समास मे रसायन शब्द का अर्थ होता है उत्तम या प्रशस्त रस की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति का जो मार्ग है वह है रसायन। इसी अर्थ मे आचार्य चरक ने रसायन शब्द की व्याख्या की है "लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम्।" अर्थात् प्रशस्त रस आदि धातुओ के शरीर को प्राप्त कराने के उपाय को रसायन कहते हैं। किस प्रकार से प्रशस्त रसो का शरीर मे निर्माण हो और उससे शरीर को लाभ पहुचते हुए शरीर समुन्नत एवं स्वस्थ्य बन सके यह सब विधियाँ वैद्यक शास्त्र के जिस अग मे वर्णित की जाती है, उस अग को 'रसायन-तन्त्र' कहा जाता है।

परिभाषा.—आचार्य सुश्रुत ने रसायन तन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है "रसायन तन्त्रं नाम वय स्थापनमायुर्मेधा बलकर रोग हरण समर्थञ्च"। अर्थात् रसायन तन्त्र वैद्यक तन्त्र का वह अंग है जिसमें वय स्थापन, (सौ वर्षतक आयु निरवच्छिन्न रखना), आयुष्कर (आयु को सौ वर्ष से भी अधिक बढाना) मेधाकर (मस्तिष्क शक्ति को बढाना), बलकर (स्वास्थ्य को अधिक शक्तिशाली या क्रियाशील बनाना), रोगापहरण (रोग का सदा के लिए दूर करना), तथा जरापहरण (वार्द्धक्य दूर कर बहुत काल तक व्यक्ति को तरुणावस्था में रखना) प्रभृति साधनो का उल्लेख पाया जाता है। (सु० सूत्र १ अ)

इस तन्त्र का प्रयोजन या सामर्थ्य बतलाते हुए इस अग का विशेषण "सर्वो-पघात शमनीय रसायनम्" (सु चि २७) अन्यत्र लिखा है। इसका साराश यह

है कि इस अंग के द्वारा सम्यक् रीति से अनुष्ठान किए जाने पर सम्पूर्ण प्रकार के उपद्रव या बाधाएँ दूर हो सकती हैं। इस सूत्र में रसायन शब्द की व्याख्या करते हुए डल्हण ने लिखा है : "रसादि धातूनामयनं आप्यायनम्" अथवा "भेषजाधिगतानां रस वीर्यविपाकप्रभावपरमायुर्बलवीर्यागा बलस्थैर्यकराणामयनम्, रसायनम्, वर्द्धकं स्थापकम् अप्राप्य प्रापकं वेत्यर्थ ।" अर्थात् स्वस्थ रस रक्तादि धातुओं का पूरण या प्राप्ति रसायन है। अथवा औषधियों के रस, वीर्य, विपाक, प्रभावों का आयु, बल, वीर्य बलस्थैर्य के लिए संयुक्त करने की क्षमता को रसायन कहते हैं। अर्थात् रसायन औषधियाँ अपने प्रभाव से आयु, बल एवं वीर्य की अधिक वर्द्धक एवं स्थिरता पैदा करने वाली होती हैं। अथवा अप्राप्य वस्तु की प्रापक (प्राप्त कराने वाली) होती है।

वाग्भट ने भी लिखा है—रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, शक्ति, स्मृति, मेधा (मस्तिष्क शक्ति), सतत आरोग्य, तरुणावस्था (यौवन), प्रभा, वर्ण एवं स्वर की निर्मलता, शरीर तथा ज्ञानेंद्रियों के अक्षुण्ण बल, वाक्सिद्धि (जो कहता हो उसका होना), वीर्य परिपूर्णता तथा कान्ति को प्राप्त करता है। संक्षेप में जिस तन्त्र-ज्ञान के द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ रस रक्तादि धातुओं को प्राप्त करता है वह रसायन है। इसी भाव की उक्ति चरक संहिता में भी मिलती है।[1]

रसायन शब्द का दूसरा व्यवहार वैद्यक शास्त्र में रस या पारद घटित औषधियों के अर्थ में भी पाया जाता है। नागार्जुन नामक शास्त्रकार रस विद्या के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने चिकित्सा में स्वास्थ्य संरक्षण तथा रोग चिकित्सा के लिए पारद, गन्धक एवं विविध प्रकार के धातूपधातुओं का प्रयोग प्रारम्भ किया। प्रगति करते-करते रस विद्या आज के युग में सर्वोत्तम सिद्ध हुई और आज वैद्यों में रस वैद्य ही अधिक पाए जाते हैं। रस विद्या के दो ही प्रधान उद्देश्य थे। १—लौह सिद्धि अर्थात् अल्प मूल्य की धातुओं का जैसे शीशा, वंग, यशद, ताम्र आदि का अधिक मूल्यवान धातुओं में जैसे चाँदी, सोना आदि में परिणत करना तथा २—देह सिद्धि अर्थात् शरीर को इतना दृढ बना देना, जिससे विविध प्रकार के शारीर एवं आगन्तुक व्याधियों से मुक्त हुआ जा सके। इसी अर्थ में रसौषधियों को भी रसायन कहा जाता है।

---

१ दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्। वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥ (च० चि० १)

बहुत से धातवीय या खनिज पदार्थो का उपयोग रसायन रूप मे अर्थात् नैरुज्य सम्पादन, जरावस्थाजन्य विकारो को दूर करना तथा दीर्घायु की प्राप्ति के निमित्त पाया जाता है। इनमे शिलाजीत, लौह, तथा कज्जली घटित कुछ योग अधिक प्रसिद्ध है। अध्याय के अन्त मे ऐसे कुछ योगो का उल्लेख किया जा रहा है।

भेपजाभेपज:—चरक ने लिखा है[1] कि भेपज के पर्य्याय रूप मे चिकित्सित व्याधिहर, पथ्य, साधन, औपध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृति स्थापन तथा हित शब्द का प्रयोग होता है। इन सभी शब्दो का एक ही अर्थ है चिकित्सा कार्य मे व्यवहृत होने वाले औपध या भेपज दो प्रकार के होते है। १. स्वस्थ को अधिक ऊर्जस्कर या अधिक प्रशस्त बनाने वाले तथा २. रोगी के रोग दूर करने वाले। ऊर्जस्कर या प्रशस्तकर भेषज से तात्पर्य यह है कि ऐसी औषध जो १ जरा-व्याधि-मृत्यु प्रभृति स्वाभाविक (Natural decaying) व्याधियो को दूर कर सके अथवा २ अहर्ष, मैथुनको अशक्ति एव अशुक्रता को दूर कर मनुष्य को अधिक हर्षयुक्त, मैथुनक्षम एव अधिक वीर्ययुक्त बना सके। इनमे प्रथम वर्ग को रसायन औषध और दूसरे वर्ग को वाजीकरण औषध कहते है। कुछ ऐसी भी औषधियाँ हैं जो केवल ज्वर, अतिसार, रक्त पित्त आदि की चिकित्सा मे अर्थात् रोगी के रोग के दूर करने मे ही उपयुक्त होती हैं।

अव यहाँ पुन शका होती है कि क्या इन भेषजो का यह वर्गीकरण ठीक है? क्योकि बहुत से भेपज जो वृष्य या वाजीकरण बतलाए गए है वे रसायन रूप मे भी व्यवहृत होते है अथवा बहुत से रसायन रूप मे कथित औषध रोग की चिकित्सा मे भी व्यवहृत होते हैं।

उदाहरण के लिए क्षतक्षीण की चिकित्सा मे व्यवहृत सर्पिगुड आदि बहुत से योग रसायन एव वृष्य भी होते है। पाण्डु रोगाधिकार मे चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाला योगराज रसायन भी बतलाया गया है और कास रोग मे व्यवहृत होनेवाला अगस्त्य हरीतकी योग रसायन रूप मे भी कथित हुआ है। इसके अतिरिक्त रसायन तथा वाजीकरणाधिकार के बहुत से भेपज चिकित्सा मे रोग प्रशमन मे भी प्रयुक्त होते हैं। फलत इस तरह का भेपज का वर्गीकरण अनुप-

---

१. चिकित्सित व्याधिहर पथ्यं साधनमौषधम्। प्रायश्चित्तप्रशमन प्रकृतिस्थापनं हितम्। विद्याद् भेपजनामानि, भेषज द्विविध च तत्। स्वस्थस्योर्जस्कर किंचित् किंचिदार्त्तस्य रोगनुत्॥ स्वस्थस्योर्जस्कर यत्तु तद् वृष्य तद् रसायनम्॥
(च० चि० १.)

युक्त है। अस्तु, शास्त्रकारो के इस प्रकार के विभाजन का लक्ष्य केवल बाहुल्य प्रदर्शन है। अर्थात् जिन भेषजो मे रसायन गुणो की बहुलता है, वे रसायन, जिनमें वृष्य कार्य की बहुलता है वे वाजीकरण और जिनमें रोगी के रोग प्रशमन की बहुलता पाई जाती है वे रोगनुत् औषध है। यद्यपि सभी ओषधियाँ उभयार्थ-कारी होती है, सभी प्रयोजनो मे व्यवहृत हो सकती है, परन्तु उनमे तद्-तद् गुणो की बहुलता विशेषतया आधिक्य होने से तद्-तद् ओषधियो का वृष्य रसायन या रोगनुत् का विशेषण दिया गया है। प्राय शब्द का व्यवहार इनकी विशेषता द्योतनार्थ होता है।[1] इस प्रकार सक्षेप मे कहना हो तो ऐसा कहेंगे कि जो ओषधियाँ आमलकी, कपिकच्छू आदि विशेषकर स्वस्थ को अधिक प्रशस्तकर बनाती हैं वे वृष्य या रसायन के विभाग में और जो बहुलता से रोग प्रशमन मे व्यवहृत होती हैं जैसे पाठा, कुटज, सप्तपर्ण प्रभृति वे व्याधिहर ओषधियो के वर्ग में आती है। इनमे स्वस्थ को उर्जस्कर बनाने वाले भेषजो के दो विभाग हैं—रसायन तथा वाजीकरण एव व्याधिहर ओषधियों का एक दूसरा ही वर्ग है जिनका उल्लेख पूर्व के अध्यायो मे चिकित्सा बीज मे हो चुका है। इस प्रकार भेषजो के तीन वर्ग रसायन, वाजीकरण तथा व्याधिहर हैं।[2]

भेषज का विपरीत शब्द अभेषज है। इनका सेवन नही करना चाहिए ये शरीर के लिए हानिप्रद है। ये न रसायन है, न वाजीकरण और न व्याधिहर, प्रत्युत विकल्प है। शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए केवल भेषज या ओषध का उपयोग करना चाहिए, अभेषज का नही। ये अभेषज भी दो प्रकार के होते हैं। १ बाधन तथा २. सानुबाधन। बाधन उन अपथ्यो या अभेषजो को कहते हैं जो तत्काल अपना हानिप्रद प्रभाव शरीर के ऊपर दिखावे। जैसे विविध प्रकार के तीव्र विष। अनुबाधन उन अपथ्यो या अभेषजो को कहते हैं जो दूषी विष या गर विष स्वरूप के और दीर्घ-काल तक अपना प्रभाव दिखाकर कुष्ठादि व्याधियो को पैदा करे। समासत सद्यो बाधक अभेषजो को बाधन तथा दीर्घ-कालीन परिणामी अभेषजो का अनुबाधन कहते है।

---

१ स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्य तद् रसायनम्।
प्राय प्रायेण रोगाणां द्वितीयप्रशमे मतम्॥
प्राय शब्दो विशेषार्थो ह्युभय ह्युभयार्थकृत्। (च. चि १)

२. स्वस्थस्योर्जस्करत्वे द्विविध प्रोक्तमौषधम्।
यद् व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते॥

एक मे Acute Poisoning और दूसरे मे Slow Poisoning या Chronic Poisoning स्वरूप होता है। दूसरे शब्दो मे इनको सद्योविपाकी तथा कालान्तर विपाकी कहा जाता है।[1]

रसायन के गुण—ब्राह्म रसायन की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा है :- यह महर्षिगण से सेवित रसायन है। उसके प्रयोग से मनुष्य निरोग, दीर्घ आयु वाला एव बलवान् होता है। उसका शरीर कान्तिमान तथा चन्द्र और सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। स्मृति-शक्ति इतनी बढ जाती है कि सुनने के साथ ही उसका धारण भी किया जा सकता है। मनुष्य का शरीर ऋषिसत्व हो जाता है। वह पर्वत के समान पृथ्वी का धारण करने वाला, वायु के समान विक्रम वाला हो जाता है। उसके शरीर मे विष का कोई प्रभाव नही होता।

च्यवनप्रास रसायन की महिमा बताते हुए कहा गया है कि यह एक परम उत्तम रसायन है। कई रोगो मे इसका उपयोग उत्तम लाभप्रद होता है। जैसे—कास-श्वास, क्षत-क्षीण, स्वरक्षय, उरोरोग, हृदय रोग, वात रक्त, तृष्णा, मूत्रदोप, शुक्रदोप आदि। इस रसायन का उपयोग वृद्धो और बालको के अग की वृद्धि करने के लिए करना चाहिए। इसके उपयोग से च्यवन ऋषि अत्यन्त वृद्ध होने पर भी पुन युवावस्था मे आ गये थे। इसके सेवन से मेधा, स्मृति, आयु, अग्नि, इन्द्रियबल, कान्ति, नैरोग्य, स्त्री मे हर्प प्रभृति की वृद्धि होती है। शरीर का वर्ण बढता है। इसका कुटी प्रावेशिक नामक विशेप विधि से सेवन करने पर सम्पूर्ण वृद्धावस्था का स्वरूप परिवर्तित होकर नवीन युवावस्था का स्वरूप मनुष्य का बन जाता है।[2]

आमलक घृत की गुण स्तुति करते हुए भी लिखा है कि इसके सेवन करने से शरीर पर्वत के समान वृहत् और सारयुक्त हो जाता है, इन्द्रियाँ बलवान् एव स्थिर हो जाती है। स्वरूप सुन्दर हो जाता है, चित्त प्रसन्न रहता है, घोष घने बादल के मानिन्द हो जाता है और वह मनुष्य बहुसख्या मे बली सन्तानो का जन्म देने वाला होता है। इसी प्रकार आमलकयवलेह प्रभृति अन्यान्य रसायन

---

१ अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीत यदौपधात्।
तदसेव्य निषेव्य तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम्॥
अभेषज च द्विविध बाधन सानुबाधनम्। च चि १

२ इत्ययं च्यवनप्राश परमुक्तो रसायन।
कासश्वासहरश्चैव विशेपेणोपदिश्यते॥

योगो की प्रशंसा में लिखा है कि इनके सेवन से बिना वृद्धावस्था का अनुभव किए हुए मनुष्य सौ वर्ष तक जीता है।

रसायनो की प्रशंसा में यह समासोक्ति पर्याप्त है कि जैसे देवताओ के लिए अमृत है, सर्पो के लिए सुधा का स्थान है वैसे ही प्राचीन काल मे महर्षियो के लिए रसायन का स्थान था। इनके प्रभाव से न उनमे वृद्धावस्था आती थी न दुर्बलता, न रोगी होते थे और न मरते थे। रसायनो के प्रयोग से सहस्र वर्ष तक की आयु का निर्बाध भोग करते थे। फलत रसायन के सेवन से न केवल दीर्घायु की प्राप्ति होती है, प्रत्युत देवर्षियो के द्वारा प्राप्त होने वाली परमगति अर्थात् अक्षय ब्रह्म गति की भी प्राप्ति होती है।[1]

दिव्यौषधियो अथवा रसायनों का अवतरण.—प्राचीन काल में किसी समय शालीन एवं यायावर दोनो वर्ग के ऋषिगण (शालीन का अर्थ होता है घर बना कर गृहस्थ जैसे रहना और यायावर का अर्थ होता है भ्रमण करने वाले), ग्रामीण या नागरिक लोग जिन औषधियो (गेहूँ, यव, चावल आदि आहार) का भोजन करते हैं, उन्ही औषधियो का भोजन करते हुए सम्पन्न पुरुषो के सदृश भारी शरीर, भारी पेट वाले और आलसी हो गये जिसके फलस्वरूप पूर्ण निरोग नही रह गये। वे भृगु, अङ्गिरा, वशिष्ठ, अत्रि, काश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम प्रभृत्ति महर्षि जब इस आहार के करने मे अंत मे तपश्चर्या, पूजा-पाठ करने में भी असमर्थ हो गये तब उन्होने

क्षीणक्षताना वृद्धानां बालाना चाङ्गवर्द्धनः।
स्वरक्षयं उरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम् ॥
पिपासा मूत्रशुक्रस्था दोषादचाप्यपकर्षति।
अस्य मात्रा प्रयुञ्जीत योपरुध्यान्नभोजनम् ॥
यस्य प्रयोगाच्च्यवन. सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा।
मेधा स्मृति कान्तिमनामयत्वं आयु प्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम्।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमाग्निवृद्धि वर्णप्रसाद पवनानुलोम्यम् ॥
रसायनस्यास्य नर प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥ (च चि १)

१ यथा नराणाममृत तथा भोगवता सुधा। तथाभवन्महर्षीणा रसायनविधि. पुरा। न जरा न च दौर्बल्य नातुर्यं निधन न च। जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपर पुरा ॥ न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायन यो विधिवन्निषेवते। गति स देवर्षिनिषेविता शुभा प्रपद्यते ब्रह्म तदेति चाक्षरम्। च. चि २

विचारा कि नगर या ग्राम-वास से उनकी यह दुरवस्था हुई है। फलत: उन्होने निश्चय किया कि हम लोग इस दुरवस्था से बचने के लिए ग्राम्य दोष से रहित कल्याणकारक, पुण्य एवं उदार स्थान, पापियो के लिए अगम्य, गंगा के उत्पत्ति स्थान, देव-गन्धर्व-यक्ष-किन्नरो की सञ्चार भूमि, अनेक रत्नो की खान, अचिन्त्य एवं अद्भुत् प्रभाव वाले ब्रह्मर्षियो-सिद्ध पुरुषो के चरणो से सेवित, दिव्य तीर्थ एवं दिव्य ओषधियो के उत्पत्ति स्थान, अतिशरण्य तथा देवराज इन्द्र से सुरक्षित हिमालय पर्वत पर चले और उन्होने ऐसा ही किया।

हिमालय मे पहुँचने पर देवताओ के गुरु इन्द्र ने उन लोगो का स्वागत एवं सत्कार किया और कहा कि आप लोग ज्ञान एवं तपस्या मे बढे हुए ब्रह्मज्ञानी पुरुष हैं। परन्तु ग्राम्यवास के कारण आप लोगो का शरीर कष्टयुक्त हो रहा है, स्वर एव वर्ण मे अन्तर आ गया है तथा असुख का अनुभव कर रहे हैं। ग्राम का वास वास्तव मे अप्रशस्त है, इस वास से बहुधा असुख उत्पन्न हा रहे हैं। आप पुण्यवानो का ग्रामवासी जनता के कल्याण के लिए यहाँ आगमन हुआ अपने शरीर के दोषो के परिमार्जन के साथ-साथ ग्राम-वासी जनता का भी आप कल्याण करना चाहते है एतदर्थ आप लोगो का यहाँ आगमन हुआ है। यह काल भी आयुर्वेद के उपदेश के लिए उपयुक्त है। अस्तु, मै आप लोगो को आयुर्वेद का उपदेश करूँगा, जिसके द्वारा आप अपना तथा ग्रामवासी प्रजा दोनो का कल्याण कर सकें। फिर इन्द्र ने इन महर्षियो को आयुर्वेद का उपदेश किया।

इन्द्र ने कहा कि यह आयुर्वेद का उपदेश अपने तथा प्रजा के कल्याण के लिए है। इस आयुर्वेद का उपदेश अश्विनी कुमारो ने मुझे किया था, अश्विनी कुमारो को यह ज्ञान प्रजापति से प्राप्त हुआ था और प्रजापति को साक्षात् जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा ने उपदेश किया था। इस उपदेश का प्रधान उद्देश्य ग्रामवास करते हुए प्रजा का कल्याण ही है। लोक की प्रजा रोग, वृद्धावस्था (छोटी उमर मे ही वर्द्धवय का अनुभव) दु ख एव दु ख की परम्परा से पीडित हैं, वे अल्पायु हो गये हैं, उनमें तप-दम-नियम एव अध्ययन की कमी होती जा रही ह। अस्तु, मै उन लोगो को तप-दम-नियम-अध्ययन मे अधिक समर्थ करने के लिए, आयु को बढाने के लिए, जरावस्था एव रोग को दूर करने के लिए, स्वस्थ प्रजा को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए, आप लोगो के समक्ष ब्राह्म, आर्ष, अक्षय, परम कल्याणकारक, उदार एव अमृत स्वरूप आयुर्वेदीय रसायनो का उपदेश कर रहा हूँ। आप सभी एकाग्रचित्त होकर सुनें और सुनकर प्रजा के कल्याण के लिए इसे प्रकाशित करें और प्रचार करे। इन्द्र के इस वचन को सुनकर ऋषियो ने इन्द्र की स्तुति की और बडे प्रसन्न हुए।

इस प्रकार इन्द्र ने आयुर्वेद के अमृत स्वरूप इन रसायन ओषधियो का तथा दिव्य ओषधियो का परिचय ऋषि लोगो को कराया। उन्होने यह भी कहा कि हिमालय पर्वत मे पैदा होने वाली ये दिव्योषधियाँ सम्पूर्ण वीर्ययुक्त हो गयी हैं और इनके उपयोग का यही उपयुक्त समय है, इनका सचय भी अभी करना चाहिए। इन ओषधियो को सिद्ध ओषधियाँ या इन्द्रोक्त रसायन कहते हैं। जैसे ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या (क्षीर काकोली), क्षीर पुष्पी (शख पुष्पी या विष्णुक्रान्ता), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी (मुण्डी भेद), शतावरी (शतावर), विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागवला, स्थिरा (शालपर्णी), वचा, छत्रा, अतिछत्रा, मेदा, महामेदा, अन्य जीवनीय गणकी ओषधियाँ जैसे जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मधुयष्ठी। इनके छ मास के उपयोग से आयु की परम वृद्धि होती है, व्यक्ति सदा युवा बना रहता है, निरोग रहता है, वर्ण और कान्ति की वृद्धि होती है, मस्तिष्क और मेधा की शक्ति प्रखर होती है, बल की वृद्धि होती है तथा अन्य भी इच्छित कामनाओ की पूर्ति करने में ये सिद्ध हैं। इन ओषधियो के अतिरिक्त अन्य भी कई सिद्ध रसायनो का ज्ञान ऋषियो को प्राप्त हुआ। यथा—

ब्रह्म सुवर्चला- नामक ओषधि जिसका क्षीर सुवर्ण के रंग का होता है एवं पत्र पुष्कर सदृश होते हैं। आदित्य पर्णी नामक ओषधि जिसको सूर्यकान्ता भी कहते हैं इसका भी क्षीर सुवर्ण वर्ण का और पुष्प सूर्य मण्डल के आकार का होता है। नारी नामक ओषधि जिसे अश्ववला भी कहते हैं जिसके पिप्पली (बल्वज) सदृश पत्र होते हैं। काष्ठगोधा नामक ओषधि जो गोह (गोधा) के आकार की तथा सर्पा नामक ओषधि सर्प के आकार की होती है।

सोम नामक ओषधियों का राजा जिसमें पन्द्रह गाँठ और प्रत्येक गाँठ पर एक पत्ती लगी हुई कुल पन्द्रह पत्तियों वाली ओषधि है, इसमें सोम (चन्द्र) के समान वृद्धि और ह्रास पाया जाता है। अर्थात् पूर्णिमा के दिन यह ओषधि पन्द्रह पत्तो से पूर्ण रहती है। कृष्ण पक्ष में तिथि के क्रम से पत्र गिरते है और अमावास्या के दिन यह पूर्णतया निष्पत्र हो जाती है। पद्मा नामक ओषधि पद्माकार, लाल कमल के आकार की एव पद्म (लाल कमल) के गन्ध की होती है। अजा नामक ओषधि को अजशृङ्गी भी कहते हैं। नीला नामक ओषधि नील वर्ण के फूलोंवाली, नीले रङ्ग के दूधवाली और लता के प्रतान के रूप मे पाई जाती है।

इन आठ ओषधियो (नौवीं ओषधिराज सोम) मे से जो-जो भी ओषधि प्राप्त हो उन-उन ओषधियो के स्वरस को पेट भर पीकर घी, तेल आदि स्नेह से भावित ताजी (गीली) पलाश की बनाई हुई द्रोणी (Tub) में जिस पर पलाश की ताजी लकडी का ढकना भी हो, नग्न होकर लेट जाय। वह

वहाँ मूर्च्छित हो जाता है। छ मास के पश्चात् पुन संज्ञा मे आता है। उस समय उसे बकरी के दुग्ध पर सजीवावस्था मे रखना चाहिए अर्थात् बकरी का दूध पीने को देना चाहिए। छ मास के बाद वह आयु, वर्ण, स्वर, आकृति, बल तथा कान्ति मे देवताओ के सदृश हो जाता है और स्वयं ही उसे सब भाषाएँ प्रकट होती है अर्थात् सभी भाषाओ का उसे अनायास ही ज्ञान हो जाता है। उसके नेत्र और कर्ण दिव्य हो जाते है। जो साधारण मनुष्य देख और सुन नही सकते वह भी उसे दिखाई और सुनाई देता है। वह एक हजार योजन तक एक दिन मे चल सकता है। रोग आदि उपद्रवो से रहित दश हजार वर्ष की आयु होती है।

साधारण देश मे उत्पन्न होनेवाली औषधियो के सेवन की भी वही विधि है जो हिमालय पर उत्पन्न होनेवाली दिव्य औषधियो की है। किन्तु इनका वीर्य क्षेत्र के गुणो के कारण तथा कर्म (जरा-व्याधि-नाश आदि) के मध्यम होने से मृदु होता है। वही ओषधियाँ हिमालय के अतिरिक्त अन्य देशो मे उत्पन्न होने पर वीर्य मे मृदु होती है, क्योंकि उन देशो की भूमि वह उत्तम प्रभाव नही रखती जो हिमालय पर्वत रखता है। जो वानप्रस्थी उद्यमी तथा संयमी हो वही इन मृदु वीर्य वाली ओषधियो का सेवन कर सकते हैं। असयत पुरुष इन मृदु वीर्य वाली ओषधियो को भी सहन नही कर सकते। तीक्ष्ण वीर्य वाली ब्रह्मसुवर्चला आदि ओषधियो के वीर्य को केवल वही मनुष्य सह सकते है जो हिमालय पर्वत पर रहकर तपस्या आदि का अनुष्ठान करते रहते है। जो लोग नगर आदि या नगर के समीप के वनो मे रहते है तथा संयमी हैं वे बल मे मध्यम होते हैं तथा वे मृदुवीर्य ब्रह्मसुवर्चला इत्यादि के वीर्य को सह लेते है। जो साधारण पुरुष आलसी तथा विषय जाल मे फँसे होते है वे निर्बल होते है और इन औषयो के वीर्य को नही सह सकते।

जो मनुष्य आरोग्य चाहते है, परन्तु उन ओषधियों को ढूँढने अथवा प्रयोग करने मे असमर्थ हैं उनके लिए दूसरा रसायन विधान उत्तम है (इन्द्रोक्त रसायन विधान)।

रसायन (Geriatrics) का आलोचनात्मक विवेचन— ससार की सभी वस्तुएँ नश्वर है। ये क्रमशः जीर्ण होते हुए नष्ट हो जाती है। यह एक प्रकार का स्वभाव है अर्थात् स्वभाव से ही नयी चीजें पुरानी होती हुई काल से कवलित होकर लय को प्राप्त होती हैं। इसी विधि विधान अनुसार मनुष्य तथा अन्य जीवधारियो मे भी विकार (रोग) उत्पन्न होते है। उनमे क्रमशः जीर्णावस्था या जरावस्था (वार्द्धक्य) की प्राप्ति होती है और मृत्यु के

द्वारा उनका निधन प्राप्त होता है। केशो का श्वेत होना केशो का वार्द्धक्य है, दृष्टि की शक्ति का ह्रास होना उनमें काच या मोतियाविन्दु का वनना नेत्रो का वार्द्धक्य, त्वचा में झुरियो का पडना, त्वचा की जरठता, पेशियो का शैथिल्य और उनकी नमनशीलता का कम होना मासपेशी का वार्द्धक्य, शरीरगत रक्त-वाहिनियो की नमनशीलता का कम होकर दृढता का धमनी जरठता (Arterio-sclerosis) प्रभृत्ति परिवर्तन वार्द्धक्य के चिह्न के रूप मे पाए जाते है। संक्षेप में युवावस्था में जो कार्य-क्षमता रहती है उसका क्रमिक ह्रास वृद्धावस्था में कुछ परिवर्तनो के अनन्तर पाये जाते है। ये सभी घटनाएँ काल परिणाम से होती है और स्वाभाविक है एव मर्त्य लोक में अवश्यभावि है। देव योनि मे समय से होनेवाले परिवर्तन नही पाये जाते। मनुष्य एवं देव, मर्त्य तथा स्वर्ग लोक में यही महान अन्तर है। स्वर्ग, नरक की कल्पना का भी सम्भवत. यही आधार है। फलत: देव लोक काल परिणाम जन्य रोग, जरावस्था और मृत्यु इन तीन अवस्थाओ से परे होते है अर्थात् इन तीनो स्वाभाविक अवस्थाओ पर विजय प्राप्त किए हुए है।

मनुष्य अनेक युगो से इस देवत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास करता आ रहा है। फलत मानव का जरा, रोग और मृत्यु के जीतने का या इनके ऊपर विजय प्राप्त करने का प्रयास अनादि काल से चला आ रहा है और शाश्वत है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक भी रोग पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसी प्रयास के फलस्वरूप रोग निवारण (Prfilaxis) के बड़े-वडे साधनो का आविष्कार किया है और करते जा रहे है। विश्व स्वास्थ संघ (W. H. O) का संगठन भी इसी आधार पर हुआ है कि किस प्रकार हम मनुष्य को निरोग रख सकें। जरावस्था पर भी विजय प्राप्त करने का दुन्दुभी-घोष कर दिया है। युवक को वृद्धावस्था में परिणत करनेवाले कारण भूत विभिन्न प्रकार के नि स्यन्दो (Hormones) के परिवर्तनो, जीवतिक्तियो की कमी पुन. उनकी पूर्ति द्वारा जरावस्था को रोकने का प्रयत्न (Geriatics) समुदाय की चिकित्सा व्यवस्था द्वारा चल रहा है। यद्यपि इन योगो में सफलता पूरी नही मिल पाई है, परन्तु प्रयत्न चल रहे है—सम्भव है भविष्य भी उज्ज्वल रहे। मृत्यु पर भी आधिपत्य प्राप्त करने के लिए आज वैज्ञानिक मनीषी अग्रसर है, परन्तु सफलता अभी भविष्य के अन्तराल में निहित है।

आयुर्वेद में एक स्वतन्त्र अंग ही दिव्य रसायनो का पाया जाता है। अन्य अंग क्वचित् अपूर्ण भी मिलते है, परन्तु यह अंग स्वत: पूर्ण एवं अनुपम है।

आयुर्वेद के द्विविध प्रयोजनो का उल्लेख ऊपर हो चुका है। स्वस्थ को अधिक उर्जस्कर वनाना भी उसका एक अन्यतम प्रयोजन है। इसो निमित्त वाजीकरण एवं रसायन तन्त्रो का उल्लेख पाया जाता है। सुन्दर स्वास्थ्य के साथ दीर्घायुष्य की प्राप्ति भी आयुर्वेदोपदेश का उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति रसायनो के द्वारा ही सम्भव है। लिखा है जो व्यक्ति विधिपूर्वक रसायनो का सेवन करता है वह केवल दीर्घायुष्य नही प्राप्त करता अपितु देव ऋपियो के द्वारा प्राप्त गति एवं अक्षर ब्रह्म को भी प्राप्त करता है।

रसायन के प्रकार—सुश्रुत टीकाकार ने रसायनो के तीन प्रकार वतलाये है। १. काम्य रसायन २. नैमित्तिक रसायन ३ आजस्रिक रसायन। काम्य रसायन किसी विशेप कामना (इच्छा या उद्देश्य) से उपयोग मे आने वाले रसायन है जैसे—प्राण कामीय, श्री कामीय, मेधा कामीय इत्यादि रसायन। नैमित्त–किसी रोग विशेप को दूर करने की इच्छा वा उद्देश से उपयोग मे आने वाले रसायन जैसे–शिलाजतु रसायन का कुष्ठ हरण के लिए प्रयोग, भल्लातक रसायन का कुष्ठ या अर्श व्याधि के दूरीकरण के निमित्त उपयोग, तुवरक रसायन का मधुमेह या कुष्ट व्याधि नाशार्थ उपयोग। आजस्रिक–मे निरन्तर भोजन के रूप मे या नित्य अभ्यास के रूप मे व्यवहृत होनेवाले रसायन जैसे घृत या क्षीर का अभ्यास ऐसे द्रव्यो के सदा उपयोग से शरीर स्वस्थ रहता है। आयु एवं मेधा की वृद्धि होती है।

१ सशोधन और २ संशमन भेद से भी रसायनो के दो भेद होते है। कुछ ऐसे रसायन द्रव्य होते हैं जिनके प्रयोग से शरीर का वमन, विरेचन, स्वेदन प्रभृति क्रिया होकर देह की शुद्धि हो जाती है। पुन विकृत दोषो के निकल जाने के अनन्तर नवीन जीवन का सचार होता है। जैसे कि सुश्रुतोक्त सोम रसायन का प्रयोग। इसके विपरीत रसायनो का दूसरा वर्ग संशमन क्रियावाली दिव्य ओषधियो का आता है। जिनके प्रयोग से सशोधन न होकर केवल सशमन मात्र से कार्य होता है। रसायनो का अधिकाश भाग संशमन वर्ग की औषधियो का ही है जैसे—आमलकी, नागवला, च्यवनप्राश रसायन आदि।

रसायनो की प्रयोग विधि के अनुसार भी उनके दो वर्ग होते हैं। १ वातातपिक २. कुटी प्रावेशिक। इनमे कुटी प्रावेशिक प्रधान या मुख्य विधि तथा वातातपिक गौण या अमुख्य विधि है।[1] दूसरे शब्दो मे कुटीप्रावेशिक को

---

१ रसायनाना द्विविध प्रयोगमृपयो विदु.।
कुटीप्रावेशिक मुख्य वातातपिकमन्यथा॥

Indoor treatment तथा वातातपिकको Outdoor treatment कहा जा सकता है।

कुटी प्रावेशिक विधि—ग्राम या नगर के पूर्व या उत्तर दिशा मे, जिस स्थान पर सभी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सके, जहाँ की भूमि अच्छी हो तथा वातावरण शान्त, गर्द-गुबार और धूम से रहित तथा निर्भय हो एक छोटी-सी कुटी या छोटा सा मकान बनवाना चाहिए। यह घर त्रिगर्भ होना चाहिये। त्रिगर्भ कहने का यह अर्थ है कि मकान के दो खण्ड बाहर रहे और तीसरा मकान उसके बीच में रहे। सभी खण्ड के मकान प्रशस्त होने चाहिएँ। शोर-गुल और अप्रिय शब्द वहाँ नही पहुचना चाहिये। मकान पर्याप्त लम्बा, चौडा और ऊँचा होना चाहिए। मकान की दीवालें मोटी और मजबूत होनी चाहिए, उसमे हवा और प्रकाश की अच्छी व्यवस्था के लिए वातायन (झरोके) बने होने चाहिएँ। यह मकान सब ऋतुओ मे सुखप्रद, मन को सुख देने वाला होना चाहिए। उस कुटी मे गम्य स्त्रियो का निषेध हो।

मंगलाचार करके पुण्य दिन मे अपने पूज्य देवतादि का पूजन करके, मन-शरीर और वाणी को पवित्र करके, ब्रह्मचर्य, धैर्य, श्रद्धा, इन्द्रिय सयम, देवो-पासना, दान-दया-सत्यव्रत तथा धर्म मे लीन रह कर उचित मात्रा में सोने और जागने की क्रिया करते हुए ओषधि एवं वैद्य मे प्रीति एवं विश्वास रखकर, अनन्य प्रकार का आहार, विहार और आचरणो का पालन करते हुए रसायन-सेवी मनुष्य कुटी मे प्रवेश करे और रसायन का सेवन प्रारम्भ करे। सर्वप्रथम व्यक्ति का वमन, विरेचन कर्म से सशोधन करना चाहिए।[1]

शोधन—शोधन के लिए हरीतकी, आँवला, वच, सैन्धव, सोंठ, हल्दी, पिप्पली और गुड इनका चूर्ण बनाकर गर्म जल से पिलावे। इससे भली प्रकार विरेचन होकर कोष्ठ शुद्धि हो जाती है। फिर शरीर के शोधन के पश्चात् रोगी का ससर्जन करते हुए तीन, पाँच या सात दिनो तक यव की रोटी या दलिया बनाकर घी के साथ पथ्य में देना चाहिए। जब तक पुराने मल का शोधन न हो जावे तब तक यव का भोजन घृत के साथ देना चाहिए। इस प्रकार सस्कृत

---

१ चरक चिकित्सा, प्रथम अध्याय। वाग्भट उत्तरतन्त्र ३९ अध्याय। सु चि. ३८ अध्याय। तत. शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च। त्रिरात्र पञ्चरात्रं वा सप्ताह वा घृतान्वितम् ॥ दद्याद्यावकमाशुद्धे पुराणशकृतोऽथवा। इत्थ सस्कृत-कोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत् ॥ यस्य यद्योगिकं पश्येत् सर्वमालोच्य सात्म्यवित्।
(अ० हृ० उत्तर तन्त्र ३९)

कोए व्यक्ति के लिए जो रसायन योग उचित एव सात्म्य प्रतीत हो उसका सेवन रोगी को करावे।

अशुद्ध शरीर में रसायन प्रयोग निष्फल—मलिन वस्त्र मे दिया हुआ रंग जिस प्रकार बढ़िया कार्य नही करता है उसी प्रकार मलिन शरीर मे बिना शोधन किये गये रसायन या वाजीकरण योगो का उत्तम प्रयोग लाभप्रद नही रहता है। अस्तु, रसायन सेवन के पूर्व व्यक्ति का शोधन अवश्य कर लेना चाहिए।

सौर्यमारुतिक विधि—इस प्रकार कुटीप्रावेशिक विधि का उल्लेख हुआ। कुटीप्रावेशिक विधि सबके लिए सुलभ नही हो सकती है। यह कुछ सीमित श्रीमन्त, समर्थ, निरोग, बुद्धिमान, निश्चित विचारवाले, नौकर-चाकर-युक्त, धनी-मानी पुरुषो के लिए सम्भव रहता है। जो व्यक्ति धनी-मानी नही फिर भी रसायन योगो के सेवन के अभिलाषी है उनके लिए वातातपिक या सौर्य-मारुतिक विधि से रसायनो का प्रयोग करना चाहिए। वातातपिक अर्थात् वात (वायु, हवा), और आतप (धूप) मे रहते हुए, घूमते-फिरते रसायन सेवन की विधि। सौर्यमारुतिक का भी अर्थ यही है कि सूर्य की धूप मे या मारुत (हवा) मे रहते हुए रसायन का सेवन करना है। यह सामान्य व्यक्तियो के लिए सामान्य विधि है। इसको (Outdoor arrangement for Rasayanas) कह सकते है। यह सर्वजन सुलभ विधान है। परन्तु विशिष्ट विधान कुटी मे प्रवेश करके रसायन सेवन (Indoor arrangement for Rasayanas) एक विशिष्ट विधि है जो विशिष्ट व्यक्तियो के लिए प्राप्य हो सकती है।

आचार रसायन—रसायन सेवन मे कुछ सदाचरणो या विशिष्टाचरणो का अनुपालन आवश्यक होता है। उन्हे आचार रसायन की सज्ञा दी गयी है। उदाहरणार्थ सत्य बोलना, क्रोध न करना, मद्य एवं मैथुन से निवृत्त होना, हिंसा न करना, विश्राम करना, शान्त रहना, प्रिय बोलना, पवित्रता से रहकर जप करना, धीरज धारण करना, नित्य दान एव तप मे लगा रहना, देवी-गौ-ब्राह्मण-आचार्य-गुरु एव वृद्धो की पूजा करना, निष्ठुरता का त्याग, दूसरे के दुःख में करुणा दिखाना, यथोचित मात्रा मे सोना और जागना, नित्य क्षीर तथा घृत का सेवन, देश तथा काल का सम्यक् ज्ञान रखना, युक्ति का जानकार होना, अहकार का अभाव, प्रशस्त आचरण, सकीर्ण विचारो को छोडना, अध्यात्म-चिन्तन मे मन एव इन्द्रियो का लगाना, वृद्ध, आस्तिक एव जितेन्द्रिय व्यक्तियो की सेवा करना, धर्मशास्त्र के अनुसार नित्य एव नैमित्तिक कर्मो को करना। इन गुणो से युक्त होकर जो व्यक्ति रसायन का सेवन करता है वह सम्पूर्ण रसायन के

गुणो को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त यह भी उक्ति मिलती है कि तप, ब्रह्मचर्य, ध्यान एवं प्रशम के द्वारा ही महर्षि लोग रसायन सेवन के सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त करते हैं। तद्विपरीत आचरण से अमित आयु की प्राप्ति एवं रसायनो के गुण सुलभ नही हैं।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥
जप-शौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देव-गो-ब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्।
देश-काल-प्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्॥
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्।
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्॥
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यं रसायनम्।
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्॥
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तं स समश्नुते। च चि १
तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च॥
रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा।
स्थिता महर्षयः पूर्वं न किञ्चित्तद्रसायनम्॥
ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिद्धत्यप्रयतात्मनाम्।

रसायन सेवन की आयु—रसायन का सेवन जितात्मा पुरुष को पूर्व आयु (युवावस्था के प्रारम्भ में) या मध्य-आयु मे अर्थात् चालीस वर्ष की आयु के पश्चात् करना चाहिये। रसायन सेवन के पूर्व व्यक्ति का स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन एवं रक्त विस्रावण कर्म (शोधन) कर लेना आवश्यक है। अत्यन्त बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था के व्यक्ति रसायन के अधिकारी नही है "जरापक्व-शरीरस्य व्यर्थमेव रसायनम्।" जरावस्था के कारण पक्व शरीर मे रसायनो का उपयोग व्यर्थ ही होता है। अस्तु, युवावस्था के प्रारम्भ मे तथा प्रौढावस्था मे रसायन सेवन का विधान बतलाया गया है। क्योंकि अत्यन्त बालक और वृद्ध रसायन का सेवन सहन नही कर पाते। च्यवन ऋषि ने वृद्ध होने पर भी रसायन का जो सेवन किया और सहन किया इसमे उनका तप कारण था।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि पहले से ही रसायनो का अभ्यास किया जावे तो वह जरावस्था को रोक देता है और इस प्रकार जरावस्था का नाशक होता है।

पूर्वे वयसि मध्ये वा तत्प्रयोज्यं जितात्मनः।
स्निग्धस्य सुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा ॥ वा उ. ३९

रसायन-योग—

आमलकी रसायन—कोटर आदि से रहित पूर्ण-वीर्य एक पलास के पौधे को चुन लेना चाहिए। इस पौधे के शिर के भाग को काटकर साफ कर ले। पौधे के तने मे दो हाथ गहरा गड्ढा वनाकर उसको नवीन ताजे आँवलो से भर दे। अव पौधे के मूल से लेकर शिर तक कुश से वेष्टित करे, उसके ऊपर से पद्मिनी-पंक (कमलिनी जिस तालाव या जलाशय मे उत्पन्न हो उसका कीचड) से लेपकर ढँक दे। अव जगली गोहरे को जलाकर हवा के झोको से बचाते हुए आँवले का स्वेदन करे। स्विन्न आँवले को रसायन-सेवी मनुष्य घृत और मधु से सयुक्त कर पेट भर सेवन करे फिर इच्छानुसार ऊपर से गाय का दूध पान करे। इस प्रकार केवलः इस आँवले, घृत, मधु एव दुग्ध के आहार पर एक मास तक रहे। रसायन सेवन काल मे स्त्री, मद्य, मास, क्षारादि का सेवन न करे। शीतल जल का सेवन न करे और न शीतल जल का स्पर्श ही करे। इस रसायन सेवन के ग्यारह दिनो पश्चात् मनुष्य के केश, नख और दाँत हिल जाते है या गिर जाते है। फिर थोडे दिनो मे उनकी नवीन उत्पत्ति या स्थिरता प्रारम्भ हो जाती है और व्यक्ति के वल, शक्ति आदि क्रमश वढते हुए एक मास के अनन्तर वह स्वरूपवान, शक्तिशाली, वीर्यशाली व्यक्ति हो जाता है। (अ हृ. र.)

आमलकी रसायन—आँवलो का कपडछान चूर्ण २५६ तोले लेवे। इस चूर्ण में ताजे आँवले की इक्कीस भावना देकर छाया मे सुखावे। फिर इसमे शहद २५६ तोले, घृत २५६ तोले, छोटी पीपल ३२ तोले तथा मिश्री का चूर्ण २ सेर मिलाकर एक मिट्टी के वर्तन मे वर्षा ऋतु मे राख की ढेर में गाड कर रख दे। वर्तन के मुख को ढकने से ढँक कर कपड मिट्टी करके वन्द कर देना चाहिये। वर्षा ऋतु के खतम हो जाने पर शरद् ऋतु मे सेवन प्रारम्भ करे। यह एक उत्तम रसायन है। शरीर और मस्तिष्क की क्रिया इसके उपयोग से सुचारु होती है। (भै र)

च्यवनप्राश—यह एक प्रसिद्ध एव श्रेष्ठ रसायन योग है।

हरीतकी रसायन—हरीतकी और आमलकी मिलित एक हजार, पिप्पली एक हजार, इनको परिपूर्ण-वीर्य ढाक के क्षार से भावित करके पात्र मे रख दे। क्षारोदक के सूख जाने पर इसे छाया मे सुखाकर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण से चतुर्थांश शर्करा और चौगुना मधु और घृत मिलाकर घृत-लिप्त घट मे भरकर जमीन मे गाड देवे। छः महीने के पश्चात् इसको निकालकर प्रात काल मे

सेवन करे और निरन्तर पथ्य से रहे। इसके सेवन से सौ वर्ष तक मनुष्य वृद्धावस्था रहित एवं निरोग रहकर जीवित रहता है।

त्रिफला लौह रसायन—पिप्पली, त्रिफला, मुलहठी, वंशलोचन, सेंधा नमक पृथक् लौह या सुवर्ण इनमे से किसी एक के साथ वच, मधु और घृत मिलाकर अथवा घृत एवं शर्करा के साथ भली प्रकार सेवन करने से यह त्रिफला रसायन सर्वरोगनाशक तथा मेधा, आयु, स्मृति एवं बुद्धि का देनेवाला है।

रसायन ओषधियाँ—

(क) वल्य—विडङ्ग, वला, अतिवला, नागवला, विदारी, शतावरी, वाराहीकन्द, विजयसार, अग्निमन्थ, शणफल आदि द्रव्य।

(ख) मेध्य—श्वेतबाकुची, चित्रकमूल, मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, हैमवती वचा, विल्व, विस, नीलोत्पल, सुवर्ण, वासा, प्रियङ्गु, पुत्रजीवक, यष्टीमधु आदि द्रव्य।

(ग) दिव्य (सौम्य)—सोम[1], श्वेत कापोती, कृष्ण कापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रिका, आदित्यपर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती। सोम के अतिरिक्त सोमसदृश वीर्यवाली इन अठारह दिव्य ओषधियो का आख्यान भी सुश्रुतसंहिता में पाया जाता है।[2] ये दिव्य दुर्लभ औषधियाँ है, कृतघ्न, पापकर्मा, अश्रद्धालु एवं आलसियो को ये प्राप्त नही होती है। पुण्यकर्मा व्यक्ति नदियो के किनारे, पहाडो पर, तालावो के किनारे, पवित्र जंगलो एवं आश्रमो में इनका प्रयोग कर लेता है। अस्तु सर्वत्र इनकी खोज मे सदैव लगे रहना चाहिए। सौभाग्य से प्राप्त हो जाती है।[3]

---

१. ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षण।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥
(सु. चि. २९)

२. सु. चि. ३०

३. अश्रद्धानैरलसैः कृतघ्नैः पापकर्मभिः।
नैवासादयितुं शक्या सोमाः सोमसमास्तथा॥
नदीषु शैलेषु सरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते॥
(सु. चि. ३०)

सरल रसायन सेवन के योग—

मेधावृद्धिकर या मेध्य रसायन—१ केवल मण्डूकपर्णा का ताजा स्वरस अग्निबल के अनुसार १ तोले से २॥ तोले प्रतिदिन सेवन करे। २ केवल मधुयष्टी (मुलैठी) का चूर्ण ६ माशे से १ तोले की मात्रा मे प्रति दिन गाय के दूध के साथ पी ले। ३. केवल गुडूची का स्वरस १ से २ तोले की मात्रा मे प्रतिदिन सेवन करे। ४. केवल शखपुष्पी को सम्पूर्ण मूल और फूल के साथ उखाड ले और उसका कल्क (१ तोला) बनाकर मिश्री के साथ पानी मे घोलकर शर्वत बनाकर पान करे। इन चारो ओषधियो मे शख-पुष्पी विशेष मेध्य है। ये चारो योग आयुवर्द्धक, रोगो के नाशक, बल-वर्ण-स्वर एवं अग्निवर्द्धक, मेध्य तथा रसायन गुणो से युक्त होते हैं।[1] इन ओष-धियो का सेवन एक मास से तीन मास तक करके बन्द कर देना चाहिए। कुछ वर्षो का अन्तर देकर पुन आवश्यकतानुसार सेवन कराना चाहिए। शखपुष्पी से कुछ वैद्यो में विष्णुकान्ता का व्यवहार भी पाया जाता है।

भृंगराज रसायन—केवल भृङ्गराज का ताजा स्वरस। मात्रा आधा से १ तोला। भूख लगने पर केवल दूध का सेवन अथवा दूध और साठी के चावल के भात का सेवन। नमक, मिर्च, मसाले और शाक, भाजी दाल का परिहार। कुल सेवन काल एक मास। इस प्रयोग से मनुष्य बल-वर्ण युक्त होकर एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है।[2]

अश्वगंधा रसायन—नागोरी असगध के चूर्ण का १ माशा से ६ माशा तक की मात्रा में घृत, तैल, दूध या मन्दोष्ण जल के अनुपान से मिश्री मिलाकर सेवन करने से दुबले शरीर की इस प्रकार पुष्टि होती है, जिस प्रकार वृष्टि से धान के नये अकुर बढते है।[3] कुल पन्द्रह दिनो के प्रयोग से ही पर्याप्त पुष्टि सेवन-

---

१. मण्डूकपर्ण्या स्वरसं यथाग्निक्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रस गुडूच्या. सह मूलपुष्प्या. कल्कं प्रयुञ्जीत च शखपुष्प्या.॥
आयुष्प्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शखपुष्पी॥
(अ. हृ उ. ३९)

२. ये मासमेकं स्वरस पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरज समुत्थम्।
क्षीराशिनस्ते बलवर्णयुक्ता समा शत जीवितमाप्नुवन्ति॥ (भै र)

३ पीताश्वगन्धापयसार्द्धमास घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य सस्यस्य यथाम्बुवृष्टि.॥

कर्ता की होती है। इसका सेवन बालशोप तथा राजयक्ष्मा के रोगियों के रोगों मे उत्तम लाभप्रद पाया गया है। औषधि का लम्बे समय तक सेवन कराने की आवश्यकता पड़ती है। निरामिष भोजी व्यक्तियो में बल और भार बढ़ाने के लिये यह एक उत्तम औषधि है। अश्वगंधा के मूल के चूर्ण का ही प्रयोग करना चाहिये। शीत ऋतु मे एक मास तक दूध के साथ सेवन करने से वृद्ध भी युवक के समान कार्यक्षम हो जाता है। चूर्ण को घृत और मधु से चाटकर ऊपर से दूध पीना चाहिए।[1]

तिल रसायन—काली तिल, आँवले का फल और भृङ्गराज सम्पूर्ण। इन तीनो द्रव्यो का चूर्ण बनाकर ६ माशे से १ तोले की मात्रा में रसायन विधि से जो मनुष्य सेवन करता है वह कृष्णकेश, निर्मलेन्द्रिय और व्याधियो से रहित होकर एक सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।[2] प्रतिदिन काली तिल को २ तोला की मात्रा में शीतल जल से खाने पर शरीर पुष्ट होता है और दात जीवन पर्यन्त दृढ रहते है।[3]

नागबला रसायन—शरद् ऋतु के प्रारम्भ मे नागबला के मूल को पुष्य नक्षत्र में उखाड़े। इस जड़ में से एक कर्ष चूर्ण करके दूध के साथ पिये। अथवा मधु और घृत के साथ चाटे। बिना अन्न खाये केवल दूध पर ही रहे। इस प्रकार एक वर्ष तक प्रयोग करने पर सौ वर्ष तक बलवान होकर जीता है।

पलाशबीज रसायन—पलाशबीज, आँवला और तिल (काली)। सम मात्रा में बना चूर्ण। मात्रा ३ से ६ माशे। रात में सोने के पूर्व घी और चीनी के अनुपान से सेवन। इसके सेवन से मनुष्य के केश नही पकते, बल बढता है और मास दो-मास के उपयोग से वह बुद्धिमान और मेधावान् होता है।

पुनर्नवा रसायन—नवीन पुनर्नवा को दूध में पीसकर पन्द्रह दिन, दो मास अथवा छ: मास या एक वर्ष तक सेवन करने से शरीर पुन: नया होता है। पुनर्नवा की मात्रा २ तोला।[4]

---

१ शिशिरे चाश्वगन्धायाः कन्दचूर्णं पयोन्वितम्।
मासमत्ति समध्वाज्य स वृद्धोऽपि युवा भवेत्॥ (राजमार्त्तण्ड)

२ धात्रीतिलान् भृङ्गरजोविमिश्रान् ये भक्षयेयुर्मनुजा क्रमेण।
ते कृष्णकेशा विमलेन्द्रियाश्च निर्व्याधयो वर्षशतं भवेयुः॥

३ दिनेदिने कृष्णतिलप्रकुञ्च समश्नतां शीतजलानुपानम्।
पोषः शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढीभवन्त्यामरणं च दन्ताः॥ (वा. रसा.)

४. पुनर्नवस्यार्द्धपलं नवस्य पिष्टं पिबेद्यः पयसार्धमासम्।
मासद्वयं तत्त्रिगुणं समां वा जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात्॥ (यो. र.)

वृद्धदारक रसायन—विधारा के मूल के चूर्ण को शतावरी के स्वरस से सातवार भावित करके सुखाकर रख ले। इस चूर्ण को १ तोले की मात्रा मे घृत के साथ सेवन करे। इस प्रकार एक मास तक निरन्तर इस चूर्ण का सेवन करने से मनुष्य बुद्धिमान्, 'मेधावी, 'स्मृतिमान् हो जाता है तथा झुर्रियो और केशो के पकने से रहित होकर जीवित रहता है। अर्थात् वार्धक्य का अनुभव नही होता है।

वाराहीकंद रसायन—अति दूध वाले वाराही कंद के मूल को दूध के साथ पीसकर पिये। इस प्रकार अन्नरहित रहकर एक मास तक दूध पर ही रहे। पश्चात् एक मास तक दूध और भात पर रहे। इस प्रयोग से बुढ़ापा दूर होता है। (वाग्भट)

चित्रक रसायन—चीता तीन प्रकार का पुष्पभेद से होता है। पीत, श्वेत एवं काले फूलो वाला। इनमे काले फूलवाला सर्वश्रेष्ठ होता है। इनमे से किसी एक प्रकार का चित्रक विधिपूर्वक सेवन करने से रसायन होता है।

चित्रकमूल को छाया मे सुखाकर चूर्ण बनावे। इस चूर्ण का १–२ माशे की मात्रा मे मधु मे मिलाकर, घी मे मिलाकर या दूध मे घोलकर, मट्ठे मे घोलकर या जल मे मिलाकर सयम के साथ एक मास तक सेवन करने से मेधा, बल, कान्ति एव अग्नि का वर्धक होता है। मनुष्य को शतायु बनाता है।

तिल तैल मिलाकर चित्रक चूर्ण को चाटने से भयानक वायु रोग नष्ट होते है। गोमूत्र के साथ सेवन करने से श्वेत कुष्ठ और त्वक् रोग दूर होते है। मट्ठे के साथ सेवन करने से अर्श नष्ट होते है। प्रयोग की अवधि एक से दो मास।

हरीतकी रसायन—वर्षा ऋतु मे सेधानमक, शरद् ऋतु में खाड, हेमन्त ऋतु मे सोठ के चूर्ण, शिशिर ऋतु मे पिप्पली चूर्ण, वसन्त ऋतु में शहद तथा ग्रीष्म ऋतु मे गुड के साथ हरीतकी के चूर्ण को रसायन गुण चाहने वाला मनुष्य सेवन किया करे।[1]

---

१ सिन्धूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडै. क्रमात्।
वर्षादिष्वभया सेव्या रसायनगुणैषिणा॥
ग्रीष्मे तुल्यगुडा सुसैन्धवयुता मेघावनद्धाम्बरे
सार्धं शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुपारागमे।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण सयोजिता
राजन् भुङ्क्ष्व हरीतकीमिव गदा नश्यन्ति ते शत्रव.॥ (रा. मार्त्तण्ड)

केवल हरीतकी को घृत मे भूनकर खाने तथा उस घृत के पीने से भी रसायन-गुण होता है। मात्रा वडी हरड दो। अवधि १ वर्ष। वल एव आयु की प्राप्ति होती है।[1]

अमृतादि रसायन—गिलोय, आँवले का फल, गोखरू के वीज। सम मात्रा मे वना चूर्ण मात्रा ६ माशा। घी १ तोला और चीनी आधे तोले के साथ मिलाकर सेवन। प्रयोगावधि ६ मास। यह एक उत्तम रसायन है जो जरावस्था को दूर कर केशो को काला करता और मनुष्य का पूर्ण युवक सदृश कार्यक्षम वनाता है।[2]

गुडूच्यादि रसायन योग—गिलोय, अपामार्ग की जड, वायविडङ्ग, शखपुष्पी, वच, हरीतकी, कूठ और शतावर। इन द्रव्यो को सम प्रमाण मे लेकर चूर्णित करके गाय के घी और मिश्री के अनुपान से तीन दिनो तक सेवन करने से मनुष्य एक हजार श्लोको को कण्ठ करने योग्य हो जाता है।[3] मात्रा ३ से ६ माशे।

ब्राह्मी रसायन—ब्राह्मी, वच, हरीतकी, अडूसा और पिप्पली का सम प्रमाण में वना चूर्ण। मात्रा ३ माशा। अनुपान मधु और सेंधानमक। यह एक स्वर को वढानेवाला योग है। इसके एक सप्ताह के सेवन से ही कठ किन्नर सदृश हो जाता है।[4]

त्रिफला रसायन—चरक सहिता मे कई पाठ त्रिफला रसायन के मिलते है। इनमे से किसी एक का प्रयोग एक वर्ष तक करने से सेवन करने वाला व्यक्ति वुढापा और रोग से रहित होकर सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।

१. भोजन के पूर्व दो वहेरे का चूर्ण, भोजन के तत्काल वाद चार आँवले का चूर्ण और भोजन के पच जाने पर अर्थात् ४-५ घटे के अनन्तर एक हरीतकी का चूर्ण। मधु और घृत के अनुपान से चाट ले।

---

१ हरीतकी सर्पिषि सम्प्रताप्य समश्नतस्तत् पिवतो घृतञ्च।
भवेच्चिरस्थायि वल शरीरे सकृत् कृत साधु यथा कृतज्ञे ॥ (वा. रसा.)

२. अमृतामलकीत्रिकण्टकाद्यं हविषा शर्करया निषेवणेन।
अजरा अमरा अपारवीर्या अलिकेशा अदिते सुता वभूवु ॥
(वै जी)

३. गुडूच्यपामार्गविडङ्गशङ्खिनीवचाभयाकुष्ठशतावरीसमा।
घृतेन लीढा प्रकरोति मानवं त्रिभिर्दिनै श्लोकसहस्रधारिणम् ॥

४. ब्राह्मीवचाभयावासापिप्पल्यो मधुसैन्धवम्।
अस्य प्रयोगात्सप्ताहात् किन्नरै· सह गीयते ॥ (भा. प्र)

२ समान प्रमाण मे आमलकी, हरीतकी और विभीतक के फलों का चूर्ण बना ले। पानी से पीस कर उसको नये लौह के पात्र (कडाही) मे लेप कर रख दे। चौबीस घटे के पश्चात् उसमे पानी छोडकर घोले और छान कर मधु मिलाकर पिये। इस प्रयोग काल मे उस व्यक्ति को प्रचुर मात्रा मे स्नेह (घृत, वसा, मज्जा आदि) देना चाहिए।

३. त्रिफला के बने चूर्ण का मुलैठी, वशलोचन, पिप्पली, मिश्री, मधु या घी के साथ सेवन भी रसायन गुण वाला होता है।

पिप्पली रसायन तथा वर्धमान पिप्पली रसायन—इस रसायन का उल्लेख उदर रोग की चिकित्सा मे विस्तार के साथ हो चुका है।

शतावरी घृत—शतावरी के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत का सेवन। **मात्रा** १ तोला। **अनुपान** शर्करा। व्यक्ति निर्व्याधि एव निर्जर हो जाता है।[1] **अवधि** १-३ मास।

वचा रसायन—मीठी वच के चूर्ण का दूध, तैल या घृत के साथ सेवन। **मात्रा** १-२ माशे। **अवधि**-१ मास तक। **गुण**-मनुष्य मेधावी, मधुरभाषी और भूतादि के उपसर्ग से सुरक्षित रहते हुए जीता है।[2]

आमलकी स्वरस—आमलकी का स्वरस ६ माशा से १ तोला, मधु ६ माशा, शर्करा ६ माशा और घृत १ तोला मिलाकर प्रतिदिन सेवन करने से और हिताहार-विहार पर सयमपूर्वक रहने से बुढापे से उत्पन्न सभी विकार दूर हो जाते है, जैसे विशाल ग्रन्थ ठीक प्रकार से न पढने से नष्ट हो जाते है।[3]

सोमराजी रसायन—सोमराजी (वाकुची) तथा काली तिल का सेवन। कुष्ठ रोगाधिकार में वर्णन हो चुका है। तुवरक रसायन का भी वर्णन उसी अधिकार मे हो चुका है।

रसोन रसायन—आमलकी, हरीतकी तथा लहसुन ये तीनो द्रव्य स्वतन्त्रतया पचरस युक्त होते है। आमलकी एवं हरीतकी, मधुराम्लकटुतिक्त-कपायरसयुक्त तथा लहसुन 'मधुरलवणकटुतिक्तकपाय' रस युक्त होता है।

---

१. शतावरीकल्ककपायसिद्ध ये सर्पिरश्नन्ति सिताद्वितीयम्।
ताञ्जीविताध्वानमभिप्रपन्नान्न विप्रलुम्पन्ति विकारचौरा.॥ (अ. हृ उ ३९)

२ मासं वचामप्युपसेवमानाः क्षीरेण तैलेन घृतेन वापि।
भवन्ति रक्षोभिरधृष्यरूपा मेधाविनो निर्मलमृष्टवाक्या॥ ,,

३ धात्रीरसक्षौद्रसिताघृतानि हिताशनाना लिहता नराणाम्।
प्रणाशमायान्ति जराविकारा ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीता'॥ ,,

फलतः ये सर्वव्याधिहरण मे समर्थ तथा रसायन गुणो से युक्त होते हैं। आमलकी एव हरीतकी को प्रधानता वाले बहुविध योग सहिताओ मे रसायनाधिकार मे पाये जाते हैं। जैसे—ब्राह्म रसायन, च्यवनप्राश, आमलक रसायन, आमलकी घृत, आमलकावलेह, हरीतकी योग आदि। इनमे कुछ योगो का ऊपर मे उल्लेख हो चुका है। लहसुन भी एक इसी प्रकार का रसायन द्रव्य है जिसके बहुविध योगो का वर्णन काश्यप सहिता के रसोन कल्प मे पाया जाता है। यहाँ पर उसके रसायन रूप मे सेवन विधि का अष्टाङ्गहृदय के अनुसार संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

लहसुन वीर्य मे उष्ण होता है। इसका रसायन रूप मे सेवन हेमन्त ऋतु या वसन्त मे करना चाहिये। वात रोग से पीडित व्यक्ति वर्षा ऋतु मे ले सकता है। यदि वातार्त्त व्यक्ति हो तो ग्रीष्म ऋतु में भी इसका सेवन ऋतु दोष को बचाते हुए तदनुकूल व्यवस्था करते हुए कर सकता है। प्रतिदिन लहसुन के कल्क की कुल मात्रा २ से ४ तोले। स्वरस की ४ से ८ तोले। इसमे उतनी ही मात्रा में सुरा या मद्य मिलाकर भोजन के साथ खाने को देना चाहिये। जो मद्य न पीता हो उसे काजी या फलो के रस, बिजौरे या कागजी के रस मे मिला कर देना चाहिये। लहसुन के अनुपान रूप में तक्र, तैल, दूध, घी, मांसरस, वसा, मज्जा का भी अनुपान बतलाया गया है। काल, रोग, बल, सात्म्य, सत्त्व आदि का विचार करते हुए प्रतिदिन की मात्रा तथा अनुपान का निर्धारण करना चाहिये।

इस प्रकार पित्त-रक्त रहित सम्पूर्ण आवरणो से रहित वायु के लिये या शुद्ध वायु के लिये लहसुन से उत्तम और कोई द्रव्य नही है। मास, मद्य, अम्ल से जिनको द्वेष है, जल, गुड और दूध जिनको प्रिय है अथवा अजीर्ण से जो पीडित है, उनमें लहसुन का सेवन हितकर नही रहता है। लहसुन के प्रयोग काल मे पित्त की अधिकता को कम करने के लिये व्यक्ति मे प्रतिदिन मृदु रेचन की भी व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार विचारपूर्वक लहसुन के बरते जाने से रसायन का गुण प्राप्त होता है।

विडङ्ग रसायन–विडङ्गावलेह—विडङ्ग चूर्ण २५६ तोले, पिप्पली चूर्ण २५६ तोले, मिश्री २५६ तोले, घृत १२८ तोले, तिल तैल १२८ तोले, मधु १२८ तोले। छवो द्रव्यो को एक में मिश्रित करके घृत के भाण्ड में रखकर वर्षा ऋतु में राख की ढेर में गाड कर रख दे। पुन. वर्षा ऋतु के अनन्तर निकालकर मात्रा से सेवन करे। इसके सेवन से वार्द्धक्य से रहित होकर मनुष्य शत वर्ष तक जीवित रहता है।

भल्लातक रसायन—भल्लातक एक तीक्ष्ण वीर्य एवं विविध अद्भुत कार्य करने वाली विषाक्त रसायन ओषधि है। इसकी उपमा अग्नि से दी गई है। जिस प्रकार अग्नि अति तीक्ष्ण, पित्तोत्तेजक एव पाचक होती है उसी प्रकार भल्लातक भी। विधि के अनुसार प्रयोग करने पर यह अमृत के तुल्य शरीर के लिये लाभप्रद होता है। कोई कफजन्य ऐसा रोग नही, न ऐसा कोई विबन्ध है जिसको भिलावा शीघ्र नष्ट न कर दे। यह शीघ्र अग्नि बल को देनेवाला है।[1]

भल्लातक सेवन काल में—आँवला, मलाई, दूध, घी, तैल, गुड, जौ का सत्तू, तिल, नारियल, मूली का प्रयोग काफी करना चाहिये। कुलथी, दही, सिरका, तेल की मालिश, आग का तापना, धूप मे काम करना बन्द कर देना चाहिये।

भल्लातक प्रयोग योग—भल्लातक घृत, भल्लातक, भल्लातक क्षौद्र, गुड भल्लातक, भल्लातक यूप, भल्लातक तैल, भल्लातक पलल, भल्लातक सत्तू, भल्लातक लवण, भल्लातक तर्पण इस प्रकार से दशविध प्रयोग चरक मे वर्णित हैं।

यहाँ पर एक सहस्र भल्लातक रसायन का योग एवं सेवनविधि अष्टाङ्ग-हृदय के अनुसार उद्धृत की जा रही है जिसके सेवन किये व्यक्ति आज भी उपलब्ध हैं।

अच्छी प्रकार से पके भिलावो को ग्रीष्म ऋतु मे एकत्रित करके धान्य राशि मे रख देवे। हेमन्त मे मधुर, स्निग्ध और शीतल वस्तुओ से शरीर को सस्कृत करके इनमे से आठ भिलावो को आठगुने जल में पकावे। इस क्वाथ का अष्टमाश शेष रहने पर इसमे शीतल होने पर क्षीर मिलाकर पिये। प्रतिदिन एक-एक भिलावे को इसमे बढाता जाये। इस प्रकार इक्कीस दिन तक बढाये। फिर तीन-तीन बढाये, जब तक इसकी सख्या चालीस तक न पहुँच जाये। फिर वृद्धि के क्रम से इनको घटाना आरम्भ करे। इस प्रकार सात सप्ताहो तक एक हजार भिलावो का सेवन करे। इनके सेवन में जितेन्द्रिय रहे, घी, दूध, शालि एवं साथी का भोजन करे। भिलावे के प्रयोग के बाद तीनगुने समय तक इसको बरतता रहे अर्थात् इक्कीस सप्ताह तक यह विधि करे। इससे वह पूर्वोक्त

---

१. भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
य न भल्लातको हन्याच्छीघ्र मेधाग्निवर्धनम् ॥ (च चि. १)

अभिलषित गुणों को प्राप्त करता है, विशेषकर उसकी अग्नि प्रदीप्त होती है। वह प्रमेह, कृमि, कुष्ठ, अर्श तथा मेदोदोष से रहित होता है।

गुग्गुलु रसायन—लौह भस्म १ पल, गुग्गुलु ३ पल, त्रिकटु ५ पल, त्रिफला ८ पल। मिश्रित मात्रा १ तोला। अनुपान दूध। (भा प्र.)

शिलाजतु रसायन—ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य से तप्त हिमालय पर्वत मे पत्थरो से लाख के सदृश एक वस्तु का क्षरण होता है। जो सगृहीत होकर शिलाजीत के पत्थरो के रूप मे पाया जाता है। सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह प्रभृति ६ धातुओ के अनुसार इसके भी ६ प्रकार होते हैं। इनमे लौह शिलाजतु सर्वश्रेष्ठ है। रस मे सभी शिलाजीत तिक्त, कटु, विपाक में भी कटु और छेदक गुण वाला होता है। वीर्य मे नात्युष्ण होता है।

उत्तम शिलाजीत के लक्षण—जो शिलाजीत गोमूत्र की गंधवाला, गुग्गुलु के समान, कंकड एवं शर्करा रहित, चिकना, स्निग्ध, अनम्ल (अम्ल न हो), मृदु और गुरु होता है, वह श्रेष्ठ है।

शिलाजीत शोधन—पहले पानी में धोकर सुखावे। फिर त्रिफला क्वाथादि में उबाले और भावना दे। बाजार मे शुद्ध शिलाजीत नाम से शुद्ध किया ही शिलाजीत मिलता है। उसी का व्यवहार करना चाहिये।

सेवन विधि—प्रथम रोगी का स्नेहन आवश्यक है। तिक्त द्रव्यो से साधित घृत का तीन दिनो तक सेवन कराके रोगी को स्निग्ध कर लेना चाहिये पश्चात् शुद्ध शिलाजीत को तीन-तीन दिनो तक निम्न वस्तुओ में से एक-एक के साथ बरते। त्रिफला के क्वाथ से तीन दिन, पटोल के क्वाथ से तीन दिन और मधुयष्टी के क्वाथ से तीन दिन। इस प्रकार एक, तीन या सात सप्ताह तक प्रयोग करावे। कुल मात्रा २ तोले, ४ तोले या ८ तोले की होनी चाहिये। इनको क्रमश हीन, मध्यम, उत्तम मात्रा कहते है। यह शिलाजीत की विशिष्ट सेवन विधि है।

सामान्य विधि—सामान्यतया १ माशा की मात्रा में प्रातः सायं दूध में घोल कर लेने की विधि रोगो की चिकित्सा में चलती है। मधुमेह, अश्मरी और शर्करा आदि रोगो मे इस विधि से प्रयोग करते हुए १ तुला (५ सेर) तक अधिकतम कुल मात्रा बतलाई गई है जिसका उल्लेख प्रमेह चिकित्साधिकार मे हो चुका है।

शालसारादि गण में कहे हुए द्रव्यो के क्वाथ के साथ शिलाजीत को अच्छी प्रकार भावित करके शुष्क चूर्ण बना लेना चाहिये। फिर यथासंभव पंचकर्म द्वारा

प्रमेही के शरीर की शुद्धि करके शिलाजीत को ४ रत्ती की मात्रा मे प्रारंभ कर शहद मे मिला कर सेवन करे। शालसारादि गण की ओषधियो का क्वाथ अनुपान रूप में दे। इस प्रकार प्रतिदिन दो-दो रत्ती की मात्रा बढाते हुए १ माशा प्रात और १ माशा सायं काल मे देता हुआ १ तुला (५ सेर) तक शिलाजीत का सेवन करावे। यह इसकी वडी से वडी पूर्ण मात्रा है। इसके अनन्तर ओपधि का सेवन वद करा दे। ओषधि सेवन काल मे क्षुधा प्रतीत होने पर जाङ्गल पशु-पक्षियो के मासरस के साथ चावल का भात पथ्य रूप में देना चाहिये। इस के सेवन से मनुष्य रोग से मुक्त हो जाता है—कान्ति और बल से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीता है।"[1]

शिलाजीत प्रयोग काल मे अपथ्य—गुरु, विदाही भोजन का सेवन न करे। कुलथी, काकमाची और कवूतर के मास का सदा के लिए परित्याग करे।

शिलाजीत रसायन की प्रशंसा—मर्त्यलोक मे साध्य रूप ऐसा कोई भी रोग नही है जिसको शिलाजीत का सेवन वलपूर्वक न जीत सके। स्वस्थ व्यक्ति मे काल, योग, मात्रा और विधि का अनुसरण करते हुए सेवन करने से अतिशय पोरुप को वढाता है।[2] मेहाधिकारोक्त योग 'शिवागुटिका' भी एक रसायन योग ही है। वह शिलाजतु का ही योग है।

गंधक रसायन—शुद्ध किये गधक को गाय के दूध, चातुर्जात, गुडूची, हरीतकी, विभीतक, आमलकी, भृङ्गराज और अदरक के रसो से पृथक्-पृथक् आठ भावना देकर तैयार करे। मात्रा ४ रत्ती से १ माशा। **अनुपान** घी और चीनी। इससे वीर्य एव शरीर पुष्ट होता है, अग्नि जाग्रत होती है, विविध त्वक् रोग नष्ट होते है और दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है।

सुवर्ण रसायन—सुश्रुतचिकित्सा स्थान २८ वे अध्याय मे सुवर्ण के साथ विविध काष्ठौपधियो का पाक करके क्षीर सेवन के विविध योगो का उल्लेख पाया जाता है। इसमे सुवर्ण के भस्म की आवश्यकता नही पडती है। सस्कार मात्र के लिये सुवर्ण छोड़ा जाता है। इन रसायनो के सेवन से मेधा एव आयुष्य की वृद्धि होती है। पूरे अध्याय का नाम ही मेधायुष्कामीयम् है। यहाँ पर एक योग अष्टाङ्ग हृदय का तत्सदृश उद्धृत किया जा रहा है। सरल एवं उत्तम है।

---

१ कुर्यादेव तुला यावदुपयुञ्जीत मानव । (भै० र०)

२. न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूप शिलाह्वय यं न जयेत् प्रसह्य ।
तत्कालयोगैर्विधिभि प्रयुक्त स्वस्थस्य चोर्जा विपुला ददाति ॥
(च० चि० १)

पंचारविन्द रसायन—विस, कमलनाल, कमल के पत्ते, कमल के केसर, कमल के वीज इनके कल्क के साथ सुवर्ण का टुकड़ा, दूध और घी को सिद्ध करे। यह विख्यात पंचारविन्द नामक घृत है। जिसका पौरुष, वल, मेधा, प्रतिभा नष्ट हो गई है उसको इसका सेवन करना चाहिये। पुन: मेधा एव आयु की प्राप्ति होती है।

अन्य रस के योग—कूपीपक्व रसायन (मकरध्वज, चंद्रोदय प्रभृति), तथा रस योग (महालक्ष्मीविलास, योगेन्द्ररस, त्रैलोक्यचिन्तामणि रस प्रभृति) भी रसायन रूप मे व्यवहृत होते है। मात्रा १-२ रत्ती। अनुपान दूध, मलाई, घृत, नवनीत, मिश्री यथालभ्य।

रसायन पथ्य—शीतल जल, दूध, मधु और घृत ये अलग, दो-दो मिलाकर या तीन-तीन या चारो को मिलाकर प्रात:काल मे पीने से वय:स्थापक (आयु को स्थिर करने वाले) होते है। इनके पन्द्रह योग होते है। इनका यथावश्यक, असमान मात्रा मे सेवन करना चाहिये।[1] जौ को कूटकर वनाये यवागू या रोटी का पिप्पली चूर्ण २–४ रत्ती और ६ माशे मधु के साथ मिलाकर सेवन करना मेध्य एवं आयुष्य होता है। इसके प्रयोग से मेधा वृद्धि होकर सुखपूर्वक शास्त्राभ्यास हो जाता है।[2] रात के वीत जाने पर प्रात काल मे शीतल जल का नस्य या नाक से पानी का पीना रसायन एव दृष्टिजनन होता है।[3] प्रात. काल सूर्योदय के पूर्व उठकर कुल्ले करके शीतल जल का पीना मनुष्य को शतायु करता है। मात्रा ६४ तोला।[4]

मज्जतैल रसायन—एरण्ड तैल, निम्वतैल, ज्योतिष्मती तैल, विभीतक मज्जा तैल, पलाश वीज मज्जा तैल। इन तैलो का सेवन रसायन गुण वाला होता है। इनका मुख मे तथा नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये। इससे शरीर नीरोग होता है। अकाल पलित (केशो का पकना) दूर होता है। इनके प्रयोग काल मे व्यक्ति को

---

१. शीतोदक पय क्षौद्रं घृतमेकैकश द्विश
त्रिश. समस्तमथवा प्राक्पीत स्थापयेद्वय ॥ (यो र)

२ यावकास्तावकान् खादेत् अभिभूय यवास्तथा।
पिप्पलीमधुसंयुक्तान् शिक्षाचरणवद् भवेत् ॥ (सु. चि. २८)

३ व्यंगवलीपलितघ्नं पीनसवैस्वर्यश्वासकासहरम्।
रजनीक्षयेऽम्बुनस्यं रसायनं दृष्टिजननञ्च ॥ (भै. र.)

४ अम्भस. प्रसृतीनष्टौ रवावनुदिते पिवन्।
वातपित्तगदान् हत्वा जीवेद्वर्षशतं नर ॥ (भै. र)

मास या दो मास तक केवल गाय के दूध और भात पर रखना चाहिये। निम्ब तैल का उपयोग बहुश दृष्टफल है। आश्चर्यजनक लाभ होता है।[1]

इस प्रकार संक्षेपत: उन रसायन ओषधियो का, जो सुलभ है एवं जिनका प्राप्त करना तथा व्यवहार करना एक साधारण व्यक्ति के लिये भी शक्य है, उनका आख्यान इस अध्याय मे किया गया है। आज के औद्योगिक युग मे रसायनो का सेवन एक दुष्कर कार्य हो गया है। अस्तु, युगानुरूप सरल एवं सुगम रसायनो का वर्णन करना अपना लक्ष्य रहा है। इस अध्याय मे कथित ओषधियो के अतिरिक्त महाफलवान् दूसरे बहुत से रसायनो का पाठ संहिताओ में प्राप्त होता है जिनका नामोल्लेख भर करके उनकी ओर इंगित मात्र ही किया गया है, क्योंकि वे ओषधियाँ सर्वजनसुलभ नही हैं—उनका प्राप्त करना शक्य नही है, अस्तु उनका सविस्तर वर्णन नही दिया जा सका है। ऐसी बहुत सी महान् गुणो से युक्त महाफल देने वाली रसायन ओषधियाँ और भी है, जिनका वर्णन इस अध्याय मे नही हो सका है।

उक्तानि शक्यानि फलान्वितानि
युगानुरूपाणि रसायनानि।
महानुशंसान्यपि चापराणि
प्राप्त्यादिकष्टानि न कीर्त्तितानि ॥

(अ. हृ र)

इति

---

१ एरण्डतैलमथ निम्बफलास्थितैलमेतद्रसायनमनामयकायकारि।
ज्योतिष्मतीफलपलाशफलोद्भव वा तैल वलीपलितहारि भिषक्प्रदिष्टम् ॥
(यो र)

निम्बस्य तैल प्रकृतिस्थमेव नस्तो निषिक्त विधिना यथावत्।
मासेन गोक्षीरभुजो नरस्य जराग्रदूत पलित निहन्ति ॥ (भै र.)

पंचम खण्ड

(परिशिष्ट)

परिशिष्टाध्याय

पूर्व के अध्यायो मे प्राय. कायचिकित्सा से सम्बन्धित रोगो का आख्यान हो चुका है। इस अध्याय मे कुछ अवशिष्ट रोगो का, शल्य-काय उभयविध रोगो (Medicosurgical Diseases) का तथा कुछ विप्रकीर्ण विषयो का सक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें केवल दृष्टफल योगो का ही वर्णन है।

वृद्धिरोग (Inguino-Scrotalswelling)

प्रतिषेध

वृषण वृद्धि या अण्डकोष शोथ (Orchitis)—चिकित्सा क्रम—सर्व प्रकार के वृद्धि रोगो मे पूर्ण विश्राम, रेचन, वातानुलोमक तथा मूत्रप्रवर्त्तक ओषधियो का प्रयोग करना चाहिए। त्रिफला चूर्ण दो तोला, जल १६ तोला, अवशिष्ट क्वाथ ४ तोला मे उतना ही गोमूत्र मिलाकर प्रात काल में देने से नवीन वृद्धि में सद्यः लाभ होता है। साथ मे गुग्गुलु वटी २–२, सुवह-शाम गर्म जल से तथा रात मे सोते समय पट्सकार चूर्ण या हरीतकी चूर्ण ६ माशा या यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशा रात को सोते समय गर्म गल से देना चाहिए। एरण्ड तैल का प्रयोग भी उत्तम रहता है।[1] घीकुआर को फाडकर उसपर आमाहल्दी का चूर्ण छिडक कर वृषण पर बाँधना और लँगोट लगाना भी उत्तम रहता है।

गलगण्ड (Goitre)—स्थानिक लेप, वमन, रेचन, शिरोविरेचन तथा रक्तविस्रावण लाभप्रद रहता है। रोगी को भोजन मे जौ, कोदो, मूँग, परवल, करैला, अदरक, लहसुन एव प्याज प्रचुर मात्रा मे देना चाहिए। लेप—अदरक, सहिजन, सोठ, काला जीरा, प्याज, मसूर की दाल और बकरी की मीगी को पीसकर मन्दोष्ण लेप। केवल जलकुम्भी को पीस कर उसका लेप गले पर चढ़ाना तथा उसका रस निकाल १–२ तोला प्रतिदिन रोगी को पिलाना उत्तम

---

१ रेचन मूत्रकृद् यच्च यद्वायोरनुलोमनम्।
तत्सर्वं वृद्धिरोगेपु भेपज परियोजयेत्॥
त्रिफलाक्वाथगोमूत्रं पिवेत् प्रातरतन्द्रित।
कफवातोद्भव हन्ति श्वयथु वृषणोत्थितम्॥ (भै र)

रहता है। आधुनिक विद्वानो ने इसकी उत्पत्ति मे भोजन मे जम्बुकी धातु (Iodine) की कमी को कारण माना है। जलकुम्भी मे यह तत्त्व प्रचुर परिमाण में मिलता है। फलतः लाभ भी होता है।

अमृताद्य तैल—गिलोय, नीम की छाल, हंस की जड, कुटज की छाल, पिप्पली, बला, अतिबला, देवदारु प्रत्येक २ तोला। जल मे पीसकर कल्क बनावे, फिर इसमें सरसो या तिल का तैल १ सेर, पानी ४ सेर मिलाकर अग्नि पर चढाकर तैल-पाकविधि से तैल का पाक कर ले। इसको दूध मे मिलाकर ½ तोले—१ तोले की मात्रा में पिलाना चाहिए।[1] कांचनार गुग्गुलु का भी सेवन कराया जा सकता है। अमृताद्य तैल का नस्य भी उत्तम रहता है।

आचार्य चरक ने लिखा है कि घृत, दूध और कषाय रस के द्रव्यो का बहुलता से उपयोग करने से गलगण्ड नही होता है। अस्तु, गलगण्ड की चिकित्सा में भी इन पोषक आहारो का ध्यान रखना चाहिए।[2]

गण्डमाला-अपची प्रतिषेध (Scrofula)—

कांचनार गुग्गुलु—कांचनार की छाल २० तोला, सोठ, मरिच, पिप्पली प्रत्येक ५-५ तोले, हर्रा, बहेरा, आंवला प्रत्येक २॥ तोले, वरुण की छाल १। तोला, तेजपात, छोटी इलायची के दाने तथा दालचीनी ४-४ माशे। सब को कूट छानकर चूर्ण कर ले। फिर इन समस्त चूर्ण के बराबर शुद्ध गुग्गुलु मिलावे। त्रिफला क्वाथ की भावना देकर २-- माशे की गोलियाँ बनाकर रख ले। प्रातः-सायं १-१ गोली। अनुपान हरीतकी, मुण्डी या खदिर का काढा या केवल गर्म जल। पथ्य तथा चिकित्सा क्रम गलगण्ड सदृश। शोष का अनुबन्ध हो तो बलवर्धक एवं क्षयघ्न उपचार भी करे। निम्नलिखित औषधि का उपयोग हितकर है। वनगोभी को मूल के साथ उखाड़कर साफ करके पीसकर उसका एक छटांक ताजा रस निकालकर २॥ मरिच के साथ लगातार इक्कीस दिनो तक करे। इसी की लुगदी को गर्म करके गाँठ की जगहो पर बाँध दे। आवश्यक हो तो ४१ दिनो तक प्रयोग करे रोग निर्मूल हो जाता है। पंचतिक्त घृत गुग्गुलु (कुष्ठाधिकार) का उपयोग भी गण्डमाला, अपची, नाडीव्रणादि में लाभप्रद रहता है।

---

१ तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्बहिंस्राह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः ।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु हिताय नित्यं गलगण्डरोगे ॥ (सु)

२ घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते । (च. चि. २१)

व्रण-शोथ विद्रधि एवं व्रण प्रतिषेध

शिग्रु—सहिजन के मूल का स्वरस १ तोला मधु मिलाकर अथवा सहजन की छाल का क्वाथ बनाकर भुनी हीग (४ र०) और सेंधा नमक (१ मा०) मिलाकर पीना उत्तम कार्य करता है । पूयोत्पत्ति के रोकने मे यह उत्तम कार्य करता है । त्रिफला, वरुण, शिग्रु, दशमूल, पुनर्नवा, गुग्गुलु और गोमूत्र आदि का उपयोग भी उत्तम रहता है । शिग्रु के इन्ही गुणो के कारण लोग इसे आयुर्वेद का एण्टिवायटिक मानते है ।

दशाङ्ग लेप—शिरीष की छाल, मुलैठी, तगर, लाल चन्दन, छोटी इलायची, जटामासी (वालछड), हल्दी, दारुहल्दी, कूठ, नेत्रवाला । इनको एकत्र कूटकर कपडछान चूर्ण बना ले । इस लेप का एक तोला लेकर पानी से महीन पीस कर उसमे घी १ तोला, शहद १ तोला, गेहू का आटा, अलसी (कूटी हुई) ५-१० तोला या आवश्यकतानुसार मिलाकर आग पर गर्म करके व्रणशोथ के स्थान पर एक कपडा रखकर उस पर फैलाकर ऊपर से एक और कपडा रख कर बाँध दे । २-३ घटे पर पुल्टिस बदलता रहे । यदि प्रारंभ मे ही इसका प्रयोग किया जाय तो शोथ बैठ जाता है । यदि पकना प्रारभ हो गया है तो जल्दी पककर फूट जाता है । फूटने पर भी दो-तीन दिनो तक इसका प्रयोग करता रहे तो मवाद निकलकर व्रण स्थान शुद्ध हो जाता है । पश्चात् रोपण की व्यवस्था करे ।

व्रणशोधन—निम्बपत्र, त्रिफला, खदिर, दारुहरिद्रा, वट आदि के कषाय से प्रक्षालन व्रणो का शोधक है ।

अनन्तमूल—केवल अकेले अनन्तमूल का काढा या लेप व्रण का उत्कृष्ट शोधक है ।

रोपण—व्रणो के रोपण मे काली तिल और मधु एक मे पीसकर पिष्ट (Paste) बनाकर लेप करने से उत्तम लाभ होता है । इसके अतिरिक्त रोपण मे असगध, कुटकी, लोध्र, कायफर, मधुयष्टी, लज्जालु और धाय के फूल का लेप भी उत्कृष्ट रोपण द्रव्य है ।[1]

---

१ शोभाञ्जनकनिर्यूह हिंगुसैंधवसयुत ।
अचिराद् विद्रधि हन्ति प्रात प्रातर्निषेवित ॥
शिग्रुमूल जले धौत दरपिष्ट प्रगालयेत् ।
तद्रस मधुना लेपो हन्त्यन्तर्विद्रधि नर ॥

जात्यादि तैल—चमेली की पत्ती, निम्बपत्र, पटोल पत्र, करंज पत्र, मोम, मुलैठी, कूठ, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, कुटकी, मजीठ, पद्माख, लोध, हरड, कमल केसर, शुद्ध तुत्थ, अनन्तमूल और करज बीज। प्रत्येक २ तोला। तिल तैल १ सेर। जल ४ सेर। तैलपाक विधि से सिद्ध करे। यह बृहद् जात्यादि तैल परम व्रणरोपण योग है।

अधःपुष्पी (अधाहुली)—यह व्रणोपचार मे महौषधि है। यह शोथघ्न, सकोचक, वेदनाहर, रक्तशोधक, विषघ्न आदि गुणो से युक्त होती है। इसका अधिकतर बाह्य प्रयोग शोफयुक्त स्थानो पर किया जाता है। पूययुक्त सधिशोथ, अस्थिपाक, निर्जीवाङ्गत्व प्रभृति दुःसाध्य रोगो मे भी इसके पचाङ्ग का लेप करने से अद्भुत लाभ देखने को मिला है। निर्जीवाङ्गत्व तथा कोथ (गैंग्रीन) मे इसका बाह्य लेप समान मात्रा मे मूषाकर्णी पचाङ्ग को मिलाकर लेप रूप मे करना चाहिये। यह एक दृष्टफल योग है।

सद्योव्रण (Accidental wound)—गर्म किये घी और मुलैठी के चूर्ण का मिश्रित लेप व्रणगत वेदना को शान्त करता है। अपामार्ग की पत्ती का स्वरस व्रणस्थान पर छोडने से सद्य रक्त का स्तभन करता है। घृत ६ माशा और कपूर $\frac{1}{2}$ माशा को एक मे मिलाकर कटे स्थान पर भर कर बांध देने से व्रण स्थान गत वेदना दूर हो जाती है और व्रण का रोहण भी शीघ्र होता है। कोल्हू से निकाला ताजा तैल का पूरण भी ऐसा ही उत्तम पडता है। रक्तस्राव के बन्द करने के लिये फिटकिरी के चूर्ण का स्थानिक उपयोग भी उत्तम रहता है। सद्योजात व्रणो मे सरफोके का रस, काकजंघा का रस भैस के प्रथम नवजात बच्चे का मल अथवा लज्जालु का रस या कल्क का लेप सद्यो व्रण मे लगा कर बांधने से व्रण शीघ्र भर कर ठीक हो जाता है।[1]

नाडीव्रण (Sinuses)—बला की पत्ती का रस निकाले। नासूर के छिद्र में टपकावे। इसी पत्ती को पीसकर, घी मे तलकर टीकरी जैसी बनाकर व्रण के मुख पर बांध दे। शीघ्र व्रण का रोपण होता है।

एक वा सारिवामूल सर्वव्रणविशोधनम्।
अपेतपूतिमासाना मासस्थानामरोहताम् ॥
कल्क सरोपण कार्य तिलजो मधुसयुत ॥
अश्वगंधा रुहा लोध्र कट्फल मधुयष्टिका।
समगा धातकीपुष्पम् परमं व्रणरोपणम् ॥ (सु. सं, भै र.)

१ शरपुङ्खा काकजङ्घा प्रथम माहिषीसुतम्।
मल लज्जा च सद्यस्कव्रणघ्नं पृथगेव तु ॥

उदुम्बर सार—दस सेर हरी पुष्ट गूलर की पत्ती धोकर साफ कर ले। फिर इसको साफ किये ओखल मे डालकर मूसल से कूट ले। फिर उसमे १ मन जल डालकर कलईदार वर्त्तन मे रखकर आग पर चढाकर मंद आँच पर पकावे। जब चौथाई जल शेष रहे तो उतार कर अच्छे कपडे से दो वार छानकर उसमे ५ तोला सुहागा मिलाकर पुन आग पर चढाकर मद आँच पर पकावे। जब यह करछे में लगने लगे तो नीचे उतार कर कलईदार थालो मे फैलावे। इसके ऊपर एक कपडा बाँध कर धूप मे सुखा ले। जब लेह जैसा हो जावे तो काच के वरतन मे भर कर रख ले।

गुण एवं उपयोग—उदुम्बरसार व्रणशोथ शामक, व्रण का शोधक, रोपक तथा रक्तस्रावनिरोधी है। इसका उपयोग व्रणशोथ-शमन मे स्त्रियो के स्तन-विद्रधि मे, व्रण के प्रक्षालन मे, मुख पाक मे, कुल्ली के लिये, स्त्रियो के प्रदर, श्वेत प्रदर, योनिमार्ग के क्षत मे उत्तरवस्ति के लिये होता है। उदुम्बर सार को उवलते हुए जल में छोडकर विलयन बनाकर प्रयोग मे लाना चाहिये। रक्तार्श, रक्तप्रदर प्रभृति रोगो मे ३-६ माशे की मात्रा मे अठगुने जल मे मिलाकर दिन मे तीन चार वार पीने को देने से भी उत्तम लाभ होता है।

अग्निदग्ध व्रणलेप—मोम, मुलैठी, लोध, राल, मजीठ, श्वेत चन्दन, मूर्वा प्रत्येक ४-४ तोला और गाय का घी ६४ तोला ले। प्रथम मुलैठी, लोध, राल, मजीठ, चन्दन, मूर्वा का चूर्ण करे। उसमे मोम और घी मिला कर २ सेर पानी डालकर घी को आग पर पका ले। पश्चात् छानकर शीशी मे रख ले। सभी प्रकार के अग्नि से जले स्थान पर लगावे। (सु० सू० १३)

भग्न (Fractures)—अस्थिभग्न के रोगियोमे खाने के लिये मास, मासरस (अस्थि का शोरवा), लहसुन, घृत, दूध, मटर की दाल तथा अन्य वलवर्धक आहार देना चाहिये। प्रथम प्रसूता गाय का दूध, मधुरौषधि गण की ओषधियाँ, घृत और लाक्षा चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये।

अस्थिसंहारादि चूर्ण—हरजोड का चूर्ण, लाक्षाचूर्ण, गोधूम चूर्ण (आटा), अर्जुन की छाल का चूर्ण सम भाग मे लेकर मिश्रित करे। इसे घी और चीनी के साथ मिलाकर १ तोले की मात्रा मे ले और ऊपर से दूध पिये। इसके उपयोग से भग्न का सधान शीघ्रता से होता है। अस्थिसहारक का वाह्य तथा आभ्यंतर प्रयोग अकेले ही अस्थिसयोजन मे उत्तम कार्य करता है। इस का सेवन घृत के साथ या दूध के साथ करना चाहिये। क्योकि इस मे सूरण जैसे मुख और गले मे क्षोभ पैदा करने का दुर्गुण है। स्वरस को घृत और शकर या दूध मे

लेने पर यह अवगुण दूर हो जाता है। यह एक रसायन ओषधि है, जिसका कई एक वैद्यक ग्रंथो में अद्भुत गुण लिखा मिलता।[1]

भगंदर (Fistula in Ano)—यह शस्त्रकर्म साध्य रोग है। रोग की प्रारंभिक अवस्था में जातिपत्रादि लेप (भा प्र) से उत्तम लाभ होता है। इस लेप में चमेली की पत्ती, वट के कोमल पत्र, गिलोय, सोठ तथा सेंधा नमक इन्हें सम भाग में लेकर मट्ठे में पीस कर मोटा लेप कर ऊपर से वटपत्र से आवृत कर के लगोटे बाधने से लाभ होता है।

नवकार्षिक गुग्गुलु—हर्रे, बहेरा, आंवला प्रत्येक १-१ तोला, शुद्ध गुग्गुलु ५ तोला, छोटी पिप्पली १ तोला। सबको कूट पीस कर कपड़छान चूर्ण बनाकर घृत के साथ मर्दित कर के २-२ माशे की गोलियाँ बना ले। सुखा कर शीशी मे भर ले। सुबह-शाम १-१ गोली का दूध या जल से सेवन करे। भगदर मे हितकर होता है।

विसर्प (Erisepelas)१-शिरीष के पत्र या छाल के कषाय से प्रक्षालन, पत्र को पीस कर लेप तथा कषाय का पिलाना। उत्तम लाभ दिखलाता है। २-हीरा कासीस ४ रत्ती लेकर १ पौण्ड जल मे घोल कर विलयन बना ले। इस में कपड़ा भिगो कर विसर्पित स्थान पर रखने से भी लाभ होता है। विस्फोट मे अन्यान्य रक्तशोधक चिकित्साओ के साथ शिरीष का भी बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिये।

मसूरिका (Pox)—

निम्बादि कषाय—नीम की छाल, पित्तपापड़ा, पाठा, पटोल पत्र, कुटकी, अडूसे की छाल, दुरालभा, आंवला, खस, श्वेत चदन, लाल चदन। सम भाग में लेकर क्वाथ बना कर पीने से त्रिदोषज मसूरिका, ज्वर, विस्फोट, विसर्प आदि दूर होते हैं। यदि किन्ही दोषो से मसूरिका के दाने अतर्लीन हो गये हो तो इस क्वाथ का दानों के ठीक निकलने के लिये प्रयोग करना चाहिये। मसूरिका में दानों के निकलने से विषमयता कम होकर रोगी को सुख की प्रतीति होती है।

पटोलादि कषाय—पटोलपत्र, गिलोय, नागरमोथा, अडूसा, धमासा, चिरायता, नीम की छाल, कुटकी, पित्तपापड़ा। इन द्रव्यो के क्वाथ को पिलाने से मसूरिका के कच्चे दाने बैठ जाते है, पक्व दाने सूख जाते हैं। विस्फोट तथा ज्वर के शमन के लिये यह उत्तम है।

---

१ किमत्र चित्रं यदि वज्रवल्ली संसेविता शर्करया घृतेन। मासेन रोगान् विनिहन्ति सर्वान् मासत्रयं यौवनमातनोति ॥ (हरमेखला)

मसूरिकामे दानो को निकालना हो तो प्रथमोक्त का और बैठाना हो तो द्वितीयोक्त कषाय का प्रयोग करना चाहिये।

उपदंश, फिरंग

अंकरी—सूखी पत्ती १ तोला, गीली पत्ती २॥ तोला, काली मिर्च, एक छटाक पानी मे पीस कर, चीनी के शर्बत के साथ सेवन करे। सुबह-शाम दिन मे दो बार, कुल एक सप्ताह तक सेवन करावे।

पाददारी (बेवाई Rhagades)—राल और सेधानमक दोनो को सम भाग मे लेकर पीस कर शहद और घृत मिलावे। फिर सरसो का तेल मिला कर मल्हम जैसे बना ले। दारी वाले स्थान पर लगावे।

युवानपिडिका-मुखदूषिका—१ मसूर की दाल को घी में भून कर दूध मे पीसकर लगाने से एक सप्ताह मे ही पर्याप्त लाभ होता है। २ शख भस्म का अवधूलन (मुहासे के ऊपर 'पाउडर' जैसे लगाना) उत्तम कार्य करता है। साथ मे पेट को ठीक रखने के लिये आरोग्यवर्धिनी १-२ गोली सुबह-शाम दिन मे दो बार देना चाहिये।

व्यंग (झाँई)—१ लोध, सोठ, देवदारु, गेरु, मसूर की दाल को पीसकर लेप करना। अथवा २ जायफल को दूध या जल मे पीसकर लेप करना। ३ सीसम की पत्ती का लेप। ४ हल्दी के चूर्ण को मदार के दूध या वट के दूध के साथ लगाना। ५ अमलताश की पत्ती, आमाहल्दी को दही मे पीसकर लेप करे। यह योग व्यग तथा युवानपिडिका दोनो मे लाभप्रद रहता है।

अरुंपिका (रूसी)—कूठ को तवे पर भूनकर चूर्ण बनाकर तिल तैल मे मिलाकर लेप करने से उत्तम लाभ होता है। सिर एव केशो की सफाई का भी ध्यान रखना चाहिये।

इन्द्रलुप्त—१ उस्तरे से उथले चीरे लगा कर या हल्के प्रच्छान लगाकर गुजा के बीजों का लेप करना। २ हाथी के दाँत की अतर्धूम भस्म बनाकर उसमे उतनी ही श्रेष्ठ रसोत मिलाकर जल के साथ पीसकर लेप लगाने से नष्ट हुए केश पुनः उत्पन्न हो जाते है।[1] इस योग को यहाँ तक प्रशसा है कि हाथ के तलवे मे भी लेप करने से बाल आ सकते है। ३ इन्द्रलुप्त-नाशन तैल का सिर पर मालिश करना भी उत्तम है। चक्रदत्त का स्नुह्याद्य तैल या इन्द्रलुप्तघ्न तैल उत्तम रहता है। निर्माणविधि इस प्रकार है। कल्कार्थ-थूहर का दूध, आक का

---

१ हस्तिदन्तमसी कृत्वा मुख्य चैव रसाञ्जनम्।
लोमान्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि॥

दूध, भृंगराज, कलिहारी, वत्सनाभ, गुंजा की जड, इन्द्रायण मूल, सफेद सरसो। इनको समभाग मे लेकर कल्क १ पाव, सरसो का तेल १ सेर, बकरी का मूत्र, गोमूत्र प्रत्येक २ सेर। मद आँच पर तैल का पाक करे। अभ्यगार्थ उपयोग करे।

नापितकण्डु (Barbers Ittch)—१. उदुम्बर सार का लेप। २ दशाङ्ग लेप का लगाना। ३. हरताल, मैनशिल, मुर्दाशख, शुद्ध टंकण बराबर भाग मे लेकर महीन पीसकर वेसलीन मे मल्हम जैसा बनाकर लगाना।

पलित रोग—(अकाल में केशो का सफेद होना)—केशरजन के लिये कई लेप तथा तैल (नीलिनी, महानील तैल) आदि योग है। सर्वोत्तम योग निम्नलिखित है और दृष्टफल है। इनका नाक से नस्य के रूप मे तथा पीने के लिये दोनो तरह से उपयोग होना चाहिये। प्रयोग काल मे व्यक्ति को गाय के दूध और भात पर रहना आवश्यक है। इन द्रव्यो का उल्लेख रसायनाधिकार मे हो चुका है। यहाँ दूसरे ग्रंथ से उद्धरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

विभीतक, निम्ब, गम्भारी, हरीतकी, शाखोटक (सिहोर), लाल गुजा इनमें किसी एक के बीज से निर्मित तैल का नस्य द्वारा प्रयोग करने से निश्चित सफेद बाल काले हो जाते है।[1]

शय्यामूत्र—१ बिम्बी के मूल का रस १ तोले की मात्रा में एक सप्ताह तक करने से सोने में पेशाब करने की बीमारी दूर हो जाती है। २ अहिफेन का अल्प मात्रा मे प्रयोग $\frac{1}{8}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक रात मे सोते वक्त देने से भी लाभ होता है। ३. जिसको शय्या मे निद्रा के समय मूत्रस्राव होता है उसके बिस्तर के भीतर पीली मिट्टी का ढेला रखे। जब मूत्र से आर्द्र हो जावे तो उसको चूर करके तवा पर भून ले। इसको पुन १–३ माशे की मात्रा में घी और शहद के अनुपान से चटावे तो आदत छूट जाती है। ४ कमलगट्टा का चूर्ण १–२ मा० मधु से चटावे।

लोमशातन (केश गिराने के उपाय)—१ कुसुम्भ तैल (बर्रे का तेल) का अभ्यग केशो को गिराता है। २. शख भस्म को एक सप्ताह तक केले के रस में भावित करके सुखा ले। पश्चात् उसमे उतनी ही मात्रा मे हरताल मिलाकर रख ले। इसी में थोडा कली का चूना मिलाकर रख ले। इस चूर्ण के लेप से केश गिर जाते है।

---

१ विभीतनिम्बगाम्भारी शिवा शैलुश्च काकिनी।
एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम्॥ (शा मं)

अलस (अंगुलियों का सड़ना)—पंचगुण तैल या मरिचादि तैल का लगाना।

मुखपाक (Stomatis)—

१ शुद्ध टकण का मधु से लेप। २ दुग्धपाषाण (सग जराहत) मधु से लेप करना। ३ खदिरादि वटी का मुख मे धारण करना। ४ चमेली पत्र या सहिजन के छाल का काढा बनाकर कुल्ली करना। ५. नित्य मृदु रेचन (यष्ट्यादि चूर्ण६ मा.) देना। वार-बार होने वाले मुख पाक मे अकुरित चने का सेवन एक मास तक।

६. जात्यादि कषाय—चमेली की पत्ती, अनार की पत्ती, बब्बूल की छाल, बेर की जड। प्रत्येक ६-६ माशे। जौकुट करके ६४ तोले जल मे पकावे। आधा शेष रहने पर उसमे शुद्ध फिटकिरी १ माशा और शुद्ध टकण १ माशा मिलाकर रख ले। दिन मे कई वार कुल्ली करे। इससे मुख और गले के पकने मे अच्छा लाभ होता है।

तुण्डिकेरी (Tonsils enlarged)—१ कफकेतु (कासरोगाधिकार) का पानी में पीस कर गले मे बाहर से लेप। २ अध.पुष्पी (अधाहुली) की पत्ती, शहतूत की पत्ती, रहर की पत्ती, मरिच ७ दाने मिलाकर एकत्र महीन पीस कर आग पर गर्म करके गले के बाहर से बाँधे। यथावश्यक एक सप्ताह से लेकर एक मास तक प्रयोग करने से पर्याप्त लाभ होता है। ३. गृह धूम (रसोई घर का धुवा), सेंधानमक और मधु एक मे मिलाकर गले के अदर लेप करे। ४ कल्याणावलेह (वातरोगाधिकार) ३ माशा मे शु टकण ४ रत्ती, १ माशा मधु मे मिलाकर दिन में दो बार चटावे। ५. पीत सैरेयक (पीली कटसरैया का क्वाथ बनाकर उससे कई बार गार्गल भी रोगी को कराना चाहिये।

चलदन्त (दाँतों के हिलने)—मे मौलसिरी (वकुल) की छाल का मजन उत्तम रहता है। किसी मीठे तेल का अथवा वातरोगाधिकार मे पठित तैलो का, पंचगुण तैल का अथवा इरिमेदादि तैल का मुह मे कुल्ला करना उत्तम रहता है।[1]

दाँतों मे पानी का लगना—अजवायन, हल्दी और सेधानमक का महीन चूर्ण बनाकर सरसो के तेल मे मिलाकर मजन करना उत्तम होता है।

---

१ एषः सुगन्धमुकुलो वकुलो विभाति वृक्षाग्रणी प्रियतमे मदनैकबन्धु।
यस्य त्वचा च चिरचर्वितया नितान्तं दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्या ॥
(वै जी)

दशनसंस्कार चूर्ण—सोंठ, हरड़, मोथा, कत्था, कपूर, सुपारी को अन्तर्धूम भस्म, काली मिर्च, दालचीनी तथा लवङ्ग का चूर्ण १–१ तोला लेकर समग्र चूर्ण के बराबर खड़िया (Chalk) मिला ले। इसके मंजन से दाँत और मुख के रोग दूर होते हैं।

वज्रदन्त मंजन—त्रिफला त्रिकटू तूतिया तीनो नोन पतंग।
दन्त वज्र सम होत है माजूफल के संग।

इस चूर्ण का उपयोग मसूड़े से होने वाले रक्तस्राव मे तथा दन्त वेष्ट (Pyorrhoea) मे करना चाहिये।

इरिमेदादि तैल—खैर की छाल २०० तोला, मौलसिरी की छाल २०० तोला ले कूट २०४८ तोला जल में डालकर पकावें। जब ५१२ तोला जल बाकी रहे तब कपड़े से छान ले। पीछे उसमें १२८ तोला तिल का तैल और खैर की छाल, लौंग, गेरू, अगर, पद्माख, मजीठ, लोध, मुलैठी, लाख, बड की छाल, नागरमोथा, दालचीनी, जायफल, कबाबचीनी, अकरकरा, पतंग, धायके फूल, छोटी इलायची, नागकेसर और कायफल की छाल—प्रत्येक १–१ तोला ले इनका कल्क करके मिलावे। पीछे तैलपाक विधि से मदी आँच पर पकावे और खोचे से हिलाता रहे। जब तैल सिद्ध हो जाय तब ठंडा होने पर उसमे एक तोला कपूर का चूर्ण मिलाकर कपड़े से छानकर शीशी में भर लें।

उपयोग—इस तैल से मुँह का पकना, मसूड़ो का पकना और उसमे मवाद (पीप) होना, दातो का सड़ना, दातो में छिद्र होना, दाँत फटना, दातो मे कीड़े होना, मुँह की दुर्गन्ध तथा जीभ, तालू और ओठ के रोग ये सब नष्ट होते है।

वक्तव्य—शार्ङ्गधर मे यह पाठ इरिमेदादि तैल के नाम से दिया है उसमें इरिमेद के स्थान मे खैर तथा मौलसिरी की छाल लेकर बनाने से यह योग अधिक गुणकारक होता है।

कर्णशूल (Earache)—

१ आक या मदार के पके हुए पत्ते पर घी दोनो तरफ चुपड कर प्रदीप्त आग पर तपाकर, निचोड़ कर रस निकाले। इस रस को कान मे गुनगुना कर छोड़े। इससे कान की तीव्र वेदना भी शान्त होती है। (भै. र.)

२—गाय, भैस आदि अष्टमूत्रो में से किसी एक मूत्र को लेकर कपड़े[1] से छानकर मन्दोष्ण कान मे पूरण करने से कान की वेदना शान्त होती है। (भै. र)।

१. अष्टानामपि मूत्राणां मूत्रेणान्यतमेन वा।
कोष्णेन पूरयेत्कर्णं कर्णशूलोपशान्तये॥

कर्णस्राव (Chroni Ear Discharge)—

१ जलकुम्भी तैल—जलकुम्भी का कल्क १६ तोला, तिल तैल ६४ तोला, जलकुम्भी का स्वरस २५६ तोला। सबको तैल पाक विधि से पकावे। पश्चात् कपड़े से छानकर शीशी में भर ले। कान को साफ करके कान मे पूरण करने से कान से मवाद का आना कम होता है और वेदना भी शान्त होती है।

२—पुराने कर्णस्राव मे विषगर्भ तैल (वातरोगाधिकार) का पूरण भी उत्तम कार्य करता है।

दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण नासारोग या अपीनस

१. चित्रकहरीतकी—चित्रकमूल का क्वाथ ४०० तोला, आँवले का स्वरस या कषाय २५६ तोला और गुड ४०० तोला। इन सबको एकत्र करके पकावे। जब अवलेह जैसे हो जावे तब उसमे सोठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, तेजपात, इलायची ८-८ तोला और यवाखार २ तोला। इनका कपड़छान चूर्ण मिलाकर रख छोडे। दूसरे दिन ठंडा होने पर उसमें ३२ तोला शहद मिलाकर भर कर रख दे। इसमें प्रक्षेप द्रव्यो मे ८ तोले कायफर का चूर्ण मिलाने से और उत्तम लाभ होता है। (भै. र)

सेवन विधि—६ माशा की मात्रा मे प्रात -सायम् गर्म दूध के साथ। उपयोग—पुरानी नाक की बीमारी, बार-बार होने वाले प्रतिश्याय (जुकाम), कण्ठशालूक, गलशुण्डी तथा तुण्डिकेरी रोग मे उत्तम कार्य करता है।

२ केवल मधुयष्टी चूर्ण ६ माशा की मात्रा मे घृत ६ माशा और मधु ६ माशा के साथ मिलाकर प्रात -साय सेवन करने से भी पीनस प्रभृति व्याधियो में उत्तम लाभ होता है। इसे 'मधुक रसायन' कहते हैं।

३ व्याघ्री तैल—तिल तैल २० तोला, कल्कार्थ कंटकारी मूल, दन्ती पंचांग, वच, सहजन की छाल, तुलसी, सिन्दुवार, त्रिकटु और सैन्धव का मिश्रित कल्क ५ तोले। पानी १ सेर। यथाविधि तैल को पकाकर छानकर शीशी मे भर ले। नाक मे इस तैल की बूँद (Nasaldrop) छोडने से बहुत प्रकार के नासा रोग ठीक हो जाते हैं। (भै र)

नेत्राभिष्यंद—१—दारुहरिद्रा के क्वाथ से बने रसाञ्जन को स्त्री-स्तन्य या गोदुग्ध मे मिलाकर, खौलाकर, छानकर, ठडा करके नेत्रो मे टपकाने से अभिष्यन्द (जिसमे नेत्र की लालिमा, अश्रुस्राव, दाह, वेदनादि पाई जाती है) ठीक होता है।

२—सहिजन के पत्तो का स्वरस या कषाय खूब साफ छानकर मधु मिलाकर अञ्जन कराने या टपकाने से अभिष्यन्द मे लाभ होता है।[1]

३—फुल्लिका द्रव—परिस्रुत सलिल (Distilledwater) ८ तोला, मिश्री ४ तोला, सेन्धा नमक ४ तोला, शुद्ध स्फटिका ४ तोला। मिश्रित नेत्र की बूंदें।

४—नेत्रबिन्दु—गुलाबजल ८ तोला, कपूर ६ माशा, अफीम १ तोला, रसोत ८ तोला। मिश्रित। नेत्र मे बूदें डाले।

चन्द्रोदया वर्त्ति—शख की नाभि, विभीतक मज्जा, हरीतकी, मनःशिला, पिप्पली, मरिच, वच, कूट। सम भाग मे लेकर बकरी के दूध में पीसकर पतली वर्त्ति बनाकर रखले। सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद पानी में घिसकर अजन लगाने से तिमिर, मासवृद्धि, काच, पटल, रात्र्यन्ध (रतौंधी) एक वर्ष तक का पुष्प (फूला) को दूर करती है।

रतौंधी के रोगियो को आहार में बाजरे की रोटी, दूध, नेनुवा का शाक, पका आम या आम का अमावट प्रचुर मात्रा में खाने को देना चाहिए। साथ में चन्द्रोदया वर्त्ति का अंजन भी कराना चाहिए।

त्रिफलाद्य घृत—गोघृत १ सेर, त्रिफला क्वाथ, शतावरी का स्वरस या क्वाथ २–२ सेर, कल्कार्थ मधुयष्टी चूर्ण २० तोले, मन्द आंच पर पाक करले। इस घृत की १ तोले की मात्रा दिन में दो बार दूध में डालकर प्रात.-सायं पिये। अथवा शहद के साथ मिलाकर खावे। इसका नेत्रो मे अंजन भी किया जा सकता है। तिमिर, दृष्टिमाद्य प्रभृति बहुविध नेत्ररोगो में इसका सेवन आश्चर्यजनक लाभ दिखलाता है।

सप्तामृत लौह—त्रिफला चूर्ण, मधुयष्टी चूर्ण तथा लौह-भस्म सम भाग मे लेकर बना ले। मात्रा १–२ माशा। अनुपान घृत और मधु। विविध नेत्र रोगो में इसका सेवन लाभप्रद है।

त्रिफला चूर्ण—नेत्र मे बड़ा प्रशसित है। इसका घृत एव मधु के अनुपान से सेवन अथवा इनका काढा या शीतकषाय बनाकर नेत्रो का नित्य प्रक्षालन बहुविध नेत्र रोगो मे लाभप्रद रहता है।

---

१. लोलिम्बराजकविना वनितावतंसे शिग्रोरमुष्य कथितस्तु किमुपयोग।
एतस्य पल्लवरसात् समधो. किमन्यद् दृग्व्याधिमात्रहरणे महिलाग्रगण्ये।
(वै. जी)

अव्रण शुक्र (Corneal opacity)

१—त्रिफला घृत का अजन और पिलाना। २—चन्द्रोदयावर्त्ति का अंजन। ३—सुवर्णमालिनी वसन्त या वसन्त मालती (ज्वराधिकार) का मधु मे घिस कर नेत्र में अंजन भी उत्तम कार्य करता है।

शिर शूल (Headache)

शिर:शूलाद्रि वज्र—शुद्ध पारद ४ तोला, शुद्ध गधक ४ तोला, लौह भस्म ४ तोला, निशोथ ४ तोला, शुद्ध गुग्गुलु १६ तोला, त्रिफला ८ तोला तथा मुलेठी, छोटी पीपल, सोठ, गोखरू, वायविडङ्ग, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, छोटे गोखरू, बेल, अरणी, सोनापाठा, गंभारी, पाढल प्रत्येक १–१ तोला। प्रथम पारे और गधक की कज्जली कर उसमे लौह भस्म तथा अन्य द्रव्यो का चूर्ण मिलावे। पीछे साफ किये हुए गुग्गुलु को इमाम दस्ते मे डाल कर कूटे। जव गुग्गुलु नरम हो जावे तो उसमें अन्य द्रव्य मिलाकर दशमूल कषाय और भृङ्गराज स्वरस या कषाय की ३–३ भावना देकर ४–४ रत्ती की गोलिया वना ले। सुखाकर शीशी मे भर कर रख ले।

मात्रा और अनुपान—२–२ गोली सुवह-शाम। वकरी का दूध, गाय का दूध या पथ्यादि क्वाथ के अनुपान से सभी प्रकार के शिर शूल मे लाभप्रद।

पथ्याषडङ्ग कषाय—हर्रे का दल, वहेरे का दल, आवला, चिरायता, हल्दी, नीमकी छाल, गिलोय। प्रत्येक सम भाग जौकुट कर रख ले। २ तोला लेकर ३२ तोले पानी मे खौलाकर ८ तोला शेष रहने पर उतारे फिर गुड आधा तोला मिलाकर पीने को दे। यह एक परमोत्तम योग है, जो सभी प्रकार के शिर शूल में लाभप्रद होता है।[1]

गोदन्ती भस्म—१ माशा की मात्रा मे दिन मे दो–तीन बार घी और चीनी के साथ सभी प्रकार शिर शूलो मे देना चाहिये।

षड्विन्दु तैल—एरण्डमूल, तगर, सौफ, जीवन्ती के मूल, रास्ना, अगर, सेधानमक, दालचीनी, वायविडङ्ग, मुलैठी और सोठ प्रत्येक १॥–१॥ तोला ले। वकरी के दूध मे पीस कर कल्क वनावे। उसमे काले तिल का तैल ६४ तोले, वकरी का दूध ६४ तोले और जल २५६ तोले डाल कर तैल पाक

---

१. पथ्याऽक्षधात्रीभूनिम्वनिशानिम्वामृतायुता।
कृत क्वाथ षडङ्गोऽयं सगुड. शीर्षशूलहृत्॥ (शा. स)

विधि से पकावे। जब तैल सिद्ध हो जाय तो कपडे से छान कर शीशी में भर ले।

उपयोग—शिर शूल के रोगियो मे ६–६ बूंद की मात्रा दोनो नथुनो से रोगी को चित लेटाकर नाक मे छोडे। शिर.शूल मे सद्य: आराम मिलता है।

अन्य नस्य—शिर शूल में नस्य एक चिकित्सा का उत्तम साधन है। एतदर्थ कायफर की छाल का महीन कपडछन चूर्ण, नीबू (कागदी) के रस का, अपामार्ग के रस का, फिटकरी और कपूर के महीन चूर्ण का अथवा नौसादर और चूने का मिश्रित गंध का भी उत्तम रहता है। एक नस्य और बडा उत्तम कार्य करता है इसको शीशी में बनाकर रखना चाहिये और बीच-बीच मे शिर शूल मे पीडित रोगी को सुंघा दिया करे। कपूर, सत अजवायन, पुदीने का सत, लोहबान का सत मिश्रित। कई बार शुद्ध नवु का अंजन भी सद्य. शिर शूलशामक होता है।

रज.कृच्छ्र, रजोल्पता, रजावरोध

रजःप्रवर्त्तिनी वटी—१. शुद्ध सोहागा १ भाग, हीराकासीस १ भाग, घी मे सेकी हीग ½ भाग, मुसब्बर १ भाग। घृतकुमारी के रस में घोट कर ४–४ रत्ती की गोली बना ले। मात्रा—१–२ गोली दिन में तीन या चार बार जल मे।

२ कुमार्यासव—भी भोजन के बाद २–२ चम्मच पीने को देना चाहिये।

३ मूली, मेथी और गाजर के बीज को बराबर लेकर बनाया चूर्ण मात्रा ३ माशा। गुड़ के गर्म शर्बत से।

रक्तप्रदर तथा योनिव्यापद

सिद्धामृत योग—१. शुद्ध सुवर्ण गैरिक, दुग्धपाषाण, दन्तीभस्म, शुद्ध फिटकिरी, प्रवाल पिष्टि। सम मात्रा में लेकर बनाया महीन चूर्ण। मात्रा १–२ माशा दिन में दो या तीन बार। अनुपान केले की जड़ का रस १ छटांक या गूलर का काढा। यह श्वेत तथा रक्त दोनों प्रदर में उपयोगी है।

२. बर्रे या ततैया के छत्ते को जलाकर उसकी राख। ४-४ रत्ती की मात्रा में दिन मे तीन बार शुक्ति भस्म २-२ रत्ती मिलाकर उत्तम कार्य करता है। रक्त को बन्द करता है।

३. जंगली कबूतर की बीट को साफ करके महीन चूर्ण करे। कपड़े से छान कर शीशी में भर ले। १-२ मा० की मात्रा में चावल के पानी से दे। उत्तम रक्तप्रदर नाशक होता है।

४. दार्व्यादि कषाय—दारुहल्दी, रसोत, अडूसे की छाल, नागरमोथा, चिरायता, बेलगिरी, शुद्ध भल्लातक, रक्त चन्दन, नील कमल। इसका यथाविधि बना क्वाथ सभी प्रकार के प्रदर रोग मे लाभप्रद है। कठिन प्रदर के रोगियो मे इसका उपयोग अवश्य लाभप्रद होता है।[1]

५ पुष्यानुग चूर्ण—पाठा, जामुन तथा आम के बीज की गिरी, पाषाणभेद, रसोत, अम्बष्ठा, मोचरस, लज्जालु, मजीठ, कमलकेशर, नागकेशर या केसर, अतीस, मोथा, बिल्वफल मज्जा, पठानीलोध, सुवर्ण गैरिक, कायफल, काली मिरच, सोठ, मुनक्का, लाल चन्दन, सोनापाठा और कुडे की छाल, अनन्तमूल, धाय के फूल, मुलैठी तथा अर्जुन की छाल। इन सब औषधियो को बराबर मात्रा मे पुष्यनक्षत्र मे लेकर इकट्ठी कर लेवे। पुन. पुष्य नक्षत्र मे ही इस चूर्ण योग को बनावे। मात्रा ३-६ माशे। अनुपान चावल का पानी। सभी प्रकार के योनिव्यापद एव प्रदर मे लाभप्रद।

६. अशोकारिष्ट—अशोक की छाल ५ सेर, लोध २॥ सेर ले। जौ-कुट करके ४०९६ तोले जल मे पकावे जब चतुर्थांश शेष रहे तब कपडे से छानकर उसमे चीनी ५ सेर, शहद २॥ सेर, जौकुट की हुई मुनक्का १ सेर, धाय के फूल ६४ तोले। जीरा, नागरमोथा सोठ, दारुहल्दी, कमल, हर्रे, बहेडा, आँवला, आम की गुठली, केशर, अडूसा, श्वेत चन्दन, रसौत, पतग, खैर का बुरादा, बेल, सेमल का फूल या मोचरस, बरियरा का मूल, भिलावा, अनन्तमूल, गुडहुल के फूल, दालचीनी, बड़ी इलायची और लवङ्ग प्रत्येक ४–४ तोला कपडछान चूर्ण डालकर किसी मिट्टी के बडे पात्र में या सागोन की लकडी के पीपे मे भरकर मुह बन्द करके एक मास तक रख दे। एक मास पश्चात् छानकर शीशियो मे भर कर रख ले। मात्रा भोजन के बाद २–४ तोला बराबर पानी मिलाकर सेवन करे। स्त्रियो के सभी गर्भाशयसम्बन्धी रोगो मे लाभप्रद।

७. फल घृत द्रव्य तथा निर्माण विधि—मजीठ, मुलैठी, कूठ, हरड, बहेरा, आँवला, चीनी, वच, अजमोद, हल्दी, दारुहल्दी, घी मे सिंकी हुई हीग, कुटकी, कमल, चन्दन, मुनक्का, पद्माख, देवदार, मेदा, महामेदा, बिदारीकन्द, काकोली, असगन्ध, छोटी पीपल, चमेली के फूल, वंशलोचन, बायविडंग, कमल, बरियरा के मूल, कायफल, अनन्त मूल, नागरमोथा, गोखरू, छोटी कटेरी और

---

१. दार्वीरसाञ्जनकिरातवृषाब्दबिल्वभल्लातकैरवकृतो मधुना कषायः।
पीतो जयत्यतिबलं प्रदरं सशूल पीतासितारुणविलोहितनीलशुक्लम् ॥

बड़ी कटेरी प्रत्येक १-१ तोला ले कूट कर कपड़छान कर जल में पीसकर इनका कल्क करे। फिर इस कल्क में गाय का घी १२८ तोला, शतावर का रस २४८ तोला मिलाकर घृतपाक विधि से पकावे। जब घृत तैयार हो जाय तब कपड़े से छानकर काच के बरतन में भरकर रख दे।

मात्रा और अनुपान—आधा तोला से १ तोला तक उतना ही मिश्री का चूर्ण मिलाकर दे और ऊपर से दूध पिलावे।

उपयोग—जिस स्त्री को बारम्बार गर्भपात होता हो, मरे हुये या अल्पायु बालक होते हों और एक बालक होकर फिर गर्भ न रहता हो ऐसी स्त्री को इस घृत का सेवन कराने से बुद्धिमान् और स्वरूपवान् बालक होता है।

गर्भशूल, गर्भक्षोभ—गर्भिणी को गर्भकाल में शूल होने पर घिरनी की की मिट्टी को पानी में घोलकर पिलाना चाहिये। गर्भक्षोभ में रक्तप्रदरोक्त रक्तस्तंभक उपचार करे।

सूतिका रोग

१ दशमूल क्वाथ—दशमूल का क्वाथ बनाकर उसमें एक तोला घी मिलाकर पिलाना।

२. सूतिका दशमूल क्वाथ—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, नीलझिण्टीमूल, गन्धप्रसारणी, सोंठ, गिलोय और नागरमोथा। क्वाथ।

३ दशमूलारिष्ट—(वातरोगाधिकार) भोजन करने के बाद २-४ तोला समान जल मिलाकर। दिन में दो बार।

बाल रोग

१- बालचातुर्भद्रिका—नागरमोथा, पिप्पली, अतीस और काकड़ासींगी। सम भाग में लेकर महीन बनाया चूर्ण। १-४ रत्ती तक की मात्रा में पानी में घिसकर चटाना, मातृस्तन्य में घोलकर पिलाना अथवा शहद के साथ चटाना। शिशुओं के ज्वर, कास, अतीसार, श्वास, वमन सभी रोगों में लाभप्रद रहता है। यह एक इष्टकर सिद्ध योग है।[1]

२. लाक्षादि तैल (ज्वराधिकार)—की मालिश भी बालकों के पुराने ज्वर में प्रशस्त है।

---

१ घनकृष्णारुणाशृङ्गीचूर्णं क्षौद्रेण संयुतम्।
शिशोर्ज्वरातिसारघ्नं कासश्वासवमीहरम्॥

३. यदि बालक मातृस्तन्यपायी हो तो माता के लिए पथ्यादि की व्यवस्था करना भी अपेक्षित रहता है।

४. शुद्ध टंकण ½ से १ रत्ती की मात्रा मे मधु से चटाने के लिए बच्चो की खाँसी मे उत्तम कार्य करता है।

५ दाडिमचतुसम—जायफल, लौग, श्वेत जीरा और शुद्ध सोहागे को बराबर मात्रा मे लेकर दाडिम के फल के मध्य मे भरकर, कपडमिट्टी करके पुटपाक कर ले। फिर पुट मे से निकाल कर बकरी के दूध मे पीसकर सुखाकर शीशी में भर कर रख ले। बच्चो का अतिसार एवं आमशूल मे लाभप्रद। मात्रा २-४ रत्ती। अनुपान मधु।

६ महागन्धक योग (ग्रहणी अधिकारोक्त)—बालरोगो मे उत्तम लाभ दिखलाता है।

७ अष्टमंगल घृत—गोघृत १ सेर, कल्कार्थ— वच, कूठ, ब्राह्मी, सरसो, अनन्तमूल, सेन्धा नमक तथा पिप्पली के कल्क से सिद्ध घृत को बनावे। बालको मे एक बल्य योग है। उनकी मेधा और आयुष्य का वर्द्धक है। बालक की बाल ग्रह के उपसर्ग से रक्षा करता है।

बालशोष १—घोघे को पानी मे उबाल कर एक-दो घोघे का रस (शम्बूक मासरस) उत्तम रहता है।

२—अश्वगध, को दूध मे पकाकर (२ माशा अश्वगध, दूध ½ पाव, जल ½ पाव) पका कर, छान कर, मिश्री मिला कर, मीठा कर के देना भी उत्तम रहता है।

३ रससिन्दूर ½ र०, प्रवाल भस्म ½ र०, शृङ्ग भस्म ½ र०, शंख भस्म ½ र०, शुक्ति भस्म ½ र०, वराट भस्म ½ र०, शंबूक भस्म ½ र०, दन्ती भस्म १ रत्ती। मिलाकर २ मात्रा मे करके मधु या घृत के साथ देने से अच्छा लाभ होता है।

४—अर्कक्षीर का एक या दो बूद नाक से नस्य रूप मे देना भी उत्तम रहता है। इससे छीकें आती है। बालक की दशा मे सुधार होता है। मास में एक, दो या तीन बार देना पर्याप्त होता है।

प्रतिविष

वृश्चिक दंशमें—१ अपामार्ग मूल का ऊपर से नीचे को दशित स्थान तक तीन बार तक घुमाना। इसमे अग से जडी का स्पर्श न हो और ऊपर से नीचे को एक ही दिशा मे घुमाना अपेक्षित रहता है।

२. अर्क क्षीर का या पत्ती के रस का नाक में टपकाना या नस्य देना।

सर्पदंशमें—पीपल के टहनी को तोड़े उसे चाकू से कलम जैसे नुकीला करे। फिर कान मे पर्दे तक उसको पहुँचावे। बडे वेग से वह टहनी अंदर की ओर खिचेगी। मजबूती से पकड कर रखे। सर्पविष में उत्तम कार्य करती है।

निम्नलिखित विषों मे प्रतिविष

विविध अम्ल या तेजाब में—शंख या वराट भस्म—सज्जीखार और खाने का सोडा।

कार्बोलिक अम्ल में—चूने का पानी और शर्बत।

विविध क्षारों में—तक्र, नीबू का सिरका का घोल।

फास्फोरस में—१-२ रत्ती की मात्रा मे तुत्थ पानी में घोलकर १५, १५ मिनट पर देता चले वमन होगा विष निकल जावेगा।

संखिया में—वन चौलाई का रस बडी मात्रा मे पिलावे। कपास के बीज की मीगी भी हितकर है।

पारद में—गधक, दूध और जौ का सत्तू। जीर्ण विष मे शुद्ध गंधक और अपामार्ग स्वरस।

नाग में—अपामार्ग या अश्वत्थ कषाय।

ताम्र में—दूध, जौ मण्ड।

जीर्ण विष में—अपामार्गक्षार।

अहिफेन में—हींग का घोल, करेमू का शाक। शुंठी और अदरक भी प्रशस्त है।

धतूरा में—वैगन का स्वरस, नीबू का रस, भुने जीरे का चूर्ण, कमलपत्र-चूर्ण और इमली प्रशस्त है।

वत्सनाभ में—धतूरे के पत्तो का रस, भल्लातक क्षार, घी, ताम्बूल पत्र स्वरस या कपूर का प्रयोग करे।

करवीर (कनेर) में—हरीतकी।

भल्लातक में—तिल, गुड, गरी, विल्वपत्र, कपास के वीज, हरिद्रा, कचूर, इमली। मूली का रस वाह्य एवं आभ्यंतर प्रयोग

अर्क क्षीर में—नीली रस।

तम्बाकू में—गुड, गन्ने का रस और घी।

स्नुही मे—सुवर्णपुष्पी-मूलत्वक्।

मधु-घृत समजनित विकार में—जल।

भाँग में—तुलसी मंजरी ।

वरटी-भृंग दंश में—अमोनियम् फोर्ट का लगाना, किरोसिन तेल का लेप ।

उच्च रक्तनिपीड (Hypertension)—(Hypertension with Albuminurea)

१. रसराज (वातरोगाधिकार) १–१ गोली प्रात.-साय दूध से । चंद्रप्रभा वटी रात में सोते वक्त २ गोली गाय के दूध से । साथ मे निम्नलिखित द्रव्यो से निर्मित कषाय दिन में दो बार ।

जटामासी, पुनर्नवा, गोखरू, वेल की छाल, सोठ, गुडूची, हरीतकी, एरण्ड मूल, वासा, पीपरि, पीपरामूल, वायविडङ्ग, पोहकरमूल, जपापुष्प, सेमल का फूल, अनार का फूल, नीलोफर, मधुयष्टि, आँवला, खस, हल्दी, दारुहल्दी, चन्दन, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, शतावरी तथा वृहती । [कविराज विश्वनाथ उपाध्याय दुमका के सौजन्य से प्राप्त]

अनिद्रा—१ आमलकी और निशोथ चूर्ण समभाग मिश्र । मात्रा ३ माशा भैंस के दूध से प्रातः ।

२. जटामासी, पीपरामूल, शंखपुष्पी समभाग मे मिश्र चूर्ण ३ माशा रात में सोते वक्त भैंस के दूध से ।

अपस्मार, मूर्च्छा—उष्ट्री या गर्दभी क्षीर का सेवन उत्तम रहता है ।

आमवात—में अन्य उपचारो के साथ मद्य का प्रयोग भी उत्तम मिला है ।

माषादि मोदक—छिल्के रहित उड़द का चूर्ण, जौ का आटा, चावल का आटा, गेहूँ का आटा तथा पिप्पली चूर्ण । वरावर मात्रा मे लेकर गाय के घी मे भूनकर रख ले । पश्चात् सव चूर्ण के वरावर मिश्री लेकर उसमे दुगुना जल डालकर आग पर चढाकर फिर उतार कर १–२ तोले का लड्डू बना ले । प्रातः-साय एक एक लड्डू जल या दूध से । यह एक सस्ता एवं उत्तम वाजीकर है ।

अधोग रक्तपित्त—मूत्रमार्ग से रक्त जाता हो तो शतावरी १ तोला, गोखरू बीज १ तोला, दूध १६ तोला और पानी ३२ तोला मिलाकर खौलाकर दूध मात्र शेष रहे तो उतार कर पिलावे । इसी प्रकार मलमार्ग से रक्त निकल रहा हो तो मोचरस से सिद्ध दूध पिलावे । ये दोनो चरक के योग हैं और दृष्ट-फल हैं ।

रक्तशोधक कषाय—गिलोय, गोरखमुण्डी, अनन्तमूल, चिरायता, चोपचीनी, पोहकर मूल, रास्ना, जवासा मूल, अर्जुन, उसवा, हरें, वहेरा, आँवला, मुनक्का । इन द्रव्यो का कषाय सभी प्रकार की रक्तदुष्टि मे लाभप्रद पाये गये हैं ।

भेषज-सेवन विचार–औषधि सेवन के दस काल बतलाये गये हैं। इनमें रोग तथा रोगी के बल एवं दोष का विचार करते हुए दवा का सेवन कराना चाहिये। कफ की अधिकता में खाली पेट औषधि देनी चाहिये। अपान वायु के दोष में भोजन के पूर्व, समान वायु के दोष में भोजन के मध्य में, उदान वायु के कोप में भोजन के उपरान्त, व्यान वायु के कुपित होने पर प्रात काल में औषधि का सेवन कराना चाहिये। प्राण वायु के कुपित होने पर मुहुः मुहु या ग्रास में मिला कर या ग्रासान्त में औषधि दी जानी चाहिये। विष, वमन, हिक्का, श्वास, कास और तृषा मे बार बार औषधि बरतनी चाहिये। अरोचक में भोजन के साथ मिलाकर औषधि देना। कम्प, आक्षेप और हिक्का में स्वल्प भोजन के साथ सामुद्ग (भोजन के पहले और बाद मे) औषधि दे। ऊर्ध्व जत्रुगत रोगो में रात में सोते वक्त औषधि देनी चाहिये।

औषध सेवन काल[1]

१. अनन्न औषध–औषध को खाकर उसके जीर्ण होने पर तब भोजन किया जावे। अथवा आहार के जीर्ण होने पर औषधि। अथवा औषध के जीर्ण होने पर आहार लिया जावे।

२. अन्न के आदि में–(प्राग्भक्त) भोजन के पहले। पहले औषधि खाकर पश्चात् भोजन करना।

३. मध्य में–आधा भोजन करके औषधि खाना, पश्चात् आधा भोजन करना।

४. अंत मे–भोजन के उपरान्त तुरन्त औषधि खाना।

५. कवलान्तर–ग्रासो के मध्य में (ग्रासो के मध्य में मिलाकर नही) खाना।

६. ग्रास ग्रास में–प्रत्येक ग्रास में मिलाकर औषधि का सेवन।

७ मुहुः मुहुः–औषधि का बार बार चाटने या चूसने या पीने के लिये देना।

८ सान्न–आहार में औषधि को मिलाकर खाना

९ सामुद्ग (सम्पुट)–पहले औषध फिर भोजन, फिर औषध लेना सामुद्ग है। इसमें आहार दो औषध के बीच में आने से सम्पुटित हो जाता है।

१०. निशाकाल–रात मे सोते समय औषधि का खिलाना।

---

१ युञ्ज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे।
ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशि चौषधम्॥ (अ हृ. सू १३)

आचार्यपरम्परा प्रशस्तिः

चिन्तामणेर्गणपतेस्समवाप्तमत्या केदारगौर्यनुगृहीतविवेकशक्त्या ।
विद्यागुरोर्विभवतः परमार्थभक्त्या सोऽहं प्रशस्तिमुचितां प्रणयेऽहऽरीत्या ॥

वृद्धत्रयीये समये व्यतीते गते क्रमे प्रौढचिकित्सकानाम् ।
प्रादुर्बभूवावनिमण्डलश्रीगंगाधरः सर्वनरेन्द्रमान्यः ॥

यो जल्पकल्पैश्चरकं ततान व्याख्याप्रसंगैर्विविधैर्मनोज्ञैः ।
कालक्रमेणाथ त एव जाताः कल्पद्रुमा मानववैद्यगोष्ठ्याम् ॥

वैद्यः सुविद्यो यशसानवद्यः सिद्धौ प्रसिद्धोऽप्यथ साधुवृत्तौः ।
देवोपमैः शिष्यगणैरुपेतो बृहस्पतिश्चापरवद् बभासे ॥

वेदानुशिष्टे पथि शिष्टजुष्टे संस्थापिते तस्य तु वैद्यपीठे ।
त्रिसूत्रसम्यक्तरबोधलुब्धाश्छात्राः शरण्यं तमुपेयिवांसः ॥

सुशिक्षिता लब्धबलप्रतिष्ठाः सुस्नातकाः शास्त्रगिरासमेतः ।
हाराणचन्द्रो निखिलागमज्ञो राजेन्द्रसेनश्चरके विशिष्टः ॥

श्रीधर्मदासश्चरकावतारः सश्यामदासो निखिलार्थवेत्ता ।
सर्वेऽभवन् सिद्धतमा नरा भुवि स्त्रीभिश्च पुम्भिः परिपूजिताः समैः ॥

अन्येऽपि जाता महिमावदाताः परम्परां तां परिबृंहयन्तः ।
गुरोरधीताखिलवैद्यविद्याः पीयूषहस्ताः कुशलाः क्रियासु ॥

तेभ्यो नमस्कारपरः सदाऽहं श्रीधर्मदासान् प्रति भक्तिमावहे ।
गुरोर्गुरून् स्वान्नतिभिर्विशेषयन् स्वीयोचिता यत्खलु पक्षपाताः ॥

अधीतवान् यः सदशैश्चतुर्भिर्वर्षैः समग्रं चरकं गुरुभ्यः ।
तच्चारकं पाठनशीलमग्र्यं सुदुर्लभं चानुपमं प्रशस्यम् ॥

आविर्भवात्तस्य विबोधसिन्धोः प्रकाशनान्नूतनपाठशैल्याः ।
पुनः प्रतिष्ठां यदवाप वेदः स्वायुर्हितात्मा भुवि विश्रुतो यः ॥

विद्यासमृद्धौ सततानुरागी शिष्योपकारे निरतः कृपालुः ।
वैद्यावतंसो मतिमान् सुधीरः स धर्मदासः कविराजराजः ॥

एतैर्गुणैर्लब्धमना महामना यो मालवीयः परमादरेण ।
स विश्वविद्यालयवैद्यविद्यालयस्य मूर्धन्यपदे न्ययुङ्क्त ॥

घनान्धकारावृतमाप्य तत्त्वं प्रकाशयामास वचोमयूखैः ।
प्रकाशकस्तम्भमिवाब्धिमार्गे सांयात्रिकाणां भिषजां नवानाम् ॥

श्रीधर्मदासेन च शिक्षिताः पुनः शिष्या बभूवूर्बहुनामधेयाः।
जातो गुरोर्ज्ञानविशेषयुक्तः श्रीसत्यनारायणशास्त्रिवैद्यः॥
काशीद्विजश्रेष्ठसुपूज्यवंशे चांशेन धन्वन्तरिरादिदेवः।
श्रीसत्यनारायणशास्त्रिवर्यो जातः शरीरी त्वृतुशास्त्रराशिः॥
गुरोर्गृहीतामथ वैद्यविद्यां पारायणेन प्रगुणीप्रकुर्वन्।
अभ्यासयोगेऽपि सदानुरक्तः परं प्रतिष्ठां पदमारुरोह॥
एवंविधैस्तैर्विविधैरुपायैराराधयामास गिरं यथावत्।
शास्त्रश्रिया पूर्णतया बभासे मृजाभिरादर्श इवोज्ज्वलश्रीः॥
स्वल्पैश्च कालैर्बहुलैः प्रतापैः सम्पूज्यमानो बुधवैद्यवृन्दैः।
आचार्यतां चानुबभूव विश्वविद्यालयायुर्निगमालयेऽपि॥
अध्यापयामास च वैद्यविद्यां प्रोत्साहयन् साहसिकप्रवीरान्।
शिष्यान्नवान्स्नातकवैद्यवर्गान् प्राच्यप्रतीच्याप्तसमस्तशिक्षान्॥
तत प्ररोहा बहुधा विकीर्णा. शिष्यानुशिष्यैश्च परम्परायाम्।
अष्टाङ्गपूर्णा उभयज्ञरूपा लोकप्रशस्ता. पटुभावनाढ्याः॥
कीर्त्तिर्दिवोदासकृता हितायुर्वेदे पुरा या प्रथिता तु काश्याम्।
मनीषिणं तं समवाप्य सम्प्रत्यासादिता सा नवता स्वलिङ्गैः॥
श्रौतार्थसारैश्च पवित्रितश्रुतिः स्मृतेश्च सम्भेदसमेधितस्मृतिः।
स पारगामी पथि तर्ककर्कशे जयी सदा जैमिनिशास्त्रविस्तरे॥
वैशेषिके चाप्तविशेषशीलो बोधे च वेदान्तविदां विशारदः।
काव्येतिहासौघपुराणपारगो योगे तथाभ्यस्तसमस्ततन्त्रकः॥
वाक्शासने वर्णविनिर्णये किल देवाधिदेवेन्द्रपुरोहितोपमः।
नत्या च दूरीकृतचापलः पुमान् बिभ्रन् सदा यः सहजां प्रगल्भताम्॥
कामं बभूवुरपरे भिषजः पृथिव्यां वैद्यान्वितोऽभवदनेन वसुन्धरेयम्।
आलम्बते कमपि नो कमला समृद्धं नारायणोरसि परं लभते प्रतिष्ठाम्॥
रूपे नये तेजसि विक्रमे च तोषे च शान्त्या हरिणा समो गुणैः।
काव्ये कविश्चन्द्रसमः सुदृश्यो बुद्ध्या गुरुश्चाग्निसमश्च शुद्धौ॥
उदारतायां मनुवत्सुकीर्त्तितः प्रातीभ्यजुष्टश्च भृगोः समः पुनः।
गभीरतायाञ्च महार्णवोपमो यः पार्थवत् पार्थिवपूजने रतः॥
कृपालुतायाञ्च कृपावतारः प्रशिक्षणे साधु गुरुस्वभावः।
मनस्वितायामसमो नरेन्द्रः वात्सल्यभावे जननीसमानः॥
धर्मेण धर्मस्तपसा कुमारः स्वाचारचार्वाचरणे च वेधाः।

सत्ये च सत्यव्रततुल्यशौर्यः सहिष्णुतायां क्षमयैव तुल्यः ॥
भयेन यस्य प्रणतिर्न संभवा उग्रेषु यः कालसमो महोग्रधीः ।
नतेषु यः सान्त्वनदानमानैरेकः शरण्येषु च दीनवत्सल. ॥
जये कठोरप्रियता प्रसिद्धा भावस्वभावान्नियताच्च पित्तात् ।
दुर्वारवीर्यः समितौ प्रकृष्टा शास्त्रे मतिर्यस्य सनातनीष्टा ॥
सुदुर्लभैरर्हगुणैस्समुच्छ्रितैर्न विक्रिया यस्य मनाक् चरित्रे ।
अभूतपूर्वे सहजे स्वभावे सदा स्थितत्वाद् विगतस्मयत्वात् ॥
शास्त्रैः समृद्धैरभिमानवर्जितैर्नालोपि स्वस्याप्यथ लोकचातुरी ।
आडम्बरं शारदवारिदोपमं ख्यात सदा लाघवमात्रकारणम् ॥
समाजसेवाव्रतमास्थितेऽपि यद् नासंभवा मानयशोमुखा गुणाः ।
परोपकारे निरतेऽपि तस्मिन्नानाप्तसर्वाऽपि सशास्त्रवैदुषी ॥
अनुग्रहार्थं त्वथ देहिनां कृते चिकित्सिते ब्राह्मणवृत्तिमाश्रिते ।
अहर्निशं तत्परभावराशिभिर्व्यस्तेऽपि काव्यप्रियतारसज्ञता ॥

प्रोचुर्यच्चरकर्षयः स्फुटतया तद्व्याहरन्तः स्वयं
सूक्ष्मा दोषहितक्षणप्रकृतिभूसात्म्याद्यवस्थास्तथा ।
साध्यासाध्यविवेकहेतुसहितैर्लिङ्गैश्च सम्प्राप्तिभि-
र्नाडीं त्र्यङ्गुलतः स्पृशन्ननुपदं वेदाऽद्वितीयो गुरु ॥

इत्थं सोऽत्र निजा कुलस्थितिकरीं कीर्त्तिञ्च सम्पादयं-
स्तन्वन् दिक्षु दशस्वपि स्थितिमतीं विद्यां सुदिव्यां शिवाम् ।
राज्येशेन पुरस्कृताञ्च पदवीं मानादिभिर्नन्दितः
प्राप्तो पद्मविभूषणाभिधपदं राष्ट्रेशवैद्ये स्थितिम् ॥

सम्पद्युतोऽपि गुरुमानयुतोऽपि शश्वत्
स्वाराधयान्नविरतं त्रिजगत्प्रसूं स्वाम् ।
तस्याः प्रसादममल नितरां प्रविन्दन्
प्रापञ्च विश्वविदितां विशदां स्वकीर्त्तिम् ॥

श्रीयुक्तादनमोलतः प्रकटितो मातुः पराज्योतिषो
जैमिन्यार्षभवद्विवेदिकुलजः क्षेत्रे भृगोः पावने ।
एतं बन्धमलं व्यधादनुदिनं भक्त्यानतः श्रीरमा-
नाथः स्नातक एष वैद्यकनये विश्वेशपुर्यां वसन् ॥